इकाई 1 कृषि अर्थव्यवस्था

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य
1.1 प्रस्तावना
1.2 कृषि विस्तार
  1.2.1 भौगोलिक व कालानुक्रमिक प्रतिरूप
  1.2.2 वैचारिक पृष्ठभूमि
1.3 कृषि संगठन
  1.3.1 विभिन्न प्रकार की कृषि बस्तियों का स्वरूप तथा भूमिका
  1.3.2 भूमि अधिकार
1.4 तकनीकी सुधार
1.5 ग्रामीण तनाव
1.6 विनिमय व्यवस्था में कृषकों की भूमिका
1.7 प्रारंभिक मध्ययुगीन कृषि अर्थव्यवस्था का स्वरूप
1.8 सारांश
1.9 शब्दावली
1.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

1.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप निम्नलिखित की व्याख्या कर सकेंगे—

- भारतीय उप-महाद्वीप में कृषि के विस्तार के कारक,
- भूमि अनुदान, व्यवस्था का कालनुक्रमिक प्रतिरूप,
- भूमि अनुदान में निहित विचारधारा,
- विभिन्न प्रकार की कृषि बस्तियों का स्वरूप तथा भूमिका,
- भूमि अधिकारों की प्रकृति तथा विकास,
- कृषि के क्षेत्र में तकनीकी सुधार,
- भूमि से संबंधित विभिन्न वर्गों की परस्पर निर्भरता,
- व्यापार में कृषक की भूमिका, तथा
- प्रारंभिक मध्ययुगीन कृषि अर्थव्यवस्था का स्वरूप।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

1.1 प्रस्तावना

भारतीय इतिहास के प्रारंभिक मध्ययुगीन काल में कृषि का विकास और भूमि संबंधों का संगठन भूमि अनुदान के माध्यम से हुआ। इस अनुदान प्रक्रिया की शुरुआत प्रथम शताब्दी ईसवी से हुई और बारहवीं सदी तक व्यवहारिक रूप से यह पूरे उप-महाद्वीप में फैल गई। प्रारंभिक मध्ययुगीन काल में कृषि विस्तार का मतलब अधिक और नियमित रूप से विकसित कृषि तकनीक, खेत जोतना और सिंचाई तकनीक का इस्तेमाल था। कृषि प्रक्रिया की संस्थागत व्यवस्था, उत्पादन के साधनों पर नियंत्रण और उत्पादन के नए संबंधों ने इस विस्तार में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। विस्तार के साथ ही नए ग्रामीण तनाव पैदा हुए। कृषि व गैर-कृषि उत्पादों से संबंधित वाणिज्यिक गतिविधियाँ बढ़ गयीं। इस इकाई में इन सभी पहलुओं की चर्चा की गयी है और अन्त में प्रारंभिक मध्ययुगीन कृषि अर्थव्यवस्था के स्वरूप की चर्चा की गई है। आइए, कृषि विस्तार के विभिन्न पहलुओं पर चर्चा करें।

1.2 कृषि विस्तार

कृषि विस्तार की शुरुआत ब्रह्मदेय और अग्रहार बस्तियों से हुई। ये ब्राह्मणों को चौथी सदी के बाद से दिए गए भूमि अनुदान थे। बाद की सदियों में यह कृषि विस्तार एकरूप व सार्वभौमिक हो गया।

आठवीं और बारहवीं सदी में इस प्रक्रिया का विस्तार हुआ। कृषि विकास की प्रक्रिया पराकाष्ठा पर जा पहुँची जो कि धार्मिक और धर्मनिरपेक्ष लोगों जैसे ब्राह्मण, मंदिरों और राजा की सरकार के अधिकारियों को मिले भूमि अनुदानों के कारण संभव हो सका। हालांकि भौगोलिक और पारिस्थितिकीय कारकों की वजह से इस विकास में कई महत्वपूर्ण क्षेत्रीय विविधताएं आ गईं।

1.2.1 भौगोलिक और कालानुक्रमिक प्रतिरूप

खेती का विस्तार सिर्फ खाली जमीन पर ही नहीं हुआ बल्कि जंगलों को भी साफ करके हुआ। यह एक निरन्तर प्रक्रिया थी और यह प्रारंभिक मध्ययुगीन कृषि अर्थव्यवस्था की एक मुख्य विशेषता रही है। कुछ विद्वानों का यह मत है कि भूमि अनुदान पहले बाहर, पिछड़े और जनजातीय क्षेत्रों में हुआ और बाद में धीरे-धीरे गंगा की घाटी तक फैल गया

1. इन्दुकुरुपल्ले से प्राप्त दसवीं शताब्दी का तेलुगु अभिलेख जिसमें पशुओं को मुक्त करने के बाद एक योद्धा की मृत्यु का विवरण है।

पशुओं की रक्षा करते हुए मारे गए योद्धाओं की स्मृति में उत्तरी आर्काट से प्राप्त अभिलेख।

जो कि ब्राह्मणवादी संस्कृति का केन्द्र थी। ब्राह्मण पिछड़े और आदिवासी क्षेत्रों में मौसम, खेत जोतने, सिंचाई और पशु की रक्षा के विशेष ज्ञान से कृषि प्रक्रिया को नियंत्रित कर सकते थे और खेती के नए तरीके का प्रचार कर सकते थे। हालांकि यह बात पूरे भारत के लिए सच नहीं है क्योंकि भूमि अनुदान, व्यवस्थित तथा स्थानबद्ध खेती वाले क्षेत्रों और दूसरे परिस्थितिकीय क्षेत्रों में भी प्रचलित था। इन भूमि अनुदानों का उद्देश्य इन सब क्षेत्रों को नई अर्थव्यवस्था से जोड़ना था।

भूमि अनुदान व्यवस्था के कालानुक्रमिक प्रतिरूप से निम्न बातें उभरकर सामने आती हैं :

- चौथी-पाँचवीं सदी : मध्य भारत, उत्तर दक्खन और आंध्र के बड़े हिस्से में विस्तार
- पाँचवीं-सातवीं सदी : पूर्वी भारत (बंगाल और उड़ीसा), पश्चिमी भारत (गुजरात और राजस्थान में) शुरुआत
- सातवीं-आठवीं सदी : तमिलनाडु और कर्नाटक
- नवीं सदी : केरल
- बारहवीं सदी का अंत : शायद पंजाब को छोड़कर लगभग पूरे प्रायद्वीप में।

1.2.2 वैचारिक पृष्ठभूमि

जमीन के दान का विचार दान के महत्व को दर्शाता है। ब्राह्मणवादी ग्रंथों में ब्राहमणों को दान या उपहार देना पुण्य कमाने का और पाप को नष्ट करने का सबसे सही तरीका बताया जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि ब्राह्मणों को जीविका उपलब्ध कराने के लिए यह एक पहले से सोची-समझी कोशिश है। गुप्त काल के बाद की सदियों की सभी स्मृतियों और पुराणों में ब्राह्मणों को खेती की जमीन अनुदान देने और ताँबे के स्मृति पत्रों पर जमीन दान दर्ज करने की बात की गई है।

दान में दी जाने वाली कई प्रकार की वस्तुएं होती थीं–

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

- खाद्यान्न, अनाज, धान इत्यादि,
- चल सम्पत्ति जैसे सोना, मुद्रा इत्यादि, और
- अचल संपत्ति जैसे खेती की जमीन, बाग और रहने योग्य जमीन।

दान की वस्तुओं के अंतर्गत हल, गायें, बैल भी आते थे। ब्राह्मणों को दिए जाने वाले दानों में जमीन का दान सबसे उत्तम माना जाता था। दान के दुरुपयोग की स्थिति में अभिशाप का भागी बनने के भय या ब्राह्मणों को दी गई दान की जमीन को वापस लेने की प्रथा ने दान की प्रक्रिया को बनाए रखा। इस प्रकार भूमि अनुदान धर्मशास्त्र में प्रतिपादित एक निश्चित कानूनी तरीके के अनुसार दिया जाता था।

प्रारंभ में भूमि अनुदान मुख्यत: वैदिक पुजारियों (श्रोत्रिय अग्नि पुजारी) को दिया जाता था। लेकिन पांचवीं से तरहवीं सदी के बीच मंदिर के पुजारियों को भी भूमि अनुदान दिया जाने लगा। आठवीं सदी के बाद कृषि विस्तार और संगठन में मंदिर एक संस्थान के रूप में एक केन्द्रीय भूमिका अदा करने लगा। दक्षिण भारतीय संदर्भ में मंदिर को दिए गए अनुदान चाहे वह भूमि भागों, पूरे गाँव के रूप में हो, देवदान के नाम से जाने जाते हैं। यह बात जोर देने लायक है कि जो प्रक्रिया एक फुहार के रूप में शुरू हुई थी वह बाद में एक शक्तिशाली धारा बन गई। भू-सम्पत्ति प्राप्त करना सिर्फ ब्राह्मणवादी मंदिरों तक ही सीमित नहीं था। गैर ब्राह्मणवादी धार्मिक संस्थान, जैसे बौद्ध या जैन विहार (समोहा और बसाढ़ी) भी विशेषकर कर्नाटक, आंध्र, गुजरात और पूर्वी भारत (बिहार और उड़ीसा) में जमींदार बनने के लिए एक दूसरे से प्रतिस्पर्धा करने लगे। इस बारे में आपको खण्ड तीन की 6 और 7 इकाइयों में अधिक जानकारी दी जाएगी।

बोध प्रश्न 1

1) नीचे कालम ''ए'' में समय काल दिए गए हैं। निम्नलिखित क्षेत्र (मध्य भारत, बंगाल, उड़ीसा, उत्तरी दक्खन, आंध्र, तमिलनाडु, केरल, गुजरात, राजस्थान, कर्नाटक) जहाँ भूमि

होने के समय काल के सामने लिखें—

"ए"	"बी"
i) 4वीं – 5वीं सदी	i) ....
ii) 5वीं – 7वीं सदी	ii) ....
iii) 7वीं – 8वीं सदी	iii) ....
iv) 9वीं सदी	iv) ....

2) ब्राह्मण को क्या दान दिया जाता था? कौन-सा दान सबसे अच्छा माना जाता था?

....

....

....

....

....

1.3 कृषि संगठन

कृषि संगठन और अर्थव्यवस्था बहुत जटिल थी। इसे अनुदान की क्षेत्रीय पद्धति के गहन अध्ययन और ब्रह्मदेय, गैर-ब्रह्मदेय और मंदिर अनुदान व्यवस्था की भूमिका व चरित्र से समझा जा सकता है। भूमि अधिकार की प्रकृति और विकास, जमीन से जुड़े विभिन्न वर्गों की परस्पर अन्तर निर्भरता तथा उत्पादन और वितरण प्रक्रिया भी इसको समझने में मदद करते हैं।

1.3.1 विभिन्न प्रकार की कृषि बस्तियों का स्वरूप तथा भूमिका

ब्रह्मदेय : ब्राह्मणों को भूमि अनुदान में मिले खेत या पूरे गाँव को ब्रह्मदेय अनुदान कहा जाता है जिससे वे भू-स्वामी या भू-नियंत्रक हो जाते हैं। इसका मतलब खाली जमीन को खेती में लाना था। मौजूद खेतों को ब्राह्मणों द्वारा प्रभावित नई अर्थव्यवस्था में लाना था। इन ब्राह्मणों ने विभिन्न सामाजिक-आर्थिक वर्गों को नौकरी के जरिये और वर्ण-व्यवस्था के अंतर्गत जातीय समूह के जरिये नई अर्थव्यवस्था में लाने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। उदाहरण के तौर पर शूद्रों को कृषक वर्ग में लाने के लिए तत्कालीन ब्राह्मणवादी सामाजिक व्यवस्था में तार्किक रूप देने की कोशिश की।

ब्रह्मदेय के रूप में भूमि अनुदान के प्रचलन की शुरुआत शासक वंशों द्वारा की गई और उसके बाद छोटे राजा और सामंत आदि भी इसका अनुसरण करने लगे। ब्रह्मदेय अनुदानों ने कृषि के विस्तार में सहायता क्यों की?

- उन्हें बहुत से करों और देयों से पूरी तरह या कम से कम प्रारंभिक अवस्था में छूट मिली हुई थी (उदाहरण के लिए 12 वर्ष)
- उन्हें बहुत तरह के विशेषाधिकार (परिहार) मिलते थे।

शासक परिवार संसाधन के आधार में विस्तार से आर्थिक लाभ पाते थे। इसके अलावा ब्रह्मदेय अनुदान देने से उन्हें अपनी राजनीतिक सत्ता के लिए वैचारिक आधार मिलता था। दक्षिण भारत के संदर्भ में ऐसा देखा जाता है कि ब्रह्मदेय के रूप में जमीन या तो एक ब्राह्मण को या कई ब्राह्मण परिवारों को, जो कि कुछ से लेकर कई सौ और कभी-कभी हजार से ज्यादा होते थे, दी जाती थी। ब्रह्मदेय आवश्यक रूप से बड़े सिंचाई के साधन जैसे तालाब या झील के निकट होते थे। ऐसा अक्सर देखा जाता था कि जब ब्रह्मदेय अनुदान दिये जाते थे तो उस भूमि के निकट नए सिंचाई के साधनों का निर्माण किया जाता था। यह कार्य सूखे और अर्द्ध सूखे क्षेत्रों में या उन इलाकों में विशेषकर किया जाता था जो वर्षा पर निर्भर थे। नदी घाटी क्षेत्रों में जहां अधिक खेती होती है, वे कम उत्पादन के क्षेत्रों को साथ मिला लिया करते थे। कभी-कभी दो या अधिक बस्तियों को साथ जोड़कर एक ब्रह्मदेय या एक अग्रहार बना दिया जाता था। उन गांवों से कर वसूलने का अधिकार भूमिदान करने वाले ब्राह्मणों को दे दिया जाता था और उन्हें दान में मिली जमीन पर खेती

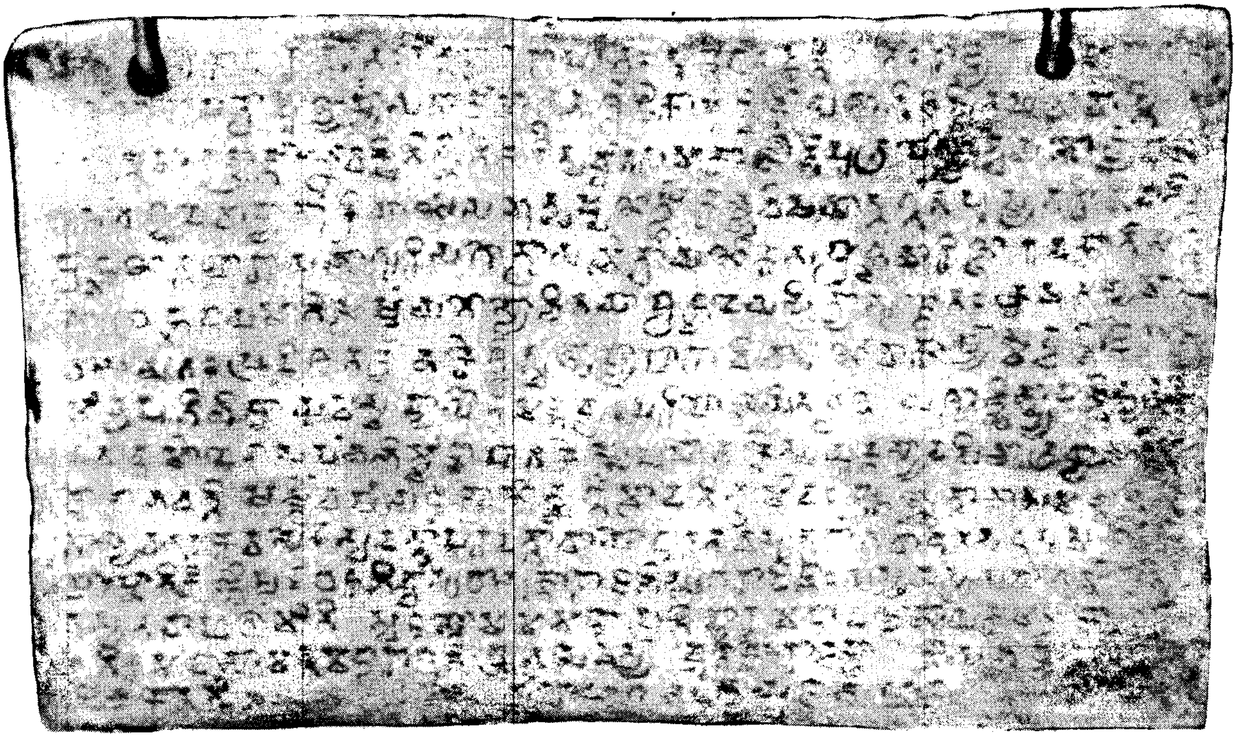

4. राजकोट से ध्रुवसेन I के काल (536 ई.) का एक भूमिदान जिसमें एक ब्राह्मण को ब्रह्मदेय दान के रूप में एक गांव दिया गया।

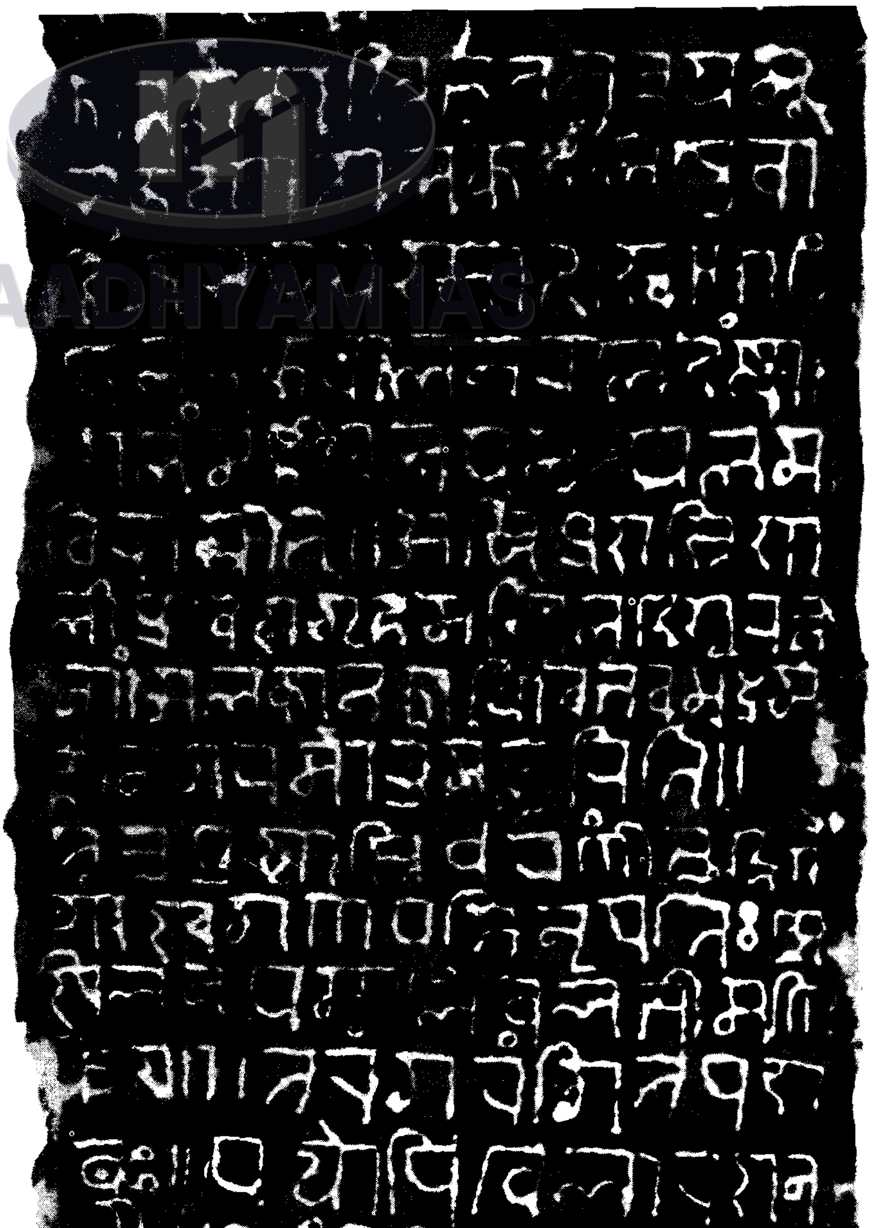

करीम नगर जिले से प्राप्त काकतिय गनपति (1177 ई.) का अभिलेख जिसमें चुनरीवेस के गवर्नर द्वारा राजा गनपति के पुरोहित मंत्री चट्टोपाध्याय को भूमिदान का उल्लेख है।

MAADHYAM IAS

करने का अधिकार भी मिल जाता था। दान में दी गई जमीन या गांव की सीमाएं प्रायः बड़ी सावधानी से तय की जाती थी। गांव के अंदर भी सभी किस्म की जमीन जैसे—नम, सूखी और बाग आदि का विवरण भी दिया जाता था। कभी-कभी विशेष फलस और पेड़ों का उल्लेख भी होता था। जमीन दान का मतलब भूमि अधिकार के हस्तांतरण से ज्यादा होता था जैसे कई मामलों में गांव की राजस्व और आर्थिक संसाधनों के साथ-साथ मानव संसाधन जैसे—किसान, कारीगर और दूसरे लोगों को भी दान पाने वाले के नाम हस्तांतरित कर दिया जाता था। ऐसे भी प्रमाण मिले हैं जिसमें गांव के लोगों की सामुदायिक जमीन या तालाब और झील पर अतिक्रमण कर लिया जाता था। इस तरह ब्राह्मण लोग इन बस्तियों में कृषि उत्पादन के प्रबन्धक हो गए और इसके लिए इन्होंने अपनी सभायें संगठित कर लीं।

गैर धार्मिक अनुदान

सातवीं सदी के उपरान्त राजकीय अधिकारियों को भी भूमि दान के रूप में वेतन दिया जाने लगा। इसका विशेष महत्व है क्योंकि इससे एक दूसरे जमींदार वर्ग का उदय हुआ जो ब्राह्मण नहीं थे।

प्रशासनिक अधिकारियों को जमीन दान देने का उल्लेख काफी प्रारंभ में 200 ई. (मनु के समय में) मिलता है। लेकिन इसका ज्यादा प्रचलन गुप्त काल के बाद हुआ। मध्य भारत, राजस्थान, गुजरात, बिहार और बंगाल के साहित्यिक ग्रंथों से पता चलता है कि मंत्री, रिश्तेदार और वैसे लोग जो रक्षा सेवाओं में संलग्न थे उन्हें दसवीं से बारहवीं सदी में कई तरह के अनुदान दिए गए। पाल भूमि चार्टर में उल्लेखित राजा, राजपुत्रा, राणका और महासामंत लोग मुख्यतः जमीन से जुड़े हुई जागीरदार थे। एक क्षेत्र के अधिकारियों को मिले अनुदान अलग-अलग होते थे। उदाहरण के तौर पर हम आधा दर्जन परमार अधिकारियों के बारे में सुनते हैं परन्तु उनमें से कुछ को ही जमीन अनुदान के रूप में मिली थी। गुजरात के चालुक्यों के अधीन ऊंचे अधिकारियों और सामंतों को बहुत बड़े भू-क्षेत्र अनुदान के रूप में दिए गए। प्राप्त प्रमाण यह बताते हैं कि असम, बंगाल और बिहार में कुल मिलाकर जो अनुदान दिए गए, उनसे अधिक अकेले उड़ीसा में दिये गये। इसके अलावा अधिकारियों को विशेषाधिकार मिले जिसके अंतर्गत वे विशेष वसूली प्राप्त कर सकते थे। इनकी अवधि तय नहीं थी परन्तु यह निश्चित रूप से ऐसे बिचौलिए पैदा करते थे जिनकी पट्टेदारों की जमीन में रूचि होती थी।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

देवदान

अभिलेखों से यह विशेष प्रमाण मिलता है कि ब्राह्मण और गैर-ब्राह्मण धार्मिक प्रतिष्ठानों को उपहार मिलते थे। ये स्थान कृषि बस्तियों के लिए केन्द्र बिन्दु का काम करते थे और संस्कृति संक्रमण के जरिए किसान बस्तियों और जनजातीय बस्तियों को एकीकृत करते थे। मंदिर की जमीन पट्टे पर पट्टेदारों को दी जाती थी जो उपज का एक बड़ा हिस्सा मंदिर को देते थे। ऐसी जमीन अग्रहार व्यवस्था के ब्रह्मदेय या महाजनों की सभा द्वारा संचालित की जाती थी। गैर-ब्राह्मण बस्तियों में भी मंदिर मुख्य संस्थान बन गए। मंदिर की जमीनें गैर-ब्राह्मणों द्वारा बनाई गई मंदिर कार्यकारिणी समिति से संचालित होती थी जैसे तमिलनाडु के विलालाज और कर्नाटक व आंध्र के ओकालू, कम्पलू आदि। जाति संघ मंदिर के इर्द-गिर्द काम करता था जिसमें विभिन्न वर्गों को जाति और कर्मकाण्डी स्तर दे दिया गया था। इस प्रक्रिया में वैसे लोग जिन्हें अशुद्ध और निम्न पेशे वाला समझा जाता था वे अछूत समझे जाने लगे। उन्हें मंदिर में नहीं आने दिया जाता था और उन्हें बस्ती के बाहर रहने को जगह दी जाती थी।

मंदिर की जमीन की देखरेख ब्राह्मण और गैर-ब्राह्मण भू-पति अभिजात्य वर्ग करते थे। स्थानीय इकाइयों जिसमें भूमिपति अभिजात्य वर्गों का वर्चस्व था, सिंचाई के साधनों को नियंत्रित करती थीं। इस तरह ब्राह्मण, मंदिर, गैर-ब्राह्मण, जमींदार, नौकरी प्रदान करने वाले तथा भूमि पर विशेषाधिकार रखने वाले वर्ग प्रारंभिक मध्ययुगीन कृषि व्यवस्था में प्रमुख स्थान रखते थे।

नए भूमिपति अभिजात्यों के अंतर्गत परिवारों के प्रधान और स्थानीय किसानों के प्रमुख, जिन्हें कानूनी अधिकार अर्थात् देखरेख करने और स्वामित्व का अधिकार था, आते थे। दूसरे शब्दों में राजा और वास्तविक उत्पादक के बीच में विचौलियों का वर्ग उभरकर आ गया।

1.3.2 भूमि अधिकार

भूमि अनुदान का एक महत्वपूर्ण पहलू अनुदान पाने वाले को दिए गए अधिकार हैं। दिए जाने वाले अधिकारों में वित्तीय और प्रशासनिक अधिकार भी हैं। करों में भूमि कर जो राजस्व का एक बड़ा हिस्सा था और जिसे राजा या सरकार को दिया जाता था, जमीन प्राप्त करने वालों को सौंप दिया गया। ऐसी परिहार या छूट जिनका संदर्भ ताम्र पत्र और शिला लेखों में मिलता है जिसमें छूट की बात दर्ज की गयी है और जो वास्तव में राजा को देय होती थी उसमें अदायगी पाने का अधिकार जमीन पाने वालों को हस्तांतरित कर दिया गया। ऐसा प्रतीत होता है कि यह धर्मशास्त्रों के आधार पर किया गया जो भूमि पर राजा के अधिकार को स्थापित करना चाहते थे और ऐसे अनुदान को उचित ठहराते थे जिससे बिचौलियों का उदय हुआ।

हालांकि इस बात के प्रमाण मिले हैं कि प्रारंभिक बस्तियों में भूमि अधिकार का आधार सामूहिक भी होता था लेकिन निजी स्वामित्व या अधिकार का इस बात से पता चलता है कि जमीन पाने वाले को जमीन दे देने या हस्तांतरित करने का अधिकार था। उन्हें इन बस्तियों में दूसरे वंशानुगत लाभ भी मिलते थे। भूमि उपहार अक्सर जमीन खरीदने के बाद दिए जाते थे। संभवतया धार्मिक और गैर-धार्मिक दोनों प्रकार के वंशानुगत स्वामित्व का विकास ऐसे अनुदानों से हुआ।

1.4 तकनीकी सुधार

प्रारंभिक मध्ययुगीन काल में सिंचाई के स्रोतों जैसे नहरों, झीलों, हौज (ततका, इरी) और कुंओं (कूप और किनारु) की वृद्धि हुई। क्षेत्रीय अध्ययनों से पता चलता है कि ग्रामीण बस्तियों के विस्तार में पानी के स्रोतों की सुलभता एक महत्वपूर्ण कारण रहा। पश्चिमी राजस्थान में अरघट्टा कुएं और बंगाल में स्रोता (पानी की नहर), पुष्करणी (तालाब), नदी, और दक्षिण कर्नाटक में केरेस या तालाब को भी गांव की जमीन के हस्तांतरण के समय ध्यान में रखा जाता था। स्वाभाविक तौर पर पानी के स्रोतों को प्रमुखता देने से कृषि के विस्तार में मदद मिली। विभिन्न तरह के जल निकासी संयंत्रों की जानकारी थी जो कि मानव शक्ति व पशुओं द्वारा चलाए जाते थे। शिलालेखों द्वारा पता चलता है कि आठवीं और तेहरवीं सदी के बीच ऐसे कई सिंचाई के साधनों का निर्माण और रखरखाव किया जाता था, इनमें से कई झीलें और तालाब आधुनिक युग तक रहे। ब्रिटिश प्रशासन ने इनमें से कुछ की मरम्मत और विस्तार किया। ग्यारहवीं व तेरहवीं सदी गुजरात व राजस्थान में सीढ़ी वाले कुएं (वापीज) काफी लोकप्रिय थे। वे खेतों की सिंचाई के साथ-साथ पीने के पानी की भी आपूर्ति करते थे।

MAADHYAM IAS

सिंचाई के साधनों में वृद्धि सिंचाई तकनीक के विकास के कारण हुई। इस बात के प्रमाण मिले हैं कि इसके अंतर्गत बाढ़ नियंत्रण के अधिक तकनीकी और वैज्ञानिक उपाय किये गये। नदियों पर बांध बनाने के साथ-साथ नहर, तालाब और झीलों के दोनों तरफ नालिकाएं बनायी गयी (जिनमें इच्छानुसार पानी रोका या छोड़ा जा सकता था)। नदी से नालिकाएं निकाल कर मिट्टी के बांध बनाकर बाढ़ को रोका जाता था जिससे पानी के स्रोतों का संचालन हो सके।

गर्मियों में जब नदी सूख जाती थी तब झील और जलाशय का उपयोग अर्ध-शुष्क और वर्षा वाले क्षेत्रों और नदी तटों पर किया जाता था। तमिलनाडु में जलाशय का निर्माण शासक परिवारों द्वारा किया जाता था और उसकी देखरेख स्थानीय संस्थान जैसे सभा (ब्राह्मण सभा) और उर (गैर-ब्राह्मण सभा) द्वारा किया जाता था। तालाबों और झीलों का रख-रखाव स्थानीय सभाओं की विशेष समितियां करती थीं और इसके लिए कर लगाए जाते थे।

जब ब्राह्मणों को और मंदिरों को उपहार दिये जाते थे तब तालाब और कुंओं को खोदने के लिए राजसी इजाजत दी जाती थी। नहर और झील के निर्माण और रख-रखाव के लिए जमीन का निर्धारण किया जाता था। तालाब खुदवाना, जमीन पाने वालों के लिए एक सुविधा और धार्मिक महत्व का काम समझा जाता था इसलिए धनी लोग भी तालाब बनवाते थे।

कृषि यंत्रों में सुधार भी कम महत्वपूर्ण नहीं था। उदाहरण के तौर पर अजमेर से मिले दसवीं सदी के अभिलेख में बड़े हल का उल्लेख मिलता है। उसी तरह हानिकारक घास आदि की निराई के लिए विशेष पत्रों का उल्लेख मिलता है। वृक्षार्थवेद में पौधों की बीमारियों को दूर करने का तरीका मिलता है। अभिलेखों और साहित्यिक ग्रंथों में जल निकासी यंत्रों जैसे अरघट्टा और घाटियंत्र का उल्लेख मिलता है। अरघट्टा का उपयोग कुओं में नौवीं और दसवीं सदी में राजस्थान में किया जाता था। कश्यप की कृषिसूक्ति बताती है कि बैलों द्वारा चलाया गया घाटियंत्र सबसे अच्छा होता था और मानव शक्ति द्वारा चलने वाला सबसे खराब, जबकि हाथियों द्वारा चलाया गया मध्यम कोटि का होता था। गुरुसंहिता और कृषिनरेश्वर जैसे ग्रंथों में मौसम संबंधी जानकारी, जिसका खेती में उपयोग होता था, मिलती हे। कृषि संबंधी समसामयिक लेखों में 100 से ज्यादा अनाज जिसमें गेहूं, जई और दाल भी हैं का विवरण मिलता है। सुन्यापुराण के अनुसार बंगाल में 50 से भी ज्यादा किस्म के धान उपजाए जाते थे। उर्वरक के बारे में जानकारी काफी बढ़ी

6. नवगसि से प्राप्त नौवीं शताब्दी का कन्नड़ अभिलेख जिसमें वीर नौलिम्बा के काल में योद्धा की स्मृति में एक तालाब बनाने का विवरण है।

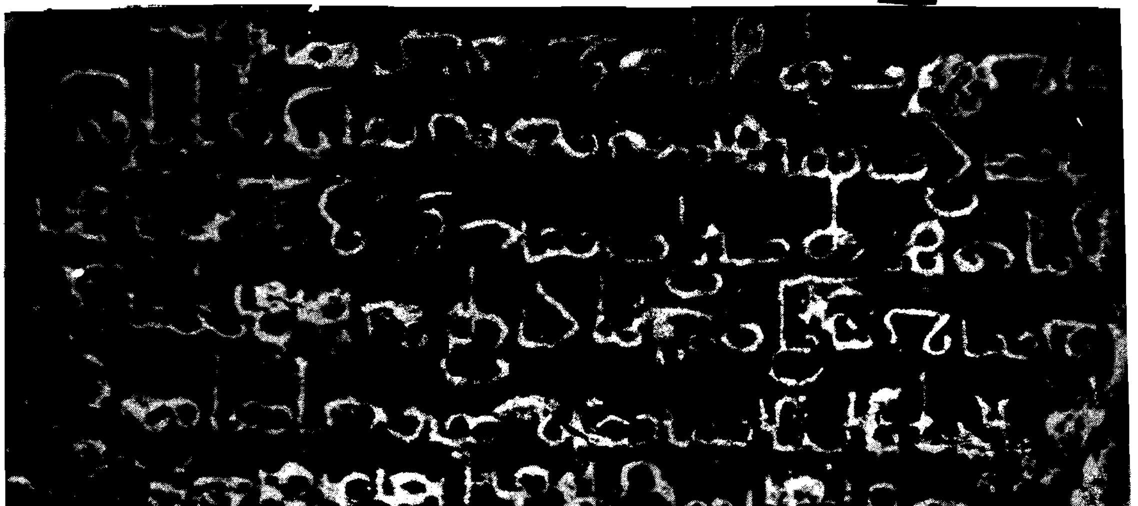

7. इरोड से प्राप्त दसवीं शताब्दी का तमिल अभिलेख जिसमें एक तालाब के निर्माण और उसकी देख-रेख के लिये वान्जी-वेस-तालि नामक व्यक्ति द्वारा खर्चा देने का विवरण है।

और खाद के प्रयोग के बारे में भी जानकारी थी। नगदी फसल जैसे सुपारी, पान, रुई, गन्ना का बार-बार उल्लेख मिलता है। राजशेखर (प्रारंभिक दसवीं सदी) हमें उत्तर बंगाल के बढ़िया गन्ने के बारे में बताता है जो रस निकालने वाले यंत्र के उपयोग के बिना भी रस देता था। इस काल में प्रायद्वीपीय भारत में नारियल और नारंगी के उत्पादन का विशेष महत्व हो गया।।

मारको पोलो मसालों के बढ़ते उत्पादन को इंगित करते हुए बताता है कि चीन के किन्से शहर में हर दिन दस हजार पौण्ड काली मिर्च की खपत होती थी जो भारत से वहां जाती थी। वह यूरोपीय बाजार में भारतीय अदरक की मांग का भी उल्लेख करता है। साल में तीन फसल उपजाने और फसल चक्र के बारे में भी जानकारी थी। इस तरह विकसित कृषि तकनीक का प्रयोग देश के सभी भागों में किया जा रहा था जिससे कृषि उत्पादन बहुत बढ़ गया था।

बोध प्रश्न 2

1) ब्रह्मदेय ने कृषि विस्तार में कैसे मदद की?

....

....

....

....

....

2) ब्रह्मदेय, गैर-धार्मिक और देवदान अनुदान में क्या अंतर है?

....

....

....

....

....

MAADHYAM IAS

3) भूमि अनुदान पाने वालों को किस तरह के अधिकार मिले थे?

....

....

....

....

....

4) सिंचाई के मुख्य तरीकों का संक्षिप्त वर्णन करें?

....

....

....

....

....

1.5 ग्रामीण तनाव

कृषि विस्तार के बावजूद ग्रामीण परिदृश्य समरूप नहीं था। किसान वर्ग श्रेणीबद्ध था। पुराने समय और पूर्व गुप्त काल के गहपति के विपरीत अब विभिन्न श्रेणी के अधिकारी जमीन से जुड़े थे जैसे—क्षेत्रिक, करसक, हलिन और अर्धिक। इन नामों में भू-स्वामित्व का कोई संकेत नहीं मिलता है जिससे लगता है कि वे विभिन्न श्रेणी के कृषकों की चर्चा कर

रहे हैं। ब्रह्मदेय का गैर-ब्रह्मदेय में परिवर्तन या गैर-ब्रह्मदेय का अग्रहारा में परिवर्तन ग्रीमीण क्षेत्रों में तनाव का संभावित कारण था। कश्मीर में दमार विद्रोह, बंगल में रामफल के समय में कैवरताज का विद्रोह, तमिलनाडु में जमीन अतिक्रमण की स्थिति में आत्मदाह, पन्डया क्षेत्र में शूद्रों द्वारा दान की गई जमीन पर कब्जा, बिचौलियों के प्रति अविश्वास का संकेत देते हैं। यह तथ्य कि दान देने वाले प्रायः ऐसी जमीन की तलाश करते थे जहां पर खेती विवादास्पद नहीं हो, उथल-पुथल के संकेत देते हैं। अग्रहार-अनुदानों के आस-पास पाई गई शिलाओं से भी कृषि बस्तियों में हो रही अन्दरुनी उथल-पुथल पर हम प्रकाश डाल सकते हैं। प्रारंभिक मध्ययुगीन काल में ब्राह्मण हत्या का विचार क्यों इतना महत्वपूर्ण हो गया, इस सवाल का जवाब "ब्राह्मण-किसान संबंध तथा किसान, राज्य और समाज" जैसी विचारों की मान्यता पर शंका पैदा करता है। (देखें भाग 1.7) लेकिन इसका यह मतलब नहीं है कि ग्रामीण समाज के दूसरे पक्षों जैसे ब्राह्मणों के बीच, ब्राह्मण और मंदिर के बीच और धर्मनिरपेक्ष जमीदारों के बीच तनाव नहीं था।

1.6 विनिमय व्यवस्था में कृषकों की भूमिका

कभी-कभी ऐसा माना जाता है कि प्रारंभिक मध्ययुगीन आर्थिक संगठन में, जो कि मुख्य तौर पर कृषि पर आधारित और आत्मनिर्भर ग्रामीण अर्थव्यवस्था थी उत्पादन का मुख्य उद्देश्य जीविकोपार्जन था और यह बाजार के नियमों पर आधारित या जुड़ी हुई नहीं थी। इसलिए आर्थिक विकास की बहुत कम सम्भावना थी। कारीगर और दस्तकार गांवों से, अनुदान भूमि से या धार्मिक प्रतिष्ठानों से जुड़े रहते थे। व्यापारियों और बिचौलियों की विशेष भूमिका नहीं थी। वे सिर्फ गांव के लोगों को लोहे के औजार, तेल, मसाले, कपड़ा आदि की आपूर्ति करते थे। दूसरे शब्दों में बाजार व्यवस्था का बहुत सीमित कार्य था।

उपर्युक्त तस्वीर 300 से 800 ई. के लिए काफी सही है। हालांकि बाद के 500 सालों में कृषि बस्तियों में काफी तेजी से वृद्धि हुई और स्थानीय वितरण के लिए स्थानीय बाजार (देखें इकाई 2) का विकास हुआ। बाद में एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में नियमित वितरण के कारण संगठित वाणिज्य का उदय हुआ। इससे व्यापारी संघों के भ्रमणशील व्यापार और नौवीं सदी से आंशिक मुद्राकरण का विकास हुआ। यद्यपि एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में इन विशेषताओं में सापेक्ष अंतर था (इकाई 3 और 4 भी देखें) लेकिन नई अर्थव्यवस्था में कृषि की बढ़ती भूमिका आसानी से नजर आती थी।

MADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

कृषि उत्पादों का विनिमय वैसी चीजों से होने लगा जिसको भ्रमणशील व्यापारी काफी दूर से लेकर आते थे। प्रारंभिक मध्ययुगीन काल के अंत में भू-स्वामित्व के प्रतिरूप में परिवर्तन आया। व्यापारी और आर्थिक रूप से धनी कारीगर जैसे बुनकर जमीन में पैसे लगाने लगे अर्थात जमीन खरीदने लगे और जमीन दान देने लगे। उदाहरण के तौर पर दक्षिण कर्नाटक में जगति-कोटाली वर्ग (बुनकरों का समुदाय) और तेलीना (तेलियों का समुदाय) खेती में सक्रिय भागीदार थे। जगति-कोटाली की चर्चा बारबार तालाब खुदवाने या बाग लगवाने में की जाती है।

1.7 प्रारंभिक मध्ययुगीन कृषि अर्थव्यवस्था का स्वरूप

प्रारंभिक मध्ययुगीन कृषि अधारित अर्थव्यवस्था के बारे में कई मत सामने आए हैं। एक तरफ इसे सामंती अर्थव्यवस्था की उपज बताया जाता है तो दूसरी ओर इसे किसान-राज्य और समाज बताया जाता है।

भारतीय सामन्तवाद की मुख्य विशेषताएं हैं :

1) पदानुक्रम पर आधारित भू-पति बिचौलियों का उदय। सामन्तों, राजकीय अधिकारियों और गैर आर्थिक आधार पर भूमि प्राप्त करने वालों को सैनिक कार्य करने पड़ते थे और उन्हें सामंती पदवी मिलती थी। अनुदान पाने वालों को अपनी भूमि पर खेती करवाने के लिए अपनी भूमि कई प्रकार के लोगों को देनी पड़ी (विभिन्न क्षेत्रों में यह प्रक्रिया भिन्न थी) जिससे विभिन्न वर्ग के बिचौलियों का उदय हुआ। इसमें कुलीन भूमिपति, पट्टेदार, जोतदार और कृषक थे। यह पदानुक्रम प्रशासनिक ढाँचे में नजर

आता था, जहाँ जमींदार-जागीरदार संबंधों का उदय हुआ। दूसरे शब्दों में भारतीय सामंतवाद में जमीन का और उसकी उपज का असमान वितरण था।

2) दूसरा महत्वपूर्ण पहलू जबरन मजदूरी का प्रचलन था। ब्राह्मण और जमीन का दान पाने वाले अन्य लोग जबरन मजदूरी (विस्ती) लेने के अधिकार का दावा करते थे। मूलतः जबरन मजदूरी राजा या राज्य का विशेषाधिकार था। इसे जमीन पाने वाले छोटे अधिकारियों, गांव-अधिकारी और दूसरों को हस्तांतरित किया गया। सिर्फ चोल अभिलेखों में जबरन मजदूरी के 100 से ज्यादा संदर्भ मिलते हैं। यहां तक कि किसान और कारीगर भी विस्ती के अंतर्गत आते थे। इसके परिणामस्वरूप कृषि दास प्रथा का उदय हुआ जिसमें खेत मजदूर अर्द्ध दास हो गए।

3) शासकों और बिचौलियों के द्वारा जमीन पर अधिकार की बढ़ती मांग के कारण किसान का भूमि पर अधिकार कम हो गया। कईयों की स्थिति पट्टेदारों की सी हो गई जिन्हें हटाए जाने का खतरा बना रहता था। कई किसान अधिक (जोतदार) हो गए। करों के बोझ, जबरन दबाव और कर्ज के कारण किसानों पर दबाव बढ़ता गया।

4) कई तरीके से अधिशेष (उत्पादन का अतिरिक्त भाग) लिया जाता था। आर्थिक मांगों के अतिरिक्त दमन एक प्रमुख तरीका था। नए संपत्ति संबंधों के उदय से नए आर्थिक दमन की शुरुआत हुई। राजराजा चोल के अभिलेख में लगभग 50 प्रकार के करों और राज्य की मांगों से बढ़ते हुए दबाव का पता चलता है।

5) यह एक अपेक्षाकृत आत्मनिर्भर अर्थव्यवस्था थी। भूमि अनुदान पाने वाले को जमीन के साथ मानव संसाधनों का हस्तांतरण यह दर्शाता है कि ऐसे गांव में किसान, हस्तकार और कारीगर गांव से जुड़े थे और एक दूसरे पर निर्भर थे। जमीन से उनका जुड़ाव अनुदान पाने वालों का उन पर नियंत्रण बनाए रखता था। संक्षेप में 500 सालों के सर्वेक्षण में अपेक्षाकृत आत्मनिर्भर गांव में वर्ण व्यवस्था के अन्दर काम करने वाले किसान उस समय के कृषि आधारित अर्थव्यवस्था की खास विशेषता हैं। भारतीय सामंतवाद के सिद्धांत के विरोध में स्वायत्त किसान समाज का सिद्धान्त दिया जाता है। यह सिद्धांत दक्षिण भारत में मिले प्रमाणों पर आधारित है।

इस सिद्धांत के अनुसार प्रारंभिक मध्ययुगीन काल में दक्षिण भारत में स्वायत्त किसान क्षेत्र नाडू कहलाते थे। वे परिवार और परिवार समूहों के संबंधों पर संगठित थे। कृषि उत्पादन और इसका नियंत्रण नाडू के लोगों अर्थात नत्तार द्वारा संचालित होता था। नत्तार नाडू की जनता को कहा जाता था। इस संगठन के सदस्य वेल्लाल या गैर-ब्राह्मण किसान थे। उनकी स्वायत्तता का प्रमाण इस बात से मिलता है कि जब राजा या प्रधान भूमि अनुदान देते थे तो आदेश नत्तार की सलाह पर जारी किए जाते थे। आदेश पहले उन्हें दिए जाते थे। वे दान में मिली जमीन का निर्धारण और देखरेख करते थे क्योंकि वे उत्पादन के संगठक थे। ब्राह्मण और दूसरे प्रभावी किसान उत्पादन में उनका साथ देते थे। ऐसा लगता है कि इस सिद्धांत के प्रवर्तक ग्रामीण आत्मनिर्भरता पर विश्वास रखते थे जो भारतीय सामंतवाद का महत्वपूर्ण घटक है। भारतीय सामन्तवाद के सिद्धांत और स्वायत्त किसान समाज के सिद्धांत को मानने वाले उनके लिए ऐतिहासिक साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं। यह कहा जा सकता है कि प्रारंभिक मध्ययुगीन कृषि अर्थव्यवस्था काफी जटिल थी। इसके चरित्र को समझने के लिए और एक सामान्य विश्लेषण करने के लिए इसके क्षेत्रीय प्रतिरूपों पर काम करना होगा।

बोध प्रश्न 3

1) इस इकाई के अध्ययन काल में ग्रामीण क्षेत्रों में तनाव के कारण बताइए।

....

....

....

....

....

2) प्रारंभिक मध्ययुगीन काल में वाणिज्य का क्या स्वरूप था? क्या इसका भूमि स्वामित्व के प्रतिरूप पर कोई असर पडा?

....

MAADHYAM IAS

....

....

....

....

3) भारतीय सामंतवाद की पाँच विशेषताएं बताइए।

....

....

....

....

....

1.8 सारांश

इस इकाई में आठवी से तेरहवीं सदी की कृषि अर्थव्यवस्था की समीक्षा में निम्न तत्व उभर कर सामने आते हैं:

- भूमि अनुदान के कारण पूरे भारतीय उप-महाद्वीप में कृषि का वास्तविक विस्तार। जबकि विशेषकर खाली पड़ी जमीन और जंगल के क्षेत्र में विस्तार अधिक हुआ। साथ ही वैसे क्षेत्रों में भी अनुदान दिए गए जहां पहले से ही खेती होती थी। ब्राह्मण और गैर-ब्राह्मण दोनों की वैचारिक रुचियां भूमि अनुदान में थीं। इन दोनों ने ही भूमि अनुदानों की बहुत प्रशंसा की।
- श्रेणीगत भूमि अधिकारों के साथ विभिन्न प्रकार की कृषि बस्तियों का उदय।
- राजकीय अधिकारी, व्यापारी और कारीगर इत्यादि जो कि कृषक नहीं थे, की जमीन में बढ़ती रुचि।
- सिंचाई, कृषि के यंत्रों, फसल और फसल पद्धति में तकनीकी सुधार।
- विभिन्न वर्गों का पारस्परिक संबंध जो कि जमीन से जुड़े थे ग्रामीण तनाव को रेखांकित करता था, और
- प्रारंभिक मध्ययुगीन कृषि अर्थव्यवस्था के स्वरूप पर विद्वानों के विचार जिसमें मुख्य विशेषताएं सामने आईं, "भारतीय सामंतवाद" और "किसान राज्य और समाज"।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

1.9 शब्दावली

अग्रहार : ब्राह्मणों को अनुदान में मिला गांव जिसका भूमि कर उन्हें राज्य को नहीं देना होता था।

अर्धिक : वह कृषक जो दूसरों का खेत जोतता है और आधी फसल पाता है

बसादी : जैन विहार संस्थान

ब्रह्मदेय : कर मुक्त जमीन या गांव जो ब्राह्मणों को उपहार में दी जाती थी।

दमार : कश्मीर के शक्तिशाली अधिकारीगण जिन्होंने जमीन में रुचि विकसित कर ली थी और वे ब्राह्मणों का विरोध करते थे।

देवदान : कर मुक्त जमीन जो उपहार में ब्राह्मणों के मंदिर के देवताओं के नाम दी जाती थी। जैन और बौद्धों को दी जाने वाली भूमि को पलि चंदा कहते हैं।

धर्मशास्त्र : ब्राह्मण धर्म ग्रंथ, कानून के ग्रंथ

हलिन : हल चलाने वाला

करसक : खेत जोतने वाला

महाजन : ब्राह्मणों की एक तरह की सभा।

महासामंत : महा प्रमुख, सामंत से ऊंचा अधिकारी।

परिहार : कर और अन्य देय से मुक्ति (कर मुक्त जमीन को पाने वाले का विशेष अधिकार)

किसान राज्य और समाज : ऐसी व्यवस्था जहां किसान अपने उत्पादन के साधनों का स्वयं स्वामी हो और अपने हितों को देखते हुए अपनी इच्छानुसार खेती कर सकता हो।

किसानीकरण : प्रक्रिया जिसके द्वारा उन लोगों को खेती करने के लिए प्रोत्साहित किया जाता था, जो कृषि से जुड़े हुए नहीं थे।

राणक : एक प्रकार का भू-सामंत।

श्रोत्रिय : ऐसे ब्राह्मण जिन्हें वेदों का अच्छा ज्ञान था।

1.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) i) मध्य भारत, उत्तरी दक्खन और आंध्र
   ii) बंगाल, उड़ीसा, गुजरात और राजस्थान
   iii) तमिलनाडु, कर्नाटक
   iv) केरल
2) आपको अपने उत्तर में अनाज, धन, खेती की ज़मीन, बाग, हल, गाएं, बैल आदि के विषय में लिखना चाहिए। भू-दान सर्वोत्तम माना जाता था। देखें उप-भाग 1.2.2

बोध प्रश्न 2

1) ब्रह्मदेय कृषि विस्तार में इसलिए मदद कर सके क्योंकि वे भू-राजस्व से मुक्त थे और उन्हें विशेषाधिकार और सुविधाएं मिली हुई थीं। इसलिए जमीन देने वालों को इन्हें विकसित करने में ज्यादा लाभ था। इसके अलावा यह जमीन खाली पड़ी थी और इसे खेती योग्य बनाने से कृषि भूमि में विस्तार होता (देखें उप-भाग 1.3.1)
2) ब्रह्मदेय अनुदान केवल ब्रह्मणों को दिए जाते थे जबकि धर्मनिरपेक्ष अनुदान राजकीय कर्मचारियों को उनके वेतन के बदले दिया जाता था। देवदान अनुदान ब्राह्मणवादी और गैर-ब्राह्मणवादी मंदिरों को दिए जाते थे (देखें उप-भाग 1.3.1.)
3) अनुदान पाने वालों को भूमि राजस्व और अन्य कर एकत्र करने का अधिकार था और वे प्रशासनिक नियंत्रण भी करते थे। (देखें उप-भाग 1.3.2)
4) आपके जवाब में कुंओं, तालाबों, झीलों और नहरों की चर्चा होनी चाहिए। आप जल निकासी के यंत्र जैसे घाटियंत्र, अरघट्टा और पशु शक्ति का इस्तेमाल भी शामिल करें। (देखें भाग 1.4)

बोध प्रश्न 3

1) तनाव का मुख्य कारण ब्रह्मदेय जमीन का गैर-ब्रह्मदेय और अग्रहार में परिवर्तन करना, दूसरों की जमीन पर अतिक्रमण और बिचौलियों का होना था (देखें भाग 1.5)
2) अंतरक्षेत्रीय और क्षेत्रीय व्यापारिक गतिविधियां शुरू की गई। कृषि उपज का सुदूर क्षेत्रों की वस्तुओं से विनिमय। व्यापारिक और प्रभावशाली कारीगरों द्वारा जमीन में निवेश ने भू-स्वामित्व का रूप बदल दिया (देखें भाग 1.6)
3) आपके उत्तर में भारतीय सामंतवाद की विशेषताएं, पदानुक्रम पर आधारित भू-संबंधी बिचौलियों का उदय, जबरन मजदूरी की मौजूदगी, किसानों के भूमि अधिकारों में कमी, अधिशेष वसूलने से आर्थिक दमन और अपेक्षाकृत आत्मनिर्भर अर्थव्यवस्था का अस्तित्व आदि सम्मिलित होना चाहिए (देखें भाग 1.7)

इकाई 2 शहरी बस्तियाँ

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य
2.1 प्रस्तावना
2.2 शहरी केन्द्रों का तात्पर्य और ढांचा
2.3 सामान्य प्रतिरूप
2.4 क्षेत्रीय विभिन्नता और प्रकार
    2.4.1 ग्रामीण केन्द्रों का शहरी केन्द्रों में रूपांतरण
    2.4.2 बाजार केन्द्र, व्यापार तंत्र और चलता-फिरता व्यापार
    2.4.3 पवित्र/तीर्थस्थल
    2.4.4 राजमी केन्द्र या राजधानियाँ
2.5 सारांश
2.6 शब्दावली
2.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

2.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- शहरी केन्द्रों के उत्थान के कारणों पर प्रकाश डाल सकेंगे,
- शहरीकरण के इतिहास के विभिन्न चरणों को व्याख्यायित कर सकेंगे,
- शहरी केन्द्रों की आधारभूत प्रवृत्तियों को रेखांकित कर सकेंगे,
- गुप्त काल के बाद हुए शहरी विकास के सामान्य प्रतिरूप की चर्चा कर सकेंगे,
- शहरी बस्तियों की क्षेत्रीय विभिन्नताओं को पहचान सकेंगे, और
- विभिन्न प्रकार के शहरों का वर्णन कर सकेंगे।

MAADHYAM IAS 'way to achieve your dream'

2.1 प्रस्तावना

गुप्त काल के बाद की शताब्दियों के सामाजिक-आर्थिक इतिहास को समझने के लिए शहरी बस्तियों के विकास को समझना जरूरी है। इसकी चर्चा कृषि अर्थव्यवस्था के पूरक तत्व के रूप में की जानी चाहिए। आधुनिक इतिहास लेखन में भारतीय सामन्तवाद के ढाँचे का जिक्र करते समय शहरी बस्तियों के उदय पर भी खासकर प्रकाश डाला जा रहा है। इस तथा आगे की दो इकाइयों में इस प्रकार की गतिविधियों से जुड़ी समस्याओं पर विचार किया जाएगा।

2.2 शहरी केन्द्रों का तात्पर्य और ढांचा

शहरी केन्द्रों का अध्ययन सामाजिक-आर्थिक इतिहास का एक महत्वपूर्ण हिस्सा है। आरंभिक मध्यकालीन भारत के शहरी केन्द्रों का अध्ययन आमतौर पर दो तरीको से हुआ है :

i) आर्थिक इतिहास के हिस्से के रूप में, अर्थात् व्यापार, वाणिज्य और शिल्प उत्पादन आदि का इतिहास,

ii) प्रशासनिक या राजनीतिक इतिहास के रूप में, अर्थात राजधानियों, प्रशासनिक केन्द्रों,

प्रमुख और गौण शाही परिवारों के केन्द्रों और किलाबंद शहरों के रूप में।

इस प्रकार शहरी केन्द्रों के अध्ययन के क्रम में आमतौर पर शहरी केन्द्रों के प्रकार पर ध्यान केन्द्रित किया गया है। इसी के तहत शहरों और नगरों को बाजार, व्यापार या वाणिज्यिक केन्द्रों, बंदरगाहों, राजनीतिक और प्रशासनिक केन्द्रों, धार्मिक केन्द्रों आदि श्रेणियों में विभक्त किया गया है। इसके बावजूद शहरों के उदय के कारणों को व्याख्यायित करने पर विशेष जोर नहीं दिया गया है। दूसरे शब्दों में शहरों के ढाँचे पर तो ध्यान दिया गया है, पर इसके अर्थ और तात्पर्य को समझने की कोशिश नहीं की गयी। शहरी केन्द्रों के ढाँचे और अर्थ को एक साथ समझने और उनके स्वरूप और श्रेणियों को पहचानने के लिए शहरी केन्द्रों के विकास की प्रक्रिया का अध्ययन बृहद् सामाजिक-आर्थिक बदलाव के हिस्से के रूप में किया जाना चाहिए।

विभिन्न चरण और परिभाषा

इस समय हम इस सवाल से जूझने जा रहे हैं कि शहरी केन्द्रों को हम कैसे परिभाषित करें और इनकी अनिवार्य विशेषताएँ क्या हैं? तुर्कों के आगमन के पहले भारतीय उप-महाद्वीप में शहरी विकास कम से कम तीन चरणों से गुजर चुका था :

1) कांस्य युग में हडप्पा सभ्यता (चौथी-दूसरी सहस्राब्दि ई.पू.)
2) लौह युग के आरंभिक ऐतिहासिक शहरी केन्द्र (छठी शताब्दी ई. पू. के आसपास से लेकर तीसरी शताब्दी ई. के अंत तक)
3) आरंभिक मध्यकालीन शहर (लगभग आठवीं-नवीं शताब्दी से लेकर बारहवीं शताब्दी तक)।

मोर्डन चाइल्ड ने "शहरी क्रांति" की अपनी धारणा के तहत शहरी केन्द्रों को परिभाषित करने का आरंभिक प्रयत्न किया। उन्होंने शहरी केन्द्र की विशेषताओं को रेखांकित किया। इस क्रम में उन्होंने स्मारकों, घनी आबादी वाली बस्तियों, खाद्यान्न उत्पादन में सीधे तौर से न जुड़े लोगों (शासक, शिल्पी और व्यापारी) और कला, विज्ञान और लेखन के विकास आदि का उल्लेख शहरी केंद्रों की विशेषताओं के रूप में किया। इसके अलावा, चाइल्ड ने शहरी केन्द्रों के अस्तित्व के लिए शिल्प उद्योग और अधिशेष कृषि उत्पादन पर विशेष बल दिया। अधिशेष कृषि उत्पादन से ही शहर में रह रहे खाद्यान्न उत्पादन से सीधे तौर पर न जुड़े व्यक्तियों का पालन-पोषण होता था। ऊपर कांस्य युग के नगरो के संदर्भ में जिन विशेषताओं का उल्लेख किया गया, वे सभी विशेषताएं लौह युग में देखने को नहीं मिलती हैं। ऐसे शहरी केन्द्रों, जहां जनसंख्या काफी कम थी और घर मिट्टी के बने थे की बहुतायत थी।।

MAADHYAM IAS

हालांकि किसी भी शहर के अस्तित्व के लिए अधिशेष खाद्यान्न उत्पादन अनिवार्य है, पर केवल गैर कृषक बस्तियों को शहर की संज्ञा नहीं दी जा सकती है। आरंभिक मध्यकालीन साहित्यिक ग्रंथों में दीवार और खाई से घिरे शहरों का उल्लेख हुआ है। इन ग्रंथों के अनुसार शहरों में हर वर्ग के लोग रहते थे। इनमें व्यापारियों और शिल्पियों की श्रेणियों के लिए विभिन्न कानूनों और रिवाजों की भी व्यवस्था थी।

सम्पूर्ण भारतीय उप-महाद्वीप में अब तक 140 स्थलों पर खुदाई से जो आंकड़े सामने आए हैं उनके अध्ययन (आर.एस. शर्मा, अर्बन डीके इन इंडिया, लगभग 300-1000 ई.) से निम्नलिखित तथ्यों का पता चलता है :

- भौतिक जीवन का स्तर और व्यवसाय का स्वरूप, और
- शहरी केन्द्रों का अध्ययन कृषि अधिशेष पर निर्भर परजीवी के रूप में न करके ग्रामीण प्रभाव क्षेत्र से अंतरंग रूप में जुड़े केन्द्रों के रूप में की जाने की आवश्यकता।

आरंभिक मध्यकालीन शहरी बस्तियों की प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख इस प्रकार किया गया है :

i) क्षेत्रफल और आबादी के अनुसार बस्तियों का आकार,
ii) पानी के स्रोतों की उपलब्धता – नदी का किनारा, तालाब, कुंआ आदि।
iii) शिल्पकारों की गतिविधियों का प्रतिनिधित्व करने वाले शिल्प-तथ्यों की उपस्थिति या अनुपस्थिति, मसलन कुल्हाड़ी, छेनी, हल, हँसिया, कुदाली, चूल्हा, भट्ठी, रंगरेज की हौज, मनका, मुहर, गहने, मिट्टी के खिलौने आदि बनाने के सांचे।

v) सिक्के के सांचों के प्रमाणों से ऐसे शहरों का पता चलता है जहां सिक्के ढाले जाते थे। धातु की मुद्रा की प्राप्ति और शिल्पकारों तथा व्यापारियों की उपस्थिति से ऐसे स्थलों का संकेत मिलता है, जो शहरी विशेषताओं से युक्त थे।

v) विलास की वस्तुओं जैसे बहुमूल्य और अर्धबहुमूल्य पत्थर, शीशे के सामान, हाथी दाँत से बनी वस्तुएं, परिष्कृत मिट्टी के बर्तन की मौजूदगी। इस तथ्य से इंकार नहीं किया जा सकता है कि प्राचीन शहरों मे प्राप्त ये विलास-वस्तुएं आरंभिक मध्यकाल के उच्च ग्रामीण वर्ग की जरूरत बन गयी हो।

vi) गंगा के मैदान इलाके की आर्द्र और वर्षा से युक्त जलवायु को देखते हुए पक्की ईंटों (मात्र जली हुई ईंटों मे नहीं) से बड़े पैमाने पर बनी इमारतों का अपना महत्व है। हालांकि मध्य एशिया में बहुत से शहरों में मिट्टी की इमारतें भी मिली हैं।

vii) गलियाँ, दुकानें, नालियां और किलेबंदी भी शहरी बस्तियों की विशेषताओं पर प्रकाश डालती हैं। दक्खन के कई ऐतिहासिक स्थलों से (जैसे आंध्र प्रदेश का धूलीकट्टा) भंडार और खाद्यान्न भंडार प्राप्त हुए हैं। वस्तुतः इस प्रकार के भंडारगृह अधिशेष खाद्यान्न रखने के काम में लाये जाते थे, इनका उपयोग शहरी लोगों की खाद्यान्न संबंधी जरूरतों को पूरा करने के लिए किया जाता था।

बोध प्रश्न 1

1) तुर्कों के आने से पहले भारत में शहरी विकास के तीन प्रमुख चरणों का उल्लेख करें।

....

....

....

....

....

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

2) गोर्डन चाइल्ड के अनुसार शहर की प्रमुख विशेषताएं क्या होती हैं?

....

....

....

....

....

3) आरंभिक मध्यकालीन भारत के शहरी केंद्रों की प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख करें।

....

....

....

....

....

2.3 सामान्य प्रतिरूप

गुप्तकाल के बाद की शताब्दियों में भूमि-अनुदान पर आधारित सामाजिक-आर्थिक संरचना का जन्म हुआ। आठवीं और बारहवीं शताब्दियों के बीच भूमि अनुदानों के माध्यम से (इकाई 1 देखिए) कृषि अर्थव्यवस्था का शनैः शनैः विकास हुआ, इस विकास का शहरों के उदय पर भी असर पड़ा। हालांकि पूरे भारतीय उपमहाद्वीप में शहरी केन्द्रों के पुनरुत्थान की सामान्य प्रवृत्ति विकसित हुई, पर इसमें प्रादेशिक विभिन्नता भी देखने को मिलती है। यह विभिन्नताएं इन केन्द्रों के स्वरूप, श्रेणियों तथा पदानुक्रम में निहित थीं। इनका कारण

आर्थिक शक्तियाँ, पारिस्थितिकी और सांस्कृतिक विभिन्नता और राजनीतिक संगठन का स्वरूप थे। अतः घटनाओं को सही परिप्रेक्ष्य में देखने के लिए शहरी केन्द्रों का क्षेत्रीय अध्ययन आवश्यक है। अभी तक राजस्थान, मध्य भारत और दक्षिण भारत जैसे क्षेत्रों की क्षेत्रीय विशेषताओं का ही अध्ययन किया जा सका है।

2.4 क्षेत्रीय विभिन्नता और प्रकार

भारत जैसे विशाल देश में शहरों के उत्थान और विकास की प्रक्रिया में विभिन्नता का होना स्वाभाविक है। इस भाग में हम कुछ प्रमुख विभिन्नताओं की चर्चा करने जा रहे हैं।

2.4.1 ग्रामीण केन्द्रों का शहरी केन्द्रों में रूपांतरण

ब्रह्मदेय और देवदान आरंभिक मध्यकाल के अध्ययन का प्रमुख स्रोत माने जाते हैं। ये शहरी विकास के प्रमुख केन्द्र के रूप में उभरे। कुछ प्रमुख कृषि उत्पादन वाले इलाकों में ब्राह्मण और मंदिर बस्तियां एक साथ मिल गये। ऐसे केन्द्र जो आरम्भ में ग्रामीण थे, कुछ विशेष और खास उत्पादित वस्तुओं के व्यापार के प्रमुख बिन्दु बन गये। आठवीं-नवीं शताब्दी से ऐसे शहरी विकास के क्षेत्र ज्यादातर दक्षिण भारत में पाये गये हैं। नवीं से लेकर बारहवीं शताब्दी के बीच कुंबकोणम (कुदमुक्कु पलैयरइ) का चोल शहर कृषि बस्तियों से बहु-मंदिर शहर केंद्र के रूप में विकसित हुआ। कांचिपुरम इस प्रकार के शहरी क्षेत्र का दूसरा प्रमुख उदाहरण है। चोलों की राजधानी होने के कारण कुंबकोणम का राजनीतिक महत्व था, यह पहलू इसके शहर के रूप में विकसित होने में सहायक सिद्ध हुआ। कांचिपुरम इसलिए बहुत महत्वपूर्ण था क्योंकि वह दक्षिण भारत का एक बड़ा शिल्प केंद्र (कपड़ा उत्पादन) था।

2.4.2 बाजार केन्द्र, व्यापार तंत्र और चलता-फिरता व्यापार

आरंभिक मध्यकाल की शताब्दियों में अपेक्षित रूप से कम विस्तार वाले शहरी केन्द्रों का उदय बाजार व्यापार केन्द्रों (मेले आदि) के रूप में हुआ, जो मूलतः विनिमय-केन्द्र थे। इन केन्द्रों का ग्रामीण प्रभाव क्षत्र से लेकर क्षेत्रीय वाणिज्यिक प्रभाव क्षेत्र से संबंध था। इनमें से कुछ केन्द्रों का कार्य उनकी क्षेत्रीय सीमाओं से बाहर भी फैला हुआ था। कुल मिलाकर आरंभिक मध्यकालीन शहरी केन्द्रों को उनके क्षेत्रीय परिप्रेक्ष्य में देखना उचित होगा। इसे बेहतर ढंग से समझने के लिए दक्षिण भारत का नगरम (तमिलनाडु में इनसे संबंधित पर्याप्त प्रणाम उपलब्ध हैं) और कुछ हम तक कर्नाटक में नकहारा तथा आंध्र प्रदेश में नगरमु भी उल्लेखनीय हैं। नगरम कृषि या कृषक क्षेत्र नाडु या कुर्रम का बाजार था। इनमें से कुछ केन्द्रों का उदय नाडु के व्यापारिक आदान-प्रदान की जरूरत को पूरा करने के लिए हुआ था। इनमें से बहुत से केन्द्र ऐसे थे जिनकी स्थापना शासक वर्ग या शाही मंजरी के तहत हुई थी। इनमें से कई केन्द्रों का नाम शासकों के नाम पर रखा गया। यह विशेषता दक्षिण भारत के सभी क्षेत्रों में सामान्य रूप में पायी जाती है। इन केन्द्रों के नामों में पुर या पट्टन प्रत्यय जुड़ा रहता था।

नगरम महत्वपूर्ण व्यापार मार्गों और व्यापार मार्गों के मिलन बिन्दु पर स्थित थे। इनका विकास विशेष व्यापारिक और वाणिज्यिक केन्द्रों के रूप में हुआ। इन केन्द्रों का बाहर और आंतरिक क्षेत्रों के साथ व्यापर होता था और भ्रमणशील व्यापारी संगठनों और शाही बंदरगाहों के माध्यम से विदेशी व्यापार भी संचालित होता था। दसवीं और बारहवीं शताब्दी के बीच सम्पूर्ण प्रायद्वीपीय भारत में यह प्रकृति समानरूप से विकसित हुई। इन शताब्दियों में दक्षिण भारत व्यापार के माध्यम से दक्षिण एशिया, दक्षिण पूर्व एशिया के देशों, और चीन तथा अरब देशों के साथ जुड़ा। (इकाई 3 और 4 भी देखें) नगरम बंदरगाह और राजनीतिक तथा प्रशासनिक केन्द्रों तथा भीतरी क्षेत्र में स्थित शिल्प केन्द्रों के बीच कड़ी का काम करते थे।

कर्नाटक में नगरम का उदय व्यापारिक आदान-प्रदान के केन्द्रों के रूप में हुआ, कृषि इलाकों के लिए नियमित बाजार के रूप में इनका महत्व कम था। पर सभी नगरमों की एक समान विशेषता यह थी कि वे किसी कृषि प्रभाव क्षेत्र से सम्बद्ध थे। इन इलाकों से नगरम में रहने वाले लोगों के लिए खाद्यान्न की आपूर्ति होती थी। इन केन्द्रों में स्थापित बाजार पर नगरम सभा का नियंत्रण होता था, जिसका प्रधान नट्टनस्वामी के नाम से जाना जाता था।

MAADHYAM IAS

राजस्थान और मध्य प्रदेश के पश्चिमी हिस्सों में ऐसे ही व्यापार केन्द्रों और बाजारों का उदय हुआ। ग्रामीण बस्तियों के इर्द गिर्द ऐसे केन्द्र थे जहां विनिमय कृषि उत्पादन के माध्यम से होता था। राजस्थान में ये केन्द्र कई प्रकार के व्यापार के मिलन बिन्दु थे जिसके कारण कुछ हद तक श्रेणीबद्ध संगठन उभरा। ग्यारहवीं और बारहवीं शताब्दी में जाने-माने व्यापारिक परिवारों के विकास से इस तंत्र का और भी विस्तार हुआ। इनका नाम उनके मूल निवास पर आधारित था, जैसे ओसावला (ओसिया), श्रीमालि (भिनमल), पल्लिवल और खंडेलवाल आदि। इन व्यापारिक परिवारों के विकास से संसाधन आधार, संसाधनों के आने के मुख्य रास्ते और आदान-प्रदान के केन्द्र एक दूसरे से गहरे रूप से जुड़ गये। राजस्थान, गुजरात, मध्य भारत और गंगा की घाटी के बीच; मुख्य व्यापारिक कड़ी के रूप में विकसित हुआ। पालि जैसे शहर कड़ी का काम करते थे, ये समुद्रतटीय शहरों, जैसे द्वारका और भृगुकच्छ (भडौंच), को मध्य और उत्तर भारत से जोड़ते थे। गुजरात जहाँ जैन व्यापारियों का बोलबाला था, पश्चिमी भारत का प्रमुख व्यापारिक केन्द्र था। यहाँ प्रारंभिक ऐतिहासक काल के बंदरगाह जैसे— भृगुकच्छ (भडौंच) आरंभिक मध्यकाल में भी व्यापारिक केन्द्र के रूप में फले-फूले। राजस्थान का एक महत्वपूर्ण शहर बयाना, विभिन्न व्यापारिक मार्गों का संगम स्थल था। व्यापार की वस्तुओं में शुरू में कृषि उत्पादन, प्रमुख थे (दुग्ध उत्पादन जिसमें शामिल था) पर बाद में बहुमूल्य वस्तुएं जैसे घोड़े, हाथी, सींग वाले जानवर और आभूषण भी व्यापार की वस्तुओं में शामिल हो गए।

कर्नाटक में विवेच्यकाल के दौरान शहरों की संख्या में बढ़ोत्तरी की प्रमुख विशेषता यह थी कि बीजापुर, धारवाड़, बेलगाम और शिमोगा में वाणिज्य केन्द्रों का संकेन्द्रण हुआ। आरंभिक ऐतिहासिक काल से ही भारतीय प्रायद्वीप के पश्चिमी तट का अरब, फारस की खाड़ी और उसके आगे के देशों के साथ व्यापारिक संबंध रहा था। दसवीं और बारहवीं शताब्दियों के बीच में थाणा, गोआ, भटकल, करबार, होनेवर और मंगलोर जैसे बंदरगाहों का लंबी दूरी के व्यापार के पुनर्स्थापित होने के दौरान विकास हुआ। यहां पर समुद्री जहाजरानी और तटीय नौ परिवहन के प्रमाण भी उपलब्ध हैं। आश्चर्य की बात यह है कि नगदी व्यवस्था का व्यापक विस्तार न होने के बावजूद इस प्रकार की वाणिज्यिक गतिविधियां जारी थीं (इकाई 3 भी देखें)। कोंकण तट (शिलहारों के अधीन) पर बाजार और उसके तंत्र के उदय का कोई प्रमाण नहीं मिलता है।

MAADHYAM IAS
way to achieve your dream

कर्नाटक, आंध्र और तमिलनाडु के बीच व्यापक व्यापार तंत्र फैला हुआ था। बेलगाम (कर्नाटक), नालगोंडा जिले में पेरुरु (आंध्र प्रदेश) और विशाखापट्टनम और घंटशाला जैसे तटीय शहरों में तमिल, तेलुगु और कन्नड़ व्यापारियों की उपस्थिति इसका प्रमाण है। आंध्र तट दक्षिणी पूर्वी व्यापार का मुख्य द्वार बन गया, जिसके प्रमुख बंदरगाह मोटुपल्ली, विशाखापट्टनम और घंटशाला थे। आंध्र प्रदेश में नेल्लोर, द्रावकशर्मा, त्रिपुरंतकम और अनुमकोंडा अन्तक्षेत्रीय व्यापार के प्रमुख बाजार थे। कावेरी के उत्तरी और दक्षिणी तट पर कर्नाटक और तमिलनाडु के बीच तलक्कड और मुडिकोंडन जैसे कई आदान-प्रदान के बिन्दु थे।

केरल का पश्चिमी और विदेशी व्यापारियों से संबध स्थापित हुआ। विशेष शाही फरमानों के द्वारा इन विदेशी व्यापारियों (यहूदियों, इसाइयों और अरबी लोगों) को व्यापारिक शहर प्रदान किए गए। कोलिकुड्डू और कौल्लम आदि तटीय शहर दक्षिण एशियाई व्यापार के केन्द्र बने। अंजुवन जैसे व्यापारिक समुदायों और अरब के घोड़े व्यापारियों के कारण कर्नाटक और केरल के तटीय शहरों का महत्व बढ़ गया। कर्नाटक, आंध्र प्रदेश और तमिलनाडु के बुनकर केन्द्र अंतक्षेत्रीय व्यापार के फलस्वरूप उभरे।

नगरीकरण के आरंभिक ऐतिहासिक चरण के कुछ शिल्प और वाणिज्य केन्द्र आरंभिक मध्यकाल तक बने रहे। पुनर्नगरीकरण की इस प्रक्रिया में ये पुराने केन्द्र मंदिर जैसे नये सामाजिक-आर्थिक संस्थानों से जुड़े। उत्तर में काशी (वाराणसी) और दक्षिण में कांचीपुरम (मद्रास के निकट) इस प्रकार की प्रक्रिया के प्रमुख उदाहरण हैं।

2.4.3 पवित्र/तीर्थस्थल

भक्ति आंदोलन के फैलाव के कारण आरंभिक मध्यकाल को दौरान तीर्थस्थलों (धार्मिक-केन्द्रों) का महत्व बढ़ा। ब्राह्मण उपासना पद्धति और लोक विश्वास के बीच संबंध स्थापित हुआ और संकीर्ण विश्वासों से निकालकर इस मिलन से विभिन्न क्षेत्रों में

तीर्थस्थलों की स्थापना हुई। लोक-विश्वास के कई प्राचीन केन्द्र, परिणामस्वरूप तीर्थस्थल के रूप में विकसित हुए। इनमें से कुछ स्थलों का ब्राह्मण धर्म से पुराना संबंध था और कुछ स्थलों का गैर-ब्राह्मण धर्मों से संबंध था।

कभी-कभी यह तीर्थस्थल तंत्र किसी सांस्कृतिक क्षेत्र विशेष तक सीमित था जिसके अंतर्गत किसी विश्वास केन्द्र का पवित्र स्वरूप उभरता था। पवित्र तीर्थस्थल के रूप में विकसित इन विश्वास केन्द्रों में विभिन्न क्षेत्रों से लोग पूजा-अर्चना के लिए आया करते थे। उपर्युक्त वर्णित दोनों प्रकार के तीर्थस्थलों की शहरी विशेषताएं सामने आईं। तीर्थ-यात्रियों के आने-जाने, व्यापार और शाही संरक्षण के कारण यह संभव हुआ। अब इतिहासकार तीर्थस्थलों के विकास में उभरते हुए बाजार की भूमिका के महत्व को स्वीकार करने लगे हैं।

राजस्थान में अजमेर के निकट पुष्कर वैष्णव सम्प्रदाय का प्रमुख क्षेत्रीय तीर्थस्थल था। अपनी प्राचीनता और पवित्र ब्राह्मण केन्द्र होने के कारण काशी (बनारस) अखिल भारतीय केन्द्र के रूम में सामने आया। दक्षिण भारत में श्रीरंगम (वैष्णव), चिदंबरम (शैव) और मदुरई (शैव) आदि क्षेत्रीय तीर्थस्थल के रूप में विकसित हुए। कांचीपुरम अखिल भारतीय तीर्थ तंत्र का एक हिस्सा था।

कर्नाटक में मेलकोटे और आंध्र प्रदेश में आलमपुर, द्राकशर्मा और सिमहचलम क्षेत्रीय पवित्र स्थल थे। आरंभ में तिरुपति भी तमिल वैष्णवों का एक महत्वपूर्ण पवित्र स्थल था पर विजयनगर साम्राज्य के काल में इसने अखिल भारतीय स्वरूप ग्रहण किया।

गुजरात और राजस्थान में जैन धर्म के तीर्थस्थल विकसित हुए। व्यापारियों के और शाही संरक्षण के फलस्वरूप ओसिया, माउंट आबू, पलिटना आदि स्थानों पर प्रचुर मात्रा में जैन मंदिरों का निर्माण हुआ।

दक्षिण भारत के पवित्र स्थलों में बने मंदिरों की संरचना को ध्यान से देखने पर नगरीकरण विकास की प्रक्रिया के दो चरणों का पता चलता है :

- एक ही बड़े मंदिर के चारों ओर हुआ शहरीकरण जैसे श्रीरंगम, मदुरई, तिरुवन्नामलई (तमिलनाडु), मेलकोटे (कर्नाटक) क्षेत्रशर्मा और सिमहाचलम (आंध्र प्रदेश)
- विभिन्न धर्मों जैसे शैव, वैष्णव, शक्ति आदि के मन्दिरों के चारों ओर हुआ शहरीकरण।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

आंरभिक मध्यकालीन नगरीकरण को (खासकर, दक्षिण भारत के संदर्भ में) मंदिर नगरीकरण की संज्ञा दी जाती है। इन पवित्र केंद्रों ने क्षेत्र विशेष के वाणिज्य को प्रोत्साहित करने के लिए कड़ी के रूम में काम किया, क्योंकि क्षेत्र विशेष से संबंद्ध मंदिर या मठ ही बहुमूल्य वस्तुओं के सबसे बड़े उपभोक्ता थे

2.4.4 राजसी केन्द्र या राजधानियां

आरंभिक मध्यकालीन भारत में शाही केन्द्रों और शाही परिवारों के सत्ता केन्द्रों का विकास शहरी केन्द्रों के रूप में हुआ। इनमें से कुछ सत्ता केन्द्र आरंभिक ऐतिहासिक काल से अस्तित्व में थे, मसलन उत्तरी भारत के जनपद और दक्षिण भारत की परम्परागत राजनीतिक व्यवस्थाएं। शाही परिवार अपने लिए बंदरगाहों का निर्माण करवाते थे, जो उनके राज्य का मुख्य प्रवेश बंदरगाह होता था और यह अन्तर्राष्ट्रीय वाणिज्य से भी उन्हें जोड़ता था। इस प्रकार, शाही केन्द्रों की वाणिज्यिक जरूरतों के फलस्वरूप नये व्यापार और संचार संबंध स्थापित हुए और शाही केन्द्र तथा कृषीय प्रभाव क्षेत्र के बीच संबंध प्रगाढ़ हुआ। विंध्य से दक्षिण के क्षेत्रों में, जहां आठवीं शताब्दी ई. में ब्राह्मण राज्यों की स्थापना हुई थी, इस प्रकार के शाही केन्द्रों के उदय के पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध हैं। इसके कुछ उदाहरण निम्नलिखित हैं :

- उत्तरी कर्नाटक और आंध्र में चालुक्यों के वातापी और वेंगी शहर।
- पल्लवों का कांचीपुरम और उनका बंदरगाह मामल्लपुरम (महाबलिपुरम)
- पांड्यों की मदुरई और उनका बंदरगाह कोरकई
- चोलों का तंजावुर और उनका बंदरगाह नागपट्टिनम
- पश्चिमी चालुक्यों का कल्याण, होयसलों का द्वारसमुद और

• काकातियों का वारंगल और उनका बंदरगाह मोटुपल्लि

दक्षिण भारत में वारंगल किलाबंद शाही शहर था। पर दक्षिण भारत के लिए यह अपवाद था।

उत्तर भारत में शाही केन्द्रों के उदाहरण :

• गुर्जर प्रतिहारों की राजधानी कान्यकुब्ज (कन्नौज)
• चंदेलों का खजुराहो
• परमारों का धार, और
• सोलंकियों की वल्लभी

राजस्थान में शक्तिशाली, गुर्जर प्रतिहारों, चौहानों और परमारों के शासनकाल में कई शहरों का उदय हुआ। इनमें से अधिकांश केन्द्र किलेबंद थे, या पहाड़ी किले (गढ़किला या दुर्ग) थे। राजस्थान के दुर्ग शहर निम्नलिखित थे :

• गुहिलों के अधीन नागरा और नागदा
• गुर्जर-प्रतिहारों के अधीन बयाना, हनुमानगढ और चित्तौड़, और
• चौहानों के अधीन मंदोर, रनथमभोर, सकमभरी और अजमेर

विभिन्न स्रोतों के आधार पर, चौहान राज्य के 131 स्थलों का पता चला है, इनमें से अधिकांश शहर प्रतीत होते हैं। परमारों के अधीन मालवा राज्य के करीब दो दर्जन शहरों का पता चला है। गुजरात चालुक्यों के अधीन था। उनके शासनकाल में वहां अनेक बंदरगाह-शहर थे। ऐसा प्रतीत होता है कि पूर्वी भारत में शहरों की संख्या ज्यादा नहीं थी। पर पालों के नौ विजय स्थल (जयस्कंधवार) (पाटलिपुत्र, मुदगगिरी, रमावती, वट परवटक, विलासपुर, कपिलवस्तु, सहसगंद, कंचनपुर और कन्नौज) शहर हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त उत्तरी और पूर्वी बंगाल में सेनों की चार राजधानियां थीं, लखनौती, नादिया, विजयपुर और विक्रमपुर। चंदेलों के अभिलेखों में इक्कीस स्कंधवारों की चर्चा है। पालों के बीस और चंदेल शासकों के चौबीस किले थे। कभी-कभी कुछ महत्वपूर्ण व्यापारिक केन्द्रों और बाजारों को सामंती परिवारों को सौंप दिया जाता था। मसलन कर्नाटक, मध्य प्रदेश और राजस्थान में इस प्रकार के गौण राजनीतिक केन्द्रों की बहुलता थी।

MAADHYAM IAS 'way to achieve your dream'

बोध प्रश्न 2

1) ग्रामीण केन्द्रों के शहरी केन्द्रों में रूपान्तरण के कारणों का उल्लेख करें।

....
....
....
....
....

2) व्यापारिक गतिविधियों से नगरों के विकास में किस प्रकार सहायता मिली?

....
....
....
....
....
....

3) क्या नगरीकरण की प्रक्रिया में धार्मिक केन्द्रों की कोई भूमिका थी?

....
....

....

....

....

4) "प्रशासनिक केन्द्रों का शहरी स्वरूप" इस कथन को आधार बनाकर पाँच पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

....

....

....

....

....

2.5 सारांश

गुप्तकाल के बाद की शताब्दियों में जो भूमि-अनुदान का सिलसिला शुरू हुआ, उसका प्रभाव नयी कृषि अर्थव्यवस्था तक ही सीमित नहीं रहा। गुप्त वंश के शासन काल के आरंभ होने की कुछ शताब्दियों के बाद तक जो शहरी बस्तियां उजड़ रही थीं, उन्हें एक नयी जिन्दगी मिली। व्यापार के पुनरुत्थान, नये बाजारों की स्थापना, राजनीतिक सत्ता का विकेन्द्रीकरण और धार्मिक संगठनों की आर्थिक शक्ति के दृढ़ीकरण आदि कारणों से भारतीय उपमहाद्वीप के विभिन्न क्षेत्रों में काफी संख्या में नगरों का उदय हुआ। इन शहरों के उदय के कारणों के अपेक्षित महत्व में थोड़ी बहुत विभिन्नताएं नज़र आती हैं।

2.6 शब्दावली

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

कुर्रम : कभी यह नाडु (नीचे देखें) के समकक्ष और कभी नाडु का एक हिस्सा होता था

तीर्थ : पवित्र स्थल

नगरम : बाजार शहरों की एक प्रकार की व्यापारी-सभा जो कि अनेक वाणिज्यिक हितों की देखभाल करती थी।

नाडु : जिला या उप-मंडल, एक प्रकार की स्थानीय सभा, जो स्थानीय मंडल के नागरिक मामलों की देखभाल करती थी।

स्कंधवार : सैनिक पड़ाव, चलती फिरती राजधानी।

2.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) देखें भाग 2.2, शीर्षक विभिन्न चरण तथा परिभाषा के अंतर्गत किया गया विवरण पढ़ें।

2) इस उत्तर में बड़ी बस्तियों, घनी जनसंख्या, शिल्प और वाणिज्य से जुड़े लोगों की चर्चा आदि का उल्लेख करना है। (देखें भाग 2.2)

3) भाग 2.2 में इन सात विशेषताओं का उल्लेख किया गया है। कृपया उन्हें पढ़ें और संक्षेप में पाँच का उल्लेख करें।

बोध प्रश्न 2

1) कुछ मामलों में ग्रामीण केन्द्र वे बिन्दु थे जिनका रूपांतरण शहरी केन्द्रों में हुआ। कई

मामलों में ग्रामीण केन्द्र व्यापारिक आदान-प्रदान के स्थल बने और धीरे-धीरे उनका शहरीकरण हो गया (देखें उपभाग 2.4.1)

2) इसका उत्तर लिखते समय निम्न का उल्लेख करना है जैसे किसी स्थान का व्यापारिक मार्ग पर बसा होना, विभिन्न मार्गों तथा बाजार का, क्षेत्रीय या अन्तरक्षेत्रीय तटीय व्यापार के लिए संबंध (देखें उपभाग 2.4.2)

3) बहुत से धर्म-स्थलों का विकास शहर के रूप में हुआ। यहां श्रद्धालु बड़ी संख्या में आते थे और इस कारण बाजार आदि विकसित हुए। (देखें उपभाग 2.4.3)

4) इस उत्तर में इस बात का उल्लेख करना है कि किस प्रकार प्रशासनिक केन्द्र या सत्ता केन्द्र शहरों में विकसित हुए (देखें उपभाग 2.4.4)।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

इकाई 3 वाणिज्य और व्यापार

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य
3.1 प्रस्तावना
3.2 व्यापार : परिभाषा और चरण
3.3 पहला चरण (ईसवी 700-900)
  3.3.1 विनिमय के माध्यम
  3.3.2 व्यापार का सापेक्ष ह्रास
  3.3.3 शहरी बस्तियों का ह्रास
3.4 दूसरा चरण (ईसवी 900-1300)
  3.4.1 शिल्प और उद्योग
  3.4.2 सिक्के तथा विनिमय के दूसरे माध्यम
3.5 व्यापार के पहलू
  3.5.1 अंतर्देशीय व्यापार
  3.5.2 समुद्री व्यापार
  3.5.3 नगरों का पुनरुत्थान
3.6 सारांश
3.7 शब्दावली
3.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

3.0 उद्देश्य

MAADHYAM IAS

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप निम्न की विवेचना कर सकेंगे :

- 700 ईसवी से 1300 ईसवी के बीच छः सदियों में भारत के आर्थिक इतिहास में व्यापार और वाणिज्य की भूमिका,
- दो चरणों में व्यापार की ऐतिहासिक विशेषताएं
  i) ई. 700 से 900 तक और
  ii) ई. 900 से 1300 तक,
- व्यापार और वाणिज्य का संबंध
  i) धातु मुद्रा से
  ii) गांव की अर्थव्यवस्था से, और
  iii) नगर से
- व्यापार कार्यों में शिल्प और उद्योग की भूमिका
- अंतर्देशीय और विदेशी व्यापार में व्यापार की वस्तुओं और उनके उपभोक्ताओं की भूमिका,
- व्यापार के मुख्य मार्ग और संचार के साधन, और
- व्यापारियों और सौदागरों के हितों को बढ़ावा देने में राजनीतिक अधिकारियों की भूमिका।

3.1 प्रस्तावना

इकाई 2 में किया गया शहरी बस्तियों का अध्ययन तब तक अधूरा रहेगा जब तक इसे व्यापार और वाणिज्य से नहीं जोड़ा जाए। प्रारंभिक मध्ययुगीन सदियों में यह पहलू भारतीय अर्थव्यवस्था का एक अभिन्न अंग है। पिछली दो इकाइयों (1 और 2) के समान इस इकाई में व्यापार का विश्लेषण भारतीय सामंतवाद के विकास की पृष्ठभूमि में किया गया है। मुद्रा के उपयोग का स्वरूप और सीमा, बाजार की कार्य प्रणाली, कृषि उत्पादन की भूमिका और शहरी बस्तियों के विभिन्न चरण, सभी एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। इसमें से

कोई भी भूमि अनुदान की व्यवस्था से अलग नहीं है। इसकी चर्चा इकाई 1 में हो चुकी है और इसे 800-1300 की सदियों में पूरे भारत की विशेषता बताया गया है। ऐसा कहा जा सकता है कि इस काल में व्यापार और वाणिज्य का भी सामंतीकरण हो गया था।

3.2 व्यापार : परिभाषा और चरण

माल इकट्ठा करने, इसके वितरण और विनिमय को व्यापार कहते हैं। यह एक प्रक्रिया है जो बहुत कारकों पर निर्भर करती है जैसे उत्पादन का स्वरूप और मात्रा, यातायात की सुविधा, व्यापारियों की सुरक्षा, विनिमय के प्रतिरूप आदि। इसमें व्यापारियों, सौदागरों, किसानों और शिल्पकारों के अलावा समाज के अन्य हिस्से भी शामिल रहते हैं। अपरोक्ष रूप में इसमें राजनीतिक अधिकारियों की भी रुचि रहती है क्योंकि माल पर लगाया गया कर राज्य के राजस्व का एक महत्वपूर्ण स्रोत होता है।

प्रारंभिक मध्ययुगीन काल के व्यापार की ऐतिहासिक विशेषताओं को बेहतर ढंग से समझने के लिए हम इस काल को मोटे तौर पर दो चरणों में बांट लेते हैं : (1) ई 700-900 तक और (2) ई. 900-1300 तक। संक्षेप में इन दो चरणों की निम्नलिखित विशेषताएं है : (अ) पहले चरण में व्यापार, धातु मुद्रा, शहरी केन्द्रों का सापेक्ष ह्रास और गांव की आत्मनिर्भर अर्थव्यवस्था और (ब) दूसरे चरण में पहले बताई गयी प्रवृत्तियों का विपरीत होना। ऐसा प्रतीत होता है व्यापार सिर्फ देश के अंदर ही नहीं बल्कि विदेशी व्यापार भी तेजी से बढ़ रहा था। दूसरे चरण में, पहले चरण की तरह धातु सिक्कों की उतनी कमी नहीं थी। इस चरण में मुद्रा अर्थव्यवस्था उतनी प्रचलित नहीं थी जितनी मौर्य साम्राज्य (ई. पू. 200 से 500 ई.) के पतन के बाद की पाँच सदियों में थी। व्यापार के फिर से शुरू होने तथा कृषि के विस्तार का शहरी विकास के प्रतिरूप पर असर पड़ा था।

3.3 पहला चरण (ई. 700-900)

MAADHYAM IAS

700-1000 ई. के काल में यह पाया गया है कि भूमि अनुदान सिर्फ पुजारियों और मंदिरों को ही नहीं बल्कि योद्धाओं और राजकीय अधिकारियों को दिया गया। इकाई 1 में हम पहले ही पढ़ चुके हैं कि इससे विभिन्न श्रेणियों के जमींदारों का उदय हुआ। यहां तक कि बड़े राजकीय अधिकारियों जैसे माहा-मण्डलेश्वर, मंदालिका, सामंत, महासामंत, ठाकुर आदि भी भूमि से संबंधित गतिविधियों में रुचि लेने लगे हालांकि वे वास्तविक खेत जोतने वालों से अलग थे क्योंकि वे किसानों से हासिल किए गए अधिशेष पर निर्भर थे। इस प्रकार किसानों के पास व्यापार के लिए कुछ भी नहीं रह जाता था। इससे एक ऐसी ग्रामीण अर्थव्यवस्था का विकास हुआ जिसमें वास्तविक उत्पादकों की गतिशीलता पर प्रतिबंध लगा कर स्थानीय जरूरतों को स्थानीय रूप से पूरा किया जाता था। विनिमय के माध्यम जैसे धातु सिक्कों की सापेक्षिक कमी ने इस प्रवृत्ति को और मजबूत बनाया।

3.3.1 विनिमय के माध्यम

700 से 1000 ई. तक भारत में कई महत्वपूर्ण राजवंशों ने राज किया। इनमें पश्चिम भारत में गुरजारा-प्रतिहार, पूर्वी भारत में पाल और दक्खन में राष्ट्रकूट थे। उस समय के कुछ शक्तिशाली राजा जिन्होंने लंबे समय तक शासन किया इन राजवंशों के थे। बड़े आश्चर्य की बात है कि उस समय के बहुत कम सिक्के उपलब्ध हैं और उनकी तुलना पहले की सदियों के सिक्कों से मात्रा या स्तर में नहीं की जा सकती थी। क्योंकि माल की खरीद या बिक्री में मुद्रा की महत्वपूर्ण भूमिका है इसलिए पुरातात्विक खोजों में सिक्कों की कमी तथा सिक्कों को ढालने के सांचों की अनुपलब्धता से यह पता चलता है कि उस काल में व्यापार काफी कम हो गया था।

हालांकि सबसे पहले डी.डी. कोसाम्बी ने इस पहलू की चर्चा की थी लेकिन 1965 में प्रो० आर.एस. शर्मा के "भारतीय सामंतवाद" के प्रकाशन के बाद ही गुप्त काल के बाद के कालों में सिक्कों की कमी और व्यापार तथा वाणिज्य से इसके संबंध और इसके परिणामस्वरूप सामंती समाज व्यवस्था के उद्भव की बात सामने आयी। पिछले 35 सालों

में इस पर काफी बहस हुई है। अब तक चार मत सामने आए हैं :

i) एक में उपर्युक्त दिए गए पहलू का समर्थन किया गया है।

ii) उड़ीसा पर किया गया एक अध्ययन यह सिद्ध करता है कि 600 से 1200 ई. तक सिक्के का चलन बिल्कुल नहीं था लेकिन यह अध्ययन दक्षिण पूर्वी एशिया से व्यापार की चर्चा करता है और विदेशी व्यापार में वस्तु विनिमय पर जोर देता है।

iii) कश्मीर में 800 ई. से ही तांबे के सिक्कों का प्रचलन हो गया था, सिक्कों के निम्न स्तर को कश्मीर घाटी में व्यापार के पतन पर आधारित अर्थव्यवस्था और कृषि पर आधारित गतिविधियों की पृष्ठ भूमि में समझा जा सकता है।

iv) अंत मे एक मत सिक्कों की कमी और व्यापार के ह्रास के बीच संबंध पर आपत्ति प्रकट करता है। यह 700 से 1200 ई. के बीच मध्यपूर्व भारत जिसमें बिहार, पश्चिमी बंगाल और वर्तमान बंगलादेश आते हैं से मिले प्रमाणों पर आधारित है। यह बात मानी जाती है कि उस समय सिक्के उपयोग में नहीं लाये जाते थे और पाल और सैन राज्यों में सिक्के नहीं ढाले जाते थे। यह भी कहा जाता है कि विनिमय के माध्यमों की कोई कमी नहीं थी। उदाहरण के तौर पर यह बताया जाता है कि चांदी के सिक्के हरिकेला ही नहीं बल्कि कौडियां और सबसे महत्वपूर्ण चूर्णी (सोने, चांदी के बूरे) भी विनिमय के माध्यम थे।

कुछ क्षेत्रों में अपवाद हो सकते हैं लेकिन पूरे भारत के परिप्रेक्ष्य में प्रो० शर्मा की परिकल्पना सही साबित होती है। क्षेत्रीय अपवादों के संदर्भ में निम्नलिखित सवालों पर ध्यान देना जरूरी है :

- इन वाणिज्यिक गतिविधियों का स्वरूप और सीमा क्या थी?
- क्या वे गतिविधियां एक स्थाई वाणिज्यिक वर्ग को जन्म देने में सक्षम थीं?
- इस व्यापार से किस को लाभ पहुंचता था?
- क्या इस तथाकथित बढ़ते व्यापार से मेहनतकश जनता और एक स्थान पर बसे किसानों को कोई फायदा था? इस संदर्भ में यह ध्यान देने योग्य बात है :
- मध्य पूर्वी भारत से संबंधित स्रोत जिन्हें उस क्षेत्र के परिप्रेक्ष्य में उद्धृत किया गया है वहां के मूल निवासियों की समुद्री व्यापार में भागीदारी के बारे में कुछ नहीं बताते हैं।
- यहां तक की सीमित व्यापारिक गतिविधियां भी विशिष्ट शासक वर्ग के ही हाथ में थीं।
- आम व्यक्ति की दयनीय हालत बंगाली शब्द (बंगाल का निवासी) से प्रकट होती है। यह शब्द गरीबी और दयनीय स्थिति को दर्शाता है।

MAADHYAM IAS

इस तरह जो लोग भारत के दक्षिण पूर्व एशिया से व्यापार की बात करते हैं उन्हें उस क्षेत्र की धातु मुद्रा की स्थिति को भी ध्यान में रखना चाहिए। उदाहरण के लिए कम्बोडिया पर किए गए एक विस्तृत अध्ययन से पता लगता है कि गुप्त काल (600 से 800 ई.) के बाद की दो सदियों में दक्षिण पूर्व एशिया में मुद्रा की कोई व्यवस्था विकसित नहीं हो सकी थी और वस्तुविनिमय (मुख्यतः धान और अंशतः कपड़े पर आधारित) ही खमीर अर्थव्यवस्था का आधार था। प्रारंभिक मध्ययुगीन सिक्कों जैसे इंडो-ससानियन, श्री विग्राहा, श्री अधिवाराहा, बुल और होर्स मैन, गधिया आदि का प्रयोग पश्चिम और उत्तर पश्चिम में और कुछ हद तक गंगा की घाटी में शुरू हो चुका था परन्तु कुल मिलाकर समूची अर्थव्यवस्था पर यह कोई खास प्रभाव नहीं डाल सके। सिक्कों के प्रचलन के काल के बारे में अभी भी संदेह है। उनका अत्यंत निम्न स्तर और उनकी कुछ भी खरीदने की घटती हुई क्षमता उनकी वास्तविक भूमिका के ह्रास को इंगित करती है। इसके अलावा बढ़ती हुई आबादी और बस्तियों के विस्तार के संदर्भ में मुद्रा चलन की मात्रा नगण्य थी। इस तरह हम कह सकते हैं कि पहले चरण में धातु मुद्रा में सापेक्ष कमी आनुभाविक प्रमाणों पर आधारित है। इसका भारत की व्यापारिक गतिविधियों पर प्रभाव पड़ना निश्चित था

3.3.2 व्यापार का सापेक्ष ह्रास

आंतरिक तौर पर राजनीतिक शक्ति का बिखराव और स्थानीय प्रधानों और धार्मिक अनुदान पाने वाले आदि के हाथ में शक्ति आ जाने से ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारंभिक सदियों में भूमि-अनुदान पर आधारित अर्थव्यवस्था पर विपरीत असर पड़ा। बहुत से बिचौलिए जमींदार, विशेषकर कम उपजाऊ क्षेत्रों में रहने वाले, लूट पाट करने लगे या

अपने क्षेत्र से गुजरने वाले माल पर अत्यधिक कर लगाने लगे। इससे व्यापारियों और सौदागरों के व्यवसाय में बाधा पड़ी। संभावी शासक प्रधानों के बीच आपसी लड़ाई ने भी व्यापारियों को हतोत्साहित किया। हालांकि आठवीं सदी के दो जैन ग्रंथ (हरिभद्र शूरी का समरइचहकहा और उघोत्तना शूरी का कुवालयमाला बढ़ते हुए व्यापार और चहल-पहल वाले शहरों की चर्चा करते हैं लेकिन यह तर्क सही है कि ये ग्रंथ ज्यादातर सामग्री पहली की सदियों के स्रोतों से लेते हैं इसलिए यह जरूरी नहीं है कि ये आठवीं सदी की सही आर्थिक स्थिति को दर्शाते हैं।

८. दसवीं शताब्दी ई. के सिक्के।

पश्चिम के साथ विदेशी व्यापार के ह्रास के बारे में यह बताया जाता है कि चौथी सदी में महान रोमन साम्राज्य के पतन के बाद इसमें गिरावट आयी। छठी सदी के मध्य में भी इस पर विपरीत प्रभाव पड़ा जब बाइजनटाइन (पूर्वी रोमन साम्राज्य) के लोगों ने रेशम बनाने की कला को सीखा। इस तरह भारत ने एक महत्वपूर्ण बाजार खो दिया जिससे ईसवीं की प्रारंभिक सदियों में भारत को बड़ी मात्रा में सोना प्राप्त हुआ था।

विदेशी व्यापार का पतन सातवीं और आठवीं सदी में भारत की उत्तर पश्चिमी सीमा पर अरबों के विस्तार के कारण भी हुआ। इस क्षेत्र में उनकी मौजूदगी से भारतीय व्यापारियों के लिए स्थल मार्ग असुरक्षित हो गए। कथासरितासागर में एक कहानी हमें बताती है कि

उज्जैन से पेशावर जा रहे सौदागरो के एक समूह को एक अरब ने पकड़ कर बेच दिया। बाद में जब वे किसी तरह मुक्त हुए तो उन्होंने सदैव के लिए उत्तर पश्चिमी इलाके को छोड़ने का फैसला कर लिया और व्यापार के लिए दक्षिण को लौट गये। तिब्बतियों और चीनियों के बीच इन सदियों में हुई लड़ाइयों ने भी मध्य एशिया के मार्गों पर माल लाने-ले जाने की गतिविधियों को प्रभावित किया। भारत के पश्चिमी तटों में भी समुद्री व्यापार अरबों द्वारा सातवीं सदी में भड़ौच और थाना पर हमलों और बल्लभी के विनाश के कारण (बल्लभी जो आठवीं सदी में सौराष्ट्र तट का एक महत्वपूर्ण बंदरगाह था) अस्तव्यस्त हुआ। हालांकि बाद में अरबों ने (दसवीं सदी के बाद) भारतीय समुद्री व्यापार के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। प्रारंभ में उनके समुद्री हमलों का भारतीय वाणिज्यिक गतिविधियों पर विपरीत प्रभाव पड़ा था। समकालीन साहित्य में भारत के दक्षिण पूर्वी एशियाई देशों के साथ सम्पर्क का उल्लेख है लेकिन यह संदेहास्पद है कि क्या यह पश्चिम के साथ व्यापार के ह्रास की पूर्ति कर पाया।

3.3.3 शहरी बस्तियों का ह्रास

पहला चरण बहुत से शहरों के ह्रास और उजड़ने का चरण है। यह वाणिज्य में ह्रास का लक्षण है क्योंकि शहर मुख्यतः उन लोगों की बस्तियां हैं जो शिल्प कला और वाणिज्य में संलग्न हैं। व्यापार में ह्रास और शिल्प की वस्तुओं की मांग में कमी आई। शहरों में रहने वाले व्यापारियों और दस्तकारों को जीविका के वैकल्पिक साधन ढूंढ़ने के लिए देहाती इलाकों में जाना पड़ा। इस प्रकार कस्बों का पतन हुआ और शहरी लोग ग्रामीण अर्थव्यवस्था का हिस्सा बन गए। ह्वेनसांग के उल्लेखों के अलावा पौराणिक अभिलेख भी काली युग का उल्लेख करते हुए महत्वपूर्ण शहरों की बढ़ती आबादी की ओर संकेत करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि वारामीहीरा (पांचवीं सदी) द्वारा इंगित प्रवृत्ति कायम रही। इकाई 2 में 140 स्थलों की खुदाई से प्राप्त आंकड़ों की चर्चा की गई है। वैशाली, पाटलीपुत्र, वाराणसी आदि जैसे महत्वपूर्ण शहरों का ह्रास पुरातात्विक खुदाई से स्पष्ट है। खुदाई ढांचों और प्राचीन वस्तुओं के निम्न स्तर को प्रकट करती है। तीसरी और आठवीं सदी के बीच का अखिल भारतीय परिप्रेक्ष्य शहरी केन्द्रों से उजड़ने और उनके ह्रास की स्थिति को दर्शाता हैं। यहां तक की जो बस्तियां आठवीं सदी तक भी रहीं वे बाद में उजड़ गईं। हम रोपर (पंजाब) अंतरंजीखेरा और भीता (उत्तर प्रदेश) की चर्चा कर सकते हैं। मध्य प्रदेश में प्रभास पातन (गुजरात) में महेश्वर, पौनार (महाराष्ट्र) और कूडावेली (आंध्र प्रदेश) शहरी बस्तियों की इस श्रेणी में आते हैं। कन्नौज (उत्तर प्रदेश के फारुखाबाद जिले में) की मध्ययुगीन महत्ता का, जिस पर अधिकार पाने के लिए पालों, प्रतिहारों और राष्ट्रकूटों के बीच कई लड़ाईयां लड़ी गयीं, खुदाई के द्वारा प्रमाणित होना बाकी है।

MAADHYAM IAS
"way to achieve your dream"

मध्ययुगीन काल के पहले चरण में हालांकि वाणिज्यिक गतिविधियों का ह्रास हुआ था परन्तु यह पूरी तरह से समाप्त नहीं हुई। दरअसल राजाओं, सामंतों, मंदिर और बौद्ध विहारों के महन्तों के लिए निर्मित कीमती और विलासिता वाली वस्तुओं का व्यापार जारी रहा। बहुमूल्य और अर्ध मूल्यवान पत्थरों, हाथी दांत, घोड़े इत्यादि जैसी वस्तुएं लम्बी दूरी के व्यापार का एक महत्वपर्ण हिस्सा थी। इस काल के स्रोतों में दैनिक इस्तेमाल की वस्तुओं के आदान-प्रदान के बहुत कम प्रमाण मिले हैं। अभिलेखों में उल्लेखित महत्वपूर्ण वस्तुओं में सिर्फ नमक और तेल शामिल हैं जिनका उत्पादन प्रत्येक गांव में नहीं होता था। इसीलिए इन्हें बाहर से मंगाना पड़ता था। यदि अर्थव्यवस्था आत्मनिर्भर नहीं होती तो अनाज, चीनी, कपड़ा, हस्तकला की वस्तुओं इत्यादि में व्यापार का उल्लेख अधिक मिलता। संक्षेप में 750 से 1000 ईसवी के बीच की वाणिज्यिक गतिविधियों की प्रकृति ऐसी थी जो बिचौलियों भू-स्वामियों और सामंतों की जरूरतों की पूर्ति करती थी न कि आम जनता की। हालांकि पीहोआ (हरियाणा में करनाल के पास) और अहर (उत्तर प्रदेश में बुलन्दशहर के पास) जैसे व्यापार और वाणिज्य के कुछ केन्द्र थे जहां दूर-दूर से व्यापारी व्यापार करने के लिए आते थे। परन्तु वे पूरे देश की आत्मनिर्भर अर्थव्यवस्था पर कोई महत्वपूर्ण प्रभाव नहीं डाल पाए।

बोध प्रश्न 1

1) 700-900 ई. के दौरान अर्थव्यवस्था की महत्वपूर्ण विशेषताओं का संक्षेप में उल्लेख कीजिए।

....

....

....

....

....

2) निम्न कथनों में कौन-सा कथन सही और कौन-सा गलत है? चिन्ह ✓ या ✗ लगाएं।

i) आर.एस. शर्मा के अनुसार गुप्तकाल के बाद सिक्का ढलाई में ह्रास हुआ।

ii) उड़ीसा में 600 से 1200 ई. के बीच सिक्के प्रचुर मात्रा में उपलब्ध थे।

iii) कश्मीर (आठवीं सदी के आस पास) के ताम्र सिक्कों के निम्न स्तर का कारण व्यापार का ह्रास ठहराया जा सकता है।

iv) आठवीं व बारहवीं सदियों के दौरान ढले हुए सिक्कों के अलावा विनिमय के दूसरे माध्यम नहीं थे।

3) अरबों ने आठवीं और बारहवीं सदियों के बीच भारतीय व्यापार को कैसे प्रभावित किया?

....

....

....

....

....

4) सातवीं और नौवीं सदियों के बीच नगरों के ह्रास के मुख्य कारण स्पष्ट कीजिए।

....

....

....

....

....

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

3.4. दूसरा चरण (ई. 900-1300)

इस चरण की विशेषता व्यापार और वाणिज्य का पुनरुत्थान है। इस काल में कृषि का विस्तार, मुद्रा का बढ़ता प्रचलन और बाजार अर्थव्यवस्था का पुर्नउदय हुआ जिसमें माल का उत्पादन स्थानीय खपत की बजाय विनिमय के लिए हुआ। इन सदियों में महाद्वीप के विभिन्न हिस्सों में शहरी बस्तियों का पर्याप्त विकास हुआ।

हम इकाई 1 में पढ़ चुके हैं कि भूमि अनुदान ने कृषि के विस्तार में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। हालांकि यह बात साबित हो चुकी है कि इस विकास को मापना आसान नहीं है क्योंकि क्षेत्रीय विविधताओं और असमानताओं को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता। हालांकि दसवीं से तेरहवीं सदियों के बीच दालों, अनाज के साथ-साथ नगदी फसलों का उत्पादन भी बढ़ा। स्वाभाविक रूप से आंतरिक और बाहरी व्यापार को इससे बढ़ावा मिला।

3.4.1 शिल्प और उद्योग

शिल्प उत्पादन ने कृषि उत्पादन के विकास में योगदान दिया। प्रारंभिक मध्ययुगीन काल के पहले चरण में आंतरिक और बाहरी व्यापार के ह्रास से औद्योगिक उत्पादों के लिए बाजार की कमी हो गयी। उत्पादन सिर्फ क्षेत्रीय और स्थानीय जरूरतों के लिए सीमित रह गया। दूसरे चरण में हम पाते हैं कि शिल्प उत्पादन में वृद्धि हुई जिसने क्षेत्रीय और अन्तर क्षेत्रीय विनिमय को बढ़ावा दिया।

कपड़ा उद्योग जो प्राचीन काल से ही स्थापित था अब एक प्रमुख आर्थिक गतिविधि के रूप में विकसित होने लगा। मोटे और महीन दोनों तरह की रुई की वस्तुओं का उत्पादन जो

रहा था। मारको पोलो (ई. 1293) और अरब के लेखकों ने बंगाल और गुजरात के सूत की बहुत प्रशंसा की है। बंगाल में मद्दर और गुजरात में इंडिगों की उपलब्धता ने भी शायद इन क्षेत्रों में कपड़ा उद्योग के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई होगी। बारहवीं सदी के ग्रंथ मानासोलास में पैठान, नागपट्टिनम, कलिंग और मुलतान को महत्वपूर्ण कपड़ा उद्योग केन्द्र बताया गया है। कर्नाटक और तमिलनाडु में रेशम के बुनकर समाज का एक महत्वपूर्ण और प्रभावशाली तबका थे।

तेल उद्योग इस काल में काफी महत्वपूर्ण हो गया था। दसवीं सदी के उपरांत तेलहन बोने और तेल के मिल या धनाका के प्रमाण मिलते हैं। कर्नाटक में पाए गए एक अभिलेख में विभिन्न प्रकार के तेल मिलों जो कि आदमी और बैलों द्वारा चलाए जाते थे, की चर्चा की गई है। धनी तेलिकों के बारे में भी हमें जानकारी मिलती है जिनमें से कुछ ने मंदिर बनवाए और अन्य सार्वजनिक निर्माण कार्य करवाए। यह जानकारी भी मिलती है कि तेल उद्योग से इसके सदस्यों को मुनाफा भी हुआ। इसी प्रकार इस काल में गन्ना उत्पादन और गन्ने की पिराई का उल्लेख किया गया है। यह गुड़ और चीनी के दूसरे रूपों के बड़े पैमाने पर उत्पादन की ओर इशारा करता है। कृषि आधारित उद्योगों के अलावा, धातु और चमड़े की वस्तुओं में शिल्पकारी उच्च कोटि की थी। साहित्यिक ग्रंथों में उन दस्तकारों की चर्चा पाई गई है जो विभिन्न प्रकार के धातुओं जैसे तांबा, पीतल, लोहा, सोना, चांदी आदि के काम से जुड़े हुए थे। उड़ीसा के पुरी एवं कोणार्क मंदिरों में बड़ी संख्या में पाई गई छड़ों से बारहवीं सदी के लोहारों की दक्षता का पता चलता है। लोहे का उपयोग तलवार, भाला, और दूसरे उच्च कोटि के शस्त्र बनाने में किया जाता था। मगध, बनारस, कलिंग और सौराष्ट्र अच्छी कोटि के तलवार निर्माण के लिए जाने जाते थे। गुजरात सोने और चांदी की कढ़ाई के लिए जाना जाता था। बारहवीं सदी के यहूदी सौदागरों के गिंजा रिकार्डों से भारतीय पीतल उद्योग की प्रसिद्धि का पता चलता है। एडेन से ग्राहक टूटे बर्तनों को भारत भेजते थे जिससे कि उनकी जरूरत के हिसाब से मरम्मत की जा सके। नालंदा, नेपाल, कश्मीर और चोल राज्य की कांस्य की बनी वस्तुओं से उस समय के भारतीय धातु कारीगरों की कुशलता का पता चलता है।

चमड़ा उद्योग के क्षेत्र में गुजरात की स्थिति बहुत अच्छी थी। मारको पोलो बताता है कि उस समय गुजरात के लोग चमड़े की लाल और नीले रंग की खूबसूरत चटाई बनाते थे जिन पर पक्षियों और जानवरों की कढ़ाई होती थी। अरब में इनकी बहुत अधिक मांग थी

MAADHYAM IAS

3.4.2 सिक्के और विनिमय के दूसरे माध्यम

धातु मुद्रा के पुर्नउदय ने इन सदियों में व्यापार को काफी मदद पहुंचाई। इसलिए मुद्राकरण के स्तर पर काफी बहस हुई है। प्रायः बाजार में मुद्रा के प्रचलन का समर्थन करने वाले इतिहासकार साहित्य और अभिलेखों की चर्चा प्रारंभिक मध्ययुगीन भारत में विभिन्न तरह के सिक्कों का वर्णन करने के लिए करते हैं। इस तरह ग्रंथों जैसे ''प्रबंधचिन्तामणि'', ''लीलावती'', ''द्रव्यपरीक्षा'', ''लेखाधिपति आदि में भागका, रूपका, विमशतिका, कर्शपाना, दीनार, द्रमः, निशका, गधिया-मुद्रा, गडयंका, टंका और कई सिक्कों की चर्चा पाई गई है। अभिलेखों में भी सिक्कों की चर्चा पाई गई है। उदाहरण के लिए सियादोनी अभिलेख में दसवीं सदी के मध्य के विभिन्न तरह के द्रमों (सिक्कों) की चर्चा पाई गई है। परमारों, चालुक्यों, चहमानों, प्रतिहारों, पालों, चंदेलों और चोलों के अभिलेख उस समय के साहित्य में मिले सिक्कों के लिए प्रयुक्त होने वाले शब्दों की पुष्टि करते हैं। इन मुद्राओं के मूल्य के बारे में, इनकी धातु की मात्रा और इनके एक दूसरे से संबंधों के बारे में बहुत से अनुमान लगाए गए हैं। अभिलेखों और साहित्य के आधार पर सिक्कों के अध्ययन से मुद्रा के बाजार में भारी प्रचलन का मत एक कठिन विवेचन को सरल तरह से प्रस्तुत करता है। इसलिए हमें इन सभी पक्षों की जांच करनी होगी। जांच के विभिन्न पक्ष निम्न हैं :

i) मुद्रा (सिक्कों) की चर्चा शहरी क्षेत्रों या ग्रामीण क्षेत्रों में विनिमय के संदर्भ में है,

ii) विनिमय केन्द्रों के प्रकार और बाजार का स्वरूप जहां आदान-प्रदान होता था,

iii) आदान-प्रदान में संलग्न लोग,

iv) किस हद तक मुद्रा (सिक्कों) के संबंध में अभिलेखीय संदर्भ सिर्फ वैचारिक है।

जहां तक सिक्कों के नमूनों का सवाल है सोने के सिक्के ढालने का पुनः प्रचलन गांगेयद्रा (ई. 1019 से 1040) मध्य प्रदेश में त्रिपुरी के कालाचुरी राजा, चार सदियों के बाद (उत्तर प्रदेश में वाराणसी के निकट) गहादवाला के राजा गोविन्दचंद्र, मध्य भारत में चंदेला राजा

कीर्तिवर्मन और मदनवर्मन के समय में हुआ। कश्मीर के राजा हर्ष और तमिलनाडु के सोमजे चोल राजाओं ने भी सोने के सिक्के जारी किए। पश्चिम और उत्तर-पश्चिम भारत के प्रारंभिक मध्ययुगीन सिक्कों की चर्चा पहले भी की गई थी। एक अनुमान के अनुसार कर्नाटक में बारहवीं तेरहवीं सदी के दौरान नौ टकसालों की स्थापना की गई। राजस्थान में जोधपुर के निकट श्रीमोल में एक महत्वपूर्ण टकसाल था। जहां तक धातु मुद्रा की वास्तविक भूमिका का सवाल है क्षेत्रीय आधार पर बहुत सीमित अध्ययन किया गया है, जिसके आधार पर हम मुद्रा के भारी प्रचलन को सिद्ध नहीं कर सकते।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

सिक्कों के संदर्भ में पाए गए अनेक प्रमाणों के बावजूद मुद्रा के कुल-मिलाकर प्रचलन के प्रमाण लगभग नगण्य हैं। प्रारंभिक मध्यकाल के सिक्कों की निम्न क्रय शक्ति को, चाहे वह किसी भी धातु के बने हों, अनदेखा नहीं किया जा सकता है। इस काल के सभी सिक्के बहुत ही निम्न स्तर के थे तथा इनका वजन भी बहुत कम था। बढ़ती आबादी और बस्तियों के विस्तार के साथ-साथ ऐसा प्रतीत होता है कि मुद्रा का इस्तेमाल बहुत प्रतिबंधित हो गया था। मध्यकालीन राजस्थान पर किया गया अध्ययन यह दर्शाता है कि व्यापार का पुनरुत्थान, विनिमय केन्द्रों और बाजारों का विस्तार और सौदागरों के परिवारों की खुशहाली, ''आंशिक मुद्राकरण'' के साथ ही संभव हुआ। इसी प्रकार सिलहारों (ई. 850 से 1250) के समय में (पश्चिमी तट में कोंकण क्षेत्र इनके अधीन था) मौद्रिक अन्तरसंबंध की विशेषता मुद्रा का सीमित प्रयोग था। मुद्रा के प्रकार और स्तर न सिर्फ स्थानीय थे बल्कि आर्थिक स्वरूप पर इनका कोई प्रभाव नहीं था। आम जनता सिक्कों का अधिक प्रयोग नहीं करती थी। दक्षिण भारत में ई. 950 से 1300 की मुद्रा व्यवस्था यह दर्शाती है कि समाज के सभी स्तरों में आदान-प्रदान पर धातु मुद्रा (सिक्कों) का समान प्रभाव नहीं था। उदाहरण के तौर पर पांडयो द्वारा विदेशी घोड़ों की खरीद पर किये गये खर्च के बारे में पांडयों की निम्न स्तर की मुद्रा से अनुमान नहीं लगाया जा सकता है। वस्तु विनिमय का स्थानीय अन्तर्क्षेत्रीय और शायद अन्तर्राष्ट्रीय वाणिज्य में महत्वपूर्ण स्थान था। इस बात का पता चलता है कि सौदागरों के कारवां वस्तुओं का विनिमय दूसरे क्षेत्रों से किया करते थे। एक कथन के अनुसार विदेशों से खरीदे गए घोड़ों की कीमत नगद में नहीं बल्कि भारतीय माल जैसे रेशम, मसाले और हाथी दांत के रूप में अदा की जाती थी। इन भारतीय मालों की पूरी दुनिया में मांग रहती थी। हालांकि आंशिक मुद्राकरण का पुनः प्रचलन आर्थिक विकास में मदद कर रहा था लेकिन ऋण व्यवस्था के समानांतर विकास से जिसमें लेन देन बिना नगद मुद्रा के संभव था, का भी कम महत्व नहीं था। उस समय के ग्रंथों में हुंडिका या विनिमय पत्र के बारे में पता चलता है जो कि शायद सौदागरों द्वारा वाणिज्यिक आदान-प्रदान के उपयोग में लाया जाता था। इस पद्धति द्वारा एक सौदागर से दूसरे को ऋण दिया जा सकता था जिससे व्यापार में सिक्के रूपी मुद्रा की कमी के कारण उत्पन्न बाधा को दूर किया जा सकता था। लेखाधिपति नामक ग्रंथ जो कि बारहवीं-तेरहवीं सदी में गुजरात के लोगों के जीवन पर प्रकाश डालता है, उस समय जमीन, मकान और पशुधन को गिरवी रख कर ऋण लेने के बारे में जानकारी देता है। यह ग्रंथ इन तरीकों से वाणिज्यिक गतिविधियों के साथ-साथ उपभोक्ता वस्तुओं के लिए ऋण लेने के उपायों का उल्लख करता है।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

बोध प्रश्न 2

1) नवीं से तेरहवीं सदी के बीच भारत में बनने वाले कपड़ों के प्रकार और स्तर पर टिप्पणी करें।

x..

....

....

....

....

2) नवीं से तेरहवीं सदी के बीच भारतीय शिल्पकारों के धातु के कामों को सूचीबद्ध करें।?

....

....

....

....

....

3) क्या हम नवीं से तेरहवीं सदी की अर्थव्यवस्था को पूरी तरह से सिक्कों पर आधारित मान सकते हैं?

....

....

....

....

....

3.5. व्यापार के पहलू

कृषि उत्पादन में विस्तार और तेजी से बढ़ता हुआ औद्योगिक तथा शिल्प उत्पादन वे दो कारण थे जिन्होंने श्रेणीबद्ध विनिमय केन्द्रों के उद्भव में योगदान दिया। ये केन्द्र अपने इलाकों के बाहर भी कार्य करते थे। इस प्रकार अन्तर्क्षेत्रीय और क्षेत्र के अंदर के विनिमय तंत्र ने अपेक्षाकृत आत्मनिर्भर ग्रामीण अर्थव्यवस्था को पहले चरण (ई. 750 से 900) में हानि पहुंचाई।

3.5.1 अन्तर्देशीय व्यापार

विभिन्न किस्म की वस्तुओं को व्यापार मार्ग के तंत्र द्वारा व्यापार के लिए ले जाया जाता था। आइए पहले व्यापार की वस्तुओं की चर्चा की जाए।

(अ) व्यापार की वस्तुएं और उसके उपभोक्ता

अनेक अभिलेखों में उन व्यापारियों का उल्लेख पाया गया है जो अनाज, तेल, मक्खन, नमक, नारियल, सुपारी, पान के पत्ते, नील, मिश्री, गुड, सूती कपड़े, कपास, कम्बल, धातु, मसाले इत्यादि एक जगह से दूसरी जगह ले जाते थे और उन पर कर तथा चुंगी देते थे। स्पेन के (1200 सदी) एक जिसुइट पादरी बैंजामिन तुदेला से यह जानकारी मिलती है कि भारत से वापस लौटते समय, किस द्वीप में जो फारस की खाड़ी में है, व्यापारी अपने साथ जौ, गेहूं, और दालों के अलावा तेलहन और सूती कपड़े भी लाते थे। अलइदरीसी ने भी मालाबार से श्रीलंका को जहाजों द्वारा बारहवीं सदी में चावल पहुंचाने का उल्लेख किया है। खजूर की चीनी और रस्सीयों के लिए नारियल के रेशों के निर्यात के बारे में फ्रेयर जोरडॉनस ने लगभग ई. 1330 में लिखा है। मारको पोलो ने क्विलोन (जो मालाबार तट पर है) और गुजरात से नील के निर्यात का उल्लेख किया है। इसके अलावा बहुत सारे दूसरे स्रोतों में सूती कपड़ों, दरियों, चमड़े की चटाइयों, तलवारों और भालों का उल्लेख विनिमय की महत्वपूर्ण वस्तुओं के रूप में हुआ है। घोड़ों, हाथियों और गहनों जैसे कीमती सामान भी विभिन्न विनिमय केन्द्रों पर आते थे।

भारतीय वस्तुओं के मुख्य खरीददार निश्चित तौर पर चीन, अरब और मिस्र के धनी लोग थे। अनेक भारतीय वस्तुएं भूमध्य सागर के माध्यम से यूरोप तक पहुंच गई होंगी। हालांकि विदेशी व्यापार के विभिन्न पहलुओं पर बाद में बहस की जाएगी इस तथ्य पर प्रकाश डालने की जरूरत है कि आंतरिक मांग कम नहीं थी। आठवीं सदी के बाद बड़े पैमाने पर भूमि अनुदान की वजह से उपभोक्ताओं का एक नया वर्ग पनपा। जो पुजारी पहले घरेलू और दूसरे कर्मकांडों के बदले मिली छोटी-मोटी आमदनी पर निर्भर थे अब उन्हें पुश्तैनी तौर पर बड़ी जमींदारियां तथा अन्य लाभ और अधिकार मिल गए। यह भूपति वर्ग शासकों और उभरते हुए व्यापारिक वर्ग के साथ विलासिता के सामान का महत्वपूर्ण खरीददार हो गया क्योंकि इस वर्ग की क्रय शक्ति ज्यादा थी। ब्राह्मणवादी और गैर ब्राह्मणवादी धार्मिक प्रतिष्ठान जो भू सम्पत्ति और स्थानीय करों के रूप में विस्तृत संसाधनों के मालिक थे, अधिकांश बेचे जाने योग्य वस्तुओं के महत्वपूर्ण उपभोक्ता के रूप में उभरे। उन्हें न सिर्फ नारियल, पान पत्ते और सुपारी जैसी वस्तुएं जिनको धार्मिक पवित्रता मिली थी की जरूरत पड़ी परन्तु इसके साथ ही भगवान के भोग के लिए, भोज्य पदार्थों या प्रसादौ की मात्रा की आवश्यकता भी बढ़ गई। धार्मिक प्रतिष्ठानों के कर्मचारी जिनकी संख्या बड़े और महत्वपूर्ण मंदिरों में सैकड़ों में थी किसानों, शिल्पकारों और व्यापारियों द्वारा उत्पादित तथा वितरित की गई वस्तुओं के महत्वपूर्ण उपभोक्ता वर्ग के रूप में सामने आए। इस तरह विस्तृत संसाधनों और विभिन्न जरूरतों वाले बड़े मंदिरों ने भी वाणिज्यिक गतिविधियों को बढ़ाने में मदद दी। दक्षिण भारत के मंदिरों की यह विशेष पहचान थी कि वे महत्वपूर्ण वाणिज्यिक केन्द्रों के रूप में उभरें (देखें इकाई 2, उपभाग 2.4.3)

(ब) व्यापार मार्ग और संचार के साधन

सड़कों का विस्तृत तंत्र विभिन्न बंदरगाहों को एक दूसरे से जोड़े हुए था। इनके द्वारा बाजारों और नगरों के बीच व्यापार और वाणिज्य होता था। ...

वृतांत से पता चलता है कि विभिन्न भू-क्षेत्र आपस में जुड़े हुए थे। ह्वेनसांग ने 'सातवीं' सदी में हिन्दुकुश पार करते हुए उत्तर में काश्मीर से होते हुए दक्षिण में कांची और पूर्व में असम से लेकर पश्चिम में सिंध तक भ्रमण किया। ई. 903 के एक अभिलेख में सौदागरों का उल्लेख मिलता है जो कर्नाटक, मध्य प्रदेश, दक्षिणी गुजरात और सिंध से होते हुए राजस्थान में अहदा में व्यापार के लिए आए। ग्यारहवीं सदी में कश्मीर से आया एक कवि, बिलहाना, कश्मीर से मथुरा तक अपनी यात्रा के बारे में बताता है कि वह किस तरह कन्नौज और प्रयाग से बनारस पहुंचा। बनारस से वह सोमनाथ (सौराष्ट्र तट पर) धर (उज्जैन के निकट) और अनाहिलावाडा (उत्तरी गुजरात) से होते हुए पहुंचा। सोमनाथ से होनावार (गोवा के निकट) वह समुद्री मार्ग से गया और उसके बाद पूर्वी तट पर रामेश्वरम् भू-मार्ग से पहुंचा। अंत में वह पश्चिमी भारत में स्थित कल्याणी पहुंचा और पश्चिमी चालुक्यों के दरबार में पहुंचा।

अरबी और फारसी विवरण हमें समकालीन व्यापारिक मार्गों पर अधिक गहन जानकारी देते हैं। अलबरूनी (ई. 1030) ने 15 मार्गों का उल्लेख किया है जो कन्नौज, मथुरा, बयाना आदि से शुरू होते थे। कन्नौज का मार्ग प्रयाग से गुजरते हुए पूर्व की ओर ताम्रलिप्ति (पश्चिम बंगाल के मिदनापुर जिले में तामलुक में) के बंदरगाह तक जाता था। जहां से वह पूर्वी तट होते हुए दक्षिण में कांची तक जाता था। उत्तर पूर्व से यह मार्ग आसाम, नेपाल और तिब्बत तक जाता था जहां से भू-मार्ग से चीन तक जाया जा सकता था। उत्तर-पश्चिम में बल्ख जाते समय कन्नौज तथा मथुरा से गुजरना पड़ता था। यह मार्ग पेशावर और काबुल को जोड़ता था और अन्त में ग्रेट सिल्करूट में मिलता था जो चीन को यूरोप से जोड़ता था। यह उत्तर पश्चिमी मार्ग गुप्त काल से पहले की सदियों में भारत और मध्य एशिया के बीच वाणिज्यिक अंतरसंबंध का मुख्य मार्ग था। परन्तु प्रारंभिक मध्ययुगीन काल में यह मुख्यतः अरब और तुर्की व्यापारियों के नियंत्रण में था जो इसका इस्तेमाल फारस, बल्ख और दूसरे इलाकों से घोड़े लाने के लिए करते थे। राजस्थान में बयाना का मार्ग मारवाड़ के रेगिस्तान से गुजरते हुए सिन्ध के आधुनिक बंदरगाह कराची तक जाता था। इस मार्ग की एक शाखा अरावली पहाड़ियों की पश्चिमी तलहटी में स्थित आबू से गुजरती थी और गुजरात के बंदरगाहों और शहरों को उत्तर और उत्तर-पश्चिमी भारत में स्थित बयाना, मथुरा और दूसरे स्थानों से जोड़ती थी। मथुरा और प्रयाग से एक दूसरा मार्ग पश्चिमी तट पर स्थित भड़ौच के बंदरगाह की ओर उज्जैन होते हुए जाता था। इन मार्गों ने भारत के भीतरी हिस्सों को अन्तर्राष्ट्रीय समुद्री व्यापार के लिए खोलने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई जिसने दसवीं सदी के बाद एक नया आयाम हासिल किया। सड़कों के अलावा उत्तर भारत की नदियों, और दक्षिण भारत के पूर्वी और पश्चिमी तटों के साथ लगे समुद्री मार्गों ने भी अंतर्क्षेत्रीय सम्पर्कों को बढ़ाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

MAADHYAM IAS
"way to achieve your dream"

प्राचीन काल में यात्रा, आनन्द और कष्ट व्यापारिक मार्गों की भौगोलिक स्थिति पर निर्भर करती थी। रेगिस्तानी और पहाड़ी मार्गों वाले इलाकों से गुजरने वाले मार्ग निश्चित तौर पर ज्यादा दुष्कर और कठिन थे। मैदानी इलाकों में यात्रा का मुख्य साधन बैल गाड़ियां थीं लेकिन जहां ये नहीं चल पाती थीं वहां एक जगह से दूसरी जगह वस्तुओं को लाने ले जाने के काम के लिए जानवरों और आदमियों का इस्तेमाल होता था। समकालीन साहित्य में विभिन्न प्रकार की नौकाओं का उल्लेख मिलता है जिनका इस्तेमाल संभवतः जल मार्गों पर होता था जबकि बड़े जहाज समुद्रों में चलते थे।

दसवीं सदी के बाद के काल में एक महत्वपूर्ण घटना घटी। शासकों ने अपने राज्यों के राज मार्गों को सुरक्षित रखने में गहरी दिलचस्पी दिखाई। चोरों और लुटेरों को सजा देने के लिए कदम उठाए गए और गांव वालों को उनके इलाकों से गुजरने वाले व्यापारियों और यात्रियों की सुरक्षा के लिए सैन्य और आर्थिक मदद दी। गुजरात के चालुक्य राजाओं के शासन काल में एक अलग विभाग जियाला-पथकरण था जो राजमार्ग की देखभाल करता था। उन्होंने नई सड़कों का निर्माण भी करवाया जो उनके राज्य के महत्वपूर्ण बंदरगाहों और बाजारों को जोड़ती थीं और यात्रियों की सुविधा के लिए हौज और कुओं की खुदाई करवाई। चूंकि व्यापार राजस्व का महत्वपूर्ण स्रोत था इस लिए व्यापारियों और सौदागरों की सुरक्षा और खुशहाली के लिए राजनीतिक अधिकारियों का चिंतित होना स्वाभाविक था। मारको पोलो ने कैम्बे का उल्लेख करते हुए कहा है कि वह समुद्री डाकुओं के आतंक से मुक्त था, इससे यह पता चलता है कि भारतीय राजाओं ने अपने बंदरगाहों को डकैती से सुरक्षा प्रदान की थी। समुद्री डाकुओं का आतंक पश्चिमी चीन से फारस की खाड़ी तक के समुद्री मार्ग पर मुख्य खतरा था।

3.5.2 समुद्री व्यापार

इस काल में बड़े पैमाने पर व्यापारिक गतिविधियां समुद्र के जरिए हुईं। यहां हम उन देशों का उल्लेख करेंगे जो समुद्री व्यापार में भाग लेते थे और साथ ही व्यापार की वस्तुओं, मुख्य बंदरगाहों और समुद्री मार्गों की सुरक्षा की चर्चा करेंगे। हम पहले समुद्री व्यापार के मुख्य भागीदारों की चर्चा करेंगे।

इस काल की विशेषता एशिया के दो छोरों, फारस की खाड़ी और दक्षिण चीन के बीच समुद्री व्यापार का विस्तार था। हिन्दुस्तान, जो इन दो छोरों के बीच में पड़ता था, को इस व्यापार से बहुत फायदा हुआ। लम्बी समुद्री यात्रा की कठिनाइयों को भारतीय तटों पर लंगर डालकर कम करने की कोशिश की जाती थी।

(अ) मुख्य भागीदार

इन सदियों में एशिया के व्यापार पर अरबों का प्रभुत्व रहा। आठवीं सदी में सौराष्ट्र तट पर स्थित बल्लभी के बाजार और महत्वपूर्ण बंदरगाह को नष्ट करने के बाद उन्होंने अरब सागर में अपने को मुख्य समुद्री ताकत के रूप में स्थापित किया। बाद में बारहवीं सदी में चीन भी इस व्यापार का एक महत्वपूर्ण भागीदार बना और उसने दक्षिण पूर्वी एशिया और भारत में अपने जहाज भेजने शुरू किए किन्तु इससे अरबों की स्थिति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा जिन्होने एशियाई व्यापार पर अपनी सर्वोच्च पकड़ को कायम रखा।

स्वदेशी स्रोतों और विदेशी विवरणों में उल्लेखित छिटपुट जानकारियां इंगित करती है कि अरबों की प्रबल प्रतिस्पर्धा के बावजूद भारतीय दसवीं सदी के बाद समुद्रों से आगे दूसरे प्रदेशों में जा रहे थे। दसवीं सदी के एक अरब लेखक अब्बू जैद ने लिखा है कि भारतीय व्यापारी फारस की खाड़ी में स्थित सिराफ जाते थे। जब कि इब्न बतूता (1400 ई.) लाल सागर के एडन में भारतीय व्यापारियों के एक उपनिवेश के विषय में बताता है। चौदहवीं सदी के एक गुजराती ग्रंथ में कच्छ के एक व्यापारी जगदु का उल्लेख है जो होरमूज में अवस्थित भारतीय एजेंटों की मदद से फारस से व्यापार करता था। दक्षिण भारत में चोल समुद्री व्यापार में गहरी रुचि लेते थे। मलाया और सुमात्रा में प्राप्त तमिल अभिलेखों से इन इलाकों में तमिल व्यापारिक समुदाय की वाणिज्यिक गतिविधियों का पता चलता है। चोलों ने चीन से संबंध सुधारने के लिए भी कई दूत भेजे। उन्होंने ग्यारहवीं सदी में चीन को जाने वाले समुद्री मार्ग को अपने व्यापार के लिए सुरक्षित रखने के लिए श्रीविजय साम्राज्य के खिलाफ भी समुद्री अभियान भेजे। किन्तु कुल मिलाकर भारतीय व्यापारियों की व्यक्तिगत भागीदारी का उल्लेख बहुत सीमित है। इससे भारतीय वस्तुओं की मांग पर प्रभाव नहीं पड़ा जो बाहर की दुनिया को अरबों और चीनियों द्वारा मिलती थी।

MAADHYAM IAS

(ब) विनिमय होने वाली वस्तुएं

जहां तक एशियाई व्यापार में शामिल वस्तुओं की बात है, चीनी ग्रंथों में उल्लेख मिलता है कि मालाबार तट को चीन और दक्षिण पूर्वी एशिया से रेशम, चीनी, मिट्टी के बर्तन, कपूर, लौंग, मोम, चंदन की लकड़ी, इलायची इत्यादि मिलते थे। इनमें से बहुत सी वस्तुएं शायद अरब देशों को पुनः निर्यात होती थीं लेकिन कुछ हिन्दुस्तान के लिए भी थीं, खास तौर पर रेशम जिसकी स्थानीय बाजारों में काफी मांग थी।

मारको पोलो हमें बताते हैं कि गुजरात में कैम्बे के बंदरगाहों में दूर से आने वाले जहाज अन्य वस्तुओं के अलावा सोना, चांदी और तांबा लाते थे। टिन पूर्वी एशिया से हिन्दुस्तान आने वाला अन्य धातु था।

पूर्वी उत्पादों के बदले भारत अपनी सुगन्धित वस्तुएं और मसाले खास तौर पर काली मिर्च भेजता था। मारको पोलो के अनुसार किन्से शहर (हैंग-चाऊ) में ही रोजाना 10 हजार पौण्ड काली मिर्च की खपत होती थी। तेरहवीं सदी का चीनी बंदरगाह अधिकारी चाऊ-जू-कुआ बताता है कि गुजरात, मालवा, मालाबार और कोरोमण्डल चीन को सूती कपड़े भेजते थे। इब्न बतूता (ई 1333) ने इंगित किया है कि चीन के शहरों में सूती कपड़े रेशम से ज्यादा दुर्लभ और कीमती थे। भारत चीन को हाथी दांत, गैंडों के सींग और कुछ बहुमूल्य और अर्ध-बहुमूल्य पत्थर भी निर्यात करता था। बहुत से अरबी अभिलेख जो कैम्बे, समारथ और जूनागढ़ में मिले हैं, प्रकट करते हैं कि फारस की खाड़ी के व्यापारी, सौदागर और जहाज के मालिक बारहवीं-तेरहवीं सदी में पश्चिमी भारत आए थे। फारस की खाड़ी में होरमूज से गुजरात के तटों पर आए हुए जहाजों का उल्लेख लेखापद्धति में

मिलता है।

जहां तक अरब और पश्चिमी देशों के व्यापार की वस्तुओं का सवाल है, यहूदी सौदागर भारत के पश्चिमी तटों से बहुत सारा माल मिश्र के बाजारों में ले जाते थे। इनमें मसाले, सुगन्धित वस्तुएं, रंग, जड़ी बूटियां, कांस्य और पीतल के बर्तन, कपड़े, मोती, मनके, नारियल इत्यादि थे। भारत सागौन की लकड़ी का निर्यात भी करता था। इसका इस्तेमाल फारस की खाड़ी और दक्षिण अरब के लगभग वृक्षहीन इलाकों में जहाज बनाने और घरों के निर्माण में होता था। भारतीय बंदरगाहों से अतिरिक्त अनाज मुख्यतः चावल दूसरे तटवर्ती इलाकों के समुदायों को भेजा जाता था जहां उनकी जरूरतों को पूरा करने के लिए पर्याप्त खाद्य पदार्थ नहीं होते थे। मारको पोलो के अनुसार अरब में गुजरात के महीन और नक्काशीदार चमड़े की चटाइयों की काफी मांग थी। भारत अपने लोहे और इस्पात उत्पादों खास तौर से तलवार और भालों के लिए भी प्रसिद्ध था जिनकी पश्चिमी देशों में बहुत मांग थी।

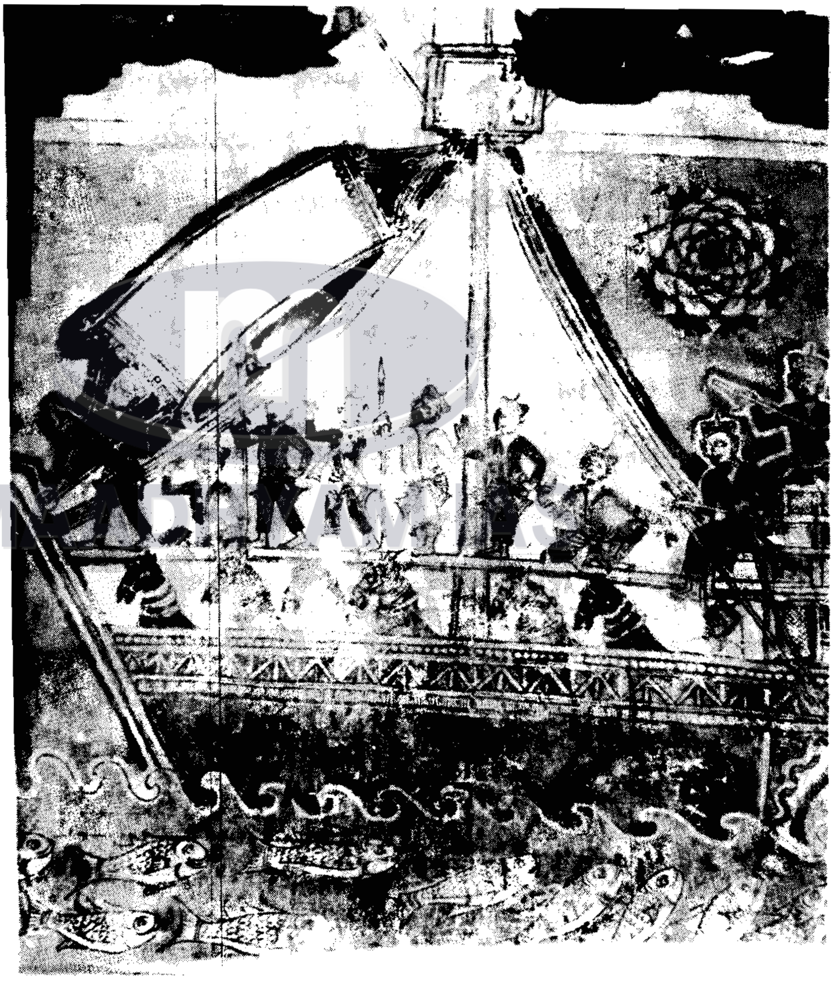

10. तिरुन्ववेली में थिरुपुदैमार्थुर मंदिर से प्राप्त एक कलाकृति जिसमें जहाज द्वारा व्यापारी और घोड़े लाते दिखाए गए हैं।

जहां तक पश्चिम से आयात का सवाल है सबसे महत्वपूर्ण वस्तु कपड़ा था। प्रारंभिक मध्ययुगीन काल में जैसे-जैसे सामंती सरदारों और मुखियों की संख्या बढ़ी, घोड़ों की मांग कई गुना बढ़ गयी। घोड़े भू-मार्गों तथा समुद्री-मार्गों से लाए जाते थे। इब्न बतूता हमें बताता है कि उत्तर पश्चिमी भू-मार्गों से आने वाले घोड़ों के व्यापारी काफी मुनाफा कमाते थे। एक अरब लेखक वस्साफ (ई. 1328) के अनुसार तेरहवीं सदी में कोरोमण्डल तट, कैम्बे और दूसरे बंदरगाहों में प्रति वर्ष 10 हजार घोड़े लाए जाते थे। घोड़े बेहरीन, मसकत, अदेन, फारस आदि जैसी जगहों से लाए जाते थे। घोड़ों के अलावा छुहारे, हाथी दांत, मूंगा, पन्ना इत्यादि भी पश्चिम से भारत लाए जाते थे।

(स) बंदरगाह

भारतीय तटों पर बहुत सारे बंदरगाह थे जो न सिर्फ अन्तर्देशीय व्यापारिक तंत्र के हिस्से थे बल्कि वह पूर्वी और पश्चिमी व्यापार के बीच कड़ी का काम भी करते थे। दरअसल कोई भी संकरी खाड़ी जो जहाजों के सुरक्षित लंगर डालने की सुविधा देती थी, राष्ट्रीय या अंतर्राष्ट्रीय महत्व के बंदरगाह में विकसित हुई। अलइदरीसी (बारहवीं सदी) के अनुसार सिन्धु के मुहाने पर देवाल एक महत्वपूर्ण बंदरगाह था जहां अरब और चीन तथा अन्य भारतीय बंदरगाहों से पोत आते थे। गुजरात तट के मुख्य बंदरगाह सोमनाथ भड़ौच और कैम्बे थे। सोमनाथ के पूरब में चीन और पश्चिम में जांजीबार (अफ्रीका में) के साथ संपर्क थे। भडौच या प्राचीन बृगुकच्छ का बहुत लम्बा इतिहास रहा है। अरबी स्रोतों में कैम्बे का उल्लेख खम्बायत और संस्कृत स्रोतों में इसका उल्लेख स्तम्भ तीर्थ के रूप में हुआ है।

इसका प्रारंभिक उल्लेख नौवीं सदी में मिलता है। भारत के पश्चिमी तट पर सोपारा और थाना दूसरे महत्वपूर्ण बंदरगाह थे।

मालाबार तट पर क्वीलोन एक महत्वपूर्ण बंदरगाह के रूप में उभरा था। अरब लेखक हमें बताते हैं कि दक्षिण पूर्वी एशिया में केडा की ओर रवाना होने से पहले पश्चिम से आने वाले जहाज क्वीलोन के बंदरगाह पर स्वच्छ पानी लेने के लिए आते थे। इसी प्रकार तेरहवीं सदी के चीनी स्रोत बताते हैं कि अरबों के देश की ओर जाने से पहले चीनी व्यापारियों को क्वीलोन में अपने जहाज बदलने पड़ते थे।

दसवीं और तेरहवीं सदियों के बीच पूरब और पश्चिम से आने वाले जहाजों के लिए कोरोमंडल तट का विकास सामान उतारने या चढ़ाने के स्थान में हो गया। अरब लेखक वस्साफ हमें बताते हैं कि फारस की खाड़ी के द्वीपों का धन और यूरोप तक के दूसरे देशों की सुन्दरता कोरोमंडल तट की देन है। इस इलाके का सबसे महत्वूर्ण बंदरगाह नागपट्टनम था। पुरी और कलिंगपट्टम उड़ीसा तट के महत्वपूर्ण बंदरगाह थे। बंगाल में ताम्रलिप्ती का फिर से उत्कर्ष हुआ। हालांकि कुछ विद्वानों के अनुसार इसका स्थान धीरे-धीरे सप्तग्राम ले रहा था।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

(द) व्यापारियों की सुरक्षा

भारी मुनाफों को ध्यान में रखते हुए समकालीन राजसी अधिकारियों ने विदेशी व्यापार में संलग्न सौदागरों को सुविधाएं देने में गहरी रुचि दिखाई। गुजरात के चालुक्यों (दसवीं से तेरहवीं सदी) ने राजसी नियंत्रण में बंदरगाहों के एक अलग विभाग (वेला कुलाकरन) का गठन किया। दक्षिण भारत में भी चोल अपने बंदरगाहों की स्थानीय व्यापारी संगठनों की मदद से तथा राजसी अधिकारियों के माध्यम से व्यवस्था करते थे जो विदेशी व्यापारियों की देखभाल करते थे और बंदरगाह से चुंगी इकट्ठा करते थे। अरब लेखक एक मत होकर राष्ट्रकूट राजाओं की अरबों के प्रति उनकी शांति, सहिष्णुता की नीति की प्रशंसा करते हैं। गुजरात के चालुक्य भी अपने राज्य में मुस्लिम व्यापारियों को धार्मिक और आर्थिक आजादी देते थे। इब्न बतूता बताते हैं कि जब भी कोई विदेशी व्यापारी मर जाता था उसकी सम्पत्ति जब्त नहीं होती थी बल्कि उसे सुरक्षित रख दिया जाता था जिससे कि उसके उत्तराधिकारी को वह सौंपी जा सके। आंध्र प्रदेश के गुन्टूर जिला के मौटूपल्ली के ई. 1244 के अभिलेखों से मालूम होता है कि राजा तूफान में भटके जहाजों को सुरक्षा देता था और विदेशी व्यापारियों का विश्वास जीतने के लिए राज्य के कानून के अनुसार कर एकत्र करने का वचन देता था।

3.5.3 नगरों का पुनरुत्थान

प्रारंभिक मध्ययुगीन भारत (ई. 900 से 1300) का दूसरा चरण दो पूर्ववर्ती सदियों से विलग था, क्योंकि इस काल में शहरी केन्द्रों का स्पष्ट पुनरुत्थान देखा जा सकता है। यह पुनरुत्थान लगभग अखिल भारतीय विशेषता बन गई। प्रायः इसे भारतीय उपमहाद्वीप का ''तीसरा शहरीकरण'' कहा जा सकता है। (विवरण के लिए इकाई 2 देखें)

बोध प्रश्न 3

1) (अ) अभिलेखों में उल्लेखित भूमि व्यापार की प्रमुख वस्तुओं को सूचीबद्ध कीजिए।

....
....
....
....
....

(ब) धार्मिक संस्थाओं ने व्यापारिक गतिविधियों को कैसे मदद पहुंचाई?

....
....
....
....
....

2) व्यापारिक उद्देश्यों के लिए इस्तेमाल किए जाने वाले मुख्य भू-मार्गों का संक्षेप में उल्लेख करें?

....
....
....
....
....

MAADHYAM IAS

3) नीचे दिए गए सही कथनों पर ✓ और गलत कथनों पर ✗ का चिन्ह लगाएं।

i) चीनी और भारतीय सौदागरों के जरिए भारतीय माल विदेशों में पहुंचा।

ii) भारतीय सौदागरों ने समुद्री व्यापार में भाग लिया।

iii) मलाया और सुमात्रा के कुछ अभिलेखों में वहां तमिल व्यापारियों की मौजूदगी के संकेत मिलते हैं।

iv) अदेन में भारतीय सौदागरों की एक बस्ती थी।

4) (अ) भारत में घोड़ों के आयात पर पांच पंक्तियां लिखें।

....
....
....
....
....

(ब) भारत के पूरब, पश्चिम, दक्षिण तटों में स्थित बंदरगाहों की सूची दें। (प्रत्येक क्षेत्र के दो बंदरगाहों के नाम लिखिए)

....
....
....
....
....

3.6 सारांश

ई. 700-1300 के दौरान व्यापार और वाणिज्य के अध्ययन से निम्न बातों पर प्रकाश पड़ता है :

- अन्तर्देशीय और विदेशी व्यापार के दो चरण
- धातु के सिक्कों के इस्तेमाल का स्वरूप और सीमा तथा व्यापार के तंत्र में विनिमय के साधनों की भूमिका
- व्यापार के विकास में कृषि विस्तार और कृषि उत्पादन की वृद्धि का योगदान, और
- इन सदियों के दौरान व्यापार और वाणिज्य का नगरों की स्थिति पर प्रभाव।

छठी सदी के दौरान व्यापार और वाणिज्य की विशेषता उसका सामंतीकरण है। मुद्रा के आदान-प्रदान का तरीका, राज्य के अधिकारियों और शासकों जिनका भूमि से संबंध था की अपने भूमि हितों को लेकर व्यवहारकुशलता। विशिष्ट शासक वर्ग (अभिजात्य) का बड़े व्यापारियों और सौदागरों के हित में काम करना और दस्तकारों और शिल्पकारों पर प्रतिबंध लगाया जाना (देखें इकाई 4) सामंतीकरण की प्रक्रिया के सूचक हैं।

3.7 शब्दावली

घनका : तेल की चक्की

जलपथकाराना : राजमार्गों की देखभाल करने वाला अधिकारी/विभाग

तेलिका : तेली

वेलाकुला-करना : बंदरगाह का अधिकारी/विभाग

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

3.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) पहले चरण में धातु मुद्रा, व्यापार तथा शहरी केन्द्रों का ह्रास और दूसरे चरण में इनका पुनरुत्थान हुआ (देखें भाग 3.2)।

2) i) ✓ ii) × iii) ✓ iv) × भाग 3.3.1 भी देखें।

3) भारत के व्यापार पर उत्तर पश्चिम में अरबों की मौजूदगी और समुद्री हमलों का बुरा प्रभाव पड़ा। किन्तु दसवीं सदी के बाद उन्होंने समुद्री व्यापार के विकास में योगदान दिया। देखें उपभाग 3.3.2

4) नगरों के ह्रास का मुख्य कारण व्यापार का ह्रास था, उपभाग 3.3.3 को भी देखें।

बोध प्रश्न 2

1) भारत कपास और रेशम के कपड़ों का उत्पादन करता था जिसके स्तर की तुलना विश्व के उच्च कोटि के कपड़ों से की जाती थी। देखें उपभाग 3.4.।

2) मुख्य धातु कार्य लोहे, तांबे, सोने, चांदी के थे। देखें उपभाग 3.4.2)।

3) ढाली गई मुद्रा में उल्लेखनीय वृद्धि हुई किन्तु बहुत से सौदे वस्तुओं के विनिमय के जरिए होते थे। अर्थव्यवस्था पूरी तरह ढाली गई मुद्रा पर निर्भर नहीं थी। देखें उपभाग 3.4.2)।

बोध प्रश्न 3

1) (अ) उपभाग 3.5.1 (अ) देखें।

   (ब) धार्मिक संस्थानों के विशाल संसाधनों के कारण कई वस्तुओं की मांग बढ़ीं। देखें उपभाग 3.5.1 (अ)।

2) समकालीन स्रोतों में कई मार्गों का उल्लेख है। देखें उपभाग 3.5.1 (ब)।

3) i) ✓ ii) × iii) ✓ iv) ✓

4) (अ) देखें उपभाग 3.5.2 (ब)।

   (ब) पश्चिमी भडौच, कैम्बे, पूर्वीपुरी, कालिंगपटोर, दक्षिणी क्वीलोन, कोरोमंडल।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

इकाई 4 व्यापारिक समुदाय और संगठन

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य
4.1 प्रस्तावना
4.2 व्यापारी एक कड़ी के रूप में
4.3 पहले दौर (ईसवी 700 से 900) में व्यापारियों की स्थिति
4.4 दूसरे दौर (ईसवी 900 से 1300) में व्यापारियों की स्थिति
4.5 व्यापारियों की सामाजिक भूमिका
4.6 व्यापारियों का संगठन
4.6.1 श्रेणियां : परिभाषा और कार्य
4.6.2 दक्षिण भारत में व्यापारिक श्रेणियों के संगठन
4.7 व्यापारी और कारीगरों के बीच संबंध
4.8 सारांश
4.9 शब्दावली
4.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

4.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप निम्न की व्याख्या कर सकेंगे।

- प्रारंभिक मध्ययुगीन भारत के दो प्रमुख दौरों (ईसवी 700 से 900 और ईसीव 900 से 1300) में व्यापारियों व सौदागरों की तुलनात्मक स्थिति,
- व्यापारिक समुदायों की क्षेत्रीय विशेषताएं
- व्यापारियों की प्रमुख गतिविधियां
- व्यापारियों और सौदागरों के प्रकार
- व्यापारियों का व्यवहार व चरित्र
- उत्तर व दक्षिण भारत में व्यापारिक श्रेणियां व उनकी कार्य पद्धति, और
- शिल्पकारों और कारीगरों पर व्यापारियों का नियंत्रण

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

4.1 प्रस्तावना

इस खंड की इकाई 2 और 3 के द्वारा आर्थिक गतिविधियों में वाणिज्य और व्यापार की भूमिका और इसकी कस्बों और शहरों के विकास से संबंध की व्याख्या की गयी है। सामंती प्रवृत्तियों के सर्वांगीण विकास में उनकी भूमिका की भी व्याख्या की गयी है। इस इकाई को एक पूरक भाग के रूप में देखा जाना चाहिए। यहां व्यापारियों और सौदागरों की समाज में अलग-अलग भूमिका उनकी संगठित आर्थिक गतिविधियों के संदर्भ में समझाने की कोशिश की गयी है। सदियों में उनकी स्थितियों में उतार-चढ़ाव को भी दिखाया गया है। यह इकाई बड़े सौदागरों का छोटे कारीगरों और दस्तकारों पर व्यापक प्रभाव पर भी विशेष ध्यान देती है

4.2 व्यापारी एक कड़ी के रूप में

व्यापारी उत्पादक और उपभोक्ता के बीच एक महत्वपूर्ण कड़ी है। वे भिन्न-भिन्न क्षेत्र से

कृषि उत्पादों और दस्तकारों और कारीगरों द्वारा बनायी गयी चीज़ों को एकत्रित करते हैं और एक बड़े क्षेत्र में उसका वितरण करते हैं। वे सिर्फ तैयार माल का ही व्यापार नहीं करते, बल्कि कच्चे माल का भी व्यापार करते हैं। इस तरह अर्थव्यवस्था के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

मध्ययुगीन काल के प्रारंभिक दौर में बड़ी तादाद में छोटे और बड़े व्यापारी माल जमा करने और वितरण में लगे रहते थे। ये स्थानीय के अलावा अंतर्क्षेत्रीय होते थे, एक तरफ फेरी वाले, खुदरा विक्रेता और छोटे व्यापारी थे तो दूसरी तरफ बड़े सौदागर और बड़े-बड़े कारवां बना कर चलने वाले व्यापारी थे। व्यापारियों और सौदागरों की समाज में सापेक्ष स्थिति उन दोनों कालों की व्यापारिक गतिविधियों से जुड़ी हैं जिन्हें इकाई तीन में बताया गया है। उनकी भूमिका पर पहले दौर में (ईसवी 700 से 900) सीमित विनिमय के कारण विपरीत प्रभाव पड़ा था, जबकि दूसरे काल (ईसवी 900 से 1300) में व्यापार के पुनरुत्थान से व्यापारिक समुदायों की शक्ति, प्रभाव और प्रतिष्ठा में काफी वृद्धि हुई। प्राचीन भारतीय ग्रंथ वैश्यों के लिए कृषि और पशुपालन के साथ-साथ व्यापार को रोजी रोटी कमाने का वैधानिक तरीका बताते हैं। सातवीं शताब्दी में चीनी यात्री ह्वेनसांग ने वैश्यों को व्यापारी और शुद्रों को कृषक के रूप में बताया गया है। हालांकि दोनों वर्गों के करीब आने की प्रक्रिया शुरू हो चुकी थी और शुद्र शराब, मधु, नमक और जौ इत्यादि का व्यापार करने लगे थे गुप्त काल के बाद ब्राह्मणवादी वर्ण व्यावस्था बिखरने लगी थी और लोग वर्ण व्यवस्था से अलग हटकर दूसरा व्यवसाय अपनाने लगे थे। सभी वर्ग और जाति के लोग व्यापार करने लगे थे। कुछ लोगों को यह मजबूरी में अपनाना पड़ रहा था, जबकि दूसरे लोग इसे अन्य आर्थिक गतिविधियों से ज्यादा लाभप्रद पाते थे।

4.3 पहले दौर (ईसवी 700-900) में व्यापारियों की स्थिति

इन सदियों में व्यापार के सापेक्षिक पतन के कारण समाज में व्यापारियों की भूमिका काफी घट गयी थी। व्यापार के पतन और बाजार की कमी हो जाने के कारण व्यापारियों को मंदिरों और दूसरे उभरते जमींदारों की शरण में जाना पड़ा। इससे उनकी स्वतंत्र व्यापारिक गतिविधियां छिन गयीं और उन्हें अपने शरण देने वालों की जरूरतों और मांगों को पूरा करना पड़ा। उड़ीसा और मध्य भारत के कुछ अभिलेखों से पता चलता है कि व्यापारियों, कारीगरों और सौदागरों को स्थानीय भूमिपतियों का संरक्षण मिलने लगा था। इससे उनकी स्वतंत्र गतिविधियों में काफी कमी आई होगी। आठवीं व दसवीं सदी के दौरान ऐसे कोई भी महत्वपूर्ण प्रमाण नहीं मिलते हैं जिससे कि यह पता लगे कि व्यापारियों का प्रशासन में कोई हाथ था। जबकि बिहार और उत्तर प्रदेश में मिली मुहरों से पता चलता है कि गुप्त काल में उनकी महत्वपूर्ण प्रशासनिक भूमिका थी। हालांकि व्यापार बिल्कुल लुप्त नहीं हो गया था कुछ सौदागर विशेषकर खाड़ी तट पर सक्रिय थे लेकिन उनकी संख्या बहुत कम थी और वे अधिकतर राजाओं, सामंतों और मंदिरों के लिए विलासिता की जरूरतों को पूरा करते थे। उस समय के आलेखों में व्यापारियों के बहुत कम विवरण से पता चलता है कि दक्षिण भारत में भी इन सदियों में व्यापार एक महत्वपूर्ण गतिविधि नहीं थी। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि प्रारंभिक मध्ययुगीन भारत के पहले दौर में धनी और स्वतंत्र सौदागर वर्ग पूरी तरह से लुप्त तो नहीं हुआ था लेकिन कम जरूर हो गया था।

MADHYAM IAS
way to achieve your dream

4.4 दूसरे दौर (ईसवी 900 से 1300) में व्यापारियों की स्थिति

प्रारंभिक मध्ययुगीन भारत में दूसरे दौर में व्यापारी वर्ग एक बार फिर प्रमुख हो गया और हम पाते हैं कि बड़ी तादाद में सौदागर विलास और जरूरत का सामान एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाते थे। वे व्यापारिक विनिमय से काफी धन इकट्ठा कर चुके थे और मंदिरों और पुजारियों को उपहार देकर उन्होंने समाज में ख्याति अर्जित कर ली थी। उनमें से कईयों ने प्रशासन में सक्रिय भूमिका निभाई और कुछ राजदरबार में मंत्री भी बने।

उस काल के साहित्य और अभिलेखों में बड़ी संख्या में सौदागरों का विवरण है जो अपने विशेष व्यापार में संलग्न थे। इस तरह हम पाते हैं कि व्यापारी सोना, इत्र, शराब, अनाज, घोड़े, कपड़े, दही, पान इत्यादि के व्यापार में लगे हुए थे।

व्यापारिक गतिविधियों में सहायता के लिए सहायक या खुदरा व्यापारी नियुक्त किए। जैसे-जैसे अंतरक्षेत्रीय व्यापार बढ़ता गया व्यापारियों का एक विशिष्ट वर्ग सिक्कों के परीक्षण और विनिमय में लग गया।

उधार देना भी सौदागरों का एक प्रमुख काम हो गया। हालांकि लोग धार्मिक उद्देश्य जैसे कि फूल चढ़ाने, दिया जलाने आदि के लिए मंदिर के खजानों में पैसा जमा करते थे लेकिन कुछ ऐसे संदर्भ मिलते हैं जिसमें श्रेणी पैसे जमा करके उस पर सूद देती थी। पश्चिमी भारत में निक्षेप वणिक नामक सौदागरों का एक समूह उभरा जो बैंकिंग और उधार देने में पारंगत था। गुजरात के एक समकालीन ग्रंथ लेखापद्धति में एक ऐसे सौदागर के लड़के का वर्णन है जिसने अपनी पैतृक जायजाद से अपने हिस्से का दावा किया जिससे वह उधार देने का धंधा शुरू कर सके। मेधातिथि जो कि एक वैधानिक टीकाकार था, उधार देने वालों के निगम की बात बताता है। लेकिन समकालीन साहित्य उधार देने वालों का एक चित्र प्रस्तुत करता है और उन्हें अविश्वसनीय बताता है जो कि आम आदमी को पैसों की हेरा फेरी कर ठगते हैं।

इस काल में बहुत से क्षेत्रीय सौदागर समूहों का उदय हुआ जो अपने क्षेत्र के नाम से जाने जाते थे। ये मुख्यतः पश्चिम भारत से थे चूंकि इस क्षेत्र में बहुत से भू-मार्ग थे जो पश्चिमी तटों को पूर्वी भारत के बाजारों और शहरों से जोड़ते थे। इस लिए इस क्षेत्र के कुछ स्थान के सौदागरों ने यह पाया कि अंतरक्षेत्रीय व्यापार में दक्षता ज्यादा लाभप्रद है। इस तरह सौदागरों के ओसवाल नाम के समूह की उत्पत्ति ओसिया से हुई, पालीवाल की पतली से, श्रीमाली की श्रीमाला से और मोधा की मोधेंरा से हुई। उनमें से ज्यादातर लोग मारवाड़ी कहे जाते हैं। मारवाड़ी अर्थात् मारवाड़ के सौदागर। अपने क्षेत्रीय नाम के अलावा सौदागर लोग कई दूसरे नामों से जने जाते थे उनमें से दो हैं श्रेष्ठी और सर्थवाह। ये दोनों नाम काफी पहले से प्रचलित हैं। श्रेष्ठी एक धनी थोक व्यापारी था जो शहर में रहता था और अपना धंधा खुदरा व्यापारियों और एजेंटों के सहारे से करता था। समय-समय पर वह छोटे व्यापारियों को सामान और पैसा उधार देता था और इस तरह वह एक बैंकर का काम भी करता था। हालांकि जैसा हम पहले बता चुके हैं उधार देना एक अलग और विशेष धंधा बन गया था।

कारवां के नेता को सर्थवाह कहा जाता था जिसकी देखरेख में सौदागर सुदूर जगहों पर माल बेचने व खरीदने जाते थे। वह अत्यंत योग्य माना जाता था जिसे सिर्फ मार्ग का ही नहीं बल्कि भाषा और विभिन्न क्षेत्रों के विनिमय के नियमों का पता होता था। कृषि के विस्तार से और आठवीं और नवीं सदी के उपरांत उत्पादों की उपलब्धता से दक्षिण भारत में भी व्यापारिक विनिमय में वृद्धि हुई। इससे एक व्यापारिक समुदाय का उदय हुआ जो अपना पूरा समय स्थानीय विनिमय में लगाता था। यह वर्ग अंतर्क्षेत्रीय और अंतर्देशीय व्यापार में भी हिस्सा लेते थे। पूर्वी भारत के समान दक्षिण भारत में भी व्यापारियों ने कुछ खास वस्तुों जैसे कपड़ा, तेल या घी, पान के पत्ते, घोड़ों आदि के व्यापार में भी दक्षता हासिल कर ली। स्थानीय स्तर पर क्षेत्रीय बाजार जिन्हें नगरम कहा जाता था, विनिमय के केन्द्र थे। यह कृषि बस्तियों के पास थे जो न केवल आस-पास के क्षेत्रों से माल एकत्र करते थे बल्कि दूसरे क्षेत्रों से आने जाने वाले व्यापारियों से माल विनिमय भी करते थे। ग्यारहवीं व बारहवीं सदी में चोल काल के दौरान नगरम की संख्या में काफी वृद्धि हुई थी। यहां तक कि सभी तमिल व्यापारी नगरतार (जो कि नगरम् सभा का सदस्य होता था) के नाम से पहचाने जाने लगे।

बोध प्रश्न 1

1) सही वक्तव्यों पर ✓ का निशान लगाएं और गलत पर ✗ का निशान लगाएं।
   i) ईसवी 700-900 में व्यापारियों का समाज में एक महत्वपूर्ण स्थान था।
   ii) चीनी यात्री ह्वेन सांग ने वैश्यों को व्यापारी और शूद्रों को खेती करने वालों के रूप में बताया है।
   iii) दूसरे दौर में (ईसवी 900-1300) सौदागर राजकीय प्रशासन में हिस्सा लेते थे।
   iv) श्रेष्ठी एक छोटा खुदरा व्यापारी था।
   v) नगरम् मुख्य व्यापारिक केन्द्र थे।

2) ईसवी 900-1300 के दौरान उधार देने के व्यवसाय पर पांच पंक्तियां लिखें।

....

....

....

....

....

4.5 व्यापारियों की सामाजिक-भूमिका

जैसे-जैसे व्यापार की वृद्धि हुई सौदागर आर्थिक रूप से सम्पन्न हो गए और वे सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए मंदिरों और पुजारियों के रख-रखाव और धार्मिक अनुष्ठानों में भाग लेने लगे। ऐसे कई अभिलेख मिले हैं जिनमें सौदागरों द्वारा ऐसे अनुष्ठानों में नगद धन या वस्तुएं दिए जाने का संदर्भ है। कुछ सौदागर बहुत ही प्रभावशाली हो गए और राजकीय अधिकारी, तथा मंत्री तक बन गये। दसवीं सदी के एक अभिलेख में मोधा जाति के सौदागर का उल्लेख मिलता है जो कि महाराष्ट्र में संजन (थाणे शहर के निकट) नामक स्थान का प्रधान था। गुजरात के विमला नामक सौदागर परिवार ने उस क्षेत्र के राजनीतिक व सांस्कृतिक जीवन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। वह व उनके वंशज वस्तुपाल और तेजपाल के दरबार के महत्वपूर्ण मंत्री थे और वे माउन्ट आबू में संगमरमर का मंदिर बनवाने के लिए प्रसिद्ध हैं। यह मंदिर जैन देवताओं के लिए समर्पित है। मध्य गुजरात से मिले तेरहवीं सदी के एक अभिलेख से यह पता चलता है कि कई महत्वपूर्ण सौदागर, व्यापारी और दस्तकार स्थानीय प्रशासनिक इकाईयों में महत्वपूर्ण भूमिका रखते थे।

व्यापारियों का व्यवहार व चरित्र

विदेशी लेखकों और यात्रियों जैसे अल-इदरीसी (बारहवीं सदी) और मारको पोलो (तेरहवीं सदी) भारतीय व्यापारियों की अपने व्यापार में ईमानदारी और सच्चाई के लिए तारीफ करते हैं किन्तु हम समकालीन भारतीय साहित्य में बेईमान व लालची सौदागरों का जिक्र भी पाते हैं। कश्मीरी लेखक क्षेमेन्द्र ने एक ऐसे ही स्वार्थी सौदागर की चर्चा की है जो अकाल या कोई अन्य विपदा के आने पर खुश होता था क्योंकि उसे आशा रहती थी कि वह जमा किए हुए अनाज से काफी पैसा कमा सकेगा। पश्चिमी भारत का ग्यारहवीं सदी का ग्रंथ सौदागरों को उनकी स्थिति और चरित्र के आधार पर दो भागों में बांटता है – उच्च और निम्न। यह बताता है कि धनी सौदागर जो बड़े पैमाने पर समुद्र या स्थल मार्गों द्वारा व्यापार करते थे वे काफी विख्यात थे जबकि छोटे सौदागर जैसे फेरीवाले और खुदरा व्यापारी जो लोगों को नकली बाटों का इस्तेमाल करते ठगते थे वे समाज में तिरस्कार की नजर से देखे जाते थे। कारीगर लोगों को भी बेईमान लोगों की श्रेणी में रखा जाता था। यह बात ध्यान देने योग्य है कि इनमें से कुछ विचार उस समय की सामंती प्रवृत्तियों को दर्शाते हैं जिसमें अपने हाथ या अपने संसाधनों से काम करने वाले लागों को तिरस्कार से देखा जाता था।

4.6 व्यापारियों का संगठन

सौदागरों की शक्ति व सम्मान का स्रोत सिर्फ धन नहीं था बल्कि उनके द्वारा बनाई गई श्रेणियों से था जो उनके हितों की रक्षा करती थीं। पहले दौर में व्यापार के पतन से व्यापारियों की गतिविधियां कमजोर हो गयी थीं और कई श्रेणियां मात्र क्षेत्रीय या पेशेगत उप-जाति के रूप में रह गई थीं। लेकिन जैसे ही दूसरे दौर में व्यापार पुनर्जीवित हुआ व्यापारिक श्रेणियां उस समय के आर्थिक जीवन का महत्वूर्ण भाग बनकर उभर आईं।

4.6.1 श्रेणियां : परिभाषाएं और कार्य

व्यापारिक श्रेणियां क्या थीं? इनकी कार्य पद्धति क्या थी? इनके सदस्यों को इससे फायदा

मिलता था? ये ऐसे महत्वपूर्ण सवाल हैं हम जिनके जवाब प्राप्त करने के प्रयास करेंगे। ये श्रेणियां समान प्रकार के माल जैसे अनाज, कपड़े, पान के पत्ते, घोड़े, इत्र आदि का व्यापार करने वाले व्यापारियों की सवैच्छिक श्रेणियां थी। इसकी स्थापना स्थानीय व भ्रमणशील सौदागर करते थे। स्थानीय सौदागरों द्वारा बनाई गई श्रेणियां स्थायी होती थीं जबकि भ्रमणशील सौदागरों की श्रेणियां एक खास यात्रा के लिए बनाई जाती थीं और यात्रा के अंत में उन्हें भंग किया जाता था। श्रेणियां अपनी सदस्यता और कार्य पद्धति के लिए खुद नियम और कानून बनाती थीं। वे माल का दाम तय करती थीं और यह भी तय करती थीं कि किसी खास दिन इसके सदस्य किसी खास माल को नहीं बेचेंगे। अगर श्रेणियां पाती थीं कि स्थानीय अधिकारी का रवैया द्वेषपूर्ण और असहयोगपूर्ण है तो कभी-कभी एक खास क्षेत्र में व्यापार करने से मना कर देती थीं। व्यापारी श्रेणियां धार्मिक हितों के संरक्षण का काम भी करती थीं। अभिलेखों में कई ऐसे उद्धरण मिलते हैं जब श्रेणियों ने सामूहिक रूप से अपने माल की खरीद बिक्री पर मंदिर के रख-रखाव या अनुष्ठान के लिए अतिरिक्त कर देने के लिए निर्णय लिये। श्रेणियां आमतौर पर एक प्रमुख के अधीन काम करती थीं जिसका चुनाव श्रेणियों के सदस्य करते थे। श्रेणियों के आर्थिक मामलों को तय करने में यह प्रमुख प्रधान न्याय अधिकारी की भूमिका निभाता था। यदि सदस्य श्रेणियों के नियमों को तोड़ते थे तो वह श्रेणियों के सदस्यों को सजा दे सकता था, निंदा कर सकता था या उनको निकाल सकता था। उसका एक मुख्य कार्य था राजा से सीधा संबंध बनाए रखना और अपने साथी सौदागरों की ओर से बाजार की चुंगी और कर को तय करना। व्यापारिक गतिविधियों के विकास से श्रेणियों के प्रमुख को समाज में अपनी शक्ति और प्रतिष्ठा बढ़ाने में सहायता मिली और उनमें से कई स्थानीय प्रशासनिक परषिदों में अपने सदस्यों के प्रतिनिधियों का काम भी करते थे।

श्रेणियों के सदस्यों को एक कठोर नियम के तहत काम करना पड़ता था। वे अपनी तरफ से कार्य में कोई पहल नहीं कर सकते थे। लेकिन इससे उन्हें कई तरह के लाभ मिलते थे। उन्हें अपनी आर्थिक गतिविधियों में श्रेणियों का पूरा समर्थन प्राप्त था। इस तरह वह स्थानीय अधिकारियों द्वारा परेशान नहीं किये जाते थे, जबकि एक फेरी वाले की तुलना में श्रेणी की सदस्यता के कारण बाजार में उनकी ज्यादा साख रहती थी। इसके बावजूद श्रेणियों के प्रमुख का रवैया रूखा और कठोर होता था। सौदागरों के लिए श्रेणियां आर्थिक व शारीरिक संरक्षण का साधन थीं। उस समय के लेख व टीकाओं में व्यापारियों की श्रेणियों के भिन्न-भिन्न नाम हैं जैसे नाइगमा, अहेवनी, समूहा, सार्थ, संघ आदि। नाइगमा ऐसे कारवां सौदागरों का संघ था जो कई जाति के थे और दूसरे देशों से व्यापार करने के लिए साथ-साथ चलते थे। मेधातिथि के अनुसार श्रेणी व्यापारियों, उधार देने वालों और कारीगरों का एक समूह था। जबकि कुछ लेखकों का मानना था कि यह सिर्फ कारीगरों का समूह था। लेखापद्धति के अनुसार पश्चिम भारत के राजाओं ने अपने क्षेत्र में इन श्रेणियों की कार्य पद्धति की देखरेख के लिए श्रेणी—कर्ण नामक विशेष विभाग की व्यवस्था की थी। एक अन्य ग्रंथ मानासोलासा बताता है कि कई व्यापारी श्रेणियां अपनी सुरक्षा के लिए सेना (श्रेणी वाला) रखती थीं। अभिलेखों में सौदागरों की व्यापारिक गतिविधियों की भी चर्चा है। पश्चिम भारत के अभिलेखों में वणिक-मंडल की चर्चा की गयी है जो शायद स्थानीय सौदागरों की श्रेणी थी।

MAADHYAM IAS

4.6.2 दक्षिणी भारत में व्यापारिक श्रेणियों के संगठन

दक्षिण भारत में कृषि के विस्तार से और व्यापार की वृद्धि से दसवें दशक में कई व्यापारिक श्रेणियों का उदय हुआ। अभिलेखों में इन संगठनों को समाया कहा गया है जिसका मतलब सदस्यों के बीच सहमति या अनुबंध से पैदा हुआ संगठन जिसमें उसके सदस्यों को कुछ नियम व कानून मानने होते हैं। दक्षिण भारत की दो महत्वपूर्ण श्रेणियां हैं, अयावोले और माणिग्रमण। भौगोलिक रूप से उनका कार्य क्षेत्र वर्तमान महाराष्ट्र, कर्नाटक, तमिलनाडु और दक्षिण आंध्र प्रदेश था। दसवीं सदी के उपरांत चोल राजाओं ने व्यापारिक मिशन, समुद्री यात्रा और चुंगी समाप्त करके व्यापार और वाणिज्य बढ़ाने की कोशिश की। इससे इन श्रेणियों की गतिविधियां काफी बढ़ गयीं क्योंकि वे अंतर्क्षेत्रीय के अलावा बंगाल की खाड़ी के पार अंतर्राष्ट्रीय व्यापार भी करने लगे।

आयावोले श्रेणी ऐहोले के पांच सौ स्वामियों की ''नाना देशी'' श्रेणी भी मानी जाती थी। जबकि कुछ का तर्क है ऐसे संगठन मुख्यतः विभिन्न तरह के मालों के व्यापारी थे ना कि सौदागरों का एक निगम। कन्नड आयावोले के विस्तृत अध्ययन करने से पता चलता है कि ये निगम एक या दो जिलों तक फैले हुये, छोटे व काम चलाऊ संघ थे। संगठन में शुरुआत

में हो सकता है कि पांच सौ सदस्य रहे हों। लेकिन इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता है कि व्यापार और वाणिज्य के विकास के साथ बीरा बंननजाज (आयावोले की व्यापारिक श्रेणी) के काम का दायरा अंतरर्क्षेत्रीय था और 900 के 1500 ई. के बीच उनके गहन सामाजिक-आर्थिक हितों का विकास हुआ था। वे उत्तर में भलवानी (महाराष्ट्र के संगली जिले में) से दक्षिण में कायलपट्टीनम (तमिलनाडु में) तक फैल गये। पांच सौ की संख्या एक तरह से पारंपरिक हो गई थी जब कि श्रेणी काफी बड़ी हो चुकी थी और इसके सदस्य सभी क्षेत्र, धर्म और जाति से थे। इसी संदर्भ में नानादेशी शब्द इस संगठन के लिए इस्तेमाल किया जाने लगा।

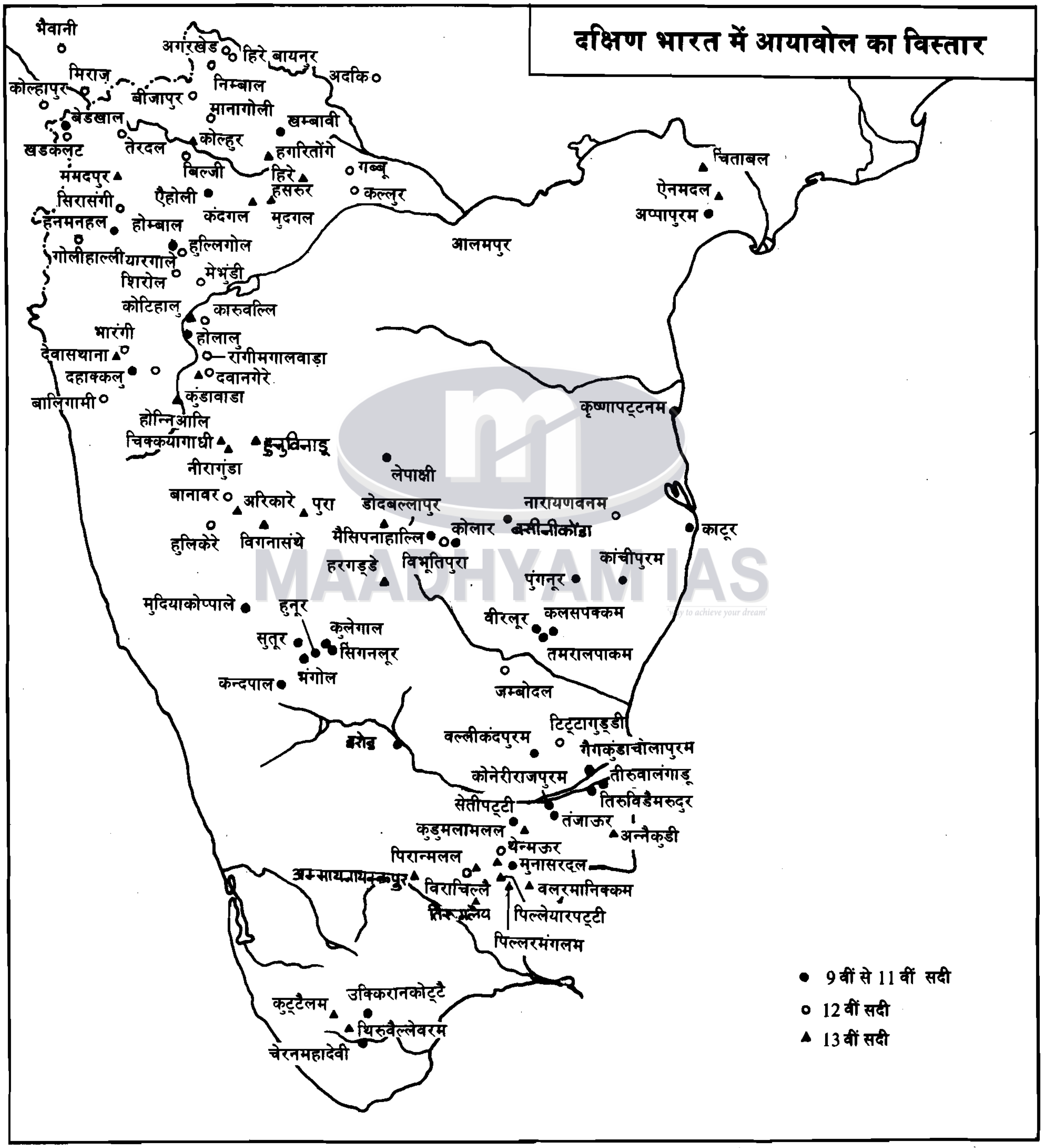

अपने विस्तार के दौरान आयावोले श्रेणी के सदस्य स्थानीय बाजार नगरम के संपर्क में आए और आस-पास के क्षेत्रों से कृषि उत्पादों को इकट्ठा करके और दूसरी जगह से लाए गए माल का वितरण करके इस तरह की व्यापारिक गतिविधियों को बढ़ाया। आयावोले का व्यापारिक प्रभाव दक्षिण भारत के बाहर तक फैल गया। बरमा, जावा, सुमात्रा और श्रीलंका से मिले अभिलेखों से इस बात का पता चलता है। जैसे-जैसे आयावोले की व्यापारिक गतिविधियां बढ़ती गयीं इसके कुछ सदस्य बहुत धनी और शक्तिशाली हो गये और उन्होंने समाया चक्रवर्ती की उपाधि प्राप्त कर ली जिसका मतलब है व्यापारिक संगठन का सम्राट। इससे यह भी इंगित होता है कि उत्तर के समान दक्षिण में भी कुछ व्यापारी श्रेणियों को अपने नियंत्रण में करने की कोशिश करते थे।

दक्षिण भारत का दूसरा महत्वपूर्ण व्यापारिक संघ था मणिग्रमण। इसका उदय नौवी सदी में केरल के तट पर हुआ था। जैसे-जैसे यह आयावोले के संपर्क में आया इसकी अंतर्क्षेत्रीय गतिविधियां बहुत बढ़ गयीं और यह प्रायद्वीप के बहुत बड़े भाग तक फैल गया। मलाया में तकुआपा से नौवीं सदी का एक तमिल अभिलेख यह बताता है कि यह लम्बी दूरी के समुद्री व्यापार में शुरू से ही लगा था।

अंजुवन, दक्षिण भारत का एक अन्य व्यापारिक समूह था। यह शायद विदेशी व्यापारियों का संगठन था ना कि पांच समुदायों या जातियों का समूह जैसा कि कुछ विद्वान मानते हैं। मणिग्रमण के समान इन्होंने भी अपनी व्यापारिक गतिविधियां केरल तट पर आठवीं या नवीं सदी में शुरू की थी और ग्यारहवीं सदी तक दूसरे तटीय क्षेत्रों में फैल गयी। इन्होंने स्थानीय सौदागरों के साथ-साथ आयावोले और मणिग्रमण के साथ सम्पर्क बनाये रखा।

श्रेणियां काफी महत्वपूर्ण हो गई थीं। इसका संकेत इस बात से मिलता लगता है कि ऐसी कोशिशें की जाती थीं कि विभिन्न निगम के विभिन्न व्यापारियों की उच्च वंशावली का पता लगाया जाए। आयावोले के बीराबंननजाज को वसुदेरा की जाति का बताते हैं। उनकी तुलना महाकाव्यों के नायकों से की जाती थी। सीलाहार राजा गन्दरदित्या के ईसवी 1130 के कोल्हापुर के शिलालेख में बीराबंननजाज की प्रशस्ति का एक उदाहरण देखा जा सकता है।

''उनकी जय हो। जो पांच सौ विश्व प्रसिद्ध महान नायकों के पदचिन्हों पर चले, जो कि बनंनजाज के द्वारा बनाए गए नियमों पर चलें, जिनमें सच्चाई, शुद्ध आचरण, अच्छा व्यवहार, राजनीतिक सूझ बूझ, भद्रता और व्यापारिक ज्ञान है। जो कि अपने शौर्य से भरे थे, जिनका जन्म वासुदेव, खण्डाली और मूलभद्र की जाति में हुआ था। जो लड़ाई में अपराजेय थे, जो ब्रह्मा के समान चौंसठ कलाओं में पारंगत हैं, नारायण के समान वे चक्रधारी हैं और रूद्र के समान जिनमें दुनिया को नष्ट करने की शक्ति है। जो कि दृढ़ता में राम की तरह है, अर्जुन के समान पराक्रमी है, भीष्म की तरह सदाचारी है, भीम के समान साहसी है, युधिष्ठर की तरह धर्मात्मा है, कर्ण के समान दानवीर है तथा सूर्य के समान तेजस्वी है। संक्षेप में दक्षिण भारत का विशाल व्यापारिक तंत्र अनेक व्यापारियों संगठनों द्वारा नियंत्रित था जो कि आपस में सहयोग और सामंजस्य के साथ काम करते थे। संघों के मुखियाओं ने व्यापार तथा व्यापारिक संगठनों पर नियंत्रण के द्वारा राजसी घरानों से घनिष्ठता के संबंध बना लिए तथा समाज में यश एवं नाम कमाया।''

4.7 व्यापारियों तथा शिल्पकारों के बीच संबंद्ध

समकालीन स्रोतों में व्यापारियों तथा शिल्पकारों जो कि वाणिज्य में [illegible] दूसरे पर परस्पर निर्भर वर्ग थे के संबंधों के सही स्वरूप का प्रमाण नहीं मिलता है। इसलिए यह नहीं कहा जा सकता है कि शिल्पकार जैसे बुनकर, धातुकर्मी आदि स्वतंत्र रूप से कार्य करते थे या व्यापारियों, जो कि उन्हें धन तथा कच्चा माल या दोनों उपलब्ध कराते थे, के आदेशानुसार कार्य करते थे। परन्तु इस बात के प्रमाण हैं कि व्यापारियों द्वारा कच्चे माल तथा तैयार माल के संग्रहण/संगठन पर अधिक नियंत्रण कायम करने से शिल्पकारों की गतिविधियों पर उनका प्रभाव काफी बढ़ गया।

अल-बरूनी जो ग्यारहवीं शताब्दी में भारत आया, तथा लक्ष्मी-धारा जो कि बारहवीं शताब्दी का एक विधि शास्त्री था हमें बताते हैं कि शिल्पकार व्यापारियों के बीच रहते थे। इससे पता चलता है कि व्यापारी शिल्पकारों को कच्चा माल तथा पूंजी उपलब्ध कराते

थे, जो कि व्यापारियों के निर्देशों तथा मांग के अनुसार माल तैयार करते थे, तमिलनाडु में इरोडे में पाया गया ग्यारहवीं शताब्दी का एक अभिलेख व्यापारियों द्वारा शिल्पकारों को शरण दिए जाने की चर्चा करता है तथा इस बात से शिल्पकारों की व्यापारियों पर निर्भरता प्रदर्शित होती है। जैसे-जैसे व्यापार तथा वाणिज्य का विस्तार हुआ व्यापारियों ने खरीद-फरोख्त के वाणिज्यिक तंत्र पर एकाधिकार स्थापित करने की कोशिश की। इसके कारण शिल्पकारों द्वारा स्वयं अपने माल को बेचने की क्षमता को हानि पहुंची। परन्तु कुछ ऐसे प्रमाण मिलते हैं जिनके अनुसार तेली तथा बुनकर अपने माल को स्वयं बेचते थे जिसके कारण वे मंदिरों तथा पुजारियों को अनुदान देने की क्षमता तथा धन पा सके। यह कहा जा सकता है कि प्रारंभिक मध्ययुगीन काल में शिल्पकार बड़े व्यापारियों पर आर्थिक रूप से निभर थे।

बोध प्रश्न 2

1) प्रशासन में व्यापारियों की भूमिका का उल्लेख कीजिए।

....
....
....
....
....

2) निम्नलिखित कथनों पर सही ✓ या गलत × का निशान लगाएं :

i) अल-इदरीरी तथा मारको पोलो भारतीय व्यापारियों की ईमानदारी की प्रशंसा करते हैं।

ii) इस काल में हाथ से श्रम करने वाले लोगों को समाज में हीन दृष्टि से देखा जाता था।

iii) राज्य द्वारा संघों की स्थापना व्यापार को नियंत्रित करने के लिए की गई थी।

iv) दक्षिण भारत का एक व्यापारिक संघ मणिग्रामणम केरल के तट पर स्थापित हुआ।

v) इस काल में शिल्पकार व्यापारियों की गतिविधियों पर नियंत्रण रखते थे।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

3) व्यापारियों के संघों को परिभाषित कीजिए। इन श्रेणियों के मुख्य कार्यों को सूचीबद्ध कीजिए।

....
....
....
....
....

4) दक्षिण में व्यापारिक गतिविधियों के विस्तार में अयवोल की क्या भूमिका थी?

....
....
....
....
....

4.8 सारांश

व्यापारी को उत्पादक तथा उपभोक्ता के बीच महत्वपूर्ण कड़ी मानते हुए इस इकाई ने रेखांकित किया :

- प्रारंभिक मध्ययुगीन भारतीय समाज तथा अर्थव्यवस्था में व्यापारी तथा सौदागरों की स्थिति में सापेक्षिक उतार-चढ़ाव रहा। उनकी स्थिति उस समय के वाणिज्यिक गतिविधियों से जुड़ी थी।
- 700 से 900 ईसवी में व्यापार के सापेक्षिक पतन से धनी और स्वतंत्र सौदागर वर्ग का अन्त तो नहीं हुआ किन्तु यह वर्ग कम हो गया।
- 900 से 1300 ईसवी में व्यापार तथा वाणिज्य के पुनरुत्थान के साथ सौदागरों का एक बार फिर प्रभावी होना और व्यापारियों ने काफी धन इकट्ठा कर और धार्मिक प्रतिष्ठानों को उपहार देकर समाज में सम्मान प्राप्त किया। कई व्यापारी प्रशासनिक ढांचे में काफी प्रभावी हो गए।
- क्षेत्रीय सौदागर वर्गों का उदय।
- व्यापारियों के संगठनों जैसे श्रेणियों का अस्तित्व में आना जो व्यापारिक गतिविधियों को नियंत्रित करती थीं।
- श्रेणियों की अंतर्क्षेत्रीय और अंतर्देशीय गतिविधियां, विशेषकर दक्षिण भारत में।
- भ्रमणशील व्यापारियों की भूमिका।
- बड़े सौदागरों का कारीगरों और दस्तकारों पर बढ़ता प्रभाव।

4.9 शब्दावली

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

नगरम् : देखें इकाई 2

नगरतार : नगरम् का सदस्य

नाइगमा : व्यापारिक श्रेणी

नानादेशी : व्यापारियों की श्रेणी जिसके सदस्य विभिन्न क्षेत्रों और जाति के हों

सार्थवाह : कारवां का नेता या प्रमुख

श्रेणी : व्यापारियों, कारीगरों और दस्तकारों के संघ के लिए एक प्रचलित नाम

श्रेणीवाला : संघों द्वारा संचालित सेना

श्रेष्ठी : व्यापारी

प्रशस्ति : अतिशयोक्ति से परिपूर्ण विवरण।

4.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) i) × ii) ✓ iii) ✓ iv) × v) ✓ श्रेष्ठी थोक का व्यापारी था।
2) इस काल में उधार देना एक दक्ष व्यापारिक पद्धति के रूप में विकसित हो रहा था। देखें भाग 4.4।

बोध प्रश्न 2

1) आपके उत्तर में सौदागरों के समाज में प्रभाव और प्रशासन में उनकी स्थिति शामिल होना चाहिए। देखें भाग 4.5।

2) i) ✓ ii) ✓ iii) × iv ✓ v) ×
कारीगर ज्यादातर सौदागरों पर निर्भर थे।

3) श्रेणियां एक ही प्रकार के व्यापार में संलग्न व्यापारियों की स्वैच्छिक संस्थाएं थीं। श्रेणी का मुख्य कार्य दाम निर्धारित करना, कार्यक्षेत्र तय करना और बाजार के नियमों को तय करना होता था। देखें उपभाग 4.6.1)।

4) आयावोले दक्षिण भारत में सौदागरों की श्रेणी थी। यह सौदागरों का एक मजबूत समूह था और इसने दक्षिण भारत में ही नहीं बल्कि विदेशों में भी व्यापार को बढ़ाने में मदद की।

इस खंड के लिए उपयोगी पुस्तकें

रोमिला थापर : *भारत का इतिहास*

आर.एस. शर्मा : *भारतीय सामंतवाद*

ए.एल. बाशम : *अद्भुत भारत*

शिव शंकर मिश्र : *प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास*

R.S. Sharma : *Urban Decay in India C-300-C.1000 New Delhi, 1987.*

R.S. Sharma : *Perspective in Social and Economic History of Early India, New Delhi, 1983.*

V.K. Jain : *Trade and Traders in Western India (A.D. 1000-1300), Delhi, 1990.*

MAADHYAM IAS

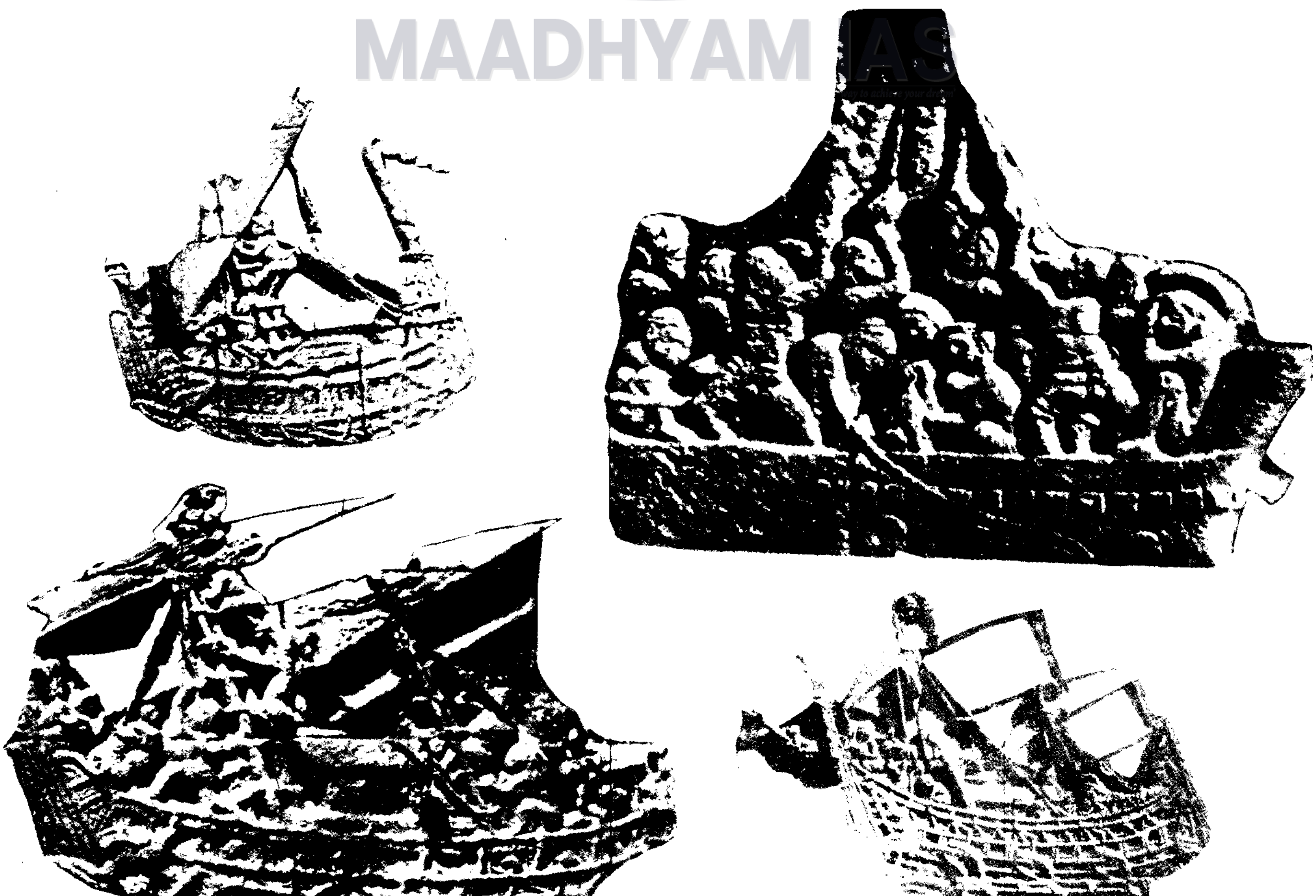

11. 8वीं शताब्दी के जलपोत

इकाई 5 सामाजिक संगठन

इकाई की रूपरेखा

5.0 उद्देश्य
5.1 प्रस्तावना
5.2 समाज के पुनर्निर्धारण के लिए स्रोत
5.3 ब्राह्मणवादी दृष्टिकोण : बढ़ती सामाजिक कट्टरता
5.4 असंतोष की अभिव्यक्ति
5.5 भौतिक आधार में परिवर्तन और नवीन सामाजिक व्यवस्था
5.6 नया सामाजिक वातावरण
5.6.1 कृषकों के रूप में शूद्रों का उदय
5.6.2 बंगाल तथा दक्षिण भारत में मध्यम वर्णों का अभाव
5.6.3 नव-शिक्षित वर्ग का उदय
5.6.4 नई मिश्रित जातियों के उदय में अभूतपूर्व वृद्धि
i) ब्राह्मणों में
ii) क्षत्रियों में
iii) वैश्य एवं शूद्रों में
5.7 भूमि वितरण, सामंतीय पद तथा वर्ण विभेद
5.8 सामाजिक तनावों में वृद्धि
5.9 सारांश
5.10 शब्दावली
5.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

5.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आपः

- भारतीय समाज की तथाकथित अपरिवर्तनीय और गतिहीनता के विचार को समझ सकेंगेः
- उन विपुल एवं विविध साहित्यिक तथा शिलालेख संबंधी साक्ष्यों का उल्लेख कर सकेंगे जो सामाजिक परिवर्तन के चरित्र का पुनर्निर्धारण करने के लिए उपयोगी हैं,
- सामाजिक व्यवस्था पर उन विविध दृष्टिकोणों का विश्लेषण कर सकेंगे जो सामाजिक जड़ता तथा उसके मूलभूत आधारों के बीच विद्यमान थे,
- सामाजिक रूपांतरण में परिवर्तित होते भौतिक आधार की भूमिका का उल्लेख कर पाएंगे,
- नवीन सामाजिक आचार की विशेषताओं जैसे वैश्यों एवं शूद्रों की परिवर्तित होती स्थिति, नवीन शिक्षित वर्ग का उदय, जातियों की संख्या में गुणात्मक वृद्धि, कमज़ोर पड़ती वर्ण-व्यवस्था और सामंतीय पदों के उद्भव का विश्लेषण कर सकेंगे; और
- सामाजिक तनावों के प्रमाणों की बढ़ती हुई संख्या के विषय में जान सकेंगे।

5.1 प्रस्तावना

कुछ दशकों से या यों कहें कि लगभग एक शताब्दी से हम उपनिवेशवादी तथा साम्राज्यवादी अवधारणा को सुन-सुनकर थक गए हैं कि भारतीय समाज सदियों से एक गतिहीन समाज रहा है। लेकिन इस तरह की अवधारणा सत्य नहीं है। इस इकाई में यह स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है कि सन् 800 ई० से सन् 1300 ई० के पांच सौ वर्षों में किसी भी जीवंत वस्तु की भांति भारतीय सामाजिक संगठन और अर्थव्यवस्था, राजनीति तथा विचारों के क्षेत्र में होने वाले परिवर्तनों के प्रति अत्यधिक सजग एवं गतिमान था। इस इकाई में उन नवीन सामाजिक आचारों के मूल सार पर भी बल दिया गया है, जिनके रूझान को नवीन भूमि अधिकारों तथा राज सत्ता के आधारों की प्रकृति ने सुनिश्चित किया।

5.2 समाज के पुनर्निर्धारण के लिए स्रोत

सन् 800 ई० से 1300 ई० के दौरान के पांच सौ वर्षों के सामाजिक संगठन का पुनर्निर्धारण करने के लिए पर्याप्त मात्रा में ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध है। इस ऐतिहासिक सामग्री के अंतर्गत साहित्यिक एवं शिलालेख संबंधी दोनों प्रकार के स्रोत उपलब्ध हैं। व्यावहारिक तौर पर भारत की सभी बड़ी राजनीतिक शक्तियों के विषय में जानकारी हमें बड़ी संख्या में उपलब्ध अभिलेखीय सामग्री से ही होती है। यद्यपि संपूर्ण भारतीय स्तर पर अभिलेखों की संख्या को निश्चित नहीं किया गया है, फिर भी मोटे तौर पर अनुमान यह है कि उत्तर-गुप्त काल के अभिलेख हज़ारों की संख्या में हैं। ये अभिलेख भिन्न-भिन्न भाषाओं एवं लिपियों में उपलब्ध हैं। (इकाई 7 को भी देखें) उप-महाद्वीपीय क्षितिज के बृहत् विचार का परित्याग किए बिना ही ये प्रमाण क्षेत्रीय एवं स्थानीय विशेषताओं की पहचान करने में हमारी सहायता करते हैं।

साहित्यिक स्रोत विविध प्रकार के हैं। ये धर्मशास्त्रों पर मात्र टीकाओं तथा दूसरे निबंधों के रूप में नहीं हैं बल्कि हमें ये सामाजिक व्यवस्था में होने वाले उत्थान एवं पतन की जानकारी भी देते हैं। काव्यात्मक रचनाएं, नाटक, तकनीकी एवं वैज्ञानिक रचनाएं, संधियों से संबंधित लेख और भवन-निर्माण कला से उत्तर-गुप्त कालीन समाज में होने वाले परिवर्तनों पर व्यापक रोशनी पड़ती है। कल्हण की ***राजतरंगणि,*** श्रीहर्ष का ***नैशाधियाचरित,*** मेहरूतुंग की ***प्रबंधचिंतामणि,*** सोध्धला की ***उदय-सुन्दरी-कथा,*** जिनसेना की ***आदिपुराण*** सिद्धों के ***दोहे,*** मेधातिथि की ***मनुस्मृति*** पर टीका और विज्ञानेश्वर का ***याज्ञवल्कस्मृति*** पर भाष्य — ये सभी रचनाएं सन् 800 ई० से 1300 ई० तक की सामाजिक व्यवस्था का पुनर्निर्धारण करने के लिए काफी उपयोगी हैं।

5.3 ब्राह्मणवादी दृष्टिकोण : बढ़ती सामाजिक कट्टरता

हूणों, अरबों, तुर्कों आदि के आगमन पर, जिनको "मलेच्छ" भी कहा जाता था, भय का एक ऐसा वातावरण निर्मित हुआ, जिसके अंतर्गत सदियों पुरानी सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखने पर बल दिया जाने लगा। प्रसिद्ध धार्मिक दर्शन विद् शंकराचार्य ने कहा कि ***वर्ण*** तथा ***आश्रम धर्म*** दोनों अव्यवस्था की स्थिति में थे। ग्यारहवीं सदी ई० का लेखक धनपाल भी वर्ण व्यवस्था को लागू करने के विषय में अराजकता की बात करता है। छठी सदी ई० से 13वीं सदी ई० के बीच ऐसे बहुत से शासक हुए, जिन्होंने सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखने के काफी बड़े दावे प्रस्तुत किए। इसकी अभिव्यक्ति उनके अभिलेखों में भी हुई है। ***वर्णाश्रम-धर्म-स्थापना*** अर्थात् वर्ण और आश्रम व्यवस्था की स्थापना की सामान्य अभिव्यक्ति समकालीन अभिलेखों में भी हुई है। बारहवीं सदी ई० की ***मनसोल्लास*** नाम की रचना में वर्णाधिकारीन नाम के एक अधिकारी को उद्धृत किया गया है, इस अधिकारी का उत्तरदायित्व वर्णों को बनाए रखना था। सामाजिक पदों को अवरुद्ध करके, इससे सामाजिक व्यवस्था में और कट्टरता पैदा करना, व्यवस्था को बदलने के सभी प्रयासों को नकारना यह कार्य मुख्य रूप से उन ब्राह्मणवादी नीति प्रवक्ताओं तथा राजनयिक सलाहकारों का था, जिनके व्यक्तिगत हित यथास्थिति को बनाए रखने में थे (इकाई 6 को भी देखें)। फिर भी, यह किसी भी तरह से एक सर्वव्यापी विशेषता न थी।

5.4 असंतोष की अभिव्यक्ति

जाति व्यवस्था के मूलभूत आधारों पर विशेषकर गैर-ब्राह्मण लोगों ने प्रश्न किए। सदियों पहले महात्मा बुद्ध ने जन्म के आधार पर जातियों के औचित्य को अनुचित कहा। बुद्ध का क्रोध मुख्य रूप से ब्राह्मणवाद-विरोधी था। यद्यपि ब्राह्मणवाद के इस तरह के विरोध अधिक लंबे समय में कुछ विशेष न कर पाए, लेकिन ये विरोध समाप्त नहीं हुए। ब्राह्मणवादी सामाजिक व्यवस्था के विरुद्ध इस मंद असंतोष ने कुछ अंतरालों में लगातार अपनी आवाज़ को बुलंद किया। इस पर कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि जैन अमित गति ने अपने ग्यारहवीं सदी के ग्रंथ ***धर्मपरीक्षा*** में कहा कि जाति को व्यक्तिगत व्यवहार के आधार पर सुनिश्चित किया जाना चाहिए। ब्राह्मणों की जाति सर्वोच्चता को जैन लेखकों द्वारा ***कथाकोष प्रकरण*** जैसे ग्रंथों में चुनौती दी गई। एक व्यंग्यात्मक रचना ***लताकमेलका*** में एक ऐसे बौद्ध भिक्षु को उद्धृत किया गया है जो जाति के महत्व से इंकार करता है, जाति को वह व्यर्थ कहता है और इस बुराई की भर्त्सना करते हुए जाति-आधार को समाप्त करने को कहता है। कश्मीर के महान् साहित्यकार क्षेमेन्द्र ने ***कुल-जाति-दर्प*** (जाति एवं वंश की व्यर्थता) को समाज के एक ऐसे रोग के रूप में उद्धृत किया है, जिसके वे स्वयं को चिकित्सक होने का दावा करते थे ***पद्मपुराण*** में दो विचारधाराओं के बीच होने वाले संघर्षों का उल्लेख हुआ है। एक विचारधारा उन कट्टरपंथियों की है, शूद्रों से निर्धनता का जीवन व्यतीत करने की अपेक्षा करती है तथा दूसरी उन वाममार्गी धर्मों को मानने वालों की है, जो शूद्रों को धन के महत्व का बोध कराती है।

ग्यारहवीं शताब्दी की एक रचना में सामाजिक पदों तथा जन्म के आधार पर सामाजिक विभाजन पर बल दिया गया है, न कि व्यवसाय के आधार पर। विभिन्न धर्मों के पुरोहितों को जहां एक ओर पाखंडी कहा गया है, वहीं पर दूसरी ओर शेष समाज का वर्गीकरण निम्नलिखित छः वर्गों के आधार पर किया गया है :

- समाज में राजा सहित शासक वर्ग (चक्रवर्तिन्) का सर्वोच्च स्थान था,
- द्वितीय स्थान अभिजात सामंतों का था,
- मध्यम वर्ग में व्यापारीगण, महाजन, गायों, भैसों, ऊंटों, घोड़ों आदि के स्वामी थे,
- छोटे व्यापारी एवं छोटे किसान इस श्रेणी में थे,
- नीचे स्तर पर कारीगरों तथा शिल्पकारों के संगठन के सदस्य थे, और
- सबसे नीचे स्तर पर चण्डालों सहित वे दूसरे लोग थे जो चिड़ियों एवं पशुओं का वध करने जैसे "हीन कार्यों" को करते थे।

उपरोक्त वर्गीकरण से स्पष्ट है कि इसके अंतर्गत सामाजिक वर्गीकरण करते समय उन आर्थिक तत्वों पर भी ध्यान दिया गया है, जो सामाजिक स्तर को सुनिश्चित करते हैं। ब्राह्मणों ने अपने हितो के अनुरूप जो सामाजिक वर्गीकरण किया उसकी अपेक्षा में इस तरह के प्रयासों का लक्ष्य किसी समान समाज की स्थापना करना न था। यदि इस तरह के वर्गीकरण से ब्राह्मणों की पक्षपातपूर्ण एवं ईर्ष्यालु धारणाएं स्पष्ट होती हैं, तब इस तरह का विश्लेषण और आवश्यक हो जाता है जिससे कि समाज के पुनर्निर्धारण को स्पष्ट रूप से अधिक तर्कसंगत किया जा सके।

5.5 भौतिक आधार में परिवर्तन तथा नवीन सामाजिक व्यवस्था

उपरोक्त समीक्षा के परस्पर विरोधी रूझानों से स्पष्ट है कि सामाजिक संगठन निस्सरण की स्थिति में थे और उनमें तालमेल का पूर्ण अभाव था। लेकिन ऐसा उन परिवर्तनों के अनुरूप न हो सका, जो इस उपमहाद्वीप की अर्थव्यवस्था के अंदर घटित हो रहे थे। सामाजिक व्यवस्था के यंत्र को उस समय समाविष्ट करना असंभव होता है, जब कमजोर वर्गों की एक बड़ी संख्या के आर्थिक स्थिति में होते सुधार की अवहेलना कर दी जाती है। उत्तर-गुप्त काल में विशेषकर आठवीं सदी ई० से भूमि अनुदानों की संख्या में जो अभूतपूर्व वृद्धि हुई, उस एकमात्र कारक ने उत्तर-गुप्त कालीन समाज के रूझान को सुनिश्चित किया (इकाई 1.2.1 को भी देखें)। कृषि प्रसार पर हुए इसके प्रभाव ने संपूर्ण सामाजिक दृष्टिकोण को परिवर्तित कर दिया। इस नए सामाजिक परिवर्तन की निम्नलिखित विशेषताएं थीं :

- स्थानीकरण की प्रवृत्ति को बढ़ावा मिला,
- इसके व्यवहार पर शहरी केन्द्रों में होने वाले उतार-चढ़ाव का प्रभाव पड़ा,
- इसका संबंध मुद्रा-व्यवस्था से भी था,
- सामाजिक एवं आर्थिक गतिहीनता तथा किसानों को अधीनस्थ करने और पीड़ित गैर-कृषि मज़दूरों की वृद्धि में इसने योगदान किया, और
- इसके परिणामस्वरूप शासक भू-स्वामी अभिजात वर्ग के पदानुक्रम का उद्भव हुआ।

(खंड 1 की 1-4 तक की इकाइयों और खंड 3 के उपभाग 9.3.4 को भी देखें)

एक नए सामाजिक वातावरण का निर्माण हो रहा था। उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भारतीय अर्थव्यवस्था की ये नवीन प्रवृत्तियां सामंतीय ढांचे के निर्माण के लिए अनुकूल थीं। राजनीतिक संगठन के क्षेत्र में भी (इसके विषय में हम खंड 3 में लिखेंगे) सत्ता के अधिकांश केन्द्रों में सामंतीय प्रवृत्तियां थीं और इनका आधार श्रेणीबद्ध किए गए भूमि-अनुदान थे। तेजी से होते जिस आर्थिक परिवर्तन की व्याख्या ऊपर की गई है, उसने निश्चय ही सामाजिक वातावरण को परिवर्तित किया। यह सामाजिक परिवर्तन भारत के अपरिवर्तनीय एवं गतिहीन समाज की उस काल्पनिक अवधारणा को धराशाही करता है, जिसका प्रचार उपनिवेशवाद एवं साम्राज्यवाद के समर्थक इतिहासकारों के द्वारा किया गया था। दुःख की बात यह है कि राष्ट्रवादी इतिहासकारों ने भी इस तरह की मान्यताओं पर प्रश्न नहीं किया। पिछले तीन दशकों से किए जा रहे अध्ययनों में भारतीय सामाजिक वातावरण की गतिशीलता एवं स्पंदन पर उचित प्रकार से ध्यान केन्द्रित किया गया है और इनको आर्थिक प्रतिमानों में होने वाले परिवर्तनों के साथ कड़ीबद्ध किया गया है।

बोध प्रश्न 1

1) उन स्रोतों को सूचीबद्ध कीजिए जो सन् 800 से 1300 ई० के बीच सामाजिक पुनर्निर्धारण पर प्रकाश डालते हैं?

MAADHYAM IAS

....

....

....

....

....

....

2) निम्नलिखित कथनों में से कौन-सा कथन सही (√) और कौन-सा गलत (×) है :

   i) जाति व्यवस्था के मूलभूत आधारों के विषय में सन् 800 ई० से 1300 ई० के बीच प्रश्न उठाए गए।

   ii) सामाजिक ढांचा गतिहीन बना हुआ था।

   iii) *वर्ण*-व्यवस्था अव्यवस्थित अवस्था में थी।

   iv) ग्यारहवीं सदी ई० की साहित्यिक रचना सामाजिक पदों का विभाजन जन्म के आधार पर करने की अपेक्षा व्यवसायों के आधार पर करने पर बल देती है।

3) वर्ण-व्यवस्था के विरुद्ध उभरे असंतोष पर 10 पंक्तियां लिखिए।

....

....

....

....

....

....

....

....

....

....

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

5.6 नया सामाजिक वातावरण

आठवीं सदी ई० के बाद और तेरहवीं सदी ई० में तुर्की राज सत्ता के स्थापित होने तक जो सामाजिक संगठन विद्यमान थे, उनकी निम्नलिखित विशेषताएँ थी :

- *वर्ण*-व्यवस्था में कुछ संशोधन हो जाने से शूद्रों का रूपांतरण खेती करने वाली जातियों में हुआ, जिससे कि वे वैश्यों के समीप आ गए,
- बंगाल एवं दक्षिण भारत में नई ब्राह्मण व्यवस्था की स्थापना हुई। इन क्षेत्रों में बीच के *वर्ण* विद्यमान नहीं थे और अंततः उस शिक्षित वर्ग का उदय हुआ, जो *वर्ण*-व्यवस्था में उचित स्थान प्राप्त करने के लिए संघर्ष कर रहा था।
- नई वर्ण-संकर जातियों में विलक्षण वृद्धि हुई,
- असमान भूमि तथा सैनिक शक्ति के वितरण के कारण ऐसी सामंतीय व्यवस्था का उद्भव हुआ जिसने *वर्ण*-व्यवस्था की सभी सीमाओं को लांघ दिया; और
- ऐसे प्रमाण भी उपलब्ध हैं, जिनसे सामाजिक तनावों की वृद्धि का पता चलता है।

5.6.1 कृषकों के रूप में शूद्रों का उदय

ग्रामीण क्षेत्र तथा कृषि गतिविधियों के फैलाव के कारण शूद्रों के विषय में जो अवधारणाएं थीं, उनमें परिवर्तन हुआ। उत्तर-गुप्त काल की विधि-पुस्तकों ने कृषि को सभी *वर्णों* के लिए *सामान्य-धर्म* (सामान्य व्यवसाय) के रूप में शामिल कर दिया। पाराशर की *स्मृति* में बल दिया गया है कि जहां एक ओर ब्राह्मणों के छः कर्तव्यों—अध्ययन करना, पढ़ाना, यज्ञ करना, दूसरों की सहायता करने के तौर पर यज्ञों की अध्यक्षता करना; तीनों उच्च *वर्णों* के धनी लोगों से उपहारों को स्वीकार करना और उपहार देना—के साथ-साथ वे स्वयं को कृषि कार्यों

के साथ भी संबंधित कर सकते थे और वे इन कृषि कार्यों को शूद्रों के परिश्रम द्वारा पूरा कर सकते थे। ब्राह्मणों को यह भी अधिकार था कि पापों से स्वयं को बचाने के लिए वे बैलों के साथ सही व्यवहार करें और अनाज की एक निश्चित राशि को राजा, देवताओं एवं अपने साथी ब्राह्मणों को दे सकते थे।

इस तरह के परिवर्तनों से निश्चय ही ब्राह्मणवादी सामाजिक व्यवस्था में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन का आभास मिलता है। अब ***वर्ण*** संबंधी मानकों को पुनः परिभाषित करने की आवश्यकता थी। इस दिशा में किए जाने वाले प्रयास का सबसे बड़ा संकेत यह था कि वैश्य एवं शूद्रों के बीच की दूरी कम हो रही थी। जहां एक ओर इस रूझान का प्रारंभ ईसा की प्रारंभिक सदियों में हो चुका था और दूसरी ओर उत्तर-गुप्त काल की सदियों में यह तथ्य महत्वपूर्ण है कि वैश्य कृषक जाति के रूप में व्यावहारिक तौर पर अपनी पहचान को खो बैठे। सातवीं सदी ई० के प्रारंभ में भारत आने वाले प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्वेन-सांग ने शूद्रों को कृषकों के रूप में उद्धृत किया है। ग्यारहवीं सदी ई० के प्रारंभिक वर्षों में अलबरूनी महमूद गज़नवी के साथ भारत आया तो उसने शूद्रों तथा वैश्यों के मध्य कोई अंतर न पाया। स्कन्द पुराण भी वैश्यों की खराब हालत का उल्लेख करता है। ग्यारहवीं सदी ई० के आते-आते उनको अनुष्ठानिक एवं वैधानिक दोनों तरह से शूद्रों के समक्ष माना जाने लगा। उदाहरणार्थ, अलबरूनी का कथन है कि यदि शूद्र एवं वैश्य श्लोकों का उच्चारण करते तो उनकी जीभ काट दी जाती थी।

कुछ ऐसे शूद्र भी थे जिनको ***भोजयन्ना*** कहा जाता था। इन शूद्रों के द्वारा भोजन तैयार किया जाता था और इस भोजन का ब्राहमण लोग भी सेवन करते थे। बहुत से तान्त्रिक एवं सिद्धि की शिक्षा देने वाले शूद्र थे और ये मछुआरों, चमड़े का काम करने वालों, धोबी, लुहार आदि के कार्यों को करते थे। आठवीं सदी ई० के एक ग्रंथ का कथन है कि नयी संकर जातियों का उद्‌भव—वैश्य वर्ण की महिलाओं तथा छोटी जातियों के पुरुषों के बीच वैवाहिक संबंध हो जाने के कारण हुआ। ***अनाश्रित शूद्रों*** का भी उल्लेख हुआ है। ये ऐसे शूद्र थे जो आत्म-निर्भर थे तथा जिनकी आर्थिक स्थिति अच्छी थी। ये शूद्र स्थानीय प्रशासनिक समितियों में भी थे और यदा-कदा ये भी शासक अभिजात वर्ग में शामिल हो जाते थे। शूद्रों की इस तरह की उपलब्धियाँ निश्चित रूप से काफी कम थीं। प्रारंभिक मध्यकालीन अर्थव्यवस्था एवं राजनीतिक तंत्र को शक्ति प्रदान करने के लिए निर्भर कृषकों, हलवाहकों एवं कारीगरों की अति आवश्यकता होती थी। उनकी इस आवश्यकता के विषय में यह कहा गया कि ये अपेक्षाकृत आत्म-निर्भर स्थानीय अर्थव्यवस्था तथा ग्रामीण अभिजात वर्ग के एक प्रभुत्व सम्पन्न वर्ग के उदय के लिए उत्तरदायी थे। इस तरह की आवश्यकता की भरपाई अधिकतम वैश्यों एवं शूद्रों के द्वारा ही की जा सकती थी। ऐसा ब्राह्मणों की कुंठित विचारधारा के बावजूद भी हुआ। ब्राह्मणों की इस कुंठित विचारधारा की अभिव्यक्ति पाराशर के उस दृष्टिकोण में भी होती है जिसके द्वारा शूद्रों को यह चेतावनी दी गई थी कि अगर वे ***द्विजों*** की सेवा करने के अपने कर्तव्यों की अवहेलना करेंगे तब उनको नरक में जाने जैसे भयंकर परिणामों को भुगतना होगा। जैन धर्म के कुछ धार्मिक कट्टरवादियों ने भी इस अवधारणा को विकसित किया कि शूद्रों को धार्मिक दीक्षा प्राप्त करने का अधिकार न होगा।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

5.6.2 बंगाल एवं दक्षिण भारत में मध्यम वर्णों का अभाव

वैश्यों एवं शूद्रों के मध्य दूर होते विभेदों के कारण एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था का उद्‌भव हुआ जिसके अंतर्गत बंगाल एवं दक्षिण भारत में मध्यम ***वर्ण*** लुप्त हो गये। इन क्षेत्रों में नवीन ब्राह्मणवादी व्यवस्था केवल ब्राह्मणों एवं शूद्रों के लिए उपलब्ध करायी गयी थी। ऐसा केवल इसलिये हुआ क्योंकि इन क्षेत्रों में गैर-ब्राह्मणवादी धर्मों का प्रभाव अधिक था। ब्राह्मणवाद की प्रगति की प्रकृति ने इस नये घटना क्रम में योगदान किया। यह संस्कृत भाषा बोलने वाले आक्रामक लोगों के व्यापक विस्थापन के कारण नहीं हुआ था। इसका मुख्य कारण अन्तर-मिश्रण एवं उत्संस्करण था।

दूर-दराज़ के क्षेत्रों में कबीलाई एवं गैर-ब्राह्मण लोगों को शूद्रों के रूप में ब्राह्मणवादी व्यवस्था के अंतर्गत स्वीकृत करा लिया गया। प्रारंभिक मध्यकालीन ग्रंथों में ऐसी प्राचीनतम वन आदिवासियों की सूची दी गई है, जिन्होंने उस समय की कई राजनीतिक शक्तियों के उत्थान में महत्वपूर्ण योगदान दिया। नौवीं सदी ई० से 13वीं सदी ई० तक सभी राजनीतिक शक्तियों का संघर्ष अमीरों के साथ हुआ। ***ब्रह्मवायवर्त पुराण*** में 13वीं सदी ई० के बंगाल के विषय में विवरण है और यह ग्रंथ ***अगारी, अम्बस्थ, भील, चण्डाल, कांची*** आदि ऐसी आदिवासी जातियों का उल्लेख करता है जिनको ब्राह्मणिक व्यवस्था में शूद्रों के रूप में स्वीकृत कर लिया गया था। जहाँ तक दक्खन का प्रश्न है यह ***अमीरों*** के विषय में भी सत्य था।

वल्लालचरित में 12वीं सदी ई० के बंगाल के एक सेन राजा के जीवन का विवरण है और यह ग्रंथ सामाजिक व्यवस्था के पुनर्निर्धारण का उल्लेख करता है। राजा ने ***कैवर्थों***, कुम्हारों, लुहारों, मालियों आदि की सामाजिक स्थिति में सुधार किया जबकि उसने सुनारों, व्यापारियों और ब्राह्मणों की स्थिति को नीचे गिरा दिया। एक अन्य सेन राजा लक्ष्मण सेन के शासन काल में एक लेखक व्यापारियों के *शकराध्वज* के उत्सव के संबंध में लिखता है कि "अरे! वे व्यापारी कहाँ गये जिन्होंने आप लोगों को (व्यापारी वर्ग को) एक उच्च स्थान प्रदान किया था, लेकिन अब आप लोगों को हल या जानवरों की तरह प्रयुक्त किया जा रहा है"। ***वल्लालसेन*** ने जिन व्यापारिक ब्राह्मणों का अवमूल्यन किया उनकी तुलना निशाद ब्राह्मणों से की जा सकती है। निशाद ब्राह्मण वे प्राचीन पुजारी थे जो ब्राह्मण व्यवस्था के अंतर्गत प्रवेश पाने के लिए प्रयासरत थे और बाद में उनको ब्राह्मण होने की

मान्यता तो प्राप्त हो गई, किन्तु समाज में उनको नीचा स्थान प्राप्त था। दक्षिण भारत में शैव ब्राह्मण उपदेशक को ***बासव*** कहा जाता और वह महिलाओं तथा पुरुषों के लिए धार्मिक समानता का उपदेश देता था। पदों का जो विवरण दिया गया है, उससे भी मध्यस्थ ***वर्णों*** को समाप्त करने की प्रवृत्ति का पता चलता है। ***कायस्थों, करणों, लेखकों*** और ***लिपिकारों*** को भी शूद्रों के रूप में वर्गीकृत किया गया। मध्यकालीन दक्खन में ***गवुन्डों*** (आधुनिक कर्नाटक में जिन्हें गौवड़ा नाम से जाना जाता है) की भी यही स्थिति थी।

5.6.3 नव शिक्षित वर्ग का उदय

भूमि अनुदानों की अभूतपूर्व वृद्धि में भूमि के लेन-देन, स्वामित्व के प्रमाणों का रख-रखाव और भूमि की नाप के आंकड़ों को रखना जैसे कार्य भी निहित थे। इसका तात्पर्य यह हुआ कि एक ऐसे वर्ग की आवश्यकता थी, जो अपने कार्य में निपुण एवं पढ़ा-लिखा हो। लगभग एक दर्जन किस्म के लेखक एवं कागजात को रखने वाले वर्गों में कायस्थ भी एक वर्ग था। बंगाल से प्राप्त हुए व गुप्त अभिलेखों में पहली बार कायस्थ शब्द को उद्धृत किया गया है, लेकिन उत्तर-गुप्त कालीन अभिलेखों में रिकार्ड रखने वालों के नामों का भरपूर मात्रा में उल्लेख हुआ है। ***कायस्थों*** के अतिरिक्त ***करण, करणिक, पुस्तपाल, लेखक, दिविरा, अक्षरचांचू, धर्मलेखिन, अक्षपटालिक*** जैसे नामों का भरपूर उल्लेख हुआ है। यद्यपि इन शिक्षित लोगों को विभिन्न ***वर्णों*** से भर्ती किया गया था, लेकिन बाद में ये एक जाति विशेष में परिवर्तित हो गए और इन पर भी कड़े वैवाहिक प्रतिबंध लागू होते थे। नौवीं सदी ई० से ही हमें वल्लभ, गण्डा, माथुर, कटारिया, श्रीवास्तव, निगम आदि बहुत से बड़े कायस्थ परिवारों का उल्लेख प्राप्त होने लगता है। ग्यारहवीं सदी ई० से कायस्थों के साथ कुल और वंश के प्रयोग और 12वीं-13वीं सदियों से कायस्थों के साथ जाति एवं ज्ञाति जैसे शब्दों के प्रयोग से स्पष्ट है कि कायस्थों का एक जाति के रूप में उदय हो चुका था। कायस्थों ने व्यक्तिगत स्तर पर पढ़ने-लिखने एवं साहित्य में महत्वपूर्ण योगदान करना प्रारंभ कर दिया था। उड़ीसा का ***तथागतरक्षिता*** व्यवसाय के तौर पर चिकित्सक परिवार से एवं जाति के रूप में कायस्थ जाति से संबंधित था और 12वीं सदी ई० में वह बिहार में स्थित विक्रमशिला विश्वविद्यालय में तंत्रवाद का सम्माननीय प्राध्यापक था।

5.6.4 नई मिश्रित जातियों के उदय में अभूतपूर्व वृद्धि

जिन सदियों के इतिहास का हम अध्ययन कर रहे हैं उन सदियों के दौरान होने वाले सामाजिक परिवर्तनों की यह महत्वपूर्ण विशेषता है। ***ब्रह्वायवर्त पुराण*** में ***देशभेद*** शब्द का प्रयोग हुआ है। ***देशभेद*** का शाब्दिक अर्थ भिन्न-भिन्न क्षेत्रों पर आधारित है। किन्तु यहां पर इसका तात्पर्य जातियों की भिन्नता से है। बंगाल से प्राप्त दसवीं सदी ई० के एक अभिलेख में ब्रहद्छत्रिवान (36 वर्णों का निवास) नाम के एक गांव का उल्लेख हुआ है। अब कोई भी ***वर्ण*** एक समान न रहा था और सब क्षेत्रीय संबंधता, गोत्रों की शुद्धता, विशेष प्रकार की शिल्पकलाओं, व्यवसायों तथा कार्यों के आधार पर विभाजित हो गए।

MAADHYAM IAS 'way to achieve your dream'

i) ब्राह्मणों में

जातियों की बढ़ती संख्या की विशेषता ब्राह्मणों के बीच सबसे अधिक प्रतीत होती है। जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है कि ब्राह्मण वर्ण अब केवल अपने छः कर्तव्यों तक सीमित न था। मंत्री, पुरोहित, न्यायाधीश आदि जैसे सरकारी पदों पर बने रहने के अतिरिक्त, ब्राह्मणों ने सैनिक कार्यों को भी करना शुरू कर दिया था। दृष्टांत के तौर पर, पृथ्वीराज चौहान का सेनापति स्कन्द नाम का ब्राह्मण था और सपदलालक्ष के शासक (राजस्थान में) की सेना का नेतृत्व भी राक नाम के एक ब्राह्मण ने किया था। नौवीं तथा दसवीं सदी ई० के पेहोआ तथा सियादोनी के अभिलेखों में ऐसे ब्राह्मणों का उल्लेख हुआ है जो घोड़ों एवं पान के थोक व्यापारी थे। ग्यारहवीं सदी ई० के कश्मीरी लेखक क्षेमेन्द्र ने ऐसे ब्राह्मणों को उद्धृत किया है जो कारीगरों और नर्तकों के कार्य करते थे और वे शराब, मक्खन-दूध, नमक आदि वस्तुओं के कार्यों में भी शामिल थे। ब्राह्मणों की कार्यात्मक भिन्नता निम्नलिखित उपाधियों से भी स्पष्ट होती है :

श्रोतिया, पंडित, महाराज पंडित, दीक्षित, याज्ञनिक, पाठक, उपाध्याय, ठाकुर, अग्निहोत्री आदि।

मिताक्षर, जो याज्ञवल्क्य की प्रसिद्ध स्मृति टीका है, के अंतर्गत ब्राह्मणों की 10 जातियों का उल्लेख है, ये ब्राह्मण जातियां देव (वे ब्राह्मण विद्वान होते थे जो धर्म एवं शास्त्रों के प्रति समर्पित थे) से लेकर चण्डाल तक (जो दिन में तीन बार संध्या नहीं करते थे) थीं। इनके बीच में ऐसे शूद्र ब्राह्मण भी थे, जो हथियारों के व्यवसाय द्वारा तथा मंदिर के पुजारियों के रूप में जीवन व्यतीत करते थे।

ब्राह्मण ***वर्ण*** के बीच हुए विभाजन का कारण क्षेत्रीय संबंधता भी थी। उत्तर भारत में हमें सारस्वत, कान्यकुब्ज, मैथी, गण्डा एवं उत्कल ब्राह्मणों के नाम सुनाई पड़ते हैं। गुजरात एवं राजस्थान के क्षेत्रों में उनकी पहचान मूल (निवास करने का मूल स्थान) शब्द के द्वारा की गई है और उनको मोधा, उदिवया, नागर आदि में विभाजित किया गया। बाद में मध्यकाल के अंत तथा ब्राह्मणों का विभाजन 180 मूलों में हो गया था। इसके अंतर्गत सर्वोच्चता की भावनाएं भी निहित थीं। ब्राह्मणों के विलक्षण विस्थापन के कारण कुछ क्षेत्रों को ***पाप देश*** (अपवित्र स्थान) समझा जाने लगा। इन क्षेत्रों में सौराष्ट्र, सिन्ध एवं दक्षिणपथ शामिल थे।

ii) क्षत्रियों में

आठवीं सदी ई० के बाद क्षत्रियों के बीच भी अनेक जातियों की उत्पत्ति हुई और उनकी संख्या में तेजी से वृद्धि होने लगी। अकेले उत्तर की 36 राजपूत जातियों के नामों की सूचियां उस समय के ग्रंथों में दी गई हैं। इन राजपूत जातियों की उत्पत्ति आबादी के विभिन्न वर्गों जैसे कि कायस्थों एवं ब्राह्मणों से हुई। इनकी उत्पत्ति कुछ आदिवासी जातियों से भी हुई थी और कुछ तो मूल रूप से इन्हीं से बनी थीं। राजपूत जातियों का उदय उन विदेशी आक्रमणकारियों से भी हुआ जो यहीं पर बस गए तथा जिनका विलय भारतीय सामाजिक-व्यवस्था में हो गया। क्षत्रिय वर्ण की परम्परागत अवधारणा के अनुसार, क्षत्रियों का मुख्य कार्य शासन को संचालित करना था, लेकिन विचारवेत्ताओं ने उन गैर-क्षत्रियों को क्षत्रिय मानने से इंकार नहीं किया जो शासक बन गए थे। ऐसा कहा जाता है कि "राजपूत कबीलों से शेखावत एवं वधेला जैसी सम्माननीय राजपूत जातियों की उत्पत्ति हुई और इनसे निम्न राजपूत जातियों को कोलियों, खन्ताओं तथा मेरों में रूपांतरित किया गया"। भारत के कई भागों में शासन करने वाले शासकों की वंशावली को जान-बूझकर काफी बढ़ा-चढ़ाकर वर्णित किया गया और इसका विवरण हम इकाई 10.4, 11.4.3 तथा 12 में करेंगे। कुछ क्षत्रियों को ***संस्कार-सत्र वर्जित*** कहा जाता था अर्थात् उनको अनुष्ठानिक संस्कारों से अलग कर दिया गया। इसको ऐसे भी समझा ज़ा सकता है। कि यह निम्न स्तर के संस्कारों द्वारा ब्राह्मणिक व्यवस्था में प्रवेश प्राप्त करने के लिए आवरण मात्र था।

iii) वैश्यों एवं शूद्रों में

जाति वृद्धि की प्रक्रिया ने वैश्यों एवं शूद्रों को भी अछूता नहीं छोड़ा। जैसा कि ऊपर बताया गया है (इकाई 5.6.1) कि ये दोनों बड़े ***वर्ण*** एक दूसरे के करीब आ रहे थे। उस समय उनके जातियों के रूप में अस्तित्व के अकाट्य प्रमाण उपलब्ध हैं। जिस तरह से ब्राह्मण जातियों की पहचान क्षेत्रीय संबंधता के साथ की गई है उसी तरह से वैश्य जातियों की पहचान भी की जाती है। इस तरह से वैश्यों को श्रीमाली, नागर, पालीवाल, दिसावत आदि कहा जाता था। इस तरह से शूद्रों की भी भिन्न जातियां थीं और वे अनेक प्रकार के कार्यों को सम्पन्न करती थीं। वे कृषि-मज़दूर छोटे किसान, कारीगर, शिल्पकार, नौकर-चाकर होते थे। ***वायर्त्त पुराण*** में शूद्रों की सौ जातियों की सूची को उद्धृत किया गया है। शूद्रों का जातियों में उप-विभाजन भी क्षेत्र एवं भूमि की संबंधताओं पर आधारित था। शूद्र जातियों का उदय भी ***पादूकाकृत*** एवं ***चर्मकार*** (चमड़े का काम करने वाले कारीगर) आदि जैसे औद्योगिक कार्य करने वाले समूहों से हुआ था। उस समय में शिल्पकारों का जातियों में परिवर्तित हो जाना एक सम्पूरक प्रक्रिया थी। ऐसा प्रतीत होता है कि ***नपिता, मोदक, ताम्बूलिक, सुवर्णकार, सूत्रकार, मालाकार*** आदि जातियों का उद्भव बहुत से शिल्पों से हुआ था। अभिजात शासक वर्ग की वृद्धि के साथ ही इन जातियों की संख्या में बढ़ोत्तरी हुई। आश्रित शब्द से स्पष्ट है कि ये जातियां अपनी आजीविका के लिए इन पर निर्भर थीं। उनका आश्रित होना तथा उनकी गतिहीनता व्यापारिक संगठनों (जिनको ***श्रेणी*** या ***प्रकृति*** कहा जाता था) को ब्राह्मण दान प्राप्तकर्ताओं को हस्तांतरण में अभिव्यक्त होता है। यादव ***महासामंत*** भील्लमा-द्वितीय के 1000 ई० के अभिलेख में दान किए गए ऐसे गांवों का विवरण किया गया है, जिनके अंतर्गत अठारह व्यापारिक संगठन निहित थे। संयोगवश, ये व्यापारिक संगठन भी जातियों के रूप में कार्यरत थे।

MAADHYAM IAS

बोध प्रश्न 2

1) ब्राह्मणों के छः कर्तव्यों की सूची बनाइए।

....

....

....

....

....

....

2) नई संकर जातियों में वृद्धि किन कारणों से हुई? लगभग दस पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

....

....

....

....

....

....

....

....

....

....

3) निम्नलिखित में कौन सा कथन ठीक एवं कौन-सा गलत है। ठीक (√) एवं गलत (×) के चिह्न लगाइए :

   i) आठवीं सदी ई० तथा 13वीं सदी ई० के बीच ***वर्ण*** मानकों को पुनर्गठित किया गया।

   ii) मध्यस्थ **वर्ण** बंगाल एवं दक्षिण भारत में विद्यमान थे।

   iii) भूमि एवं सैनिक शक्ति के असामान्य वितरण के कारण **वर्ण** संबंधी भिन्नताओं की सीमाओं को पार करते हुए सामंतीय पदों में वृद्धि हुई।

   iv) प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्वेनसांग ने शूद्रों को कृषक बताया है।

5.7 भूमि वितरण, सामंतीय पद एवं वर्ण विभेद

उत्तर गुप्त-कालीन आर्थिक एवं राजनीतिक व्यवस्थाओं का अध्ययन करने से स्पष्ट है कि विभिन्न प्रकार के नवीन (देखें इकाई 1 एवं 3) भूमि अधिकारों का उद्भव हुआ। अधिकारियों तथा सामंतों का पदानुक्रम भी भूमि के असमान वितरण के प्रभाव को परिलक्षित करता है (इकाई 9.4 को भी देखें)। सामंतों एवं अधिकारियों के बहु-पक्षीय कार्यों (देखें इकाई 9.5) से अन्य विशेषताओं के साथ-साथ सैनिक अनुबंधों के प्रति अधिक रूझान स्पष्ट होता है। शक्ति विसर्जन की प्रकृति तथा भूमि-विवरण के ढांचे के साथ इसके संबंधों ने निश्चित रूप से सामाजिक-व्यवस्था को प्रभावित किया। इस प्रभाव का महत्वपूर्ण परिणाम ***वर्ण*** विभेद की सीमाओं को पार करते हुए सामंतीय पदों के उदय के रूप में हुआ। शासक अभिजात वर्ग के अंदर अब केवल क्षत्रिय ही नहीं होते थे। सामंतीय पद सभी वर्णों के लोगों के पास थे और इसके प्रमाण ***मन्सरा*** (स्थापत्य कला पर एक ग्रंथ) नामक ग्रंथ में मिलते हैं। इनके अनुसार सामंती पदानुक्रमों में किसी भी ***वर्ण*** का व्यक्ति ***प्रहरका*** एवं ***अस्त्रग्रहिण*** जैसे छोटे पदों को प्राप्त कर सकता था। ***अस्त्रग्रहिण*** यद्यपि सबसे छोटा सैनिक पद था, फिर भी वह 500 घोड़े, 5000 हाथी तथा 50,000 सैनिकों के साथ-साथ 500 महिलाएं, नौकर-चाकर एवं एक रानी को रख सकता था। हम इन आंकड़ों को संख्या की दृष्टि से नहीं देखते हैं लेकिन इस विवरण से इतना सुनिश्चित रूप से कहा जा सकता है कि भूमि एवं शक्ति के इस नवीन वितरण ने ***वर्ण*** संबंधी असमानताओं पर एक कुठाराघात किया। इससे भी अधिक महत्वपूर्ण यह है कि ***ठाकुर, राउत, नायक*** जैसी उपाधियां भी क्षत्रियों या राजपूतों तक सीमित न थी। यह उपाधियां कायस्थों एवं अन्य जातियों को भी प्रदान की गई। इन जातियों को भूमि आवंटित की गई और इन्होंने सैनिक कार्यों को भी किया। कुल्लूक द्वारा ***मनु स्मृति*** पर की गई टीका में यह उल्लेख हुआ है कि बड़े-बड़े व्यापारीगण शासक भू-पतियों के अभिजात वर्ग में भी सम्मिलित हो रहे थे। कश्मीर में एक उच्च पदवी ***राजनका*** थी। इसका साहित्यिक अर्थ था ''लगभग एक राजा'' यह ब्राह्मणों के साथ घनिष्ठ रूप से जुड़ा हुआ था। आगे चलकर यह राजदान नाम से वंशीय नाम के लिए प्रयोग होने लगा। सामंतीय उपाधियों को कारीगरों ने भी धारण किया। विजयसेन के देवपारा अभिलेख में उल्लेख है कि शूलपानि ने, जो कि वरेन्द्रा (पश्चिम बंगाल में स्थित) के कारीगरों का मुखिया था, ***रणका*** नाम की उपाधि को धारण किया था।

सामंतीय पद धारण करने वालों में सामाजिक पहचान के प्रतीकों तथा चिह्नों का संबंध भी भू-स्वामित्व से था। सम्मान के प्रतीक झालर, छतरी, घोड़े, हाथी, पालकी, ***पंच-महाशब्द*** की प्राप्ति (देखें इकाई 9.6) आदि सभी सामंतीय पदानुक्रम में विशेष स्थान पाने पर निर्भर था। उदाहरण के लिए ***चक्रवर्ती*** तथा ***महासामंतों*** को मुख्यद्वार (सिंहद्वार) बनाने का अधिकार था, लेकिन इसका निर्माण छोटे सामंतों द्वारा नहीं किया जा सकता था। भिन्न-भिन्न स्तर के सामंतों एवं अधिकारियों के लिए भिन्न-भिन्न आकार के निवास स्थलों की व्यवस्था भी असमान भू-स्वामित्य का परिणाम थी।

5.8 सामाजिक तनावों में वृद्धि

यद्यपि इस समय बहुत से परिवर्तन और रूपांतरण हुए, और इस तरह के परिवर्तन ***वर्ण*** विभेद की सीमाओं को लांघकर हो रहे थे। किन्तु आठवीं सदी ई० के बाद के यह सामाजिक परिवर्तन न तो सौहार्दपूर्ण थे और न ही एक समान व्यवस्था की स्थापना के लिए थे। इस समय में कई तरह के सामाजिक तनावों की भी अभिव्यक्ति हुई।

जिस सामाजिक-व्यवस्था का आधार आर्थिक शक्ति के असमान वितरण पर आधारित हो, वह निश्चय ही असमान होगी। यद्यपि शूद्रों के सामाजिक स्तर में वृद्धि हो रही थी लेकिन छूआछूत (अस्पृश्यता) संपूर्ण सामाजिक-व्यवस्था में व्याप्त थी। अधिकतर शूद्र ***वर्ण*** के लोग वास्तविक तौर पर मज़दूर थे जो अपने सामंत स्वामियों के लिए कार्य करते थे। चाहे वे कृषि में कार्यरत थे या उद्योग-धंधों में थे। यद्यपि कुछ अनाश्रित शूद्रों के उदाहरण भी उपलब्ध

होते हैं, किन्तु उनकी संख्या बुहत कम है। यथाकथित अपवित्र व्यवसायों से जुड़े रहना, प्रतिबंधित कार्यों को करते रहने का अपराध, पैतृक कार्यों से जुड़े रहना और भौतिक अपवित्रता आदि ये सभी छूआछूत की वृद्धि के कारण थे। ***ब्रह्द् नारदिय पुराण*** में शूद्रों के पूजा स्थलों से अलग होने के प्रारंभ का विवरण दिया गया है। ***चण्डाल*** और ***दोम्ब*** ऐसी आवाज़ करने वाली छड़ी को लेकर चलते थे जिससे उनके आने का पता लग जाता था। और लोग स्वयं को उनके स्पर्श से बचा सकते थे। जिस समय वस्तुपाल खम्मात का गवर्नर था, उसने चबूतरों को विभिन्न जातियों के लिये निर्माण कराया ताकि उन दुकानों में जहां पर दही की बिक्री की जाती थी विभिन्न जातियों के मिश्रण को रोका जा सके। यद्यपि ब्राह्मण विधिवेत्ताओं ने महिलाओं के सम्पत्ति संबंधी अधिकारों के प्रति कुछ चिंता व्यक्त की, जिसके अंतर्गत स्त्रीधन भी शामिल था। किन्तु इस काल में वास्तविक तौर पर अत्याचारी सती-प्रथा का प्रारंभ हुआ। राजा हर्ष की माता का उदाहरण विशेष उल्लेखनीय है क्योंकि उसने अपने पति प्रभाकरण वर्धन की मृत्यु से पूर्व ही स्वयं को सती कर दिया था। इसका उल्लेख बाणभट्ट के ***हर्षचरित*** में भी हुआ है। ***राजतरंगिणि*** में कश्मीर के इतिहास का उल्लेख है और उसमें भी कश्मीर के शाही परिवारों में होने वाली सती की घटनाओं को उद्धृत किया है। उत्तर एवं दक्षिण भारत में बहुत से ***सती-सत्त*** पट्टिकाओं के पुरातात्विक प्रमाण भी स्पष्ट रूप में मिलते हैं।

संकुचित संघर्षों के कारण समाज में पर्याप्त तनाव उत्पन्न हुआ। जैन धर्म में विश्वास करने वाले ब्राह्मण को जाति से बहिष्कृत कर दिया जाता। ***लताकमेलका*** में दो ब्राह्मणों के बीच काफी उत्तेजक शब्दों (अब्रहमन्य) में बहस होती है और बिना किसी कारण के एक दूसरे पर ब्राह्मण न होने का आरोप लगाते हैं। मध्यकालीन समय में धार्मिक सम्प्रदायों में जातियों के रूप में कई प्रकार की समानान्तर धाराएं पैदा हो गई। अनुष्ठानों, भोजन, पहनावा आदि में विभिन्न प्रकार के अंतरों के कारण धार्मिक विघटन पैदा हुआ। बौद्ध धर्म का विभाजन 18 सम्प्रदायों में हो गया। कर्नाटक में भी लिंगायत एवं वीर शैवों के बीच झगड़ा हुआ। अक्सर धार्मिक सम्प्रदाय जातियों में परिवर्तित हो जाते थे। क्या ये ऐतिहासिक विडम्बना नहीं है कि जिन धर्मों ने जातीय असमानताओं को दूर करने की प्रतिज्ञा की थी उन्होंने जन्म के आधार को पुष्ट किया और उनका स्वयं भी प्रसार जाति-व्यवस्था के रूप में हुआ? यह भी सत्य है कि ये संकुचित तनाव अक्सर भूमि-अनुदान अर्थव्यवस्था की भी उपज थे ऐसा प्रतीत होता है कि ब्राह्मणवादी धार्मिक सम्प्रदायों एवं गैर-ब्राह्मणवादी सम्प्रदायों के बीच अधिक से अधिक भूमि पर अधिकार करने के लिए प्रतिस्पर्धा हुई। इसके फलस्वरूप सभी बड़े-बड़े धार्मिक प्रतिष्ठान विशाल भूमि के स्वामी बन गए। आठवीं सदी ई० के बाद की सदियों में मत्तमायरा क्षेत्र के राजा अवन्तिवर्मन (संभवतः यह मध्य भारत में ग्वालियर के समीप का चालुक्य राजकुमार था) और दहला के चेदी राजा के विषय में यह कहा जाता है कि इनके राज्य शैव सिद्धांत के धार्मिक मुखियाओं के रूप में कार्य करते थे। बाद में वे सामंतों के तौर पर शासन करने लगे। ग्यारहवीं सदी ई० में जैनियों के एक सम्प्रदाय के आंदोलन के कारण गुजरात एवं राजस्थान में एक ऐसे सम्प्रदाय का उदय हुआ जिसको विधिचैत्य कहा जाता था। यह आंदोलन एक प्रकार का विरोध-आंदोलन था और इसने उन लालची एवं लोलुप जैन पुजारियों का विरोध किया जो भूमि पर अधिकार करने का प्रयास कर रहे थे।

MAADHYAM IAS

जहां तक सामाजिक तनावों का प्रश्न है, नव उदित शिक्षित वर्ग के रूप में कायस्थों की अपनी स्वयं की भूमिका थी। इस वर्ग का उदय स्पष्ट तौर पर ब्राह्मणों के लिए एक चुनौती के रूप में हुआ। उड़ीसा के कायस्थ तथागतरक्षिता का उदाहरण पहले ही इकाई 5.6.3 में उद्धृत किया जा चुका है जो विक्रमशिला विश्वविद्यालय में तंत्र का सम्माननीय प्रोफेसर था। कश्मीर के क्षेमेन्द्र ने स्पष्ट रूप से लिखा है कि कायस्थों के उदय के कारण आर्थिक विशेषाधिकारों में गिरावट आई क्योंकि कायस्थ अधिकारियों ने ब्राह्मणों को भूमि अनुदान प्रदान करने में कुछ हिचकिचाहट दिखाई। कश्मीर में मंदिरों के पुरोहितों की समिति ने अपनी मांगे पूरी करवाने के लिए ***प्रयोपवेश*** (भूख हड़ताल) का आयोजन किया। ब्राह्मणों ने अपनी सर्वोच्चता को पुनः स्थापित करने के लिए द्वेषवश कायस्थों को अक्सर शुद्र कहा है।

ग्रामीण समाज में जो तनाव-व्याप्त थे, वे भी किसी तरह से कम महत्वपूर्ण न थे। कश्मीर में दमरों के विद्रोह, बंगाल में रामपाल के शासनकाल के ***कैवर्त्तो*** का विद्रोह, तमिलनाडु में भूमि पर जबरदस्ती अधिकार करने के विरोध में आत्मदाह के कार्य, पांडय राज्य में शूद्रों द्वारा दान की गई भूमि पर अधिकार करने की चेष्टा—ये सभी भू-अभिजात वर्ग के विरुद्ध बढ़ते असंतोष की ओर संकेत करते हैं।

बोध प्रश्न 3

1) आठवीं सदी ई. के बाद की सदियों में बढ़ते सामाजिक तनावों के विषय में लगभग दस पंक्तियों में लिखिए।

....

....

....

....

....

....

....

....

....

....

2) जिन सामंतीय पदों का उदय ***वर्ण*** संबंधी विभेद की सीमाओं को लांघकर हुआ, उस पर दस पंक्तियां लिखिए।

....

....

....

....

....

....

....

....

....

....

3) विभिन्न शिल्पों से उदित होने वाली छः जातियों के नाम बताइए।

....

....

....

5.9 सारांश

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

सन् 800 ई. से 1300 ई. के बीच की सदियों में हुए सामाजिक परिवर्तनों का सर्वेक्षण करने पर निम्नलिखित विशेषताओं का पता चलता है:

- अत्यधिक सम्पन्न एवं विभिन्न प्रकार के स्रोतों के विषय में,
- उस ब्राह्मणवादी दृष्टिकोण का जो सामाजिक कट्टरता का प्रतीक था, तथा ***वर्ण*** व्यवस्था के अंतर्गत यथा स्थिति को बनाए रखना चाहता था,
- जाति-व्यवस्था के आधार पर उठाए गए प्रश्नों का जहां सामाजिक स्तर को आर्थिक कारकों ने निश्चित किया,
- परिवर्तित होते भौतिक आधार का नवीन सामाजिक वातावरण के उद्भव पर प्रभाव था,
- ***वर्ण*** व्यवस्था में होने वाले सुधारों का विशेष रूप से वे सुधार जो वैश्य एवं शूद्रों की स्थिति में हुए और बंगाल तथा दक्षिण भारत में मध्यम ***वर्णों*** के अस्तित्व समाप्त होने का,
- एक शिक्षित वर्ग के रूप में कायस्थों के उदय का,
- सभी ***वर्णों*** में जातियों की संख्या में होती वृद्धि का,
- भूमि वितरण एवं सामंतीय पदों के उदय के बीच के संबंधों का और ये पद बाद में किस प्रकार से वर्ग सीमाओं को लांघकर आगे बढ़े; और
- समाज में व्याप्त तनावों के कारण सौहार्द तथा समानता के अभाव के विषय में।

5.10 शब्दावली

अनाश्रित : आत्मनिर्भर शूद्र

आश्रित : निर्भर शूद्र

भोज्यान्ना : ऐसे शूद्र जिनके द्वारा तैयार किए गए भोजन को ब्राह्मण ग्रहण कर सकते थे

गवणदास : कर्नाटक का ऐसा लिपिक (शिक्षित) वर्ग जिसके हित भूमि से जुड़े थे

कुल-जाति दर्प : जाति एवं वंश का अभिमान

मूल : परिवार एवं जाति के उदय का स्थान

पाप दिशाएं : अपवित्र क्षेत्र

प्रकृति रस : व्यापारिक संगठन

संस्कार वर्जित : ऐसे लोग जिनको अनुष्ठानिक अधिकारों से अलग कर दिया

वर्णाधिकारिन : वे अधिकारी जिन पर वर्णों की देखभाल का उत्तरदायित्व था

5.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) अपना उत्तर भाग 5.9 के आधार पर दें।
2) i) √ ii) × iii) √ iv) √
3) अपना उत्तर भाग 5.4 के आधार पर दें।

बोध प्रश्न 2

1) उनके अध्ययन करने, अध्यापन करने, यज्ञ सम्पन्न करने सहित आदि छः कर्तव्य थे। देखें उपभाग 5.6.1
2) उत्तर के लिए उपभाग 5.6.4 देखें।
3) i) √ ii) × iii) √ iv) √

बोध प्रश्न 3

1) अपने उत्तर को भाग 5.8 के आधार पर दें।
2) भाग 5.7 देखें।
3) ***नपितर, मोदक, मलकारा*** आदि कुछ जातियां थीं। उपभाग 5.6.4 भी देखें।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

इकाई 6 विचारधारा

इकाई की रूपरेखा

6.0 उद्देश्य
6.1 प्रस्तावना
6.2 विचारधारा : विविध दृष्टिकोण
  6.2.1 विचारधारा ज्ञान की एक प्रणाली के रूप में
  6.2.2 समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण
  6.2.3 मनो-सांस्कृतिक दृष्टिकोण
6.3 धर्म, विचारधारा और समाज
6.4 विचारधारा : प्रारंभिक भारतीय परिवेश
6.5 विचारधारा : उत्तर-गुप्त शताब्दियों में इसकी प्रकृति एवं भूमिका
  6.5.1 भूमि-अनुदानों का दर्शन
  6.5.2 भक्ति एवं तीर्थयात्रा
  6.5.3 तंत्रवाद
  6.5.4 वीर-स्तम्भ
  6.5.5 धर्म विचारधारा के रूप में—किसके लिए?
6.6 सारांश
6.7 शब्दावली
6.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

6.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप निम्नलिखित के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे:

- विचारधारा को परिभाषित करने की जटिलताएं,
- विचारधारा के सूक्ष्म भेद (अर्थभेद) और इनको समझने के तरीके,
- विचारधारा पर विभिन्न दृष्टिकोणों से लेखन के मुख्य चरण,
- विचारधारा के विश्लेषण के रूप में नवीन तत्व,
- विचारधारा की प्रकृति, भूमिका एवं कार्य,
- धर्म एवं विचारधारा का समाज में महत्व,
- उत्तर-गुप्त शताब्दियों में भूमि-अनुदानों की दार्शनिक पृष्ठभूमि; और
- सहस्राब्दि में भारत में विशिष्ट धार्मिक विकास और विचारधारा के रूप में कार्य करने की उनकी क्षमताएं।

6.1 प्रस्तावना

यह इकाई विचारधारा से संबंधित है, जिसमें तीन मुख्य मुद्दों का विवेचन किया गया है। प्रथम, विचारधारा के सैद्धांतिक आयाम इसके अध्ययन के सभी दृष्टिकोणों का ध्यान रखते हैं। यह प्रत्येक मामले में विशिष्ट योगदान का वर्णन करती है। दूसरे, इस इकाई में धर्म एवं विचारधारा का समाज में स्थान निर्धारित करने की कोशिश की गई है। अंत में, विचारधारा की सैद्धांतिक समझ को भारतीय परिवेश में देखा गया है। इस संदर्भ में, मुख्य ध्यान उत्तर-गुप्त शताब्दियों में विचारधारा के प्रकृति एवं भूमिका पर केन्द्रित है परंतु पूर्व-गुप्त सहस्राब्दि की कतिपय मुख्य धार्मिक विशिष्टताओं का भी विवेचन किया गया है। इस ओर, व्यापक रूप से धनाकर्षण किया गया है कि विचारधारा का अध्ययन, इसके द्वारा जनता को प्रभावित करने की क्षमता के परिप्रेक्ष्य में किया जाए।

6.2 विचारधारा : विविध दृष्टिकोण

विचारधारा की धारणा समाजिक-राजनैतिक चिंतन एवं विचारों के इतिहास की सर्वाधिक विवादास्पद धारणाओं में से एक है। विचारधारा के विभिन्न घटकों की समझ, जिस दृष्टिकोण से इसका अध्ययन किया जाए, इस पर निर्भर करती है। ये दृष्टिकोण विविध हैं:

- इसे ज्ञान की एक प्रणाली के रूप में देखा जा सकता है,
- विद्वानों ने विचारधारा के समाजशास्त्रीय घटकों पर महत्व दिया है, और
- विचारधारा के अध्ययन के लिए मनोवैज्ञानिक एवं सांस्कृतिक दृष्टिकोणों को अपनाने की आवश्यकता पर भी बल दिया गया है।

सामाजिक चिंतन की एक संकल्पना के रूप में विचारधारा का विवेचन करने से पूर्व विचारधारा का एक संकल्पना एवं एक राजनीतिक मत, दोनों रूपों में भेद करना आवश्यक है। विचारधारा का इसकी प्रकृति एवं कार्यों संबंधी विवेचन, इसके राजनीतिक मतों के निकाय के विवेचन से भिन्न है, यथा अनुदारवाद, उदारवाद, समाजवाद इत्यादि।

6.2.1 विचारधारा ज्ञान की एक प्रणाली के रूप में

प्रारंभिक धारणाओं में से एक के अनुसार "विचारधारा" की अभिव्यक्ति एक राजनीतिक विधान का उल्लेख करती है, जो सभी विज्ञानों के सुव्यवस्थित आधारों की परख एवं उनकी निष्पक्ष अनुप्रयोग की गारंटी से संबंधित है। इसकी मूल परिकल्पना प्रसिद्ध ब्रिटिश चिंतक फ्रांसिस बेकन (1561-1626) के समय से की जाती है। उनका मत था कि विज्ञान के विकास की गारंटी केवल तभी हो सकती है जब वैज्ञानिक चिंतन की भ्रामक विचारों से सुरक्षा की जाए। अपने "व्यामोह" (भ्रान्ति के छायाभास) के सिद्धांत के आधार पर बेकन ने इस पर प्रकाश डाला कि मानव विवेक वास्तविकता तक क्यों नहीं पहुंच पाता।

बेकन ने चार व्यामोह बताए जो मनुष्य को अधिक प्रभावित करते हैं। कबीलाई व्यामोह वास्तविकता पर समुचित रूप से विचार करने की असमर्थता निरूपित करता है। यह आधारभूत संज्ञानात्मक अवरोध, जो सभी मनुष्यों के लिए समान है, प्राकृत व्यामोह से और गहन हो जाता है। मनुष्य विलगित रूप से गुफा-निवासियों की भांति प्रतीत होते हैं जो बाह्य-जगत को केवल अपने व्यक्तिगत दृष्टिकोण से समझने की चेष्टा करते हैं। लोकगत व्यामोह, वे भ्रान्त-धारणाएं हैं जो व्यक्तियों के समागम में भाषा की अशुद्धता से उत्पन्न होती हैं। अंत में, वैचारिक व्यामोह जिसमें सत्ता, परम्परा, परिपाटी एवं असंगत धारणाओं द्वारा अनुकूलित भ्रान्तियाँ होती हैं। अतः बेकन का "व्यामोह" का सिद्धांत-विचारधारा के सिद्धांत का एक प्रारंभिक प्रयास प्रदर्शित करता है कि बोध, संकल्पशक्ति, समागन एवं पूर्वाग्रह वे कारक हैं जो विशुद्ध संज्ञान की प्रक्रिया में अवरोध पैदा करते हैं। केवल तर्क को संयमित करके ही निष्पक्ष ज्ञान और साथ ही सत्य की प्राप्ति की जा सकती है।

MAADHYAM IAS

बेकन की यह परिकल्पना अठारहवीं सदी के उत्तरकालीन फ्रांसीसी विचारकों (कौंडिलक, सबानिस और डेन्ट्रासी) के आधार बनी, जिन्होंने दर्शनशास्त्र के संदर्भ में वही दृष्टि अपनाई जो इस ब्रिटिश विचारक ने विज्ञान के लिए अपनाई। इन विचारकों की मूल कल्पना यह थी कि क्षमताएं (बोध, याद्दाश्त, निर्णय) संवेदिक आधार पर निर्भर करती हैं। संवेदनों के संबंध में विचारों की उत्पत्ति एवं विकास का अध्ययन ही, संज्ञान एवं निर्णय की प्रक्रिया में आने वाली त्रुटियों के विरुद्ध गारंटी है। भ्रामक विचार समाज में कतिपय प्रभुत्व के लिए दावे प्रस्तुत कर सकते हैं; वास्तव में इनके पक्षधर सत्तासीन व्यक्ति भी हो सकते हैं। परिणामतः विचारकों को अपनी वैज्ञानिक विधि का उपयोग धर्म एवं शासकीय-राजनीतिक विचारों की समीक्षा करने के लिए करना चाहिए। विचारधारा, इस संदर्भ में एक विशुद्ध वैज्ञानिक प्रयास है जो सत्ता के किसी भी रूप का प्रबल विरोध पेश करती है। तथापि, क्रान्ति के पश्चात फ्रांस में धर्मों एवं राजनीतिक विचारों की समालोचना को सामाजिक स्थिरता के लिए हानिकर समझा गया। विचारधारा को हेय दृष्टि से देखा जाने लगा एवं वैचारिक चिंतन को विध्वंसक समझते हुए अस्वीकार किया गया। उदाहरण के तौर पर नेपोलियन ने भर्त्सनात्मक अर्थ में विचारकों को ऐसे अंधे उपासक एवं सामान्य बुद्धि से रहित ऐसे लोगों के रूप में देखा जो तथ्यों की अपेक्षा विचारों के संसार में मग्न हैं।

6.2.2 समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण

जर्मनी के सी. डब्ल्यू. फ्रोलिश (C.W. Frohlich) ने 1792 में पहली बार कहा कि मानव-चिंतन सामाजिक संबंधों पर निर्भर करता है। वह आगे आग्रह करता है कि सम्पति-संबंधों में परिवर्तन के आधार पर धर्म एवं तत्वमीमांसा की समीक्षा इसके तर्कसंगत-निष्कर्ष तक की जाए। फ्रोलिश के अनुसार केवल सम्पति-विहीन समाज ही सही चिंतन एवं नैतिक क्रियाओं के संभव बना सकता है। यह विचारधारा के सवाल के एक पक्ष को सामने रखता है, जिसे मार्क्स एवं एंगेल्स द्वारा सुव्यवस्थित रूप से विकसित किया गया।

विचारधारा की धारणा के अध्ययन में कार्ल मार्क्स एवं फ्रेंडरिख एंगेल्स का महान योगदान है। उन्होंने विचारधारा को मिथ्या सोच की प्रणाली, वर्गीय स्थिति का कथन एवं वर्गीय शासन को समर्थन देने वाले विचार के रूप में

माना। विचारधाराएं गौण एवं काल्पनिक होती हैं, क्योंकि ये अधिसंरचना का ही एक हिस्सा हैं और मूलभूत रूप से भौतिक-आर्थिक "आधार" का ही प्रतिफल हैं।

मार्क्स एवं एंगेल्स ने विचारधारा को भर्त्सनापूर्ण अर्थ प्रदान किया क्योंकि उन्होंने इसे तर्क के कपटपूर्ण उपयोग, चेतन एवं अचेतन रूप से शासक वर्ग की स्थिति का औचित्य सिद्ध करने के लिए तथ्यों को तोड़-मरोड़ कर देखा। "वह वर्ग", जो समाज को शासित करने वाली भौतिक शक्ति है, "साथ ही यह इसकी बौद्धिक शक्ति भी है"। एंगेल्स के कथनानुसार विचारधारा "मिथ्या-चेतना" को व्यक्त करती है।

विचारधारा की ऐसी धारणा रखते हुए मार्क्स एवं उनके सहयोगी फ्यूअरबाख़ (Feuerbach) (एक जर्मन दार्शनिक) की धार्मिक परिकाल्पनिक विश्व के प्रक्षेपी चरित्र संबंधी अंतर्दृष्टि से लाभान्वित हुए। उन्होंने धर्म में चेतना को आवश्यक रूप से मिथ्या-रूप, जो सामाजिक संबंधों से उत्पन्न होती है, को रेखांकित किया जो मानव-आवश्यकताओं और उन्हें संतुष्ट करने के लिए उपलब्ध साधनों के मध्य अंतर्विरोध से अनुकूलित होती है। (मैक्स वेबर जर्मनी में धर्म के तर्काधार को इसी अंतर्विरोध में परख चुका था — देखें भाग 6.2.3)। मार्क्स के लिए विचारधारा की समीक्षा केवल धर्म का प्रतिवाद ही नहीं, वरन् इससे बढ़कर थी, क्योंकि धर्म मनुष्य के साहित्य से संबंध रखता है — यह विशिष्ट मानवीय विशेषताओं का प्रतिबिम्ब है जिसका उद्भव निश्चित समाजिक-ऐतिहासिक परिस्थितियों के अधीन हुआ है। धर्म सामाजिक व्यवस्था की "अभिव्यंजना" और इसके विरुद्ध "प्रतिवाद" के रूप में समझा जाता है। इस प्रकार धर्म की भूमिका न केवल राजनीतिक यथास्थिति को उचित ठहराए जाने में अनावृत्त होती है, बल्कि इसे इसके नकारात्मक पूर्वकाल्पित कर्तव्य के संदर्भ में भी देखा जाता है, और सामाजिक परिस्थितियों की समीक्षा में इसे सम्मिलित किया जाता है जिनके लिए वैचारिक स्पष्टीकरण आवश्यक है। उदाहरणार्थ, प्रबुद्ध व्यक्ति अपने निजी स्वार्थों की रक्षार्थ आने वाले ज्ञान का विरोध करता है। एक ऐसे समाज में धर्म की समीक्षा, जहां इसकी शक्ति-राजनीतिक भूमिका है, वस्तुतः राजनीतिक यथास्थिति की समीक्षा है।

मार्क्स एवं एंगेल्स ने अपने विचारों को सामाजिक-आर्थिक प्रणाली पर आधारित कर एक ऐसा मुद्दा उठाया, जो कार्ल मानहीम (Karl Mannheim) के शब्दों में "ज्ञान-समाजविज्ञान" के नाम से जाना गया, अर्थात् सामाजिक आधारों, प्रतिबंधों, विविधताओं और विचारों के विरूपण का अध्ययन। तथापि, मार्क्स से हटकर तथा वेबर से प्रभावित हो मानहीम ने प्राथमिक तौर पर वर्गीय-दृष्टिकोण को तिलांजलि दे दी एवं विचारधारा को पूर्णतः सामाजिक-संचरना विशेषतः राजनीतिक दलों पर आधारित किया।

दो प्रारंभिक यूरोपीय समाजशास्त्री — मोस्का (Mosca) और परेटो (Pareto) — बिल्कुल भिन्न दृष्टिकोण अपनाते हुए भी मार्क्स से असाधारण रूप से मिलते-जुलते निष्कर्षों पर पहुंचे। दोनों ने सामाजिक विश्लेषण के प्रति एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण में विश्वास किया। मोस्का के अनुसार, किसी भी समाज की निर्णायक विशिष्टता उसका शासक वर्ग है। एक समाज की कला, संस्कृति, राजनीति, धर्म इत्यादि सभी प्रधान सामाजिक स्तर से निर्धारित होते हैं। इसीलिए सामाजिक-विश्लेषण शासक-वर्ग से ही प्रारंभ और समाप्त होना चाहिए। शासक "राजनीतिक सिद्धांतों" या "विचारधाराओं" में कौशलपूर्ण जोड़-तोड़ द्वारा अपने शासन को कायम, स्थायी, बुद्धिसंगत बनाते हुए इसे उचित सिद्ध करते हैं। परेटो सम्पूर्ण मानव-आचरण को दो श्रेणियों में विभाजित करता है — तार्किक एवं अतार्किक। इस अर्थ में कि क्या यह साध्य उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु उपयुक्त साधनों का प्रयोग करता है। वह मानव-आचरण में असंगतता के प्रचलन पर बल देता है। वह आगे कहता है कि मानव-व्यवहार के महत्वपूर्ण अंश, चेतना के स्तर के नीचे सोई हुई अतार्किक प्रेणाओं द्वारा प्रोत्साहित एवं पोषित किए जाते हैं। उसके अनुसार, वर्जनाओं, जादू एवं मिथकों की सभी समाजों में भरमार है। राजनीतिक क्षेत्र में संहिताएं, संविधान, घोषणा-पत्र और योजनाएं तर्कसंगत व्यवहार की कसौटी पर खरे नहीं उतरते हैं। ऐसा अन्य बातों के अलावा इसलिए है क्योंकि इन्हें अस्पष्ट, अत्यधिक, आलंकारिक एवं बहुत ही निरर्थक शब्दावली में व्यक्त किया जाता है।

इस प्रकार मोस्का एवं परेटो के समाज के विवेचन में विचारधारा एक प्रमुख परिवर्त्य है। "मिथक", "राजनीतिक नियम" या "व्युत्पत्ति" के समानार्थ प्रयुक्त होने वाली विचारधारा, मानव समाज की मार्ग-दर्शिका एवं सामाजिक समैक्य प्राप्त करने के मुख्य साधन के रूप में देखी जा सकती है।

समकालीन समाजशास्त्रियों में पार्सनस (Parsons) विचारधारा को "किसी भी समूह के सदस्यों द्वारा सामूहिक रूप से धारित की गई एक अनुभवमूलक विश्वास प्रणाली" के रूप में परिभाषित करता है। यह समुदाय को आपस में जोड़ती है एवं इसके मूल्य-दिग्विन्यास को वैधता प्रदान करता है। इससे भी महत्वपूर्ण, विचारधारा में विरूपण जोड़-तोड़ के तत्व भी निहित होते हैं।

डेनियेल बेल विचारधारा के संदर्भ में "कार्यात्मक" दृष्टिकोण का प्रतिपादक है। इसमें:

- क्रिया दिग्विन्यास,
- तर्कसंगति को प्रोत्साहित या नष्ट करने की सामर्थ्य,
- सामाजिक समैक्य प्राप्त करने की क्षमता; और
- मूल्य समाकलन अंतर्निहित हैं।

विचारधारा की "कार्यात्मक" प्रकृति, सामाजिक चेतना के उन रूपों से भी है, जो किसी भी वर्गीय समाज के उत्पादन के शोषणकारी संबंधों को बनाए रखने में गठित किए जाते हैं। विचारधारा का सामान्य कार्य, भ्रमिक सामाजिक संबंधों एवं वर्ग प्रभुत्व के द्वारा सामाजिक सम्बद्धता को बनाए रखना है। इस प्रकार, विचारधारा सामान्य तौर पर चेतना का एक भ्रमिक रूप है। सामाजिक चेतना के अंग के रूप में, विचारधारा सामान्य रूप से सामाजिक संरचना में प्रत्येक व्यक्ति को प्रभावित करती है। तथापि, विचारधारा चेतना से स्वतः स्फुटित नहीं होती। दूसरे शब्दों में, चेतना (एक विकासात्मक अर्थ में) विचारधारा में परिवर्द्धित नहीं होती है। सबसे पहले विचारधारा के उद्भव का एक भौतिक आधार होता है। इसके कार्य का विवेचन, सामाजिक संरचना की समग्रता के अंतर्गत उत्पादन के सामाजिक संबंधों को लक्ष्य करते हुए किया जाता है। अनिवार्यतः, वर्ग संबंधों के संबंध में अन्वेषक यह सोचने को बाध्य है कि विचारधारा किसके हित में है। यह एक विशिष्ट सामाजिक संरचना है जिसका एक अंग विशिष्ट विचारधारा है एवं इसके उपयुक्त एक वर्ग-संघर्ष है, जो उस विशिष्ट विचारधारा के चरित्र को निर्धारित करता है।

संक्षेप में, समाजशास्त्री दृष्किोण मुख्यता विचारधारा के एक समाज निर्धारित विचारों की प्रणाली से संबंधित है। लेकिन आवश्यक सत्य-मूल्य से रहित है। परन्तु इसमें सामाजिक समैक्य, नियंत्रण, गतिशीलता और जोड़-तोड़ में विचारधारा के प्रबल सामर्थ्य को रेखांकित किया गया है। इसके साथ ही, विचारधाराएं किन्हीं विशेष उद्देश्यों और मूल्यों को उचित सिद्ध करने (या अस्वीकृत करने) और राजनीतिक-सत्ता को वैधता प्रदान करने (या भर्त्सना करने) में प्रयुक्त हो सकती है। कुछ समाजशास्त्री विचारधारा को अप्रतिष्ठाजनक अर्थ में देखते हैं, जबकि अन्य इसका तटस्थ भाव से अध्ययन करते हैं।

6.2.3 मनो-सांस्कृतिक दृष्टिकोण

मनोवैज्ञानिक सिद्धांत विचारधारा को मुख्यतया समाज अथवा मनोविज्ञान प्रेरित व्यक्तिगत तनाव एवं दुश्चिंता को नियंत्रित करने के साधन के रूप में देखते हैं। सिगमंड फ्रायड (Sigmund Freud) एवं फ्रांसिस सटन (Francies Sutton) इस दृष्टिकोण के मुख्य प्रतिपादकों में से थे।

फ्रायड ने धर्म और विचारधारा में समानता बताते हुए कहा : "धार्मिक मत भ्रमपूर्ण है, वे प्रमाण नहीं मानते और उन्हें सत्य मानने या उसमें विश्वास करने के लिए किसी को भी बाध्य नहीं किया जा सकता···"

धार्मिक विचारों की क्षमता इस मायने में है कि यह:

- इच्छा-पूर्ति की क्रिया का निष्पादन करती है,
- व्यक्ति-विशेष को संरक्षण एवं सुरक्षा प्रदान करती है,
- सहजवृत्तिक व्यवहार को नियंत्रित एवं मनुष्य को अपराध-बोध से मुक्त करती है, और
- समाज से मनुष्य की असंबद्धता को प्रभावहीन करती है।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

फ्रायड द्वारा प्रयुक्त "धर्म" को "विचारधारा" द्वारा प्रतिस्थापित किए जाने को, उनके इस वक्तव्य से और बल मिलता है:

"धार्मिक मतों की भ्रांतियां स्वीकृत कर लेने के पश्चात, हमारे सम्मुख एक नया प्रश्न उठ खड़ा होता है : क्या सभी सांस्कृतिक प्रतिमान, जिन्हें हम बहुत महत्व देते हैं एवं जिनसे हम अपने जीवन को नियमित होने देते हैं, भी समान प्रकृति के हैं? क्या उन मान्यताओं को, जो हमारी राजनैतिक संस्थाओं का नियम करती हैं, भी इसी प्रकार भ्रान्तियां कहा जाए?"

सटन व उनके सहयोगी विचारधारा की धारणा को सामाजिक भूमिकाओं द्वारा जनित तनाव के जवाब के रूप में प्रस्तुत करते हैं। व्यक्ति प्रतिदिन अपने कर्तव्यों को निभाते हुए, परस्पर विरोधी अपेक्षाओं एवं चिंताजनक स्थितियों का सामना करता है। विचारधारा एक विचार-प्रणाली है जो मनुष्यों को तानव का सामना करने के योग्य बनाती है।

ऐसा मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण हमें मैक्स वेबर द्वारा आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक संस्थाओं के "धार्मिक-लंगरगाह" पर महत्व को याद दिलाता है। प्रमुखतः क्योंकि "धर्म" मनुष्य का अभाव और वंचना की स्थितियों में मुक्तिदाता रहा है। वेबर ने सोचा कि विशिष्ट धार्मिक अभिलक्षण न केवल सम्बद्ध सामाजिक एवं आर्थिक परस्थितियों से आंशिक रूप से स्वतंत्र हैं, बल्कि जीवन आचरण एवं "आर्थिक आचार-शास्त्र" का धार्मिक निर्धारण भी एक प्रमुख पहलू है। इस प्रकार, वेबर का एक प्रतिमार्क्सीय दृष्टिकोण था।

यद्यपि विचारधारा और तनाव के मध्य कुछ संबंध हैं, वास्तविक अनुबंध किसी प्रकार से स्पष्ट अथवा सरल नहीं है। ऐसा इस कारण है क्योंकि व्यक्ति कई तरीकों से तनाव के प्रति प्रतिक्रिया व्यक्त कर सकते हैं। अतः विचारधारा दबाव के प्रत्युत्तर का केवल एक तरीका है। विश्वास प्रणालियां हैं।

विचारधारा के मनो-सांस्कृतिक दृष्टिकाणों के अंतर्गत लियोन् (Leon Dion) विचारधारा को "एक लगभग समग्र सांस्कृतिक एवं मानसिक संरचना के रूप में निर्दिष्ट करता है।" इससे उसका तात्पर्य प्रतिमानों और मूल्यों के एक ऐसे प्रतिरूप से है जो वस्तुनिष्ठ (सांस्कृतिक) और व्यक्तिनिष्ठ (मानसिक) दोनों ही है। क्लिफोर्ड गीर्ज़ (Clifford Geertz) इसे प्रतीकों एवं प्रतीकात्मक क्रिया के रूप में परिभाषित करता है। उसके लिए विचारधारा, तनाव के

प्रति केवल मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रिया से बढ़कर है; इसमें सामाजिक एवं सांस्कृतिक तत्वों का भी समावेश है। मोटे तौर पर, विचारधारा एक सांस्कृतिक प्रतीक-प्रणाली है जो मनुष्य को उसके राजनैतिक जीवन का मार्ग-निर्देशन करती है : "विचारधाराएं चाहे और कुछ भी हों··· वे बहुत स्पष्ट तरीके से जटिल सामाजिक वास्तविकता के नक्शे एवं सामूहिक विवेक के निर्माण के मैट्रिक्स हैं।"

हमने विचारधारा की धारणा के संदर्भ में कई दृष्टिकोणों को रेखांकित एवं कुछ विस्तार तक उनका अध्ययन किया। प्रत्येक दृष्टिकोण विचारधारा की संकल्पना के एक भिन्न आयाम पर प्रकाश डालता है : सम्मिलित रूप से ये अपनी असाधारण शानदार विरासत उजागर करते हैं। विचारधारा एक भावयुक्त, मिथक-संतृप्त, कार्य-सम्बद्ध आस्थाओं और मूल्यों की प्रणाली है, जो मनुष्यों और समाज, वैधता एवं सत्ता से संबंधित है। विचारधारा के मिथकों और मूल्यों का संचारण सरल तरीके से प्रतीकों द्वारा किया जाता है। विचारधारा में जन-गतिशीलता, हेर-फेर और नियंत्रण की उच्च क्षमता होती है, इस संदर्भ में विचारधाराएं संघटित विश्वास प्रणालियां हैं।

बोध प्रश्न 1

1) बेकन द्वारा उल्लिखित चार प्रकार के व्यामोहों का वर्णन कीजिए।

....

....

....

2) मार्क्स एवं एंगेल्स द्वारा "विचारधारा" को किस प्रकार समझा गया? लगभग दस पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

....

....

....

....

....

....

....

....

....

....

....

3) परेटो द्वारा परिभाषित मानव-आचरण की कौन-सी श्रेणियां हैं?

....

....

....

6.3 धर्म, विचारधारा और समाज

धर्म एवं विचारधारा का अभिनिर्धारण किए बिना, पिछले तीन दशकों के, विशेष रूप से मार्क्सवादियों के, लेखन ने इन दोनों के अध्ययन को सांस्कृतिक विधाओं और प्रक्रमों के रूप में पर्याप्त रूप से समृद्ध किया है।

धर्म और समाज के मध्य संबंधों के संदर्भ में मार्क्स-एंगेल्स के धर्म के प्रति अव्यवस्थित और बिखरे हुए संदर्भों का उल्लेख किया जा सकता है। मार्क्स ने 1844 में लिखा, "अधार्मिक आलोचना का आधार है- **मनुष्य धर्म की सृष्टि करता है,** धर्म मनुष्य की नहीं। धर्म मनुष्य की स्व-चेतना और आत्म-सम्मान है, जिसने या तो अभी तक स्वयं प्राप्त नहीं किया है या पुनः खो चुका है।"

मार्क्स के अनुसार, "मनुष्य दुनिया से परे, अमूर्त रूप से पड़ाव डाले नहीं है।" मनुष्य के लिए इस भ्रम से बाहर निकलने का एक ही तरीका है कि इसे उत्पन्न करने वाली सामाजिक परिस्थितियों को समाप्त किया जाए। जैसा कि मार्क्स ने प्रस्तावित किया है:

MAADHYAM IAS

"**धार्मिक** दुःख एक ही समय वास्तविक दुःख की अभिव्यक्ति और वास्तविक दुःख के विरुद्ध **प्रतिवाद** है। उत्पीड़ित प्राणी धर्म की छांव में ठंडी सांस लेता है।"

अतः धर्म के विरुद्ध संघर्ष, आवश्यक रूप से उस समाज के विरुद्ध संघर्ष है, जो धर्म से महिमा-मंडित है और धर्म जिसकी दिव्य सुरभि है। इस अभिप्राय में धर्म "मनुष्य के लिये अफीम" बन जाता है। यहां मार्क्स विचारधारा की अपनी धारणा के एक निर्णायक मुद्दे का पूर्वानुमान करता है। यह कि धर्म मस्तिष्क में अपर्याप्त यथार्थता की क्षतिपूर्ति करता है; यह कल्पना में एक समनुगत (स्थिर विचारशील) समाधान को पुनर्स्थापित करता है, जो वास्तविक दुनिया की असंगतियों को सुलझाने के प्रयास में इसके परे भी चला जाता है। इस प्रकार, मार्क्स इसकी पुष्टि करता है कि वैचारिक प्रतिलोमता की यथार्थ की प्रतिलोमता के प्रति जवाबदेही होती है और पहले की दूसरे से व्युत्पत्ति भी होती है। जैसे कि वह कहता है "मनुष्य ही मनुष्य, राज्य, समाज की दुनिया है। ये राज्य, समाज एक प्रतिलोभ विश्व चेतना और धर्म का निर्माण करते हैं क्योंकि उनका एक प्रतिलोभ विश्व है"।

मुख्य रूप से, धर्म के समाजशास्त्र के प्रारंभिक प्रवक्ता दुर्खीम (Durkheim) ने विचारधारा के रूप में धर्म की बहस में योगदान दिया। मार्क्स की भांति दुर्खीम ने स्पष्ट किया कि धर्म और विचारधारा का एक सामाजिक आधार होता है। यह आधार विशेष रूप से सामजिक संबंधों और संगठनों के प्रतिरूपों में होता है किंतु उनकी कुछ अंश तक स्वायत्ता भी होती है, जो संस्कृति से जुड़े विशिष्ट नियमों पर आधारित है।

मैक्स वेबर, दुर्खीम के एक कनिष्ठ समकालीन और बिस्मार्कीय जर्मनी की देन थे। वे न केवल भारत और चीन जैसे विशिष्ठ देशों के धर्मों पर, बल्कि विशिष्ट धर्मों और धर्म के समाजशास्त्र पर अपने विस्तृत लेखन के लिए विख्यात है। धर्म के समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से उन्होंने सामाजिक संगठनों और धार्मिक विचारों के मध्य निम्न तीन प्रकार के संबंधों पर प्रकाश डालाः

क) विशेष आर्थिक हितों युक्त सामाजिक समूह, अक्सर दूसरों की तुलना में स्वयं को किन्हीं धार्मिक विचारों के प्रति अधिक ग्राह्य होते हैं। जहां शूरवीर लड़ाकू नायक, राजनैतिक अधिकारी वर्ग, आर्थिक रूप से अभिग्रहणशील वर्ग या अंत में, एक संगठित वर्ग जहां धर्म का प्रमुख स्थान था, कुल परिणाम वहां से भिन्न थे जहां भद्र बुद्धिजीवी निर्णायक थे। सामाजिक स्तर जिसमें उद्योगों में संलग्न कारीगर, व्यापारी , उद्यमी होते हैं, वे मुक्ति के सभी प्रकार के व्यक्तिगत प्रयत्नों की ओर आकर्षित होते हैं। सर्वत्र शासक-वर्ग ने धार्मिक मूल्यों की व्यवस्था पर एकाधिकार करने का प्रयास किया है। चिंतन, रहस्यानुष्ठानों या वैराग्य के साधनों द्वारा मुक्ति के लिए व्यक्ति विशेष की खोज या स्वतंत्र समुदायों की तलाश पर अत्यधिक संदेह किया जाता रहा है और उसको अनुष्ठानिक और धर्मतंत्रीय पद्धति से नियमित तथा नियंत्रित किया जाता रहा है। सत्तासीन पुरोहितवाद के हितों के दृष्टिकोण से, यह स्वाभाविक माना जाता था।

ख) धार्मिक विचार कुछ निश्चित समुदायों के निर्माण में सहायता करते हैं जैसे मठवादी व्यवस्थाएं, जादूगरों के संघ या एक पुरोहित वर्ग और ये समुदाय आर्थिक गतिविधियों में व्यापक रूप से संलग्न हो जाते हैं।

ग) कुलीन और जन-साधारण के बीच खाई की समस्या का विश्व के सभी बड़े धर्मों में से हर एक को, सामना करना पड़ा है। चीन के धर्म, विशेष रूप से कन्फुयशियसवाद और ताओवाद, के संदर्भ में वेबर कहता है कि कैसे कन्फुयशियसवाद सम्राट और प्रशासनिक क्षेत्र तक सीमित रहा और मोटे तौर पर जन-साधारण इससे वंचित रहा। इसके विपरीत, भारत में ब्राह्मणों ने, जो राज-पुरोहित, आध्यात्मिक सलाहकार, धर्मशास्त्री और धार्मिक मर्यादा के प्रश्नों पर विशेषज्ञ थे, "जादू की एक क्रमबद्ध बुद्धिसंगत व्याख्या" की। उन्होंने अपने स्वयं के सम्मानपूर्वक जीवन के अभिजात्य हितों और उनके द्वारा जन-साधारण की विपत्ति मिटाने की आवश्यकता के मध्य समझौतावादी दृष्टिकोण अपनाया।

वेबर ने निश्चय ही इस प्रकार के विश्लेषण द्वारा सामाजिक समुदायों और आस्था-प्रणालियों या विचारधाराओं के मध्य "निर्वाचित सापेक्ष बंधुताओं" का एक अत्यन्त सूक्ष्मग्राही और जटिल ब्यौरा प्रस्तुत किया है। तथापि, वेबर की "धार्मिक लंगरगाह" की धारणा और उसके लोगों के कार्यों का निर्धारण करने में "भौतिक हितों" के स्थान पर "विचारों" के फैलने के प्रभाव पर बल देना उसे प्रातिमार्क्सीय बना देता है।

विचारधारा के विश्लेषण में नवीन अध्ययन इसकी और व्याख्या करने में संलग्न है कि क्यों और कैसे विचारधारा एक विशेष रूप ग्रहण करती है और कैसे यह कार्य करती है। इससे दो महत्वपूर्ण बातें सामने आती हैं:

i) प्रथम, गीर्ज की "प्रतीकात्मक नियम की स्वायत्त प्रक्रिया" पर अधिक ध्यान दिया गया है, जिसका अध्ययन हम-पहले ही (देखें भाग 6.2.3) कर चुके हैं। इसके अंतर्गत विचारधाराओं का, दिलचस्प प्रतीकों की प्रणालियों और उन शैलियों के तहत जिसमें वे समस्याग्रस्त सामाजिक यथार्थता की युक्तिसंगत व्याख्या करते हैं, अध्ययन किया जाता है। इससे हमें प्रतीकात्मक प्रक्रियाओं की जटिल और दुरुह प्रकृति को समझने में सहायता मिली है, और जिसका केवल मिथ्याचेतना बनाम सत्य-चेतना के रूप में विभेदन नहीं किया जा सकता।

ii) द्वितीय, अब वर्गों और समुदायों के संदर्भ में विचारधारा के क्षेत्र (अध्ययन) को एक विवाद और "जीवंत संबंध" के रूप में कि एक यांत्रिक क्रिया के तौर पर देखा जाता है।

6.4 विचारधारा : प्रारंभिक भारतीय परिवेश

प्रारंभिक भारतीय धर्मों की विशिष्टताओं के विवेचन से पूर्व कतिपय मूलभूत सवालों का सामना करना जरूरी है। यदि विचारधारा को शासक (प्रभावी) वर्गों के हितों के अधीन समझा जाए, तो क्या हम इसी के साथ शासित वर्ग की विचारधारा के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं? इन प्रभावी विचारों के अस्तित्व का क्या कारण है? क्या ये इसलिए प्रभावी हैं कि इनमें स्वयं शासित वर्ग की व्यापक सह-भागीदारी होती है? किन परिस्थितियों में शासित वर्ग के संदर्भ में विश्व उन व्याख्याओं का सहभागी हो जाता जो मौजूदा समाज-व्यवस्था को प्रभावी वर्ग की दृष्टि में ही नहीं, उनकी स्वयं की दृष्टि में उचित ठहराता है। क्या हम यह मानते हैं कि शासित वर्ग के विचार इसलिए विचारधारा नहीं बन सकते क्योंकि वे मौजूदा सामाजिक-व्यवस्था को औचित्य प्रदान नहीं करते?

यहां हम सैद्धांतिक दृष्टि से भारतीय धर्मों की कुछ अवस्थाओं (पहलुओं) पर प्रकाश डालेंगे। भारतीय परिदृश्य सभी प्रश्नों का समाधान नहीं कर पाएगा, फिर भी प्रारंभिक भारत में विचारधारा के रूप में धर्म के कार्य के प्राचलों (पैरामीटर) का निर्धारण करना उचित रहेगा।

प्रारंभिक काल में हड़प्पाकाल में शहरीकरण की वृद्धि के लिए धर्म का एक "तीव्रकारी कारक" अथवा उत्प्रेक होने के सवाल को हाल ही के कुछ विशेष अध्ययन में प्रमुखता दी गई है। धर्म को जिस प्रकार नकारात्मक साक्ष्य पर इसके लिए श्रेय दिया गया है, वह इतना स्पष्ट है कि उसे अनदेखा नहीं किया जा सकता है। इसी प्रकार, इसे विचारधारा के सदृश्य समझने का प्रयास भी अतिशयोक्तिपूर्ण है। यद्यपि कतिपय सामाजिक वर्गीकरणों का अनुमान करना संभव है, किंतु कौशाम्बी के मताग्राही दावे, कि ब्राह्मण पुरोहितवाद का आदिरूप हड़प्पा के महानगरों में देखा जा सकता है, से सहमत होना मुश्किल है। यहां तक कि अन्य कांस्य युग सभ्यताओं के समकालीन केन्द्रों की समतुल्यता (समानांतरता) के संदर्भ में वी. गॉर्डन चाइल्ड द्वारा सुमेर के पुरोहिती राजाओं पर किए गए सुस्पष्ट अवलोकन की सहायता लेनी होगी, यथा यह आर्थिक व्यवस्था थी "जिसने ईश्वर को (अपने प्रतिनिधि द्वारा) एक बड़े पूंजीपति और ज़मीदार को उसके मंदिर के लिये नगर बैंक में परिवर्तित कर दिया। यह लोगों की अतिरिक्त अनाज उत्पन्न करने की क्षमता ही रही होगी, जिससे मोहनजोदड़ों, हड़प्पा और संभवतः कालीबंगा में भी विशाल अन्न भंडारकों की आवश्यकता पड़ी। इसी संदर्भ में आंतरिक एवं लंबी दूरी के स्थल मार्गीय और समुद्रीय व्यापारों की विस्तृत क्रियाविधि तथा प्रभावी प्रतीक लोथल का "भंडार-गृह" समझा जा सकता है, भी उल्लेखनीय है। ये निश्चय ही उन धार्मिक अभिव्यक्तियों का निर्माण करने में सहायक रहे होंगे जिनके बारे में हम अनुमान कर सकते हैं।

MAADHYAM IAS

उत्तर वैदिक युग में मूल उत्पादकों और उत्पादन व्यवस्थापकों के अस्तित्व को विद्वानों द्वारा सामान्य तौर पर स्वीकार किया जाता है। हमारा कहना है कि न केवल इन दोनों के मध्य बल्कि अनुत्पादक (उत्पादन से न जुड़े) वर्गों के मध्य भी (ब्राह्मणों और क्षत्रियों) प्रतिद्वंद्विता थी। इस दूसरे संघर्ष की व्याख्या अतिरिक्त अनाज को हथियाने के संदर्भ में की जा सकती है। लेकिन क्या ये गौरवपूर्ण ब्राह्मणों की बलिदान संबंधी पद्धति और **उपनिषदों** की आत्म-विद्या क्रमशः ब्राह्मणों और क्षत्रियों की विचारधारा का निर्माण करती हैं? इन दोनों को शासक वर्ग की विचारधारा कहने के लोभ से शायद नहीं बचा जा सकता। तथापि, ऐसा चरित्र-चित्रण न केवल एकांगी है बल्कि इन धार्मिक-दार्शनिक व्यवस्थाओं के विकास के द्वंद्व-न्याय को भी नकारता है। यह कि इनमें से कोई भी अखंडित समान विचार नहीं है, विभिन्न बलिदानों के संक्षिप्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है। जैसे राजसूय की कई रस्मों में से केवल एक **रत्नाहविंशी** प्रथा यह बताती है कि कैसे कबीलाई और मातृक तत्व, वर्ग में मिला दिए गए हैं, और कैसे पुरोहितों के प्रभुत्व का स्थान क्षत्रियों द्वारा प्रतिस्थापित होता है। इस तथ्य की उपेक्षा नहीं की जा सकती कि बलिदानों ने सगोत्रता के आधार से परे विशाल समुदायों की स्थापना की ओर लक्ष्य किया। मगध के व्रत्य सरदारों का वैदिक समाज में प्रवेश विस्तृत धार्मिक अनुष्ठानों के साथ हुआ और निशाद के सरदार, जो स्थपति कहलाते थे, को उच्च-वर्गीय वैदिक अनुष्ठानों में प्रवेश मिला।

इसी प्रकार सामान्यतः यह भी स्वीकार किया जाता है कि ब्राह्मण संस्कृत रचनाओं के मुकाबले बौद्ध पाली ग्रंथ राजत्व की उत्पत्ति का भिन्न तर्क देते हैं। यह भी कि, ईसा पूर्व छठी-पांचवी सदियों के काल में गंगा घाटी के नए राजाओं की गैर-ब्राह्मणवादी धर्मों के प्रति कृपा-दृष्टि थी। किन्तु महात्मा बुद्ध के विचारों को क्षत्रिय विचारधारा के रूप में देखना एक अति सरलीकृत व्याख्या होगी। ऐसा केवल इसलिए नहीं कहा जा रहा है कि सभी संबंधित राजतंत्र निश्चय ही क्षत्रियों के हाथों में नहीं थे, लेकिन इसलिए भी कि यह प्रारम्भिक बौद्ध धर्म के सामाजिक आधार को गलत ढंग से सीमित करेगा। महात्मा बुद्ध को किसानों और व्यापारियों द्वारा प्राप्त भौतिक संरक्षण के अलावा, जो निश्चित ही उच्च वर्ग के प्रभाव से मुक्त थे, बुद्ध की ब्राह्मणों के मध्य भी व्यापक प्रसिद्धि का ज्ञान न हो, ऐसी बात नहीं है।

अशोक का **धम्म**, जो शाब्दिक अर्थ में कुछ भी हो, धर्म हर्गिज नहीं है। शायद विचारधारा के निकट है, एक और विश्व-रूप प्रस्तुत करता है। यदि **धम्म** के आदेशों को समझा जाए तो हमें उस तथाकथित "दार्शनिक-राजा" और कलिंग युद्ध की महान घटना के "क्रांतिकारी" प्रभाव के घेरे से बाहर निकलना होगा। राज्य और साम्राज्य

की धारणा संबंधी नवीन अध्ययन "केंद्रीकृत" मौर्य साम्राज्य के मत का खंडन करते हुए, हमें व्यवस्था के आर्थिक तर्कशास्त्र की अनिवार्यता से परिचित कराते हैं तथा अशोक के धम्म में अंतर्निहित मुख्य कारकों को स्पष्ट करते हैं।

6.5 विचारधारा : उत्तर-गुप्त शताब्दियों में इसकी प्रकृति और भूमिका

चूंकि हमारा संबंध आठवीं और तेरहवीं शताब्दियों के मध्य समाज और संस्कृति की विस्तृत रूपरेखा के अंतर्गत विचारधारा से है, इसके कार्यों और भूमिका का आकलन करना उचित होगा। हम उत्तर गुप्त-शताब्दियों में भूमि-अनुदान के अर्थशास्त्र की प्रधानता पर बल देते आए हैं। क्या इसकी लगभग अखिल भारतीय विस्तार की संवृत्ति को विचारधारात्मक बल के रूप में देखा जाए? भूमि-अनुदान आखिर क्यों?

6.5.1 भूमि-अनुदानों का दर्शन

हमारे मुख्य स्रोतों में से एक, पुरालेखीय अभिलेखों, में एक असंगतता देखने में आयी है। एक तरफ वे, भू-भागीय शक्ति के लिए राजाओं की निर्दयता, हिंसा और लोलुपता के वृतांतों से भावपूर्ण हैं, जबकि दूसरी ओर, ये ही राजा ब्राह्मण आदाताओं के प्रति उदार भाव रखते हैं। शायद ये अनुदान राजाओं के मिथ्याभिमान (गर्व) के प्रदर्शन-मात्र थे। दाता और उसके पूर्वजों के लिए महिमायुक्त पदवियों सहित आडम्बरपूर्ण वंशावलियां राजनीतिक चाटुकारिकता के अतिश्योक्तिपूर्ण उदाहरण है। स्पष्टतया, इसमें स्वयं दानी राजाओं के स्वार्थ सम्मिलित थे। प्रकट रूप से इन विस्तृत बड़े उपहारों का उद्देश्य न केवल दाताओं बल्कि उनके पूर्वजों के लिए भी पुण्य अर्जित करना था।

यह कहा जाता है कि भूमि-अनुदानों से निःस्वार्थ ब्राह्मणों को वित्तीय सहायता प्राप्त होती थी जो ज्ञान और शिक्षा के प्रसार के कार्य में संलग्न थे। यह भी कि ब्राह्मण एक सरल और सादा जीवन निर्वाह करते थे। यह अत्यधिक सरलीकृत तर्क है क्योंकि हम पहले ही (इकाई 5.6.1 और 5.6.4) देख चुके हैं कि ब्राह्मणों के व्यवसायों में विविधता प्रकट हो रही थी। ब्राह्मणों का पुरोहितों से ज़मींदारों में स्पष्टतः रूपांतरण हुआ — वे एक संपत्ति चाहने और सम्पत्ति पर अधिकार करने वाले वर्ग के रूप मे उभर रहे थे।

उल्लिखित पुरोलेखीय प्रमाण का एक महत्वपूर्ण आयाम, धर्मशास्त्रीय प्रदर्शनों और अभिलेखों में उपहार देने की शब्दावली के मध्य सामंजस्य है। दान (उपहार देना) की सम्पूर्ण धारणों में एक विचारणीय परिवर्तन हुआ। धर्मशास्त्र इस प्रकार संसार में किए गए पापों के लिए प्रायश्चित (पश्चाताप) को महत्व देते हैं। कल्पना कीजिए, कौन सा राजा पापों और अतिक्रमणों से मुक्त रहा होगा? आखिरकार, वे सब लूट, आगजनी और हत्याओं (विशेष रूप से युद्धों में) के लिए जिम्मेदार थे। विधि-निर्माताओं ने, जो बिना अपवाद ब्राह्मण होते थे, पापों और दंडों की एक श्रेणीगत प्रणाली और महापातका जैसी धारणा द्वारा लोगों में भय की भावना व्याप्त की। प्रायश्चित के सिद्धांत से जुड़े राजाओं की अपराध-बोध की भावना का ब्राह्मणों द्वारा शोषण किया जाता था। उनके द्वारा गायों, बैलों, भूमि और स्वर्ण के बड़े उपहार देने की सलाह दी जाती थी, यदि राजा अगले जन्म में स्वयं या अपने पूर्वजों के लिए एक कीड़े या निम्न पशुवृत जैसी दयनयी ज़िंदगी नहीं चाहते थे। सभी उपहारों में, भूमि का स्थान सर्वोच्च था। व्यास, जिसे पुरोलेखीय अभिलेखों में अधिकतर उद्धृत किया जाता, का यह मानना था कि भूमिदानकर्ता 16,000 वर्षों तक स्वर्ग में रहेगा। इसी तरह कई पुराण यह बताते हैं कि भूमिदाता के भाग्य में अप्सराओं का आनंदमय साथ रहेगा। ब्राह्मण विधि-निर्माताओं के लिए पवित्र ग्रंथ, गूढ़-सिद्धांत और परंपरागत कार्यों तक ही सीमित नहीं रहे बल्कि ये नीति-सूचक वक्तव्यों के साधन बन गए।

क्या वे राजा जिन्होंने भूमि के विस्तृत उपहार दिए, केवल ब्राह्मणों की धन लोलुपता के शिकार थे? निश्चय ही ऐसा नहीं है। राजनीतिक सत्ताओं के लिए वैधता की खोज एक महत्वपूर्ण उद्देश्य था (इस विषय को खंड 3 में विस्तार से समझाया गया है, विशेष रूप से देखें इकाई 9.7, 10.4 और 11.5)। यहां इस संदर्भ में दाता और आदाता दोनों ही के हितों की पारस्परिकता को रेखांकित करना पर्याप्त होगा। प्रशस्तिकार (स्तुतिकर्ता) धर्मशास्त्रकार (विधि निर्माता) और पुरोहित, (राज दरबार में कार्यरत ब्राह्मण) सभी इस नई उपजी व्यवस्था में सहयोगी थे।

यह नई व्यवस्था उत्तर-गुप्त शताब्दियों की सांस्कृतिक लोकनीति (लोकाचार) में वैसे व्यक्त होती है? ऐसा प्रतीत होता है कि वैचारिक धरातल पर, उत्तर-गुप्तकाल में सम्पूर्ण उप-महाद्वीप में दो स्पष्ट उपभेद नज़र आते हैं, यथा भक्ति का प्रसार और तांत्रिक पद्धतियों का व्यापक प्रभाव। इनके इस विस्तृत प्रचलन की व्याख्या, उत्पादन की सामंतीय प्रणाली के विस्तार, जिसकी प्रतीक भूमि-अनुदान की धारणा है, के संदर्भ में की जा सकती है।

6.5.2 भक्ति और तीर्थयात्रा

छठी शताब्दी के मध्य से लेकर लगभग 500 वर्षों तक, शैव तथा वैष्णव संतों (क्रमशः नयनार और अलवार) तथा उनके अनुयायियों ने भक्ति को ग्रामीण क्षेत्रों में अपनाया तथा प्रचारित किया। वे गाते-नाचते तीर्थ-स्थलों पर जाते थे। कुल मिलाकर, इसका स्वरूप प्रारंभिक मध्यकालीन भारत के आदर्श ब्राह्मणवादी समाज की संरचना के

समान था। यह (भक्ति) छठी शताब्दी में पल्लवों के अधीन कांचीपुरम् क्षेत्र से उपजी, तथा नवीं शताब्दी के अंत तक तमिलाहम के पूरे भाग को पार कर चोलों, पाण्डयों तथा चेरों के सभी राज्यों को अपने प्रभाव में ले लिया। यदि हम एक नवीन विश्लेषण को आधार बनाएं तो उत्तर में भक्ति आंदोलन, जिसका प्रतीक प्रसिद्ध ***भगवत पुराण*** है, भी तमिल संतों के प्रोत्साहन का ही परिणाम था। आंदोलन के प्रसार में इसके मंदिर आधार का घनिष्ठ संबंध है। ये मंदिर अपने आर्थिक संरक्षण के लिए न केवल राजाओं तथा प्रमुख राज-जनों बल्कि समाज के प्रभावशाली लोगों द्वारा किए गए भूमि-अनुदानों पर निर्भर रहते थे। पल्लवों, चोलों, अलवारों और नयनारों पर कुछ नवीन लेखन, कावेरी घाटी में धान की खेती की बढ़ती महत्ता और फलस्वरूप ब्राह्मणवादी व्यवस्थापन, जो बदले में चोल शक्ति को बढ़ाने में सहयोगी रहा, पर प्रकाश डालते हैं। इसे स्पष्ट करने हेतु, कावेरी में मंदिर आंदोलन के प्रसार का अध्ययन किया जा सकता है। तीन प्रसिद्ध नयनारों यथा अप्पार, संबन्धार और सुंदरार ने क्रमशः 307, 384 और 100 भजन गाए जिनमें उन्होंने लगभग क्रमशः 126, 231 और 85 मंदिरों का जिक्र किया। इन 442 मंदिरों में से, 315 मंदिर चोल-युग से संबंधित थे, जो सभी कावेरी घाटी में केन्द्रित हैं (126 नदी के उत्तर में, जबकि 189 इसके दक्षिण में)। यहँ मंदिर भक्ति आंदोलन सामंतवादी प्रमुखों और राजाओं द्वारा राज-शक्ति हासिल करने का एक प्रमुख साधन था। यह इस बात से स्पष्ट हो जाता है कि एक ओर मंदिर तथा उसके संचालकों और दूसरी और राजा तथा उसके परिजनों के प्रति उपयोग में लाये जाने वाली शब्दावली और प्रतीकों में समानता थी।

उदाहरणार्थ—कोयिल महल और मंदिर दोनों के लिए प्रयुक्त होता है, मुकुटधारी देवी-देवता मुकुटधारी राजा सदृश्य थे, पूजा पद्धति की संकल्पना राजा की सेना की पूजा पद्धति पर आधारित थी, देवी-देवता को स्नान करवाना, अभिषेक करना, शृंगार करना, आभूषण पहनाना—ये सब राजमहल की प्रथा के प्रतिरूप थे। मंदिरों को कर और भेंट राजाओं के समान ही दिए जाते थे क्योंकि महल की भांति मंदिर का निर्माण भी मंडपों, प्राकारों, द्वारपालों इत्यादि सहित किया जाता था। मंदिर की मुख्य देवी (या देवता) के साथ राजा के समान, सहयोगी और परिजन होते थे, जिनकी सेना के लिए संगीतज्ञों, नृतकियों, विदूषकों एवं मालाकारों की एक बड़ी जमात होती है। बहुविधता और अपने अधीनस्थों पर अधिकार जमाए सामंतों के सह-अस्तित्व रूप सामंती पिरामिड से तुलना करने पर भक्ति आंदोलन में भी हम बहुविधता और विभिन्न देवी-देवताओं के सह-अस्तित्व की स्पष्ट पहचान पाएंगे—प्रत्येक देवी (या देवता) अपने भक्तों के लिए मालिक (सामंत) का दर्जा रखता है। भक्त अक्सर देवी/देवता को ***अदैयार*** या ***ताम्बीरान*** से संबोधित करते हैं जिनका अर्थ "शासक" और "मालिक" है और स्वयं को ***अदियान*** अर्थात् गुलाम समझता है। ब्राह्मण-शक्ति के बढ़ने के दौरान महानता की निशानी यह थी कि आत्मा (मनुष्य) द्वारा अहंकार को त्यागकर "मालिक(ईश्वर)" के 'दास के दास के दास" का स्थान ग्रहण करना चाहिए, जैसा कि कुलशेखर अलवार ने कहा। इसके साथ यह भी कहना होगा कि धार्मिक लागों ने सम्मिलित रूप से पुण्य कमाने, नियमित तीर्थ यात्राओं का कार्यक्रम विकसित किया। यह सर्वविदित है कि प्रारंभिक मध्यकाल का केवल ब्राह्मण साहित्य ही 400 से अधिक तीर्थों का वर्णन करता है और केवल महाभारत तथा पुराणों में 40,000 श्लोक तीर्थ, उपतीर्थ और उनसे संबंधित दंत कथाओं से, संबंधित है। और यही नहीं—इसमें न केवल बहुसंख्य ***स्थलपुराणों*** को ही किंतु ब्राह्मण और गैर-ब्राह्मण तीर्थ-केन्द्रों से संबंधित तीर्थों पर विशिष्ट सार-पुस्तिकाएं भी सम्मिलित की जा सकती हैं।

6.5.3 तंत्रवाद

उत्तर-गुप्त शताब्दियों में भक्ति के समान तंत्रवाद सभी धर्मों में व्याप्त था। इससे तथाकथित अतिनैतिकतावादी गैर-ब्राह्मण धार्मिक व्यवस्थाएं भी बच नहीं सकीं। आर. एस. शर्मा ने इसकी, मातृ (जननी) दैवी की उपासना-पद्धति के प्रचलन के संदर्भ में व्याख्या की है, जिसे भूमि-अनुदानों के कारण कृषि के विस्तार का परिणाम माना जा सकता है। इस विश्लेषण का एक सुंदर आयाम, पुरोहितीय संस्कृत तथा जनजातीय अवयवों की सांस्कृतिक अन्योन्यक्रिया है। हाल ही के, एक साहित्यिक तथ्यों पर आधारित अध्ययन के अनुसार ***मर्कण्डेय पुराण*** की ***देवी महात्म्या*** (लगभग छठी शताब्दी) संस्कृत में प्रकट होने वाला देवी का प्रथम बोधशील वर्णन है—इसके स्पष्टीकरण को संस्कृतिकरण के संदर्भ में खोजा जा सकता है। यह ध्यान देने की बात है कि देवी-पूजा की मूल-प्रेरणा स्रोत गैर-आर्यवादी और गैर-संस्कृतीय है। केवल मध्य प्रदेश में ही शक्ति मूर्तिकला के एक सर्वेक्षण में 400 प्रतिमाओं का ज्ञान होता है। उनमें से बहुत के नाम जैसे चारचिका, उमरी माता, बिजासनी देवी, बेहामाता, बिरासनी देवी इत्यादि उनकी लोकप्रिय जनजातीय देवियों के नामों को प्रदर्शित करते हैं।

6.5.4 वीर-स्तम्भ

हाल ही के कुछ वर्षों में, कुछ अत्यधिक प्रेरक और उत्साहवर्धक लेखन में मृत्यु की धारणा पर इसके कर्मकाण्डों, धार्मिक विश्वासों तथा रिवाज़ों, कला रूपों और सबसे बढ़कर सामाजिक-आर्थिक विकास के साथ संबंधों पर प्रकाश डाला गया है। इनके परिणामस्वरूप उपमहाद्वीप के धार्मिक तथा कला-इतिहास के एक अंधकारमय क्षेत्र में एक विशिष्ट शैली के साहित्य का प्रादुर्भाव हुआ। यह अध्ययन वीर-स्तम्भों पर केन्द्रित है जो भारतीय उपमहाद्वीप के बहुत से भागों में पाए जाते हैं। इन स्मृति चिह्नों का 1500 वर्षों से भी अधिक लंबा और लगभग निरंतर इतिहास रहा है, जो ब्राह्मण तथा गैर-ब्राह्मण, दोनों धर्मों में मिलता है। ये स्थानीय रूप से ***विराग, नाटूगल, पालिया, गोवर्धना-स्तम्भ, कीर्ति-स्तम्भ, छाया-स्तम्भ*** या केवल ***छतरियां, स्तम्भ*** देवली इत्यादि। इन

पट्टिकाओं या स्तम्भों को कई श्रेणियों में इनके संरक्षकों की धर्म-विधियों या पंथिक पद्धतियों और साथ ही धार्मिक एवं सामाजिक रिवाजों के आधार पर विभाजित किया गया है। ***छाया-स्तम्भ*** सबसे प्रारंभिक पुरातत्वीय प्रमाण में माना जाता है, और ऐसा लगता है कि इसकी जड़ें बौद्ध धर्म की सामाजिक पद्धति से है। केवल जैन अनुयायियों के मृत्यु संबंधी कर्मकाण्डों और पद्धतियों का प्रतिनिधित्व ***निसिधी*** करती है। ***विरागल*** या कम से कम इस शब्द का प्रचलन यदि दक्षिण भारत की परंपरागत भौगोलिक सीमाओं को नहीं तो धार्मिक सीमाओं को लांघता है। ***कीर्ति-स्तम्भ, पालिया, छतरी, देहली और स्तम्भ*** हिमालय और विध्यांचल के मध्य अधिकतर गुजरात और राजस्थान में पाए जाते हैं। वीर-स्तम्भों की शैली मे परिवर्तन स्मरण किए जाने वाले वीरों की प्रतिष्ठा में परिवर्तन को प्रतिबिंबित करता है। कालांतर में, उच्च जाति समुदायों के वीरों, जो अक्सर क्षत्रिय होने का दावा करते थे, का सुपरिष्कृत स्तम्भों द्वारा स्मरण किया जाने लगा। वीर के धार्मिक सम्प्रदाय का संकेत भक्ति मत के प्रभाव के कारण रहा होगा। अतिसंवेदनशील आधार पर यह माना जाता है कि स्थलाकृतिकीय और पारिस्थिकीय दृष्टि से इन स्मारकों की बहुलता उच्चभूमि भागों, घाटियों के दर्रों के आस-पास, परंपरागत रूप से समझे जाने वाले सीमांत क्षेत्रों, जो अक्सर प्रमुख चरागाही क्षेत्र होते हैं, वनों के परिसर और भारत के जनजातीय भू-भाग कहे जाने वाले क्षेत्रों में पायी जाती है। वीर-स्तम्भ, सिंधु और गंगा घाटियों के विस्तृत कृषि-भू-भागों और प्रायद्वीप के प्रचुर-कृषि युक्त डेल्टा क्षेत्रों में अपेक्षाकृत कम पाए जाते हैं। सीमांत क्षेत्र अक्सर मध्यवर्ती (प्रतिरोधक) प्रदेशों का कार्य करते थे, जहां राजनीतिक सुरक्षा अस्थायी होती थी और जहां राज्य की सेनाएं आवश्यक रूप से स्थानीय लोगों की रक्षा की जिम्मेदारी नहीं लेती थी। अतः सुरक्षा हेतु उन्हें अपने तरीकों पर निर्भर रहना पड़ता था, जिसमें गांव के वीर (नायक) या गांव-प्रमुख मुख्य भूमिका निभाते थे···

यह सामरिक (सैनिक) कर्तव्यों के एक विकेंद्रीकृत राजनीतिक व्यवस्था में विभेदीकरण को प्रकट करता है। चूंकि ये स्मृति चिह्न छठी शताब्दी के बाद के काल से प्रचुर संख्या में पाए गए हैं—इस कारण एक तरफ भूमि-अनुदानों के विस्तार और दूसरी ओर इन स्मारक-स्तम्भों के मध्य किसी प्रकार के सहसंबंधों और सामंजस्य का अध्ययन करना उचित होगा। यह निम्न मान्यताओं के संदर्भ में और भी आवश्यक है :

क) भूमि-अनुदानों की संवृद्धि कृषि के विस्तार से जुड़ी हुई है,

ख) स्मारक-स्तम्भ और भूमि-अनुदान दोनों ही साम्प्रदायिक एकीकरण की दिशा में उपयोगी तंत्र थे—पंधारपुर (महाराष्ट्र) में विथोबा के सम्प्रदाय में वीर-स्तम्भ को एक उपासना देवी के रूप में परिवर्तित करना; और

(ग) दोनों ही संवृत्तियां राज्य-निर्माण की प्रक्रिया में भी उपयोगी रही है।

6.5.5 धर्म विचारधारा के रूप में—किसके लिए?

उत्तर-गुप्त शताब्दियों में भारतीय उपमहाद्वीप के लोगों के धार्मिक-दार्शनिक दृष्टिकोण की प्रमुख अभिव्यक्तियाँ जैसे भक्ति, तंत्रवाद, तीर्थयात्रा इत्यादि का प्रसार भूमि-अनुदान अर्थव्यवस्था की देन थे। इस प्रक्रिया में ब्राह्मणों को सर्वाधिक लाभ हुआ और जिन्होंने शायद चेतन रूप से समकालीन शासकों के साथ सहयोग कर इसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि तैयार की होगी, परंतु इसे केवल प्रभावी ब्राह्मण विचारधारा के संदर्भ में ही तर्कसंगत ढंग से नहीं समझा जा सकता। निश्चय ही, एक तरफ ब्राह्मणों और दूसरी ओर जनजातियों के मध्य सहजीवी संबंध को नकारना असंभव है। विचारों का आवागमन दोनों तरफ से था। प्रतिमा-संबंधी अध्ययन इस तथ्य की पुष्टि करते हैं, जो अब तक केवल दिव्य प्रतिमाओं और उनके लक्षणों की पहचान, वर्णन और व्याख्या में संलग्न करते हैं। मुख्यतया कला-इतिहास के ही एक हिस्से के रूप में माने जाने वाले इन अध्ययनों को बृहत और लघु स्तरों पर सामाजिक-आर्थिक परिवर्तनों के अभिसूचक के रूप में शायद ही देखा गया हो। प्रतिमा-विज्ञान को धर्म-इतिहास के ही एक हिस्से के रूप में मानते हुए, तमिल प्रदेश में वैष्णव प्रतिमा-विज्ञान पर एक नवीन कार्य, इसके विकास क्रम को पूर्व-पल्लवीय शताब्दियों की लोक-गतिविधियों और जन-जातीय संप्रदायों के एकीकरण द्वारा समझाने का प्रयास करता है। इसी प्रकार, एक आम अध्ययन मुरूगन के विकार में सांस्कृतिक संलयन-प्रक्रिया और संस्कृति-संक्रमण के माध्यमों का एक सूक्ष्म-परीक्षण करता है। शैव कुल की इस महत्वपूर्ण उपासना देवी के विकास को दो सांस्कृतिक धाराओं—"संस्कृति" और "तमिल" के, बिना उनमें से एक की भी "अखण्डित या एक आयामीय" मानते हुए, के अभिसरण के रूप में देखा जाता है। दक्षिण-भारतीय शैव परंपरा के अंतर्गत बलिदान और दैवीय विवाह का एक विश्लेषण भी किया गया है। ऐसा उन कई परंपराओं के परिप्रेक्ष्य में किया गया है, जो उनके निर्माण में सहयोगी रही हैं, जैसे वैदिक, महाकाव्यीय, पौराणिक, प्राचीन तमिल और दक्षिण लोक-प्रथाएं।

बौद्धों और जैन अनुयायियों के बारे में क्या कहें? भूमि-अनुदान व्यवस्था के प्रभावों से भी मुक्त नहीं थे। यद्यपि बौद्धों के प्रभाव का दायरा सिकुड़ रहा था, जैन धर्म के साथ यह बात नहीं थी। विशेष रूप से कर्नाटक, गुजरात और राजस्थान में उसका जन-मानस पर अच्छा प्रभाव था। परन्तु भक्ति, तांत्रिक पद्धतियां और तीर्थयात्रा की धारणाएं उनके मन के भी मुख्य अंग बन चुके थे। उत्तर-गुप्त कालीन दक्षिण भारत में तथाकथित "ब्राह्मण-किसान सहयोग" का विचार बहुत अपर्याप्त और बहुत अविश्वसनीय आधार पर लम्बित है। यहां तक कि यदि भक्ति की भूमिका का विचारधारा के रूप में पूरी तरह से मूल्यांकन किया जाए तो ब्राह्मण-राजा सहयोग के संरक्षण के काल में मंदिर-आंदोलन के ग्राम्य-आधारित होने की परिकल्पना अपूर्ण सिद्ध होती है। उदाहरण के तौर पर तमिलाहम में भी, जहां इस ग्राम्य-आधारित मॉडल को प्रयुक्त किया गया, विस्तृत आंतरिक व्यापार तंत्र के साथ ही साथ एक

महत्वाकांक्षी सामुद्रिक व्यापार का कार्यक्रम भी देखने में आया है। व्यापारियों और दुकानदारों का मंदिर-आंदोलन की वृद्धि में क्या योगदान था? शायद अलवारों और नयनारों की आक्रामक प्रवृत्ति से, विशेषतः प्रारंभिक कुछ सदियों में गैर-ब्राह्मण धर्म तमिलाहम से लगभग लुप्त हो गए थे, जिन्हें पहले वहां के समुदायों द्वारा सहयोग मिलता था। क्या व्यापारियों और दुकानदारों ने अपनी संलग्नता को नए मंदिर-आंदोलन की ओर मोड़ दिया था? और क्या उन्हें किसी वैचारिक आश्रय (सहारे) की जरूरत नहीं थी? इसके स्पष्ट प्रमाण हैं कि व्यापारियों और उनकी सभाएं (नागरम्) का भूमि पर नियंत्रण था और इसकी कृषि पैदावार में भी रुचि थी। आगे, क्या मंदिरों ने जन-साधारण और पुरोहित वर्ग के बीच भाषा और कर्मकाण्डों के अवरोध खड़े नहीं करने चाहे? यदि विचारधारा को सामान्यता वर्ग-संघर्षों और विशेष रूप से शासक वर्ग के हितों के प्रक्रम में ही परखा जाए तो भक्ति की भूमिका को कैसे समझाया जा सकता है? यह दुविधा अन्य मुख्य उत्तर-गुप्त कालीन धार्मिक अभिव्यक्तियों के साथ भी रहेगी। समाज में धर्म की भूमिका को, विशेषतः एक विचारधारा के रूप में, जन-साधारण न कि वर्गों को प्रभावित करने की क्षमताओं के संदर्भ में देखना चाहिए।

बोध प्रश्न 2

1) धर्म, विचारधारा और समाज के मध्य संबंधों की चर्चा कीजिए। 15 पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

....
....
....
....
....
....
....
....
....
....
....
....
....
....
....

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

2) उत्तर-गुप्तकालीन शताब्दियों में विचारधारा ने क्या भूमिका अदा की? दस पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

....
....
....
....
....
....
....
....
....
....

3) कौन से कथन सही अथवा गलत हैं? सही (√) अथवा गलत (×) का निशान लगाइए :

i) भक्ति, तंत्र-विज्ञान, धर्म-यात्रा आदि भूमि-अनुदान अर्थव्यवस्था का परिणाम थे।

ii) धार्मिक विचारों की समूहों, जैसे धर्मसंघों के निर्माण में कोई भूमिका नहीं थी।

iii) मार्क्स के अनुसार, "धर्म शोषित वर्ग की आह है।"

iv) मार्क्स ने नहीं कहा कि "धर्म जनता के लिए अफीम है।"

v) ब्राह्मण ग्रंथ पूर्व मध्यकाल में 400 तीर्थों का वर्णन करते हैं।

6.6 सारांश

यह इकाई तीन मुख्य विषयों से संबंधित थी, यथा विचारधारा के सैद्धांतिक आयाम, धर्म और विचारधारा एवं उनका समाज में स्थान तथा अंत में इन सबका सहस्राब्दि में विशिष्ट भारतीय परिवेश में अनुप्रयोग।

विचारधारा के सैद्धांतिक आयामों के महत्वपूर्ण पहलू बताते हैं:

- विचारधारा को परिभाषित करने में जटिलताएं,
- विचारधारा का इसकी प्रवृति और कार्यों के संदर्भ में तथा विचारधारा का एक राजनीतिक विश्वास संहति के रूप में, के मध्य अंतर;
- विचारधारा को एक ज्ञान की प्रणाली के रूप में मानने का यह आधार है कि सभी विचार, सभी ज्ञान और मानव समझ की क्षमताएं संवेदिक तथ्यों पर निर्भर करती हैं;
- समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से, मार्क्स और एंगेल्स पर विशेष लक्ष्य करते हुए, विचारधारा पर आधारित लेखन की मुख्य अवस्थाएं;
- विचारधारा के मनो-सांस्कृतिक आयामों के आधारभूत पक्ष और उनकी समीक्षा; और
- विचारधाराओं द्वारा जनता की संघठित और जोड़-तोड़ करने की महत्वपूर्ण क्षमता।

धर्म और विचारधारा का समाज में स्थान से संबंधित भाग में ध्यान आकर्षित किया गया है :

- विचारधारा के विश्लेषण में नवीन अध्ययन का जो इसकी उन्नत व्याख्या करना चाहते हैं कि विचारधारा क्यों और कैसे एक विशेष रूप ग्रहण करती है तथा वह कार्य कैसे करती है; और
- विचारधारा की प्रकृति, भूमिका और कार्यों संबंधी कतिपय सवाल।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

विचारधारा के सैद्धांतिक विवेचन से उठे मुद्दों को सहस्राब्दि के विशिष्ट भारतीय परिवेश में—हड़प्पाकाल से तेरहवीं शताब्दी तक लागू किया गया है। इस चर्चा के मुख्य बिन्दुओं में सम्मिलित हैं:

- धार्मिक विचारों की स्वायत्ता की परिकल्पना की खामियां,
- धर्म और विचारधारा को आधिपत्य तथा प्रभुत्व का क्षेत्र दिया जाना जरूरत से ज्यादा बढ़कर और अन्यायसंगत है,
- उत्तर गुप्त-शताब्दियों में भूमि-अनुदानों की पृष्ठभूमि; और
- धर्म की, विशेष रूप से एक विचारधारा के रूप में, समाज में भूमिका के अध्ययन की आवश्यकता, इसकी जन-साधारण को न कि वर्गों को प्रभावित करने की क्षमताएं।

6.7 शब्दावली

आदियान : दास

अलवार : वैष्णव संत

महापताका : बड़ा पापकर्ता

मंडप : महल/मंदिर में मंडप

नयनार : शैव संत

प्रकारा : महल/मंदिर का परकोटा

राजसूय : एक वैदिक बलिदान

उदयार : ईश्वर/मालिक

विरागल : वीर-स्तम्भ

6.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) ये कबीलों, गुफाओं, बाज़ारों और नाट्यशालाओं की मूर्तियां हैं। देखें उपभाग 6.2.1
2) उपभाग 6.2.2 के आधार पर अपना उत्तर दीजिए।
3) उपभाग 6.2.2 के आधार पर अपना उत्तर दीजिए।

बोध प्रश्न 2

1) अपने उत्तर को मार्क्स, वेल्हर और गीर्ज़ के विचारों के आधार पर दीजिए।
2) भाग 6.5 और उसके उपभागों के आधार पर अपना उत्तर दीजिए।
3) i) √ ii) × iii) √ iv) × v) √

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

इकाई 7 क्षेत्रीय सांस्कृतिक परम्पराओं का विकास

इकाई की रूपरेखा

7.0 उद्देश्य
7.1 प्रस्तावना
7.2 मंदिर स्थापत्य
- 7.2.1 प्रमुख शैलियां
- 7.2.2 देवी-देवता
- 7.2.3 मंदिरों के आकार, योजना और शब्दावली
- 7.2.4 पारिस्थितिकी, निर्माण सामग्री और क्षेत्रीयता
- 7.2.5 अलंकरण के स्वरूपों की भूमिका

7.3 भवन योजना और निर्माण
7.4 कालक्रमानुसार और भौगोलिक आधार पर मंदिरों का विस्तार
7.5 मंदिर और भारतीय सांस्कृतिक लोकाचार
7.6 मूर्तिकला : पत्थर और धातु की मूर्तियां
7.7 चित्रकला, मिट्टी की मूर्तियाँ और "मध्यकालीन प्रभाव"
7.8 शिक्षा-दीक्षा
7.9 स्थानीय ऐतिहासिक अभिलेख और कालक्रम
7.10 नई धार्मिक प्रवृत्तियां
7.11 सारांश
7.12 शब्दावली
7.13 बोध प्रश्नों के उत्तर

7.0 उद्देश्य

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

इस इकाई में आपको प्रादेशिक सांस्कृतिक परम्पराओं के विकास से परिचित कराया जाएगा। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप:

- क्षेत्रीय सांस्कृतिक इकाइयों के उदय का उल्लेख कर सकेंगे;
- कला, साहित्य, शिक्षा, पढ़ाई और धर्म संबंधी क्षेत्रीय आयामों को रेखांकित कर सकेंगे;
- स्थापत्य की शैलियों का विकास बता सकेंगे और विभिन्न मंदिरों को वर्गीकृत करने का आधार जान सकेंगे;
- स्थापत्य संबंधी शब्दावली को समझ सकेंगे;
- पर्यावरण और मंदिर संरचना के बीच के संबंध को स्पष्ट कर सकेंगे;
- निर्माण-सामग्री की उपलब्धि और मंदिर निर्माण पर उसके प्रभाव को सूत्रबद्ध कर सकेंगे;
- सम्पूर्ण सांस्कृतिक माहौल में मंदिर की भूमिका का महत्व बता सकेंगे;
- पत्थर और धातु की मूर्तिकला में स्थानीय शैलियों के उदय पर प्रकाश डाल सकेंगे;
- भाषा, लिपि, कालक्रम और काल संबंध प्रादेशिकता को समझ सकेंगे;
- मध्यकालीन सामंती संस्कृति का फैलाव और उसके सांस्कृतिक आयाम की चर्चा कर सकेंगे।

7.1 प्रस्तावना

भारतीय सांस्कृतिक परम्परा के निर्माण की दृष्टि से 8वीं शताब्दी से 13वीं शताब्दी के बीच के समय का अपना अलग महत्व है। इस काल में सभी क्षेत्रों में प्रादेशिकता का जन्म हुआ। चाहे राजनीतिक शक्ति का निर्माण हो, चाहे कला के विकास का मामला हो, भाषा और साहित्य का क्षेत्र हो या धर्म का, प्रत्येक चीज़ में प्रादेशिकता का रंग मिल गया। समग्र रूप में यह कहा जा सकता है कि महत्वपूर्ण भौतिक परिवर्तनों के कारण आंध्र प्रदेश, असम, बंगाल, गुजरात, कर्नाटक, केरल, महाराष्ट्र, उड़ीसा, राजस्थान, तमिलनाडु आदि क्षेत्र सांस्कृतिक इकाइयों के रूप में उभरे। जैसा कि खंड 1 में बताया जा चुका है कि कृषि और गैर-कृषि क्षेत्र में हो रहे परिवर्तन से सामंती

व्यवस्था का सामाजिक-आर्थिक आधार निर्मित हो रहा था। (इस तथ्य की चर्चा इस खंड की इकाई 5 में भी की गई है।) आगे के खंड 3 में हम देखेंगे कि इन गतिविधियों से राजनीतिक ढांचा भी अप्रभावित नहीं रहा।

इन परिवर्तनों के कारण सांस्कृतिक लोकाचार भी प्रभावित हुआ। पांचवी शताब्दी में विशाखदत्त रचित संस्कृत नाटक ***मुद्राराक्षस*** में विभिन्न प्रदेशों के अलग रीति-रिवाज़ों, पहनावे और भाषा का उल्लेख मिलता है। चीनी तीर्थयात्री ह्वेन सांग सातवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारत आया था, उसने कई राष्ट्रीयताओं की चर्चा की है। आठवीं शताब्दी के जैन ग्रंथ कुवल्यमाल में मुख्य रूप से पश्चिमी भारत की चर्चा की गई है। इसमें 18 प्रमुख राष्ट्रीयताओं का उल्लेख किया गया है और 16 तरह के लोगों की मानवीय विशेषताओं का उल्लेख किया गया है। इस क्रम में, उनकी मनोवैज्ञानिक बनावट और भाषा के उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं। तेरहवीं शताब्दी बंगाल के ब्रह्मवैवर्त पुराण में "देशभेद" का उल्लेख मिलता है। इसका अर्थ है—विभिन्न प्रदेशों/राज्यों की विभिन्नता।

7.2 मंदिर स्थापत्य

हज़ारों वर्षों से भारतीय मंदिर लोगों की जीवन शैली के स्वरूप का प्रतिनिधित्व करते आ रहे हैं। संपूर्ण भारत में विभिन्न कालों के भारतीय मंदिरों पर विचार करने से एक समग्र दृश्य उपस्थित होता है। पांचवी शताब्दी में सांची में एक साधारण-सा मंदिर निर्मित हुआ। उसके बाद मंदिर स्थापत्य तेजी से विकसित हुआ। कांची, तंजावूर और मदुरई में बने भव्य मंदिर इसके प्रमाण हैं। परन्तु यह विकास एकाएक नहीं हुआ, बल्कि यह हज़ारों वर्षों की विकास-यात्रा का परिणाम है।

मंदिर स्थापत्य से सम्बद्ध प्रमुख शिल्पशास्त्र निम्नलिखित हैं:
मायामत, मनसर, शिल्परत्न, कामिकाजम, कश्यपशिल्प; और इशानगुरूदेवपद्धति।

इन सभी शिल्पों में तीन बातों का ध्यान रखा जाता था:

- भौगोलिक विभिन्नता
- आकार के आधार पर विभिन्नता
- उनके प्रमुख देवी-देवता और जाति

इन सभी शास्त्रों में उपर्युक्त सारे विषयों का उल्लेख नहीं है। कामिकज्ञम और कश्यपशिल्प जैसे बाद के ग्रंथों में इस बात का उल्लेख भी मिलता है कि विभिन्नता का मुख्य आधार अलंकरण का स्वरूप, विभिन्न तल या मंज़िलें और प्रसाद का आकार आदि होता था।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

7.2.1 प्रमुख शैलियां

प्राचीन ग्रंथों में भारतीय मंदिर स्थापत्य को तीन कोटियों में विभाजित किया गया है। नागर, द्रविड़ और बेसर जैसे नाम मंदिरों के आकार-प्रकार और भौगोलिक विशेषताओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। नागर शैली के मंदिर चौकोर आकार के होते थे, द्रविड़ शैली में मंदिर अष्टकोणीय होते थे, और बेसर शैली के मंदिर बहुकोणीय होते थे। नागर और द्रविड़ शैली के मंदिर आमतौर पर उत्तरी और दक्षिण मंदिर शैलियों का प्रतिनिधित्व करते हैं। पूरे उत्तर भारत में, हिमालय की तलहटी से लेकर दक्खन के मध्य पठार तक उत्तर भारतीय शैली के मंदिर मिलते हैं। इसके बावजूद, इनमें कुछ क्षेत्रीय विभिन्नता भी पाई जाती है। अपराजितपृच्छ नामक ग्रंथ में नागरी (नागर) शैली को मध्य देश (मोटे तौर पर गंगा-यमुना के मैदानी इलाके) की शैली कहा गया है; इसी प्रकार लाटी और वैराटी गुजरात और राजस्थान प्रदेश की शैलियों का प्रतिनिधित्व करते हैं। उड़ीसा के स्थानीय अभिलेखों में उड़ीसा मंदिर शैली के चार प्रमुख रूपों का उल्लेख मिलता है। ये हैं: रेखा, भद्र, खारखर और गौदिया।

द्रविड़ या दक्षिण शैली में अपेक्षाकृत एकरूपता मिलती है। कृष्णा नदी और कन्याकुमारी के बीच के इलाकों में इसी शैली का बाहुल्य है। बेसर शैली का अर्थ बहुत स्पष्ट नहीं है। कुछ ग्रंथ इस शैली का विस्तार विंध्य और कृष्णा नदी के बीच के इलाकों में मानते हैं, जबकि कुछ ग्रंथ इसका फैलाव विंध्य और अगस्त्य के बीच मानते हैं। अगस्त्य किस जगह स्थापित था, इसके बारे में कुछ निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है। वस्तुस्थिति यह है कि नागर शैली के मंदिर दक्षिण में धारवाड़ (कर्नाटक) में भी मिले हैं और द्रविड़ शैली के मंदिर उत्तर में एलोरा (महाराष्ट्र) में भी बने हैं। अतः इन शैलियों को भौगोलिक सीमा में बांधना बहुत संगत नहीं है। कुछ विशेष कालखंड में विभिन्न प्रदेशों की शैलियां एक-दूसरे में घुल-मिल गई हैं। मसलन सातवीं-आठवीं शताब्दी में चालुक्य राज्य उपमहाद्वीप के बिल्कुल बीच में अवस्थित थे। खजुराहो का कंदरिया महादेव मंदिर विभिन्न शैलियों का सुंदर समुच्चय है। इसी प्रकार, केरल के मंदिरों में योजनागत कई विभिन्नताएं। इनमें चौकोर, गोल और बहुकोणीय इमारतों का उपयोग किया गया है। केरल में, मंदिरों का निर्माण बारहवीं शताब्दी में शुरू हुआ था।

7.2.2 प्रमुख देवी-देवता

मंदिरों में केवल ब्राह्मण धर्म के आराध्य शिव और विष्णु ही स्थापित नहीं हैं, बल्कि देवीयों को भी मंदिरों में स्थापित किया गया था। वस्तुतः मंदिरों में बड़े और छोटे देवी-देवताओं, परोपकारी तथा अपकारी, स्वार्गिक तथा पार्थिव, वातावरण और स्वर्ग के प्रतिनिधि देवी-देवता, देव और असुर तथा यक्ष, यक्षी, अप्सरा और किन्नर जैसे लोक देवी-देवताओं को आराध्य बनाकर भी मंदिर बने। यह एक रोचक तथ्य है कि इन देवी-देवताओं के वाहन जानवर और पक्षी भी अपनी साधारणता से ऊपर उठकर आराधना के प्रतीक बन गए। शिव का वाहन बैल (नंदी) ईश्वर की यौन शक्ति का प्रतीक बन गया; दुर्गा का वाहन शेर मज़बूत शक्ति और आक्रमण का प्रतीक बन गया। गंगा और यमुना जैसी नदी-देवियों का प्रतिनिधित्व क्रमशः उनके वाहन घड़ियाल और कछुआ करने लगे। लक्ष्मी का अस्तित्व हाथी, कमल के फूल और पानी से जुड़ गया। इन प्रतीकों के माध्यम से लक्ष्मी न केवल भाग्य की देवी के रूप में अवतरित हुई, बल्कि कृषीय उत्पादकता की जादुई शक्ति से भी इसका संबंध जोड़ दिया गया। यह धारणा ऋग्वेदकाल से ही चली आ रही थी। "हंस पर आरूढ़ सरस्वती" सौम्यता और चारूता की देवी बन गई; वह नीर-क्षीर-विवेक का प्रतिनिधित्व करने लगीं और उनका संबंध शिक्षा तथा अध्ययन से जुड़ गया। कश्यप शिल्प के एक अध्याय में इन देवियों को स्थापित करने की शैली का विस्तार से वर्णन किया गया है। इसके अनुसार, शांतमूर्तियों को नागर शैली में स्थापित किया जाना चाहिए; दम्पत्ति देवी-देवताओं को बेसर शैली में और शौर्य, नृत्य तथा सुख में लिप्त देवी-देवताओं को नागर ढांचे में स्थापित किया जाना चाहिए। परन्तु व्यावहारिक रूप में इन सिद्धांतों का अक्षरशः पालन नहीं किया गया। इसी प्रकार, कुछ ग्रंथों में यह विवरण मिलता है कि नागर, द्रविड़ और बेसर शैलियां क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्णों के साथ सम्बद्ध थीं, इस उल्लेख को भी हूबहू स्वीकार नहीं करना चाहिए।

बोध प्रश्न 1

1) हमें क्षेत्रीय सांस्कृतिक इकाइयों के बारे में जानकारी कैसे प्राप्त हुई?

....

....

....

....

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

2) मंदिर स्थापत्य से सम्बद्ध छः प्रमुख ग्रंथों का नाम लिखिए।

1) ....

2) ....

3) ....

4) ....

5) ....

6) ....

3) तीन प्रमुख शैलियों का उल्लेख कीजिए। उनकी भौगोलिक स्थिति को भी स्पष्ट कीजिए।

....

....

....

....

4) विभिन्न शैलियों के मंदिरों में स्थापित प्रमुख देवी-देवताओं का उल्लेख कीजिए।

....

....

....

....

....

7.2.3 मंदिरों के आकार, योजना और शब्दावली

प्रत्येक मंदिर शैली की अपनी एक खास तकनीकी शब्दावली थी; कुछ शब्द आम थे, परन्तु प्रत्येक शैली में उनका प्रयोग अलग-अलग भागों के लिए किया जाता था। मुख्य उपासना स्थल को विमान कहते थे, जिसमें गर्भगृह स्थित रहता था। विमान के ऊपर के भाग को शिखर कहा जाता था। पूजा करने के लिए बने स्थान को मंडल कहते थे। विमान, मंडल और प्रदक्षिणापथ को जोड़ने वाले गलियारे को अंत्रालय कहा जाता था। प्रदक्षिणापथ गर्भगृह और मंडल के चारों ओर रहता था। देवी-देवताओं को चमत्कार और महिमा से मंडित करने के लिए बाद में नटमंदिर (नृत्य का स्थान) और भोग मंदिर जोड़े गए। कोणार्क का प्रसिद्ध सूर्य मंदिर इसका जीता जागता उदाहरण है। नागर शैली के मंदिर का बाहरी भाग समतल रूप में कई स्तरों पर विभक्त होता था। भुवनेश्वर के लिंगराज मंदिर का जगमोहन (गर्भगृह के सामने का भाग) इसका अच्छा उदाहरण है। विमान ज्यादातर गोलाकार होते थे। आधारभूत तौर पर उत्तर के ब्राह्मण और जैन मंदिरों में कोई स्थापत्यगत समानता नहीं थी। उनमें बस एक ही समानता थी कि दोनों प्रकार के मंदिरों में क्रमशः देवी-देवताओं और तीर्थकरों को व्यापक रूप में स्थापित किया गया था।

द्रविड़ शैली बहुकोणीय थी। इसका शिखर आमतौर पर अष्टकोणीय होता था और ऊंचे विमान आयताकार होते थे। द्रविड़ शैली के मंदिर अपने ऊंचे गोपरम या बड़े दरवाजों के लिए प्रसिद्ध थी। महाबलीपुरम (मद्रास के निकट) स्थित पल्लव काल (सातवीं शताब्दी) के गणेश रथ से तंजाउर स्थिर चोलों (985-1012) के बृहदेश्वर मंदिर तक द्रविड़ शैली का लगातार विकास हुआ।

7.2.4 पारिस्थितिकी, निर्माण सामग्री और क्षेत्रीयता

पारिस्थितिकी ने मंदिर स्थापत्य को काफी प्रभावित किया और इसके कारण उनमें प्रादेशिक पुट आ गया। भारत के पश्चिमी तट पर और बंगाल में अपेक्षाकृत अधिक वर्षा होती है, इसलिए यहां के मंदिरों की छतें ढलवां हैं। इसमें तिकोनी लकड़ियों का उपयोग किया गया है। हिमालय क्षेत्र में बर्फ और तूफान से बचाव करने के लिए मंदिरों में लकड़ी की ढलवां छतें बनाई गई हैं। आमतौर पर गर्म और सूखे इलाके में छतें सपाट होती थीं; बरामदे खुले और छायादार होते थे। रोशनी के लिए झिल्लीदार चट्टानों का उपयोग किया जाता था। **ऐचोल** (उत्तर कर्नाटक) में बने चालुक्यों के प्रसिद्ध **लडखन** मंदिर में इस प्रकार की कुछ विशेषताएं मिलती हैं। इस पर ग्रामीण स्थापत्य का सीधा प्रभाव है, जिसमें लकड़ी और खरपत का उपयोग किया जाता था। ऊंची पहाड़ियों पर बने होने के कारण जैन मंदिरों का स्थापत्य अलग ढंग का होता था। इनके ढांचे में अकेलेपन और एकांत का भाव कूट-कूट कर भरा हुआ है। इस प्रकार के कुछ मंदिरों के उदाहरण गुजरात की शत्रुंजय और पालिताना पहाड़ियों पर मिल जाएंगे। दक्षिण राजस्थान में माउंट आबू पर स्थित दिलवारा मंदिर इसका अच्छा उदाहरण है।

MAADHYAM IAS
way to achieve your dream

पारिस्थितिकी के अलावा, भवन निर्माण के लिए उपलब्ध कच्चे माल के कारण भी मंदिर शिल्प प्रभावित हुआ। तीसरी शताब्दी ई. पू. में मौर्य काल के दौरान भवन के निर्माण के लिए लकड़ी के स्थान पर पत्थर का इस्तेमाल किया जाने लगा। भवन निर्माण के क्षेत्र में यह एक बड़ी उपलब्धि थी। परन्तु कच्चे माल की स्थानीय उपलब्धि से क्षेत्रीय शैलियां काफी प्रभावित हुई, इससे मंदिर के निर्माण और नक्काशी पर भी प्रभाव पड़ा। पल्लव राजा महेंद्र वर्मन (सातवीं शताब्दी का आरंभ) को वित्रचित्र कहा जाता था, क्योंकि वह हमेशा नए प्रयोग करता रहता था। उसने ईंट, लकड़ी और चूने के स्थान पर पत्थर का उपयोग करना शुरू किया। महाबलीपुरम में उसके द्वारा बनाए गए मंदिर इसका प्रमाण हैं। कड़े पत्थरों पर नक्काशी कम हुई, जबकि मुलायम पत्थरों पर नक्काशी की मात्रा अधिक पाई जाती है। वेल्लूर और हेलविड (कर्नाटक) स्थित बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी के होयसाल शिल्पियों और कारीगरों ने भुरभुरी और परतदार चट्टानों का उपयोग किया तथा नक्काशी को प्रोत्साहन दिया। जहां अच्छे पत्थर उपलब्ध नहीं थे, वहां ईंटों का उपयोग भी होता रहा, ईंट की ढलाई और नक्काशी की तकनीक से इन इलाकों का मंदिर स्थापत्य भी प्रभावित हुआ। बंगाल में बिशनपुर स्थित मंदिर इसका प्रमाण है। उत्तरी-पूर्वी राज्य आसाम में मंदिर स्थापत्य में लकड़ी और बांस की तकनीक का सुंदर उपयोग मिलता है। हिमालय की घाटी में कुलु, कांगड़ा और चंबा में पत्थर से बने मंदिर नहीं मिलते हैं। यह स्पष्ट है कि इन इलाकों में मंदिर निर्माण के लिए ईंट और लकड़ी का उपयोग होता था। कश्मीर के पत्थर से बने मंदिरों में ढलवां और तिकोनी छतें हैं। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि लकड़ी से बनी इमारतें भी इसी तरह की होंगी। कांगड़ा घाटी के मसरूर में हुई खुदाई में नवीं शताब्दी या उसके आसपास का बना एक बहुमंजिला मंदिर मिला है।

7.2.5 अलंकरण के स्वरूपों की भूमिका

विभिन्न शैलियों में सजावट, अलंकरण और अन्य सज्जा का समावेश स्वाभाविक प्रक्रिया है। परन्तु यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि मंदिर के आधारभूत स्थापत्य पर इस अलंकरण का कोई प्रभाव नहीं पड़ता था। अलंकरण और साज-सज्जा का विकास धीरे-धीरे हुआ। आरंभिक पल्लव काल की इमारतों में आयताकार खंभे मिलते हैं, जिनपर छैनी से अलंकरण किया गया है (यह खराद कला का नमूना प्रतीत होती है)। होयसल मंदिरों के खंभों पर इसी प्रकार का अलंकरण मिलता है। मदुरै और रामेश्वरम में बने बाद के मंदिरों में लंबे गलियारे हैं, जिसके स्तंभों पर जानवरों के चित्र उकेरे गए हैं। ताक, पैविलियन और घोड़े के नाल के आकार की खिड़कियां (कुडु)

अलंकरण के प्रमुख प्रकार थे। इनसे अलंकरण के विकास के निर्धारण में सहायता मिलती है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि अलंकरण की प्रवृत्ति लगातार बढ़ती गई। उदाहरणस्वरूप, महाबलिपुरम के स्मृति स्तंभ का शीर्ष सादा बेलचे के आकार का है, जबकि चोल स्मृति स्तंभों में शीर्ष पर शेर के सर की आकृति है। उत्तर भारत में भी अलंकरण की प्रवृत्ति तेजी से बढ़ी। शिखर, अंदरूनी छतों और दीवारों पर विशेष रूप से नक्काशियां की गई। माउंट आबू स्थित दिलवारा जैन मंदिर की अंदरूनी छतों पर अति सुंदर नक्काशी की गई है। पर इस अलंकरण का स्थापत्य की दृष्टि से उपयोग नहीं है और विशुद्ध रूप से अलंकरण का उदाहरण हैं।

मालाबार, बंगाल और पूर्वी तथा पश्चिमी हिमालय प्रदेश के मंदिर बहुमंजिले हैं। एक के बाद एक छतों के निर्माण को अक्सर इन मंदिरों की विशेषता के रूप में देखा जाता है। पश्चिमी तट या मालाबार के मंदिर की दीवारें लकड़ी की पटरियों से बनाई जाती थीं। चौदहवीं शताब्दी के पत्थर के बने मंदिर भी मिले हैं। इस प्रकार के मंदिरों (मसलन, त्रिचुर का वदक कुंठ मंदिर — 15-16 वीं शताब्दी) में या तो सामान्य प्रकार की छत होती थी, जिनमें एक के ऊपर एक पत्थर के टुकड़े लगाए जाते थे या एक के ऊपर एक छतों का सिलसिला होता था। चीन और नेपाल में भी इसी प्रकार के मंदिर देखने को मिलते हैं।

पश्चिमी हिमालय की कश्मीर घाटी में लकड़ी की बनी दो-तीन छतें होती थीं। लकड़ी की छतों के बीच का स्थान रोशनी और हवा के लिए खुला छोड़ दिया जाता था। पत्थर से बने मंदिरों में इस खुले स्थान को अलंकृत कर दिया जाता था। इसके अतिरिक्त, छतों पर खिड़कियां होती थीं, इस प्रकार की खिड़कियों का उपयोग मध्यकालीन यूरोपीय स्थापत्य में भी किया जाता था। कश्मीर में इस प्रकार की छतें पाद्रेथान के शिव मंदिर और मार्तण्ड के सूर्य मंदिर में मिलती हैं। बंगाल के मंदिर स्थानीय पत्रों से बने झोपड़ों के प्रतिरूप हैं। गुफाओं की तर्ज पर बने इन मंदिरों में एक के बाद एक छतें देखने को मिलती हैं। विष्णुपुर स्थित केश्टा राय मंदिर (17 वीं शताब्दी) में चौकोर और आयताकार छतों की योजना की गई है। यहां तक कि समकालीन मुगल स्थापत्य में भी "बंगाल छत" का उपयोग किया जाता था।

7.3 भवन योजना और निर्माण

मंदिर का निर्माण सुसंगठित योजना के तहत होता था। ईंटें या तो निर्माण-स्थल पर ही पकाई जाती थीं या निर्माण स्थल के बगल में यह कार्य सम्पन्न होता था। चट्टान और पत्थर आसपास के इलाकों से लाए जाते थे। मंदिरों में उत्कीर्ण अभिलेखों और एक भोज पत्र पर लिखे आलेख से विश्व प्रसिद्ध कोणार्क के सूर्य मंदिर के भवन की निर्माण योजना का पता चला है। इसके अनुसार, खान से पत्थर लकड़ी के पहियों पर लाद कर लाए जाते हैं, इन्हें हाथी खींचते थे। इसके अलावा, नदी और नहर के माध्यम से भी पत्थर लाए जाते थे। निर्माण स्थान पर राज मिस्त्री पत्थरों की कटाई छंटाई करते थे, बाद में उन्हें रस्सियों के सहारे ढांचे में लगा दिया जाता था। ढांचे को खड़ा करने के लिए लकड़ी के बल्लों और चूने का उपयोग किया जाता था। तंजाउर के बृहदेश्वर मंदिर का विशाल शिखर पत्थर को एक के ऊपर एक जमाने का सुंदर नमूना है। इस शिखर का वज़न 80 टन और ऊंचाई 200 फीट है। आम धारणा यह है कि इसका निर्माण अपने वर्तमान निर्माण स्थल से सात किलोमीटर दूर सारापल्लन (इसका शाब्दिक अर्थ है अवसाद से मुक्ति) में किया गया था; उसे सीधा खड़ा करने के क्रम में मंदिर सात किलोमीटर खिंसक गया। अक्सर गर्भगृह और हाल में लोहे की बीम का उपयोग किया जाता था। कोणार्क के मंदिर इसके प्रमाण हैं। मंदिरों के निर्माण में लगे स्थापत्यकार, शिल्पी और मज़दूर श्रेणियों के रूप में संगठित थे। कोणार्क मंदिर के अभिलेख में मज़दूर और उनकी मज़दूरी, काम के नियम और विभिन्न इमारतों के बनाए जाने की प्रक्रिया का उल्लेख मिला है। कहीं-कहीं पत्थर में की गई नक्काशी में भी उनका उल्लेख मिलता है, मसलन 11वीं शताब्दी में बने खजुराहो की दीवारों में पत्थर काटते, छेद करते, मज़दूरों का और मंदिर निर्माण के लिए पत्थर ढोये जाने का दृश्य अंकित है।

बोध प्रश्न 2

1) मंदिर की योजना में मुख्य अंग कौन से होते हैं?

....

....

....

....

....

2) मंदिर की छत के निर्धारण में पारिस्थितिकी और निर्माण सामग्री की उपलब्धता का क्या योगदान था?

....

....

....

....

3) किस क्षेत्र में मंदिर के अलंकरण के लिए एक के ऊपर एक छतें बनाई जाती थीं?

....

....

....

....

....

7.4 कालक्रमानुसार और भौगोलिक आधार पर भारतीय मंदिरों का विस्तार

इस भाग में हम कालक्रमानुसार और भौगोलिक स्थिति के अनुसार प्रमुख मंदिरों की चर्चा करेंगे।

उत्तरी शैली: उत्तरी, मध्य और पश्चिमी भारत में (पांचवी से सातवीं शताब्दी)

नधना (खजुराहो के दक्षिण-पूर्व, मध्य प्रदेश) का पार्वती मंदिर, देवगढ़ (ज़िला झांसी, उत्तर प्रदेश) का दशावतार मंदिर, भीतरगांव (ज़िला कानपुर, उत्तर प्रदेश) का ईंट मंदिर, गोप (गुजरात) का विष्णु मंदिर, रामगढ़ (बिहार) का मुंडेश्वरी मंदिर (यह अष्टकोणीय योजना का उदाहरण है) और जीगवा और सांची (मध्य प्रदेश) के मंदिर।

दक्कन और मध्य भारत (छठी से आठवीं शताब्दी)

एलोरा (महाराष्ट्र के औरंगाबाद के निकट), एलीफेंटा (बंबई के निकट) और बादामी (उत्तरी कर्नाटक), आरंभिक चालुक्य मंदिर, ऐहोल (लडखन मंदिर) और पट्टडकल (पापनाथ और गलगंठ मंदिर) में बने गुफा मंदिर।

पश्चिमी और मध्य भारत (आठवीं से तेरहवीं शताब्दी)

ओसियन (जोधपुर के उत्तर में राजस्थान में), जलिका मंदिर (ग्वालियर), खजुराहो के चंदेल मंदिर (खासकर लक्ष्मण, कंदरिया महादेव और विश्वनाथ मंदिर, रोडा मंदिर (मोधेरा के दक्षिण, गुजरात), मोधेर (गुजरात) का सूर्य मंदिर और माउंट आबू (राजस्थान) स्थित संगमरमर के बने जैन मंदिर।

पूर्वी भारत (आठवीं से तेरहवीं शताब्दी)

परशुरामेश्वर वैतल देवल, मुक्तेश्वर, लिंगराज और राजारानी मंदिर (सभी भुवनेश्वर स्थित), कोणार्क (उड़ीसा) का सूर्य मँदिर और पुरी (उड़ीसा) का जगन्नाथ मंदिर।

हिमालय क्षेत्र (आठवीं शताब्दी से आगे)

मार्तण्ड स्थित सूर्य मंदिर, पांद्रेथन स्थित शिव मंदिर और अवेंतस्वमीन स्थित विष्णु मंदिर (सभी कश्मीर में), मसरूर (कांगड़ा, हिमाचल प्रदेश), स्थित मंदिर, नेपाल के ब्राह्मण मंदिर (काठमांडु, पाटन और भदगांव)

उत्तरी शैली

दक्कन और तमिलनाडु (छठी से दसवीं शताब्दी)

महाबलिपुरम (मद्रास के निकट) स्थित पल्लवों द्वारा निर्मित गुफा मंदिर, रथ और समुद्र तट मंदिर, कांचीपुरम (मद्रास के निकट) स्थित वैकुंठपेरूमल और कैलाशनाथ मंदिर, ऐहोल (मंगूती मंदिर), बादामी (मालेगिट्टी शिव मंदिर) और पट्टदकल (विरूपल मंदिर) और राष्ट्रकूटों के संरक्षण में बने एलोरा स्थित कैलाश मंदिर।

कर्नाटक, तमिलनाडु और केरल (दसवीं से सत्रहवीं शताब्दी)

तंजाउर और गंगइकोंडाचोलापुरम स्थित चोलों के बृहदेश्वर मंदिर, वेल्लूर, हेलेविड और सोमनाथपुर (सभी कर्नाटक में) स्थित होयसलों के मंदिर, कर्नाटक (लक्कुंडी और गडग) स्थित बाद के चालुक्यों के मंदिर, विजयनगर में पांडयों का पपती मंदिर, श्रीरंगम (त्रिनापल्ली के निकट, तमिलनाडु) और मीनाक्षी मंदिर (मदुरई, तमिलनाडु), कट्टिलमडम मंदिर (चालपुरम जिला पालघाट, केरल) और तिरूवल्लम (त्रिवेंद्रम के निकट) स्थित परशुराम मंदिर।

वेसर शैली

आधुनिक महाराष्ट्र के पश्चिमी घाट पर स्थित सन् ईसवी की आरंभिक शताब्दियों में बने बौद्ध चैत्य हॉल इस शैली के नमूने हैं। बहुकोणीय योजना इस शैली की सर्वप्रमुख विशेषता है। जैसा पहले बताया जा चुका है कि इसकी विशेषताएं सुस्पष्ट नहीं हैं और भौगोलिक विस्तार के बारे में कुछ ठीक से नहीं कहा जा सकता। सातवीं और दसवीं शताब्दी के बीच बने इस प्रकार की इमारतों के नमूने छेजराला (आंध्र प्रदेश), ऐहोल (दुर्गा मंदिर),

महाबलिपुरम (सहदेव और द्रौपदी रथ) और केरल (त्रिकेंडियूर और तिरूवन्नूर के शिव मंदिर) में पाए गए हैं। दसवीं शताब्दी के बाद के मंदिरों में चिदंबरम (तमिलनाडु) का नटराज मंदिर और किझावल्लूर (ज़िला कोट्टायाम, केरल) का वामन मंदिर उल्लेखनीय है।

7.5 मंदिर और भारतीय सांस्कृतिक लोकाचार

भारतीय मंदिर मनुष्य की सांसारिक इच्छाओं को अभिव्यक्त करते हैं, इनमें पूरे समाज की विविध गतिविधियां सम्पन्न होती थीं।

मंदिर विद्या का केंन्द्र था। मंदिर को प्राप्त धन का कुछ हिस्सा महाविद्यालय के लिए रख दिया जाता था, ये महाविद्यालय मंदिर परिसर में ही निर्मित होते थे। इनमें व्याकरण और ज्योतिष जैसे विषयों की शिक्षा दी जाती थी और वेद, रामायण, महाभारत और पुराण जैसे ग्रंथों का पाठ किया जाता था और इन्हें पढाया भी जाता था। मंदिर में होने वाले अनुष्ठानों में नृत्य और संगीत का महत्वपूर्ण स्थान था, विशेष आयोजनों के अवसर पर इसका महत्व और भी बढ़ जाता था। बड़े मंदिरों में गीतकार और संगीतकार, नर्तकी, अभिनेता और कला शिक्षक की नियुक्ति होती थी। दसवीं शताब्दी में बने खजुराहो के मंदिरों और कोणार्क के सूर्य मंदिर में ऐसे संगीतकारों की जीवनी चित्रांकित की गई है। उड़ीसा में बने मंदिरों और अन्य मंदिरों में नट मंदिर (नृत्य हाल) का समावेश अनिवार्य हो गया। इन सब तथ्यों से मंदिर में गीत और संगीत की भूमिका का पता चलता है। ऐसा माना जाता है। कि चिंदबरम मंदिर में महादेव शिव ने खुद नृत्य किया था। इसके अतिरिक्त, देवदासी प्रथा मंदिर से जुड़ी हुई थी। मंदिरों की ये दासियां मंदिर के भगवान की सेवा के लिए रखी जाती थीं। वे गाकर और नृत्य कर भगवान को रिझाती थीं। चोल शासक राजाराज प्रथम (985-1012) ने बृहदेश्वर मंदिर (तंजाउर) में चार सौ देवदासियों के रहने के लिए दो लंबी गलियां निर्मित करवाई थीं। इससे यह पता चलता है कि वह मंदिर को काफी दान दिया करता था और उसके कार्यकलापों पर काफी ध्यान देता था। कई मंदिरों में नित्य उत्सव होते रहते थे, इन उत्सवों में पौराणिक और लोकाचार संबंधी तत्वों का मिश्रण होता था, पुरी के जगन्नाथ मंदिर से जुड़ी रथयात्रा का वार्षिक उत्सव इसका प्रमाण है। तीर्थयात्राओं के माध्यम से भी लोग मंदिर की गतिविधियों में हिस्सा लेते थे।

मंदिर काफी लोगों को काम और रोज़गार दिया करता था। इस कारण से लोगों के आर्थिक जीवन पर मंदिर का काफी प्रभाव था। छोटे मंदिरों में भी पुजारियों, माला बनाने वालों, दूध, मक्खन और तेल के व्यापारियों की जरूरत पड़ती थी। 1011 ई. में बने तंजाउर मंदिर में एक अभिलेख प्राप्त हुआ है। इसमें मंदिर द्वारा लोगों को दी जाने वाली सहायता और मज़दूरी का पूरा ब्यौरा दिया गया है। इस अभिलेख में रसोइयों, मालियों, नृत्य शिक्षकों, माला बनाने वालों, संगीतकारों, बढ़इयों, चित्रकारों, संस्कृत और तमिल श्लोकों को गाने के लिए गान-मंडली, लेखाकार, चौकीदार, अन्य अधिकारियों, मंदिर के सेवकों जैसे छह सौ कर्मचारियों का जिक्र किया गया है (इसके लिए इकाई 6.5 और 11.5 भी देखें)।

MAADHYAM IAS

7.6 मूर्तिकला : पत्थर और धातु की मूर्तियां

मूर्तिकला भी क्षेत्रीय विशेषताओं से युक्त थी। पूर्वी, पश्चिमी, मध्य और उत्तरी भारत में वास्तुशिल्प से संबंधित कला-केंद्र विकसित हुए, जिसमें मानव आकृतियों को एक विशेष कला-रूप में ढाला गया। हिमालय क्षेत्र, दक्कन और सुदूर दक्षिण में भी वास्तुशिल्प के कला केंद्र विकसित हुए। प्रत्येक प्रदेश में एक विशेष प्रकार की कला विकसित हुई। इस विकास को कला इतिहासकार और आलोचक निहार रंजन राय "मध्यकालीन प्रभावों" का परिणाम मानते हैं। इस "मध्यकालीन प्रभाव" के कारण मूर्तियों में कृशता आने लगी और आरेखों तथा तीक्ष्ण कोणों पर विशेष बल दिया जाने लगा। मूर्तियों में गोलाई का अंश कम होने लगा और ये सपाट बनने लगीं। मूर्तियों की गोलाई की उत्तलता समाप्त होने लगी और यह अवतल बनाई जाने लगीं। दसवीं शताब्दी के बाद के पश्चिमी और मध्य भारतीय वास्तुशिल्प, पूर्वी भारत और हिमालय क्षेत्र की धातु प्रतिमाएं, गुजराती और राजस्थानी पुस्तक और कपड़ों पर की गई चित्रकारी, बंगाल में बनी मिट्टी की मूर्तियां और लकड़ी पर की गई खुदाई और दक्खन तथा उड़ीसा के कुछ चित्र इस नई अवधारणा को प्रतिबिंबित करते हैं।

आरंभिक मध्यकालीन वास्तुशिल्प में मनुष्य रूप में देवी-देवताओं और उनके सेवकों की मूर्तियों का वर्चस्व रहा। इस प्रकार की प्रतिमाओं की आधारभूत संरचना बनी-बनाई होती थी, अतः संपूर्ण भारत में कमोबेश एक प्रकार की मूर्तियां ही मिलती हैं। एक बात ध्यान देने की है कि भारत के सभी भागों में यह कला एक ही समय में अपने उत्कर्ष पर नहीं पहुंची। बिहार और बंगाल में यह नवीं और दसवीं शताब्दी में शीर्ष पर पहुंची, उड़ीसा में बारहवीं और तेरहवीं शताब्दी में, मध्य भारत में दसवीं और ग्यारहवीं शताब्दी में, गुजरात में ग्यारहवीं, और सुदूर

दक्षिण में दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी में। केवल दक्खन में भावशून्यता और अनगढ़पन देखने को मिलता है और इसकी मात्रा धीरे-धीरे बढ़ती ही गई, वस्तुतः आठवीं शताब्दी तक दक्खन में वास्तुकला का अंत हो चुका था।

धार्मिक मूर्तियों के अलावा धातु (लोहे को छोड़कर) से बनी मूर्तियों का रूप क्षेत्रीय स्तर एक सा होता था। कहने का तात्पर्य यह है कि एक क्षेत्र की मूर्तियां एक-सी दीखती थीं, उसमें कलाकार की व्यक्तिगत विशेषता नहीं झलकती थी। विभिन्न विषयों को आधार बनाकर ये प्रतिमाएं बनाई जाती थीं। इनमें वर्णनात्मक कथाएं, ऐतिहासिक या अर्ध-ऐतिहासिक दृश्य, संगीत और नृत्य के दृश्य, यौन क्रीड़ा में लिप्त दम्पत्ति (विभिन्न मुद्राओं में), यौद्धाओं की पोशाक और जानवर तथा शामंजिका (स्त्री और पेड़) उल्लेखनीय हैं।

पूर्वी भारत (बिहार और बंगाल, आसाम), हिमालय क्षेत्र के राज्य (खासकर नेपाल और कश्मीर) और खासकर दक्षिण में पीतल, तांबा, काँसा और अष्टधातु से बनी मूर्तियां प्रचुर मात्रा में पाई जाती हैं। उत्तरी भारत की प्रतिमाओं में ब्राह्मण और बौद्ध धर्म के दवी-देवताओं का स्थान प्रमुख है। उनकी प्रतिमाओं पर तांत्रिक प्रभाव भी स्पष्ट है। दक्षिण भारत में विभिन्न देवी-देवताओं की धातु मूर्तियां मिलती हैं। इनमें शिव, खासकर नटराज, पार्वती, शैव संत जैसे अप्पाय, अम्बउदार और सउदारार, वैष्णव संत जैसे अलवार और दान देने वाले राजा की मूर्तियां उल्लेखनीय हैं।

गुप्त काल के बाद के युग के मूर्तिशास्त्र में एक पदानुक्रम मिलता है, जो सामंती समाज के विभिन्न स्तरों का ही प्रतिबिंबन है। विष्णु, शिव और दुर्गा बड़े देवी-देवता प्रतीत होते हैं, क्योंकि उनकी मूर्तियां विशाल हैं और उनके साथ छोटी-छोटी मूर्तियां हैं, जो भृत्य और सेवक का प्रतिनिधित्व करते हैं। समकालीन मूर्तिशास्त्र से स्पष्ट होता है कि इस काल से मातृदेवी का स्थान सर्वोच्च हो गया था और इस काल की मूर्तियों में मातृ देवी का कद अन्य मूर्तियों की अपेक्षा बड़ा हो गया था। मातृ देवी के प्रभाव से जैन धर्म भी न बच सका, इसका प्रमाण राजस्थान के माउंट आबू में स्थित दिलवारा मंदिर है। एलोरा में कई स्थानों पर देवी-देवताओं को अपने दुश्मनों के विरुद्ध आक्रामक मुद्रा में अंकित किया गया है। शैव, जैन और बौद्ध मठों के संगठन में ऊंच-नीच का भेदभाव स्पष्ट था। आचार्य के अभिषेक के लिए एक अनुष्ठान का प्रावधान था, यह मठ का सर्वोच्च पद होता था। यह अभिषेक राज्याभिषेक की तरह ही होता था।

बोध प्रश्न 3

1) उत्तरी शैली के पांचों वर्गों के दो-दो मुख्य मंदिरों का नाम बताइए।

....

....

....

....

....

MAADHYAM IAS

2) दक्षिण और वेसर शैली के चार-चार मंदिरों का नामोल्लेख कीजिए।

....

....

....

....

3) मंदिर के विभिन्न कार्यकलापों से किस प्रकार के लोग मुख्य रूप से जुड़े हुए थे?

....

....

....

....

....

4) वास्तुशिल्प की किस विशेषता को कला इतिहासकार ने "मध्यकालीन प्रभाव" के विशेषण से युक्त किया था।

....

....

....

....

....

7.7 चित्रकला, मिट्टी की मूर्तियां और "मध्यकालीन प्रभाव"

मध्यकालीन चित्रकला की विशेषताएं निम्नलिखित हैः

- तीक्ष्ण, तनावपूर्ण और नुकीले कोण। उदाहरण के लिए भंवें और कंधे बनाने में,
- भावपूर्ण चेहरे — तीक्ष्ण और उठी नाक, बड़ी फूली हुई नुकीली आंखें और अर्ध-चन्द्राकार होंठ
- रंगों का प्राधान्य, तीक्ष्ण वृत्त पर बनी मूर्तियां
- साज-सज्जा में ज्यामिति और भाव का सामंजस्य

इन विशेषताओं का प्रतिबिंबन एलोरा के कैलाश मंदिर (आठवीं शताब्दी) की दीवारों पर की गई चित्रकारी, सित्तनवसल स्थित जैन मंदिर (नवीं शताब्दी) और तंजाउर स्थित बृहदेश्वर मंदिर (ग्यारहवीं शताब्दी) में मिला है। दसवीं शताब्दी के बाद बिहार, बंगाल, नेपाल और तिब्बत में जो पांडुलिपियां तैयार की गई, उनमें चित्रकारी भी की गई। यह चित्रकारी ऊपर दी गई विशेषताओं से युक्त है। इस परम्परा के तहत कपडों पर भी खूब चित्रकारी की गई। तेरहवीं शताब्दी के बाद पश्चिम भारतीय कपड़ों और बाद में दक्खन, दक्षिण, उड़ीसा और बंगाल में बने कपड़ों के डिज़ाइन लोगों का ध्यान आकृष्ट करने लगे।

इस काल की मिट्टी की मूर्ति संबंधी कला में सामंती छाप स्पष्ट होने लगी। गुप्त काल के बाद अर्थव्यवस्था, समाज और राजनीति में सामंती तत्वों का प्रभाव तेजी से बढ़ा। कला के संरक्षक भी बदल गए और कला का विषय भी बदल गया। संपूर्ण कला संबंधी गतिविधियों का सामंतीकरण हो गया। गुप्त काल के पूर्व कला के संरक्षक व्यापारी वर्ग, शिल्पी और कारीगर श्रेणियां और राज परिवार थे। इस प्रकार के कला के नमूने भरदुत, सांची, कार्ले, अमरावती, नागार्जुनकोंडा आदि में देखे जा सकते हैं। गुप्त काल (चौथी-छठी शताब्दी) में सामंती प्रवृति की अभी-अभी शुरुआत हुई थी, इसमें ब्राह्मण धर्म से सम्बद्ध मंदिर का निर्माण स्थाई रूप में (पत्थर से) हुआ। गुप्त काल के बाद (650 से 1300 ई.) के समय में विभिन्न राजाओं, सामंतों, सेनाधिकारियों आदि ने कला को संरक्षण प्रदान किया, जिनके पास कला संबंधी गतिविधियों को संरक्षण प्रदान करने का सामर्थ्य था। मिट्टी की मूर्तियां पहले आम आदमी का प्रतिनिधित्व करती थीं, अब यह कला बहुत समृद्ध व्यक्तियों के हाथ का खिलौना बन गई। गुप्त काल के बाद के समय में मिट्टी की मूर्तियों की खपत करने वाले शहरी बाज़ार समाप्त होने लगे। हालांकि कुछ पुराने शहर जैसे वाराणसी, अहिछत्र और कन्नौज अस्तित्व में बने रहे और प्रान्दपुर (बुलंदशहर के निकट, उत्तर प्रदेश) जैसे नए शहर आरंभिक मध्यकालीन युग में पनपे, पर इनमें से किसी शहर में मिट्टी की मूर्तियों के उत्पादन को बढ़ावा नहीं मिला। अब मिट्टी की मूर्तियों के निर्माता बाज़ार के लिए उत्पादन नहीं करते थे, बल्कि बड़े भूमिपतियों ब्राह्मण और गैर-ब्राह्मण मंदिरों और मठों की मांग पूरी करने लगे। अब निर्माता (पुस्तकारक) शिल्पी का मातहत मात्र रह गया। मिट्टी की मूर्तियां समृद्ध वर्ग की कला का प्रतिनिधित्व करने लगीं और इनका जमाव जहारपुर, राजबदिदंगा (बंगाल), विक्रमशिला (बिहार), अखनुर और उश्कर (कश्मीर) जैसे सामंती मुख्यालयों और धार्मिक केंद्रों में होने लगा। गुप्तकाल के बाद के वर्षों में मिट्टी की मूर्तियों का उपयोग भूमिपतियों और राजाओं ने धार्मिक स्थलों और अपने प्रासादों को सजाने के लिए किया। हर्षचरित के लेखक बाणभट्ट के अनुसार, शादी जैसे विशेष आयोजनों पर इन मूर्तियों से महल सजाए जाते थे।

7.8 शिक्षा-दीक्षा

जिस प्रकार मध्यकालीन यूरोप में शिक्षा का मुख्य केंद्र चर्च था, उसी प्रकार गुप्त काल के बाद की शताब्दियों में विहार, मठ और मंदिर जैसे धार्मिक स्थल शिक्षा के केंद्र के रूप में विकसित हुए। धार, अजमेर, अनदिल्लपुर आदि राजधानियों में भी महाविद्यालय स्थापित किए गए। इन शताब्दियों में उत्तर बिहार का मिथिलांचल और बंगाल का नदिया ब्राह्मण विद्या के केंद्र के रूप में विकसित हुआ। काशी (वाराणसी) के शैव मठ ब्राह्मण विद्या के समृद्ध केंद्र थे। क्षेमेन्द्र बताता है कि गौडा (बंगाल) के छात्र लंबी दूरी तय करके कश्मीर के मठों में अध्ययन करने जाते थे। हेमचंद्र बारहवीं शताब्दी में गुजरात में विद्यामठों के अस्तित्व का उल्लेख करता है। दक्षिण के कई अग्रहार शिक्षा के केंद्र के रूप में विकसित हो रहे थे। इस काल के प्रमुख विश्वविद्यालयों में नालंदा, विक्रमशिला और उदंतपुरी (बिहार), वल्लभी (गुजरात), जगदल्ला और सोमपुरी (बंगाल) और कांचीपुरम् (तमिलनाडु) उल्लेखनीय हैं।

आठवीं शताब्दी से मंदिर पुस्तकालय की भूमिका भी अदा करने लगे। इस परम्परा की वास्तविक शुरुआत जैनों ने की। शिक्षकों/व्याख्याताओं (भट्टारक और श्रीपूज्य) की लंबी सूची प्राप्त होना और उन्हें सम्मान प्रदान करना इस विकास के सूचक हैं। उनके द्वारा शास्त्रदान (धार्मिक पुस्तकों/पांडुलिपियों का उपहार) पर बल देना यह साबित करता है कि पाटन, खंभात और जैसलमेर में पुस्तकों के बड़े भंडार थे। ये भंडार खासकर गुजरात, राजस्थान और कर्नाटक में स्थापित जैन केंद्रों के आवश्यक अंग बन गए। ब्राह्मण धर्म से सम्बद्ध मठों ने भी इसका अनुकरण किया और पूरे भारत में पांडुलिपियों को सुरक्षित और एक जगह इकट्ठा करने की परम्परा की शुरुआत हुई।

तंत्र मंत्र अध्ययन का एक मुख्य विषय था। विक्रमशिला विश्वविद्यालय में तंत्र का एक अलग विभाग होना इसका प्रमाण है। तिब्बती यात्री तारा नाथ 17वीं शताब्दी में भारत आया था। वह बिहार और बंगाल के प्रमुख विश्वविद्यालयों, नालंदा, उदंतपुरी आदि में तांत्रिक विद्या के अध्ययन की विस्तार से चर्चा करता है। आठवीं शताब्दी के बाद चमत्कारी विज्ञान का महत्व भी तेजी से बढ़ा। राजेशेखर ने अपने ''प्रबंध कोष'' में तेरहवीं शताब्दी के दौरान पढ़ाए जाने वाले विषयों का उल्लेख किया है।

शिक्षा-दीक्षा के क्षेत्र में विकसित विशेष प्रवृत्तियां निम्नलिखित हैं:

क) भाषाओं की प्रादेशिकता

ख) प्रादेशिक लिपियों का उदय

ग) साहित्य का बढ़ता शब्द-भंडार

गुप्तकाल के बाद का समय साहित्य और भाषा के इतिहास के उत्कर्ष का युग है। इस काल में संस्कृत का फैलाव हुआ। ब्राह्मणों को भू-अनुदान दिए गए। इसके कारण ब्राह्मण दूर-दराज के इलाकों में फैल गए, उनके साथ संस्कृत भी फैला। पर संस्कृत का उपयोग सीमित वर्ग में ही होता था और शनैः-शनैः इसकी सीमा सिकुड़ती गई। अब यह राजन्य वर्ग और उसके प्रशासन की भाषा बनकर सिमट गई। ''नैषाध्य'' में उल्लेख है कि दमयंती के स्वयंवर में उपस्थित राजे-महाराजे संस्कृत का ही उपयोग करते हैं।

अल-बरूनी के अनुसार, उच्च और पढ़े-लिखे वर्ग के लोग आम आदमी की देशी भाषा की उपेक्षा करते थे। इस काल में अपभ्रंश का विकास हुआ, जिससे आधुनिक भारतीय आर्य भाषाएं जैसे हिंदी, बंगला, राजस्थानी गुजराती, मराठी, मैथिली आदि का विकास हुआ है। अपभ्रंश संस्कृत और प्राकृत जैसी पुरानी भाषाओं और आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के बीच की कड़ी थी। इसका जन्म इस काल के काफी पहले हो चुका था। आठवीं शताब्दी की रचना ''कुवल्यमाल'' में 18 अपभ्रंशों का उल्लेख किया गया है। ये भारत के विभिन्न हिस्सों में बोली जाती थीं, बाद में आधुनिक भारतीय भाषाओं के रूप में इनका विकास हुआ। राजेशेखर ने एक राजकुमार के अध्ययन के लिए संस्कृत के अलावा प्राकृत, पैशाचिका और अपभ्रंश का उल्लेख किया है। ''वर्ण रत्नाकर'' में देशी भाषाओं जैसे अवहट, मगधी, शाकरी, अभीरी, चांडाली, सावली द्राविति आदि के पाठ्यक्रम का उल्लेख हुआ है। एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में आने-जाने की सुविधा उपलब्ध न होने के कारण गुप्त काल के बाद की शताब्दियों में भाषा संबंधी विविधता तेजी से बढ़ी। घुमंतु ब्राह्मणों ने प्रादेशिक भाषा के शब्द-भंडार को समृद्ध किया। लेखन का उपयोग करके इन्होंने स्थानीय बोलियों को भाषा के रूप में विकसित किया।

प्रादेशिक भाषाओं के साथ-साथ प्रादेशिक लिपि का भी विकास हुआ। भाषा की विविधता से लिपि के विविध रूप सामने आए। मौर्यकाल से गुप्त काल तक आते-आते लिपि में परिवर्तन हुआ, पर यह परिवर्तन समय के बीतने के साथ-साथ हुआ। गुप्त काल में पूरे भारत में ब्राह्मी लिपि का वर्चस्व था। ब्राह्मी लिपि जानने वाला संपूर्ण भारतवर्ष में फैले गुप्तकालीन अभिलेखों को आराम से पढ़ सकता है। सातवीं शताब्दी के बाद यह तत्व समाप्त हो गया। इस युग से विभिन्न प्रदेशों की लिपि पढ़ने के लिए अनेक लिपियों की जानकारी आवश्यक हो गई निश्चित रूप से प्रादेशिक लिपि का जन्म प्रादेशिक अवरुद्धता (एक प्रदेश दूसरे प्रदेश के बीच संवाद का अभाव) और स्थानीय रूप से उपलब्ध लिपि के मेल से हुआ। स्थानीय शिक्षा और प्रशासन की जरूरतों के कारण प्रादेशिक लिपि का जन्म हुआ। पांडुलिपि, अभिलेख और अन्य प्रकार के लेखन में देवनागरी, असमी, बंगला, ओडिया, तमिल, कन्नड और शारदा (कश्मीर) लिपियों का उपयोग होता था। तमिल के उदाहरण से स्पष्ट है कि लिपि के विकास में भाषा के वैज्ञानिक मानदंड पीछे छूट गए। विभिन्न अभिलेखों के अध्ययन से यह बात सामने आती है कि चेर चोल और पांड्य शासकों द्वारा तमिल भाषा अपनाई गई, पर लिपि का अंतर रखा गया शायद अपनी प्रादेशिक पहचान बनाए रखने के लिए उन्होंने ऐसा किया। चेरों की लिपि वट्टेलुट्टु (गोल लिपि) के नाम से जानी जाती है, यह तमिल ब्राह्मी लिपि का एक प्रकार है, मानो इस लिपि को घसीट कर लिख दिया गया हो। पांड्यों ने कोलेलुट्टु (सीधे आरेखों वाली लिपि) लिपि ग्रहण की और चोलों ने दोनों को मिला दिया। लिपि की अनेकरूपता की कहानी यहीं समाप्त नहीं होती है। दार्शनिक और धार्मिक विषयों के लिए अलग लिपि थी, इस तमिल ग्रंथ लिपि में लिखी पांडुलिपियां उत्तर में तिब्बत तक पंहुची और बौद्ध मठों ने उस पांडुलिपियों को संग्रहीत कर सुरक्षित रखा।

मध्यकालीन संस्कृत ग्रंथ ''सुभाषितरत्नकोश'' का संपादन करने के क्रम में डी.डी. कोसाम्बी ने कई उपेक्षित कवियों का परिचय दिया, पर उनकी कविता या लेखन को उन्होंने पतनोन्मुख कला का लेखन कहा। पर किसी लेखन को पूर्ण रूप से पतनोन्मुख या विकासोन्मुख नहीं कहा जा सकता है। किसी व्यक्ति के लिए अगर विकासोन्मुख है

तो किसी के लिए पतनोन्मुख भी हो सकता है। सवाल दृष्टिकोण का है। यह भी जरूरी नहीं है कि सांस्कृतिक पतन के साथ-साथ सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक पतन भी हो। इसके अतिरिक्त, जैसा कि ऊपर कहा गया है, "पतन" दृष्टिकोण पर निर्भर है। खजुराहो, भुवनेश्वर, कोणार्क और वेल्लूर की रति संबंधी कलाएं किसी को विकृत मस्तिष्क की उपज लग सकती हैं और कोई उसे कला का उत्तम नमूना मान सकता है।

आठवीं शताब्दी के बाद दर्शन, तर्कशास्त्र, वैधानिक ग्रंथों, अलवारों के भक्ति काव्य, शैव आगम, काव्य, आख्यान, गीत, ऐतिहासिक जीवनी, वैज्ञानिक लेखन, शिल्पशास्त्र आदि की बाढ़ आ गई। पर इस काल का लेखन शब्दाडंबर और अलंकरण से आच्छादित हो गया, इसका कारण था तत्कालीन राजाओं और सामंत वर्ग की मनोवृत्ति। इस अलंकरणपूर्ण शैली में तड़क-भड़क वाले विश्लेषण, उपमा और अलंकार का वर्चस्व हो गया। इस काल के साहित्य और अभिलेखों में इस प्रकार की शैली के उदाहरण प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हो जाएंगे। बाणभट्ट की गद्य-शैली क्लिष्ट, जटिल और अलंकारयुक्त भाषा का उदाहरण है। वाण का काल यह नहीं है, पर सातवीं शताब्दी के बाद के लेखन में उसकी अनुकृति होती रही।

पद्य के क्षेत्र में द्वाश्रय और श्लेष काव्य खूब रचे गए। इस प्रकार के काव्य में दो अर्थ छिपे होते थे। सांध्याकर नंदी की रचना "रामचरित्र" में राम और बंगाल के राजा रामपाल की जीवनी एक साथ प्रस्तुत की गई है। चालुक्य राज दरबार में 12वीं शताब्दी में "पार्वती-रुक्मिणी की रचना की गई। इसमें शिव और पार्वती तथा कृष्ण और रुक्मिणी विवाह की कथा आई है। हेमचंद्र ने "सप्तआसनभाव" की रचना की, इसकी सात रूपों में व्याख्या की जा सकती है। एक ही वाक्य या पद में एक, दो, तीन और इससे भी ज्यादा अर्थों का समावेश जीवन की कृत्रिमता को प्रतिबिंबित करता है।

7.9 स्थानीय ऐतिहासिक अभिलेख कालक्रम

चीनी तीर्थयात्री ह्वेनसांग सातवीं शताब्दी में भारत आया था। वह बताता है कि जिस-जिस प्रदेश से वह गुजरा, वहां की बोली उसने सीखी। पुस्तक, भाषा आदि विषयों पर टिप्पणी करता हुआ वह कहता है —

"घटनाओं को लिपिबद्ध करने के लिए, उन्हें रिकार्ड करने के लिए सभी प्रदेश में अधिकारी नियुक्त होते थे। घटनाओं की इस विवरणिका को नीलपिट (नीली संचय) कहते थे। इन विवरणिकाओं में अच्छी और बुरी घटनाओं, इनके प्रभाव और दुष्टप्रभाव का जिक्र होता था।"

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

कश्मीर (राजतरंगिनी), गुजरात (रसमाला प्रबंध, चिंतामणि, वसंत विलास आदि), सिंध (चाचनामा) और नेपाल (वामशावालिस) में प्राप्त ऐतिहासिक अभिलेख ह्वेनसांग के इस कथन का समर्थन करते हैं कि सभी राज्यों में राजकीय ऐतिहासिक अभिलेख तैयार किए जाते थे। ये ऐतिहासिक अभिलेख एक बार फिर संपूर्ण सांस्कृतिक ढांचे और परम्परा में क्षेत्रीयता के बढ़ते प्रभाव की बात की पुष्टि करते हैं।

इस प्रवृत्ति के साथ-साथ कालक्रम का भी स्थानीयकरण हो गया। गुप्तकाल तथा शक और विक्रम के अतिरिक्त किसी अन्य कालक्रम का उपयोग विस्तार से नहीं होता था, गुप्तकाल के बाद की शताब्दियों में नए-नए स्थानीय कालक्रम सामने आए। आरंभिक सातवीं शताब्दी में हर्ष ने खुद एक काल की शुरुआत की। उसके समकालीन आसाम के भास्कर वर्मन ने भास्करब्द की शुरुआत की, कुछ पांडुलिपियों में इसो काल का उपयोग किया गया है। बंगाल में भी एक काल की शुरुआत हुई। जैनों ने महावीर संवत् की शुरुआत की। आसामवासी महान वैष्णव संत और शिक्षक शंकरदेव ने एक नए कालक्रम शंकरानंद की शुरुआत की।

7.10 नई धार्मिक प्रवृत्तियां

इस काल में धार्मिक अनुष्ठानों और कार्यकलापों में महत्वपूर्ण बदलाव आए। भूमि अनुदान के बढ़ते प्रचलन के कारण स्वामी और दास की एक नई अवधारणा सामने आई। दास अपनी सारी सम्पत्ति स्वामी के चरणों में अर्पित कर देता था और फिर प्रसाद रूप में स्वामी जी कुछ देता उससे वह प्रसन्न रहता। इस सामाजिक व्यवस्था से पूजा व्यवस्था की शुरुआत हुई। पूजा भक्ति से सम्बद्ध थी और भगवान के चरणों में पूर्ण आत्म-समर्पण इसका सत्य था। (देखें इकाई 6.5.2)

पूजा और भक्ति तांत्रिक साधना के प्रमुख अंग बन गए। इस तांत्रिक साधना का विकास मध्यदेश के आदिवासी और सीमांत क्षेत्रों में हुआ। इन इलाकों में बड़े पैमाने पर भूमि अनुदान दिए गए और फलस्वरूप आदिवासी लोगों

की संस्कृति में बदलाव आया। इसी बदलाव की प्रक्रिया में तांत्रिक साधना का जन्म हुआ। इन नए इलाकों में अपना प्रभुत्व जमाने के लिए ब्राह्मण धर्म ने आदिवासी अनुष्ठानों और देवी-देवताओं को अपना लिया। इनमें मातृदेवी प्रमुख हैं। इसी से तंत्रों का समावेश हुआ (देखें इकाई 6.5.3) सातवीं शताब्दी के बाद इस तंत्र साधना ने लगभग सभी धर्मों को प्रभावित किया। यहां तक कि जैन, बौद्ध, शैव और वैष्णव धर्म भी प्रभावित हुए। अगर सभी धर्म ग्रंथों को इकट्ठा किया जाए, तो यह निष्कर्ष निकलेगा इस काल में पूजा, विधि, तंत्र और जादुई विषयों से संबंधित ग्रंथ सबसे अधिक लिखे गए। यहां तक कि जैन धर्म, जो इन तथ्यों को नकारता था, में भी इस प्रकार के ग्रंथ प्रचुर मात्रा में लिखे गए। जैन भंडार ऐसे ग्रंथों से भरे पड़े हैं, इनमें धर्म चक्रयपूजा, दशलक्षण पूजा आदि उल्लेखनीय हैं। जैन अंग साहित्य में पूजा का अर्थ बिल्कुल भिन्न है, खासकर बौद्ध पुजारियों के लिए। इसके बावजूद इसका परिवर्तित रूप सामने आया। बौद्ध पुजारियों के संदर्भ में "पूजा" का अर्थ भिन्न था। पूजा पुजारियों के प्रति सम्मान का पर्याय था, ईश्वर की पूजा के अर्थ में यह प्रयुक्त नहीं होता था। पर यहां निश्चित रूप से हमारा तात्पर्य तीर्थकरों की मूर्ति-पूजा से है। आर. सी. हजारा के अनुसार, छठी शताब्दी के बाद पुराणों में नए अध्याय जोड़े गए, इनमें ब्राह्मणों को दान देने और उनकी पूजा करने की बात की गई, विभिन्न ग्रहों के लिए बलि का प्रावधान रखा गया, उनकी बुरी नज़रों से बचने के लिए व्रत रखने और पूजा करने की वकालत की गई (मंदिर स्थापत्य में नवग्रह की मूर्तियों को शामिल किया गया)। पुराणों में पुर्तधर्म को सबसे बड़ा धर्म माना गया है। मंदिर बनवाने, तालाब खुदवाने और सार्वजनिक सेवा को धार्मिक कार्य माना जाता था। इन्हें ही पुर्तधर्म कहते थे। इस काल में व्यापक स्तर पर मंदिरों के निर्माण के पीछे पुर्तधर्म सिद्धांत का विशेष योगदान है।

बोध प्रश्न 4

1) आरंभिक मध्यकालीन चित्रकला की चार प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।

....
....
....
....

2) चेर, चोल और पांड्यों की लिपियों पर टिप्पणी लिखिए।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

....
....
....
....
....

3) गुप्तकाल के बाद विभिन्न कालक्रमों (युगों) की शुरुआत हुई। इनमें से किन्हीं चार का उल्लेख कीजिए।

....
....
....
....
....

4) नई धार्मिक प्रवृत्ति के संदर्भ में पूजा और पुर्तधर्म के अर्थ पर संक्षिप्त टिप्पणी कीजिए।

....
....
....
....
....
....

7.11 सारांश

इस इकाई में आठवीं और तेरहवीं शताब्दी के बीच भारतीय संस्कृति में जुड़ने वाली नई प्रवृत्तियों का उल्लेख हुआ है। इस प्रवृत्ति को "क्षेत्रीयता" के रूप में जानते हैं। इस इकाई में निम्नलिखित बातें शामिल की गई हैं:

- आंध्र, बंगाल, गुजरात, कर्नाटक आदि प्रादेशिक सांस्कृतिक इकाइयों का उदय
- नागर, द्रविड़ और वेसर स्थापत्य शैलियों की विशेषताएं
- भौगोलिक वितरण, स्थापत्य और प्रतिनिधिक देवी-देवताओं के आधार पर शैलियों का विभाजन
- स्थापत्यगत विशेषताओं के वर्णन के लिए विशेष तकनीकी शब्दावली का प्रयोग
- इमारत बनाने में पारिस्थितिकी और उपलब्ध कच्चे माल का असर
- साज-सज्जा, अलंकरण और अन्य सजावट का अंकुरण
- पत्थर और धातु वास्तु शिल्प के क्षेत्रीय कला केंद्रों का उदय
- वास्तुशिल्प, मिट्टी की मूर्तियां और चित्रकला में "मध्यकालीन प्रभाव" की भूमिका
- अपभ्रंश से विभिन्न आधुनिक भारतीय भाषाओं का जन्म
- स्थानीय लिपि, ऐतिहासिक अभिलेख और कालक्रम का विकास
- कला, साहित्य, शिक्षा और धर्म पर सामंती प्रभाव

7.12 शब्दावली

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

अंतरालः ड्योढ़ी, बाहर का कमरा

बहुकोन शिखरीः ऐसी इमारत जिसकी आधार योजना अर्द्ध चंद्राकार हो।

भद्रः शिखर के फलक का सपाट रुख

भट्टारकः जैन धार्मिक शिक्षक उपदेशक

भद्र देवलः "पवित्र मंदिर" देवल के आगे रखा जगमोहन

भोग मंडपः मंदिर का चिंतन कक्ष

पुत्रलिकाः नारी/पशु की मूर्तियां, इनका उपयोग खंभे के रूप में किया जाता था।

देवलः मंदिर का एक नाम

कंगूराः मंदिर का ऊपरी भाग

गर्भ गृहः देवस्थान, यह मंदिर का सबसे पवित्र स्थल होता है

गोपुरमः अलंकृत प्रवेश द्वार

जगमोहनः गर्भगृह के सामने का कक्ष

कलशः पानी का बर्तन, मंदिर के कंगूरे में बना घड़े के आकार

कुडुः द्रविड़ मंदिर का मेहराब बौद्ध चैत्य मेहराब से प्रभावित अलंकरण

मंडपः खुला बड़ा कक्ष

नट मंदिरः नृत्य/उत्सव कक्ष, जगमोहन के सामने

प्रासाद/प्रसादः महल/मंदिर, भगवान की अनुकंपा

पुस्तकारकः मिट्टी की मूर्तियां बनाने वाला

रथः दक्षिण भारतीय मंदिरों के उत्सवों में उपयोग किया जाने वाला रथ, यह महाबलिपुरम के पल्लव स्थापत्य संरचना में प्रयुक्त हुआ है, पर बेमेल है

रेखा-देवलः अर्द्ध चंद्राकार शिखर से युक्त मंदिर

शिखरः मीनार

शिल्पशास्त्रः इमारत और उससे सम्बद्ध कलाओं का शास्त्र

तोरपोरः निष्क्रियता

विमानः देव-स्थल/गर्भगृह की उभरी छत

7.13 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) प्रादेशिक सांस्कृतिक इकाइयों की सूचना मुद्राराक्षस, कुवल्यमाल, ब्रह्वैवर्त पुराण और ह्वेनसांग के लेखन से मिलती है (देखिए भाग 7.1)
2) देखिए भाग 7.2
3) नागर, द्रविड़, और वेसर, तीन प्रमुख शैलियां (देखिए उपभाग 7.2.1)
4) मुख्य देवी-देवता — शिव, दुर्गा, सरस्वती, गंगा आदि (देखिए उपभाग 7.2.2)

बोध प्रश्न 2

1) गर्भगृह, विमान, शिखर, मंडप, प्रदक्षिणापथ आदि (देखिए उपभाग 7.2.3)
2) छत का आकार पर्यावरण और स्थानीय कच्चे माल की उपलब्धता पर निर्भर करता था (देखिए उपभाग 7.2.4)
3) मालाबार, बंगाल, और पूर्वी तथा पश्चिमी हिमालय क्षेत्र में यह लोकप्रिय था (देखिए उपभाग 7.2.5)
4) पत्थर रस्सियों के माध्यम से उठाए जाते थे और लकड़ी तथा बल्लों का उपयोग किया जाता था (देखिए भाग 7.3)

बोध प्रश्न 3

1) देखिए भाग 7.4 (उत्तरी शैली)
2) देखिए भाग 7.4 (दक्षिणी और वेसर शैली)
3) मंदिर से संगीतकार, चित्रकार, बढ़ई, लेखाकार, देवदासी आदि जुड़े हुए थे (देखिए भाग 7.5)
4) तीक्ष्णता, धार और नुकीलापन इसकी मुख्य विशेषताएं थी (देखिए भाग 7.6)

बोध प्रश्न 4

1) देखिए भाग 7.7
2) भाषा तमिल, पर लिपि अलग-अलग।
3) हर्ष व्यवस्था, भास्कराब्द, शंकराब्द, महावीर संवत् (देखिए भाग 7.9)
4) देखिए भाग 7.10

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

इस खंड के लिए कुछ उपयोगी पुस्तकें

रोमिला थापर, ***भारत का इतिहास***
आर.एस. शर्मा, ***भारतीय सामंतवाद***
डी.एन. झा, ***प्राचीन भारत***
शिव शंकर मिश्र, ***प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास***

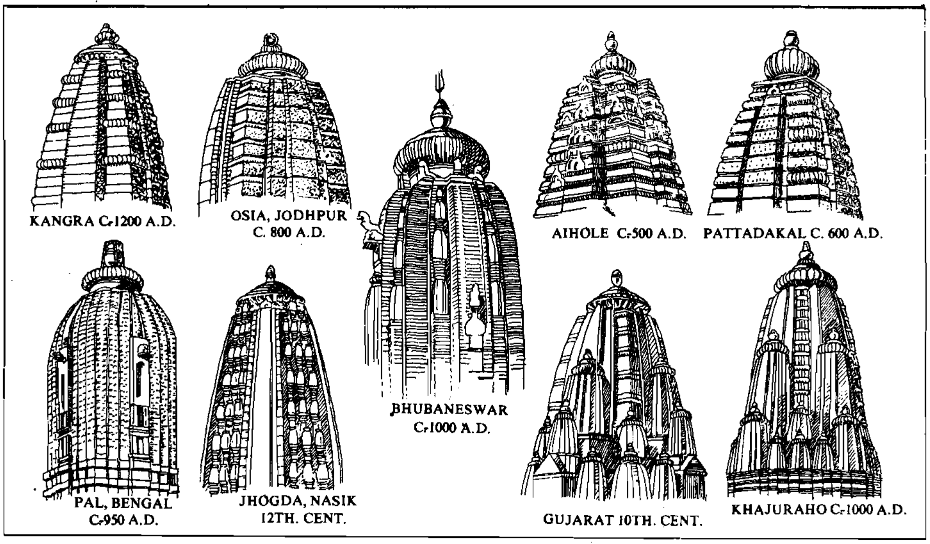

1. मंदिर शिखर (उत्तर-भारतीय शैली)

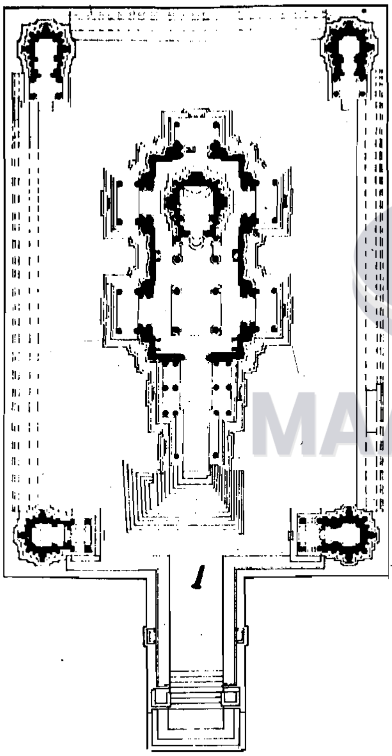

2. नंदी पर बैठे शिव एवं पार्वती (हिंगलाजगढ़ 10वीं शताब्दी)

3. लक्ष्मण मंदिर का नक्शा (खजुराहो, 10वीं शताब्दी)

MAADHYAM IAS

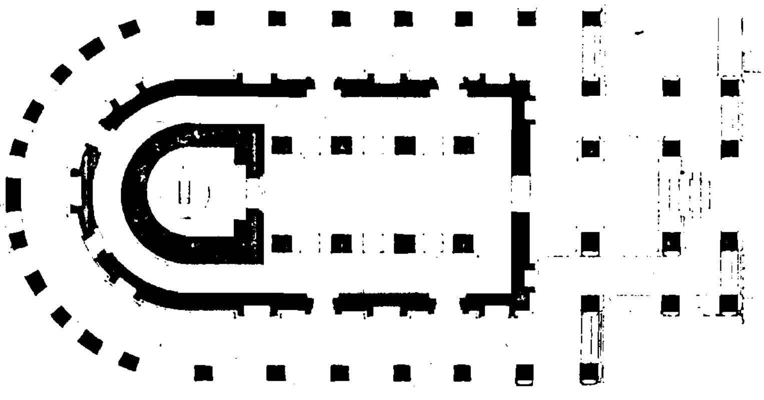

4. दुर्गा मंदिर का नक्शा (अर्द्ध-वृत्त) (आइहोल, 8वीं शताब्दी)

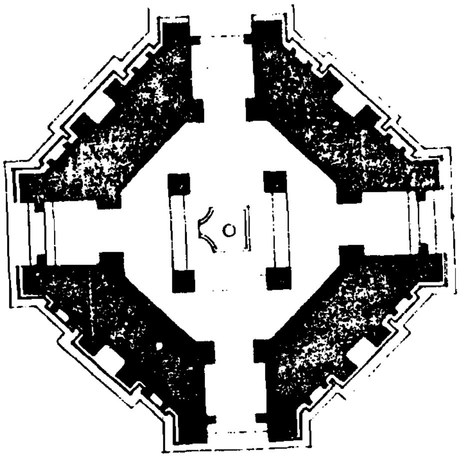

5. मुण्डेश्वरी मंदिर का अष्टमुखी नक्शा
(रामगढ़ 7वीं शताब्दी)

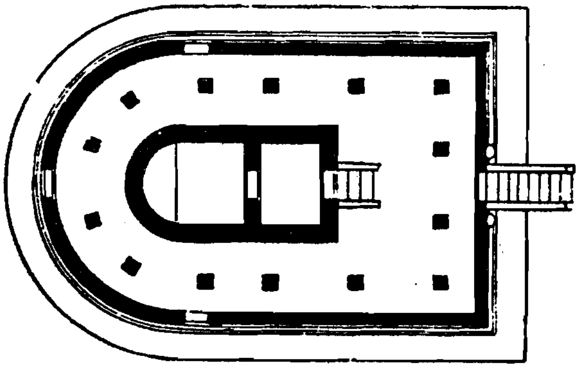

6. वामन मंदिर का अर्द्ध-वृत्तात्मक नक्शा
(किझावेल्लूर, 11वीं शताब्दी)

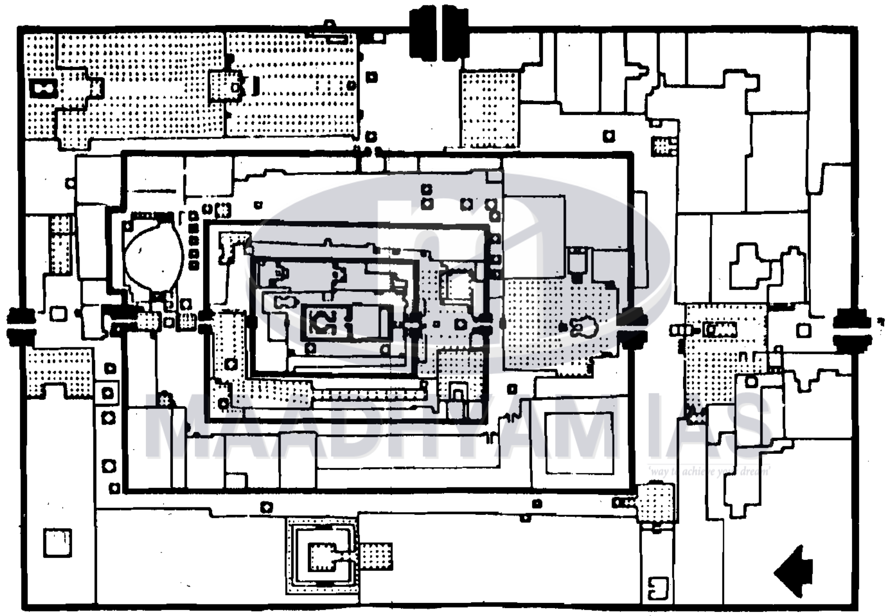

7. विष्णु मंदिर का नक्शा (श्रीरंगम्)

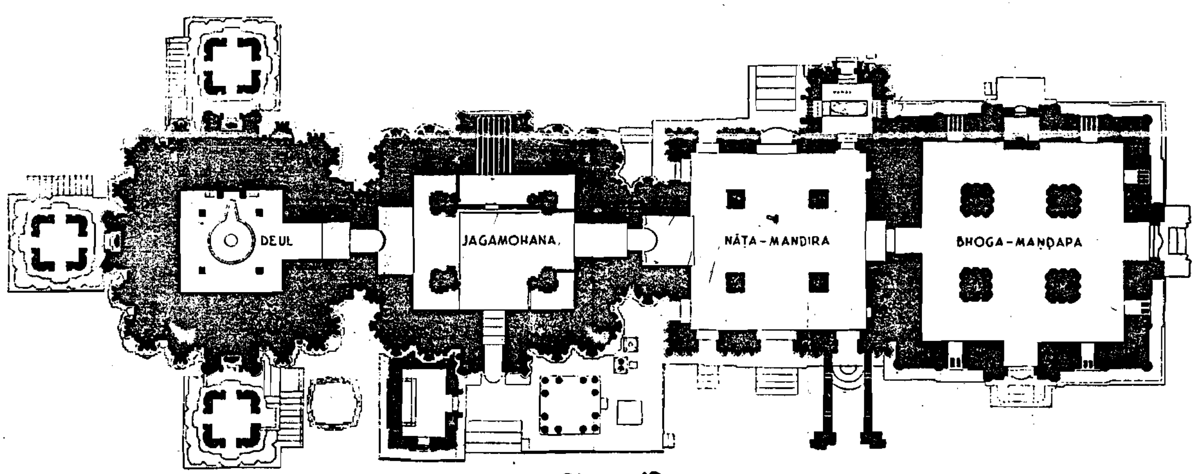

8. लिंगराज मंदिर का नक्शा

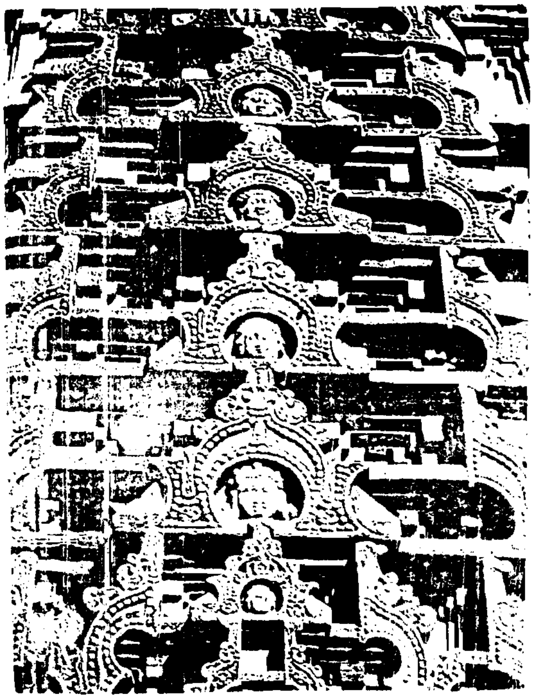

9. गलागनाथा मंदिर की अधिरचना में कुडु का विस्तार
(पट्टाडकल, 8वीं शताब्दी)

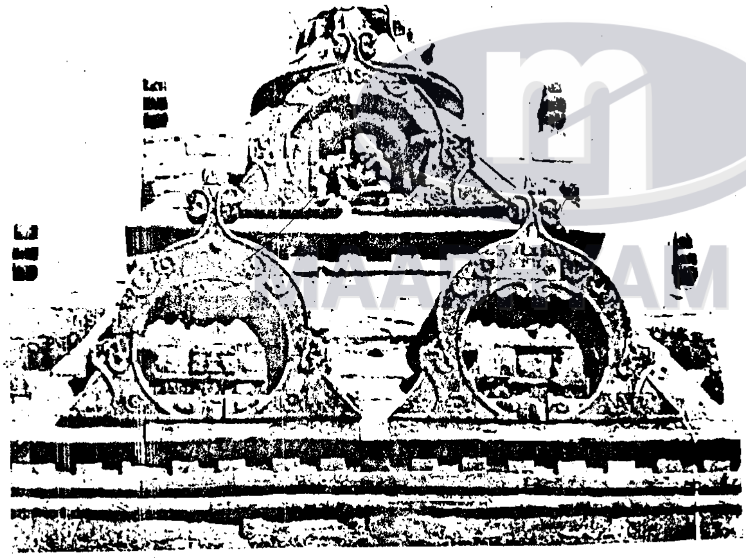

10. विष्णु मंदिर की छत पर मिथ्या घोड़े की नाल की शक्ल की खिड़कियाँ (गोप, 6-7वीं शताब्दी)

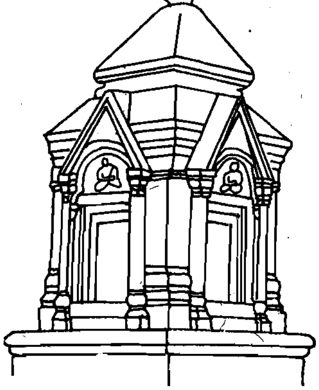

11. कश्मीर शैली का मंदिर

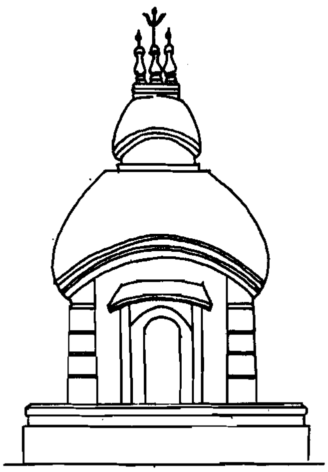

12. पत्ती-झोंपड़ी शैली का मंदिर, बंगाल

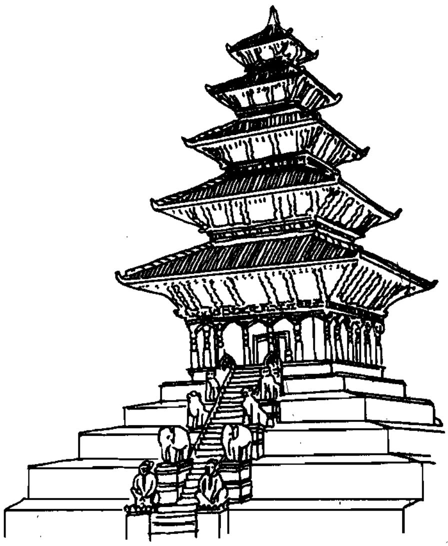

13. नेपाल शैली का मंदिर

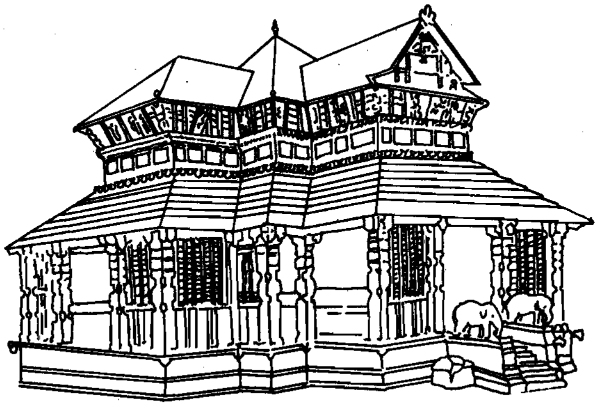

14. मालाबार शैली का मंदिर

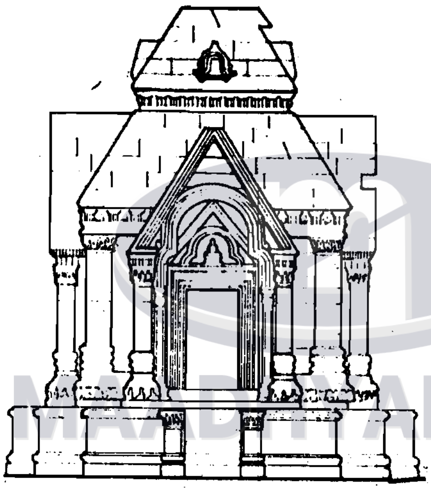

15. शिव मंदिर (पन्द्रेवन, 9-10वीं शताब्दी)

MAADHYAM IAS
way to achieve your dream

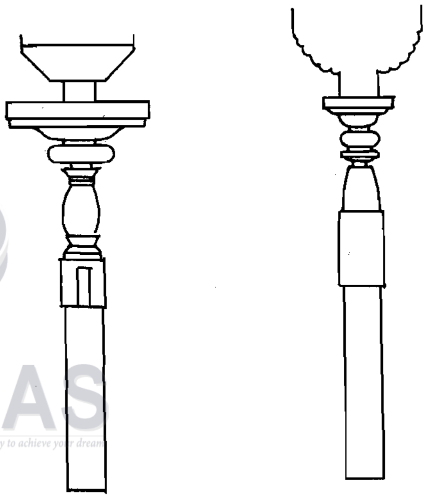

16. (अ) चोल स्तम्भ (ब) पल्लव

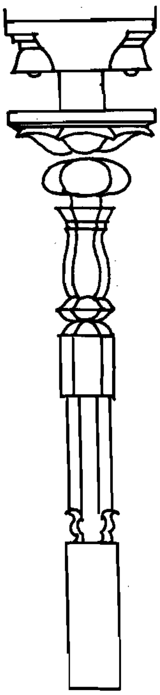

(स) विजय नगर

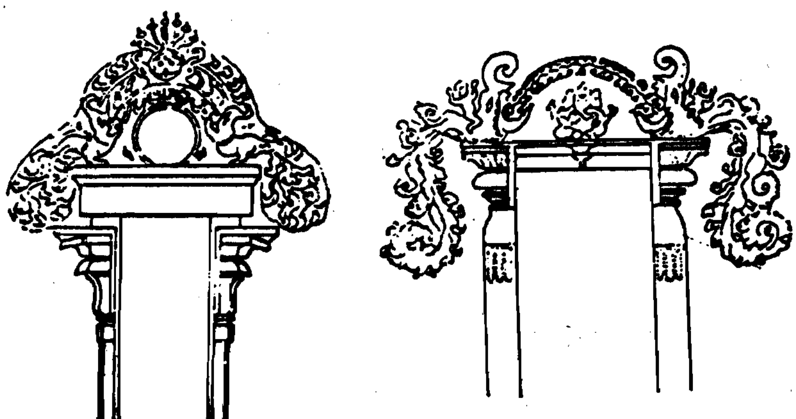

17. (अ) चोल और (ब) पल्लव काल के आले

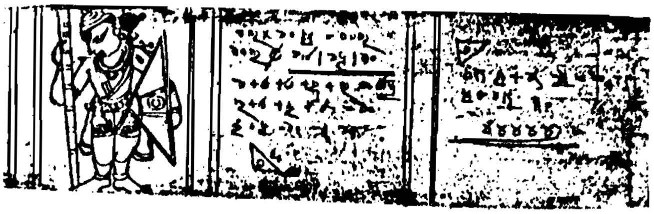

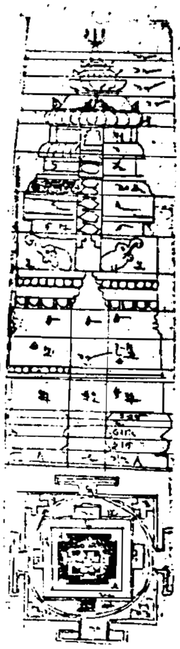

18. मंदिर निर्माण से संबंधित एक ताड़-पत्ती की पाण्डुलिपि जिसमें वास्तुकार, गणना, ऊँचाई तथा नक्शे को दर्शाया गया है

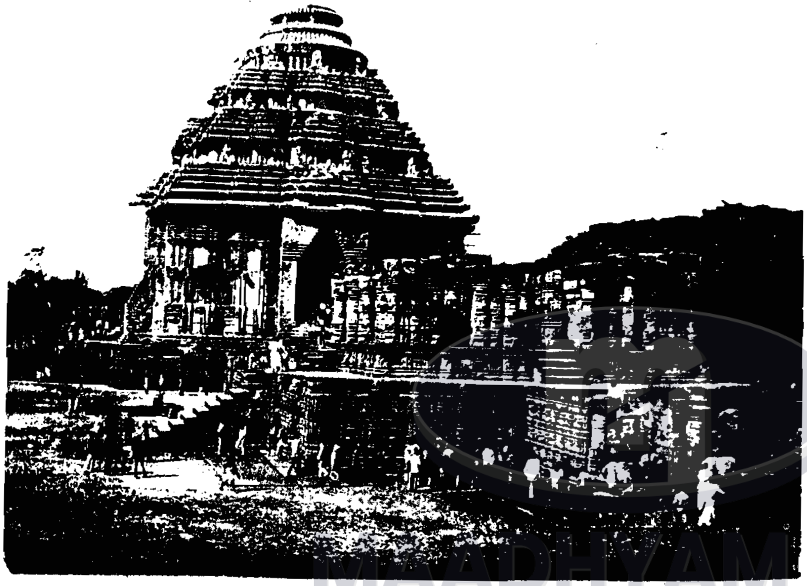

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

19. सूर्य-मंदिर (कोणार्क, 13वीं शताब्दी)

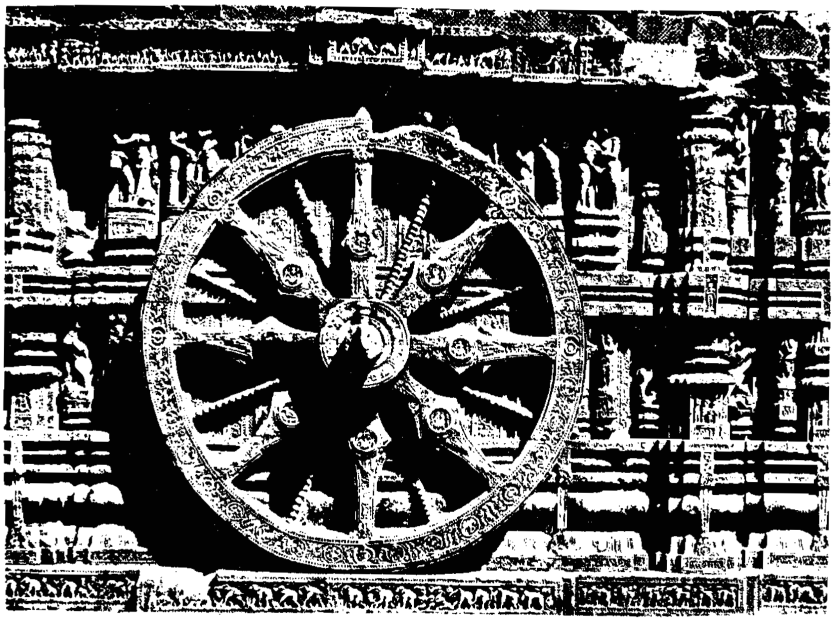

20. द्यूल, जगमोहन और पत्थर के पहिये का चबूतरा (कोणार्क)

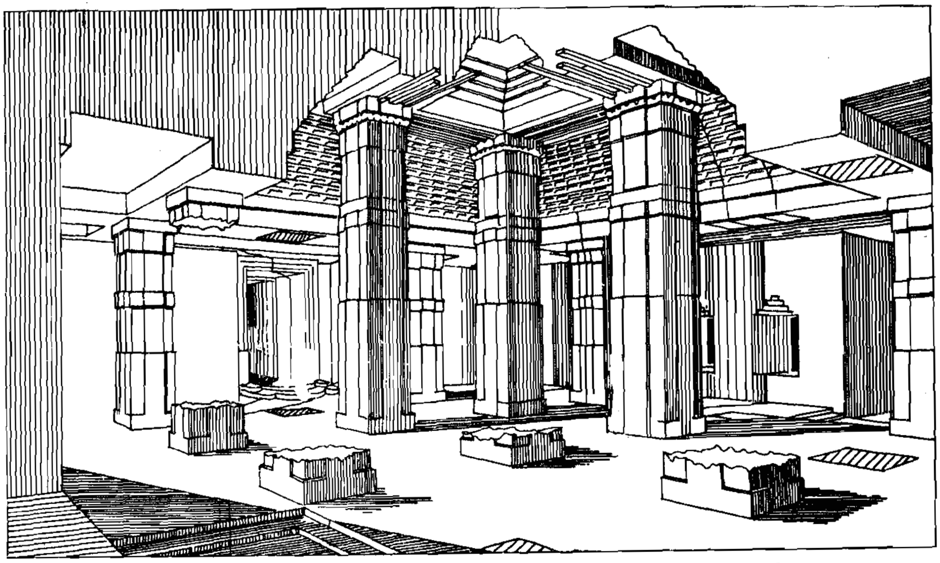

21. नटमंदिर की लोहे की तुलादण्ड वाली छत (जगननाथ मंदिर, पुरी)

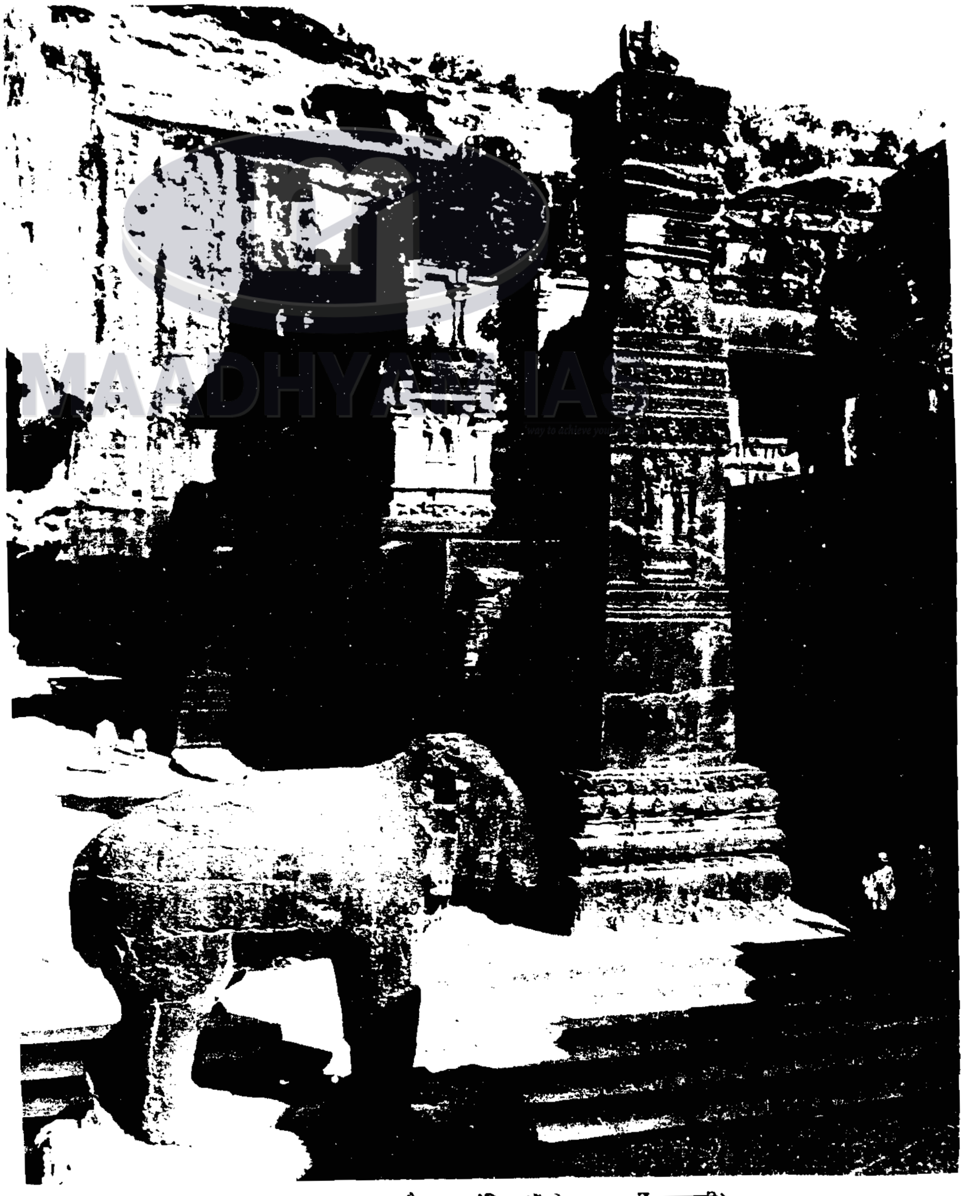

MAADHYAM IAS

22. कैलाश मंदिर (ऐलोरा, 8-9वीं शताब्दी)

23. महाबलीपुरम् के रथ (7वीं शताब्दी)

MAADHYAM IAS

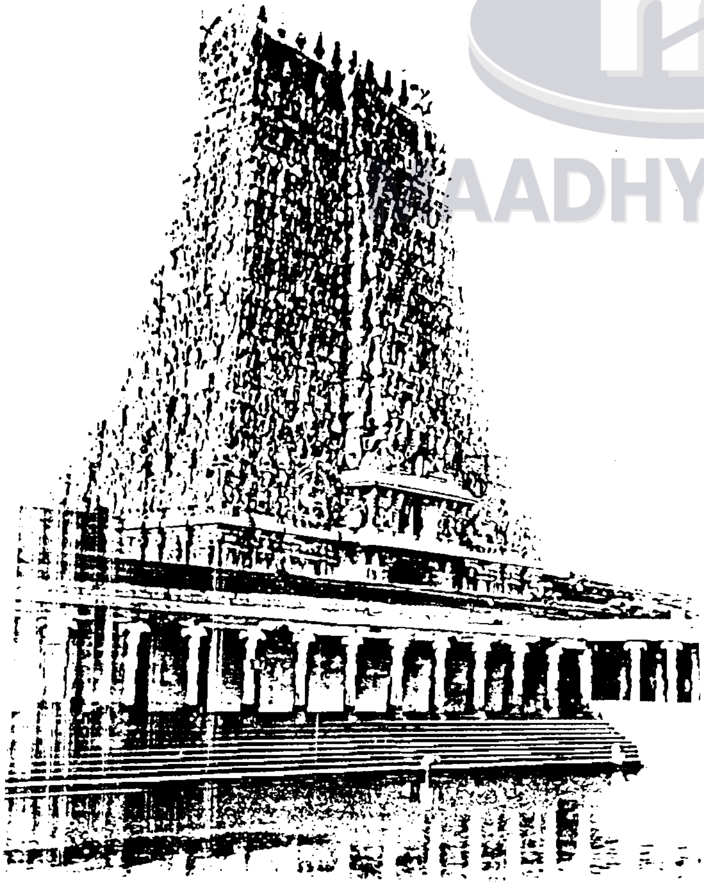

24. मीनाक्षी मंदिर (मदुरई)

25. मीनाक्षी मंदिर के अन्दर की स्तम्भावली

26. मंदिर की कुरसी पर संगीतकार (खजुराहो, 10वीं शताब्दी)

MAADHYAM IAS

27. काल्पनिक जानवरों, योद्धाओं और पर्णसमूह की नक्काशी (केशव मंदिर, सोमनाथपुर)।

इकाई 8 क्षेत्रीय राजनीति की प्रकृति

इकाई की रूपरेखा

8.0 उद्देश्य
8.1 प्रस्तावना
8.2 प्रमुख राजनीतिक घटनाक्रम
8.2.1 उत्तरी तथा पूर्वी भारत
8.2.2 पश्चिमी तथा मध्य भारत
8.2.3 दक्खन
8.2.4 दक्षिणी भारत
8.3 सन् 800-1300 ई. तक के राजनीतिक संगठन का पुनर्गठन
8.3.1 सांमतीय राजनीतिक संगठन
8.3.2 खण्डात्मक राज्य
8.3.3 एकीकृत राजनीति संगठन
8.4 सारांश
8.5 शब्दावली
8.6 बोध प्रश्नों के उत्तर

8.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- भारतीय राजनीतिक संगठन को जान सकेंगे;
- भारतीय उपमहाद्वीप के उत्तरी तथा पूर्वी भारत; पश्चिमी तथा मध्य भारत, दक्खन एवं दक्षिणी भारत के भागों में हुए प्रमुख राजनीतिक घटनाक्रम को जान लेंगे;
- पश्चिम एवं मध्य एशिया में हुए राजनीतिक परिवर्तनों और भारतीय उपमहाद्वीप में घटित राजनीतिक घटनाक्रमों के मध्य संपर्क के विषय में जान सकेंगे; तथा
- सन् 800-1300 ई. तक के राजनीतिक संगठन के पुनर्गठन की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

8.1 प्रस्तावना

इस इकाई में भारतीय राजनीतिक संगठन के प्रमुख अंगों को राजनीतिक घटनाक्रम के द्वारा परिभाषित करने का प्रयास किया गया है। इस उद्देश्य से भारतीय उपमहाद्वीप को कई भागों में विभाजित किया गया है। भारत की उत्तर-पश्चिमी सीमाओं के पार अर्थात् पश्चिम एवं मध्य एशिया में घटित कुछ परिवर्तनों का भारतीय राजनीतिक घटनाक्रम पर प्रभाव की भी विवेचना करने का प्रयास किया है। अंत में, इस इकाई में क्षेत्रीय राजनीति की प्रकृति अर्थात् भारत में राजनीतिक संगठन के स्वरूपों की विशेषताओं के प्रश्न की विवेचना की गई है।

राजनीतिक संगठन के अंतर्गत राजनीतिक शक्ति की प्रकृति, संगठन एवं वितरण का विश्लेषण शामिल है। आर्थिक एवं भौगोलिक क्षमताओं की विभिन्नताओं के कारण राजनैतिक व्यवस्थाएं भिन्न-भिन्न थीं। भारत में सन 800-1300 ई. के मध्य की अवधि न केवल आर्थिक निर्माण की दृष्टि से (देखिए खंड-1) बल्कि राजनीतिक प्रक्रियाओं के दृष्टिकोण में भी बड़ी महत्वपूर्ण थीं। वास्तव में ये दोनों एक-दूसरे से जुड़ी हुई हैं। इस काल के राजनीतिक संगठन की प्रकृति को भारतीय उपमहाद्वीप के विभिन्न क्षेत्रों की प्रमुख राजनीतिक घटनाओं के संदर्भ में ही अच्छी तरह से समझा जा सकता है।

8.2 प्रमुख राजनीतिक घटनाक्रम

हमें मुख्यतया उत्तरी, पूर्वी, मध्य, पश्चिमी और दक्षिण भारत के राजनीतिक घटनाक्रम की विस्तृत छानबीन करनी है। इसके अतिरिक्त इस काल में दक्खन में भी एक महत्त्वपूर्ण राजनीतिक शक्ति का अस्तित्व था।

8.2.1 उत्तरी तथा पूर्वी भारत

1) कश्मीर

कश्मीर अधिकांशतया अपनी आंतरिक राजनीतिक गतिविधियों में ही संलग्न रहता था लेकिन कभी-कभी यह उत्तरी भारत की राजनीति में भी सम्मिलित हो जाता था। इस पर कारकोत, उतोपाल और दो लोहार वंशों के द्वारा शासन किया गया। मुक्तविद, जिसे ललितादित्य के नाम से भी जाना जाता है, उसने कन्नौज एवं तिब्बत के कुछ भागों पर विजय प्राप्त की। कारकोत वंश के कई शासकों ने कश्मीर में सिंचाई सुविधाओं की भी व्यवस्था की। कश्मीर के इन राजाओं ने नदियों के किनारे बांधों एवं झीलों का निर्माण कराया जिससे कि घाटी के काफी बड़े क्षेत्र पर खेती की जाने लगी। लेकिन कश्मीर की राजनीति में दसवीं शताब्दी में नवीन परिवर्तन हुआ। शासकों की सैन्य अभिलाषाओं एवं भाड़े पर युद्ध करने वाले योद्धाओं के उद्भव ने सामान्य लोगों की स्थिति को शोचनीय बना दिया और राजनीतिक अस्थिरता को जन्म दिया। सन् 1000 से 1300 ई. के मध्य यहां पर लगभग 20 शासकों ने शासन किया। ये शासक अक्सर शक्तिशाली पुरोहितों एवं शक्तिशाली दमरा सामंतों के हाथ की कठपुतली बन जाते थे। पुरोहितों एवं दमरा सामंतों में भी संघर्ष हुए। रानी दि द्दा और संग्राम राप, कलश, हर्ष, जयसिंह तथा सिंहदेव जैसे राजा इन शताब्दियों की राजनीति में शामिल थे।

2) गंगा घाटी, कन्नौज

गंगा घाटी में स्थित कन्नौज अपनी भौगोलिक एवं सामरिक क्षमताओं के कारण राजनीतिक गुरुत्वाकर्षण का केन्द्र बन गया। यह दोआब के मध्य में स्थित था, जिसकी किलेबंदी सरलता से की जा सकती थी। कन्नौज पर नियंत्रण का अर्थ था गंगा दोआब के उपजाऊ पश्चिमी एवं पूर्वी भाग पर नियंत्रण। यह थल तथा जल मार्गों द्वारा भी देश के अन्य भागों से जुड़ा था। अतः इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि कन्नौज पर नियंत्रण के लिए तीन समकालीन शासकों — पालों, गुर्जर प्रतिहारों एवं राष्ट्रकूटों — के बीच बार-बार संघर्ष होता रहा। पाल मुख्यतः पूर्वी भारत, प्रतिहार पश्चिम तथा राष्ट्रकूट दक्खन भारत में केन्द्रित थे। लेकिन ये तीनों गंगा के मैदान मुख्यतः कन्नौज पर नियंत्रण स्थापित करना चाहते थे। इन तीनों के साम्राज्यों की राजनीतिक सीमाओं में समय-समय पर परिवर्तन होता रहता था।

3) बिहार एवं बंगाल

पालों का राजनीतिक आधार बिहार तथा बंगाल की उपजाऊ भूमि एवं उनके विदेशी व्यापारिक संबंध थे विशेषकर दक्षिणी पूर्वी एशिया के साथ। पाल वंश का संस्थापक गोपाल था। उसने आठवीं सदी के प्रारंभ में बंगाल को अराजकता की स्थिति से उबारा। गोपाल से पहले बंगाल में **मत्स्य-न्याय** या मछलियों का कानून था, राजनीतिक अस्थिरता जिसकी विशेषता थी। धर्मपाल ने कन्नौज के विरुद्ध एक सैनिक अभियान का सफलतापूर्वक संचालन किया किन्तु अधिक समय तक वह कन्नौज पर अपना नियंत्रण कायम न रख सका। कन्नौज पर पाल शासकों के नियंत्रण की असफलता ने उन्हें अपना प्रभाव पूर्व की ओर फैलाने के लिए बाध्य किया। देवपाल ने प्राग्जयोतिषपुर (असम) को पालों के प्रभाव क्षेत्र में ले लिया और नेपाल ने भी पालों के प्रभुत्व को स्वीकार किया। देवपाल की मृत्यु के बाद उत्तर भारतीय राजनीति में पाल शासक प्रभावशाली नहीं रहे यद्यपि इस वंश का शासन 13वीं सदी ई. के प्रारंभ तक जारी रहा। पालों का राजनीतिक संगठन राजतंत्रीय ढांचे के अंतर्गत ही था, जिसमें व्यक्तिगत एवं राज्य हित साथ-साथ विकसित हुए। साम्राज्य में कुछ ऐसे भाग थे, जिन पर प्रत्यक्ष प्रशासन चलता था और कुछ क्षेत्र में राजा के सामंत प्रशासन चलाते थे। पाल वंश का अंतिम महत्त्वपूर्ण शासक रामपाल था। उसने सन् 1080 से 1122 ई. तक शासन किया। रामपाल ने प्रशासन को **उपरिका, विषय** (ज़िला), **सामंत चक्र** (सामंत सरदारों का क्षेत्र) में संगठित किया। उसके शासन काल की एक अन्य विशेषता **कैवर्त्ता** के किसानों का विद्रोह था।

4) असम

इन सदियों के दौरान असम राजनीतिक संगठन के रूपांतरण की प्रक्रिया में था। असम दो नदी की घाटियों, ब्रह्मपुत्र एवं सुरमा, के बीच में स्थित है। सातवीं सदी ई. में वर्मन शासकों ने अपने शासन की स्थापना की और ब्रह्मपुत्र घाटी का कामरूप में राजनीतिक एकीकरण किया। वर्मन शासकों ने ब्राह्मणों को भूमि अनुदान दिए और ब्राह्मणों ने इनके बदले में कृषि भूमि का विस्तार किया तथा आदिवासी लोगों को राज्य व्यवस्था के ढांचे में शामिल किया। वर्मन शासकों ने सिंचाई के लिए बड़े-बड़े बांधों का निर्माण किया, जिससे रोपाई द्वारा चावल की खेती को काफी प्रोत्साहन मिला। प्रागज्योतिषि में शलस्तम्भा राजाओं ने आठवीं एवं नौवीं सदी में भी वर्मन राजाओं की परम्परा को जारी रखा। उन्होंने भी ब्राह्मणों तथा अन्य संस्थाओं को बहुत-से भूमि अनुदान प्रदान किए। बाद में पाल शासकों ने भी इस परम्परा को जारी रखा। असम के मध्यकालीन अभिलेखों में **राजा, रजनी, राजपुत्र** और **राजन्यका** जैसे शब्दों का प्रयोग किया गया है। ये शब्द संभवतः मध्यस्थ भू-स्वामियों के लिए प्रयोग हुए हैं।

5) उड़ीसा

उड़ीसा में बंगाल की खाड़ी के तट के साथ-साथ तथा पहाड़ी वनों में अनेक छोटे राज्यों एवं रियासतों का उदय हुआ। कलिंग, कोंगोद, दक्षिण तोसाली एवं उत्तर तोसाली बंगाल की खाड़ी के तट पर स्थित थे और दक्षिण कोसल महानदी की ऊपरी घाटी में स्थित था। राज्यों की सीमाएं समय-समय पर बदलती रहती थीं लेकिन उनके केन्द्रों के नक्शे तथा उनके द्वारा शासित मुख्य क्षेत्र छठी सदी ई. से 12वीं सदी ई. तक लगभग एक समान ही थे। राजाओं ने ब्राह्मणों को

भूमि अनुदान दिए जिन्होंने बहुत से प्रशासनिक एवं धार्मिक अनुष्ठानों को सम्पन्न किया। धार्मिक संस्थाओं को भी भूमि अनुदान दिए गए। नदी के उपजाऊ केन्द्रीय क्षेत्रों में धान की खेती तथा बाह्य एवं आंतरिक व्यापारिक संपर्कों ने विभिन्न राज्यों में राज्य व्यवस्था के निर्माण को तीव्र किया। सोमवंश से संबंधित सरदारों ने प्रारंभ में पश्चिमी उड़ीसा और फिर धीरे-धीरे उड़ीसा के अधिकतर भू-भाग पर अपने शासन का विस्तार किया। 'सुलकियों के पतन के बाद भौमकारों ने संभवतः कोदलक मंडल (ढेंकानल जिला) को तुंग एवं नंद के सामंतीय परिवारों में बाँट लिया। भंजों के विषय में हमें करीब पचास अभिलेखों से जानकारी प्राप्त होती हैं। इस वंश की कई शाखाएँ थीं। मयूर भंज, क्योंझर, बन्ध, सोनपुर एवं गुमसूर उड़ीसा के ऐसे क्षेत्र थे, जिन पर भंज वंश के परिवारजनों का अधिपत्य था। गंगा वंश के शासकों ने 12वीं शताब्दी ई. में कोणार्क के सूर्य मन्दिर जैसे अनेक मंदिरों का निर्माण कराया तथा आदिवासी क्षेत्रों पर अपने अधिकार को सुदृढ़ किया।

1. गंगा वंश का शासक नरसिंह देव जिसने कोणार्क में सूर्य मंदिर का निर्माण कराया

8.2.2 पश्चिमी तथा मध्य भारत

पश्चिमी भारत में मालवा और गुजरात का क्षेत्र गुर्जर प्रतिहारों के प्रभाव में था। मालवा काफी उपजाऊ क्षेत्र था और गुजरात बाह्य तथा आंतरिक व्यापार तंत्र का एक भाग था। प्रतिहारों ने अरब आक्रमणों का विरोध किया, और वे उत्तर भारत की राजनीति में भी भाग लेने लगे। कन्नौज का प्रलोभन भी बहुत अधिक था। प्रतिहार वंश के महानतम सम्राट भोज ने कन्नौज पर अधिकार कर लिया और यह कुछ समय तक उसके साम्राज्य का अंग रहा। बाद में गुजरात राष्ट्रकूटों के हाथों में चला गया जिससे प्रतिहारों का आर्थिक आधार नष्ट हो गया। लेकिन भोज के उत्तराधिकारी महेन्द्रपाल ने उत्तराधिकार में प्राप्त साम्राज्य को न केवल अक्षुण्ण बनाए रखा, अपितु पूर्व की ओर इसका विस्तार किया। महेन्द्रपाल के बारे में सात प्रमाण दक्षिणी बिहार एवं उत्तरी बंगाल से प्राप्त हुए हैं (जो उसके पूर्व की ओर किए गए विस्तार को सिद्ध करते हैं)।

दसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में मध्य एवं पश्चिमी भारत में अनेक राजवंशों का उदय हुआ। ये वंश स्वयं के राजपूत होने का दावा करते थे और उनमें से बहुत से गुर्जर प्रतिहारों के सामंत थे। इन राजपूत परिवारों का उदय भूमि अनुदानों की बढ़ती संख्या और फलस्वरूप नवीन भू-संबंधों के विकास से था। वे स्थानीय तथा विदेशी तत्वों के सम्मिश्रण की उपज थे और उनमें से कुछ वंशों के एकीकरण का परिणाम, पश्चिमी एवं मध्य भारत में इन नवीन उदित राजवंशों में खजुराहों के चन्देलों, अजमेर के चौहानों, मालवा के परमारों, त्रिपुरी (जबलपुर के पास) के कलाचुरियों, गुजरात के चालुक्यों, मेवाड़ के गुहिलों तथा आधुनिक दिल्ली के तोमरों को शामिल किया जा सकता है। इन विभिन्न राजपूत वंशों के शासकों ने विशाल स्तर पर किलों को बनवाया और जो शक्ति के केन्द्र थे। कुछ राजपूत वंशों में अंतर्जातीय विवाहों से उनके सामाजिक एवं राजनीतिक गतिविधियों के क्षेत्र में काफी वृद्धि हुई।

उत्तर, पश्चिमी और मध्य भारत में राजनीतिक घटनाक्रमों को पश्चिम तथा मध्य एशिया में होने वाले परिवर्तनों ने काफी प्रभावित किया। पहले व्यापारियों और फिर बाद में आक्रमणकारियों के रूप में आने वाले अरबों ने (सन् 700 से 800 ई.) भारत पर काफी प्रभाव डाला। गुर्जर प्रतिहारों, पालों एवं राष्ट्रकूटों को राजनीतिक एवं आर्थिक, दोनों क्षेत्रों में उनकी चुनौतियों का सामना करना पड़ा। समानिद वंश ने ट्रांस-ओक्सियाना, खुरासान और ईरान के कुछ भागों पर नौवीं सदी ई. में शासन किया। समानिद गवर्नरों का एक तुर्की गुलाम अलप्तिगिन था, जिसने बाद में एक स्वतंत्र राज्य की स्थापना की और गजनी को राजधानी बनाया। कुछ समय बाद महमूद ने (998-1030 ई.) गजनी के सिंहासन पर अधिकार कर लिया और मुल्तान तथा पंजाब को भी अपने अधीन कर लिया। महमूद ने भारत पर अनेक आक्रमण किए और अपनी स्थिति को मध्य एशिया में सुदृढ़ बनाया। उत्तर-पश्चिम अफगानिस्तान के गौरी वंश ने भी भारत पर आक्रमण किये। इस वंश के शहाबुद्दीन मुहम्मद (सन् 1173-1206 ई.) ने मुल्तान, उच्छ और लाहौर पर विजय प्राप्त कर पंजाब में अपना आधार बनाया और अंत में चौहान शासक पृथ्वीराज को सन् 1192 ई. में तराइन के द्वितीय युद्ध में पराजित कर दिया। उसने गहढ़वाल वंश के कन्नौज शासक जयचन्द्र को भी चन्दवार के युद्ध में सन् 1194 ई. में पराजित किया। मध्य एशिया के इन सरदारों के प्रयासों के फलस्वरूप कुतबुद्दीन ऐबक एवं इल्तुतमिश जैसे मामलूक सुल्तानों के अधीन उत्तर भारत में 13वीं सदी ई. के प्रारंभ में तुर्क साम्राज्य की स्थापना हुई। देखें खंड 4।

MAADHYAM IAS
way to achieve your dream

बोध प्रश्न 1

1) उत्तरी भारत के प्रमुख राजनीतिक घटनाक्रमों का 15 पंक्तियों में विवरण कीजिए।

....

....

....

....

....

....

....

....

....

....

....

....

....

....

....

2) पश्चिमी तथा मध्य भारत के राजनीतिक इतिहास को 10 पंक्तियों में बताइए।

....

....

....

....

....

....

....

....

....

....

....

....

....

3) निम्नलिखित में से जो कथन सही हों, उस पर सही (√) का तथा जो गलत हों, उस पर गलत (×) का चिन्ह लगाइए :

i) गंगा घाटी में स्थित कन्नौज अपनी सामारिक एवं भौगोलिक क्षमताओं के कारण महत्त्वपूर्ण हो गया।

ii) राष्ट्रकूट मुख्य रूप से पूर्वी भारत में केंद्रित थे।

iii) वर्मन शासकों ने असम में सिंचाई सुविधाओं को विकसित किया।

iv) कोणार्क के प्रसिद्ध सूर्य मंदिर का निर्माण 12वीं सदी ई. में किया गया।

8.2.3 दक्खन

दक्खन, जिसे उत्तर तथा दक्षिण भारत के बीच सेतु भी माना जाता है, आठवीं सदी ई. के प्रारंभ से ही राष्ट्रकूटों के नियंत्रण में था। उनका संघर्ष गुर्जर प्रतिहारों से गुजरात एवं मालवा पर आधिपत्य के लिये हुआ और उन्होंने गंगा घाटी पर भी अधिकार करने का प्रयास किया। उन्होंने पूर्वी दक्खन तथा दक्षिण भारत के राजवंशों को भी शांति से नहीं रहने दिया। वेंगी स्थित पूर्वी चालुक्यों (आधुनिक आंध्र प्रदेश), कांची के पल्लवों तथा मदुरई (आधुनिक तमिलनाडु) के पांडयों को भी उनके क्रोध का सामना करना पड़ा। ध्रुव (लगभग 780-930 ई.), अमोधवर्ष और कृष्णा द्वितीय (लगभग 894-914 ई.) राष्ट्रकूट वंश के प्रसिद्ध शासक थे। कल्यान के चालुक्य, देवगिरी के यादव और वारंगल के काकतेय दक्खन भारत के कुछ अन्य राजवंश थे। अंततः इन परिस्थितियों में उत्तर भारत में 13वीं सदी ई. के प्रारंभ में तुर्क साम्राज्य का उद्भव हुआ।

8.2.4 दक्षिणी भारत

दक्षिणी भारत के अंतर्गत वह संपूर्ण प्रायद्वीप आता है जो 13° उत्तरी अक्षांश के दक्षिण में तथा मालाबार एवं कोरोमंडल समुद्र तटों के बीच स्थित है। इस भू-भाग के अंतर्गत आधुनिक तमिलनाडु, केरल, दक्षिणी कर्नाटक और दक्षिणी आंध्र प्रदेश आता है। कोरोमंडल (चोलमंडलम से), प्रायद्वीप के छोर से कृष्णा एवं गोदावरी नदियों के चौड़े डेल्टे के उत्तरी छोर तक, का मैदान दक्षिण भारत के क्षेत्र का मुख्य भू-भाग था। तमिल मैदान का उत्तरी भाग तोन्दायमण्ड्लम था और पण्डिमण्ड्लम प्रायद्वीप का दक्षिणी भाग था। मालाबार तट अपनी समुद्री व्यापारिक क्षमताओं के लिए महत्वपूर्ण था। कोरोमंडल तट पर भी कावेरीपट्टनम, पाण्डिचेरी, मसूलिपट्म आदि जैसे बंदरगाह स्थित थे। इन भौगोलिक विशेषताओं ने दक्षिण भारत के राजनीतिक ढांचे को बहुत अधिक प्रभावित किया।

आठवीं सदी ई. के मध्य तक अपने समय के शक्तिशाली पल्लव तथा चालुक्य राज्यों की शक्ति काफी क्षीण हो चुकी थी। लेकिन उनकी परम्पराओं को उनके उत्तराधिकारी राजवंशों चोल एवं राष्ट्रकूटों ने बनाए रखा। कावेरी घाटी एवं कर्नाटक क्षेत्र में आधारित राज्यों के बीच कई शताब्दियों तक संघर्ष होता रहा जो इन शक्तियों के मध्य एक राजनीतिक नियम सा बन गया। ऐसा केवल आठवीं सदी ई. के अंत एवं नौवीं सदी ई. के प्रारंभ में राष्ट्रकूट तथा पल्लवों के मध्य ही नहीं था बल्कि राष्ट्रकूटों तथा पल्लवों के उत्तराधिकारी चोलों के बीच भी यह संघर्ष निरंतर बना रहा। राष्ट्रकूटों के राजनीतिक उत्तराधिकारी पश्चिमी चालुक्यों ने भी संघर्ष की इस परम्परा को जारी रखा और 11वीं सदी के प्रारंभ से अक्सर उनका चोलों के साथ संघर्ष होता रहा। प्रायः दक्खन के छोटे-छोटे राज्यों जैसे नोलम्बों, वैदुम्बों, बानों को इन बड़ी शक्तियों के संघर्ष का शिकार होना पड़ता था। इन शक्तियों के बीच वेंगी (आंध्र प्रदेश के समुद्र तट पर स्थित) भी संघर्ष का मुख्य कारण बना रहा।

MAADHYAM IAS
way to achieve your dream

दसवीं सदी ई. के बाद की दक्षिण भारत की राजनीति की तीन प्रमुख विशेषताएं थीं :

1) चोल, पाण्ड्य एवं चेरों के बीच पारस्परिक संघर्ष,

2) श्रीलंका का शामिल होना; और

3) समुद्र पार के क्षेत्रों में, विशेषकर दक्षिण-पूर्वी एशिया में, भारतीय प्रभाव का फैलना। इसकी चरम पराकाष्ठा चोल नरेश राजेन्द्र प्रथम के नौसेना अभियान (सन् 11वीं सदी ई. के मध्य) में हुई।

चोल नरेश राजेन्द्र प्रथम के नेतृत्व में गंगा घाटी तक पहुंच गए थे। इस अभियान को गंगायकोण्डा चोलापुरम (तंजावूर के उत्तर-पूर्व में स्थित) में महान मंदिर बनवाकर अमरत्व प्रदान किया गया।

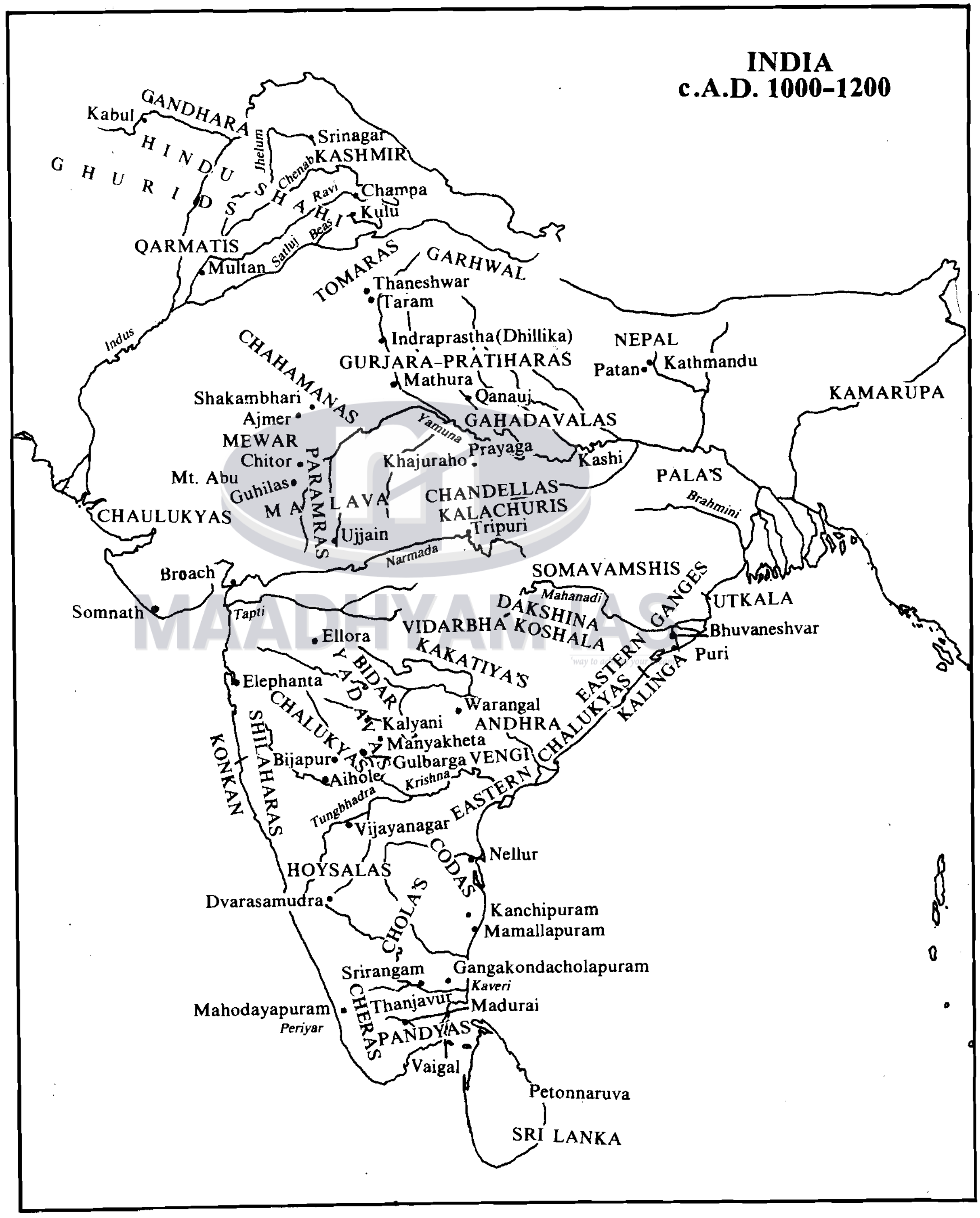

MAADHYAM IAS

मानचित्र-1 भारत 1000 ई. से 1200 ई. तक

8.3 सन् 800-1300 ई. के मध्य भारतीय राजनीतिक संगठन का पुनर्गठन

इस विषय पर 1960 के दशक के प्रारंभिक वर्षों से अब तक जो कुछ भी लिखा गया है, उन सबमें सामान्यतः तीन

8.3.1 सामंतीय राजनीतिक संगठन

इस विचार का प्रतिपादन प्रो. आर. एस. शर्मा ने 1965 में प्रकाशित अपनी पुस्तक **इण्डियन फ्यूडेलिज्म** में किया। यह भूमि अनुदानों के भारतीय चरित्र पर आधारित है। (देखिए उपभाग 1.2.1 और भाग 1.7)। यह निम्नलिखित पर केन्द्रित है :

क) भूमि के नियंत्रण एवं अधिकार पर आधारित प्रशासनिक ढांचा,

ख) राजनीतिक प्रभुत्व का विखंडन,

ग) भू-स्वामी बिचौलियों का पदानुक्रम,

घ) कृषकों की भू-स्वामियों पर निर्भरता,

च) कृषकों का दमन एवं गतिहीनता,

छ) धातु मुद्रा का सीमित उपयोग (उपभाग 3.3.1 और उपभाग 3.4.2 को भी देखिए)।।

भू-स्वामियों पर किसानों की निर्भरता एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में भिन्न-भिन्न थी। कृषि, दस्तकारी, वस्तु उत्पादन, व्यापार एवं वाणिज्य तथा नगरीकरण के विकास ने किसानों के बीच विभेद करने वाली परिस्थितियों को पैदा किया (देखिए खंड 1)। भूमि के ऊपर पदानुक्रम नियंत्रण कुछ निश्चित क्षेत्रों में भूमि को किराए पर देने की प्रथा से उत्पन्न हुआ और इसी कारणवश भू-स्वामियों के विभिन्न वर्ग पैदा हुए।

अभी हाल के वर्षों में मध्यकालीन भारत के संदर्भ में सामंतीय संगठन की वैधता पर प्रश्न उठाए गए हैं। इस संदर्भ में यह तर्क प्रस्तुत किया गया है कि मध्यकालीन समाज में आत्म-निर्भर या स्वतंत्र कृषक उत्पादन का प्रचलन था। किसानों का उत्पादन के साधनों एवं प्रक्रियाओं पर नियंत्रण था। इसके साथ-साथ यह भी तर्क दिया जाता है कि सामाजिक एवं आर्थिक ढांचे में सापेक्ष स्थायित्व था और कृषि उत्पादन तकनीकों में भी कोई अधिक परिवर्तन नहीं हुए थे। उत्पादन के साधनों के पुनर्वितरण की अपेक्षा अतिरिक्त उत्पादन के वितरण एवं पुनर्वितरण पर संघर्ष अधिक था। राज्य को प्राप्त होने वाला अतिरिक्त कृषि उत्पादन शोषण का मुख्य उपकरण था। भूमि की अधिक उर्वरकता तथा किसान के भरण-पोषण के निम्न स्तर ने सापेक्ष स्थायित्व की परिस्थितियों में राज्य द्वारा किए जाने वाले अतिरिक्त उत्पादन के संचयन को सुविधाजनक बनाया। लेकिन इस विचार ने भूमि पर एक वर्ग के सर्वोच्च अधिकारों तथा दूसरे वर्ग के निम्न स्तर के अधिकारों पर ध्यान नहीं दिया गया। वास्तव में सत्य यह है कि प्रारंभिक मध्यकाल में भूमि के एक ही टुकड़े पर किसानों को निम्न अधिकार तथा भू-स्वामियों को उच्च अधिकार प्राप्त थे। भूमि अनुदानों में किसानों की तुलना में भू-स्वामियों की स्थिति को स्पष्ट रूप से मज़बूत किया गया था। दुर्भाग्यवश सामंतीय राजनीति के आलोचक किसानों की अधीनता एवं गतिहीनता के विशाल प्रमाणों को नहीं देखते हैं, जो सामंतीय व्यवस्था के अनिवार्य तत्त्व हैं। इसके अतिरिक्त इस व्याख्या द्वारा यह आलोचक भारतीय समाज की जड़ता एवं अपरिवर्तनशीलता के औपनिवेशिक विचार को प्रबलता प्रदान करने की चेष्टा कर रहे हैं।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

8.3.2 खण्डात्मक राज्य

मध्यकालीन राजनीति को विशेष रूप से मध्यकालीन दक्षिण भारत को खण्डात्मक राज्य की अवधारणा द्वारा समझने का प्रयास किया गया है। खण्डात्मक राज्य का तात्पर्य उस राज्य से है जिसके अंतर्गत आनुष्ठानिक आधिपत्य तथा राजनीतिक संप्रभुता के क्षेत्र एक ही सिक्के के दो पहलू नहीं होते हैं। विधिवत आधिपत्य या विधिवत अर्थ-स्वतंत्र राज्य सामान्यतः उदार एवं उसका क्षेत्र परिवर्तनीय होता है। लेकिन राजनीतिक संप्रभुता केंद्रीय क्षेत्र तक सीमित होती है। खण्डात्मक राज्य में विभिन्न स्तरों पर सहायक शक्ति के बहुत से केन्द्र विद्यमान होते हैं और वह राज्य शक्ति से अलग पदानुक्रम रूप में संगठित होता है। शासक वंश के राजाओं ने प्राथमिक केंद्र से सहायक केंद्रों को वैचारिक रूप से एकीकृत किया है। राज्य के खण्डों में वास्तविक राजनीतिक नियंत्रण स्थानीय सम्पन्न वर्ग द्वारा किया जाता है। यह भी माना जाता है कि ब्राह्मणों एवं प्रभुत्वशाली किसानों के मध्य घनिष्ठ सहयोग विद्यमान था। खण्डात्मक राज्य के प्रतिपादन की कुछ सीमाएं हैं। आनुष्ठानिक आधिपत्य को सांस्कृतिक आधिपत्य के साथ उलझा दिया जाता है। यह शक्ति के भिन्न-भिन्न केंद्रों को मुख्य क्षेत्र से अलग समझती है और उनको राज्य शक्ति के अंगों के रूप में नहीं देखती। इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि दक्षिण भारतीय किसानों के चरित्र की विषमताओं को भली-भांति नहीं समझा गया है। जहां तक खण्डात्मक राज्य के द्वारा राज्य के ढांचे की राजनीतिक तथा आर्थिक विशालता को इसकी अनुष्ठानिक विशालता तक सहायक बनाने का प्रश्न है, उसमें वह अधिक विश्वास प्रेरित नहीं कर पाता है। इस अवधारणा को राजपूत राजनीतिक संगठन पर भी लागू किया गया है। ऐडन साउथहाल एवं बर्टेन स्टीन इस विचार के सबसे बड़े प्रतिपादक हैं।

8.3.3 एकीकृत राजनीतिक संगठन

इस विचार के प्रतिपादक प्रो. बी.डी. चट्टोपाध्याय हैं। इनके अनुसार राजनीतिक प्रक्रिया का अध्ययन करते समय राज्य व्यवस्था के स्थापित मानकों और केन्द्र बिन्दुओं को ध्यान में रखा जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त राज्य के सपाट प्रसार में राज्य स्थापना से पूर्व की राजनीतिक व्यवस्था की राज्य राजनीति व्यवस्था में रूपांतरण और स्थानीय राजनीति का उस ढांचे में एकीकरण जो स्थानीय राजनीति की सीमाओं से बाहर निकल गया हो तथा शासक परिवारों की वृद्धि को प्रारंभिक

मध्यकाल भारत में सामाजिक गतिशीलता की प्रक्रिया के रूप में देखा गया है। सत्ता के विसर्जित केंद्रों का प्रतिनिधित्व सामान्यतः कथित **सामंत** व्यवस्था द्वारा होता था। **सामंत** राजनीतिक संगठन के उस ढांचे में एकीकृत थे, जिसके अंतर्गत स्वामीदास संबंध अन्य संबंधों से ज्यादा महत्त्वपूर्ण थे। सामंतों का राजनीतिक ढांचे के एक विशाल अंग के रूप में रूपांतरण स्वयं में पदानुक्रम का प्रमाण है और इस तरह से यह एकीकरण के राजनीतिक आधार को स्पष्ट करता है। राजनीतिक संगठन के आधार के रूप में पद का तात्पर्य है केन्द्र के प्रति पहुंच में भिन्नता तथा पदानुक्रम में परिवर्तन। यह भी माना जाता है कि पद को राजनीतिक संगठन का आधार मानने से पदाधिकारियों में आपस में एवं पदाधिकारियों और राजा (सर्वोच्च पद धारण करने वाले) के बीच संकट पैदा हुआ। पद व्यवस्था पर आधारित यह एकीकृत राजनीतिक संगठन खण्डात्मक राज्य की अवधारणा के समीप ही अधिक है।

एकात्मक राजनीतिक संगठन सामंतीय राजनीतिक संगठन की भांति राजनीतिक प्रक्रियाओं के समकालीन आर्थिक, सामाजिक और धार्मिक परिवर्तनों के समांतर ही देखता है। जैसे कि :

1) ग्रामीण कृषि बस्तियों का सपाट प्रसार (देखिए भाग 1.2);

2) **वर्ण** विभाजन पर आधारित सामाजिक व्यवस्था की प्रमुख विचारधारा का सपाट प्रसार (देखिए भाग 2.1 और भाग 2.3); और

3) स्थानीय सम्प्रदायों, अनुष्ठानिक एवं पवित्र केंद्रों का एक बड़े ढांचे में एकीकरण (देखिए भाग 2.3)।

लेकिन इस प्रकार का निर्धारण पारिभाषिक रूप से संदिग्धता पूर्ण है। ''शासक परिवार का आधिपत्य'' और ''राज्य समाज'' जैसे शब्दों को स्पष्ट नहीं किया गया है। इसके अतिरिक्त सामंत अपनी राजनीतिक समझ के बावजूद भू-स्वामी कुलीन ही बने रहे। इन सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि खण्डात्मक राज्य और एकीकृत राज्य कोई वैकल्पिक भौतिक आधार उपलब्ध नहीं कराते, जो सामंतीय राजनीतिक संगठन का मुकाबला कर सके। एकीकृत एवं खण्डात्मक, दोनों प्रकार के राज्यों की व्याख्या उन भूमि अनुदानों के संदर्भों में की जा सकती है जो सामंतीय ढांचे के निर्णायक तत्त्व थे। जिस तरह से सरदारों के स्थानीय भू-स्वामी अपनी वित्तीय और प्रशासनिक शक्तियाँ राजा से प्राप्त करते थे, राजा को नजराना देते और उसके प्रति सैन्य एवं प्रशासनिक अनुबंधों को पूर्ण करते और (उसी प्रकार से) वे एकीकरण के लिए कार्य करते। दूसरी ओर, जब वे स्थानीय किसानों पर स्वायत्त तौर पर शासन करते थे वह खण्डात्मक प्रभुत्व के समान था। ''शासक परिवार का भूगोल'' जो एकीकृत राजनीतिक संगठन की अवधारणा को पुनर्गठित करने में एक निर्णायक तत्त्व है, अखिल भारतीय स्तर पर उपलब्ध नहीं होता। चौहानों एवं परमारों को छोड़कर, ''शासक परिवार परम्परा'' ने राजनीतिक संगठन में कोई महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा नहीं की। पदों का निर्माण भी भूमि के असमान वितरण और उसके राजस्व स्रोतों के आधार पर किया गया था। इसी प्रकार, राजनीतिक आधिपत्य और अनुष्ठानिक आधिपत्य के मध्य की भिन्नता उनके क्रमशः अंतर्भाग तथा बाह्य क्षेत्र की एकता से बनी थी। इसी को खण्डात्मक राज्य की अवधारणा का मूलभूत आधार समझा गया लेकिन इस अवधारणा की वस्तुनिष्ठता सिद्ध करने के लिए भारतीय उपमहाद्वीप के बहुत से क्षेत्रों से तथ्यपरक आंकड़ों का अभाव है। लेकिन दूसरी ओर, यदि हम मध्यकालीन भारतीय राजनीति का पुनर्गठन सामंतवाद के परिप्रेक्ष्य में करें तब हम ऐसे तत्त्वों पर निर्भर करते हैं, जिनको अखिल भारतीय स्तर पर लागू किया जा सकता है।

MAADHYAM IAS

बोध प्रश्न 2

1) दक्खन तथा दक्षिण भारत में राजनीतिक घटनाक्रम की रूपरेखा बताइए। उत्तर 15 पंक्तियों में दीजिए।

....

....

....

....

....

....

....

....

....

....

....

....

....

....

2) सामंतीय राजनीतिक संगठन की अवधारणा पर दस पंक्तियों में टिप्पणी लिखिए।

3) "खण्डात्मक राज्य" की अवधारणा से आप क्या समझते हैं? दस पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

MAADHYAM IAS
way to achieve your dream

8.4 सारांश

सन् 800 से 1300 ई. तक भौगोलिक आकार, आर्थिक ढांचा तथा वैचारिक स्वरूप मुख्यतः एक क्षेत्र के राजनीतिक संगठन की प्रकृति को निर्धारित करते थे।

- कश्मीर में पुरोहितों तथा दमरों जैसे भू-स्वामी सामाजिक गुटों ने आंतरिक राजनीतिक को प्रभावित किया।
- नौवीं सदी ई. के मध्य तक गंगा घाटी एवं कन्नौज संघर्ष का मुख्य कारण थे। उत्तर, पश्चिम तथा दक्खन की तीन मुख्य शक्तियाँ क्रमशः पाल, गुर्जर प्रतिहार तथा राष्ट्रकूट इस संघर्ष में क्रियाशील थी।
- इस समय असम का रूपांतरण आदिवासी राजनीति से राज्य राजनीति में हो रहा था और उसका संपर्क उत्तरी भारत के साथ स्थापित हो रहा था।
- उड़ीसा में राज्य का उद्भव मज़बूत जनजातीय तत्त्वों के साथ हो रहा था।
- पश्चिम तथा मध्य भारत में इस समय में राजपूत शासकों की संख्या में काफी वृद्धि हुई। उनमें से अधिकतर गुर्जर प्रतिहारों के सामंत थे।
- पश्चिम तथा मध्य एशिया के राजनीतिक घटनाक्रम का भारतीय राजनीति पर काफी प्रभाव पड़ा। सातवीं सदी ई. में अरबों का व्यापारियों के रूप में आगमन के समय से 13वीं सदी ई. के प्रारंभ में तुर्क साम्राज्य की स्थापना तक भारतीय उपमहाद्वीप विदेशी शक्तियों के आक्रमण का मुख्य निशाना बना रहा।
- दक्खन तथा दक्षिण में कर्नाटक तथा कावेरी घाटी में स्थित राज्यों के बीच लगातार संघर्ष होते रहते थे। इसी प्रकार से आंध्र प्रदेश के समुद्र तट (वेंगी) पर अधिकार करने की लालसा को लेकर चोलों, पाण्ड्यों एवं चेरों के मध्य संघर्ष हुए और इन संघर्षों में यदा-कदा श्रीलंका भी शामील हुआ। इस क्षेत्र की राजनीति की मुख्य विशेषता यही संघर्ष थे। चोल राजाओं ने समुद्र के मार्गों से दक्षिण-पूर्वी एशिया तक पहुंचने के सफलतापूर्वक प्रयास किये।
- मध्यकालीन भारतीय राजनीतिक ढांचे का पुनर्गठन करने के लिए तीन प्रकार की अवधारणाओं को आधार बनाया गया है। सामंतीय राजनीतिक संगठन, खण्डात्मक राज्य तथा एकीकृत राजनयिक संगठन। बाद की दो अवधारणाओं

को स्थानीय स्तर पर एवं सीमित तौर पर ही लागू किया जा सकता है। उनको भौतिक आधार पर वैकल्पिक रूप से तर्कसंगत नहीं बनाया जा सकता। ये अवधारणाएं भी "सामंतीय प्रारूप" के उत्पादन की शक्तियों के मूल तत्त्वों पर निर्भर करती हैं। सामंतीय तत्त्वों को अखिल भारतीय स्तर की राजनीति में प्रयुक्त किया जा सकता और उन परिस्थितियों में शोध करने के लिए प्रो. आर. एस. शर्मा द्वारा प्रस्तुत "सामंतीय प्रारूप" ही अधिक तर्क संगत है। लेकिन वास्तव में भिन्न-भिन्न क्षेत्रों की राजनीति का विश्लेषण अलग-अलग किया जाना चाहिए तथा भारतीय उपमहाद्वीप के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों के बीच तथ्यपरक संबंधों को स्थापित करने की आवश्यकता है।

8.5 शब्दावली

दमरा : कश्मीर के शक्तिशाली भू-स्वामी।

मण्डल : एक प्रशासनिक विभाजन।

मत्स्य-न्याय : मछलियों का कानून—अराजकता की स्थिति।

राजन्यका : बिचौलिया भू-स्वामी एवं एक अधिकारी।

राणका : बिचौलिया भू-स्वामी एवं एक अधिकारी।

सामंत चक्र : ज़मींदारों का इलाका।

8.6 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) आप अपने उत्तर में कश्मीर एवं गंगा घाटी के राजनीतिक घटनाक्रम को शामिल करें। (देखिए उपभाग 8.2.1)।

2) देखिए उपभाग 8.2.2

3) i) ✓ ii) × iii) ✓ iv) ✓

बोध प्रश्न 2

1) आप अपने उत्तर में राष्ट्रकूटों, चोलों, पाण्ड्यों एवं चेरों के राजनीतिक इतिहास को शामिल करें (देखिए उपभाग 8.2.3 और 8.2.4)।

2) देखिए उपभाग 8.3.1

3) अनुष्ठानिक एवं राजनीतिक संप्रभुता के बीच भेद (देखिए उपभाग 8.3.2)।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

इकाई 9 उत्तरी और पूर्वी भारत

इकाई की रूपरेखा

9.0 उद्देश्य
9.1 प्रस्तावना
9.2 क्षेत्र की परिभाषा
9.3 शक्तियों का विभाजन : राजा का नवीन स्वरूप
  9.3.1 प्रशासनिक इकाइयों का विकास
  9.3.2 प्रशासनिक एवं वित्तीय अधिकारों का हस्तांतरण
  9.3.3 राजा बनाने में भू-पतियों की भूमिका
9.4 रूपांतरित नौकरशाही
  9.4.1 अधिकारी, भू-पति एवं भूमि
  9.4.2 सामंतों का पदानुक्रम
  9.4.3 नौकरशाही का सामंतीकरण
  9.4.4 भू-स्वामित्व एवं वंश का महत्त्व
9.5 सामंतों के कार्य
9.6 सामंतों के आंतरिक संबंध
9.7 भूमि अनुदान एवं उनकी वैधता
9.8 सारांश
9.9 शब्दावली
9.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

9.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आपको :

- उन क्षेत्रों की जानकारी होगी जिनको उत्तरी एवं पूर्वी भारत में शामिल किया गया है;
- राजतंत्र की वास्तविक प्रकृति का ज्ञान हो जाएगा;
- प्रशासनिक एवं वित्तीय शक्तियों के वितरण के विषय में जानकारी प्राप्त होगी;
- भू-पतियों तथा राज्य अधिकारियों की भूमिका के विषय में जानकारी प्राप्त होगी;
- भूमि वितरण के आधार पर प्रशासनिक ढांचे में होने वाले परिवर्तनों की जानकारी हो सकेगी;
- सामंतों के शक्ति-पदानुक्रम के विषय में जानकारी होगी;
- वंश एवं भू-स्वामित्व का प्रभाव के विषय में जानकारी प्राप्त होगी;
- सामंतों के कार्यों की जानकारी होगी;
- भू-पतियों के आंतरिक संबंधों के विषय में भी ज्ञान हो जाएगा; और
- राजनीतिक प्रभुत्व के वैचारिक आधार का ज्ञान प्राप्त हो सकेगा।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

9.1 प्रस्तावना

इससे पूर्व की इकाई 8 में आपका परिचय सन् 800-1300 ई. तक भारतीय उपमहाद्वीप के राजनीतिक संगठन की प्रकृति पर सैद्धांतिक बहस से कराया गया। वर्तमान इकाई में उत्तर तथा पूर्वी भारत का अध्ययन एक उदाहरण के रूप में किया गया है। इसका पुनर्विश्लेषण सामंतीय राजनीतिक संगठन की अवधारणा के अनुरूप ही किया गया है। इस इकाई में तथाकथित केन्द्रीकृत राजतंत्रों की सीमित शक्तियों तथा नये राजतंत्रों की वास्तविक प्रकृति को विश्लेषित करने का प्रयास किया गया है। इस इकाई में हम भू-स्वामित्व, प्रशासनिक एवं वित्तीय शक्तियों के वितरण और न्यायिक तथा पुलिस अधिकारों के हस्तांतरण के प्रतिमानों के विषय में चर्चा करेंगे। हम इस इकाई में नवीन प्रकार की नौकरशाही के उद्भव, सामंतों के पदानुक्रम तथा सामंतों एवं अधिकारियों के विभिन्न प्रकार के कार्यों का विवेचन करेंगे। ये सभी बहु-केन्द्रित राजनीतिक शक्ति के ढांचे के उदय के संकेत उस क्षेत्र में हैं जिसके विषय में हम चर्चा कर रहे हैं। इस इकाई में इस ढांचे के वैचारिक आधार पर भी प्रकाश डाला जाएगा।

9.2 क्षेत्र की परिभाषा

1950 के दशक के प्रारंभ से लिखे गए ऐतिहासिक लेखों में उत्तरी एवं पूर्वी भारत के राजनीतिक ढांचे के संबंध में बहुत से प्रश्नों को स्पष्टता से उठाया। यह राजनीतिक ढांचा सभी क्षेत्रों में तथा सभी स्तरों पर हुए परिवर्तनों का परिणाम था। इन परिवर्तनों की गति को भूमि अनुदानों की व्यवस्था ने निर्धारित किया (देखें खंड 1)। अभी हाल में राजनीतिक ढांचे पर लिखे गए ऐतिहासिक लेखों में मुख्यतः सामंतवाद की अवधारणा को ही विश्लेषण का प्रधान आधार बनाया गया है।

उत्तरी तथा पूर्वी भारत को किस प्रकार परिभाषित किया जाए? इसमें मुख्यतः विंध्याचल पर्वत के उत्तर के भू-भाग से हिमालय की तराई तक का क्षेत्र शामिल किया गया है। लेकिन इस क्षेत्र से आधुनिक गुजरात, राजस्थान एवं मध्य प्रदेश को अलग रखा गया है क्योंकि ये प्रदेश पश्चिमी एवं मध्य भारत के भू-भाग हैं (देखें इकाई 10)। इस प्रकार उत्तर भारत में कश्मीर, पंजाब, हिमाचल प्रदेश, हरियाणा एवं उत्तर प्रदेश आते हैं और पूर्वी भारत के अंतर्गत बिहार, बंगाल (बंगला देश सहित), उड़ीसा तथा ब्रह्मपुत्र घाटी सहित असम को रखा गया है। इन क्षेत्रों की महत्त्वपूर्ण राजनीतिक शक्तियों के विषय में इकाई 8 के उपभाग 8.2.1 में पहले ही लिखा जा चुका है।

9.3 शक्तियों का विभाजन : राजा का नवीन स्वरूप

प्रारंभिक मध्यकाल में राजा भारी भरकम शब्दों वाली उपाधियों जैसे कि **परम भट्टारक, महाराजाधिराज, परमेश्वर** आदि को धारण करते थे। इन भारी-भरकम उपाधियों के कारण अक्सर राजाओं को शक्तिशाली केंद्रीकृत राजत्व का प्रतीक समझ लिया जाता है। परन्तु यह सत्य नहीं है। क्षेत्रीय विभाजन, प्रशासनिक तथा वित्तीय शक्तियों के वितरण से जुड़े प्रमाण वास्तविक शक्ति के केन्द्रों को स्पष्ट करते हैं। भाटो की चाटुकारिता ने राजाओं के चारों ओर एक आडम्बरपूर्ण वातावरण बना दिया। वे राजाओं को राजाओं के राजा समझने लगे और दैविक शक्ति से जोड़ने लगे। राजा का इस प्रकार का चित्रण करने का यह परिणाम हुआ कि वह अब राज्य का वास्तविक प्रमुख रहने की अपेक्षा एक व्यक्तिगत व्यक्ति अधिक बन गया। यह एक केंद्रीकृत शक्ति का ढांचा न होकर बहु-केंद्रों वाली शक्ति का ढांचा हो गया था।

9.3.1 प्रशासनिक इकाइयों का विकास

राजनीतिक ढांचे की मुख्य विशेषता राजनीतिक एवं आर्थिक शक्तियों का विभाजन है। अभिलेखीय प्रमाणों में **भुक्ती, मंडल, विषय** जैसे शब्दों का वर्णन किया गया है। पालों के शासन में **पुन्द्रावर्धन-भुक्ती, वर्धमान भुक्ती, दंड भुक्ती, तिराभुक्ती** आदि थे। मंडलों का प्रचलन बंगाल में अधिक था, लेकिन बिहार में बहुत कम। पाल अभिलेखों में **न्यास** या **विभि** और **खांडला** जैसी कुछ छोटी प्रशासनिक इकाइयों का भी वर्णन किया गया है। बारहवीं सदी की वैद्य देव के ताम्र अनुदान-पत्र, जो असम से प्राप्त हुआ है, में भुक्ती मंडल एवं विषय का वर्णन किया गया है। उड़ीसा में भी विषयों एवं मंडलों का उल्लेख 12वीं सदी के प्रमाणों में माही परिवार को दिए जाने वाले भूमि-अनुदानों के रूप में उद्धृत किया गया है। **पत्ताल** एवं **पाठक** गहड़वालों के अंतर्गत प्रशासनिक इकाइयाँ थीं।

साहित्कि स्रोतों में भी ऊपर उल्लेखित बहुत सी प्रशासनिक इकाइयों का वर्णन किया गया है। हरिसेन की 10वीं सदी की रचना **कथा-कोष** में विषय का उल्लेख राजा की एक जागीर के रूप में किया गया है जिसके अधीन (राजा के) एक सामंत था। कश्मीर के इतिहास पर रचित **राजतरंगिनी** में **स्व-मंडल** तथा **मंडलांतर** में विभेद किया गया है। इसके अनुसार कश्मीर में राजा अपने मंडलों पर प्रत्यक्ष प्रशासनिक नियंत्रण रखता था, जबकि दूसरे मंडलों पर शासन सामंत के द्वारा किया जाता था। इन मंडलों पर एक सरदार (प्रमुख) की सहायता से भूमि अनुदानों के द्वारा गांव को सामंत सरदारों को दिया जाता था या वे ताकत के बल पर इन पर अधिकार कर लेते थे या फिर कुछ गांव वालों के व्यक्तिगत तौर पर समर्पण आदी तरीकों के द्वारा प्रशासन किया जाता था। इसी ग्रंथ में एक प्रशासनिक इकाई के लिए **गुलमा** शब्द का प्रयोग हुआ है। इसके अंतर्गत तीन से पांच गांव तक होते थे। **राजतरंगिनी** में **ग्रामपति, ग्रामाधिपति, देशग्रामापति, विम्पातिम्शाग्रामापति, सहस्त्रग्रामापति** जैसे शब्दों का प्रयोग गावों के पदानुक्रम को अभिव्यक्त करता हैं। ग्रामों के मुखियाओं को अदा किए जाने वाले कर की मात्रा एवं कर-प्रणाली के स्वरूप को भी स्पष्ट किया गया है। दशश (दस गांवों का मुखिया) को उतनी ही भूमि प्राप्त होती थी जितनी वह एक हल से जोत सकता था। **विम्पातिशा** (20 ग्रामों का मुखिया) को संपूर्ण गांव पारितोषिक के रूप में प्राप्त होता था।

9.3.2 प्रशासनिक एवं वित्तीय अधिकारों का हस्तांतरण

यह विभिन्न स्तरों पर प्रशासनिक इकाइयों की वृद्दि मात्र न था। पुलिस, अपराध, विधि एवं न्याय-प्रशासन सहित अन्य प्रशासनिक और वित्तीय अधिकारों को भूमि अनुदान प्राप्त कर्त्ताओं को दे दिए जाने से राजा एवं किसानों के बीच भू-स्वामियों का एक कुलीन वर्ग पैदा हो गया। लेकिन इस प्रक्रिया की गहनता एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में भिन्न थी। प्रशासनिक शक्तियों के विभाजन, जो सामंतीय राजनीतिक प्रणाली की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है, को शक्ति केन्द्रों के निरंतर स्थानांतरण द्वारा निर्देशित किया जा सकता है। इस प्रवृत्ति का एक महत्त्वपूर्ण उदाहरण पाल इतिहास के प्रमाणों

में संकेतित **नौ स्कन्धवर** (विजय सैन्य कैंप) है। इसी प्रकार के इक्कीस स्कन्धवरों का उल्लेख चंदेलों के स्रोतों में भी मिलता है। लेकिन इस संदर्भ में प्रतिहारों में कुछ स्थिरता थी क्योंकि केवल उज्जैनी तथा महोदया (कन्नौज) का ही वर्णन उनकी राजधानियों के रूप में मिलता है। राजधानी परिवर्तन, किलेबंदी आदि भी राजनीतिक शक्ति के कार्य हैं। यह उल्लेखनीय है कि पाल शासकों ने अपने साम्राज्य में 20 किलों का निर्माण कराया।

9.3.3 राजा बनाने में भू-पतियों की भूमिका

सत्ता का मंत्रियों के हाथों में एकत्रित हो जाना प्रारंभिक मध्य काल में राजत्व की प्रकृति की एक और उल्लेखनीय विशेषता थी। क्षेमेन्द्र द्वारा लालची मंत्रियों का स्पष्टवादी वर्णन तथा कल्हन द्वारा **दमरों** के जुल्मों एवं षडयंत्रों का रोचक चित्रण स्पष्ट करता है कि मंत्रीगण स्वार्थी थे और इन्हें शायद ही जनता की भलाई से कोई लेना-देना था। 12वीं सदी ई. के एक ग्रंथ **मनसोल्लास** में राजा को यह सलाह दी गई है कि वह अपनी प्रजा की रक्षा न केवल लूटेरों से अपितु मंत्रियों सहित वित्तीय एवं राजस्व अधिकारियों से भी करनी चाहिए। उड़ीसा के सोमवंशियों ने स्पष्ट किया है कि सामंत राजा को हटा सकते थे और उसको सिंहासन पर बैठा भी सकते थे। लेकिन इस प्रकार के मामलों की संख्या न बहुत अधिक थी और न ही इसको वैधता प्राप्त थी।

बोध प्रश्न 1

1) प्रारंभिक मध्यकाल के राजाओं की भारी-भरकम उपाधियों पर टिप्पणी लिखिये।

2) उत्तरी तथा पूर्वी भारत के विभिन्न क्षेत्रों में प्रचलित विभिन्न प्रशासनिक इकाइयों के नाम बताइए।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

3) प्रशासकीय एवं वित्तीय अधिकारों के हस्तांतरण से आप क्या समझते हैं? संक्षेप में लिखिए।

9.4 रूपांतरित नौकरशाही

जिस तरह स्थानीय इकाइयों के रूप में प्रशासनिक शक्तियों का विभाजन हुआ ठीक उसी के समानांतर प्रशासनिक व्यवस्था के अंतर्गत नौकरशाही के ढांचे में भी रूपांतरण हुआ। भूमि अनुदानों के द्वारा अधिकारियों तथा सामंतों को वेतन देना, सामंतों का पदानुक्रम, राजाओं तथा अधिकारियों की उपाधियों का सामंतीकरण और वंश के लोगों को भूमि का वितरण इस नयी नौकरशाही की विशेषताएं थीं।

9.4.1 अधिकारी, भू-पति और भूमि

स्कन्द-पुराण का **ब्रहम-खंड** जो सामान्यतः 8-9 सदी ई. से 13वीं सदी ई. तक के भारत के इतिहास एवं संस्कृति पर प्रकाश डालता है, गांवों के अनुदानों की उस लंबी ऐतिहासिक कथा का विवरण प्रस्तुत करता है जिसके अनुसार राजा राम ने धार्मिक अनुष्ठानों को संपन्न करने के बाद कई गांवों को 18000 ब्राह्मणों 36,000 वैश्य एवं इससे चार गुणे शुद्रों के साथ अनुदान में दिया। दान-प्राप्त कर्त्ताओं को इन वैश्यों तथा शुद्रों को उनकी सेवा के लिए प्रदान किया गया। राम को सामान्य जनों का विश्वास प्राप्त था, इसलिए हस्तांतरित लोग दान प्राप्त कर्त्ताओं की आज्ञाओं का पालन करते। बाद में इन दान प्राप्त कर्त्ताओं ने स्वयं आपस में ग्रामों को बांट लिया। इस तरह के संकेत मिथ्या मात्र नहीं है बल्कि ऐतिहासिक प्रमाणों में इनकी अपनी निश्चित जड़ें हैं और ये ऐतिहासिक प्रमाण साहित्य एवं शिलालेखों के उन प्रमाणों से पैदा हुए हैं — जो तिथिक्रम तथा भौगोलिक रूप से व्यापक तौर पर बिखरे पड़े हैं।

मनु ने 200 ई. में ही ऐसे प्रशासनिक पदाधिकारियों को भूमि अनुदानों की चर्चा की है जिनके अधीन 1,10,20,100 एवं 1000 गांव होते थे। सेवा के बदले भूमि अनुदान करने की प्रथा में उत्तर-गुप्त शताब्दियों में और तेजी आयी।

महेन्द्रपाल द्वितीय के प्रतापगढ़ अभिलेख में एक ऐसे गांव के अनुदान का उल्लेख है जो तलवारगिका हरिशेन के अधीन था। ऐसे बहुत से साक्ष्य उपलब्ध हैं जिनसे यह स्पष्ट है कि सैन्य सेवाओं के बदले दिये जाने वाले अनुदानों की संख्या में काफी वृद्धि हुई। दसवीं सदी ई. से 12वीं सदी ई. तक के बिहार तथा बंगाल से जुड़े साहित्य में **देश्या, करज, ग्रामजा** और **प्रतिपटका** आदि मंत्रियों, अपने वंश के सदस्यों तथा सैन्य सेवा करने वालों को दिए जाने वाले कई तरह के भूमि अनुदानों का उल्लेख किया गया है। 1133 ई. का कमौली ताम्र-पत्र (पट्टिका) गहड़वाल नरेश गोविन्द चंद्र के एक पूर्वज द्वारा एक सरदार को **राजपट्टि** (शाही मुकुट) पर दिए गए भू अनुदान का उल्लेख करता है। पाल नरेशों के भूमि अनुदानों में उल्लिखित **राजा, राजपुत्र, रनका, राजरजनका, महासामंत** आदि ज्यादातर सामंत भूमि से जुड़े हुए थे। कभी-कभी ये सामंत भी अपने स्वामी की आज्ञा से या उसकी आज्ञा के बिना भूमि अनुदानों को देते थे। इसको उप सामंतीय व्यवस्था का नाम दिया गया है और यह विशेषतया गुर्जर-प्रतिहार राजाओं के अधीन विकसित हुई। वास्तविक अनुदान प्राप्तकर्त्ताओं को अपनी **वृत्ति** के लिए इस भूमि पर स्वयं खेती करने या किसी अन्य से खेती कराने अथवा स्वयं उपभोग करने या दूसरों द्वारा करवाने का अधिकार प्राप्त हो जाता था। इससे उन्हें अपनी भूमि किराये पर देने, उप-सामंतीय व्यवस्था देने या उस पर काम करने वाले किसानों को निकालने की स्वतंत्रता प्राप्त होती थी। उड़ीसा के मध्यकालीन भूमि अनुदानों में **भोगी महाभोगी, बृहद्भोगी, सामंत, महासामंत, रण, राजवल्लभ** आदि का उल्लेख मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है ये सभी बिचौलिये भू-स्वामी थे जो सैनिक एवं प्रशासनिक कार्य भी करते थे।

11वीं तथा 12वीं ई. शताब्दियों में कुछ ऐसे भी मुख्य अधिकारी थे जिनके वेतन का भुगतान पूर्णरूपेण स्थायी तौर पर करों द्वारा ही किया जाता था। राजस्व एकत्रित करने, पुलिस सहित अपराधिक प्रशासनिक अधिकारी, आय-व्यय का लेखा रखने वाले तथा महल कर्मचारी उन करों को प्राप्त करते थे जो विशेषकर उनके लिए एकत्रित किये जाते थे। **अक्षपट्टलिका,** प्रतिहार और **विषतियाथू** (संभवतः अट्ठाइस गांव के समूह का राजस्व अधिकारी) जैसे अधिकारी गहड़वाल सम्राटों के अधीन इस प्रकार के करों को प्राप्त करते थे।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

12वीं सदी ई. के गहड़वालों के अभिलेखों में **अक्षपटल-प्रस्थ, अक्षपटल-अदय, प्रतिहार-प्रस्थ** और **विषतियाथू-प्रस्थ** जैसे शब्दों का उल्लेख किया गया है। लेकिन वह स्पष्ट नहीं है कि ये कर उनको दिए जाने वाले संपूर्ण वेतन का भाग था या फिर उन्हें अतिरिक्त धन के रूप में इनको दिया जाता था। फिर भी इतना तो निश्चित है कि ये अधिकारी-गण बहुत अधिक शक्तिशाली हो गये और अतिरिक्त आमदनी के अनुदानों पर भी अपना दावा प्रस्तुत करते थे। कुल मिलाकर इस परिपाटी का परिणाम यह हुआ कि विशेष करों को प्राप्त करने वाले बहुत से राज्य अधिकारियों के इस अधिकार ने, इन करों की मात्रा चाहे कुछ भी थी — किसानों की भूमि में एक बिचौलिये भू-स्वामी को कुछ हितों सहित निश्चित तौर पर पैदा किया।

9.4.2 सामंतों का पदानुक्रम

12वीं सदी के आते-आते सामंतों की पदानुक्रम व्यवस्था उल्लेखनीय रूप से स्पष्ट होने लगी थी। 12वीं सदी ई. के एक ग्रंथ ने सामंतों के अधीनस्थ ग्रामों की संख्या के आधार पर सामंतों का वर्गीकरण इस प्रकार किया है **महामंडलेश्वर** (100,000 गांवों का सामंत), **मण्डलिका** (50,000 गांवों का सामंत), **महासामंत** (20,000 ग्रामों का सामंत, लघु सामंत और **चतुरमश्किा** (क्रमशः 10,000, 5,000 और 1,000 ग्रामों के सामंत)। रामपाल के शासन काल के लेखक—जिसने बंगाल के विषय में लिखा — संध्याकार नन्दी ने **मण्डलाधिपति, सामंत चक्र-चूड़ाणि, भूपाल** और **राजा** जैसे शब्दों का उल्लेख किया है।

सामंतों के पदानुक्रम का उल्लेख शिलालेखों में भी मिलता है। चम्बा राज्य के अभिलेखों में **राजनका** और **राजपुत्र** जैसे शब्दों का उल्लेख हुआ है। **सामंत, महासामंत, महासामंताधिपति** और **ठाकुर** जैसे शब्दों का चित्रण **गढ़वाल** राज्य के 11वीं सदी ई. के अभिलेखों में किया गया है। सन् 830 ई. के तेजपुर अभिलेख में असम के **शलस्तम्भा** वंश के श्री हरजरवर्मन की **महाराजधिराज-परमेश्वर, परमभट्टाकारक** जैसी उपाधियों का उल्लेख किया है जिसके (इस राजा के) अधीन **महासामंत** श्री सुचित थे। इस अभिलेख में शिलाकीट्टाकावलेया को सामंत के रूप में उद्धृत

किया गया है। बंगाल के शासक लक्ष्मण सेन केशक्तिपुर ताम्रपत्र में **राजा, राजन्या, रणका,** और **राजपुत्र** जैसे शब्दों का उल्लेख हमें मिलता है।

9.4.3 नौकरशाही का सामंतीकरण

उत्तर भारत के राज्यों से संबंधित अधिकतर अभिलेखों में बहुत से अधिकारियों को सूचीबद्ध किया गया है। पाल शासकों के भूमि संबंधी अभिलेखों में चार दर्जन अधिकारियों तथा सामंतों का उल्लेख किया गया है और इनमें से कुछ पैतृक भी थे। दो दर्जन से अधिक अधिकारियों का वर्णन गहड़वाल अभिलेखों में भी किया गया है। चौहानों, चंदेलों तथा कलचुरियों के अधीनस्थ प्रदेशों में भी स्थिति कोई विशेष भिन्न न थी। यहाँ तक कि सामंतों के अधीन भी अनेक अधिकारी होते थे। मिथिला के करनाता क्षेत्र के **महामण्डलिका** संग्राम गुप्ता के अधीन दो दर्जन से अधिक अधिकारी कार्यरत थे। इन अधिकारियों की उपाधियों एवं पदों का सामंतीकरण इस काल की उल्लेखनीय विशेषता थी। इस विशेषता की ओर स्पष्ट इशारा **'महा'** उपसर्ग के प्रयोग से भी होता है। प्रारंभिक पाल शासक धर्मपाल तथा देवपाल के अधीन **'महा'** उपसर्ग का प्रयोग करने वाले आधा दर्जन से भी कम अधिकारी थे लेकिन नवयानपाल के समय में यह संख्या बढ़कर नौ हो गई। जबकि संग्राम गुप्ता के अधीन ऐसे अधिकारियों की संख्या अधिकतम 18 थीं। इस नवोदित व्यवस्था को आसानी से पहचाना जा सकता है। अर्थात — जितनी बड़ी संख्या में किसी भी राज्य के अंतर्गत **'महा'** उपसर्ग को धारण करने वाले होंगे उसी अनुपात में सामंतों की शक्ति कम होगी। इसी तरह से जितने बाद का राज्य होगा **'महा'** उपसर्ग का उपयोग करने वालों की संख्या उतनी ही अधिक होगी। अधिकारियों के बढ़ते सामंतीकरण की प्रवृत्ति उपसर्गों को प्रयोग में भी परिलक्षित होती है। जिन उपसर्गों का प्रयोग राजाओं और सामंतों के संबंधी को निर्धारित करने के लिये किया जाता था अब उन उपसर्गों का प्रयोग राजा और अधिकारियों के संबंधों को निर्धारित करने के लिये किया जाने लगा। **पादपद्मोपजीवन, राजपदोपजीवन, पादप्रसादोपजीवन, परमेश्वर-पदोपजीवन** जैसी उपाधियों का प्रयोग अधिकारीगण एवं सामंत दोनों करते थे। ये यह भी इंगित करते हैं कि ये अधिकारीगण अपने निर्वाह के लिए अपने स्वामियों के समर्थन पर निर्भर थे। इससे स्पष्ट है कि उनका सामंतीकरण किया गया। अधिकारियों को उनकी स्थिति तथा महत्व के अनुरूप ही बहुत से सामंतीय वर्गीकरण में रखा गया था। यहाँ तक कि कायस्थ लिपिकों के लिए भी **रणका** और **ठाकुर** जैसी उपाधियों का प्रयोग किया गया जो उनके कार्य को स्पष्ट करने के स्थान पर उनके सामंतीय एवं सामाजिक प्रतिष्ठा को व्यक्त करती थीं।

9.4.4 भू-स्वामित्व एवं वंश का महत्त्व

महत्त्वपूर्ण सरकारी कार्य को धीरे-धीरे भू-स्वामित्व के साथ जोड़ दिया गया। ऐसे बहुत से उदाहरण है जबकि महत्त्वपूर्ण सरकारी कार्यों को न केवल सरदारों तथा अधिकारियों को सौंपा गया बल्कि राजा के द्वारा इन्हें अपने वंश के सदस्यों तथा संबंधियों को दिया गया। उत्तर प्रदेश के वर्तमान पीलीभीत जिले के क्षेत्र में हमें चिंद वंश के सरदार द्वारा शासन करने का एक उद्धरण प्राप्त होता है। ऐसे कई उदाहरण मिलते हैं जिसमें वंश को आधार मानकर गाँवों को बारह की इकाई में विभाजित किया गया है। कन्नौज के शासक महेन्द्रपाल के सन् 893 ई. के ऊना ताम्रपत्र में यह उद्धृत किया गया है कि बलवर्मन **महासामंत** के अधीन 84 ग्राम थे। रानियों के लिए **ग्रासा** और **भुक्ति** छोटे राजकुमारों के लिए गांवों को भोकत्रिस (स्वामी), सेजा (आवंटन) **राजपुत्र** अर्थात राजा के पुत्र को प्रदान करना और **राजकीय-भोग** (राजा की संपत्ति) जैसी शब्दों का प्रयोग भी हुआ है। 84 गाँवों के समूह के सरदार को 12वीं सदी ई. के अंत तक **चतुराशिका** कहा जाने लगा था। उत्तरी तथा पूर्वी भारत की अपेक्षा पश्चिमी तथा मध्य भारत में वंश के आधार पर भूमि का आवंटन करने की परंपरा का प्रचलन कुछ अधिक ही था। अपने वंश के लोगों के बीच भूमि के वितरण की परंपरा उस कबीलाई व्यवस्था का स्मरण कराती है जिसमें युद्ध में लूटी गई संपत्ति का बंटवारा कबीले के सदस्यों के मध्य होता है।

बोध प्रश्न 2

1) उत्तरी तथा पूर्वी भारत में प्रचलित विभिन्न प्रकार के अनुदानों का विवरण दीजिए।

....

....

....

....

2) सामंतों के पदानुक्रम पर पांच पंक्तियाँ लिखिए।

....

....

....

....

....

3) क्या नौकरशाही का सामंतीकरण हुआ? टिप्पणी कीजिए।

....

....

....

....

....

....

4) क्या वंश के आधार पर भूमि अनुदानों को दिया जाता था?

....

....

....

....

....

....

9.5 सामंतों के कार्य

हम जिस काल का अध्ययन कर रहे हैं उसके अंत तक **सामंतों** द्वारा किये जाने वाले कई प्रकार के कार्यों को मान्यता मिल गई थी। इन कार्यों में कुछ इस प्रकार थे — नजरानों की नियमित अदायगी करना, शाही आज्ञाओं का पालन करना, समारोहों के अवसरों पर दरबार में उपस्थित होना, न्यायिक प्रशासन को चलाना, सैन्य अनुबंधों को पूरा करना आदि। उत्तरी बिहार में स्थित मिथिला के चंदेश्वर द्वारा 13वीं सदी ई. में लिखित **राजनीति रत्नाकर** में सामंतों का वर्गीकरण **सकर** एवं **अंकर** में उनके द्वारा अदा किये जाने वाले नजरानों के आधार पर किया गया है।

जैजकाभुक्ती (बुंदेलखंड) के चंदेलों ने अपने सैनिक अधिकारियों को प्रचुर मात्रा में भूमि अनुदान दिये। परमारदीन के ब्राह्मण सेनापति अजयपाल ने सन् 1160 ई. में एक **पद** भूमि का अनुदान प्राप्त किया। कुछ वर्षों बाद सन् 1171 ई. में संपूर्ण गांव का अनदान ब्राहमन सेनापति मदनपाल शर्मा को दिया गया जो उससे पहले लगातार तीन ठाकुरों के पास रह चुका था। चंदेलों द्वारा दिये गये सभी अनुदानों की यह विशेषता थी कि ये अनुदान वर्तमान एवं भविष्य के शुल्कों से मुक्त थे। कभी कभी युद्ध में मृत्यु हो जाने पर भी सैनिक अधिकारियों को अनुदान दिए जाते थे। सन् 1207-08 ई. का त्रिलोकवर्मन का पूर्णतया लौकिक टेहरी ताम्रपत्र ब्राहमण सैनिक अधिकारी को दिये गये वंशानुगत अनुदान का वर्णन करता है।

कायस्थों को भी सैनिक सेवा के लिए अनुदान प्रदान किये जाते थे। वास्तव्या कायस्थ परिवार के सदस्य सैनिक कार्य करते थे। इस वंश के सदस्यों को चंदेल प्रशासन में चंदेल शासक गंड से लेकर भोजवर्मन तक, करीब 300 वर्षों तक, महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त रहा।

गहड़वाल राजाओं के द्वारा **राउत** तथा **रणकाओं** को अनुदान दिये जाने के कई उदाहरण मिलते है। परंतु इन अनुदानों को केवल सैनिक एवं बहादुरी के कार्यों के कारण ही नहीं दिया गया था। लेकिन यह भी सत्य है कि वे सामंत रहे होंगे जो राज्य के प्रत्यक्ष नियंत्रण के अंतर्गत स्थायी अधिकारियों से भिन्न थे। क्योंकि गहड़वाल शासकों के अभिलेखों में उद्धृत अधिकारियों की सूचियों में और **राउत** का उल्लेख नहीं आया है। इस संदर्भ में एक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह भी है कि गहड़वाल शासकों के अधीन एक लेखक की व्यंग्यात्मक रचना लता कमेलका, जो 12वीं सदी ई. की है में **राउतराजा** संग्राम विसार का उल्लेख किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि ग्रामपट्टा संभवतः एक सैनिक अधिकारी के लिए प्रयोग होता था और **राउतराजा** एक सामाजिक पद था।

9.6 सामंतों के आंतरिक संबंध

बड़े एवं छोटे सामंतों के बीच तथा राजा एवं सामंतों के बीच के अनुबंधों की प्रकृति अपेक्षाकृत कुछ अनिश्चित है। संभवतः यह संबंध लिखित समझौतों के रूप में होते थे जिसमें केवल सामंतों द्वारा किये जाने वाले कार्यों का वर्णन होता था। **राजतरंगिणी** में भी दसवी सदी ई. के राजा चक्रवर्मन और दमरा सरदार संग्राम के बीच हुए पारस्परिक मौखिक समझौते का उल्लेख हुआ है। लेकिन हमें इस प्रकार के दृष्टांत बहुत नहीं मिलते। एक ओर तो हमें सामंतों

की अपने क्षेत्रों में स्वायत्तता का उल्लेख उपलब्ध होता है, दूसरी ओर ऐसे प्रमाण भी मिलते हैं — जिनके अनुसार पाल शासक (रामपाल) ने ग्यारहवीं सदी ई. के अंत में घटित कैवर्त्तो के विद्रोह का दमन करने के लिए अपने सामंतों की सहायता प्राप्त की। यहाँ पर एक अन्य तथ्य ध्यान देने योग्य है कि राजा के प्रति वफादारी एवं राज-भक्ति की भावनायें जातिगत महत्त्व से अलग हटकर होती थीं। अतः डाबरा सरकार और काफिले का वैश्य नेता — दोनों का एक ही राजा स्वामी होने के कारण वे स्वयं को आपस में **संबंधी** समझते थे।

राजा एवं सामंतों के संबंधों पर कुछ अंतर्दृष्टि **पंचमहाशब्द** के उपयोग के द्वारा भी डाली जा सकती है। इस शब्द का विकास उत्तर-गुप्त शताब्दियों में सामंत संस्था के रूप में हुआ। बहुत से अभिलेखों से स्पष्ट होता है कि उच्च सामंतीय पद का मापदंड राजा द्वारा **पचंमहाशब्द** की उपाधि प्रदान करना था।

सन् 893 के एक ताम्रपत्र में महासामंत बकवर्मन के द्वारा किये गये भूमि अनुदान का उल्लेख है। बकवर्मन के पिता को कन्नौज नरेश महेन्द्रपाल की कृपादृष्टि से **पचंमहाशब्द** की उपाधि प्राप्त हुई थी। लेकिन यह आश्चर्य की बात है कि इस शब्द का प्रयोग पाल राज्य में नहीं हुआ परन्तु उड़ीसा एवं असम इस शब्द के दृष्टांत मिलते हैं। इसमें संदेह नहीं कि **पंचमहाशब्द** किसी भी सामंत द्वारा प्राप्त किये जाने वाला सर्वोच्च सामंतीय सम्मान था। यहाँ तक कि कोई युवराज भी इस उच्च सामंतीय उपाधि से बड़ी उपाधि प्राप्त नहीं करता था। सामंत **परमभट्टारक महाराजाधिराज-परमेश्वर** जैसी भारी-भरकम शब्दों वाली उपाधि को धारण करने के बावजूद इस विशेषण **(पंचमहाशब्द)** का प्रयोग करते रहे।

12वीं सदी ई. की एक रचना के अनुसार **पंचमहाशब्द** का अभिप्राय पांच संगीतीय यंत्रों के प्रयोग से है। ये यंत्र **श्रीगा** (भोंपू), **तम्मत** (ढोलक), शंख, **मेरी** (नगाड़ा) और **जयघंटा** (विजय की घंटी) आदि है। उत्तर भारत के कुछ भागों में **पचमहाशब्द** का प्रयोग 'महा' उपसर्ग के साथ पांच अधिकारिक पदों के लिये भी किया जाता था। यदि शब्द ''शब्द'' कास्त्रोत **शप** से है तब इसका एक अन्य अर्थ शपर्थ या प्रतिज्ञा लेना भी है। यदि ऐसा था, तब राज्य अधिकारियों एवं राजा-सामंत के सबंधों के संदर्भ में **पंचमहाशब्द** की महत्त्वपूर्ण भूमिका है।

उत्तर दसवीं सदी ई. में परिवर्तित आर्थिक परिस्थितियों में भी राजा-सामंत के अनुबंधों तथा सामंत पदानुक्रम में कोई कमी नहीं आयी। व्यापार तथा नकद भुगतान की व्यवस्था ऐसे कारण माने जाते हैं जिनसे सामंतीय व्यवस्था कमजोर हुई। दसवीं सदी ई. से 12वीं सदी ई. तक आंतरिक व्यापार के साथ-साथ विदेशी व्यापार एवं मुद्रा प्रसार के पुनरुत्थान के स्पष्ट संकेत प्राप्त होते हैं। राजनीतिक व्यवस्था के रूप में भारतीय सामंतवाद कमजोर नहीं हुआ बल्कि उसमें गजब की निरंतरता एवं ग्रहणता बनी हुई थी। भारतीय सामंतवाद जैसे लक्षण रूस में भी 17वीं सदी ई. में मिलते हैं। रूस में दास व्यवस्था ने स्वयं को तत्कालीन विकसित होती बाजार-व्यवस्था में आत्मसात करना शुरू कर दिया था। लेकिन यहां पर यह बतलाना आवश्यक है कि सामंतीय आर्थिक ढांचे में दरार पड़ती दिखायी देने लगी। यह बात पश्चिमी भारत पर विशेष रूप से लागू होती है जहाँ व्यापार, मुद्रा प्रसार एवं नगरीय विकास के पुनरुत्थान के कारण पश्चिम भारत की आत्म-निर्भर सामंतीय अर्थव्यवस्था विशेष तनावों के अंतर्गत आ गई थी। लेकिन पूर्वी भारत अर्थात बिहार, बंगाल एवं उड़ीसा में स्थिति बिल्कुल विपरीत थी। यहां की सामंतीय व्यवस्था में काफी लचीलापन स्पष्ट होने लगा था। पश्चिम भारत में राज्य अधिकारियों तथा सामंतों को भूमि अनुदान देने का प्रचलन अभी भी काफी था जबकि पूर्वी भारत में उड़ीसा को छोड़ शेष क्षेत्र में इस प्रथा का प्रचलन काफी कम होने लगा।

MAADHYAM IAS

9.7 भूमि अनुदान तथा राजनीतिक सत्ता का वैधानिकीकरण

जहाँ तक राजनीतिक संगठन का संबंध है, इसमें भूमि अनुदानों की अखिल भारतीय विशेषता ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया। भूमि अनुदानों के प्रचलन ने राजा एवं सामंत की राजनीतिक सत्ता को सामाजिक एवं वैधानिक मान्यता प्रदान की। पाल शासकों के दौरान बिहार एवं बंगाल में भूमि अनुदानों के कारण ब्राह्मण वर्ग, बौद्ध बिहार तथा शैव मंदिरों का आविर्भाव बिचौलिये भू-स्वामीयों के रूप में हुआ। उत्तर तथा पूर्वी भारत में अनुदान प्राप्त कर्त्ता अधिकतर ब्राह्मण ही थे। ये धार्मिक अनुदान प्राप्त कर्त्ता राजनीतिक सत्ता को वैधता उपलब्ध कराने के महत्त्वपूर्ण साधन थे। सरदारों एवं राजाओं की आडम्बरपूर्ण वंशावली की रचना द्वारा इस उद्देश्य की प्राप्ति की जाती थी। उनके वंशों की उत्पत्ति को महाकाव्यों के नायकों राम एवं कृष्ण से बतायी जाती थी। भूमि अनुदानों से लाभ प्राप्त कर्त्ताओं ने विशेषकर कबीलाई क्षेत्रों में सांस्कृतिक अंतःक्रिया के कार्यक्रम को लागू करके शासक वर्गों के लिए वैचारिक आधार भी उपलब्ध कराया। उदाहरण के रूप में जिस प्रकार ब्राह्मणवादी व्यवस्था में कबीलाई एकता तथा संयुक्तता के चिन्हों को आत्मसात कर लिया गया इस बात का संकेत है। उड़ीसा में राजनीतिक सत्ता का सुदृढ़ीकरण कबीलाई देवताओं को शाही संरक्षण प्रदान करने की प्रभावकारी नीति के माध्यम से हुआ। गोकर्ण स्वामी और स्ताम्भेश्वरी संप्रदायों को आत्मसात करने और जगन्नाथ संप्रदाय के उद्भव की प्रक्रिया नयी वैचारिक शक्ति के प्रतीक हैं। (विस्तृत जानकारी के लिए खंड 2, इकाई 6 देखें)। उत्तर-गुप्त काल में भूमि अनुदानों के द्वारा किए जाने वाले कार्य अर्थात शासक शक्तियों को वैधता प्रदान करना और उनके लिए वैचारिक समर्थन जुटाना न केवल उत्तरी एवं पूर्वी भरत तक सीमित था बल्कि किसी न किसी रूप में देश के सभी भागों में यह विशेषता विद्यामान थी।

बोध प्रश्न 3

1) **सामंतों के मुख्य कार्यों को लिखिए।**

....
....
....
....
....
....
....

2) **पंचमहाशब्द** से आप क्या समझते हैं ?

....
....
....
....
....

3) क्या राजाओं ने अपनी सत्ता को वैधता प्रदान करने के लिए भूमि दान दिये थे ?

....
....
....
....
....

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

9.8 सारांश

उत्तरी एवं पूर्वी भारत में आधुनिक कश्मीर, पंजाब, हिमाचल प्रदेश, उत्तर प्रदेश, बिहार, बंगाल, असम, उड़ीसा और उत्तरी मध्य प्रदेश के कुछ भाग आते हैं। सन् 800 ई. से 1300 ई. के बीच इन प्रदेशों के राजनीतिक ढांचे की निम्नलिखित विशेषताएं थी :

- उस समय में एक नवीन प्रकार का राजतंत्र था जो केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति से काफी दूर था।
- नयी प्रशासनिक इकाइयों का उद्‌भव हुआ जिसमें कई वित्तीय, न्यायिक एवं पुलिस कार्यों को रूपांतरित कर दिया गया था।
- सत्ता के अनेक केंद्रों का उदय।
- नौकरशाही में परिवर्तन के साथ-साथ राजा की सत्ता की प्रकृति भी परिवर्तित हुई।
- नये भू स्वामित्व द्वारा सामन्तों के पदानुक्रमों का उत्थान।
- राज्य अधिकारियों के साथ-साथ संपूर्ण राजनीतिक तंत्र का भी सामंतीकरण हुआ।

9.9 शब्दावली

अदय : कर।

अक्षपट्‌टलिका : राजस्व अधिकारी।

भोगी : वे बिचौलिये भू-स्वामी जो प्रशासनिक कार्य करते थे।

भुक्ती : प्रशासनिक इकाई।

देशश : दस गांवों का मुखिया।

देश्या : मंत्रियों, परिवार जनों तथा सैनिक कार्य कर्त्ताओं को भूमि अनुदान।

ग्रामजा : देश्या की भांति।

करज : देश्या की भांति।

खण्डला : प्रशासनिक इकाई।

मण्डलांतर : राजा से पृथक सामंत के अधीन प्रशासनिक विभाजन।

पदोपजीवन : ऐसे सामंत या अधिकारीगण जो अपनी आजीविका के लिये राजा की कृपा पर निर्भर करते थे।

पाठक : प्रशासनिक इकाई।

पट्टला : प्रशासनिक इकाई।

प्रतिपट्टक : देश्या की भांति।

राजवल्लभ : भोगी की भांति।

शातेश : सौ गांवों का मुखिया।

स्कन्धवरा : विजय/सैनिक शिविर।

विंशतिष : 20 गांवों का मुखिया।

विशतियाथू : शायद 28 गाँवों के समूह का राजस्व अधिकारी।

विषय : प्रशासनिक इकाई।

वीथी : प्रशासनिक इकाई।

9.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) प्रारंभिक मध्य काल के राजा भारी भरकम उपाधियों को धारण करते थे लेकिन उसकी वास्तविक शक्ति में कमी हो रही थी (देखें भाग 9.3)।

2) बंगाल में **भुक्ती, मण्डल, विषय, नयस, विथी** आदि। असम में **भुक्ती, मण्डल** आदि तथा कश्मीर में **गुलमा, मण्डल** आदि (देखें उपभाग 9.3.1)।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

3) अनुदान प्राप्त कर्त्ताओं को राजा राजस्व एकत्रित करने के अधिकार या प्रशासनिक अधिकार को प्रदान करता था (देखें उपभाग 9.3.2)।

बोध प्रश्न 2

1) मंत्रियों, योद्धाओं, परिवारजनों या भू-स्वामियों जैसे भिन्न लोगों को भिन्न-भिन्न अनुदान दिये जाते थे जैसे **देश्या, करज, ब्रिनभूगी, राणा** (देखें उपभाग 9.4.1)।

2) उस समय सामंतों का एक निश्चित पदानुक्रम था जो अनुदान प्राप्त कर्त्ताओं के अधिकारों एवं अनुदानों के आकार पर निर्भर करता था (देखें उपभाग 9.4.2)।

3) इस समय में अनेक राज्य अधिकारियों को भूमि अनुदानों द्वारा अदायगी की जाती थी। इससे नौकरशाही के सामंतीकरण का कुछ संकेत प्राप्त होता है (देखें उपभाग 9.4.3)।

4) कभी-कभी ऐसे लोगों को भी अनुदान दिये जाते थे जो कोई विशेष कार्य नहीं करते थे। इसमें एक मात्र महत्त्व अपने वंश के लोगों को दिया जाता था (देखें उपभाग 9.4.4)।

बोध प्रश्न 3

1) कुछ अनुदानों के साथ कोई कार्य जुड़ा हुआ नहीं था। कई बार **सामंत** राजस्व एकत्रित करने, सेना उपलब्ध कराने या कानून व्यवस्था आदि को बनाये रखने जैसे कार्यों में मदद करते थे।

2) पंचमहाशब्द का विकास एक सामंतीय संस्था के रूप में हुआ। यह किसी भी सामंत के द्वारा प्राप्त किया जाने वाला सर्वोच्च सम्मान होता था। विस्तृत जानकारी के लिए देखें भाग 9.6

3) बहुत से अनुदान धार्मिक समूहों या ऐसे व्यक्तियों को प्रदान किये जाते थे जो राजा को शासन करने की वैधता उपलब्ध करा सकें। इस प्रकार के अनुदानों से मुख्य रूप से लाभ ब्राह्मणों को हुआ। (देखें 9.7)।

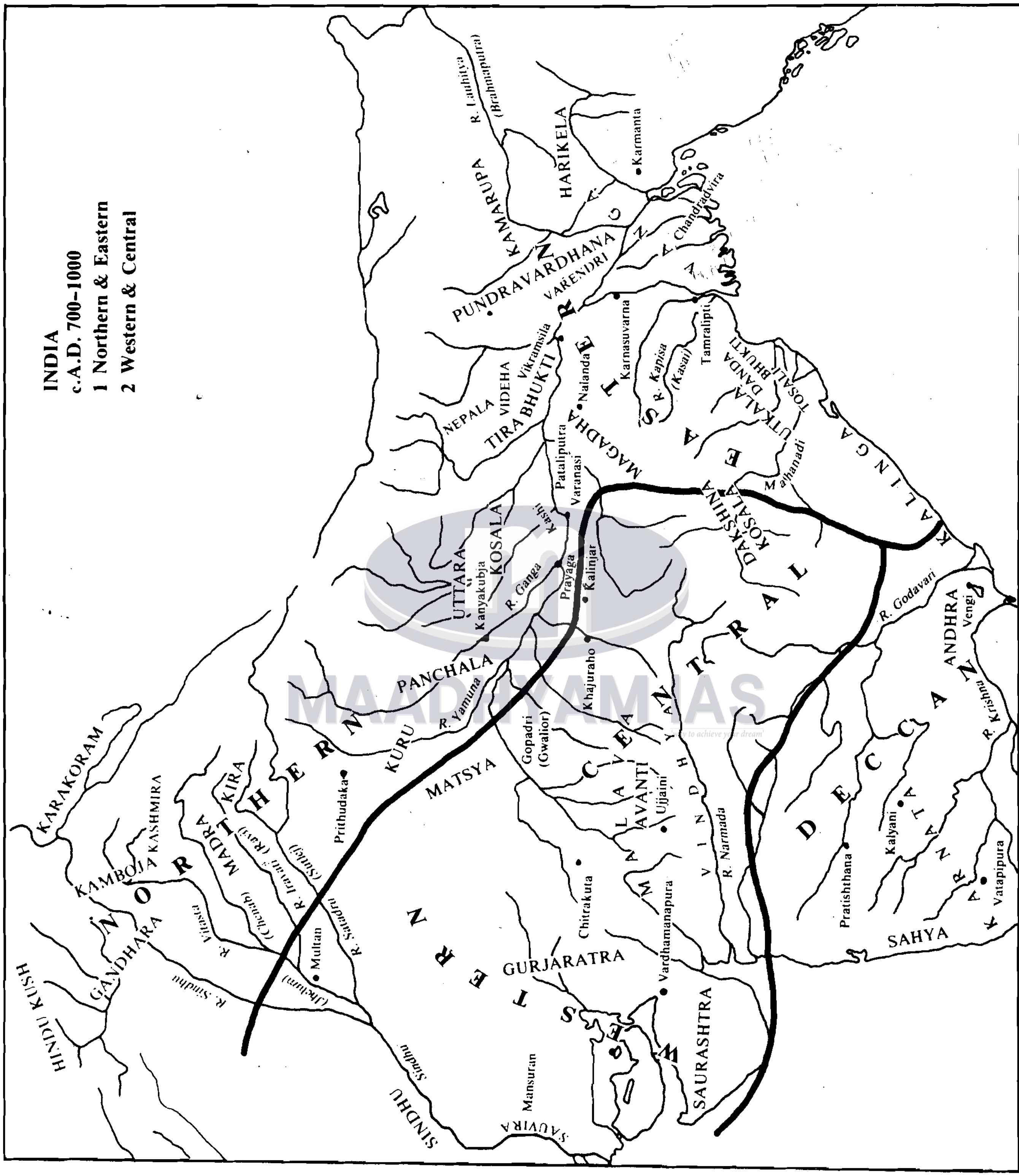

MAADHYAM IAS

मानचित्र-2 उत्तरी, पूर्वी, पश्चिमी तथा मध्यभारत 700 ई. से 1000 ई. तक

इकाई 10 पश्चिमी तथा मध्य भारत

इकाई की रूपरेखा

10.0 उद्देश्य
10.1 प्रस्तावना
10.2 राजपूत वंशों का उदय
10.3 उत्पत्ति की कथायें : उनके राजनीतिक परिणाम
10.4 राजनीतिक सत्ता का वितरण
  10.4.1 राजपूत वंशों की वृद्धि
  10.4.2 वंशीय शक्ति का निर्माण
  10.4.3 सामाजिक स्तर में उत्थान की प्रक्रिया
10.5 वंशीय शक्ति का सुदृढ़ीकरण
10.6 राजनीतिक संगठन की प्रकृति एवं ढांचा
  10.6.1 राजनीतिक अस्थिरता
  10.6.2 नौकरशाही का ढांचा
  10.6.3 वंशीय राज्य एवं सामंतीय राजनीति
10.7 सारांश
10.8 शब्दावली
10.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

10.0 उद्देश्य

भारतीय राजनीति के परंपरागत अध्ययन में शासक वंशों की वंशावली एवं उनके शासन के तिथिक्रम पर अधिक बल दिया जाता है। राजनीति में जो भी परिवर्तन हुए उनको शासक वंश में होने वाले परिवर्तनों के अनुरूप मान लिया गया। राजनीतिक व्यवस्था में घटित होने वाले परिवर्तनों का अध्ययन करने की इस पद्धति को अब अपूर्ण माना जाता है। अभी हाल के वर्षों में राजनीति पर जो शोध किये गये हैं उनके अंतर्गत प्राचीन एवं मध्यकालीन भारतीय राजनीति का विश्लेषण उन संभावित प्रक्रियाओं के दृष्टिकोण से करने का प्रयास किया गया है जो उस समय कार्यरत थीं। आजकल राज्य निर्माण, राजनीति का ढांचा, सत्ता का चरित्र एवं राजनीतिक नियंत्रण जैसे विषयों के अध्ययन पर बल दिया जाने लगा है। उपमहाद्वीपीय स्तर पर सामान्यीकरण करने के लिए यह आवश्यक है कि इस तरह के विषयों पर सूक्ष्मता से अध्ययन किया जाए। इस इकाई में हमें पश्चिमी तथा मध्य भारत की क्षेत्रीय राजनीतिक प्रणाली के उद्भव एवं विकास की जानकारी प्राप्त होगी। इस क्षेत्र के अंतर्गत आधुनिक राजस्थान, गुजरात और मध्य प्रदेश के अधिकतर भू-भाग आते हैं। इस इकाई का अध्ययन करने के बाद :

- आप बता सकते हैं कि विभिन्न राजनीतिक शक्तियों का उदय कैसे हुआ;
- राजनीतिक संगठन के ढांचे के साथ-साथ आपको राजनीतिक सत्ता के वितरण की प्रकृति का ज्ञान हो जाएगा; और
- आप राजनीतिक शक्तियों के निर्माण के प्रतिमानों एवं उनके सुदृढ़ीकरण का विश्लेषण कर सकते हैं।

10.1 प्रस्तावना

इस वास्तविकता को समझते हुए कि भारत के बहुत से भागों में होने वाले क्षेत्रीय राजनीतिक परिवर्तनों का अध्ययन गहराई से नहीं किया गया है, इसीलिए उपमहाद्वीपीय स्तर पर इन परिवर्तनों का सामान्यीकरण करने के लिए यह आवश्यक है कि इन पर आगे शोध किया जाए। क्षेत्रीय राजनीतिक परिवर्तनों का अध्ययन करना निम्नलिखित कारणों से और भी महत्त्वपूर्ण है :

1) इन क्षेत्रों में सत्ता के केन्द्रों में जल्दी-जल्दी बदलाव आते थे।
2) नवीन राजनीतिक प्रणालियों का निर्माण एक अनवरत प्रक्रिया थी।

पश्चिमी तथा मध्य भारत में हमें स्थानीय राज्यों के उदय के नवीन उदाहरण देखने को मिलते हैं। उदाहरणार्थ, गुर्जर प्रतिहार, गुहिला, परमार, चाहमान, कलचुरी एवं चन्देल जैसे राजपूत वंशों ने गुप्तकाल के बाद एवं दसवीं सदी ई. के बाद के काल में पश्चिम तथा मध्य भारत में पैदा हुई राजनीतिक अनिश्चितताओं का लाभ उठाया। कई शताब्दियों तक विशेषकर सन् 800 ई. से 1300 ई. तक राजनीतिक क्षीतिज पर उनका दबदबा कायम रहा। जिस तरह से इन राजपूत वंशों की उत्पत्ति के विषय में कुछ स्पष्टता से नहीं कहा जा सकता है उसी तरह मे उन राजनीतिक प्रक्रियाओं के विषय में भी कुछ निश्चित नहीं है जिनके द्वारा इन राजपूत शक्तियों ने पुराने राजवंशों का स्थान ग्रहण किया। इसके बावजूद

भी राजनीतिक सत्ता के वितरण की कुछ आवश्यक विशेषताओं का उल्लेख करने का प्रयास किया गया है। इस क्षेत्र की राजनीति में उत्तरी तथा पूर्वी भारत की राजनीति से कुछ भिन्नता थी। इस क्षेत्र की राजनीति पर विशेषकर कुछ भागों में राजकुल का प्रभाव था (देखें इकाई 8.3.3)। इन भागों में भी नौकरशाही के ढांचे सहित प्रशासनिक एवं वित्तीय शक्तियों का विसर्जन नये प्रकार के भू-स्वामित्व पर आधारित था इसने सामंतीय राजनीतिक व्यवस्था के मार्ग को प्रशस्त किया।

10.2 राजपूत वंशों का उदय

सन् 712-13 ई. में अरबों ने सिंध एवं मुल्तान पर आक्रमण किया। आगामी 25 वर्षों में उन्होंने मारवाड़, मालवा तथा भड़ौंच को रौंद डाला और भारत के अन्य भागों पर भी उनका खतरा मंडराने लगा। उनके इन आक्रमणों ने पश्चिमी भारत तथा दक्खन के राजनीतिक नक्शे में होने वाले परिवर्तनों में काफी योगदान दिया। राष्ट्रकूट एवं अब राजपूत कहे जाने वाले अनेक राजवंश इस काल में सामने आये। इन वंशों का नाम इससे पूर्व के समय में सुनायी नहीं पड़ता। इन वंशों ने इस क्षेत्र की राजनीति में सन् 800 ई. से महत्वपूर्ण भूमिका अदा करनी शुरू कर दी थी। परमार एवं चाहमान जैसे सामान्य राजवंश बहुत सी कठिनाइयों को पार करने के बाद गुर्जर प्रतिहार एवं राष्ट्रकूट जैसी बड़ी शक्तियों के अंतर्राज्यीय संघर्षों के समय महत्त्वपूर्ण हो गये (देखें इकाई 8.2.1)।

राजपूतों का एक राजनीतिक शक्ति के रूप में उदय एक घटना प्रतीत होती है। लेकिन प्रारंभिक राजनीतिक घटनाक्रम के विश्लेषण से स्पष्ट है कि राजपूतों का एक राजनीतिक शक्ति के रूप में उदय अचानक घटित होने वाली घटना न थी। इन राजवंशों का उद्भव विद्यमान राजनीतिक ढांचे के पदानुक्रम में ही हुआ था। इसलिए इनके उद्भव को संपूर्ण राजनीतिक प्रक्रिया के रूप में ही समझा जाना चाहिए।

10.3 उत्पत्ति की कथाएं : उनके राजनीतिक परिणाम

राजपूत वंशों के उत्पत्ति की समस्या काफी जटिल एवं विवादास्पद है। राजपूतों के गोत्र निर्माताओं ने उनको चन्द्रमा (सोमवंशी) से संबंधित क्षत्रिय बताया जबकि कुछ ने पुराने महाकाव्यों के आधार पर उनका संबंध सूर्यवंशियों से जोड़ा। सूर्य से उनकी उत्पत्ति की कल्पना करने का भावार्थ यह था कि कलयुग में इन क्षत्रियों की उत्पत्ति मलेच्छों (विदेशियों) का सर्वनाश करने के लिए हुई। राजस्थानी भाटों और वंशावली निर्माताओं ने उनकी उत्पत्ति को आग से बताया (अग्निकुल)।

MAADHYAM IAS

अग्निकुल : जिसका रचियता एक दरबारी कवि था — की कहानी के अनुसार परमार वंश के संस्थापकों की उत्पत्ति वशिष्ठ मुनि के माउंट अबू पर्वत पर स्थित अग्निकुंड से हुई थी। वशिष्ठ के अग्निकुंड से जिस व्यक्ति की उत्पत्ति हुई उसने वशिष्ठ मुनि की इच्छानुसार वरदान देने वाली गाय को मुनि विश्वामित्र से शक्ति के बल पर प्राप्त कर लिया और उसको पुनः वशिष्ठ मुनि को लौटा दिया। मुनि वशिष्ठ ने उस व्यक्ति को उसके द्वारा किए गए कार्यों के अनुरूप परमार अर्थात दूसरे का वध करने वाला नाम प्रदान किया। इस व्यक्ति से उत्पन्न होने वाली जाति के लोगों को सदगुण संपन्न राजाओं द्वारा श्रेष्ठ माना जाने लगा। परमार राजाओं के अभिलेख भी उनकी उत्पत्ति को मुनि वशिष्ठ के माउंट अबू पर्वत पर स्थित अग्निकुंड से ही घोषित करते हैं।

राजस्थानी भाटों ने इस विवरण में कुछ बढ़ोत्तरी करते हुए कहा कि न केवल परमारों की अग्नि से उत्पत्ति हुई थी बल्कि प्रतिहारों, गुजरात के चौलुक्यों एवं चाहमानों की उत्पत्ति भी अग्नि से हुई। चाहमानों की उत्पत्ति को अग्नि से बताते हुए भाट कथाओं में कहा गया कि अगस्तय मुनि एवं अन्य दूसरे मुनियों ने माउंट अबू पर्वत पर एक विशाल आहुति यज्ञ का प्रारंभ किया। राक्षसों ने मलिन वस्तुओं को फेंक कर इस यज्ञ को अपवित्र करने का प्रयास किया। वशिष्ठ मुनि ने अग्निकुंड से तीन योद्धाओं प्रतिहार, चालुक्य एवं परमार को उत्पन्न किया। लेकिन इन तीनों में से कोई भी राक्षसों को दूर न रख सका। फिर वशिष्ठ ने एक नये अग्नि कुंड का निर्माण किया और इससे हथियारों से लैस एक योद्धा का जन्म हुआ। इस योद्धा ने राक्षसों को पराजित कर दिया। ऋषियों ने उसको चाहमान नाम दिया।

अग्निकुल की यह कथा भाट कवियों की कल्पना मात्र से अधिक कुछ नहीं है। अपने आश्रयदाताओं की उत्तम वंशावली की तलाश में उन्होंने परमारों की अग्नि उत्पत्ति की कहानी को रचा। उन्होंने सोचा यदि इस कथा का और विस्तार किया जाए तब वे चाहमानों की उत्पत्ति की अधिक शानदार व्याख्या कर सकते हैं।

यदि उत्पत्ति की समस्या पर विचार किसी व्यक्तिगत वंश के आधार पर करने की अपेक्षा इसकी संपूर्णता में किया जाए तब इसका राजनीतिक महत्व समझ में आता है। नवीन सामाजिक समूहों के द्वारा स्वयं को क्षत्रिय बताने का दावा प्रारंभिक मध्यकाल में काफी प्रचलित हो गया था। क्षत्रिय स्तर, उन बहुत से प्रतीकों में से एक था जिसके द्वारा नव उदित सामाजिक समूहों ने अपनी नई शक्ति को वैधता प्रदान करने का प्रयास किया। प्रारंभिक मध्य कालीन एवं मध्यकालीन राजपूत वंश मिश्रित जाति का प्रतिनिधित्व करते थे। इन वंशों में भू क्षेत्रों के छोटे प्रमुख थे और इन्होंने धीरे-धीरे राजनीतिक प्रमुखता को प्राप्त कर लिया। प्रतिहारों, गुहिलों, चाहमानों एवं अन्य वंशों के द्वारा प्राप्त की जाने

वाली राजनीतिक शक्ति और सम्मानीय सामाजिक स्तर (अर्थात क्षत्रिय राजकुल) प्राप्त करने की दिशा में उनके प्रयास के बीच एक सहज संबंध था। इस संदर्भ में यह उल्लेखनीय है कि इन वंशों ने स्वयं को प्राचीन क्षत्रियों से जोड़ने का दावा राजसत्ता को प्राप्त करने के काफी लंबे समय बाद किया। सबसे पहले हम गुर्जर प्रतिहारों के उदाहरण का उल्लेख कर सकते हैं। तिथिक्रम के अनुसार गुर्जर प्रतिहार राजपूत वंशों में ऐतिहासिक रूप में सबसे पहले का महत्त्वपूर्ण वंश था। नौवीं सदी ई. के अंत में राजा भोज प्रथम द्वारा जारी किये गये एक अभिलेखानुसार वे स्वयं को सूर्य वंश का मानते है और वे रामायण काव्य के नायक राम के भाई लक्ष्मण को अपने परिवार का पूर्वज बताते हैं। लेकिन गुर्जर-प्रतिहारों के अभिलेख राजा भोज के चरमोत्कर्ष के दिनों तक उनकी उत्पत्ति के प्रश्न पर कुछ भी नहीं बताते। सूर्य वंश की शिलालेख परंपरा तिथि क्रमानुसार उस समय से जुड़ी है जबकि गुर्जर प्रतिहार एक प्रमुख राजनीतिक शक्ति थे। इस तरह से यह परंपरा साम्राज्य प्रधानता की स्थिति का महाकाव्यों के गौरवमय युग के साथ संपर्क स्थापित करने के प्रयास का प्रतिनिधित्व करती है। परमार एवं चाहमान जैसे वंशों की उत्पत्ति को भी क्षत्रियों से संबंधित करने की परंपरा का उदय इन शक्तियों के प्रारंभिक काल में नहीं हुआ था। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि राजपूत वंश में प्रवेश केवल राजनीतिक शक्ति को प्राप्त करने पर ही हो सकता था। ये नवीन राजनीतिक शक्तियां अपनी वैधता को सिद्ध करने के लिए अपने-अपने वंशों को काल्पनिक भूतकालीन क्षत्रीय परंपरा के साथ जोड़ने का दावा कर रहे थे।

बोध प्रश्न 1

1) भाट कवियों ने **अग्निकुल** जैसी काल्पनिक कथाओं की रचना क्यों की ? लगभग पाँच पंक्तियों में उत्तर दें।

....

....

....

....

....

2) क्षेत्रीय राजनीतिक प्रणाली के अध्ययन की आवश्यकता के कारणों को बताइए।

....

....

....

....

....

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

3) निम्नलिखित कथनों पर सही (√) एवं गलत (×) का चिन्ह लगाइए:

1) राजपूत वंश भारतीय राजनीतिक क्षीतिज पर अचानक प्रकट हुए।

2) प्रारंभिक मध्यकाल में नवीन सामाजिक समूहों ने क्षत्रिय होने का दावा करना शुरू किया।

3) अरबों ने छठी सदी इ. में सिंध पर आक्रमण किया।

4) राजपूत वंशों की उत्पत्ति के संबंध में कोई समस्या नहीं है।

10.4 राजनीतिक सत्ता का वितरण

भारत में राजनीतिक शक्ति का वितरण एक समान प्रतिमान के आधार पर नहीं किया गया। मध्यकालीन पश्चिम भारत में राजनीतिक शक्तियों के उद्भव की प्रक्रिया से स्पष्ट है कि राजनीतिक शक्ति के वितरण को राजतंत्रीय राजनीतिक प्रणाली के अंतर्गत राजवंशीय ढांचे के द्वारा संगठित किया गया था। राजस्थान के चाहमान और दक्षिणी राजस्थान, गुजरात तथा मालवा के परमार जैसे राजपूत वंशों का राजनैतिक इतिहास राजनीतिक शक्ति का वंशों पर आधारित वितरण के उदाहरण को स्पष्ट तौर पर दर्शाता है।

10.4.1 राजपूत वंशों की वृद्धि

मारवाड़ के भाट लेखकों द्वारा रचित वंशावली के अनुसार अबू के परमार वंश के **धारनिवराह** ने स्वयं को नवकोट मारवाड़ का स्वामी बना लिया और बाद में उसने इसको अपने नौ भाइयों में विभाजित कर दिया—एक भाई को मंदौर, दूसरे को अजमेर तथा इस तरह से शेष को अन्य भाग प्रदान कर दिये। मालवा के परमारों के अलावा उनकी चार अन्य शाखाएं (1) आब, (2) भ्निमल, (3) जलौर, (4) वागदा में भी शासन करती थी। इसी तरह से भड़ौंच के चाहमानों के अतिरिक्त प्रतापगढ़ क्षेत्र पर उनकी एक अन्य शाखा शासन करती थीं। इसका प्रमुख प्रतिहार राजाओं का

एक **महासामंत** था। इस **महासामंत** का पूर्वज शाकम्भारि की प्रसिद्ध चाहमान शाखा का सदस्य था। शाकम्भरी के चाहमानों के पास पुष्कर से हर्षा तक का (मध्य और पूर्वी राजस्थान) भू-भाग था, परन्तु यह भू-भाग उनकी शाखाओं (1) नादौल, (2) जालौर, (3) सत्यपुरा, (4) अबू में विभाजित था। अपने पांच शताब्दियों के शासन काल में उन्होंने पश्चिम राजस्थान एवं गुजरात के विशाल क्षेत्रों पर अपना अधिकार बनाये रखा।

प्रारंभिक मध्य काल में चाय नाम का एक और राजपूत वंश था। उन्होंने भीलमाल काठियावाड़ में वंधियार और गुजरात मे अनाहिलपटक जैसी रियासतों पर शासन किया। इसी तरह से गुहिलों ने उदयपुर एवं मेवाड़ पर शासन किया।

इन बड़े वंशों के उप-विभाजनों के साथ-साथ बहुत से छोटे-छोटे वंशों का उदय, प्रारंभिक मध्यकाल में राजपूतों के फैलाव में एक और महत्त्वपूर्ण कारण था। राजनीतिक शक्ति को प्राप्त करने के माध्यम से राजपूत वंशों के निर्माण की एक अनवरत प्रक्रिया जारी थी। नवीन वंशों का निर्माण तथा पुरानों का उप-विभाजन जारी था। नवीन वंशों का निर्माण तथा पुरानों का उप-विभाजन राजपूत राजनीतिक ढांचे के अंतर्गत कई तरीकों से जारी रहता था।

10.4.2 वंशीय शक्ति का निर्माण

वंशीय शक्ति के निर्माण एवं सुदृढ़ीकरण का विकास एक समान रूप से न हुआ। राजकुल या वंशीय शक्ति के निर्माण की प्रक्रिया का एक संकेत उन नये क्षेत्रों को बसाना था—जिसका प्रमाण बहुत-सी बस्तियों के प्रसार के रूप में मिलता है। नये क्षेत्रों का बसाना संगठित सैन्य शक्ति के साधनों द्वारा विजित किये गये नये क्षेत्रों के परिणामस्वरूप हो सका। नादौल के चौहान राज्य को सप्ताशत के नाम से जाना जाता था। ऐसा कहा जाता है कि सप्ताश्री के देश का निर्माण एक चौहान सरदार ने अपने राज्य की सीमाओं के सरदारों का वध कर उनके गांवों को प्राप्त करके किया था। पश्चिमी भारत की शक्तियों का क्षेत्रीय प्रसार कुछ क्षेत्रों में कबिलाई बस्तियों को नष्ट करके पूर्ण हुआ। उदाहरण के लिए, मंदौर प्रतिहार कक्कूका जिस स्थान पर जा बसे वह भयंकर था क्योंकि उस स्थान पर आभिरों का निवास था। पश्चिम तथा मध्य भारत में सबरों, मिलों एवं पुलिन्दों जैसी कबिलाई आबादी के दमन से इस तरह के उदाहरण दिये जा सकते हैं।

इसी तरह की कार्यवाहियों को गुहिलों तथा चाहमानों के दृष्टांत में भी पाया जाता है। सातवीं सदी ई. की प्रारंभिक गुहिला बस्तियां राजस्थान के अनेक भागों में पायी गई। कुछ बाद के गुहिलों के नागद-अहर अभिलेखों के अनुसार उनका प्रारंभ गुजरात से हुआ था। भाट कवियों की परंपरा के अनुसार गुहिलों ने अपने दक्षिण राज्यों की स्थापना भीलों के प्रारंभिक कबिलाई राज्यों के स्थान पर की थी।

चौहानों का प्रवाह भी अहिच्छत्रपुर के जंगल देश (शाकम्भारी) की ओर हुआ। जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है कि यह एक उजाड़ क्षेत्र था। उनके इस ओर विस्तार के कारण यहाँ भी बस्तियां बस गई। दसवीं सदी ई. के एक लेख के अनुसार शाकम्भरी चाहमान वंश के वाकपति प्रथम के पुत्र लक्ष्मण ने अपने कुछ समर्थकों के साथ अभियान शुरू किया और मेदों के विरुद्ध युद्ध किया। ये मेदनदूला के आस-पास के क्षेत्रों में अपनी लूट-खसोट से वहां की जनता को आतंकित किए हुए थे। लक्ष्मण ने इस क्षेत्र के ब्राह्मण स्वामियों को प्रसन्न कर दिया। इसी कारण से उन्होंने उसको नगरों का रक्षक नियुक्त कर दिया। लक्ष्मण ने शनैः शनैः सेना की एक टुकड़ी का गठन कर लिया और मेदों का उनके ही क्षेत्र में दमन कर दिया। मेदों ने यह भी वायदा किया कि वे उन गांवों से दूर रहेंगे जो लक्ष्मण को निश्चित कर का भुगतान करते हैं। वह 2000 घोड़ों का स्वामी बन गया और उसने सरलता से अपने प्रभुत्व का विस्तार किया और नादौल में एक विशाल भवन का निर्माण किया।

एक राजवंश को हटाकर उसके स्थान पर दूसरे राजवंश की सत्ता स्थापित की जा सकती थी और ऐसा जालौर के चाहमानों के दृष्टांत से स्पष्ट भी होता है। जालौर के चाहमान नादौल के चाहमानों की ही एक शाखा थे। नादौल चाहमान अलहण का पुत्र किर्तिपाल उस भूमि के भाग से असंतुष्ट था जो उसको विभाजन के बाद प्राप्त हुआ था। लेकिन यह महत्त्वाकांक्षी पुरुष था और उस समय मेवाड़ की स्थिति ऐसी थी जिससे कि वह उस पर आक्रमण कर अपनी महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति कर सकता था। परन्तु उसको मेवाड़ पर किए गए आक्रमण में सफलता प्राप्त न हुई तब उसने उस क्षेत्र पर आक्रमण किया जहां पर परमारों का शासन था। उसने जालौर पर अधिकार कर उसे अपने नये राज्य की राजधानी बना लिया। इस तरह से चाहमानों की भड़ौच शाखा उस समय अस्तित्व में आयी जबकि चाहमान सरदार भारतरावद्ध द्वितीय ने भंड़ौच के गुर्जरों के क्षेत्र पर अधिकार कर राज्य की स्थापना की। अरबों के आक्रमण के कारण इस क्षेत्र में अराजकता पैदा हो गई थी और प्रतिहार नागभट्ट-I ने भड़ौंच के गुर्जरों को उखाड़ने के लिए चाहमान सरदार की सहायता की थी। तब उसने 756 ई. में **महासामंताधिपति** की उपाधि को धारण किया।

इस प्रकार राजवंशीय शक्ति के निर्माण का विकास उन बहुत से रास्तों एवं प्रक्रियाओं के माध्यम से हुआ जो अलग-अलग बंटे हुए नहीं थे और एक दूसरे के साथ संबंध रखते थे।

10.4.3 सामाजिक स्तर में उत्थान की प्रक्रिया

पश्चिमी भारत के राजनीतिक इतिहास से स्पष्ट है कि किसी एक क्षेत्र की एक जाति राजनीतिक शक्ति को सफलतापूर्वक प्राप्त कर सकती थी। इस क्षेत्र में एक ऐसे राजनीतिक ढांचे की नींव रखी गई जो सदियों तक चलता रहा। कोई भी वंश कृषि को आधार बनाकर आगे बढ़ने का प्रयास करता और समय के साथ-साथ वह अन्य स्थानीय वंशों के साथ मिलकर एक बड़ी क्षेत्रीय शक्ति के रूप में स्थापित हो जाता। उदाहरणार्थ, भूमि के एक विशेष भाग को **गुजरात्र**,

गुर्जर भूमि, गुर्जाराष्ट्र आदि के नाम से जाना जाता। बार-बार जिस भू-भाग का इन नामों से उल्लेख किया गया, संभवतः वह दक्षिणी राजस्थान के साथ जुड़ा भू-भाग था और यही वह आधार था जहां से कई राजकुलों का उद्भव हुआ।

गुर्जर समूह के अंतर्गत स्तरीकरण की प्रक्रिया में ऐसे कई परिवारों का विकास हुआ जिन्होंने राजनीतिक सर्वोच्चता को प्राप्त कर लिया और वे शासक वंश बन गये। सातवीं सदी ई. से उन वंशों की अनेक शाखाएं हो गई जो गुर्जर समूह से बने थे और वे राजनीतिक शक्ति के माध्यम से पश्चिम भारत में व्यापक रूप से फैल गई। गुर्जर प्रतिहारों का इस सामाजिक पृष्ठभूमि में उदय सर्वश्रेष्ठ दृष्टांत का प्रतिनिधित्व करता है। ऐसा कहा गया कि शक्तिशाली एवं सर्वोच्च सत्ता के ढांचों का उदय स्थानीय कृषि व्यवस्थाओं के आधार पर ही हुआ और इसने अनुकूल राजनीतिक परिस्थितियों में प्रगतिशील गतिशीलता के मार्ग का अनुसरण किया।

10.5 वंशीय शक्ति का सुदृढ़ीकरण

पश्चिम एवं मध्य भारत में राजनीतिक शक्तियों का उदय कुछ निश्चित प्रकार की विशेषताओं से जुड़ा था। आर्थिक स्तर पर भूमि वितरण के प्रतिमान अतिमहत्त्वपूर्ण थे। दसवीं सदी ई. के अंत से चाहमान शासक वंशों के सदस्यों के बीच वितरित की जाने वाली भूमि के प्रमाण मिलते हैं। राजा सिंहराज, उनके भाइयों वत्सराज, विघ्नराज और उनके दो पुत्रों चन्द्राज, तथा गोविन्दराज के पास अपनी व्यक्तिगत जागीरें थीं। नादौल के चाहमान राजा भी इस प्रकार के भूमि अधिकारों का आवंटन करते थे तथा उनको ग्रास, **ग्रासभूमि या भुक्ति** कहा जाता था और इस तरह की संपत्तियों के स्वामी राजा, रानी, युवराज या अन्य राजकुमार आदि होते थे। अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा राजस्थान में इस भांति की भूमि आवंटन की प्रथा का कुछ अधिक ही प्रचलन था। शाही परिवार के सदस्यों को इस तरह से भू का यह आवंटन एक प्रक्रिया का प्रतिनिधित्व करती है और इसका धीरे-धीरे विकास हुआ तथा बाद में इस तरह से यह परंपरा वंशीय सदस्यों को आवंटित की जाने वाली भूमि से जुड़ गई। इसका दूसरा प्रतिमान यह था कि कुछ गांवों से बनी इकाइयों पर भी वंश के कुछ सदस्यों का नियंत्रण होता था और ये इकाइयां मंडल या भुक्ति का भाग होती थीं। इकाई पर संभवतः स्थानीय नियंत्रण होता था। 84 गांवों की इकाई को **चौरासी** कहा जाता था तथा प्रारंभ में इसका प्रचलन सोराष्ट्र में गुर्जर प्रतिहारों के नियंत्रण में था और बाद में इसका विस्तार राजस्थान में भी हुआ। इस प्रकार की अभिव्यक्ति शासक वर्ग के सदस्यों के बीच भूमि वितरण तथा राजनयिक नियंत्रण के रूप में हुई। सन् 1000 ई. से 1200 ई. तक इस तरह की बड़ी-बड़ी जागीरों के स्वामित्व का प्रचलन चाहमान एवं परमार वंशों के राजाओं तथा युवराजों के अधीन था। इस प्रक्रिया का एक दूसरा पक्ष भी था जिसके कारण विभिन्न क्षेत्रों में व्यापक किलेबंदी करने की प्रथा का प्रारंभ हुआ। जहां ये किले एक ओर सुरक्षा के कार्य करते थे वे अपने आस-पास के ग्रामीण क्षेत्रों पर नियंत्रण करने का भी केन्द्र बन गये और इनसे शासक परिवारों को सुदृढ़ीकरण करने की प्रक्रिया में मदद मिली। शासक वंशों के मध्य स्थापित होने वाले वैवाहिक संबंध सामाजिक स्तर पर वंशीय शक्ति की सुदृढ़ीकरण की प्रक्रिया की ओर संकेत करते हैं। वैवाहिक संबंधों द्वारा उन अंतर-वंशीय संबंधों की स्थापना हुई जिसके महत्त्वपूर्ण राजनीतिक परिणाम हुए क्योंकि ये परिवार अधिकतर राजपूत शासक वंश थे। परमारों—राष्ट्रकूटों एवं चाहमान-परमारों के बीच स्थापित होने वाले वैवाहिक संबंधों के अतिरिक्त गुहिला वैवाहिक संबंध भी काफी व्यापक थे। यद्यपि गुहिलों ने अपने वैवाहिक संबंध चालुक्यों से स्थापित किये थे लेकिन उनके वैवाहिक संबंध राष्ट्रकूटों, चेदियों तथा हूणों सहित अन्य राजपूत वंशों जैसे कि परमारों एवं चाहमानों से भी थे। इस तरह से हम देखते हैं कि राजपूत वंशीय व्यवस्था को स्थापित करने में वैवाहिक संबंधों ने महत्त्वपूर्ण योगदान किया। इन वैवाहिक संबंधों को स्थापित करने में राजनैतिक लक्ष्य अधिक थे क्यों कि उपरोक्त उद्धरणों में पश्चिम भारत के प्रारंभिक मध्य काल के महत्त्वपूर्ण शासक वर्ग थे। अंतर-वंशीय वैवाहिक संबंधों का यह परिणाम हुआ कि सामाजिक राजनीतिक प्रकृति की व्यापक गतिविधियों में सहयोग कायम हुआ क्योंकि इन्होंने विभिन्न राज्यों एवं दरबारों में भिन्न-भिन्न वंशों के सदस्यों की उपस्थिति बढ़ाने में सहायता की।

बोध प्रश्न 2

1) पश्चिम भारत में नई बस्तियों का बनना वंशीय शक्ति के निर्माण की प्रक्रिया का प्रतीक थी। पांच पंक्तियों में उत्तर दें।

....

....

....

....

....

2) दसवीं सदी ई. के बाद के काल में राजस्थान में शाही वंश के सदस्यों के बीच आवंटित की जाने वाली भूमि के दृष्टांत उद्धृत कीजिए।

....

....

3) निम्नलिखित में से कौन सा कथन सही (√) और कौन सा गलत (×) है।

i) जिस किसी भी नये वंश को राजनीतिक सत्ता प्राप्त होती है वह अपनी वैधता सिद्ध करने के लिए सम्मानीय सामाजिक स्तर का होने का दावा प्रस्तुत करता।

ii) शासक वंशों के बीच स्थापित होने वाले वैवाहिक संबंधों का सामाजिक-राजनीतिक प्रकृति की व्यापकतम गतिविधियों से कोई रिश्ता नहीं था।

iii) अंतर-वंशीय विवाहों के महत्त्वपूर्ण राजनीतिक परिणाम हुए।

iv) राजनीतिक सत्ता को प्राप्त करने की प्रक्रिया की राजपूत वंशों के निर्माण में कोई भूमिका नहीं थी।

10.6 राजनीतिक संगठन की प्रकृति एवं ढांचा

प्रारंभिक मध्यकालीन पश्चिम भारत के राजनीतिक भूगोल और गुजरात, राजस्थान तथा मालवा में सदैव राजवंशों की संवृद्धि के द्वारा विभिन्न क्षेत्रों में राजनीतिक सत्ता के निर्माण के प्रमाण से स्पष्ट है कि शासक वंश तथा एक विशिष्ट क्षेत्र के बीच सदैव एक समान संबंध नहीं होते थे। राजवंशों की अपने प्रारंभिक सत्ता केन्द्र से बाहर की ओर गतिशीलता के कारण कई नवीन शासक परिवारों की स्थापना हुई। इस तरह के राजवंशों में मेवाड़ के गुहिलों को उद्‌धृत किया जा सकता है।

10.6.1 राजनीतिक अस्थिरता

सैन्य शक्ति की गतिशीलता ने न केवल कई शासक परिवारों को सत्ताच्युत किया बल्कि शक्ति के नवीन केन्द्रों एवं ढांचे को पैदा किया। इस संदर्भ में परमारों की मुख्य शाखा **वागद** का उदाहरण दिया जा सकता है। वागद शाखा का अस्तित्व नौवीं सदी ई. के प्रथम दशक से विद्यमान था। उपेन्द्र परमार की मृत्यु के बाद उसके पुत्र ने बांसवार एवं डूगरपुर क्षेत्र में मालवा के एक सामंत के रूप में शासन किया। चाहमानों के समय तक सदियों के लिए **वागद** की यह शाखा वफादार सामंतों के रूप में शासन करती रही। इस शाखा के एक शासक ने स्वयं को मालवा के परमारों से अलग कर लिया और वह 11वीं सदी ई. के उत्तरार्द्ध में एक स्वतंत्र शासक बन गया। 12वीं सदी ई. के प्रारंभ में वागदों ने मालवा राज्य को खो दिया। चामुण्डराज के उत्तराधिकार के बाद इस वागद शाखा के विषय में कोई जानकारी प्राप्त नहीं होती है। तीन दशकों के बाद इस क्षेत्र पर वागद शाखा का एक अन्य शासक शूरपाल शासन करता है। इससे स्पष्ट है कि वागद परमार के शासक को एक गैर परमार शासक द्वारा अपदस्थ कर दिया गया था और यह उनके वंशावली इतिहास से भी मालूम पड़ता है। आगामी 25 वर्षों में परमारों की इस शाखा को उखाड़ फेंका गया और सन् 1179 ई. में वागद क्षेत्र पर एक गुहिल राजा का शासन था। ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ समय बाद इस नवीन गुहिल राज्य पर **महाराजधिराज** की उपाधि धारण करने वाले एक अन्य राजा ने अधिकार कर लिया। ऐसा लगता है कि इस राजा ने स्वयं को अपने-चालुक्य राजा की सहायता से स्थापित किया था।

10.6.2 नौकरशाही का ढांचा

यह विश्वास करना असंभव है कि चालुक्यों, परमारों तथा चाहमान जैसी प्रारंभिक मध्यकालीन राजनीतिक शक्तियाँ अपनी राजनीतिक प्रणालियों में एक शक्तिशाली नौकरशाही के ढांचे के बिना स्थायी सरकारों को दे सकती थी। हमें ऐसे कई अधिकारियों के नामों की जानकारी होती है जो राजकाज के कार्यों में राजाओं की मदद करते थे।

लेखापद्धति सरकार के **करण** (विभाग) नामक नाम का बोध करता है। इसको चालुक्य सरकार के लिए भी लागू किया ज़ा सकता है क्योंकि गुजरात के इतिहास में उपलब्ध व्यापक प्रमाणों से चौलुक्यों के काल के काफी आँकड़े प्राप्त होते हैं। चालुक्यों के ऐतिहासिक प्रमाणों में **करण** शब्द का बार-बार उल्लेख हुआ है। **श्रीकरण** (मुख्य सचिव) का उल्लेख लोकप्रिय शब्द के रूप में उनके अभिलेखों में बार-बार आया है। उनके प्रमाणों में **व्यायाकरण** या लेखा-जोखा विभाग, **व्यापारकरण** या व्यापार के सामान्य निरीक्षण से संबंधित विभाग, निर्यात तथा आयात से कर को एकत्रित करने वाला विभाग और **मन्दायिका-करण** या कर को एकत्रित करने वाला मुख्य सचिवालय जैसे विभाग का विवरण मिलता है। इस तरह के विभाग मंत्रियों के अधीन होते थे और इन मंत्रियों को **महामात्य** कहा जाता था। कुछ अपवादों को छोड़कर इन मंत्रियों के नाम प्रमाणों में उपलब्ध है लेकिन नौकरशाही की वास्तविक प्रकृति एवं कार्यों का आंकलन करना बड़ा कठिन है। **महामात्यों** के अतिरिक्त महामंत्री, मंत्री और सचिव जैसे अधिकारी भी थे। इनकी स्थिति के विषय में प्राप्त सूचनाएं बड़ी अस्पष्ट है और इसी कारणवश इनका उल्लेख कुछ ही अभिलेखों में हुआ है। प्रारंभिक मध्यकाल के पश्चिम भारत के इतिहास में **महासंधिविग्रहिक** का प्रचुर मात्रा में उल्लेख हुआ और वह शांति तथा युद्ध का मंत्री था तथा उसके कर्तव्यों में अनुदान के संयोजन का कार्य भी शामिल था। चौलुक्यों के महामात्य **महासंधिविग्रहिक** के अधीन **श्रीकरण** तथा **मुद्रा** (वह विभाग जो पासपोर्ट को जारी करता तथा आयातीत सामानों से कर एकत्रित करता था) विभाग भी थे। **महाक्षपतलिक** नाम के एक अन्य अधिकारी का उल्लेख हुआ है और इस अधिकारी के अधीन लेखा-जोखा विभाग एवं प्रमाण विभाग थे। यह अधिकारी राज्य की आमदनी एवं खर्च का पूर्ण लेखा-जोखा रखता था। परमार प्रशासन के दौरान यह अधिकारी भूमि अनुदानों को पंजीकृत करता था।

महामंत्री या **महाप्रधान** का अर्थ मुख्य मंत्री या प्रधानमंत्री से था और इसका बहुत अधिक महत्त्व था। इसके अधीन शाही मोहर होती थी और यह सभी विभागों का निरीक्षण करता था। दण्डनायक या सेनापति अन्य महत्वपूर्ण अधिकारी था। यह मुख्यतः सेना का अधिकारी होता। चाहमान साक्ष्यों से स्पष्ट है कि अश्वसेना के अधिकारीगण या बालाधिपति इस अधिकारी के अधीन होते थे और ये अधिकारी नगर से बाहर स्थित सैनिक छावनियों के उच्च अधिकारी होते। संपूर्ण प्रशासन पर राजधानी स्थित **बालाधिकरण** नामक विभाग का नियंत्रण होता था।

केन्द्रीय अधिकारी कहे जाने वालों की सूची में **दूतक** नाम का अधिकारी भी शामिल था और इस अधिकारी का कार्य शासकों द्वारा दिए गये अनुदानों को स्थानीय अधिकारियों को प्रेषित करना था। स्थानीय अधिकारी इन अधिकार-पत्रों को तैयार करते थे और इनको संबंधित लोगों को देते थे। **महाप्रतिहार** और **भण्डारिका** (गोदामों का अधिकारी) के नाम भी सरकारी अधिकारियों की सूची में थे।

10.6.3 वंशात्मक राज्य एवं सामंतीय राजनीति

गुप्त काल से ही राजनीतिक प्रणालियों की अंतरः संबंधता एक विशेषता थी और यह राज्य समाज के समस्तरीय प्रसार का परिणाम थी। जाति पर आधारित शासक वंशों सहित भिन्न-भिन्न राजनीतिक व्यवस्थाओं में ऐसे तत्त्वों का सम्मिश्रण था जो प्रारंभिक मध्यकालीन सभी प्रकार के राजनीतिक ढांचों में निहित थे। पश्चिम तथा मध्य भारत के इस समय के राजनीतिक संगठन इसके अपवाद न थे।

सबसे पहले हम राजवंश पर आधारित राज्य से संबंधित सामग्री के विषय में चर्चा करेंगे (देखें इकाई 9.4.4)। यह राजनीतिक सत्ता के परिवेश में वंशीय शक्ति का सुदृढ़ीकरण न था। बल्कि यह भू-स्वामित्व का गहन सवाल था। कई लोग ऐसा सोचते हैं कि शासक परिवार के सदस्य मात्र भूमि पर अधिकार करना चाहते थे। परन्तु इस समस्या का मूल स्वरूप एवं लक्ष्य कुछ अन्य थे। हम देखते हैं कि सरकार को संचालित करने का कार्य शनैः शनैः भू-स्वामित्व के प्रश्न से जुड़ गया। गुर्जर-प्रतिहारों के शासन में हम देखते हैं कि अनेकों भू-क्षेत्र चाहमान, गुहिला एवं चालुक्य वंशों के सरदारों के अधीन थीं। गुर्जर प्रतिहार वंश के एक अन्य सरदार मथनदेव ने **स्वभागवप्त** (स्वयं का भाग) के रूप में अपने अनुदान को प्राप्त करने के लिये दावा प्रस्तुत किया। सन् 1161 ई. की **राजपुत्र कीर्तिपाल** के नादौल अभिलेखों में 12 गाँवों के एक ऐसे समूह को उद्धृत किया गया है जिनको एक छोटे राजकुमार ने एक अन्य राजकुमार के शासन के दौरान प्राप्त किया था। यशो वर्मन की कलवण पट्टिकाओं के अनुसार (परमार शासक राजा भोजदेव के समय का) उस समय एक ऐसा सरदार था जिसने अपने स्वामी से 84 गाँवों के अधिकार पत्र को प्राप्त किया था (देखें इकाई 11.4.2)।

जिस तरह से चाहमानों एवं गुर्जर-प्रतिहारों में भूमि अनुदान को वंशीय आधार पर बहुत अधिक दिया जाता था, परमारों के बीच भूमि अनुदान को वंशीय आधार पर करने की परम्परा इस तरह से काफी कम थी। लेकिन परमार प्रमाणों में चाहमानों की अपेक्षा ग्राम समूहों को अधिक उद्धृत किया गया है। 12 की इकाइयों में ग्राम समूहों या फिर गुणात्मक रूप में कम से कम सात बार उद्धृत किया गया है। सन् 1017 ई. का एक परमार अभिलेख 52 ग्रामों के एक ऐसे जिले का उल्लेख करता है जो न तो 12 के गुणात्मक या 16 के गुणात्मक प्रतिमान में फिट होता है। लेकिन इसका ठीक-ठीक तौर पर निश्चय भी नहीं किया जा सकता।

MAADHYAM IAS

वंशीय प्रभावों की व्यापकता या फिर अपवाद के बावजूद राजवंशीय राज्य कहे जाने वाले राज्यों का मूल आधार प्रधानतः भूमि के स्वामित्व की प्रकृति ही था। जैसा कि इकाई 8.3.3 में इस ओर पहले ही संकेत दिया गया कि जहाँ तक शाही वंशीय राज्य या फिर एकात्मक राजनीतिक संगठन का प्रश्न था उसने राजनीतिक ढाँचें के किसी अन्य वैकल्पिक भौतिक आधार को प्रस्तुत नहीं किया। ऐसा न होने पर कोई आश्चर्य की बात नहीं है क्योंकि पश्चिम एवं मध्य भारत के इन राज्यों में सत्ता के विभिन्न केन्द्र बिन्दु या स्तर उसी तरह से थे जैसे कि उस समय की बड़ी-2 राजनीतिक प्रणालियों में सामान्य तौर से विद्यमान रहते थे। इस तरह से इसके द्वारा सामन्तीय राजनीतिक प्रणाली की परिकल्पना की पुनः वैधता सिद्ध होती है।

सामान्यतः यह कहा जाता है कि सामन्तीय व्यवस्था सम्पूर्ण भारत में एक समान न थी। लेकिन इन सबके बावजूद इस सामन्तीय व्यवस्था में इस काल में सभी तरह के भू-स्वामी कुलीनों का वर्चस्व कायम था।

पश्चिम तथा मध्य भारत के इन राज्यों में वे सभी क्षेत्र शामिल थे जो उनके सामन्तों के नियंत्रण में थे। इन सामन्तों को साधारणतः **मण्डालिका** कहा जाता था। परन्तु वे भी कभी-कभी **महाराजधिराज, महामण्डेलेश्वर, महामण्डिलिका, महासामन्त,** और **सामन्त** जैसी उपाधियों को धारण करते। चालुक्यों के महत्त्वपूर्ण सामन्त राजकुमार, आबू के परमार एवं जालौर के चाहमान थे। इन से कम महत्त्वपूर्ण सामान्त राजा जगमल एवं सोमेशवर परमार थे। ठीक इसी तरह से विशेषकर चाहमानों के नदौल एवं जालौर राज्यों में भूमि पर बिचौलिये भू-स्वामियों का अधिकार था और इन भू-स्वामियों को **ठाकुर, रणका,** और **भोक्ता** कहा जाता था। इन को भू-स्वामित्व का अधिकार इस शर्त के साथ प्रदान किया जाता था कि जब भी राजा को आवश्यकता होगी तब वे सैनिकों की एक निश्चित संख्या को भेजेंगे।

परमार शासकों के अधीन सामन्तीय सरदारों, अधिकारियों तथा राजकुमारों की निम्नलिखित श्रेणियां थीं :

1) कुछ अधिकारियों को अपनी बहुमूल्य सेवा के लिये राजा के द्वारा भूमि को उपहार स्वरूप प्रदान किया जाता।
2) जिन्होंने अपने उत्कर्ष के दौरान स्वतंत्र क्षेत्रों की स्थापना की और मुख्य शाखा की सर्वोच्चता को स्वीकार किया। इस वर्ग में वगद के तथा किरादू के परमार आते थे।

3) ऐसे सामान्त जिन्होंने परमारों के कठिन दिनों में केन्द्रीय सत्ता के विरुद्ध शक्ति के बल पर स्वयं को स्वतंत्र राज्य या जागीर का स्वामी घोषित कर लिया था। इस तरह की श्रेणी में महाकुमार जैसे परमार शामिल थे। ये सहायक उपाधियों को धारण करते लेकिन इन्होंने व्यवहारिक तौर पर स्वयं को स्वतंत्र बनाये रखा।

4) ऐसे सामन्त जिनको परमारों के द्वारा पराजित कर दिया गया था परन्तु उन्होंने परमारों की अधीनता को स्वीकार कर लिया और उनको सामन्त का दर्जा प्रदान किया गया था।

परमारों के अर्णबुदमण्डल और महाकुमार जैसे बड़े सामन्तों को पर्याप्त आन्तरिक स्वापत्तता प्राप्त थी। वे अपने उप-सामन्तों का निर्माण कर सकते थे और अपने अधिकारियों की नियुक्ति भी कर सकते थे। सामन्त सरदारों के लिये यह भी सम्भव था कि अपने ऊपर निर्भर रहने वाले लोगों को भूमि को वितरित कर सकते थे। परमार शासकों के अन्तर्गत लगभग सभी सामन्तीय राज्यों में **ठाकुर** सामन्त सरदारों की सेवा करते थे। सामन्त करों का निर्धारण करते, गाँवों का विभाजन और कुछ निश्चित लोगों को कर से मुक्त कर सकते थे। भूमि अनुदानों की यह परम्परा और इसके साथ जुड़े आर्थिक एवं प्रशासनिक अधिकारियों को सहायक सामन्तीय व्यवस्था कहा जाता है। इस अवधारणा को पुष्ट करने के लिये गुर्जर-प्रतिहारों के पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध होते हैं। इस परम्परा का निर्वाह प्रतिहारों के प्रत्यक्ष अधीन क्षेत्रों तथा सामन्तों के अधीन क्षेत्रों दोनों में होता था। चौलुक्यों के द्वारा गुजरात में सेवाओं के लिये जो अनुदान प्रदान किये गये थे उनसे भी इस सहायक-सामन्तीय व्यवस्था की पुष्टि होती है। एक सहायक सामन्त सम्भवतः भीमदेव द्वितीय के अधीन एक बनिये ने सिंचाई के लिये एक कुंए तथा इस से जुड़ी पानी की नालियों का निर्माण कराया और इस कार्य के लिये उसने प्रजावत जाति के एक सदस्य को भूमि का अनुदान दिया जो सम्भवतः एक कारीगर रहा होगा। सहायक सामन्तीय व्यवस्था परमार राज्य में किस ढंग से सक्रिय थी इसके विषय में पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध नहीं होते हैं। परन्तु समय के साथ-साथ सामन्तीय व्यवस्था की अभिव्यक्ति पदों के रूप में हुई और इस ने राजनीतिक पदानुक्रम के निर्माण की विशेषता को प्राप्त किया और इस व्यवस्था का प्रतिनिधित्व **रणका, रौतका, ठाकुर, सामन्त, महासामन्त** आदि जैसे पदों के द्वारा किया जाता था।

अधिकारियों को राज्य के द्वारा प्रदान किये जाने वाले अनुदानों की मात्रा एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में भिन्न-भिन्न थी। जहाँ हमें एक ओर परमार शासकों के आधा दर्जन अधिकारियों के पदों का पता चलता है, वहीं उनमें से कुछ ही भूमि अनुदानों को प्राप्त कर पाये परन्तु, हमें ऐसा कोई दृष्टांत उपलब्ध नहीं होता जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि उनमें से किसी को भी 11वीं सदी ई. में यह अनुदान प्राप्त हुआ हो। लेकिन गुजरात के चौलुक्यों के अधीन सामन्तों एवं अधिकारियों को बड़े-बड़े क्षेत्रों का अनुदान दिया गया। चौलुक्यों की सन् 1200 ई. एवं 1300 ई. के ताम्र पत्रों तथा लेखापद्धति से प्राप्त आंकड़ों की तुलना करने पर हम पाते हैं कि सामन्त एवं उच्च अधिकारी गण शनैः शनैः एक दूसरे के अन्दर मिश्रित होते गये। 11वीं एवं 12वीं सदी ई. में मुख्य अधिकारियों को वेतन का भुगतान स्थायी रूप से एवं पूर्णतः करों से किया जाता था। इस प्रकार कलचुरी राज्य के **पटटाकिल, तथा दुस्तसाध्य** और चाहमानों के **बार .वप** अधिकारीगण ऐसे वेतन को प्राप्त करते थे। 12वीं सदी के अन्त तथा 13वीं सदी ई. के प्रारंभ के चाहमान अभिलेखों में सामन्तों, शाही अधिकारियों, वन अधिकारियों, सिपाहियों आदि का विवरण हुआ है और इन अधिकारियों को जो अतिरिक्त आय होती वे गाँव को उपहारों के रूप में रूपान्तरित कर देते थे। इस तरह के प्राप्त किये गये कुछ अधिकारों का उल्लेख इन अभिलेखों में हुआ है।

सामन्तों की अपने राजा के प्रति वित्तीय एवं सैनिक जिम्मेदारियां थी। सामान्यतः सामन्तों की सत्ता कुछ निश्चित शर्तों के पूरा करने पर निर्भर करती थी या यों कहें कि उनकी सत्ता इन शर्तों के पूरा करने से बंधी थी। जैसे कि उनको अपने राजा को आवश्यक अवसर पर सिपाहियों की एक निश्चित संख्या की आपूर्ति करनी होती थी। बगद के परमारों ने मालवा के परमारों की साम्राज्य स्थापना के लिये एक बार से अधिक युद्ध में भाग लिया। आबू, किरदू तथा जालौर के परमार सरदार गुजरात के चौलुक्यों के सामन्त थे और उन्होंने चौलुक्यों के लिये कई बार अपने प्राणों का बलिदान किया था। लेकिन इन सबके बावजूद सामन्त सरदार स्वतंत्र होने के लिये उत्सुक रहते थे और जब कभी उनको अवसर प्राप्त होता तब वे ऐसा कर भी देते। इस तरह के मामलों में आश्रयदाता एवं सामन्तों के बीच संबंध ताकत के आधार पर कायम रहते और कोई भी इसका प्रयोग कर सकता था। उदाहरणार्थ, मेवाड़ के गुहिलों ने परमारों की अधीनता को उस समय स्वीकार किया था जबकि वाक्पति-II ने उनको पराजित कर दिया। लेकिन भोजप्रथम की मृत्यु के बाद जो अराजकता की स्थिति पैदा हुई उसके दौरान उन्होंने अपनी स्वतंत्र स्थिति को स्थापित करने का प्रयास किया। इसी तरह से चाहमान कातुदेव ने अपने चौलुक्य राजा सिद्धराज के शासन काल के अन्तिम वर्षों में स्वतंत्र होने का प्रयास किया। इसी कारणवश चौलुक्य राजकुमार ने उसको उसकी जागीर से बेदखल कर दिया और इस क्षेत्र में एक दंडनायक की नियुक्ति करने नदौला को अपने प्रत्यक्ष प्रशासन के अधीन कर लिया। कुमार पाल ने विद्रोही राजकुमार विक्रम सिंह को आबू से हटा दिया और उसके भतीजे यशोधावाल को नियुक्त कर दिया। यशोधावाल के पुत्र एवं उत्तराधिकारी धार वर्ष ने चौलुक्य राजाओं की तीन पीढ़ियों तक विशेष सेवा की। लेकिन इन सबके बावजूद वह भी भीम II के विरुद्ध हो गया और उसको ताकत के बल पर चौलुक्य राजा ने विजयी बना लिया या फिर उसने स्वयं राजा के सम्मुख समर्पण कर दिया।

सामन्तीय राजकुमार का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य दुश्मन के विरुद्ध अपने आश्रयदाता की सहागता करना था। कभी-कभी सामन्त नजराना प्राप्त करने के लिये नये-नये क्षेत्रों को विजित कर लेते थे और राजकुमार इन क्षेत्रों को सामन्तों के नियंत्रण में कर देते थे। एक ऐसा अभिलेख प्राप्त हुआ है जिससे यह मालूम पड़ता है कि नये राजा के सिंहासनारूढ़ होने पर सामन्त नये राजा के प्रति वफादारी की शपथ लेता था और राजा इसके बदले सामन्त के अधिकार को मान्यता

प्रदान करता। सामन्तों को अपने स्वामी को नकद या सामान के रूप में नजराना भी देना होता था। इन सबके बावजूद इन शर्तों को विभिन्न श्रेणी के सामन्तीय सरदारों के द्वारा पूरा करने के लिये कोई कठोर नियम न थे। सामन्त एवं राजा के बीच के संबंध सामान्यतः परिस्थितियों पर निर्भर करते थे और अपेक्षाकृत ये संबंध एक दूसरे के प्रति ताकत पर निर्भर थे। गुजरात के चौलुक्यों के अंतर्गत आबू के परमारों या नादौल के चाहमानों ने काफी बड़े प्रदेश पर शासन किया और उनकी अपने प्रशासन की व्यवस्थायें थीं।

राजनीतिक परिस्थितियों की अस्थिरता सामन्तीय व्यवस्था का ही एक हिस्सा थी। सामन्तीय अनुबंधों की शक्ति अक्सर राजा के व्यक्तित्व पर निर्भर करती थी। जब कभी राजा लोग दूर-दराज के क्षेत्रों के लिये युद्ध अभियान पर जाते थे तब उनको ऐसे विश्वसनीय योग्य सेनापति की आवश्यकता होती थी जिसको क्षेत्रीय प्रशासन का भी अनुभव हो और यह योग्यता सामन्ती सरदारों में होती थी। राजा एवं सहायक के बीच के व्यक्तिगत संबंध इस पर निर्भर करते थे कि सहायक एक या दो पीढ़ियों तक क्षेत्रों पर नियंत्रण रखने के लिये काफी शक्तिशाली होना चाहिये था। लेकिन समय के चलते ये संबंध कमजोर पड़ जाते थे और सामन्त सरदार स्वतंत्र होने के लिये पर्याप्त कोशिश करते थे। अक्सर सामन्तों के कोई भी स्थायी अनुबंध न थे और अगर कोई शक्तिशाली आक्रन्ता उनको विशेष अधिकार देने को तैयार हो जाता तब वे अपनी निष्ठा को इस नये स्वामी के साथ रूपान्तरित करने के लिये तत्पर हो जाते थे।

बोध प्रश्न 3

1) अनुच्छेद (अ) में **लेखापद्धति** से कुछ शब्द और (ब) में वे शब्द दिये गये हैं जो कुछ विभागों से संबंधित थे। (अ) एवं (ब) में समरूप शब्दों को मिलाइये।

अ	ब
1) **व्यायाकरण**	(अ) मुख्य सचिवालय
2) **व्यापारकरण**	(ब) लेखा जोखा विभाग
3) **श्रीकरण**	(स) व्यापार का निरीक्षण करने वाला विभाग
4) **मन्दापिकरण**	(द) करों को वसूल करने वाला विभाग

2) सामन्तीय सरदारों के कार्यों एवं शक्तियों को 10 पंक्तियों में लिखिये।

....
....
....
....
....
....

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

3) निम्नलिखित कथनों पर ठीक (√) या गलत (×) का चिन्ह लगाइये :

i) सामन्तीय व्यवस्था एक समान श्रेणी न थी एवं उसके अंतर्गत विशाल पदों का क्षेत्र शामिल था।

ii) केन्द्रीयकरण राज्य ढाँचे की एक आवश्यक विशेषता है।

iii) सामन्तीय लोग अपने स्वामियों के प्रति स्थायी तौर पर अनुबंधित थे और अपनी विश्वसनीयता को दूसरों को रूपांतरित नहीं कर सकते थे।

10.7 सारांश

आठवीं सदी ई. के प्रारम्भ में पश्चिम तथा मध्य भारत में एक ऐसे राजनीतिक ढांचे का विकास हुआ जिसके अंतर्गत नये विभिन्न सामाजिक वर्गों ने नये क्षेत्रों को आबाद करने जैसे साधनों के माध्यम से राजनीतिक शक्ति को प्राप्त किया। राजपूत जाति का आधार राजनीतिक संगठन की सत्ता थी और इसके विकास के प्रतिमान से स्पष्ट है कि पश्चिम भारत की सीमाओं से बाहर इसमें भटकाव उत्पन्न हो गया था। इन जातियों ने अपनी वैधता को प्राप्त करने के लिये क्षत्रिय वर्ण को धारण किया और ऐसा केवल पश्चिम भारत की राजनीतिक शक्तियों ने ही नहीं किया अपितु प्रारम्भिक मध्य काल के भारत में सभी राजनीतिक शक्तियों ने ऐसा करने के प्रयास किये। स्वयं को क्षत्रिय साबित करने की वैधता को प्राप्त करने के बाद सामन्तीय स्थिति से स्वतंत्र स्थिति में रूपांतरित होने वाले काल में पश्चिम तथा मध्य भारत की इन शासक जातियों ने लम्बी-चौड़ी वंशावली को बनाया। उन्होंने भूमि वितरण एवं क्षेत्रीय व्यवस्था के द्वारा अपनी राजनीतिक स्थिति को सुदृढ़ किया। इस क्षेत्र की राजनीतिक प्रणाली की अन्य विशेषताएँ निम्न प्रकार से थीं —

- नौकरशाही का संगठन अपने राजनीतिक ढांचों में विभिन्न स्वरूपों से जुड़ा था और इस राजनीतिक ढांचे के सत्ता के विभिन्न केंद्र थे।
- स्वामी और अधीनस्थ के संबंधों का प्रभुत्व था।
- स्थानीय राजनीति विशालतम राज्य की राजनीति के साथ एकीकृत थी।
- सामन्तों की स्थिति का महत्त्वपूर्ण अंग भूमि का स्वामित्व था।
- भूमि का कुछ निश्चित भाग पदों से जुड़ा था जिसके अन्तर्गत राजनैतिक प्रशासनिक भूमि, कोष एवं सेनाएं शामिल थीं।
- प्रशासन एवं वित्त की व्यापक शक्तियां सामन्तों एवं अधिकारियों के पास थीं जिससे कि सहायक सामन्तीय व्यवस्था का प्रसार हुआ।

10.8 शब्दावली

बालाधिय : एक सैनिक अधिकारी होता था और इसके अधीन कस्टम विभाग था।

चौरसिया : 84 गाँवों का स्वामित्व।

दुस्तसाध्य : पुलिस अधिकारी जिसके अधीन प्रशासन का कार्य था।

गोत्रक चर : गोत्र की घोषणा करना।

मलेच्छ : अरबों, तुर्कों तथा विदेशियों के लिए इस शब्द का प्रयोग किया गया।

10.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) अग्निकुल पौराणिक कथा की रचना भाट लेखकों के द्वारा अपने आश्रयदाताओं की श्रेष्ठ वंशावली के लिये की गई। उनकी उत्पत्ति की शानदार व्याख्या भी की गई (देखें भाग 10.3)।

2) देखें भाग 10.1

3) i) × ii) √ iii) × iv) ×

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

बोध प्रश्न 2

1) वंशों आदि के प्रसार के लिये औपनिवेशकरण तथा नये क्षेत्रों का अधिग्रहण किया (देखें 10.4.2)।

2) देखें भाग 10.5

3) i) √ ii) × iii) √ iv) √

बोध प्रश्न 3

1) i) ब ii) स iii) अ iv) द

2) आपका उत्तर उपभाग 10.6.5 में उद्धृत शक्तियों तथा कार्यों पर आधारित होना चाहिये।

3) i) √ ii) × iii) ×

इकाई 11 दक्खन

इकाई की रूपरेखा

11.0 उद्देश्य

11.1 प्रस्तावना

11.2 क्षेत्र का निर्धारण

11.3 राजनीतिक सत्ता का निर्माण : ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

11.4 शासक परिवारों का उद्भव एवं प्रसार

- 11.4.1 राजवंश और उनके क्षेत्र
- 11.4.2 शासक वंशों के उद्भव के प्रतिमान
- 11.4.3 वंशावली की काल्पनिक संरचना

11.5 सत्ता के प्रतीक

11.6 अंतर-वंशीय तंत्र

11.7 भूमि और सत्ता के विसर्जित केन्द्रों एवं स्तरों का एकीकरण

11.8 नौकरशाही का ढांचा

11.9 राज्य के संसाधनों का आधार

11.10 दक्खन की राजनीति में राजनैतिक अस्थिरता

11.11 सारांश

11.12 शब्दावली

11.13 बोध प्रश्नें के उत्तर

11.0 उद्देश्य

इस इकाई में हमको एक विशेष क्षेत्र दक्खन में राजनीतिक सत्ता की प्रकृति, संगठन एवं वितरण की जानकारी प्राप्त होगी। इस इकाई का अध्ययन करने पर आपको :

- दक्खन के भौगोलिक फैलाव की जानकारी होगी,
- उन छोटी-बड़ी राजनीतिक शक्तियों का बोध हो जाएगा जिनका सन् 800 ई. से 1300 ई. तक दक्खन के विभिन्न क्षेत्रों पर अधिकार था,
- स्थानीय शक्तियों के निर्माण और स्थानीय अनुबंधों के बाहर राजनीतिक ढांचे के अंतर्गत उनके एकीकरण की राजनीतिक प्रक्रियाओं की जानकारी प्राप्त होगी,
- सत्ता के विशिष्ट वितरण की पूर्णता के साथ जानकारी प्राप्त होगी, और
- दक्खन के प्रारंभिक मध्यकालीन राजनीतिक संगठन की प्रकृति का भी ज्ञान प्राप्त हो सकेगा।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

11.1 प्रस्तावना

यदि हम सामान्य राजनीतिक घटनाक्रम के रूझान को ध्यान में रखें—विशेषकर पश्चिम तथा मध्य भारत की राजनीतिक प्रणाली की प्रकृति को (इकाई 10) तब इस संदर्भ में वर्तमान इकाई पूरक अंग है। इस इकाई के प्रारंभ में मौर्य काल में राज्य समाज की ऐतिहासिक उत्पत्ति का वर्णन तथा तत्पश्चात प्रारंभिक मध्यकाल में दक्खन की राजनीतिक व्यवस्था की महत्त्वपूर्ण विशेषताओं को रेखांकित किया गया है। इस इकाई के अंतर्गत राज्यों के उदय में राजवंश एवं भूमि संबंधी अधिकारों जैसे कारकों की सक्रिय भूमिका को दर्शाने का प्रयास किया गया है। राजनीतिक शक्ति के सामाजिक एवं आर्थिक आधारों की भी विवेचना की गई है। अंत में इस इकाई में सत्ता के विभिन्न स्तरों के एकीकरण की प्रकृति पर भी प्रकाश डाला गया है।

11.2 क्षेत्र का निर्धारण

दक्खन शब्द संस्कृत भाषा के "दक्षिण" से लिया गया है जिसका अर्थ है दक्षिण। दक्षिण क्षेत्र की निश्चित सीमाओं के संबंध में ऐतिहासिक प्रमाणों से भिन्न जानकारी प्राप्त होती है। कभी इसको संपूर्ण भारतीय प्रायद्वीप के समतुल्य माना गया और कभी इसके एक भाग के बराबर। संकुचित रूप में दक्खन का सीमांकन मराठी भाषी क्षेत्र और उससे जुड़े आस-पास के क्षेत्र के साथ किया जाता है लेकिन व्यापक रूप में दक्खन शब्द का प्रयोग भारत के उस संपूर्ण

क्षेत्र के लिए किया जा सकता है जो नर्मदा के दक्षिण में स्थित है। सामान्यतः दक्खन के अंतर्गत जो समुचित क्षेत्र आता है उसमें दक्षिण के तमिल एवं मालाबार के दूरस्थ क्षेत्र शामिल नहीं हैं। दक्षिणी भारत दक्खन के पठार (कृष्णा, तुंगभद्रा नदियाँ दक्षिणी भारत को पठार से अलग करती हैं) से भिन्न होते हुए भी विशिष्ट स्थान है। अतः सीमित अर्थों में दक्खन शब्द उस संपूर्ण क्षेत्र को इंगित करता है जिसके अंतर्गत तेलगू भाषी क्षेत्र, महाराष्ट्र और उत्तरी कर्नाटक (कन्नड़ भाषी क्षेत्र) का कुछ भाग शामिल है।

11.3 राजनीतिक सत्ता का निर्माण : ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

दक्खन उन महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों में से था जहाँ राज्य समाज का प्रसार मौर्य काल में (तीसरी सदी ई. पू.) ही हो गया था। मौर्यों के क्षेत्रीय प्रसार का परिणाम सत्ता के समतल विस्तार के रूप में हुआ। मौर्यों के दक्खन नियंत्रण की प्रकृति निरीक्षणात्मक थी जिसे वे राज्यपालों तथा प्रांतीय मुख्यालयों में नियुक्त नौकरशाही के माध्यम से नियंत्रित करते थे। प्रांतीय मुख्यालयों की स्थापना और सहायक के रूप में स्थानीय सरदारों की संबद्धता के कारण दक्खन से मौर्यों के प्रभुत्व की समाप्ति के बाद एक स्थानीय शासक वर्ग के उद्भव का मार्ग प्रशस्त हुआ। स्थानीय प्रबुद्ध समूहों ने अपनी स्थिति को सुदृढ़ किया, राजसत्ता पर अधिकार कर शासक वंशों की स्थापना की। यह प्रक्रिया सातवाहन काल में विशेष रूप से परिलक्षित होती है। उन्होंने एक ऐसी शासकीय व्यवस्था को विकसित किया जिसके अंतर्गत राजकीय कार्यों को उन स्थानीय सरदारों को सौंप दिया गया जिन्होंने उन प्रदेशों को विजित किया। इस प्रकार उन्हें शक्ति संरचना में एकीकृत किया गया। सात वाहन शासन काल में जो प्रशासनिक इकाइयाँ स्थानीय सरदारों के वंशों के अधीन थी। सातवाहन काल के बाद ये स्थानीय सरदार राजनीतिक सत्ता के केन्द्रों के रूप में विकसित हो गये।

इस संपूर्ण राजनीतिक तंत्र का आधार रिश्तेदारी थी। इस राजनीतिक तंत्र की विशेषता यह थी कि यह उन सहायक उप-कबीलाई परिवारों के गठबंधनों द्वारा नियंत्रित था जिनका प्रभुत्व भिन्न-भिन्न क्षेत्रों पर था। एक स्थायी शासक वर्ग की स्थापना उस समय हुई जब उपाधियाँ पैतृक हो गई, और इस काल में शासक वर्ग के एकीकरण एवं सुदृढ़ीकरण की प्रक्रिया तीव्र हो गई। सौभाग्यवश भारत में सातवाहनों ने हमारे लिए भूमि अनुदानों के प्राचीनतम अभिलेखीय, प्रमाणों को छोड़ दिया। इस विशेषता के विषय में आप (इकाई 1.7 और 8.3.1) पहले ही पढ़ चुके हैं। इसने न केवल सामाजिक एवं आर्थिक प्रक्रियाओं को अपितु राजनीतिक व्यवस्था को भी प्रभावित किया। समय के प्रवाह में इन सभी परिवर्तनों की अंतिम परिणति दक्खन में राज्य के वास्तविक निर्माण के रूप में हुई।

MAADHYAM IAS

बोध प्रश्न 1

1) निम्नलिखित कथनों को पढ़कर उन पर सही (√) या गलत (×) का चिन्ह लगाओ:

   i) दक्खन की पहचान केवल मराठी भाषी क्षेत्र से की जाती है।

   ii) राजनीतिक ढांचें की वास्तविक प्रकृति की पहचान केवल सामाजिक-आर्थिक समूहों की संपूर्णता और उनके संसाधनों की गतिविशालता के द्वारा ही संभव है।

   iii) आठवीं सदी ई. के अंत तक दक्खन राज्य समाजों के तंत्र से बाहर था।

   iv) सात वाहनों ने अपनी प्रशासनिक इकाइयों को जिन सहायक अधिकारियों के निरीक्षण के अधीन रखा था वे स्थानीय संपन्न वर्गों से जुड़े थे और बाद में उनका विकास सत्ता के केन्द्रों के रूप में हुआ।

2) उन तीन भाषायी क्षेत्रों को परिभाषित कीजिए जिनसे दक्खन का निर्माण हुआ।

   i) ....
   ....
   ....

   ii) ....
   ....
   ....

   iii) ....
   ....
   ....

3) उत्तर-मौर्य-काल में दक्खन में उदित होने वाले शासक वर्गों पर 10 पंक्तियाँ लिखिए।

....
....

....

....

....

....

11.4 शासक परिवारों का उद्भव एवं प्रसार

राज्य का निर्माण दक्खन के एक बड़े भू-भाग में आठवीं सदी ई. से काफी पहले हो चुका था। लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं है कि सत्ता के केन्द्रों में कोई बदलाव एवं शासक वंशों के उद्भव, के प्रतिमान में कोई परिवर्तन नहीं हुए। नये शासक वंशों का उदय एक अनवरत प्रक्रिया थी।

भारत में अन्य स्थानों की तरह सातवीं सदी ई. से दक्खन के अभिलेख शासक वंशों की वंशावली पर स्पष्ट प्रकाश डालते हैं। सन् 800 ई. से 1200 ई. तक जारी किये गये अभिलेख राष्ट्रकूट, चालुक्य, सिलहर, काकतीय, सेवूनाज (यादव) होयुसल आदि जैसी छोटी-बड़ी राजनीतिक शक्तियों के उदय पर प्रकाश डालते हैं।

दक्खन में इस काल में न केवल नवीन शासक वंशों का उदय हुआ अपितु विद्यमान शासक वंशों की शाखाओं का प्रसार भी हुआ। जैसे कि चालुक्यों की मुख्य शाखा बदामी में शासन करती थी लेकिन चालुक्यों की उपशाखाएं लता, वेंगी और एक शाखा वामूलवाद में भी थी। ऐसी भी सूचना प्राप्त हुई हैं कि कर्नाटक के अनेक स्थानीय व्यक्तिगत सदस्यों ने अपना संबंध चालुक्य वंश या कुल से जोड़ने का दावा किया। इसी प्रकार देवगिरि के मुख्य यादव (सेवूना) वंश के अतिरिक्त मुंसावदी नामक क्षेत्रीय मंडल पर एक अन्य छोटे यादव वंश का शासन था। हमें ऐसे कई अन्य शासक वंशों की शाखाओं का उल्लेख प्राप्त हुआ है जो एक विशेष शाखा के नाम से भिन्न भिन्न स्थानीय क्षेत्रों में शासन करते थे। मोरत तथा अरालू के हैहय, करादिकल, नुरूमबद, गोआ, हंगल, बनवास और बंदालिके के कदमबास गंगा और नोलंबों ने बहुत सी कनिष्ठ शाखाओं को निकट किया। मुख्य शाखाओं के लुप्त होने के बाद भी शासक वंशों की ये उप-शाखाएं सदियों तक निरंतर शासन करती रहीं। इस संदर्भ में चालुक्यों की बेंइगी शाखा को उद्धृत किया जा सकता है। इसकी स्थापना बादामी के चालुक्य नरेश पुलकेशिन ने की थी। गंगा, कदमबास और दूसरे राजवंशों की उपशाखाएं भी काफी लंबे समय तक शासन करतीं रहीं यद्यपि उनकी मुख्य शाखाएं राजनीतिक परिदृश्य से बहुत पहले ही लुप्त हो गई थीं।

11.4.1 राजवंश एवं उनके क्षेत्र

MAADHYAM IAS

राजवंशों का स्तर, शक्ति एवं क्षेत्रीय विस्तार एक समान नहीं थे। कभी-कभी वंश एवं क्षेत्र का संबंध उस क्षेत्र के नाम के रूप में अभिव्यक्त हुआ जिसमें उस वंश का प्रभुत्व था जैसे गंगावादी, नोलम्बावदी आदि। राजवंश की शक्ति का केन्द्र बिन्दु एक छोटा क्षेत्र भी हो सकता था। 140 मसावदी के यादव 140 अरालू के हडय 300 अपने स्थानीय क्षेत्रों गाँवों में जैसा कि उनके नामों के आगे उपयोग होने वाले प्रत्यय से स्पष्ट है काफी शक्तिशाली थे। शासक वंशों के परिवर्तित वितरित प्रतिमानों के लिये यह आवश्यक नहीं था कि ये सब स्थिर क्षेत्रीय इकाइयों के अनुरूप ही हो। उदाहरण के लिए, कलचुरी वंश का उदय छठी सदी ई. में हुआ और उनके अधीन मालवा, गुजरात, कोंकण, महाराष्ट्र एवं विदर्भ का विशाल क्षेत्र था, लेकिन उन्होंने त्रिपुरी (जबलपुर के पास) और नर्मदा की ऊपरी तलहटी में स्थिति रतनपुर जैसे स्थानों पर भी अपने सत्ता केन्द्र स्थापित किये। उन्होंने अपनी शाखा की स्थापना सुदूर पूर्वी भारत में भी की जिसे सरयूपार के नाम से जाना जाता है। कलचुरियों की एक शाखा ने कर्नाटक में भी अपनी सत्ता स्थापित की। कर्नाटक के कलचुनिया मध्य भारत के कलचुरियों को अपना पूर्वज मानते हैं।

11.4.2 शासक वंशों के उद्भव के प्रतिमान

वंशों की सत्ता का निर्माण एवं गतिशीलता कई प्रकार से विकसित हुई। एक वंश की सत्ता को दूसरे वंश द्वारा हटाकर सरलता से कायम किया जा सकता था। चालुक्यों की वेहंगी शाखा की स्थापना उस समय हुई जब तेलगू भाषी क्षेत्र के तत्कालीन स्वामियों पर बादामी के चालुक्य नरेश पुलकेशिन द्वितीय ने विजय प्राप्त की। दूसरे नये वंशों का प्रसार ऐसे भी हुआ जब किसी वंश की विस्थापित शाखा ने नये क्षेत्रों को आबाद किया और उस क्षेत्र के आर्थिक प्रतिमानों को परिवर्तित कर दिया। उदाहरणार्थ जिस समय प्रतिहारों और बाद में राष्ट्रकूटों ने कालिंजर पर विजय प्राप्त की उस समय कलचुरियों के कुछ सदस्य नये चारागाहों की खोज में दक्षिण की ओर विस्थापित हो गये। इनके एक भाग ने कुन्तला के जंगलों की ओर विस्थापन किया और वे महाराष्ट्र के शोलापुर जिले के मगलीवेढा क्षेत्र में बसे गये।

सामान्यतः जिस किसी शासक वंश का उदय शक्तिशाली प्रभुत्व संपन्न राजनीतिक शक्ति के रूप में हुआ उसका स्वरूप स्थानीय होते हुए भी अक्सर कृषि पर आधारित था। चालुक्य शब्द का प्रयोग एक कृषि यंत्र के लिए किया जाता है इस व्याख्या में यह सिद्ध किया जा सकता है कि चालुक्य मूलतः कृषक थे जिन्होंने बाद में शक्ति प्रयोग द्वारा एक राज्य की स्थापना की। लेकिन होयसलों जो पहाड़ी जंगलों के सरदार थे, के उदय का आधार कृषि नहीं था परन्तु उन्होंने अन्य पहाड़ी शक्तियों पर नियंत्रण रखने के साथ मैदानी क्षेत्रों की राजनीतिक परिस्थितियों का उपयोग अपने लाभ के लिए किया। यह भी सामान्यतः एक सत्य है कि प्रारंभिक मध्यकालीन भारत में विशाल राज्यीय ढांचे का उत्कर्ष उन्हीं

क्षेत्रों में हुआ जो क्षेत्र केन्द्र में स्थित थे अथवा संसाधन संपन्न थे जैसे गंगा और कावेरी की घाटियाँ और कृष्णा-गोदावरी दोआब के क्षेत्र। लेकिन फिर भी संसाधनों का विस्तार आवश्यक था। इसी पृष्ठभूमि में यह महत्त्वपूर्ण है कि ओरूगलू (वारंगल) का क्षेत्र कृष्णा गोदावरी दोआब से दूर होने पर भी यह एक ऐसा आधार था जहां काकतीयों ने विशाल राज्य का निर्माण किया। काकतीयों से पूर्व इस क्षेत्र में तालाब छोटे थे, सिंचाई सुविधाएं अपर्याप्त थीं और खेती करने योग्य क्षेत्र सीमित था। बेता-द्वितीय, रुद्ध, गणपति, प्रतापरुद्र जैसे काकतीय नरेशों ने अपने राज्य के भिन्न-भिन्न भागों में बहुत से तालाबों का निर्माण कराया। प्रतापरुद्र ने जंगलों को काट कर कृषि योग्य भूमि का विस्तार किया जैसे रायलसीमा क्षेत्र। कृषि योग्य भूमि का विस्तार करने के लिए इसी तरह का आंदोलन दक्षिणी कर्नाटक में होयसलों के उदय के प्रारंभिक काल में भी चलाया गया।

11.4.3 वंशावली की काल्पनिक संरचना

दक्खन में जिन बहुत से शासक परिवारों ने शासन किया जैसे कल्याणी के चालुक्य, देवगिरि के यादव (सेवूनाज) और वारंगल के काकतीय, उन्होंने अपने राजनीतिक जीवन का प्रारंभ राष्ट्रकूटों की सम्प्रभुता के अधीन छोटे सामन्तों के रूप में शुरू किया था। स्वयं राष्ट्रकूटों ने आठवीं सदी ई. के पूर्वाद्ध में दंतीदुर्ग के उदय से पूर्व तक मध्य भारत में सामंतों के रूप में शासन किया। राष्ट्रकूट दंतीदुर्ग एवं उसके उत्तराधिकारियों की सफलताओं के फलस्वरूप वे बरार के एक छोटे से वंश से एक क्षेत्रीय शक्ति के रूप में विकसित हुए। इसे एक ऐसे उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है कि किस प्रकार एक छोटे से परिवार ने न केवल अपने आपको एक राजनीतिक शक्ति के रूप में स्थापित किया अपितु एक बड़े राजकीय ढांचे को स्थापित करने में भी सफलता प्राप्त की। प्रारंभिक मध्य कालीन दक्खन में शासक वंशों के उदय की प्रक्रियाओं की महत्त्वपूर्ण विशेषताएं यह हैं कि उन्होंने अपनी स्थानीय वंशों को मिथकीय परंपरा या अपने पूर्वजों का संबंध मिथकीय महाकाव्य के नायकों के वंश के साथ जोड़ने का प्रयास किया। राष्ट्रकूटों एवं यादवों ने स्वयं को पौराणिक नायक यदु का वंशज बताया। होयसलों ने भी मूल पुरुष यदु के माध्यम से चंद्र वंशी होने का दावा किया। उन्होंने स्वयं को यादव माना और कहा कि वे यादव राजकुमार कृष्ण की पोराणिक काल्पनिक राजधानी द्वारवती के स्वामी थे। इसी तरह से काकतीय नरेश गणपतिदेव के आध्यात्मिक गुरु, उनका संबंध सूर्यवंशी क्षत्रियों से जोड़ते हैं। काकतीय नरेश के एक अभिलेख में काकतीय वंशावली का चित्रण मनु, इक्ष्वाकु, भागीरत, रघु, दशरथ एवं राम की काल्पनिक एवं पौराणिक विवरणों से किया गया है।

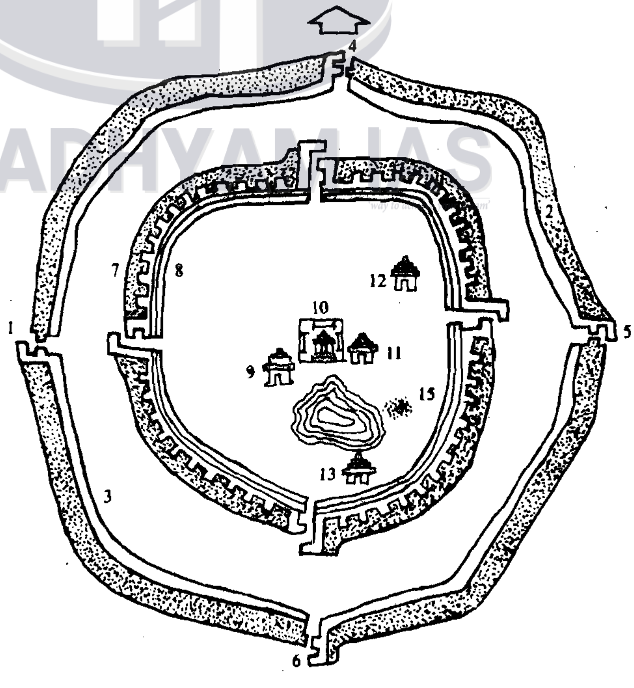

1. WESTERN GATE
2. OUTER MOAT
3. MUD FORT
4. NORTHERN GATE
5. EASTERN GATE
6. SOUTHERN GATE
7. INNER MOAT & BASTIONS
8. INNER FORT (KANCHO-KOTA)
9. SHAMBUNIGUDI
10. RUINS OF SVAYAMBHU SIVA TEMPLE AND FOUR TORNA GATES
11. VISHNU TEMPLE
12. VENKATESWARA TEMPLE
13. NELA SHAMBUNIGUDI
14. TANK
15. OMTI-KONDA (EKASILA)

2. ओरूगलू का दुर्ग

इस तरह के दावों को इस आधार पर अस्वीकृत कर दिया जाता है कि इनको बाद में जोड़ा गया था। यह सत्य है कि इस तरह के दावों को, जिसकी प्रेरणा मूलतः स्वच्छंद रूप से उन पौराणिक कथाओं से ली गई है जिनकी ऐतिहासिकता को सिद्ध करने के लिए किसी भी तरह के प्रमाण उपलब्ध नहीं है। लेकिन राजनीतिक प्रक्रियाओं के दृष्टिकोण से अपनी वंशावली का उद्भव सूर्य या चंद्र वंश से करना इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है कि ये कवि अपने में वास्तविक वंशक्रम को केवल छुपाए हुए हैं वरन् प्रदर्शित करते हैं। उदाहरणार्थ—होयसल पहाड़ी सरदार थे और धीरे-धीरे उन्होंने अन्य पहाड़ी सरदारों पर नियंत्रण स्थापित किया और बाद में वे विस्थापन कर मैदानी क्षेत्रों में आ बसे तथा वहाँ अपनी सत्ता का केंद्र स्थापित किया। काकतीय शुद्र थे परन्तु उन्होंने उच्च प्रतिष्ठा प्राप्त कर अपनी राजनीतिक सत्ता तथा निम्न उत्पत्ति को वैधता प्रदान की। दूसरे शब्दों में, राजनीतिक प्रभुत्व को सामाजिक स्तर के अनुरूप जोड़ना आवश्यक था। कल्याण के चालुक्यों ने इस सामाजिक स्तर को प्राप्त करने के लिए यह दावा प्रस्तुत किया कि उनकी उत्पत्ति उस मुटठी भर पानी से हुई जिसको ऋषि भारद्वाज ने उठाया था अर्थात् द्रोण ने उठाया था अथवा द्रोण के पुत्र अश्वथामा द्वारा गंगा के जल को उनके हाथ से बहा दिए जाने पर हुई। चूँकि इस काल में क्षत्रिय स्तर शासक वर्ग की वैधता का प्रतीक था, इसी कारणवश गैर क्षत्रिय राजनीतिक शक्तियों ने अपने को इस प्रयास द्वारा वैधता प्रदान करने का प्रयत्न किया। इस समय में यदु वंश की वैधता सर्वाधिक होने से अधिकतर राज वंशों ने अपनी उत्पत्ति को यदु वंश से चित्रित करना शुरू किया।

11.5 सत्ता के प्रतीक

शाही शक्ति के वैधानीकरण की प्रक्रिया को केवल ऐसी नवोदित स्थानीय राजनीति के रूप में ही नहीं देखा जा सकता जो वैधता प्रदान करने के लिए किसी सम्माननीय वंशज के साथ संबंध स्थापित करने का प्रयास कर रहे थे। सत्ता की वैधता को स्थापित करने की कोशिश न केवल उन क्षेत्रों में की गई जहाँ पर राज्य समाज की ओर रूपांतरण हो रहा था बल्कि दक्खन के उन क्षेत्रों में भी यह प्रक्रिया अपनाई गई जहाँ राज्य स्थापित था। इसका अर्थ यह हुआ कि वैधता की आवश्यकता सतत थी।

सिद्धांततः राज्य की ऐहिक शक्ति से केवल सुरक्षा व्यवस्था अपेक्षित थी। **दुष्ट, निग्रह, शिष्ट, प्रतिपालन** शब्दों का प्रयोग होयसलों के दक्षिण दक्खन अभिलेखों में निरंतर हुआ है। ये शब्द राजा के दोहरे कर्त्तव्यों पर प्रकाश डालते हैं। प्रथम बुराई पर नियंत्रण करना एवं दूसरे, भलाई की सुरक्षा करना। राजा को संबोधित करते हुए ये शब्द उन समस्त आदेशों का सार हैं जिसकी व्यापक व्याख्या धर्मशास्त्रों में की गई है। लेकिन सुरक्षा प्रदान करने का तात्पर्य जनता को मात्र भौतिक सुरक्षा उपलब्ध कराना न था, बल्कि सामाजिक व्यवस्था को सुरक्षा प्रदान करना था। वास्तव में दण्ड या शक्ति का प्रयोग पुरोहित वर्ग के द्वारा राजनीतिक साधन की अपेक्षा सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखने के लिए अधिक किया गया। लेकिन राज्य समाज के सपाट प्रसार के लिए विभिन्न धर्मों या मानकों के बंधन को पार करना आवश्यक था। ब्राहमणों, धार्मिक संप्रदायों के मुखियाओं, मंदिरों एवं मठों जैसी संस्थाओं, जो विभिन्न केंद्रीकृत मानकों का प्रतिनिधित्व करते थे, के क्षेत्रीय प्रसार का समर्थन प्रारंभिक मध्यकालीन राज्यों के द्वारा किया गया। इसमें शासक वर्ग के सरदारों एवं धार्मिक संस्थाओं तथा पुरोहितों के पारस्परिक हितों पर स्पष्टतः बल दिया गया था। वास्तव में पुरोहित वर्ग का स्थान न केवल प्राप्तकर्त्ता का था बल्कि उन्होंने शासकों के प्रभुत्व पर प्रतिबंध लगाने में भी योगदान दिया। शासक वर्ग के समर्थन का स्पष्ट प्रमाण मिलता है। धार्मिक लाभ प्राप्ताओं (ब्राहमणों) की क्षेत्रीय गतिशीलता तथा राजाओं एवं कुलीनों द्वारा भूमि एवं सोने के उपहारों की दक्षिणा के रूप में उनका अत्यधिक सहयोग के रूप में किया जा सकता है। ऐसे बहुत से दृष्टांत हैं जबकि एक प्रदेश के ब्राहमण दूसरे प्रदेशों में बसने के लिए उन्मुक्त रूप से भ्रमण करते थे। आंध्र प्रदेश, पाटलिपुत्र (बिहार), पुण्ड्वर्धन (बंगाल) और कावि (गुजरात) के ब्राहमणों ने भी राष्ट्रकूट राजाओं से अनुदान प्राप्त किए। जिन ब्राहमणों ने यादव राज्य में अनुदान प्राप्त किए उनमें कई मध्य भारत एवं उत्तर प्रदेश के थे। राजा का स्वयं को किसी विशेष धर्म या संप्रदाय से जोड़ना **परम-महेश्वर, परम भागवत** जैसे नामों को धारण करना। राजनीतिक शक्ति के उत्कर्ष के लिए देवी-देवताओं के आशीर्वाद को उत्तरदायी मानना भी दक्खन में अप्रचलित नहीं था। उदाहरणार्थ—ऐसा माना जाता है कि राष्ट्रकूट वंश की सत्ता को उखाड़ फेंकने वाले तैल-द्वितीय ने ब्रहमदेव गाँव के मुखिया जगदगुरु ईश्वर घालीसासा के समर्थन से सिंहासन प्राप्त किया। काकतीय वंश के संस्थापक माधव बर्मन को देवी पद्माश्री के आशीर्वाद से हजारों हाथी, लाखों घोड़े एवं पैदल सैनिकों की सेना प्राप्त हुई। काकतीय नरेश प्रोला-प्रथम और बेता द्वितीय जैसे दक्खन के राजाओं की दानशीलता स्पष्ट है कि शेव धर्म अनुसरण कर्त्ताओं तक ही सीमित थी। इसके अतिरिक्त कुछ अत्याचारों के उदाहरण भी मिलते हैं।

11.6 अंतर-वंशीय तंत्र

दक्खन में प्रारंभिक मध्यकालीन राजनीतिक प्रणाली की अनिवार्य विशेषता राजनीति की अंतर संबंधतता थी। कोई भी राजनीतिक इकाई पृथक कार्य नहीं कर सकती थी। जिस समय बड़ी राजनीतिक शक्तियां उपजाऊ एवं सामाजिक महत्त्व के क्षेत्रों पर अपनी सर्वोच्चता स्थापित करने के लिए शक्तिशाली शत्रुओं के विरुद्ध सैनिक अभियानों का संचालन करती उस समय छोटे राज्यों के लिए तटस्थ रहना असंभव होता था अन्यथा उनके अपने अस्तित्व के लिए खतरा हो जाता

था। छोटे राज्य अपनी शक्ति एवं संसाधनों को अपने स्वामी राज्य के प्रति वास्तविक या नाममात्र की निष्ठा को प्रदर्शित कर अपनी स्थिति को सुदृढ़ कर सकते थे।

इस तरह की राजनीतिक प्रकृति में, **महामण्डलेश्वर** जैसी सहायक शक्तियों से सदैव भय बना रहता था। **राजा** (स्वामी) के विरुद्ध गठबंधन या राजा के दूसरे सहायकों की कीमत पर अपनी शक्ति में वृद्धि करने जैसे उनके रुझानों को नियंत्रित करने की आवश्यकता थी। यह एक ज्ञात तथ्य है कि कल्याणी के चालुक्य राष्ट्रकूटों के सामंत थे और उन्होंने अपनी राजनीतिक अभिलाषा की पूर्ति के लिये स्वतंत्रता की घोषणा उस समय की जब कृष्णा तृतीय के उत्तराधियों के समय में राष्ट्रकूटों की शक्ति कमजोर पड़ गई। 12वीं सदी ई. के मध्य में यादवों (सेबूनाज), होयसलों तथा काकतीयों ने चालुक्य-कलयुरी संघर्ष का उपयोग अपने हितों के लिए किया और अपनी स्वतंत्रता की घोषणा कर दी।

इन संभावनाओं के अतिरिक्त अंतर-वंशीय संबंधों का परित्याग नहीं किया जा सका क्योंकि सैनिक आक्रमणों की स्थितियों में वे विशाल सैनिक शक्ति संचित करने में अत्यधिक सहायक होते थे। उदाहरणार्थ—दक्षिणी कर्नाटक के होयसलों ने संकट की घड़ी में अपने स्वामी चालुक्य राजा सोमेश्वर द्वितीय की सहायता की। इसी तरह का दृष्टांत गंगा शासकों का दिया जा सकता है। जिन्होंने मध्य भारत में स्थित बस्तर के किले बंद नगर चक्रकूट पर अधिकार करने में राष्ट्रकूट स्वामियों की सहायता की।

बोध प्रश्न 2

1) किन्हीं पाँच शासकों परिवारों के नामों की सूची बताइए जिनका उद्भव सन् 800 ई. से 1300 ई. के बीच दक्खन में हुआ?

   i) ....
   ii) ....
   iii) ....
   iv) ....
   v) ....

2) निम्नलिखित कथनों में ठीक उत्तर को चुनकर उस पर सही (√) का चिह्न लगाइए:

   i) प्रारंभिक मध्यकालीन दक्खन में शासक वंशों के उद्भव के प्रतिमानों से स्पष्ट है कि
      अ) राजनीतिक सत्ता को केवल क्षत्रिय ही प्राप्त कर सकते थे।
      ब) कोई वंश या उच्च जाति समूह राजनीतिक शक्ति को प्राप्त करने का प्रयास कर सकता था।

   ii) राज्य ने ब्राहमणों एवं धार्मिक संस्थाओं के क्षेत्रीय प्रसार को प्रोत्साहित किया क्योंकि
      अ) इसको भलाई का कार्य समझा गया।
      ब) उन्होंने सामाजिक व्यवस्था के लिए खतरा प्रस्तुत किया।
      स) वे समान मानकों के कुछ प्रकारों का प्रतिनिधित्व करते थे।
      द) राज्य समाज के सपाट विस्तार के लिए राज्य समाज को विभिन्न सामाजिक मानकों के बंधन को तोड़ना पड़ा।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

11.7 भूमि और सत्ता के विसर्जित केंद्रों एवं स्तरों का एकीकरण

राजनीतिक संगठनों के ढांचे के विषय में जिस महत्त्वपूर्ण पक्ष पर विचार करने की आवश्यकता है—वह है सत्ता के वितरण का विसर्जन। राजनीतिक संगठन की यह विशेषता न केवल दक्खन में विद्यमान थी बल्कि प्रारंभिक मध्य काल के सभी बड़े राजनीतिक ढाँचों में मौजूद थी।

सत्ता के इन विभिन्न विसर्जित केंद्रों एवं स्तरों का प्रतिनिधित्व सामन्तीय व्यवस्था के द्वारा किया गया। दक्खन में निम्नलिखित दो प्रकार की सामंतीय शक्तियों का उल्लेख मिलता है:

i) वे छोटे वंश जो विस्तारित होने वाले राजनीतिक संगठन के सत्ता ढाँचे के अंतर्गत एकीकृत हुए या सैन्य बल द्वारा अथवा शांतिमय साधनों द्वारा एकीकृत किए गये।

ii) कुछ ऐसे भी सामंत थे जिनको राजनीतिक शक्तियों द्वारा सैन्य सहायता के बदले भू-संपत्ति को अनुदान के रूप में प्रदान करके बनाया गया परंतु उनको **पंचमहाशब्द** (देखें इकाई 9.6) जैसे सामंतीय विशेषताधिकारों को प्रदान करके पहले किसी एक क्षेत्र का राज्यपाल नियुक्त किया गया। लेकिन इन पदों के वंशानुगत हो जाने से बाद में ये पद पूर्णरूपेण सामंतीय हो गए। बड़े-बड़े राज्यों की अधिकतर सामंतीय शक्तियां ऐसे ही पूर्व वंश की थी जिन को राजनीतिक ढाँचों में सम्मिलित कर लिया गया था। उदाहरणार्थ जिस समय राष्ट्रकूटों ने अपने विस्तार के अभियान को शुरू किया उस समय उनको दक्खन के प्रसिद्ध राजवंशों के प्रतिनिधियों का सामना करना पड़ा। वेंगि के

चालुक्य, वेमूलावाद के चालुक्य, और दूसरे बहुत से पृथक छोटे सरदार राष्ट्र कूटों के सामंत थे। होयसलों, यादवों तथा काकतियों के सामंतों ने नोलम्बस, गंगा, चालुक्य बदमबास अमीर, हेहय आदि जैसे प्रमुख वंश के नामों को धारण किया।

जहाँ एक ओर अर्धस्वतंत्र राज्यों के स्वामी एक सहायक सामंतीय परिवारों के मध्य अंतर-विवाहों ने सामाजिक आधार प्रदान किया वहीं दूसरी ओर स्थानीय शक्तियों द्वारा भू-संपत्तियों का भरपूर उपयोग करने के अधिकार की मान्यता प्रदान हो जाने से राजनीतिक प्रक्रिया को कड़ीबद्ध करने के लिए आर्थिक आधार की प्राप्ति भी हो गई।

शुद्ध राजनीतिक शब्दावली में उस समय शक्ति का प्रयोग करना सामान्य बात थी और ऐसा उस समय होता जबकि स्थानीय राजनीतिक शक्तियों द्वारा राजवंशीय शक्ति के प्रसार को रोकने का प्रयास किया जाता था। निशाद बोया की जाति एक सामान्य योद्धाओं की जाति थी जो नेल्लोर के आसपास के क्षेत्र में निवास करते थे। उनके सरदारों को नौकरशाही के ढांचे में सम्मिलित कर उनके क्षेत्रों को चालुक्यों ने अपने राज्य में एकीकृत कर लिया। लेकिन बॉयों ने दक्षिण में चालुक्यों की सेनाओं की प्रगति को रोकने के लिए अपने विरोध को जारी रखा। अतः चालुक्य नरेश ने पंदरंगा के अधीन बॉयों के शक्तिशाली केंद्र को समाप्त करने और उसे अपने अधीन करने के लिए दक्षिण की ओर एक सेना भेजी। इसी तरह से काकतीय नरेश रुद्र ने कोटा सरदारों को समर्पण करने के लिए बाध्य किया।

पदव्यवस्था राज सत्ता के विसर्जित केंद्रों को एकीकृत करने का दूसरा महत्त्वपूर्ण राजनीतिक तरीका था। इस व्यवस्था के अंतर्गत उपाधियाँ एवं पद, भूमिकाओं तथा सेवाओं के साथ जोड़कर प्रदान किये जाते थे। काकतीय नरेश गणपतिदेव ने रेड्डी जाति के रेचरला रुद्र को (संकट की स्थिति में काकतीय नरेश गणपतिदेव की मदद करने पर) **सिंहासन,** चौंटी का जोड़ा शाही तमगों सहित **मण्डालिका** का पद प्रदान किया। सरदारों के परिवारों में पद एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में परिवर्तित होते रहते थे। कायस्थ सरदार काकतीयों के अधीन एक योद्धा वर्ग था जिनकी पदवी **साहिनी** (अब सेना का अधिकारी) थी। इनकी उन्नति करके काकतीय नरेश गणपतिदेव ने इनको **महामण्डेलशवर** का पद प्रदान किया। गंगेय के समय से ही ये सरदार काफी बड़े क्षेत्र नालकोडा में पानू गालू से कूटापाह जिले में वलयूरू तक के राज्यपाल हो गए। गंगेय साहिनियों द्वारा गणपतिदेव की ओर से बहुत से युद्धों में भाग लेने पर सम्मान के रूप में उन्हें यह उन्नति प्राप्त हुई थी। इस तरह जिन परिस्थितियों में जिनमें क्षत्रीय राजनीतिक नियंत्रण का आधार स्थिर नहीं रहता था उस स्थिति में पद जिनका उस तंत्र के साथ पारस्परिक संबंध था, भी स्थिर नहीं रह पाते थे।

शक्ति के विसर्जित केंद्रों का एकीकरण **नायक, सामंत, सामन्ताधिपति** या **महासामंत, मण्डलिका, महामण्डलेश्वर** आदि सामंत पदों के दिए जाने तक ही सीमित न था बल्कि उसका विस्तार नौकरशाही पदों पर एकीकरण के बहुआयामों के बावजूद भी, यह समझा जाना चाहिए कि एकीकरण यंत्र सदैव केवल एकीकरण की दिशा में ही कार्य नहीं करता था। दूसरे, चाहे एकता रही हो या विभाजन, भूमि अधिकारों में एक समान विशेषता थी। स्थानीय भू-स्वामियों या सरदारों ने उस समय की भूमिका को पूरा किया जबकि उन्हें अपने शाखाओं से प्रशासनिक एवं वित्तीय शक्तियाँ प्राप्त हुई और उन्होंने नजरानों की अदायगी की तथा उनके लिए दूसरे बहुत से अनुबंधों को भी उन्होंने पूरा किया। लेकिन वे राजा की परवाह किए बगैर उस समय वास्तविक नियंत्रणकर्त्ता एवं सर्वनाश करने वाले बन जाते थे जब किसानों एवं कारीगरों पर वे अपने-अपने क्षेत्र में स्वायत्त शक्ति के रूप में कार्य करते थे। यद्यपि स्वायत्तता की सीमा एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में भिन्न-भिन्न थी यदि केंद्रीय सत्ता कमजोर पड़ जाती थी और व्यावहारिक रूप में स्वतंत्र रूप से कार्य करने लगते थे। ऐसी परिस्थिति में सामंत नाममात्र के राजा की सहायता अपनी शर्तों के आधार पर ही करने को तैयार होते थे। उत्तराधिकारी के लिए युद्ध की स्थिति में तब उनकी स्थिति और भी मजबूत हो जाती थी। ऐसी स्थिति में वे किसी एक का पक्ष लेते और अपने प्रतिनिधि को राज सिंहासन पर बैठाने का प्रयास करते। इस तरह से वे राजा बनाने का खेल भी खेलते। ऐसे अवसरों पर वे अपने राजा को सत्ता से हटाकर अपने पुराने बदले लेते और नये उत्तराधिकारी पर अपनी स्वयं की शर्तें थोप देते। राष्ट्रकूट राजा ध्रुव, अमोघवर्ष-I और अमोघवर्ष-II को सत्ता में आने में सामंतों की काफी बड़ी सहायता मिली थी।

11.8 नौकरशाही का ढाँचा

प्रारंभिक मध्यकालीन दक्खन की राजनीतिक प्रक्रियाओं की मुख्य विशेषता यह थी कि राजा सहायक के संबंधों का प्रभुत्व अन्य प्रकार के संबंधों के ऊपर था और संपूर्ण राजनीतिक तंत्र में नौकरशाही की भूमिका भिन्न-भिन्न एवं कभी-कभी बहुत सीमित भी थी।

राष्ट्रकूटों के अनुदान-पत्रों में शाही मोहर, अनुदानों के संकलनकर्त्ता और अनुदान प्राप्तकर्त्ता के नामों का वर्णन मिलता है। इन पत्रों में मंत्रियों एवं सचिवों के नाम पूर्णतः गायब हैं। राष्ट्रकूटों की राजधानी में काफी बड़ा सचिवालय विद्यमान था। इसकी पुष्टि किसी भी प्रकरण द्वारा नहीं होती क्योंकि प्रतिदिन के प्रशासनिक कार्यों को किस प्रकार राजधानी में किया जाता था इसका प्रमाण नहीं मिलता है। यद्यपि उच्च पदवी वाले अधिकारियों एवं मंत्रियों जिन्हें **आमत्य** या मंत्री के नाम से जाना जाता था की राजधानी में उपस्थिति के विषय में पता चलता है लेकिन उनके आकार, संविधान और मंत्रियों की एक स्थायी सभा के रूप में उनकी स्थिति के विषय में संतोषजनक रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

MAADHYAM IAS

राष्ट्रकूटों के प्रशासन में राजधानी एवं प्रांतीय मुख्यालयों पर राजस्व प्रमाणों भू-स्वामित्व से संबंधित दस्तावेजों और मूल भूमि अनुदान संबंधित ताम्र पंत्रों को भलीभांति सुरक्षित रखा गया।

कुछ क्षेत्रों पर राज्य के अधिकारियों द्वारा प्रत्यक्ष प्रशासन चलाया जाता था और प्रांतीय प्रशासक (**राष्ट्रपति**) को प्रांतों में अपने सहायकों सहित प्रशासन को चलाने के लिए पर्याप्त शक्तियाँ प्राप्त थी। कुछ प्रांतीय राज्यपाल शाही राजकुमार भी थे। ऐसे प्रांत जिन का प्रशासन बाद के चालुक्यों के दौरान राजकुमारों या रानियों के द्वारा चलाया गया ऐसा प्रतीत होता है कि ये प्रांत उनकी व्यक्तिगत जागीरें थे। कुछ राज्यपालों की नियुक्ति उनके द्वारा की गई उल्लेखनीय सैन्य सेवाओं के कारण की जाती थी। ऐसे छोटे अधिकारीगण जो 10 से 12 गाँवों तक की इकाइयों का निरीक्षण करते थे वे अक्सर प्रांतीय राज्यपालों के रिश्तेदार होते थे।

राष्ट्रकूट प्रशासन के अंतर्गत प्रांतीय राज्यपालों तथा जिला अधिकारियों की सहायता के लिए कुछ अन्य अधिकारी होते थे जिन्हें क्रमशः **राष्ट्र महत्तारा** एवं **विषय महात्तारा** कहा जाता था। लेकिन उनकी शक्तियों एवं सभाओं आदि के विषय में बहुत कम जानकारी प्राप्त है। उनकी शक्तियाँ उन ग्रामीण सभाओं की अपेक्षा शायद काफी कम थी जिसमें ग्रामीण संपन्न वर्ग का प्रतिनिधित्व था।

गाँव एवं मण्डल के मुखियाओं के कार्यालय की प्रकृति, उपमण्डलीय स्तर पर राजस्व एकत्रित करने में राज्य सरकार की मदद करने वाले अधिकारियों से स्पष्ट है कि उन अधिकारीगणों को सामान्यतः अपना वेतन लगान मुक्त पैतृक खेतों से प्राप्त होता था।

शक्ति विस्तार के विसर्जित केंद्रों के एकीकरण की अभिव्यक्ति स्थानीय वंशों के सदस्यों को नौकरशाही के तंत्र के अंदर समायोजित करके भी हुई। राष्ट्रकूटों के प्रशासन तंत्र में जिले एवं प्रांत के राज्यपालों और **विषयपति** जैसे छोटे अधिकारियों को सामंतीय दर्जा प्राप्त था तथा उनको सामन्तीय उपाधियों को धारण करने का अधिकार था। स्पष्ट है कि वे स्थानीय राजाओं के वंशज थे और किसी समय स्वतंत्र रहे होंगे। लेकिन बाद में बड़े राज्यों के राजाओं ने उन पर विजय प्राप्त कर ली। ऐसी स्थिति में ये लोग सरकारी अधिकारियों के रूप में कार्य करते रहे होंगे।

11.9 राज्य के संसाधनों का आधार

राज्य की आय का मुख्य स्रोत कृषि पर लगाया जाने वाला कर था। व्यक्तिगत तौर पर कृषि करने वाले लोग राज्य को भू-कर अदा करते थे और यह राजस्व का मुख्य स्रोत था। खेती करने वालों को एक और अन्य कर को देना होता था जिसे **उपकृति** कहा जाता था। **उपकृतिम** तथा **कनिका** ऐसे परम्परागत कर प्रतीत होते हैं जिन्हें सरकार द्वारा राजाओं एवं अधिकारियों की सेवाओं के बदले में ग्रामीणों तथा नगरवासियों पर लगाया जाता था।

MAADHYAM IAS

भूमि कर की अदायगी नगद या वस्तु दोनों के रूप में की जाती थी। काकतीय राज्य में लगान की अदायगी सामान्यतः अनाज में, वर्ष में दो किस्तों में, कार्तिक एवं बैशाख में दो मुख्य फसलों के आगमन के समय की जाती थी। राष्ट्रकूटों के अधीन कृषक लगान की अदायगी तीन किश्तों में भाद्रपत, कार्तिक और माघ में करते थे। राज्य के अधिकारी गण उनके अनाज से राजा का हिस्सा एकत्रित करने के लिए गाँव-गाँव जाते थे। गृहपति की आमदनी में राज्य के भाग को भी वस्तु के रूप में एकत्रित किया जाता था।

भूमि को शुष्क, नम एवं बागान भूमि में भूमि की प्रकृति एवं उर्वरकता के आधार पर विभाजित किया जाता था। राज्य की आमदनी का एक भाग चरागाहों तथा जंगलों के उन भागों से आता था जिन पर राज्य के द्वारा स्वामित्व का दावा प्रस्तुत किया जाता था। राज्य में खानों, गुप्त खजानों, बंजर भूमि, राजकीय फलों के बागानों, झीलों एवं सार्वजनिक कुँओं में भी राज्य का स्वामित्व था।

राज्य की आय के अन्य महत्त्वपूर्ण स्रोत व्यापार एवं उद्योग पर लगाए जाने वाली चुंगी, आबकारी कर एवं अन्य प्रकार के कर थे। **सुनकामु** या **सुनका** शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में व्यापारीगणों द्वारा नगर को लाने तथा ले जाने वाले आयात-निर्यात माल पर लगाया जाता था। चुंगी एवं आबकारी करों के लिए कंपनी तथा एकत्रित करने के अधिकार को व्यापारिक संगठनों को दे दिया गया था जिसे एक निश्चित रकम के बदले दिया (बेचा) जाता था। सामंतीय सरदारों द्वारा राजाओं को लगातार दिए जाने वाले उपहार एवं नजरानें भी राज्य की आय के अन्य स्रोत थे। एक राष्ट्रकूट अभिलेख में एक ऐसे अवसर का उल्लेख हुआ है जबकि राजा गोविन्द III ने सामंतों द्वारा अदा न किए गए नजरानों को एकत्रित करने के लिए अपने साम्राज्य के दक्षिणी भाग का दौरा किया। शाही राजधानी में आयोजित होने वाले समारोहों के अवसरों पर भी सामंत सरदारों विशेष उपहारों को वसूल किया जाता था।

राज्य के द्वारा किए गए खर्च का विवरण स्पष्ट नहीं है। सार्वजनिक कार्यों के लिए किसी विभाग या ऐसे अधिकारी का कोई उल्लेख उपलब्ध नहीं होता जो सिंचाई एवं अन्य लोक हित के कार्यों को करता था। स्पष्टतः राज्य का सिंचाई कार्यों के निर्माण तथा रख-रखाव का कोई प्रत्यक्ष उत्तरदायित्व नहीं था। यद्यपि कुछ होयसल एवं काकतीय राजाओं ने सिंचाई योजनाओं का निर्माण करने में व्यक्तिगत रुचि दिखाई। यह विश्वास कि तालाब का निर्माण करना भलाई का कार्य था, राजाओं, सरदारों, कुलीनों, अधिकारियों, धार्मिक नेताओं, व्यापारियों तथा धनी लोगों ने तालाब निर्माण संबंधी कार्य किए। ऐसा प्रतीत होता है कि राज्य अपने अधिकारियों एवं कर्मचारियों को उनकी सेवाओं के बदले वेतन का

नकद भुगतान नहीं करता था क्योंकि उस समय संपूर्ण दक्खन में भूमि अनुदानों की संख्या में वृद्धि हुई है। सैन्य संगठन में भी भर्ती द्वारा राज्य के वेतनभोगी सैनिकों की संख्या का एक भाग ही प्रत्यक्ष था। सेना का बड़ा भाग प्रांतीय राज्यपालों तथा सामंतों द्वारा प्रदान किया जाता था।

11.10 दक्खन की राजनीति में राजनैतिक अस्थिरता

प्रारंभिक मध्यकाल की राजनीतिक प्रणाली की प्रकृति में अस्थिरता उत्पन्न हो गई थी। राजनीतिक शक्तियों की क्षेत्रीय सीमाओं में जल्दी-जल्दी होने वाले परिवर्तन स्वयं इस ओर संकेत करते हैं (विभिन्न कालों में यादवों के क्षेत्रीय फैलाव को नक्शे में देखें)। राज्यों की राजनीति अपने मुख्य क्षेत्रों में भी स्थिर न थी। सैनिक शक्ति के बल पर स्थापित शासकों को हटाया जा सकता था और शक्ति के नए केन्द्रों एवं राजनीतिक संबंधों के नवीन तंत्र का निर्माण किया जा सकता था। शक्ति के विभिन्न केन्द्र बिन्दुओं के साथ राज्य के विकेंद्रीकृत चरित्र के विषय में हम पहले ही वर्णन कर चुके हैं। सत्ता के विसर्जित केन्द्रों को परिवर्तित राजभक्तियाँ, अर्थात जो सहायक सरदारों या सामंतों का प्रतिनिधित्व करती थीं, राजनीतिक अस्थिरता में वृद्धि करने में सहायक होती थीं। सैन्य सेवा करने वाले अधिकारियों सहित विभिन्न वर्गों के अधिकारियों को आवंटित की जाने वाले भू-अनुदान पुरोहितों की विभिन्न श्रेणियों को लगान-मुक्त गांवों का अनुदान, भिन्न-भिन्न प्रबुद्ध वर्गों के द्वारा किए जाने वाले भूमि अनुदानों में होती वृद्धि ने सम्बद्ध क्षेत्रीय इकाइयों के राजस्व संसाधनों पर राज्य के नियंत्रण को कमज़ोर किया। भू-स्वामियों एवं कुलीन सामंतों की राजभक्ति के संतुलन में होने वाले परिवर्तन ने भी राजनीतिक संगठन पर राज्य के नियंत्रण को कमज़ोर किया। ये कमज़ोरियां बाहरी खतरों के समय और भी गहरा जाती थीं और यहां तक कि लम्बे समय से चले आ रहे राज्यों के विघटन में भी सहायक होती थीं। इस संदर्भ में शक्तिशाली राष्ट्रकूट राज्य के नाटकीय पतन को उद्धृत किया जा सकता है। सन् 967 ई. में व्यावहारिक तौर पर राष्ट्रकूट कृष्णा-III के अधीन नर्मदा नदी के दक्षिण के संपूर्ण भू-भाग के स्वामी थे। लेकिन केवल छह वर्ष के बाद सन् 973 ई. में चालुक्यों के सामंत तैल द्वारा कृष्ण-III के भतीजे करक्का को सिंहासन से हटाकर राष्ट्रकूटों साम्राज्य का पतन हो गया तथा यह एक स्मृति मात्र बनकर रह गया।

बोध प्रश्न 3

1) निम्नलिखित कथनों में कौन-सा कथन ठीक या गलत है। उस पर (√) या (×) का चिन्ह लगाइए:
   - i) सत्ता का अंतरीय वितरण केवल दक्खन का एक विशेष गुण था।
   - ii) पदों की व्यवस्था सत्ता के विसर्जित स्तरों के एकीकरण का महत्त्वपूर्ण राजनीतिक यंत्र थी।
   - iii) दक्खन की प्रारंभिक मध्यकालीन राजनीतिक व्यवस्था में सभी सामंतीय शक्तियों को एक समान आंतरिक स्वायत्ता प्राप्त थी।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

2) "अ" भाग में कुछ महत्त्वपूर्ण क्षेत्रीय राजनीतिक शक्तियों के नाम और "ब" में उनके सामंतों के नाम उद्धृत किए गए हैं। "अ" को "ब" के साथ समरूप कीजिए:

अ	ब
1) राष्ट्रकूट	1) मोरत तथा अरालू के हेहय
2) काकतीय	2) वेलानादू
3) वेंगी के चालुक्य	3) कोंकण के सिलहार
4) यादव (सेवूनाज)	4) कोटा के सरदार

3) राज्य समाज में सत्ता के विसर्जित केन्द्रों की एकीकरण के बारे में 10 पंक्तियाँ लिखिए।

....

....

....

....

....

4) राज्य की आय के मुख्य स्रोतों की सूची बनाइए।

1) ....

2) ....

3) ....

4) ....

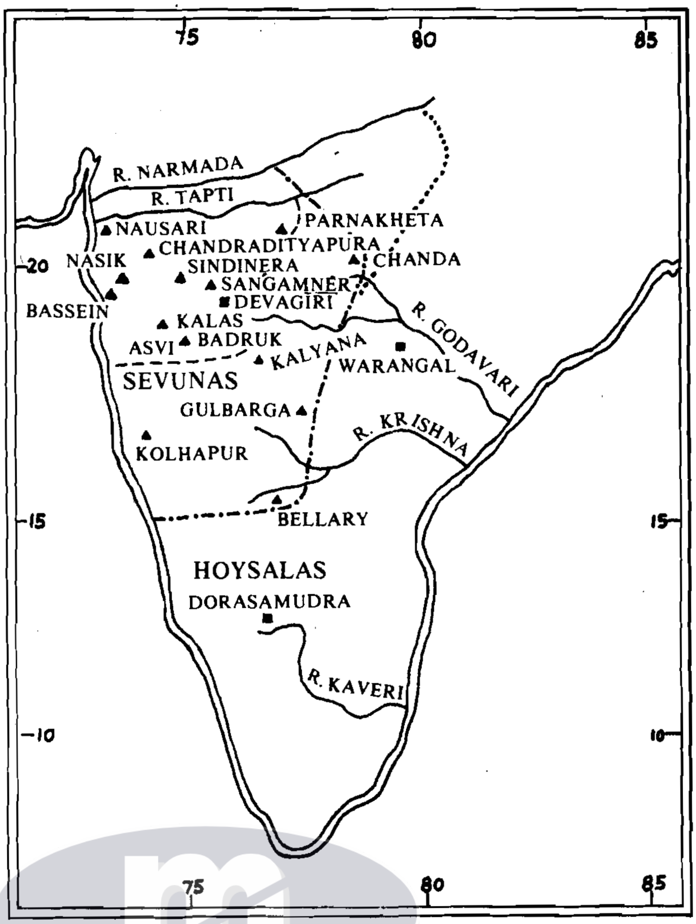

मानचित्र-3 सेवुनाज राज्य का विस्तार

MAADHYAM IAS

11.11 सारांश

उपरोक्त प्रारंभिक मध्यकालीन महाराष्ट्र, आन्ध्र और उत्तरी कर्नाटक वे राजनीतिक ढांचे से स्पष्ट है कि :

- वे स्थानीय सरदार जो दक्खन में मौर्यों की राजनीतिक प्रणाली में एकीकृत हो गए थे, उनका उद्‌भव शासक वर्गों के रूप में हुआ और उन्होंने दक्खन में राजतंत्रीय विचारधारा एवं राजनीतिक संगठन को लागू किया,
- नए राजवंशों एवं सत्ता के केन्द्रों का निर्माण एक अनवरत प्रक्रिया थी,
- मूलतः गैर-क्षत्रिए सामाजिक समूहों का उदय एवं विकास पहले ही विद्यमान वंशों के एकीकरण के द्वारा बड़ी राजनीतिक शक्तियों के रूप में निरंतर जारी था। इन विद्यमान वंशों ने सत्ता के विसर्जित केन्द्रों का प्रतिनिधित्व किया और नवोदित राजीनितिक ढांचे के महत्त्वपूर्ण अंग बन गए,
- राजा सहायक के संबंध राजनीतिक ढांचे में विद्यमान दूसरे संबंधों से प्रधान हो गए, सत्ता के एक वैधानिकरण ने जहां एक ओर स्वयं को क्षत्रिय मूल का घोषित किया वहीं दूसरी ओर प्रारंभिक मध्यकालीन राजवंशों ने ब्राह्मणों और धार्मिक संस्थाओं के क्षेत्रीय प्रसार को प्रोत्साहित किया जिससे कि वे विभिन्न मानकों के लिए केन्द्र बिन्दु उपलब्ध करा सकें,
- भूमि अधिकार अंतर-वंशीय तंत्र की व्याख्या करते हैं,
- राज्य संसाधनों का आधार कृषि का अतिरिक्त उत्पादन था, जिसने समाज में एकीकरण को प्रोत्साहित किया,
- राज्य का हस्तक्षेप व्यापार एवं विनिमय के बढ़ते हुए तंत्र में भी हो गया और व्यापार के कारण राज्य के साधनों में काफी प्रसार हुआ एवं विविधता आई।

11.12 शब्दावली

दण्ड : शक्ति।

पुणनिमस : मूल पुरुष।

कनिका : राजाओं एवं अधिकारियों के द्वारा की गई सेवाओं के बदले ग्रामीणों और नगरवासियों द्वारा दिया जाने वाला कर।

पंचमहाशब्द : एक सामंतीय विशेषाधिकार।

परमभगवत : विष्णु तथा उससे संबंधित देवी-देवताओं का भक्त।

परममहेश्वर : शिव का भक्त।

राष्ट्रमत्तारा : प्रांत का अधिकारी।

साहिन्दी : अश्व सेना का अधिकारी।

सुंकामू/सुंका : चुंगी एवं आबकारी कर।

उपकति : देखें कनिका।

11.13 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) i) × ii) √ iii) × iv) √
2) देखें भाग 11.2
3) देखें भाग 11.3

बोध प्रश्न 2

1) देखें भाग 11.4
2) i) ब ii) द

बोध प्रश्न 3

1) i) × ii) √ iii) ×
2) अ) iii) ब) iv) स) ii) द) i)
3) देखें भाग 11.7
4) देखें भाग 11.9

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

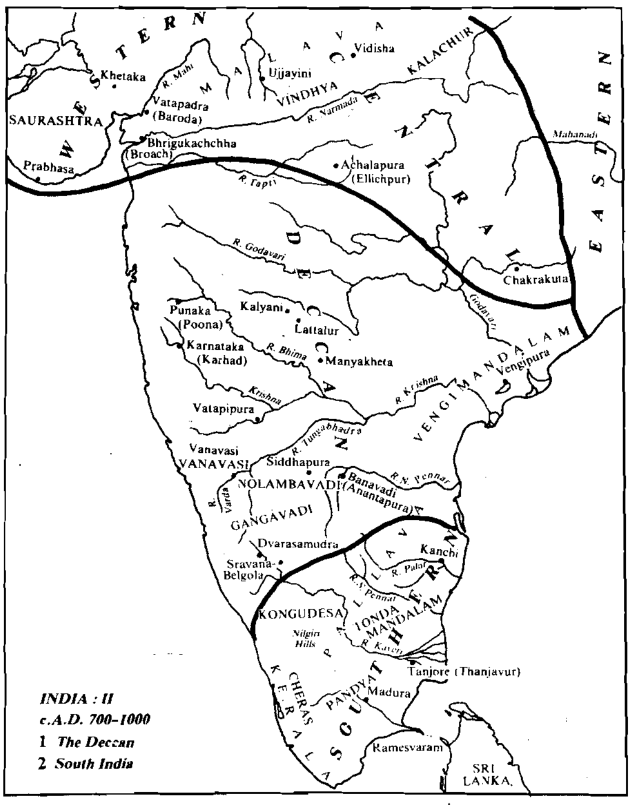

इकाई 12 दक्षिण भारत

इकाई की रूपरेखा

12.0 उद्देश्य
12.1 प्रस्तावना
12.2 क्षेत्र
12.3 राजनीतिक शक्तियों का उदय
12.4 दक्षिण भारतीय राजनीतिक संगठन पर विभिन्न दृष्टिकोण
12.5 उप-क्षेत्रीय राजनीति
12.6 कृषि व्यवस्था एवं राजनीतिक संगठन
  12.6.1 नाडू
  12.6.2 ब्रह्मदेय
  12.6.3 वालानाडू
  12.6.4 मंदिर
  12.6.5 नगरम : बाज़ार केन्द्र
12.7 कर-व्यवस्था
12.8 नौकरशाही
12.9 सैन्य संगठन
12.10 नियंत्रण की व्यवस्थाएं
12.11 दक्षिण भारतीय राजनीति के वैचारिक आधार
12.12 सारांश
12.13 शब्दावली
12.14 बोध प्रश्नों के उत्तर

12.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप :

MAADHYAM IAS

- क्षेत्रीय राजनीति के परिवेश में दक्षिण भारत की विशेषताओं को सुनिश्चित कर सकेंगे;
- राजनीतिक शक्तियों के व्यापक प्रतिबिंबों का चित्रण कर सकेंगे;
- संबंधित क्षेत्र के राजनीतिक संगठन के अध्ययन की महत्त्वपूर्ण प्रणालियाँ के विषय में जान सकेंगे;
- राजनीतिक संगठन के मुख्य-मुख्य केन्द्रों और उसके सामाजिक-आर्थिक आधारों का विवरण दे सकेंगे;
- सन् 800 ई. से 1300 ई. के बीच की दक्षिण भारतीय राजनीति के वैचारिक आधारों की रूपरेखा बना सकेंगे।

12.1 प्रस्तावना

प्रारंभिक मध्यकालीन राजनीति की क्षेत्रीय विशेषताओं से संबंधित यह अंतिम इकाई है। इस इकाई में दक्षिण भारत को लिया गया है। दक्षिण भारत के अंतर्गत प्रायद्वीप का वह भाग है, जो 13° उत्तरी अक्षांश के दक्षिण में स्थित है। इसका प्रारंभ छठी सदी ई. में पल्लवों के उदय के साथ हुआ तथा इसका अंत नौवीं सदी ई. में तमिल त्रिभुज-क्षेत्र में एक क्षेत्रीय राज्य की स्थापना के लिए होता है। इस क्षेत्रीय राज्य की स्थापना चोलों के अधीन हुई (नौवीं सदी ई. से 13वीं सदी ई.) इस राज्य की भिन्न प्रकार की राजनीतिक-सांस्कृतिक विशेषताएं थीं। इस इकाई में प्रशासन के कई पक्षों का विवेचन किया गया है। इन पक्षों की पहचान उनके विशेष प्रकार के सामाजिक-आर्थिक आधारों को केन्द्र बिन्दु बनाकर की गई है। राज्य के संसाधनों को गतियमान करने और इनको स्थायी बनाने वाले यंत्र का भी चित्रण किया गया है। अंत में, दक्षिण भारतीय राजनीति के वैचारिक आधार के विषय में विवेचन किया गया है।

12.2 क्षेत्र

इस इकाई में दक्षिण भारत का तात्पर्य उस क्षेत्र से है जिसको तमिलनाडू कहा गया लेकिन यह आधुनिक भाषायी राज्य तमिलनाडू से भिन्न है। यह एक त्रिभुज-क्षेत्र है और राजनीतिक क्षेत्र के रूप में इसकी सीमाएं सातवीं सदी ई. से 13वीं सदी ई. तक दक्षिणी कर्नाटक के भागों, दक्षिणी आंध्र प्रदेश और दक्षिण केरल के भागों तक फैली थीं। इस क्षेत्र को

कई मण्डलों में विभाजित किया जा सकता है। इन मण्डलों या क्षेत्रों का एक लम्बा ऐतिहासिक विकास हुआ। मंदाना में इसके अंतर्गत एक केन्द्रीय भाग और अन्य सहायक क्षेत्र हैं। इसका सहायक क्षेत्र नदियों की व्यवस्था के आधार पर उत्तर पश्चिम भागों में स्थित है और इसका ढलान पूर्वी समुद्री किनारों की ओर है। इसका पठारी भाग कर्नाटक तथा केरल तक फैला हुआ है। इन क्षेत्रों की भिन्न-भिन्न प्रकार की राजनीतिक एवं सांस्कृतिक विशेषताएं हैं। इन क्षेत्रों को चोल शासकों के समय से ही **मण्डलम** कहा जाने लगा था। उदय होने वाले क्षेत्रीय राजनीतिक संगठनों के केन्द्रीय बिन्दुओं को संपूर्ण क्षेत्र के भूगोल ने प्रभावित किया।

12.3 राजनीतिक शक्तियों का उदय

बहुत-सी क्षेत्रीय राजनीतिक प्रणालियों के विकास ने भारत में गुप्त काल के बाद के इतिहास को प्रभावित किया। उड़ीसा एवं तमिलनाडू जैसे क्षेत्रीय राज्यों का उदय हुआ और इन राज्यों की अपनी-अपनी क्षेत्रीय संस्कृतियों का विकास भी। कुछ बहुत छोटे राज्यों का उदय भी हुआ तथा वे दो बड़े राज्यों के बीच सहायक राज्य मात्र बनकर रह गए। इसका अच्छा दृष्टांत कांचीपुरम के पल्लवों और तमिलनाडू में मदुरै के पांड्यों (छठी सदी ई. से 9वीं सदी ई. तक) जैसे दक्षिण भारत के बड़े राज्यों के उदय से दिया जा सकता है। इन दोनों बड़े राज्यों के बीच में पश्चिमी गंगेय, कदमबास, बन और अनेक दूसरे राज्य विद्यमान थे तथा ये सभी छोटी-छोटी राजनीतिक शक्तियां थे। ये छोटे राज्य कभी दक्खन के बड़े राजवंशों के प्रति वैकल्पिक रूप में राजभक्ति का प्रदर्शन करते थे (जिसका इकाई 11 के भाग 11.4 में चित्रण किया गया है) और कभी-कभी ये तमिल के मैदानों में स्थित बड़े राज्यों के प्रति इस तरह की राज्य भक्ति को दिखाते या अवसर मिलने पर अपनी स्वतंत्रता की स्थापना भी कर देते थे। दक्षिण भारत में क्षेत्रीय राजनीति में सबसे अधिक शक्तिशाली चोल राज्य था। चोलों ने 9वीं सदी ई. से 13वीं सदी ई. तक शासन किया। इनके राज्य का केन्द्रीय आधार कावेरी नदी की घाटी था और इन्होंने संपूर्ण तमिल त्रिभुज क्षेत्र पर अपनी क्षेत्रीय सम्प्रभुता को स्थापित करने में सफलता प्राप्त की। चोलों ने एक ऐसे क्षेत्रीय राज्य की स्थापना की, जिसकी राजनीतिक-सांस्कृतिक विशेषताएं भिन्न थीं।

12.4 दक्षिण भारतीय राजनीतिक संगठन पर विभिन्न दृष्टिकोण

MAADHYAM IAS

तमिलनाडू की क्षेत्रीय राजनीति के विषय में तीन तरह के भिन्न दृष्टिकोण हैं। सामान्य तौर पर दक्षिण भारतीय राजनीतिक प्रणाली पर किए गए महत्त्वपूर्ण अध्ययन तथा विशेष कर तमिलनाडू पर किए गए इस तरह के अध्ययनों से स्पष्ट है कि उनके द्वारा मुख्यतः इस क्षेत्र की प्रशासनिक संस्थाओं तथा उनके इतिहास पर ही प्रत्यक्ष रूप से लिखा गया है। ये अध्ययन मुख्य रूप से राजतंत्र, ब्रह्मदेय और इसकी सभा एवं मंदिर तथा उनके संगठन एवं कार्यों तक ही सीमित थे। उन्होंने न तो एक तर्कपूर्ण विश्लेषणात्मक ढांचे को अपनाया और न ही राजनीतिक प्रक्रियाओं का अध्ययन करने के लिए एकीकृत दृष्टिकोण को लागू किया। उन्होंने इनको आर्थिक-सामाजिक संगठन के साथ संबंधित करके अध्ययन करने का प्रयास भी नहीं किया। संक्षेप में, उन्होंने राजनीतिक व्यवस्था को समाज एवं अर्थव्यवस्था से अलग करके समझने का प्रयास किया। उनको राज्य एवं साम्राज्य की साम्राज्यवादी अवधारणा, केन्द्रीकृत राजतंत्र तथा शक्तिशाली नौकरशाही ने प्रभावित किया। इन अध्ययनों की मान्यताएं थीं कि आधुनिक राज्य की प्रचलित सभी विशेषताएं प्रारंभिक कालों में भी विद्यमान थीं।

राजनीतिक संगठन पर नवीन दृष्टिकोणों को अभी हाल में किए गए अध्ययनों के द्वारा प्रस्तुत किया गया है। इन दृष्टिकोणों के द्वारा, सामाजिक निर्माण, आर्थिक संगठन तथा राजनीतिक तंत्रों के अंतर्संबंधों को समझने की आवश्यकता पर बल दिया गया है। ये अध्ययन विकास एवं परिवर्तन की प्रक्रियाओं पर केन्द्रित हैं क्योंकि इन्हीं के कारणवश क्षेत्रीय राजनीतिक प्रणालियों तथा राजनीतिक तंत्र के निर्माण में ब्रह्मदेय तथा मंदिर जैसी संस्थाओं की भूमिका का उदय हुआ। इसके फलस्वरूप केन्द्रीयकृत राज्य की अवधारणा का अनुसरण करने वाले परम्परागत अध्ययनों के विषय में गंभीर प्रश्नों को उठाया गया। इस नवीन विश्लेषण की विधि को एक विकल्प के रूप में प्रस्तुत किया गया तथा मध्यकालीन दक्षिण भारतीय राजनीति की विशेषता का चित्रण करने के लिए खंडात्मक राज्य की अवधारणा का उपयोग किया गया। इन दोनों दृष्टिकोणों के बीच का अंतर स्थानीय संगठनों के चरित्र पर आधारित था। उनकी स्वायत्ता के स्तर और केन्द्रीय नियंत्रण का प्रसार या प्रत्यक्ष राजनीतिक नियंत्रण का उपयोग तमिलनाडू के विभिन्न मंडलों के ऊपर शासक वंशों के द्वारा किया जाता था। प्रथम दृष्टिकोण, स्थानीय प्राथमिकता एवं स्वायत्ता (जिसको वे स्थानीय स्व-सरकार कहते हैं) के अस्तित्व के बावजूद, सभी क्षेत्रों के ऊपर केन्द्रीय सत्ता के व्यापक एवं अधिक नियंत्रण की बात करता है, जबकि दूसरा दृष्टिकोण इसको यह कहकर खारिज कर देता है कि यह विरोधाभासों से भरपूर है तथा इसका मानना है कि स्थानीय संगठनों को बहुत अधिक स्वायत्ता प्राप्त थी एवं केन्द्रीय भाग को छोड़कर शासक वंश की मात्र आनुष्ठानिक सम्प्रभुता कायम थी।

इन दोनों अतिशय दृष्टिकोणों के विरुद्ध एक तीसरा दृष्टिकोण भी है और यह इन दोनों विचारों में कुछ संशोधन करता है इसके अंतर्गत चोल राज्य का अध्ययन सम्पन्न अभिलेखीय आंकड़ों के सावधानीपूर्वक विश्लेषण पर आधारित है। इस दृष्टिकोण के मानने वालों का तर्क है कि केन्द्रीयकृत राजनीतिक संगठन का विकास स्वतंत्र किसानों की उस प्रारंभिक

स्थिति से हुआ, जिसके अंतर्गत क्षेत्रों पर किसान सभाओं का नियंत्रण था। ये कृषक कई प्रकार की संस्थाओं के द्वारा और राजनीतिक सत्ता द्वारा लागू किए गए नए प्रकार के प्रशासनिक उपायों के माध्यम से एकीकृत किए गए थे। चोल राज्य 11वीं सदी ई. में अपनी शक्ति एवं प्रगति के चरम पराकाष्ठा पर था और उसके राज्य की विशेषता केंद्रीकृत राजनीतिक संगठन थी।

12.5 उप-क्षेत्रीय राजनीति

कांचीपुरम के पल्लवों और मदुरै के पांडयों के अधीन (छठी सदी ई. से नौवीं सदी ई. तक), विशाल तमिल क्षेत्र के दो उप-क्षेत्र क्रमशः पलार-चैय्यार घाटी एवं वैगयतमरापर्नि घाटियों में दोनों राजतंत्रों के क्षेत्रीय आधार बन गए। पल्लवों पर दक्खन तथा आन्ध्र क्षेत्रों के राजनीतिक वातावरण का प्रभाव पड़ा एवं इन क्षेत्रों में उनकी उत्पत्ति सातवाहन शासकों के सहायकों के रूप में हुई थी। (इकाई 11 के भाग 11.3 को भी देखिए) उत्तर सातवाहन काल में एक राजनीतिक शक्ति के रूप में पल्लवों का उदय हुआ तथा इस काल की विशेषता ब्राह्मणिक सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्था और भूमि अनुदानों की अर्थव्यवस्था की ओर रूपांतरण था। फलतः तमिल प्रदेश के उत्तरी भाग में पल्लवों की राजनीति ने दक्खन तथा आंध्र के क्षेत्रों में विकसित गुप्त एवं उत्तर गुप्तकाल के सांस्कृतिक मूल्यों को लागू किया। लेकिन उत्तरी तमिलनाडू (उस समय इसको तोन्दायनाडू कहा जाता था) की यह राजनीतिक व्यवस्था विशेष प्रकार की कृषि व्यवस्था के कारण उत्तर भारतीय ब्राह्मणवादी राजनीतिक व्यवस्था से थोड़ा भिन्न थी। इस क्षेत्र के कृषि समाज की प्रकृति पर किसान संगठनों का प्रभुत्व था और इन संगठनों का विकास "संगम युग" (प्रथम सदी ई. से तीसरी सदी ई. तक) के नाम से प्रसिद्ध प्रारंभिक ऐतिहासिक काल से हुआ। पल्लवों के राज्य का ढांचा यद्यपि धर्मशास्त्रों में प्रदत्त प्रारूप से प्रभावित था, लेकिन उत्तरी क्षेत्रीय स्वरूपों तमिल क्षेत्र की आवश्यकता के अनुरूप अपनाया गया और इसलिए पल्लवों ने ब्राह्मणवादी राजतंत्र को स्थापित करने में सफलता प्राप्त की। उनके इस राज्य का क्षेत्रीय आधार कांचीपुरम के आसपास फैला हुआ था और इसने एकता के नवीन रूपों को ब्रह्मदेय एवं मंदिर के माध्यम से प्राप्त किया। इसका चित्रण उनके ताम्र पत्रों के प्रमाणों में किया गया है। ये ताम्र पत्र दो भाषाओं में है। साथ ही उनके द्वारा स्थापित पौराणिक धर्म एवं मंदिरों में भी (तमिल तथा संस्कृत) प्रमाण मिलते हैं। पल्लवों ने स्वयं को विष्णु तथा महाकाव्यों के नायकों का वंशज होने का दावा प्रस्तुत किया। उन्होंने अपने लिए प्रभावशाली वंशावली को तैयार किया तथा इसके द्वारा अपने शासन को वैधता प्रदान की। उनकी मूलभूत विचारधारा को पौराणों के विश्व संबंधी दृष्टिकोण से ग्रहण किया गया था। मदुरै के पांडयों ने भी इसी तरह के राजतंत्र पर आधारित राज्य की स्थापना की थी। उन्होंने स्वयं को शिव एवं चन्द्रमा का वंशज बताया तथा अपना वैचारिक गुरु अगस्त्य ऋषि को बताया।

पल्लवों एवं पांडयों ने तमिल क्षेत्र के अधिक उपजाऊ एवं अच्छी प्रकार से सिंचित कृषि के मुख्य भू-भाग कावेरी घाटी के ऊपर अधिकार किया। उन्होंने कृषि विस्तार के कार्य को भी आगे बढ़ाया तथा ब्रहमदेय एवं मंदिर के द्वारा इसका एकीकरण किया। इसने कृषि अथवा कृषक इकाइयों को एकीकृत करने में मदद की। इन कृषक इकाइयों को नाडू (अथवा कुर्रम) कहा जाता था (विस्तृत जानकारी के लिए इकाइयों 1.2.2 तथा 1.3 को भी देखें)।

MAADHYAM IAS

बोध प्रश्न 1

1) दक्षिण भारतीय राजनीतिक प्रंणाली का अध्ययन करने के लिए तीन दृष्टिकोण कौन से हैं ?

....

....

....

....

....

2) उत्तरी तमिलनाडू के कृषि समाज की कौन-कौन सी मुख्य विशेषताएं हैं ?

....

....

....

....

12.6 कृषि व्यवस्था एवं राजनीतिक संगठन

कृषि व्यवस्था एवं राजनीति को उचित प्रकार से समझने के लिए हमें अन्य कई पक्षों का अध्ययन करना होगा। उनका प्रारंभ हम नाडू से करेंगे।

12.6.1 नाडू

नाडू का प्रारंभ पल्लवों के शासन काल से पूर्व हुआ था तथा इसकी एक समान कृषि विशेषताएं हैं। यह नातेदारी पर आधारित एक सामाजिक संगठन है। नाडू के अंतर्गत उत्पादन की प्रक्रियाओं पर नियंत्रण नत्तार सभा (नाडू) के द्वारा किया जाता और इस सभा का गठन कृषक परिवारों (वेलालों) के मुखियाओं से होता था। नाडू भरण-पोषण के स्तर की बस्तियाँ थीं और इनका गठन समान आर्थिक एवं सामाजिक गतिविधियों को संचालित करने के लिए किया जाता था। एक विशाल तथा व्यवस्थित कृषि संगठन के अंतर्गत नाडू का एकीकरण पल्लव, पांडेय एवं चोल जैसे शासक परिवारों के द्वारा ब्राह्मणों (ब्रहमदेय) तथा मंदिरों को दिए गए भूमि अनुदानों के द्वारा हुआ। इसी के कारणवश पहली बार क्षेत्रीय तमिल राजनीति का उदय हुआ।

सिंचाई की योजनाओं के निर्माण, सिंचाई तकनीकी को विकसित करने और सभा के नाम से प्रसिद्ध ब्राह्मण सभा के द्वारा इनके प्रबंधन पर विशेष बल दिया गया। इस तरह की प्रारंभिक निम्न स्तर का उत्पादन करने वाली ये बस्तियां अतिरिक्त उत्पादन करने वाले केन्द्रों में रूपांतरित हो गई, जिसके फलस्वरूप अर्थव्यवस्था का पुनर्निर्माण संभव हो सका (भाग 2.4.2 को भी देखिए)। ब्रह्मदेयों और मंदिरों ने न केवल कृषि संसाधनों के संगठन में सहायता की बल्कि संसाधनों के जुटाने तथा वितरण में एक राजनीतिक यंत्र के रूप में भी कार्य किया।

ब्रहमदेय और मंदिर के द्वारा समन्वय तथा विस्तार के साथ-साथ नए सिंचाई कार्यों के कारण—नाडू का आंतरिक ढांचा भी परिवर्तित हुआ। भूमि के अधिकार तथा भूमि-व्यवस्था और जटिल हो गई। भू-संबंधों का स्तरीकरण हुआ और नत्तार की बनावट में भी परिवर्तन आए। सामाजिक संगठन का नातेदारी आधार भी विलुप्त हो गया और उसका स्थान ब्राहमणवादी जाति व्यवस्था तथा आनुष्ठानिक पद व्यवस्था अर्थात् जाति पदानुक्रम ने ले लिया।

नातेदारी पर आधारित कृषि इकाई के रूप में नाडू के विकास से स्पष्ट है कि उत्पादन की व्यवस्था पर अनेक प्रकार से सामूहिक नियंत्रण विद्यमान था। यह **कानि** अधिकारों या भूमि में विद्यमान उन अधिकारों में भी देखा जा सकता है जिनको विक्रय या दान करके हस्तांतरित किया जा सकता था। भूमि पर अधिकारों की कई श्रेणियां विद्यमान थीं और उनको ब्रहमदेय (उर) की बस्तियां तथा परिवार के समकालीन संगठनों के द्वारा स्वीकृत मानकों के अनुरूप ही निश्चित किया जाता था एवं उपभोग में लाया जाता था।

प्रारंभिक परम्परागत लेखों में नाडू पर बहुत कम ध्यान दिया गया और इस प्रकार के अध्ययनों में इसका कोई महत्त्व न था। खण्डात्मक राज्य की अवधारणा के अंतर्गत—एक खण्ड के रूप में नाडू को काफी स्वायत्ता प्राप्त थी और इस तरह से प्रारंभिक मध्यकालीन दक्षिण भारतीय राज्य की विशेषता एक खण्डात्मक एवं किसान राज्य की थी। लेकिन नाडू का अध्ययन अन्य संस्थाओं से अलग करके स्वतंत्र रूप से नहीं किया जा सकता। नाडू, ब्रहमदेय तथा मंदिर ने एक साथ मिलकर तमिलनाडू के मैदानों के इतिहास में एक नए युग का प्रारंभ किया। नाडू को कृषि व्यवस्था की मूलभूत इकाई मानने के साथ ही अपरिवर्तनीय ग्रामीण समुदायों के पुराने सिद्धांत की वैधता समाप्त हो जाती है। आजकल वाद-विवाद, नाडू की स्वायत्ता के स्तर, नत्तार संगठन के स्थायित्व और खण्डात्मक राज्य की अवधारणा की वैधता पर केन्द्रित है।

MAADHYAM IAS

12.6.2 ब्रहमदेय

ब्राह्मणों को दिए जाने वाले भूमि अनुदानों के विषय में जानकारी प्रारंभिक ऐतिहासिक काल से प्राप्त होती है। लेकिन इसके बावजूद भी तमिल क्षेत्र में यह प्रथा छठी सदी ई. के अंत तक ही संस्थागत स्वरूप को प्राप्त कर सकी। ब्रहमदेयों की स्थापना स्थायी तौर पर शासक परिवारों के द्वारा की गई थी। यह अधिकांशतः गैर-कृषि क्षेत्रों में या दो या दो से अधिक बस्तियों को एक-दूसरे के साथ मिलाकर नाडू या कोटम के अंतर्गत ही स्थापित की गई थीं। उन्होंने कृषि की उन्नत विधियों जैसे सिंचाई, उत्पादन के साधनों तथा संसाधनों के उचित प्रबंधन को लागू किया। पल्लवों तथा पांडयों की जलाशय व्यवस्थाओं का प्रबंधन ब्राह्मण सभाओं के द्वारा किया जाता था। ब्रहमदेयों को नाडू की नियमावली से अलग कर दिया गया। दसवीं सदी ई. से विशेषकर चोलों के शासन काल से बड़े-बड़े ब्रहमदेय आत्मनिर्भर इकाइयां बन गए और इन्होंने चोलों की अर्थव्यवस्था, प्रशासन एवं राजनीतिक व्यवस्था में महत्त्वपूर्ण योगदान किया। उनको अक्सर राजनीतिक सत्ता का अग्रणी समझा जाता और ये राजनीतिक कार्यवाही के क्षेत्र को विस्तारित करने में भी सहायक होते थे।

ब्राह्मण भू-स्वामियों की सभा, गैर-ब्रहमदेय बस्तियों की सभा (उर) की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण संस्था के रूप में विकसित हुई। सभा की विकसित परिपक्वता का चित्रण एक बड़े ब्रहमदेय—प्रसिद्ध उत्तरामेरूर (चिंगगिलपत ज़िला) और आठवीं तथा नौवीं सदियों के एक महत्त्वपूर्ण ब्रहमदेव मानूर (तिरूनेलवेल्ली) के द्वारा होता है। आठवीं सदी से 13वीं सदी ई. के बीच एक अन्य महत्त्वपूर्ण केन्द्र तान कुरू था। तान कुरू एक केन्द्रीय स्थल के रूप में था तथा इसके अधीन कृषि एवं हस्तकला के उत्पादन के अन्य कई केन्द्र आते थे। ब्राह्मण मंदिर इन बस्तियों का मुख्य केन्द्र होते थे। इन पर प्रत्यक्ष रूप में सभा का नियंत्रण था और यह सभा बहुत-सी समितियों के द्वारा कार्य करती थी। इन समितियों को वरियाम कहा जाता था।

12.6.3 वालानाडू

11वीं सदी ई. में चोल शासकों के अधीन राजस्व और भू-राजस्व की जांच-पड़ताल करने के कार्य को व्यवस्थित रूप से किया जाता था। इस प्रक्रिया के अंतर्गत नवीन एवं बड़ी राजस्व इकाइयों का निर्माण नाडूओं के कुछ समूहों ने एक साथ मिलकर तथा नाडूओं के विभिन्न वाला नाडूओं में विभाजन द्वारा किया गया। इसका निर्णय उनकी सिंचाई की आवश्यकताओं के द्वारा होता था और इसी कारणवश वालानाडू की सीमाओं का निर्धारण जल स्थलों के आसपास होता था। वालानाडू एक कृत्रिम इकाई थी और इसका राजनीतिक-आर्थिक विभाजन राजसत्ता की इच्छा के अनुरूप ही होता था। वालानाडू का नामकरण उन्हीं राजाओं के नाम पर किया जाता, जो इनका निर्माण करते थे। इनका संगठन अधिकारियों के पदानुक्रम की व्यवस्था और राजस्व एकत्रित करने वाले एक विभाग से जुड़ा होता था। यह विभाग राजस्व के विस्तृत लेखों को सुरक्षित रखता था। यह विभाग (पुरावे-वरितिनापक्कलम) प्रशासनिक तंत्र का सबसे प्रभावशाली अंग था और चोलों ने इसको संसाधनों को जुटाने के लिए विकसित किया।

12.6.4 मंदिर

9वीं सदी ई. से ही मंदिर को राजनीतिक ढांचे का कार्य करने वाला "सर्वोच्च" औज़ार समझा जाने लगा। चोल शासकों के अधीन मंदिर की भूमिका में वृद्धि हुई एवं कार्यों में विविधता आती गई यह क्षेत्रीय सम्प्रभुता के लिए संस्थागत संपर्क सूत्र का कार्य करने लगा। इसका तंजावूर तथा गंगाय-कोण्डाचालोपुरम के राजसी मंदिरों में अच्छी तरह से चित्रण हुआ है। इन मंदिरों के पास भूमि एवं नकद धन के अनुदानों, जमा किए गए सोने, उपहारों तथा विशाल व्यापारिक धन के रूप में अथाह सम्पत्ति जमा हो गई थी। ब्राह्मण वर्ण व्यवस्था के अंतर्गत अनुष्ठानिक पद व्यवस्था के माध्यम से इन मंदिरों का प्रशासन सभा, उर तथा नगरम के हाथों में होता था। संसाधनों के वितरण में मंदिर को ब्रहमदेय की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका प्राप्त थी। यह मंदिर नाम की संस्था ही थी, जिसके माध्यम से 11वीं सदी ई. में चोलों ने केन्द्रीकृत सत्ता को प्राप्त कर लिया क्योंकि इसकी अर्थव्यवस्था और संसाधनों की सहायता से चोल शासक नाडू की सीमाओं से बाहर आकर स्थानीय गठबंधन को तोड़ सके। इस मंदिर व्यवस्था ने राजा के द्वारा स्थानीय मामलों में हस्तक्षेप करने के लिए एक आधार उपलब्ध कराया। राजा ऐसा मंदिर की जमा सम्पत्ति की जांच-पड़ताल करने, खर्च के स्तर का अनुमान करने तथा धन का पुनः आवंटन करने वाले शाही अधिकारियों के माध्यम से ही कर पाता था।

12.6.5 नगरम : बाज़ार केन्द्र

नगरम प्रशासन का एक और महत्त्वपूर्ण अंग था। इसका उदय 9वीं सदी ई. में उस समय हुआ था, जबकि बाज़ार केन्द्र का प्रशासन व्यापारिक संगठन (नगरात्तार) के द्वारा किया जाने लगा। फैलते कृषि समाज की बढ़ती आवश्यकताओं के साथ-साथ, इस तरह के बाज़ार केन्द्रों का विकास अधिकतर नाडूओं में हुआ। जहां ये एक ओर अपने विनिमय के लक्ष्यों को पूरा करता वहीं ये ब्रहमदेय एवं दूसरी बस्तियों की जरूरतों को भी पूरा करने लगा। नाडू तथा नगरम पारस्परिक तौर पर एक-दूसरे के समर्थक थे। नगरम के सदस्य वे कृषक होते थे, जो अपने अतिरिक्त उत्पादन को व्यापार के द्वारा बेच सकते थे। कुछ समय बाद वे पूर्णरूपेण व्यापारिक समुदाय के सदस्यों के रूप में रूपांतरित हो गए और उनको नगरात्ततार कहा जाने लगा। ब्रहमदेयों की ही भांति नगरम को विशेष दर्जा प्राप्त था और नाडू की तरह उनको भी स्वायत्तता प्राप्त थी। नगरम का निर्माण या उनका प्रारंभ अक्सर शासक परिवार के द्वारा किया जाता था। नगरम राज्य की सरकार के साथ नगरम की राजस्व विषयों में प्रत्यक्ष व्यवस्था होती थी और वे मंदिर प्रशासन में भी भाग लेते थे। ब्रहमदेय एवं नगरम ने नाडूओं को एक साथ एक समान राजनीतिक संगठन तथा विनिमय की एक समान व्यवस्था के अंतर्गत किया। इस तरह से इसने राज्य के संश्लेषण की प्रक्रिया में सहायता की।

नगरमों के तंत्र का उद्भव 9वीं सदी ई. तथा 12वीं सदी ई. के बीच हुआ। कांचीपुरम तथा तंजावूर जैसे विशाल व्यापारिक केन्द्रों के साथ-साथ राजनीतिक केन्द्रों को मानगरम या विशाल नगरम कहा जाता था। दसवीं सदी ई. में दक्षिण भारत, श्रीलंका, दक्षिण-पूर्वी एशिया एवं चीन के बीच व्यापार की वृद्धि के कारण नगरम के इस तंत्र का विकास विशाल अंतर-क्षेत्रीय विनिमय के रूप में हुआ। चोलों ने इस व्यापार को श्रीलंका तथा श्री विजया (सुमात्रा) को समुद्री जहाज़ी बेड़े का अभियान भेजकर तथा चीन को एक व्यापारिक शिष्टमंडल भेजकर और प्रोत्साहित किया। उन्होंने व्यापारिक संगठनों को अधिकार पत्र जारी करके अपना संरक्षण प्रदान किया। इन अधिकार पत्रों के द्वारा व्यापारी वाणिज्य पर आधारित नगरों की स्थापना कर सकते थे तथा अपने भाड़े के सिपाहियों के द्वारा इन नगरों की रक्षा भी। गोदामों तथा वितरण केन्द्रों को **एरिविरप्पात्तना** के नाम से जाना जाता था। ये नगरम के साथ-साथ **मनिग्रामाम** जैसे दूसरे छोटे स्थानीय व्यापारी संगठनों तथा **अन्जूवन्नाम** जैसे विदेशी व्यापार संगठनों के साथ भी व्यापार करते थे। वे विलासिता की चीज़ों, दूसरे देशों से विदेशी वस्तुओं तथा दक्षिण भारतीय सूती वस्त्रों में व्यापार करते थे। विनिमय के रूप में वे **चिट्टिरामेलि पेरिपान्डू** से कृषि उत्पादनों को प्राप्त करते थे। **चिट्टिरामेलि** सभी चारों वर्गों के किसानों का एक संगठन था और उसकी उत्पत्ति तमिल क्षेत्र में हुई। उनकी गतिविधियों का प्रसार 12वीं सदी में दक्षिणी कर्नाटक और दक्षिणी आंध्र प्रदेश के क्षेत्रों में हुआ।

बोध प्रश्न 2

1) नाडू का आंतरिक ढांचा कैसा था एवं क्यों परिवर्तित हुआ ?

....

....

....
....
....
....

2) ब्रहमदेय कैसे महत्त्वपूर्ण हो गया ?

....
....
....
....
....

3) मंदिर ने राजनीतिक व्यवस्था में कैसे महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया ?

....
....
....
....
....

4) नगरमों का महत्त्व कैसे बढ़ा ?

....
....
....
....

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

12.7 कर-व्यवस्था

खण्डात्मक राज्य की अवधारणा के अनुसार, एक स्थायी कर व्यवस्था का राज्य में अस्तित्व नहीं होता। लेकिन चोलों के अभिलेखों में कर नाम के शब्द का आंकड़ों के रूप में विश्लेषण किया गया है। बड़े भू-कर को **कदम्माप** कहा जाता था। भूमि पर आधारित अन्य छोटे करों की भांति इसकी दर भी सभी जगहों पर एक समान थी। स्थानीय स्तर से लेकर वालानाडू, नाडू तथा उर के स्तरों तक सरकार द्वारा राजस्व के संग्रहण एवं हस्तांतरण की एक व्यवस्था विद्यमान थी। स्थानीय एवं केन्द्रीय, दोनों प्रकार के करों की पहचान की गई है। गैर-कृषि करों में यदा-कदा होने वाली वृद्धि की भी जानकारी प्राप्त होती है। राजस्व संग्रहण के कार्य में स्थानीय अधिकारियों के अधिक सक्रिय होने के प्रमाण भी मिलते हैं। करों को एकत्रित करने के स्थानीय स्वरूपों तथा क्षेत्रीय अर्थव्यवस्था में निवेश के कारण केन्द्रीय संग्रहण तथा वितरण जैसी समस्याओं से बचा जाता था। व्यापार में राज्य की सक्रिय रुचि तथा वाणिज्य के अभियानों ने दूसरे संसाधनों के आधार को उपलब्ध कराया। राजसी बंदरगाहों के विकास पर विशेष ध्यान दिया गया। इन बंदरगाहों पर राज्य के अधिकारियों के द्वारा चुंगी लगाई जाती थी। व्यापार को बढ़ावा देने के लिए करों में छूट देना भी राज्य की नीति का एक भाग था।

12.8 नौकरशाही

प्रसिद्ध इतिहासकारों के द्वारा चोल राज्य को एक काफी विकसित नौकरशाही के तंत्र वाला राज्य बताया गया है। लेकिन खण्डात्मक राज्य के सिद्धांत को मानने वाले विद्वान इस तरह की नौकरशाही के अस्तित्व से इंकार करते हैं। परन्तु तथ्यात्मक आंकड़ों से स्पष्ट है कि केंद्रीय तथा स्थानीय स्तरों पर अधिकारीगण विद्यमान थे। **मुवेन्द बेलान** जैसी उपाधियों को धारण करने वाले व्यक्तियों के नामों में अधिकारी शब्द जुड़ा होना एक नौकरशाही की उपस्थिति को दर्शाता है, विशेषकर पदानुक्रम पर आधारित राजस्व विभाग में। **पेरून्दरम** (उच्च स्तर) और **सिरूतारम** (निम्न स्तर) जैसे शब्दों से स्पष्ट है कि अधिकारियों के बीच पद व्यवस्था विद्यमान थी और यह नागरिक प्रशासन तथा सेना, दोनों में पाई जाती थी। राज दरबार के अधिकारियों (उदन कुट्टम) तथा देश में भ्रमण करने वाले अधिकारियों (विदययिल अधिकारी)

के विषय में भी जानकारी प्राप्त होती है। राजा की संरकार का **मण्डलामुदाली नाडू वगाप** तथा **मध्यस्थ** जैसे स्थानीय अधिकारियों के माध्यम से स्थानीय स्तर पर होने का आभास होता था। ये अधिकारीगण राजा एवं स्थानीय जनता के बीच महत्त्वपूर्ण कड़ी का काम करते थे।

12.9 सैनिक संगठन

चोल साक्ष्यों में एक स्थायी सेना के अस्तित्व का कोई ठोस प्रमाण उपलब्ध नहीं होता और न ही ऐसा कोई तथ्य मिलता है, जिससे कि यह आभास मिले कि सेना में भर्ती करने के लिए परिभाषित योग्यताएं थीं। फिर भी, इन क्षीण प्रमाणों को वैकल्पिक रूप में परिभाषित किया जाता है। परम्परागत विचार के अनुसार उस समय एक राजसी सेना का अस्तित्व था। लेकिन खण्डात्मक राज्य के सिद्धांत के व्याख्याकार इसको मानने से इंकार करते हैं और उनका कथन है कि सेनाएं "खण्डों" के स्तर पर एकत्रित होती थीं और वे कृषक खड़ाकूओं या जातियों और व्यापारिक संगठनों की सेनाएं होती थीं। लेकिन इन सबके बावजूद सेना के सरदारों को दिए भूमि अनुदानों के अभिलेख और सामरिक स्थलों पर सेना के कैम्पों के विषय में भी अनेक अभिलेख प्राप्त होते हैं जिनसे एक राजसी सेना के होने की पुष्टि होती है। सेना की दाएं बाजू की इकाई में उच्च एवं निम्न पदों का अस्तित्व था और सेना की इस इकाई को **वेलायक्कार** के नाम से जाना जाता था। राजसी प्रमाणों में बाएं बाजू की सेना की इकाइयों के भी उद्धरण प्राप्त होते हैं। स्थानीय सरदारों की सेनाएं सैनिक अभियानों के समय में राजसी सेनाओं की सहायता करती थीं।

12.10 नियंत्रण की पद्धति

जिन राजनीतिक-सांस्कृतिक मण्डलों की प्रकृति का विवरण किया गया है, उनका विकास प्रारंभिक ऐतिहासिक काल से प्रारंभ हुआ था। चोलों ने इस प्रकार के मण्डलों के प्रारूप को धारण करते हुए नियंत्रण की भिन्न-भिन्न पद्धतियों को विकसित किया। प्रत्येक मण्डल का नाम राजा के नाम पर रख दिया जाता था। राजाराज-I (सन् 985 ई.-1014 ई. तक) ने राजस्व के सर्वेक्षण एवं वालानाडू की व्यवस्था का प्रारंभ किया। उदाहरणार्थ, तोण्दायमण्डलम में कोट्टम (चरागाह से कृषि में विकसित) जैसी प्रारंभिक संरचनाओं को बिल्कुल भी नहीं बदला गया, लेकिन **तान-कुरु** को लागू किया गया। वालानाडू ने चोलमण्डलम में प्रारंभिक सरदारों की जागीरों और उत्तर में **नाडूविल नाडू** के आसपास मण्डलम का स्थान ग्रहण कर लिया। इसी तरह से रूपांतरित होते क्षेत्रों में सेना की टुकड़ियों को सामरिक महत्त्व के केन्द्रों पर लगा दिया गया। कर्नाटक के आसपास के क्षेत्रों के व्यापार मार्गों पर भी सेना को लगाया और इस तरह से संचार संपर्क को स्थापित किया गया। चोल राजकुमारों तथा **मण्डल मुदालियों** की नियुक्तियां इस तरह के उप-क्षेत्रों पर शासन करने के लिए की गई।

छोटे सरदार या क्षेत्र प्रमुख चोलों के राजनीतिक संगठन में विशेष प्रकार के मध्यस्थ स्तरों का प्रतिनिधित्व करते थे। इस तरह के छोटे क्षेत्रों के सरदारों को सामंत कहा जाता था। विभिन्न प्रकार की शर्तों के अंतर्गत राजा ने शक्तिशाली सरकारों के साथ यह व्यवस्था की, कि उनको किसी न किसी रूप में स्वायत्ता प्राप्त होगी और इसके बदले ये शक्तिशाली सरदार राजा को सैनिक सहायता उपलब्ध कराएंगे या फिर उस मण्डल में होने वाले व्यापार में राजा के हितों की सुरक्षा करेंगे। कभी-कभी कुछ सरदारों के क्षेत्रों को विभाजित कर लिया जाता लेकिन पुनः इन क्षेत्रों को इस शर्त के साथ सौंप दिया जाता कि स्थानीय नियंत्रण के लिए ये नए वंश राजा का समर्थन करेंगे। इन सरदारों के भी भिन्न-भिन्न पद होते थे और ये ऐसे चोल अधिकारी थे, जिनको नागरिक एवं सैनिक सेवाओं के साथ-साथ पुलिस अधिकार भी प्राप्त थे।

12.11 दक्षिण भारतीय राजनीति का वैचारिक आधार

पल्लवों तथा पांडयों की राजनीतिक वंशावली में यह दावा किया गया कि वे देवी-देवताओं, महाकाव्यों के नायकों तथा चन्द्र वंश के वंशज थे। उनके इस दावे ने उनके लिए एक मज़बूत वैचारिक आधार को तैयार किया। क्षत्रिय स्तर तथा दान अथवा उपहारों ने संप्रभुता के समर्थन में एक अतिरिक्त अवधारणा को उपलब्ध कराया। उनके वैचारिक आधार के लिए पौराणिक धर्म एवं विश्व दृष्टिकोण अन्य महत्त्वपूर्ण पक्ष थे।

चोलों की वंशावली अपने वैचारिक दावों में और भी जटिल है। सूर्यवंशी होने के साथ-साथ चोलों ने अपना स्वयं का प्रत्यक्ष संबंध "संगम" चोलों, कावेरी क्षेत्र और अपने पूर्वजों के द्वारा मंदिर निर्माण से स्थापित किया, जिससे कि वे अपनी संप्रभुता को वैधता प्रदान कर सकें। इन सबसे परे, उन्होंने तमिल वैष्णव तथा शैव संतों की भक्ति विचारधारा को महत्त्वपूर्ण तरीके से प्रोत्साहित किया और उन्होंने इस विचारधारा को मंदिर निर्माण, मंदिर अनुष्ठानों तथा मूर्ति निर्माण के द्वारा लोकप्रिय बनाया। मंदिर के प्रतीकवाद को क्षेत्रीय समानता के अनुरूप करके उन्होंने अपनी शक्ति को और सुदृढ़ किया। अनुष्ठानिक एवं राजनीतिक प्रभुत्व एक सिक्के के दो पहलू थे, जिससे कि खण्डात्मक राज्य के विचार की

सीमाएं और सीमित होती दिखाई पड़ती हैं। (इस विचार का आलोचनात्मक मूल्यांकन करने के लिए इकाई 8 के भाग 8.3 को देखिए)।

बोध प्रश्न 3

1) क्या चोल राज्य में नौकरशाही विद्यमान थी ? कुछ अधिकारियों के नाम बताइए ।

....
....
....
....
....

2) चोलों की प्रशासनिक नियंत्रण की क्या व्यवस्था थी ?

....
....
....
....

12.12 सारांश

इस इकाई में निम्नलिखित का अध्ययन किया गया है :

- दक्षिण भारत के अंतर्गत आधुनिक तमिलनाडू, केरल और दक्षिण कर्नाटक तथा आंध्र प्रदेश के क्षेत्र आते हैं।
- सन् 800 ई. से 1300 ई. के बीच उपरोक्त क्षेत्रों की राजनीतिक व्यवस्था की प्रकृति का।
- राजनीतिक व्यवस्था के अंतर्गत केंद्रीकृत तथा खण्डात्मक नाम से प्रचलित परिकल्पनाओं की सापेक्ष वैधता के विषय में।
- कृषि एवं व्यापार के तंत्र का प्रसार तथा प्रशासन के केन्द्रों एवं वित्तीय शक्तियों के विकास पर उनका प्रभाव।
- संसाधनों को गतियमान करने की प्रकृति तथा इसको स्थायी करने वाले यंत्रवाद के विषय में, और
- नवीन उदित होने वाली राजनीतिक व्यवस्था को वैचारिक समर्थन उपलब्ध कराने में प्रमुख सामाजिक-आर्थिक तथा धार्मिक शक्तियों की भूमिकाओं के विषय में भी चर्चा की गई है।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

12.13 शब्दावली

चिट्टिरामेलि : कृषकों का ऐसा संगठन जो सभी "चारों जातियों" से संबंधित था।

एरिविपत्तमा : गोदाम एवं वितरण केन्द्र।

कदमाप : एक प्रमुख भूमि-कर।

कोट्टम : चरागाह युक्त कृषि क्षेत्र।

मध्यस्थ : स्थानीय अधिकारी — ये निष्पक्ष तरीके से भूमि तथा अन्य अनुदानों से संबंधित राजसी आदेशों का पालन करता था।

मण्डला मुडालि : मण्डलम का सरदार।

मण्डलम : इस शब्द का उपयोग राजनीतिक-सांस्कृतिक क्षेत्र के लिए किया जाता था।

नाडू : किसान सभा या संगठन।

नाडू वगाय : वह अधिकारी, जो नाडू को संगठित करता था।

पेरून्डरम : अधिकारियों की उच्च श्रेणी।

पुरावू-वारि-तिनायक्कलम : राजस्व अभिलेखों का विभाग।

दायां बाजू और बायां बाजू : सेना का दायें तथा बायें बाजुओं में एक समान समूहों में विभाजन।

सभा : ब्राहमण सभा।

तिरूत्तरम : अधिकारियों की निम्न श्रेणी।

तान-कूरू : स्वतंत्र इकाई।

उर : गैर-ब्राह्मण बस्ती तथा सभा।

वालानाडू : कृत्रिम राजस्व इकाई, जिसका निर्माण चोलों द्वारा किया गया।

वरियाम : वह समिति, जिसके माध्यम से सभा कार्य करती थी।

विदामिल विपइरमिल-अधिकारी : देश का भ्रमण करने वाला अधिकारी।

12.14 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) दक्षिण भारतीय राजनीति का पहले अध्ययन संस्थाओं के संगठन तथा कार्यों के माध्यम से किया जाता था। लेकिन हाल के अध्ययनों में सामाजिक निर्माण, आर्थिक संगठन एवं राजनीतिक ढांचे के बीच अंतर-संबंधों के विश्लेषण पर बल दिया गया है। तीसरे दृष्टिकोण के अनुसार स्वतंत्र किसान क्षेत्रों की प्रारंभिक स्थिति से विकसित हुए केंद्रीकृत राजनीतिक संगठन के अध्ययन पर बल दिया गया और इन कृषक क्षेत्रों पर कृषक सभाओं का नियंत्रण था। देखिए भाग 12.4 को।

2) कृषक संगठन और उनका प्रभाव ही कृषि समाज की मुख्य विशेषताएं थीं। भाग 12.5 को देखिए।

बोध प्रश्न 2

1) ब्रह्मदेय तथा मंदिर के समन्वय एवं प्रसार के माध्यम से नाडू में अनेक परिवर्तन हुए। नवीन सिंचाई कार्यों ने भी योगदान किया। भूमि अधिकार एवं व्यवस्था और जटिल हो गई। भूमि संबंधों का भी स्तरीकरण हुआ। उपभाग 12.6.1 देखिए।

2) ब्रहमदेय के बाद स्वतंत्र इकाइयां हो गईं। उन्होंने आर्थिक तथा प्रशासनिक महत्त्व को प्राप्त किया। उपभाग 12.6.2 देखिए।

3) विशाल दान-दक्षिणा तथा अनुदानों के कारण मंदिर महत्त्वपूर्ण हो गए। मंदिरों की मदद से चोल स्थानीय मामलों में हस्तक्षेप कर सके। मंदिर राजसी प्रभुत्व के प्रतीक हो गए। उपभाग 12.6.4 देखिए।

4) नगरम का विकास बाज़ार केन्द्रों की विनिमय जरूरतों को पूरा करने के लिए हुआ। कुछ समय के बाद अंतर-क्षेत्रीय तथा दक्षिण एशिया के साथ व्यापार के कारण वे अति महत्त्वपूर्ण केन्द्रों के रूप में विकसित हुए। उपभाग 12.6.5 देखिए।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

बोध प्रश्न 3

1) चोल शासकों के अधीन केन्द्र एवं स्थानीय स्तरों पर पदानुक्रम नौकरशाही विद्यमान थी। भाग 12.8 देखिए।

2) चोलों ने मण्डलम नामक प्रशासनिक क्षेत्रों को विकसित किया। इनको राजकुमारों के अधीन रखा जाता था। स्थापित मानकों के अनुरूप ही सरदार भी शासन को संचालित करने का कार्य करते थे। भाग 12.10 देखिए।

इस खंड के लिए कुछ उपयोगी पुस्तकें

के. ए. नीलकंठ शास्त्री : *दि-चोल्स,* मद्रास, 1975। *हिस्ट्री ऑफ साउथ इंडिया,* दिल्ली, 1984 (अंग्रेजी)।

सी. मीनाक्षी : *एडमिनिस्ट्रेटिव एण्ड सोशल लाइफ अण्डर दि पल्लव,* मद्रास, 1977 (संशोधित सम्पादन) (अंग्रेजी)।

आर. एस. शर्मा : भारतीय सामंतवाद, नई दिल्ली 1981।

टी. वी. महालिंगम : *साउथ इंडियन पॉलिटी,* मद्रास, 1955 (अंग्रेजी)।

बर्टन स्टैन : *पीजेंट स्टेट एण्ड सोसाइटी इन मेडिवल साउथ इंडिया,* दिल्ली, 1980 (अंग्रेजी)।

एन. करिश्मा : *साउथ इंडियन हिस्ट्री एण्ड सोसाइटी,* दिल्ली, 1984।

रोमिला थापर : *भारत का इतिहास,* नई दिल्ली।

डी. एन. झा : *प्राचीन भारत,* दिल्ली।

शिवशंकर मिश्र : *प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास।*

इकाई 13 मध्य एशिया और तुर्कों और मंगोलों का उदय

इकाई की रूपरेखा

13.0 उद्देश्य
13.1 प्रस्तावना
13.2 मध्य एशिया
13.2.1 मध्य एशिया : विस्तृत विवरण
13.2.2 मध्य एशिया : लघु क्षेत्रों का जमाव
13.3 चरागाही खानाबदोश
13.4 सभ्यता और तुर्की खानाबदोश : प्रारंभिक संपर्क
13.4.1 तिउकिउ साम्राज्य
13.4.2 दो प्रकार के संपर्क
13.5 तुर्की आक्रमण
13.6 मंगोल
13.6.1 चंगेज़ खाँ और स्टेप्स के (घास स्थलीय) कुलीन तंत्र
13.6.2 विजयें और विस्तार
13.7 सारांश
13.8 शब्दावली
13.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

13.0 उद्देश्य

तुर्कों और मंगोलों का उदय, दसवीं और तेरहवीं शताब्दी के बीच मध्य एशिया और उसके आसपास के क्षेत्रों पर उनकी तेजी से होने वाली विजयें और विस्तार इतिहास के एक महत्वपूर्ण दौर की शुरुआत करने वाली उल्लेखनीय घटनाएँ हैं। भारत के लिये इसके परिणाम सीधे-सीधे स्पष्ट और दूरगामी रहे। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- यह जान पायेंगे कि तुर्क और मंगोल कौन थे और इतिहास के एक रोमांचक दौर में उनकी भूमिका वास्तव में क्या थी,
- ऐतिहासिक दृष्टि से एक महत्वपूर्ण क्षेत्र के रूप में मध्य एशिया की कुछ विशेषताओं और उसके भूगोल की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे, और
- राजनीतिक और सामाजिक विकास के एक व्यापक ऐतिहासिक संदर्भ में मध्यकालीन भारत का स्थान समझ सकेंगे।

13.1 प्रस्तावना

दसवीं शताब्दी में एशिया महाद्वीप के पूर्वी अंचलों में रहने वाली एक लड़ाकू खानाबदोश कौम का पश्चिम की ओर गमन देखने में आया। वे लहर पर लहर की तरह आये, उनका हरेक आक्रमण पहले के आक्रमण से कहीं अधिक शक्तिशाली और विस्तृत था। बहुत कम समय में ही, बर्बर झुंडों ने मध्य और पश्चिम एशिया के कभी सम्पन्न रहे साम्राज्यों और राज्यों को ध्वस्त कर दिया, वे भूमध्य सागर और काले सागर के तटों तक जा पहुंचे। दसवीं और बारहवीं शताब्दी के बीच आक्रमण करने वाले मुख्य तौर पर "तुर्क" थे, तेरहवीं और पंद्रहवीं शताब्दी के बीच के आक्रमणों में तुर्कों की तरह की ही, लेकिन उनसे कहीं अधिक भयंकर कौम शामिल थी – ये मंगोल थे।

इन कौमों के इन अभियानों से भारी तबाही हुई। विशेष तौर पर मंगोलों ने अधिक तबाही की। जहाँ कहीं उनके आगे बढ़ने का प्रतिरोध किया गया वहीं वे खून की धारा और निर्मम नरसंहार के निशान छोड़ गये। लेकिन इन आक्रमणकारियों ने जिन सभ्यताओं पर विजय हासिल की, उन्हीं सभ्यताओं ने अंत में उन्हें संयत कर दिया। वे जीते हुए क्षेत्रों में आ बसे, और इसके

MAADHYAM IAS

परिणामस्वरूप उनके और उनके नये परिवेशों के बीच जो मिलन हुआ उसने एक नयी व्यवस्था की बुनियाद रखी। दसवीं शताब्दी के अंत में महमूद गज़नवी के भारत पर आक्रमण, और कोई दो सौ साल बाद ही भारत पर गौरी के आक्रमण इन व्यापक खानाबदोशी अभियानों के दूरगामी रूप थे (गज़नी और गौर दोनों अफगानिस्तान में हैं)। जैसा एशिया के दूसरे हिस्सों में हुआ, भारत में तुर्कों के आक्रमण के परिणामस्वरूप तेरहवीं शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों में दिल्ली सल्तनत नामक एक स्वाधीन राजनीतिक सत्ता का निर्माण हुआ। दिल्ली सल्तनत शब्द से दिल्ली में तुर्कों की राजधानी से उत्तरी भारत के बड़े हिस्सों पर उनके राज्य का पता चलता है। दिल्ली सल्तनत दो सौ वर्षों से अधिक समय तक अस्तित्व में रही। इस बीच उसने नयी राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक संस्थाओं को जन्म दिया। ये संस्थाएँ पहले से विद्यमान संस्थाओं से बहुत भिन्न थीं।

दरअसल तुर्क अपने साथ जो कुछ लेकर आये थे और जो कुछ भारत में उन्होंने पाया, ये संस्थाएँ, उनका मिश्रण थीं, यही बात दिल्ली सल्तनत के बाद आने वाले मुगल साम्राज्य के लिये भी कही जा सकती है।

इस इकाई में हम मध्य एशिया में तुर्कों और मंगोलों के उदय के परिणामस्वरूप होने वाले विकासों पर विहंगम दृष्टि डालेंगे।

13.2 मध्य एशिया

तुर्कों और मंगोलों के उदय पर चर्चा करने से पहले, यह आवश्यक है कि हम मध्य एशिया में आने वाले क्षेत्रों की एक मानसिक तस्वीर बनायें और उनकी कुछ उल्लेखनीय विशेषताओं की जानकारी हासिल करें। "मध्य एशिया" एक शिथिल या अस्पष्ट भौगोलिक शब्द है। इसमें एक विशाल और विविध क्षेत्र आता है जिसके दक्षिण में पहाड़ों की एक विराट श्रृंखला है, जिसका एक हिस्सा हिमालय है। इसकी उत्तरी सीमाएँ यूराल की पर्वत श्रृंखला के आसपास पहुँचती हैं। पश्चिमी सीमाएँ यूराल तथा केस्पियन सागर तक तथा पूर्वी सीमा बलकश और बैकल झीलों के बीच के क्षेत्र में संभवतः इरतिश नदी तक (देखें मानचित्र 1)।

एक क्षेत्र के नाम के रूप में मध्य एशिया का कम से कम एक प्रतिद्वंदी है— तुर्किस्तान। तुर्किस्तान का भौगोलिक विस्तार तो मध्य एशिया की तरह नहीं है, लेकिन उसमें मध्य एशिया में आने वाले क्षेत्रों का एक बहुत बड़ा हिस्सा आ जाता है। शायद यह एक ऐसे क्षेत्र का कहीं सटीक विवरण देता है जिसकी आबादी में तुर्कों की प्रधानता है। लेकिन, जब इस शब्द का प्रयोग ऐतिहासिक संदर्भ में किया जाये, तो यह याद रखना चाहिये कि तुर्किस्तान एक जातिनाम है : यह एक जातीय क्षेत्र और एक मानस समुदाय को व्यक्त करता है। दोनों ही मामलों में, जो बदलाव इन शताब्दियों में आये वे गहरे रहे हैं। तुर्किस्तान की भौतिक और मानवीय दोनों सीमाएँ बारी-बारी से परिवर्तित हुई हैं, सिकुड़ी हैं और फैली हैं : यह शायद हमारे अपने समय तक होता रहा है जब आधुनिक राज्यों ने अपेक्षाकृत स्थिर सीमाएँ और आबादियाँ हासिल की हैं। आधुनिक राजनीतिक सीमाओं के अर्थ में, इसमें सोवियत समाजवादी गणराज्य तजकिस्तान, उजबेकिस्तान, तुर्कमेनिस्तान, किर्घीजिया और चीनी तुर्किस्तान आ जाते हैं।

MAADHYAM IAS

13.2.1 मध्य एशिया : विस्तृत विवरण

जब हम मध्य एशिया की विशिष्ट प्राकृतिक विशेषताओं पर ध्यान केन्द्रित करते हैं तो, अत्यन्त जटिलता वाला एक क्षेत्र हमारे सामने आता है। यह पहाड़ों, रेगिस्तानों, नखलिस्तानों, घासस्थलों और नदी घाटियों की एक असाधारण पच्चीकारी दिखायी देती है। पहाड़ी तलहटियों और घाटियों में नखलिस्तान, अर्थात रेगिस्तान से घिरे उपजाऊ वनस्पतिदार द्वीप, मिलते है। रेगिस्तानों के पार मिलते हैं घासस्थल—शुष्क और अनियमित वनस्पति के असीम विस्तार। उत्तर और पूर्व की ओर घासस्थल एक बार फिर विशाल साइबेरियाई रेगिस्तान में लुप्त हो जाते हैं। जैसा कि हम आगे देखेंगे, घासस्थल मध्य एशिया के और निस्संदेह दुनिया के भी इतिहास का मार्ग तय करने में निर्णायक रहे हैं। क्योंकि कम से कम कुछ हजार वर्षों तक घासस्थलीय पर्यावरण केवल एक तरह की जिंदगी को सहारा दे सका—खानाबदोश जिंदगी को, आवासीय जिंदगी को, नहीं।

इसके विपरीत, नखलिस्तानों ने स्थायी अस्तित्व को बढ़ावा दिया। मध्य एशिया में सभ्य समुदायों का इतिहास कम से कम कुछ हज़ार वर्ष पुराना है। शांति के दौर, जो सीमाओं पर बर्बरों की गतिविधियों से लगातार टूटते रहते थे, ने सिंचाई कार्यों और खेती के विस्तार को जन्म दिया। व्यापार और दस्तकारियों के विकास के साथ कस्बे अस्तित्व में आये। उन्होंने साथ-साथ वे

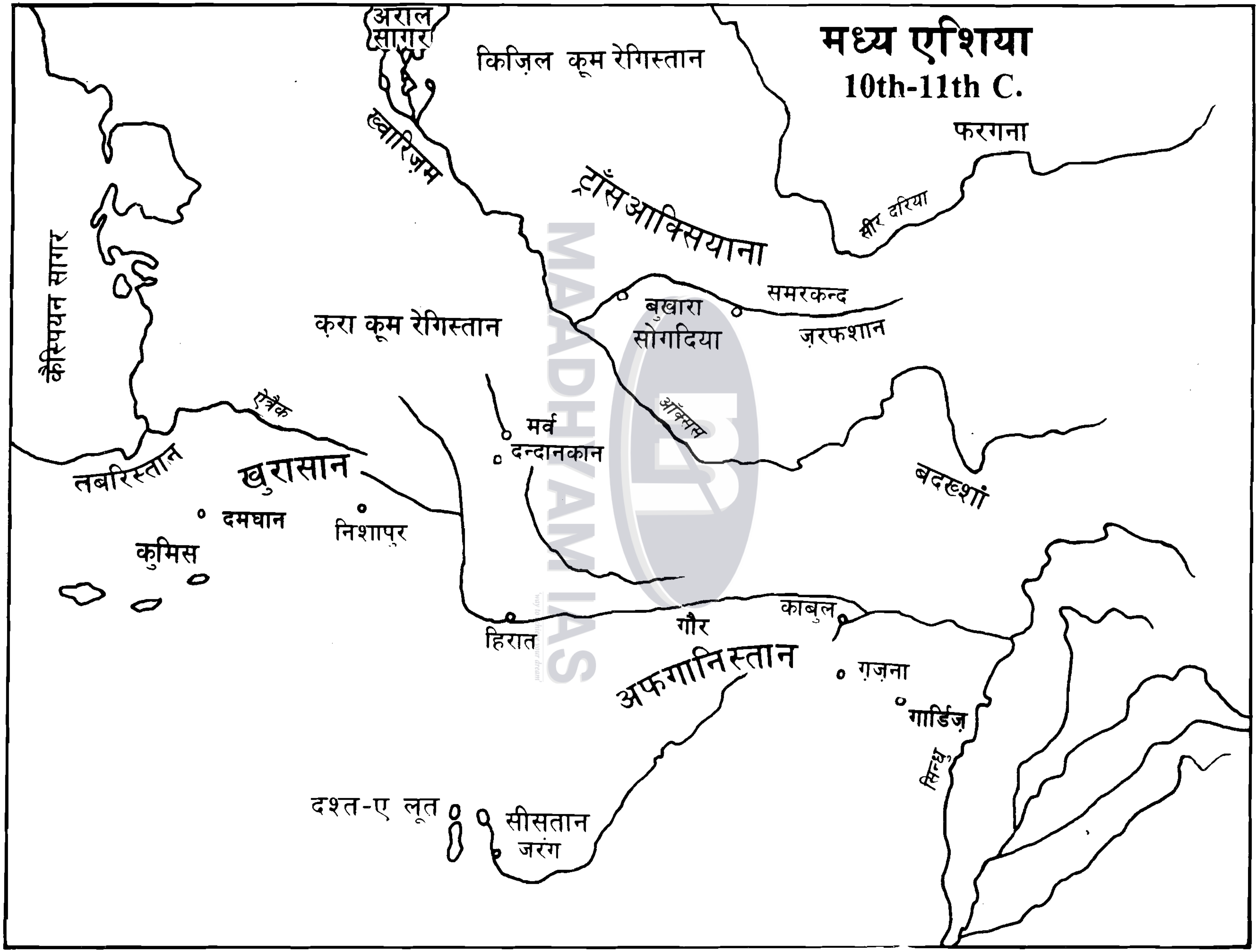

MAADHYAM IAS

स्थितियाँ बनायीं जिसमे हरे-भरे शहरों और राज्यों को पनपने में मदद मिली। इस तरह नखलिस्तान रेगिस्तानों और घासस्थलों की प्रधानता के वास्तव में पूरक थे। उनके कारण मध्य एशिया, भारत, चीन, मैसोपोटेमिया और यूरोप की दूर-दूर छिटकी सभ्यताओं को जोड़ने वाले एक व्यापारिक मार्ग के केन्द्रीय बिन्दु के रूप में उभर सका। आगे इस बारे में हम और बतायेंगे।

13.2.2 मध्य एशिया : लघु क्षेत्रों का जमाव

एक और स्तर पर मध्य एशिया को स्पष्ट छोटे-छोटे क्षेत्रों का बना हुआ देखा जा सकता है, अर्थात् ऐसी क्षेत्रीय इकाइयाँ जिनकी पहचान भूगोल और इतिहास के एक विचित्र मिश्रण की देन है। ख्वारिज्म, खुरासान, ट्रांस ऑक्सियाना, सोगदियाना, सेमीरेचेया, फरगना—ये कछ नाम हैं जो आपको इस क्षेत्र के किसी भी ऐतिहासिक विवरण में बार-बार पढ़ने को मिलेंगे। इनमें से अधिकाँश क्षेत्र मानचित्र पर चिन्हित हैं :

ट्रांस ऑक्सियाना (ऑक्सस के पार की भूमि) क्षेत्र ऑक्सस और जैक्सार्टस नदियों द्वारा बनाया हुआ क्षेत्र है। (इन नदियों को अमु दरिया और सीर दरिया भी कहते हैं)। ये नदियाँ अंतभौमिक अराल सागर में आकर गिरती हैं और मध्य एशिया की दो सबसे महत्वपूर्ण नदियाँ हैं। आठवीं शताब्दी में ट्रांस ऑक्सियाना को जीतने वाले अरबों ने इसे **'मवारउन नहर'** का नाम दिया था जिसका अर्थ होता है "वह जो नदी के पार है"। ऑक्सस-जैक्सार्टस खाड़ी के बीच से होकर जरफशान नदी बहती है, जिसके प्राचीन नाम "सोख्द" पर यह क्षेत्र "सोख्दियाना" कहलाया। मध्य एशिया के दो सबसे मशहूर शहर, समरकंद और बुखारा, इसी क्षेत्र में पड़ते हैं।

अराल सागर के दक्षिण में, ऑक्सस के उपजाऊ डेल्टा के आसपास, **ख्वारिज्म** (आधुनिक खिवा)के नाम से जाना जाने वाला क्षेत्र है। यहाँ ई.पू. सातवीं या छठवीं शताब्दी में ही एक विशाल केन्द्रीकृत राज्य अस्तित्व में आया जो कुछ शताब्दियों तक रहा। पहली शताब्दी ई० के अंत में, ख्वारिज़्म उस विशाल कुषाण साम्राज्य का हिस्सा बन गया जिसने हिंदकुश पर अधिकार कर लिया था और पूरे उत्तर भारत को अपने में समेट लिया था। इसके परिणामस्वरूप भारत और मध्य एशिया के बीच सांस्कृतिक संपर्कों में बहुत मजबूती आयी।

ट्रांस ऑक्सियाना के पश्चिम में **खुरासान** का क्षेत्र शुरू होता है। यह एक स्थल रूद्ध क्षेत्र है, जिसका समुद्र से कोई संपर्क नहीं है। इसकी नदियाँ झीलों और दलदलों में जाकर समाप्त हो जाती हैं। लेकिन इसके नखलिस्तानों के आसपास बेहतरीन चरागाह बहुतायत में मिलते हैं। इन चरागाहों ने बारंबार खानाबदोशों को आकृष्ट किया है कि वे यूरेशियाई घासस्थलों से मध्य एशिया में आकर निकलने वाले ढलावदार पहाड़ों के पार से इसकी घाटियों में उतरें। "लोगों के इस तरह के आवागमन के कारण खुरासान अनिवार्य रूप से एक युद्ध स्थली बना गया…"। अरबों ने इसका इस्तेमाल मध्य एशिया को जीतने के लिए एक अड्डे के रूप में किया।

जैक्सार्टस के पूर्व में, इसके मध्य खंड के सहारे फरगना घाटी है— जो भारत के पहले मुगल शासक, बाबर का पुश्तैनी घर है। ई.पू. 102 में ही चीनियों ने फरगना पर अधिकार कर लिया था, इसके बाद मध्य एशिया पर चीनी प्रभाव एक स्थायी कारक बना रहा।

बोध प्रश्न 1

1) मध्य एशिया की मुख्य भौगोलिक विशेषताएँ बताइये।

....

....

....

....

....

....

....

2) मध्य एशिया के कुछ लघु क्षेत्रों के नाम और उनका भौगोलिक विस्तार बताइये।

....

....

....

3) तुर्किस्तान क्षेत्र के बारे में पाँच पंक्तियों में लिखिये।

....

....

....

....

....

13.3 चरागाही खानाबदोश

तुर्क और मंगोल उन घासस्थलों और रेगिस्तानों की पैदाइश थे जो मध्य एशिया को, ट्रांस ऑक्सियाना के उत्तर और पूर्व के एक विशाल क्षेत्र में घेरे हुए हैं। और स्पष्ट कहा जाये तो, वे उन खानाबदोशों के वंशज थे जो बैकल झील के दक्षिण में अलताई पहाड़ों के क्षेत्र में घूमते थे। ये क्षेत्र अब बाहरी मंगोलिया का हिस्सा है। उनकी एक आदिम गतिशील सभ्यता थी जिसका आधार आदिवासी संगठन और मवेशियों, भेड़ों और घोड़ों का स्वामित्व थे। इसके अलावा, इन आदिवासियों के पास अक्सर ऊंट, खच्चर और गधे भी होते थे। ये जानवर ही खानाबदोशों की भोजन, कपड़ा और बसेरे जैसी बुनियादी आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन थे। दूध और माँस से उन्हें पोषण मिलता था। जानवरों की खाल का इस्तेमाल कपड़े के तौर पर, और उन तंबुओं **(युर्तों)** को बनाने के लिये भी होता था जिनमें ये खानाबदोश रहते थे।

चरागाही खानाबदोशी का आधार चरागाही भूमियों की तलाश थी। इस तलाश में ये खानाबदोश अपने मवेशियों और जानवरों के साथ लगातार एक जगह से दूसरी जगह भटकते रहते थे। खानाबदोश का खेती या स्थायी निवास से कोई संबंध नहीं था इसलिए भूमि के साथ इनका लगाव भी नहीं के बराबर था। यह तभी तक रहता था जब तक उस भूमि से उन्हें अपने जानवरों के लिये चारा मिलता रहता था। जब ये घुमक्कड़ खानाबदोश कहीं खेमा लगाते थे तो हरेक तंबू या गृहस्थी को उसके अपने इस्तेमाल के लिए भूमि का एक टुकड़ा दे दिया जाता था। जब एक क्षेत्र का पूरी तरह उपयोग कर लेते थे तो ये आदिवासी नये चरागाहों की तलाश में कूच कर जाते थे।

इस तरह गतिशीलता खानाबदोश समाज का मुख्य गुण था, और घोड़ा उसकी सबसे असाधारण अथवा महत्वपूर्ण संपत्ति। चरागाही खानाबदोशों के एक विवरण में उन्हें एक ऐसी कौम बताया गया है जिनका देश उनके घोड़े की पीठ पर था। इसके परिणामस्वरूप, उदाहरण के लिये, मंगोलों में, घोड़ा चुराने से बड़ा और कोई अपराध नहीं माना जाता था। इसकी सज़ा मौत होती थी। घुड़सवारी और धनुर्विद्या में निपुणता के कारण ये खानाबदोश एक जबरदस्त जंगी ताकत थे। मंगोल इस कला में तेरहवीं शताब्दी में पूर्ण सिद्धहस्त हो गये। पूरी रफ्तार में घोड़ा दौड़ाते हुए वे आगे पीछे, दांए-बांए, हर दिशा में सटीक निशाना लगाते हुए बाणों की वर्षा कर सकते थे।

इस कला को परखने और उसमें महारत हासिल करने के मौके घासस्थलों के परिवेश में बहुत मिले जहाँ चरागाहों को लेकर होने वाले टकराव आम घटनाएँ थीं। ये टकराव बढ़ते-बढ़ते खूनी लड़ाइयाँ भी बन जाते थे।

लेकिन स्थायी (आवास वाले) क्षेत्रों में खानाबदोशों के आक्रमण की सभी घटनाओं को घासस्थलों के अंदर होने वाले टकरावों का परिणाम मात्र समझना इसकी जटिलता को अनदेखा करना होगा। इन आक्रमणों के लिये चरागाही अर्थव्यवस्था के पर्याप्त न होने को भी उतना ही श्रेय देना होगा। चरागाहों से खानाबदोशों की अधिकांश बुनियादी आवश्यकताएँ तो पूरी हो जाती थीं, विशेष तौर पर तब जब शिकार या मछली मारना भी इनके साथ चलता था, लेकिन इसमें एक गंभीर कमी थी : इससे कोई स्थायी भंडार नहीं मिलते थे, जैसा कि इसके विपरीत कृषि में होता है। चरागाहों की उपज तेजी से खत्म कर ली जाती थी। इसलिये, खानाबदोश का आग्रह इस बात पर होता था कि वे न केवल अधिक और बेहतर चरागाही भूमि पर बल्कि खेतिहर समुदायों के उत्पादनों पर

MAADHYAM IAS 'way to achieve your dream'

भी कब्जा करें। चरागाही व्यवस्था अपने स्वभाव के ही कारण एक "मिश्रित अर्थव्यवस्था" की ओर मुड़ गयी। इसे व्यापार, मित्रता या आक्रमणों के जरिये हासिल किया गया।

13.4 सभ्यता और तुर्की खानाबदोश : प्रारंभिक संपर्क

प्राचीन मतानुसार सभ्यता और बर्बरता के बीच स्पष्ट विभाजन रेखा ऑक्सस ने खींची। इस मत को दसवीं शताब्दी में महमूद गज़नवी के दरबार के मशहूर शायर फिरदौसी ने भी अभिव्यक्ति दी। अपने "**शाहनामा**" में फिरदौसी ने ईरान और तूरान के दो संसारों की कठोर विरोधात्मकता को इस तरह पेश किया है : "दो तत्व आग और पानी जो दिल की गहराइयों में एक दूसरे के विरुद्ध फटे पड़ते हैं।" फिरदौसी के लिये, ईरान तुर्कों का, बर्बरता का, राज्य था। दो विपरीत जीवन शैलियों से पैदा होने वाली एक स्वाभाविक बैर भावना ने इन दो जातीय समूहों को अलग किया हुआ था।

वैसे अगर ऑक्सस क्षेत्रों पर निकट दृष्टि डाली जाये तो यह बात सामने आती है कि दसवीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में तुर्कों के आक्रमण होने से पहले ये दोनों संसार एक दूसरे के घनिष्ठ संपर्क में रहे थे। वैसे तो ऑक्सस खानाबदोशों के अतिक्रमणों के खिलाफ ऐतिहासिक गढ़ रहा था, फिर भी खानाबदोशों ने इस गढ़ को, हिंसक टकरावों के दौरान ही नहीं, बल्कि शांति के दौरों में भी बार-बार तोड़ा। कठोर और स्पष्ट होना तो दूर, दसवीं शताब्दी आते-आते तो यह सीमा बहुत धुंधली या अस्पष्ट हो चुकी थी।

13.4.1 तिउकिउ साम्राज्य

सभ्यता और तुर्क खानाबदोशों के बीच पहला संपर्क छठवीं शताब्दी के मध्य में उस समय हुआ जब चीन की सीमाओं से बाइजेंटियम तक फैला एक खानाबदोशी साम्राज्य अस्तित्व में आया। तिउकिउ साम्राज्य के नाम से मशहूर यह साम्राज्य वास्तव में तोगुज-ओगुज कहलाने वाली एक कौम के बाईस कबीलों का एक संघ था। यह साम्राज्य कोई दो सौ सालों तक बना रहा। आने वाली तीन शताब्दियों के दौरान, मध्य एशिया में तिउकिउ साम्राज्य के राज्यों का इसमें रहने वाले कबीलों और दूसरे नवागंतुक तुर्की खानाबदोशों के बीच बार-बार बंटवारा हुआ। ओगुज के भटके हुए तत्व दो शताब्दी पहले ही ऊपर ऑक्सस के क्षेत्र में घुस चुके थे। आठवीं शताब्दी में जो झुंड ओगुज के पार कूच कर गये थे वे "मुसलमान लेखकों के क्षेत्र में" आ पहुंचे। दसवीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में जो "तुर्क" और "तुर्कमान" शब्द प्रचलन में आये, उनका इस्तेमाल शुरुआत में इन्हीं लेखकों ने ओगुज आदिवासियों के लिये किया था। धीरे-धीरे इनका इस्तेमाल आम तुर्की खानाबदोशों के लिये शायद ओगुज की जातीय पहचान के धीरे-धीरे कमजोर होने के कारण होने लगा क्योंकि कबीले या तो बड़े संघ से टूट कर अलग हो गये या नये कबीले हारने के बाद इसमें मिला लिये गये।

13.4.2 दो प्रकार के संपर्क

तुर्कों और स्थायी आवास वाले लोगों के बीच संपर्क ने दो प्रमुख रूप धारण किये : (I) सैनिक टकराव, और (II) व्यापारिक लेन-देन। दोनों ही स्थितियों का परिणाम आपसी आत्मसातीकरण और संस्कृति संक्रमण के रूप में सामने आया। पहले हम सैनिक टकराव पर चर्चा करेंगे।

खानाबदोशों की स्वाभाविक प्रवृत्ति थी ऑक्सस के दक्षिण में स्थायी आवास वाले क्षेत्रों में छापे मारना। इन आक्रमणों से बचने के लिए पश्चिम एशिया के राज्यों ने एक सक्रिय प्रतिरक्षा नीति बनायी जिसका केन्द्र पूर्व से होने वाले आक्रमणों का प्रमुख ठहराव क्षेत्र ट्रांस ऑक्सियाना था। छठवीं शताब्दी में ईराक और फारस के सासानिद शासक इस अभियान के वाहक थे। आठवीं शताब्दी में यह काम अरबों ने किया। ट्रांस ऑक्सियाना में घुसने और जैक्सार्टस के पूर्व में एक खासी बड़ी तुर्की आबादी को भगा देने के बाद, अरबों ने सीमा पर मजबूत दीवारों और **रबातों** (सुरक्षा के उद्देश्य से बनी छोटी पक्की इमारतें) का निर्माण किया जिन पर सेना के पहरेदार (गार्ड) लगाये गये। मुस्लिम और तुर्की दोनों की ओर की सीमाओं पर गार्डों की बस्तियाँ बन गयीं। मुस्लिम पक्ष में इन गार्डों को **गाज़ी** कहा जाता था, अर्थात् वे लोग जिनका काम काफिरों के झुंडों से धर्म की रक्षा करना था। शत्रु खेमों के होते हुए भी दोनों गुट एक ही तरह की सीमांत जिंदगी जीने लग गये। उन्होंने एक दूसरे के हथियारों, युक्तियों और जीवन शैलियों को अपना लिया और धीरे-धीरे एक सामान्य सीमांत सैनिक समाज का गठन कर लिया। जिन समाजों

से वे थे और जिनकी वे रक्षा कर रहे थे, यह समाज उन समाजों के समान कम था और इन लोगों के समान अधिक था।

ट्रांस ऑक्सियाना में जब आठवीं शताब्दी में अरबों का कब्ज़ा हुआ उस समय तक तुर्क और गैर-तुर्क का अंतर लगभग मिट चुका था। आंतरिक गड़बड़ियों के कारण ट्रांस ऑक्सियाना के नेताओं को अक्सर तुर्की व्यापारियों को एक संतुलनकारी शक्ति के रूप में दर्ज करना पड़ा था। कम से कम एक विवरण में तो यह जानने को मिलता ही है कि बुखारा नखलिस्तान में सबसे पहले बसने वाले लोग तुर्किस्तान से आये थे।

दूसरे प्रकार का संपर्क व्यापार और वाणिज्य के माध्यम से स्थापित हुआ। एक खानाबदोश साम्राज्य के केन्द्र ने सौदागरों को हमेशा ही आकृष्ट किया है क्योंकि उनके पास स्थायी बस्तियों के उत्पादनों के लिये एक तैयार बाजार उपलब्ध रहा। तिउकिउ साम्राज्य के मामलों मे, यह आकर्षण और भी स्पष्ट था क्योंकि यह विशाल सिल्क मार्ग के पार पड़ता था, जो अंतर्राष्ट्रीय वाणिज्य का प्रमुख मार्ग था। इन सामग्रियों में से अधिकांश प्रति दिन के प्रयोग की थीं, जैसे चमड़ा, खालें, चर्बी, मोम और शहद। लेकिन उनमें रोएंदार खालें **(फर)** जैसी ऐश की वस्तुएँ भी थीं। इसके अलावा गुलामों का नियमित व्यापार भी होता था जो घासस्थलों से लाये गये होते थे। इन उत्तरी क्षेत्रों से भोजन सामग्रियाँ कारवां के मार्ग पर पड़ने वाले खुरासानी कस्बों में पहुंचती थीं और अंत में ये, पारगमन व्यापार से होते हुए, पश्चिम एशिया में उपभोग के सर्वोच्च केन्द्रों, ईराक और बगदाद में आती थीं।

दसवीं शताब्दी के विवरणों में तुर्कों के कई स्थायी आवासों के सीर दरिया के निचले क्षेत्र में होने का हवाला मिलता है जिसके निवासी "विशुद्ध रूप से खानाबदोश नहीं थे, बल्कि मवेशी पालने वाले, मछली मारने वाले और खेती-बाड़ी करने वाले भी थे"। इनमें से अधिकांश तुर्क उस ओगुज समूह से निकले थे जिसके नेतृत्व में तुर्क मध्य और पश्चिम एशिया के शासक बन कर उभरे थे।

बोध प्रश्न 2

1) मध्य एशिया के लोगों की खानाबदोश जिंदगी की मुख्य विशेषताओं को संक्षेप में लिखिये।

....

....

....

....

....

....

....

2) तिउकिउ साम्राज्य के बारे में पाँच पंक्तियों में लिखिये।

....

....

....

....

....

3) तुर्कों और स्थायी आवास वाले लोगों के बीच व्यापार की मुख्य वस्तुओं की चर्चा कीजिये। उन्होंने किस व्यापार मार्ग का इस्तेमाल किया?

....

....

....

....

....

....

....

MAADHYAM IAS

13.5 तुर्की आक्रमण

तुर्क मध्य एशिया के सभ्य हिस्सों में न केवल जाने-माने, स्थायी आवास वाले या व्यापारिक क्षेत्र में ही सक्रिय थे, बल्कि कई मौकों पर तो वे विद्यमान सैनिक प्रशासनिक तंत्र में बहुत प्रभावशाली पदों पर भी रहे। इस्लाम के पूर्व के ट्रांस ऑक्सियाना के वर्चस्वशाली सामाजिक वर्गों, "**दिहकानों**" (छोटे भूस्वामियों) और सौदागरों ने तुर्की व्यापारियों का अधिकाधिक इस्तेमाल अपनी पैतृक संपत्ति की रक्षा करने और उसे बढ़ाने के लिये एक दबाव डालने वाले माध्यम के रूप में किया था।

आठवीं शताब्दी के आरंभ में ट्रांस ऑक्सियाना को जीतने वाले अरबों ने तुर्कों को जैक्सार्टस के पार खदेड़ दिया, और मवारउन नहर को बर्बरों के हमलों के खिलाफ एक ढाल के रूप में परिवर्तित कर दिया। लेकिन, अंत में तुर्कों को सिपाहियों के रूप में नियुक्त करने के विचार से अरब भी प्रभावित हुए बिना नहीं रहे। कठोर घासस्थलीय पृष्ठभूमि तुर्कों को एक सहज योद्धा बनाती थी। प्रशिक्षण और अनुशासन के द्वारा उन्हें अव्वल दर्जे की जंगी मशीन (योद्धा) बनाया जा सकता था। इसके अलावा, उन्हें किसी और आवश्यक वस्तु की तरह खरीदा भी जा सकता था। ट्रांस ऑक्सियाना में और उसके आसपास के बाजारों में मध्य एशिया के घासस्थलों और मवारउन नहर के उत्तर में पड़ने वाले मैदानों से पकड़कर लाये गये गुलामों की भरमार रहती थी।

उमय्यदों (661-750 ई०) के तहत सेना में भर्ती लगभग पूरी तौर पर अरबों तक सीमित थी। 750 ई० में उमय्यदों की जगह पर अब्बासिदों के आ जाने के बाद सेना में अरबों का एकाधिकार जाता रहा। ऐसा विशेष तौर पर खलीफा हारून-अल रशीद के शासन के बाद के दशकों में हुआ, जिसकी मृत्यु 809 ई० में हुई। इस अंतिम महान् खलीफा के बेटों और उत्तराधिकारी के बीच होने वाले गृह युद्धों ने अब्बासिद साम्राज्य की बुनियाद हिला कर रख दी। इन परिस्थितियों में, विदेशी मूल के व्यापारियों को भर्ती करना, जो साम्राज्य के आंतरिक मामलों में लिप्त नहीं थे, एक मात्र जवाब दिखायी पड़ता था।

खलीफा मुतास्सिम (833-842 ई०) अपने आसपास तुर्की गुलामों का एक बड़ा लश्कर रखने वाला और उसे अपनी सेनाओं का आधार बनाने वाला पहला शासक था। उन्हें एक स्पष्ट और अलग पहचान देने के लिए तुर्की सेना को स्वदेशी लोगों से काफी दूर रखा जाता था और उन्हें केवल अपने ही मूल की स्त्रियों से विवाह की अनुमति थी। "इस तरह उसने एक ऐसा सैनिक वर्ग खड़ा किया जिसका काम महल के झगड़ों में या किसी राजनीतिक अथवा धार्मिक आंतरिक झगड़ों में हिस्सा लिये बिना खलीफा और राज्य की रक्षा करना था। लेकिन हुआ इसका उल्टा। राज्य के संचालन में इस वर्ग का हस्तक्षेप इस सीमा तक बढ़ गया कि वह अधिकाधिक विनाशकारी होता गया क्योंकि गार्ड के अधिकारी विभिन्न दावेदारों का समर्थन करने वाले प्रतिद्वंद्वी वंशों में बंट गये और ऐसा करने के लिये वे महल में विद्रोह भड़काने से भी नहीं हिचकिचाये।"

अब्बासिद खलीफाओं की ताकत कमजोर पड़ने के साथ इस्लामी दुनिया पर उनका नियंत्रण बस **फरमान** जारी करने तक ही सीमित और नाम मात्र का रह गया। इसके फलस्वरूप दसवीं शताब्दी में कई छोटे-छोटे स्वाधीन राज्य उठ खड़े हुए : जाहिरीद, सफविद, बुवाईहीद, करा-खानीद और समानीद।

समानीद गवर्नर और तुर्की मूल के गुलाम अलप्तगीन ने गज़ना में एक स्वाधीन राज्य की स्थापना की। गज़नवी राज्य महमूद गज़नवी (998-1030 ई०) के समय में मशहूर हुआ। उसके शासन के तहत ईरानी प्रभाव अपने चरम पर पहुंच गया। महमूद अपने आपको ईरानी काल्पनिक नायक अफरासियाब का वंशज होने का दावा करता था। इस प्रक्रिया ने तुर्कों का पूरी तौर पर इस्लामीकरण और ईरानीकरण कर दिया। महमूद ने भारत में भी बारंबार हमले किये। इसके परिणामस्वरूप, पंजाब गज़नवी साम्राज्य का एक हिस्सा बन गया।

महमूद की मृत्यु के बाद शक्तिशाली सैलजुक उभरे। उन्होंने जल्दी ही ईरान, सीरिया और ट्रांस ऑक्सियाना पर कब्जा कर लिया। इन घटनाओं से गज़नवी ताकत को गहरा धक्का लगा जो गज़ना और पंजाब के हिस्सों तक सीमित होकर रह गयी।

बारहवीं शताब्दी में, सैलजुकों की ताकत को तुर्की कबीलों के एक गुट ने नष्ट कर दिया। सैलजुकों के नष्ट होने से जो शून्य बना उसने ईरान में ख्वारिज़्मी और उत्तर-पश्चिम अफगानिस्तान में गौर शक्ति को जन्म दिया। गौर गज़ना के सामंत थे। दूसरी ओर, ख्वारिज़्मी

शासकों की शुरुआत शानदार रहा, उन्होंने गज़नी और लगभग समूचे मध्य एशिया और ईरान को अपने अधिकार क्षेत्र में ले लिया। इन परिस्थितियों में गौरियों के लिये ख्वारिज़्मी ताकत की कीमत पर विस्तार करना संभव नहीं था। भारत ही एक संभावी दिशा बची थी। विस्तार की इस प्रक्रिया की शुरुआत बारहवीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में हुई।

13.6 मंगोल

तेरहवीं शताब्दी के प्रारंभिक दशकों में एशिया और यूरोप ने पूर्व की ओर से आने वाले खानाबदोश विजेताओं की एक नयी लहर देखी। यह आक्रमण इतिहास में ज्ञात पहले के किसी भी आक्रमण से कहीं अधिक ज़बरदस्त और विनाशकारी था। ये नये आक्रमणकारी मंगोल थे, जिन्हें उस महान् साम्राज्य के लिये सबसे अधिक जाना जाता है जिसका गठन उन्होंने चंगेज़ ख़ाँ के नेतृत्व में किया। तेरहवीं शताब्दी का अंत होते होते, मंगोल साम्राज्य ज्ञात दुनिया के एक बड़े हिस्से पर फैल चुका था : चीन, मंचूरिया, कोरिया, उत्तरी वियतनाम, तिब्बत, तुर्किस्तान, अफगानिस्तान, ईरान, मैसोपोटेमिया, दक्षिणी रूस और साइबेरिया।

विश्व पर राज्य करने से पहले, मंगोल चीन के उत्तर और बैकल झील के पूर्व के घासस्थलीय क्षेत्र के रहने वाले थे। उनके पूर्व में उनकी जैसी ही एक कौम, तातार, रहती थी, जो शायद मंगोली तुर्क थे, जिन्होंने तारतारस (नर्क के लिये यूनानी शब्द) से जोड़ते हुए, यूरोपीय साहित्य में मंगोलों को "तातार" का नाम दे दिया था। मंगोलों के पश्चिम में कैराइट और नमन रहते थे, ये भी तुर्की मूल और बोली के लोग थे। ये सभी लोग विकास के विभिन्न चरणों में थे, जो अलग-अलग अंशों में पशु-पालन को मछली मारने और शिकार करने के साथ मिला रहे थे।

मंगोलों का एक शक्ति के रूप में उदय घासस्थलों के पुराने इतिहास से मेल खाता लगता है। खानाबदोशों के गिरोहों के बीच लंबे समय तक चलने वाले टकराव से एक असाधारण योग्यता वाला नेता उभर कर आता था जो लड़ने वाले झुंडों के बीच मतभेदों को समाप्त कर उन्हें ताकतवर संगठित शक्ति के रूप में जोड़ देता था। छोटे और बंटे हुए खानाबदोशों के गुट या तो अपनी मर्जी से या फिर जबरन इस संगठन में शामिल कर लिये जाते थे। इसके बाद के चरणों में ये खानाबदोश आक्रामक होकर अपने आसपास के स्थायी आवास वाले समाजों पर टूट पड़ते थे।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

13.6.1 चंगेज़ ख़ाँ और स्टेप्स के (घासस्थलीय) कुलीनतंत्र

चंगेज़ ख़ाँ ने मंगोलों को एक गज़ब की आक्रामक ताकत बना दिया। चंगेज़ ख़ाँ का जन्म बारहवीं शताब्दी के सातवें दशक में एक शक्तिशाली मंगोल सरदार के यहाँ हुआ था। उसका प्रारंभ का नाम तेमुचिन था। घासस्थलों के अंदर तीन दशकों के कड़े संघर्ष के बाद चंगेज़ ख़ाँ अंत में मंगोलों के एक श्रेष्ठ नेता के रूप में उभर कर आया। इस दौरान उसने एक योद्धा और एक ऐसे शातिर कूटनीतिज्ञ के रूप में अपने आपको माहिर किया जो अपने शत्रुओं में फूट डालने और उन्हें फंसाने में निपुण था।

चंगेज़ ख़ाँ की सेना और उसकी शाही सरकार की धुरी सावधानी से चुने गये गार्डों (**बहादुर**) की एक टुकड़ी थी। मंगोल सेना की टुकड़ियों को इसी गार्ड टुकड़ी के सेनापतियों के अधीन रखा जाता था। सैन्य संगठन चंगेज़ ख़ाँ के समय अपने चरम पर पहुंचा। एक सुस्थापित खानाबदोशी परंपरा का इस्तेमाल करते हुए, उसने तमाम वयस्क पुरुषों को "**मिनगान**" (दस हजार की टुकड़ियों) में भर्ती कर लिया। **मिनगानों** को फिर दस-दस और सौ-सौ की और छोटी-छोटी टुकड़ियों में बाँटा जाता था। दस **मिनगानों** का एक **तुमान** बनता था जिन्हें बड़े स्तर के अभियानों में लगाया जाता था। इनमें से हरेक टुकड़ी एक सेनापति के अधीन होती थी जिसकी योग्यता चंगेज़ ख़ाँ खुद परखता था। सेनापति का अधिकार सैनिकों और उनके परिवारों पर होता था। इस तरह, प्रशासनिक नियंत्रण और सैन्य संगठन एक ही तंत्र के अंग थे।

13.6.2 विजयें और विस्तार

चंगेज़ ख़ाँ के पहले सैनिक प्रयास पूर्वी घासस्थलों के चरागाही कबीलों को अपने झंडे तले लाने को समर्पित थे। अब तेमुचिन का शासन मंगोल, तुर्की और मंचूरियाई कबीलों के एक विशाल संघ पर था। वह उनके तमाम **किबितकी** (तंबुओं) का मुखिया था और उसके परिवार के पास जीते हुए पशुओं का स्वामित्व पैतृक रूप में होता था।

सन् 1206 में संपन्न हुई एक "**करूलताई**" (खानाबदोश सरदारों की बैठक) में, तेमुचिन को "समस्त मंगोलिया का **कगान**" घोषित किया गया, और उसे चंगेज़ खाँ की पदवी मिली।

आंतरिक रूप से मजबूत होने के बाद, मंगोल मंगोलिया की सीमा से बाहर निकल पड़े। 1211 ई० में शुरू होने वाले सालाना अभियानों की एक शृंखला के अंत में उन्होंने चीन की बड़ी दीवार को पार कर लिया और पीकिंग पर कब्जा कर लिया। जल्दी ही, उनका ध्यान ट्रांस ऑक्सियाना और खुरासान की ओर गया जो ख्वारिज़्म शाह के राज्य थे। ख्वारिज़्म साम्राज्य की सुरक्षा तो मंगोलों की कब्जा करने की कला के आगे ध्वस्त हो गयी। मंगोलों ने दीवारों, फाटकों को तोड़ने वाली मशीनों (बैटरिंग रैम), लपटें उगलने वाली मशीनों (जिसमें **नेपथा** प्रयुक्त किया जाता था), पत्थर फेंकने वाली मशीनों या गुलेलों (**मनजनीक**) आदि का इस्तेमाल किया। बुखारा और समरकंद का पतन 1220 में भयंकर नरसंहार के बीच हुआ। बुखारा की स्थिति का वर्णन करते हुए एक प्रत्यक्षदर्शी ने कहा : "वे आये, उन्होंने बर्बाद किया, उन्होंने जलाया, उन्होंने मारकाट की, उन्होंने लूटा, वे चले गये।"

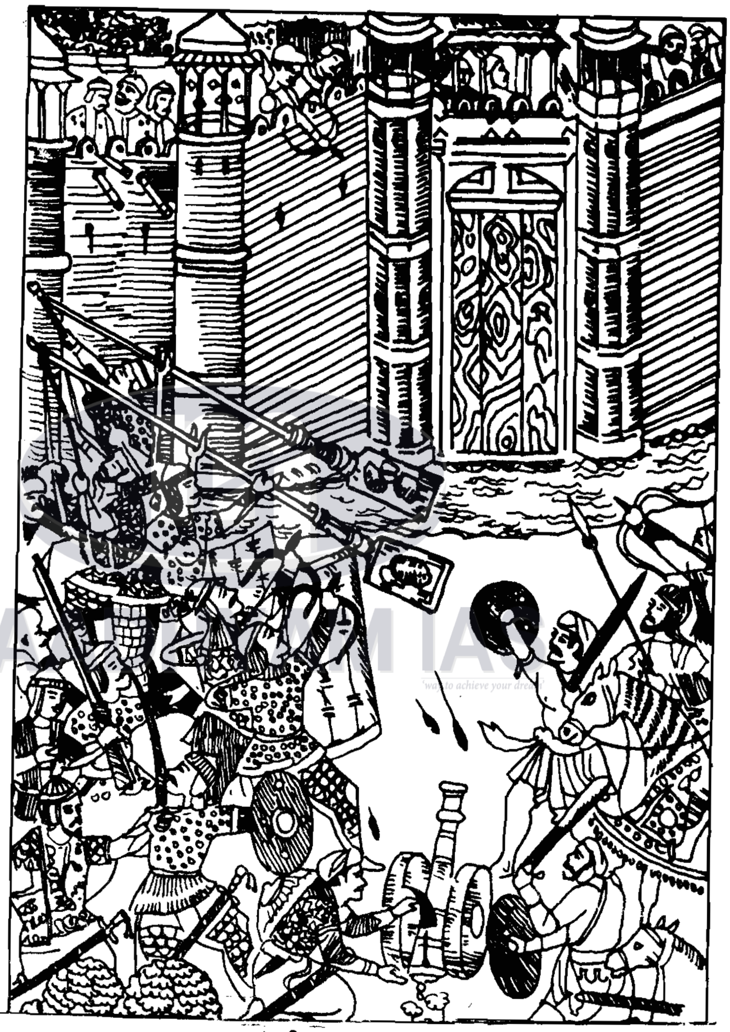

1. मंजनीक

मंगोलों को ट्रांस ऑक्सियाना और खुरासान को अपने साम्राज्य में मिलाने में कोई तीन साल 1219-22, लगे थे। 1227 में, मंगोलिया लौटते समय, चंगेज़ खाँ की मृत्यु हो गयी। उस समय तक पूरा उत्तरी चीन उसके साम्राज्य में मिलाया जा चुका था। उसकी मृत्यु के पश्चात् साम्राज्य का बंटवारा उसके बेटों में हो गया। उसके तीसरे बेटे, ओगेदें, को 1229 में महान् खान घोषित किया गया। उस समय तक अविजित यूरेशियाई घासस्थल जोची के हिस्से में गये। दूसरे बेटे, चगताई, को तुर्किस्तान मिला, और उसके सबसे छोटे बेटे तोलुई को अपनी मातृभूमि मंगोलिया का प्रदेश मिला।

चंगेज़ खाँ के एक उत्तराधिकारी, हलागू, ने 1258 ई० में बगदाद पर आक्रमण कर दिया। यह शहर अब्बासिदों की राजधानी था जो खून और आग की लपटों में नष्ट हो गया। एक संतुलित आकलन के अनुसार कोई 800,000 लोगों को वहशी तरीके से मार डाला गया। अब्बासिद खलीफा का अंत भी हिंसक हुआ। अंत में मंगोलों की जीतों से चार महान् साम्राज्य निकले : सुनहले झुंड (**गोल्डन होर्ड**) ने वोल्गा के घासस्थल और दक्षिणी रूस पर राज्य किया, **इलखानों**

का अफगानिस्तान और ईरान पर कब्जा रहा, **चगताई** साम्राज्य में अधिकांश मध्य एशिया रहा, और, **कुबलई खाँ** का साम्राज्य जिसने चीन और पड़ोसी क्षेत्रों पर राज्य किया। ये साम्राज्य पंद्रहवीं शताब्दी तक बने रहे।

बोध प्रश्न 3

1) तुर्क अरब खिलाफत के मामलों में कैसे शामिल हुए?

....

....

....

....

....

....

....

2) चंगेज़ खाँ का उदय शक्तिशाली शासक के रूप में कैसे हुआ?

....

....

....

....

....

....

....

3) मंगोलिया के बाहर चंगेज़ खाँ की विजयों का संक्षिप्त विवरण कीजिए।

....

....

....

....

....

....

....

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

13.7 सारांश

आशा है कि इस इकाई से आपको 10-13वीं शताब्दी के दौरान मध्य एशिया में हुए घटनाक्रमों की सामान्य जानकारी प्राप्त हुई होगी। अब आपके पास मध्य एशिया की भौगोलिक विशेषताओं की भी संक्षिप्त जानकारी है। आपको चरागाही खानाबदोशों की प्रकृति के बारे में भी सीखने को मिला। कुछ समय में, मुख्य तौर पर खानाबदोश आदिवासी तुर्कों ने शक्तिशाली राज्य कायम कर लिये। हमने चंगेज़ खाँ के नेतृत्व में मंगोल शक्ति के सुदृढ़ होने, और मध्य एशिया में मंगोलों के प्रसार पर भी चर्चा की। अगली इकाई में हम तुर्कों के भारत की ओर विस्तार और उनके द्वारा दिल्ली सल्तनत की स्थापना का विवरण देंगे।

13.8 शब्दावली

खानाबदोश : एक ऐसा जनसमूह जिसके पास स्थायी आवास नहीं होता।

यूरेशियन घासस्थल : यूरोप और एशिया की सीमाओं पर का एक भौगोलिक क्षेत्र (घास के मैदान)।

कुषाण साम्राज्य : यह साम्राज्य भारत के उत्तर-पश्चिमी भाग में रहा, और इसने पहली शताब्दी के मध्य से तीसरी शताब्दी के अंत तक राज्य किया।

स्थल-रूद्ध क्षेत्र : एक ऐसा भौगोलिक क्षेत्र जिसका सागर से कोई संपर्क नहीं होता।

शाहनामा : फिरदौसी द्वारा लिखित फारसी का महाकाव्य (10वीं शताब्दी)।

बाइज़ेंटियम : इस्तांबूल का प्राचीन नाम।

सिल्क मार्ग : चीन से प्रारंभ होने वाला भूभाग जो भारत की उत्तर-पश्चिमी सीमा छूता हुआ मध्य एशिया व रूस होकर बाल्टिक तक पहुंचता है।

उमय्यद : खलीफाओं का वंश जिन्होंने 661 ई० से 750 ई० तक शासन किया।

तातार : एक खानाबदोश कबीला।

13.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) देखिये भाग 13.2
2) देखिये उपभाग 13.2.2
3) देखिये उपभाग 13.2.2

बोध प्रश्न 2

1) देखिये भाग 13.4
2) देखिये उपभाग 13.4.1
3) देखिये उपभाग 13.4.2

बोध प्रश्न 3

1) देखिये भाग 13.5
2) देखिये उपभाग 13.6.1
3) देखिये उपभाग 13.6.2

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

इकाई 14 दिल्ली सल्तनत की स्थापना

इकाई की रूपरेखा

14.0 उद्देश्य
14.1 प्रस्तावना
14.2 भारत : 7वीं सदी ई० से 12वीं सदी ई० तक – एक रूपरेखा
14.3 प्रारंभिक विजयें : लगभग 1190 ई० तक
14.4 गौरी के आक्रमण : सन् 1192 ई०-1206 ई० तक
14.5 तुर्कों की सफलता के कारण
14.6 संघर्ष एवं सुदृढ़ीकरण : सन् 1206-1290 ई०
14.7 मंगोल समस्या
14.8 भारत में तुर्की विजय के राजनीतिक परिणाम
14.9 सारांश
14.10 शब्दावली
14.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

14.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप :

- तुर्की विजय के पूर्ववर्ती सदियों के भारत की राजनीतिक एवं सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों का ज्ञान कर सकेंगे,
- उन विभिन्न चरणों की जानकारी प्राप्त करेंगे जिनके अन्तर्गत उत्तरी भारत को विजित किया गया,
- तुर्कों की सफलता के कारणों को बता सकेंगे, और
- सल्तनत कालीन शासक वर्ग के संघर्ष, चरित्र और शक्ति के आधार की भी जानकारी प्राप्त करेंगे।

MAADHYAM IAS
way to achieve your dream

14.1 प्रस्तावना

इससे पूर्व की इकाई में हमने मध्य एशिया का संक्षिप्त विवरण किया था। जिसके अंतर्गत इसके विशेष पर्यावरण और इसके खानाबदोश योद्धाओं की परिवर्तनशील आबादी का चित्रण किया था। खानाबदोश बहुत बड़ी संख्या में अपने चरागाहों (स्टैप्स प्रदेश) का परित्याग कर बाहर आए। फलस्वरूप उनका आसपास की सभ्यता और चीन, यूरोप, पश्चिम एशिया तथा भारत के साथ संपर्क एवं टकराव हुआ।

गज़नी तथा सैलजुक साम्राज्यों का निर्माण अब्बासी खिलाफत के अवशेषों पर हुआ। अपने अंतिम विश्लेषण में ये दोनों राज्य स्थापित समाजों की संस्थाओं में विद्यमान तुर्कों के संस्कृति–संक्रमण की ही उपज थे। तुर्कों के भी मंगोलों के संपर्क में आने से उनके संगठन के स्वरूप एवं दिशा में काफी परिवर्तन हुआ।

सैलजुकों के अधीन तुर्की साम्राज्य का प्रसार भूमध्य सागर और बाइज़ैनटाइन के प्रदेशों तक हो चुका था। अनातोलिया (आधुनिक तुर्की) को ऑटोमन तुर्कों ने विजित कर लिया और वे वहीं बस गए। जहाँ एक ओर सैलजुक साम्राज्य ने अपने को आने वाली कबीलाई जातियों के दबाव से मुक्त कर दिया था वहीं यह घुमक्कड़ जातियों की गतिविधियों से उत्पन्न हुए राजनीतिक घटनाओं के जाल में फंस गया। ख्वारिज़्मी साम्राज्य जिसने सैलजुकों की शक्ति को कम किया था, मंगोलों द्वारा नष्ट कर दिया गया। इन परिवर्तनों की इस विभीषिका एवं चक्रवात ने "पुराने विश्व" को एक पिघलते हुए बर्तन में परिवर्तित कर दिया।

इस इकाई में हम भारत पर तुर्की विजय का अध्ययन करेंगे जिसके परिणामस्वरूप 13वीं सदी ई० के प्रारंभ में दिल्ली सल्तनत की स्थापना हुई।

14.2 भारत : 7वीं सदी ई० से 12वीं सदी ई० तक – एक रूपरेखा

इस पाठ्यक्रम के खंड 1-3 में हम पहले ही इस काल के भारत की राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियों का विवेचन कर चुके हैं। इस भाग में भी हम उस काल के भारत में विद्यमान परिस्थितियों पर संक्षेप में प्रकाश डालेंगे। इससे इस इकाई को समझने में आपको मदद मिलेगी।

राजनीतिक-आर्थिक व्यवस्था : सन् 700 ई०-1200 ई०
तुर्की विजय से पूर्व की पाँच शताब्दियों के इतिहास को भारतीय इतिहासकारों द्वारा "सामंतीय" व्यवस्था के रूप में वर्णित किया गया है। यद्यपि इस युग के इतिहास के विश्लेषण की इस अवधारणा की आलोचना की गई है। फिर भी, इस काल के भारत की राजनीतिक तथा सामाजिक-आर्थिक वास्तविकताओं से सामंतवाद की बहुत-सी सामान्य एवं कुछ विशेष विशेषताओं का पता चलता है।

भारत में सामंतवाद की मुख्य विशेषता (जैसा कि विश्व के अन्य भागों में था, जहाँ पर यह अस्तित्व में आया था) राजाओं द्वारा अपने अधिकारियों तथा समाज के कुछ निश्चित वर्गों को भूमि अनुदान प्रदान करना था। अनुदान प्राप्तकर्ता (या सामंत) इसके बदले आवश्यकतानुसार राजा को सैनिकों एवं सामानों की आपूर्ति करते थे। सामंतों द्वारा एकत्रित राजस्व का एक भाग वार्षिक नज़राने के रूप में वे राजा को देते थे। शेष राजस्व का उपयोग उन सेनाओं के रख-रखाव पर खर्च करते थे, जिनका उपयोग राजा द्वारा युद्ध के समय किया जाता था।

अधिक शक्तिशाली सामंतों को भूमि अनुदान करने की आज्ञा थी। इस प्रक्रिया का परिणाम यह हुआ कि बहुत से उप-सामंत पैदा हो गए जिससे नियंत्रण तथा अनुबंधों के पदानुक्रम का जन्म हुआ। भारत में सामंतों ने अनेक उपाधियों को धारण किया। अधिक महत्वपूर्ण सामंतों ने स्वयं को **महासामंत, महामण्डलेश्वर** आदि जैसी उपाधियाँ धारण कीं। कम महत्वपूर्ण सामंत **राजा, रणका, सामंत, ठाकुर, भोगिका** आदि कहलाते थे।

इस व्यवस्था की उत्पत्ति, भूमि पर से राजा द्वारा अपने अधिकार को अलग करना, का संकेत दूसरी सदी ई० में ब्राह्मणों को दिए जाने वाले भूमि अनुदानों से किया जा सकता है। जिन ब्राह्मणों को भूमि अनुदान दिया जाता था वे न केवल भूमि कर वसूल करते थे, बल्कि वे कानून तथा व्यवस्था को भी बनाए रखने पर ध्यान देते थे। नवीं सदी ई० से इस परंपरा का विस्तार समाज के अन्य वर्गों में भी हो गया। विशेषकर सरकारी अधिकारियों को नकद वेतन के बदले भूमि अनुदान दिए जाने लगे। समय के साथ-साथ भूमि अनुदानों की प्रवृत्ति पैतृक हो गई। इसके कारण शाही अधिकारियों एवं "सामंतों" के बीच भेद खत्म हो गया। पैतृक सामंतों की शाही अधिकारियों के तौर पर नियुक्ति होने लगी और अधिकारियों को भी उपाधियाँ प्रदान की जाने लगीं तथा शायद, सामंतीय विशेषाधिकार भी प्राप्त होने लगे।

सातवीं सदी ई० से शासक वर्ग का ग्रामीणीकरण होने लगा। इस प्रवृत्ति के कारण ऐसा वातावरण पैदा हो गया जिसके अंतर्गत शहरी जीवन में धीरे-धीरे गिरावट आने लगी (ऐसा मौर्य काल से ही होने लगा था) और इसी के साथ-साथ वाणिज्य का भी ह्रास हुआ। इसकी पुष्टि इस काल में सिक्कों की कमी से भी सिद्ध होती है। इन परिस्थितियों में अधिकारीगण एवं अभिजात वर्ग की आजीविका का आधार मात्र कृषि ही रह गई। केंद्रीकृत राजनीतिक शक्ति का विखंडन, भू-सामंतों का आविर्भाव और विशेषकर राजपूत जैसी योद्धा जातियों का उद्भव, ये सभी इस वातावरण की स्वाभाविक परिणति थे।

14.3 प्रारंभिक विजयें : लगभग 1190 ई० तक

10वीं से 11वीं सदी ई० के मध्य बहुत-सी योद्धा जातियों का उद्भव हुआ। ये योद्धा जातियाँ सैनिक शासक जातियाँ थीं और अंततः इन सभी जातियों का एक जाति 'राजपूत' में विलय हो गया। राजपूत शब्द की उत्पत्ति संस्कृत भाषा के राजपुत्र से हुई। जिन चार राजपूत जातियों को इस समय विशेष दर्जा प्राप्त था, वे प्रतिहार, चालुक्य, चौहान (जिन्हें चहमना भी कहा जाता था) और सोलंकी थे।

1) महमूद गज़नवी

राजनीतिक एवं सैनिक शब्दावली में महमूद गज़नवी के आक्रमण वास्तव में दिल्ली सल्तनत के पूर्वगामी थी। सन् 1000 ई० में जिस समय शाहिया राजा जयपाल को महमूद गजनवी द्वारा

MAADHYAM IAS

पराजित किया गया था, तभी से भारत पर होने वाले उसके आक्रमण प्रति वर्ष होते रहे। यह सिलसिला उसकी मृत्यु (सन् 1030 ई०) तक चलता रहा। मुल्तान पर अधिकार करने के बाद महमूद ने पंजाब को भी अपने अधीन कर लिया। बाद में महमूद ने गंगा-यमुना दोआब पर आक्रमण किए। भारत में महमूद के आक्रमण करने का मुख्य उद्देश्य भारत की विशाल सम्पदा थी, जिसका बहुत बड़ा अंश नकदी, जेवरात और सोने के रूप में मंदिरों में जमा था। इसी कारणवश सन् 1010 ई०-1026 ई० तक महमूद के आक्रमणों का लक्ष्य थानेश्वर, मथुरा, कन्नौज और अंततः सोमनाथ जैसे मंदिर-नगर थे। इन आक्रमणों का अंततः परिणाम यह हुआ कि भारतीय विरोध मृतप्राय हो गया जिससे भविष्य में भारत में तुर्कों की विजय का मार्ग प्रशस्त हो गया। इससे भी महत्वपूर्ण परिणाम यह हुआ कि इन अभियानों ने बाह्य खतरों का संगठित रूप से विरोध प्रस्तुत करने की भारतीय राजनीति की कमज़ोरी को स्पष्ट कर दिया।

महमूद की मृत्यु के थोड़े समय बाद ही उसके साम्राज्य का भी वही हाल हुआ जो अन्य साम्राज्यों का होता है। सत्ता के उदित होते नवीन केन्द्र, जो दुस्साहसी तुर्की सैनिकों के इर्द-गिर्द बने, ने सत्ता के पुराने केन्द्रों का स्थान ग्रहण कर लिया। गज़नवी साम्राज्य के खुरासान तथा ट्रांस ऑक्सियाना पर पहले सैलजुकों द्वारा और बाद में ख्वारिज़्म शाह द्वारा अधिकार कर लिया गया (देखें इकाई 13)। उनके अपने जन्म स्थान अफगानिस्तान पर उनकी सत्ता को शंसबनी वंश के गौर राज्य ने समाप्त कर दिया। लेकिन इस उथल-पुथल के बावज़ूद भी गज़नी वंश का शासन पंजाब और सिंध में सन् 1175 ई० तक कायम रहा।

उत्तर-पश्चिम भारत में गज़नी शासकों के अधीन फैले क्षेत्र को सुनिश्चित करना कठिन है। उत्तर की ओर इसके अधीन सियालकोट एवं संभवतः पेशावर था। दक्षिणी सीमाओं को चौहान राजपूतों ने काफी सीमित कर दिया था, जिन्होंने पंजाब में कुछ भागों पर पुनः अपना नियंत्रण स्थापित कर लिया था।

मौहम्मद गौरी के प्रारंभिक आक्रमणों का मुख्य सैनिक उद्देश्य पंजाब एवं सिंध पर अधिकार करना था। पहले के अन्य आक्रमणकारियों से भिन्न, मौहम्मद गौरी ने ज्यादा प्रचलित खैबर दर्रे के स्थान पर गोमल दर्रे द्वारा सिंध के मैदानी क्षेत्रों पर आक्रमण करने का निर्णय किया। सन् 1179 ई० तक पेशावर, उच्छ और मुल्तान पर अधिकार कर लिया गया। इसके पश्चात् लाहौर पर आक्रमण किया गया। मौहम्मद गौरी ने अब भारत में और आगे की ओर अपने विजय अभियान को बढ़ाया। थोड़े समय में ही ये सैनिक कार्यवाहियाँ प्रत्यक्ष तौर पर गंगा के मैदानों में स्थित राजपूत राज्यों के विरुद्ध होने लगीं। इन आक्रमणों का सबसे अधिक दबाव चौहान शासकों पर पड़ा, जिनके अधीन अजमेर से दिल्ली तक का भू-भाग था, जो भारत का प्रवेश द्वार था। गौरी ने 1191 ई० में भटिण्डा पर अधिकार कर लिया। दुर्ग रक्षकों ने शीघ्र ही आत्मसमर्पण कर दिया। लेकिन चौहान सेना ने पृथ्वीराज के नेतृत्व में गौरी की सेना पर तीव्र गति से आक्रमण किया और उसको अपमानजनक पराजय दी। लेकिन अगले वर्ष मौहम्मद गौरी विशाल सेना के साथ आया। सन् 1192 ई० की प्रसिद्ध तराइन की लड़ाई में गौरी ने चौहानों पर निर्णायक विजय हासिल की। सैन्य महत्व के सभी महत्वपूर्ण स्थानों—हाँसी, कुहराम, सरसुती जैसे—पर तुरंत अधिकार कर घेराबंदी कर ली गई। मौहम्मद गौरी दिल्ली के समीप इन्द्रप्रस्थ में कुतबुद्दीन ऐबक के नेतृत्व में अपनी सेना को छोड़कर अपनी योजना को मध्य एशिया में कार्यान्वित करने के लिए वापस लौट गया। ऐबक को राज्य को सुदृढ़ एवं शक्तिशाली बनाने के लिए विस्तृत अधिकार प्रदान किए गए।

MAADHYAM IAS

बोध प्रश्न 1

1) महमूद गज़नवी के भारत पर आक्रमण करने के मुख्य उद्देश्य क्या थे?

....

....

....

....

....

....

2) मौहम्मद गौरी की भारत में प्रारंभिक विजयों का संक्षिप्त विवरण दीजिए।

....

....

....

....

14.4 गौरी के आक्रमण : सन् 1192 ई० - 1206 ई०

तराइन का युद्ध भारत के इतिहास में निर्णायक साबित हुआ। इसने तुर्की सत्ता की स्थापना के मार्ग को प्रशस्त किया। ठीक इसी समय से राजपूत शक्ति के अपरिवर्तनीय पतन के युग का भी सूत्रपात हो गया। कुछ समय के लिए गौरी वंश के लोगों ने सभी विजित क्षेत्रों के प्रशासन को तुरंत अपने हाथ में लेना सुविधाजनक नहीं समझा जहाँ उन्हें उचित लगा उन्होंने राजपूतों की सत्ता को जारी रहने दिया, अगर उनके द्वारा तुर्की सत्ता के प्रभुत्व को स्वीकार कर लिया गया। उदाहरण के तौर पर अजमेर का शासन पृथ्वीराज के पुत्र को सामंत के रूप में सौंप दिया गया। यद्यपि यह जटिल संतुलन अक्सर, स्थानीय शासकों एवं गौर वंश के शासकों के साम्राज्य विस्तार की योजना के मध्य संघर्ष के कारण, भंग होता रहता था।

कुतुबुद्दीन ऐबक के नेतृत्व में तुर्कों ने अपने राज्य का सभी दिशाओं में क्षेत्रीय विस्तार किया। सन् 1192 ई० के अंत में हाँसी की किलेबंदी करने के बाद ऐबक ने यमुना नदी के पार ऊपरी दोआब में सैनिक केन्द्रों को स्थापित किया। मेरठ एवं बरन (आधुनिक बुलन्दशहर) पर 1192 ई० में कब्जा कर लिया गया। सन् 1193 ई० में दिल्ली भी उनके अधिकार में आ गई। दिल्ली की स्थिति तथा उसकी ऐतिहासिक परम्परा के कारण तुर्कों ने उसे अपनी राजधानी बनाया। जहाँ एक ओर यह शक्ति के केन्द्र पंजाब के पड़ोस में स्थित था, वहीं यह पूर्व की ओर अभियानों को संचालित करने के लिए भी एक सुविधाजनक केन्द्र था। सन् 1194 ई० में कुतुबुद्दीन ऐबक ने एक बार फिर यमुना नदी को पार किया और कोल (अलीगढ़) पर नियंत्रण कर लिया।

मौहम्मद गौरी ने उपरोक्त सैनिक सफलताओं से उत्साहित होकर गहढ़वाल वंश के राजा जयचन्द्र पर चन्द्रवार (एटा और कानपुर के मध्य) में आक्रमण किया। जयचन्द्र अकस्मात पराजित हो गया। इसके बाद तुर्कों ने अपने सैनिक अड्डों को बनारस, असनी जैसे महत्वपूर्ण नगरों में स्थापित किया। लेकिन राजधानी कन्नौज पर सन् 1198-99 ई० तक अधिकार न किया जा सका।

MADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

बयाना, ग्वालियर एवं अन्हिलवाड़ा जैसे अन्य महत्वपूर्ण क्षेत्रों पर तुर्कों का सन् 1195-98 ई० तक अधिकार हो गया। बदायूं को सन् 1197-98 ई० में नियंत्रण में लिया गया। 13वीं सदी ई० के प्रारम्भ में ''अंतिम राजपूत साम्राज्य'' बुन्देलखण्ड के चन्देलों के विरुद्ध लगभग 1202 ई० में सैनिक अभियान भेजा गया। कालिन्जर, महोबा एवं खजुराहो पर नियंत्रण कर लिया गया और उनको एक सैनिक मंडल के अधीन समूहीकृत कर दिया।

सन् 1203 ई० से तुर्कों ने भारतीय उपमहाद्वीप के पूर्वी प्रदेशों पर लगातार सफलतापूर्वक आक्रमण किए। मगध को बख्तियार खलजी ने सल्तनत के लिए विजित किया। उसके अधीन तुर्की सेनाओं ने बंगाल राज्य के अंदर भी प्रवेश किया, जिसपर उस समय लक्ष्मण वंश का शासन था।

सामान्य तौर पर इस काल में गौरियों ने अपने प्रभाव क्षेत्र को उत्तरी भारत के काफी बड़े भू-भाग पर कायम कर दिया था। लेकिन अभी भी इस प्रभाव क्षेत्र का आधार अस्थिर ही था। जिन क्षेत्रों को विजित कर लिया गया था, वे नियंत्रण से मुक्त होने के लिए आतुर थे। इन क्षेत्रों पर स्थायी नियंत्रण करने के लिए आगामी कई दशक लगे।

14.5 तुर्कों की सफलता के कारण

उत्तर भारत की तुर्की विजयों के लिए बहुत से तर्क दिए गए हैं। बहुत से तत्कालिक इतिहासकार इस सफलता के कारणों की व्याख्या करते हुए यह कहते हैं कि यह ''ईश्वर की इच्छा'' थी। ब्रिटिश इतिहासकारों ने, जिन्होंने भारतीय इतिहास के अध्ययन का प्रारंभ कुछ गहराई के साथ शुरू किया, तुर्कों की सफलता के निम्नलिखित कारण बताए हैं : गौरी की सेना के सिपाहियों की भर्ती युद्ध में निपुण कबीलों से की गई थी, जो सिंध तथा ऑक्सस नदियों के मध्य पड़ने वाले

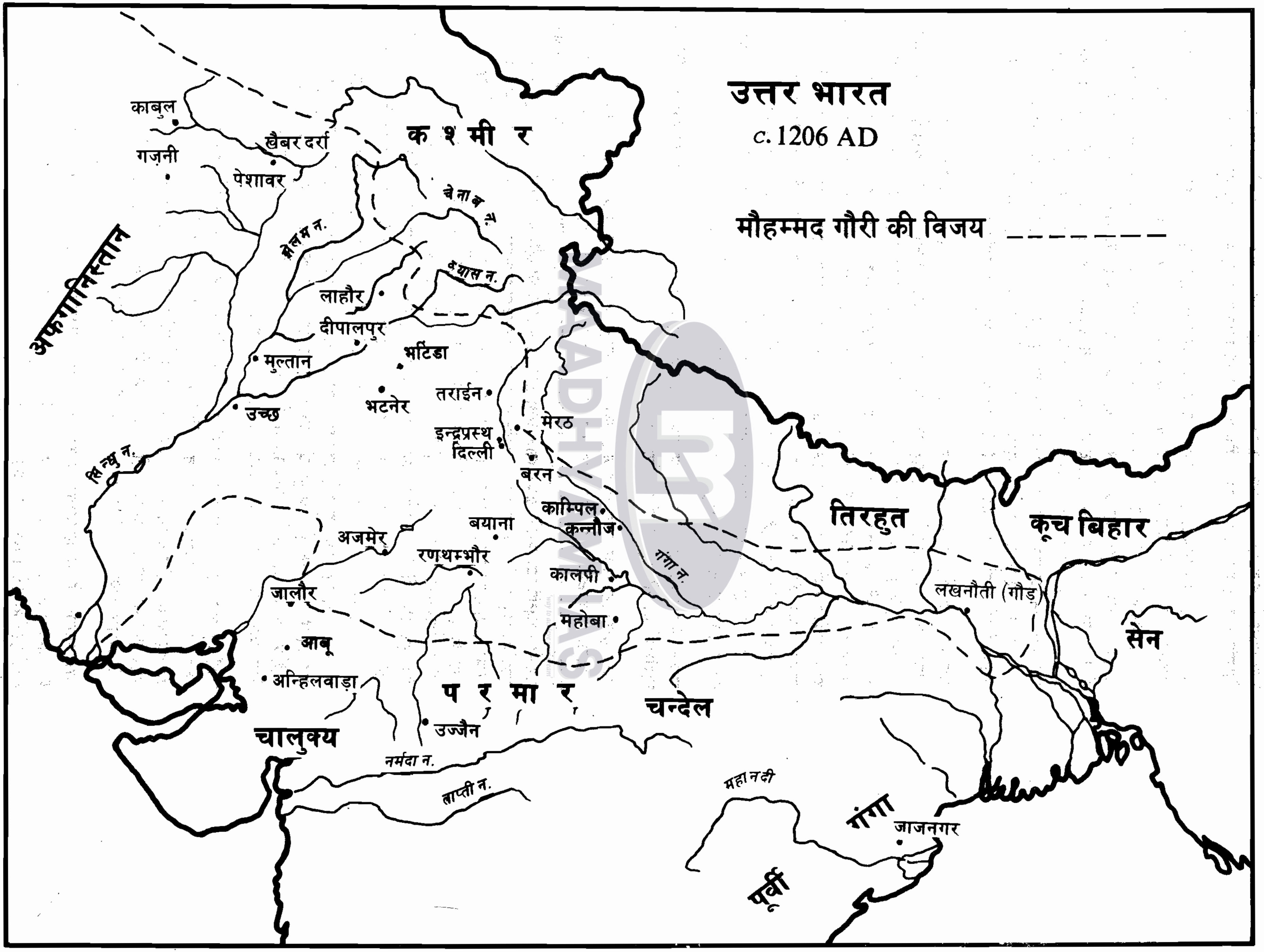

उत्तर भारत
c. 1206 AD
मौहम्मद गौरी की विजय
काबुल
गज़नी
खैबर दर्रा
पेशावर
क श्मी र
चेनाब न.
झेलम न.
ब्यास न.
अफ़गानिस्तान
लाहौर
दीपालपुर
मुल्तान
भटिंडा
तराईन
भटनेर
उच्छ
मेरठ
इन्द्रप्रस्थ
दिल्ली
बरन
सिन्धु न.
काम्पिल
कन्नौज
बयाना
अजमेर
रणथम्भौर
गंगा न.
कालपी
जालौर
महोबा
आबू
अन्हिलवाड़ा
प र मा र
चन्देल
उज्जैन
चालुक्य
नर्मदा न.
ताप्ती न.
तिरहुत
कूच बिहार
लखनौती (गौड़)
सेन
महानदी
गंगा
जाजनगर
पूर्वी

कठोर क्षेत्र के निवासी थे। उन्होंने सैलजुक सेनाओं तथा मध्य एशिया की अन्य खूंखार जातियों से युद्ध द्वारा सैन्य शक्ति और युद्ध विद्या में निपुणता हासिल कर ली थी। दूसरी ओर, भारतीय शांतिप्रिय थे और युद्ध पसंद नहीं करते थे। इसके अतिरिक्त, वे छोटी-छोटी रियासतों में विभाजित थे, जिससे उनकी राज्य विस्तार की अभिलाषाओं को गहरा आघात लगा।

लेकिन तुर्कों की सफलता के लिए की गई यह व्याख्या अपर्याप्त एवं असंतुलित है। इस व्याख्या के अंतर्गत भारतीय इतिहास के सुस्पष्ट तथ्यों की अवहेलना की गई है और दूसरी ओर जिन देशों से ये आक्रमणकारी आए, उनके इतिहास को भी नज़रअंदाज कर दिया गया। यह याद रखा जाना चाहिए कि तथाकथित युद्धप्रिय मुस्लिम क्षेत्रों को सन् 1218-19 में बिना किसी विशेष विरोध के मंगोलों द्वारा रौंद डाला गया था। दूसरी ओर, तुर्कों ने जिन राजपूत राजाओं के विरुद्ध सफलता प्राप्त की थी -- वे न तो साहस में कम थे और न ही सैनिक भावना में। 8वीं सदी ई० से 12वीं सदी ई० तक का लम्बा समय भारत के इतिहास में युद्धों एवं आंतरिक हिंसात्मक संघर्षों की कहानियों से भरपूर है। अतः यह मानना कठिन है कि भारतीय जनता की शांतिप्रियता तथा कुछ न सीखने की प्रवृत्ति तुर्क विजेताओं की सफलता के लिए उत्तरदायी थी।

कुछ भारतीय इतिहासकार तुर्कों की सफलता का कारण इस्लाम द्वारा निर्मित विशेष प्रकार के सामाजिक तंत्र को मानते हैं। उदाहरण के तौर पर जदुनाथ सरकार उन तीन अनोखी विशेषताओं पर बल देते हैं, जिनको इस्लाम ने अरबों, बर्बरों, पठानों एवं तुर्कों को प्रदान किया था। **प्रथम**, इस्लाम क़ानूनी एवं धार्मिक स्तरों पर पूर्ण समानता तथा सामाजिक एकता पर बल देता है। भारत की तरह तुर्क ऐसी जातियों में विभाजित नहीं थे, जो एक-दूसरे से पूर्णरूपेण अलग थीं। दूसरे, तुर्कों का ईश्वर में पूर्ण विश्वास था और ईश्वर की इच्छा उनको प्रोत्साहित करती, जिसके कारण उनके अंदर एक सुनिश्चित लक्ष्य को प्राप्त करने की भावना थी। तीसरी और अंतिम, इस्लाम ने तुर्क विजेताओं को मदिरापान से दूर रखने की प्रेरणा दी, जिसने, सरकार के अनुसार, राजपूत, मराठा और दूसरे भारतीय शासकों का सर्वनाश किया। इस व्याख्या में भी कुछ सत्यता का अंश हो सकता है, परन्तु यह व्याख्या भी अपर्याप्त प्रतीत होती है।

भारत की पराजय के संभवतः दो महत्वपूर्ण कारण थे। **प्रथम**, उस समय की सामाजिक-राजनीतिक परिस्थितियाँ और दूसरी सैनिक तैयारियाँ।

गुर्जर-प्रतिहारों के पतन के बाद कोई एक राज्य उनका स्थान ग्रहण न कर सका। उनके स्थान पर कन्नौज में गहढ़वाल, मालवा में परमार, गुजरात में चालुक्य, अजमेर में चौहान, दिल्ली में तोमर, बुन्देलखण्ड में चन्देल, आदि छोटे-छोटे राज्यों का उदय हुआ। एकता स्थापित करने के स्थान पर उनकी कार्यवाहियाँ अपने-अपने छोटे क्षेत्रों तक ही सीमित थीं और वे निरंतर एक-दूसरे के साथ संघर्षरत थे। केन्द्रीकृत सत्ता का अभाव एक ऐसा महत्वपूर्ण कारण था जिससे सैन्य बलों की शक्ति तथा क्षमता पर कुप्रभाव पड़ा। फख्र मुदब्बिर ने अपनी पुस्तक **आदाब-उल हर्ब वा अल शुजात** में उल्लेख किया है कि भारतीय सेनाएँ "सामंतीय सैन्य भर्ती" के आधार पर गठित थीं। प्रत्येक सेना की एक टुकड़ी सीधे एक तत्कालिक सामंत सरदार के अधीन थी, न कि राजा के। अतः सेना में "नेतृत्व की एकता" का अभाव था। इसके अतिरिक्त, क्योंकि कुछ ही जातियाँ एवं वंश सैनिक व्यवसाय को अपना सकते थे, ज्यादातर जनता को सैनिक प्रशिक्षण से अलग रखा जाता। इस प्रवृत्ति ने देश की सामान्य जनता को देश की सुरक्षा के प्रति असम्बद्ध बना दिया। हम देखते हैं कि जिस समय तुर्कों ने आक्रमण किए, उस समय शायद ही भारतीय जनता ने अपने राजाओं की मदद की हो। **अछूत** की अवधारणा ने भी सैनिक क्षमता पर कुठाराघात किया, क्योंकि इस अवधारणा ने श्रमविभाजन को असंभव बना दिया जिससे सैनिकों को युद्ध करने से लेकर पानी भरने तक के सभी कार्यों को स्वयं करना पड़ता था।

तुर्कों की सफलता का दूसरा महत्वपूर्ण कारण उनकी उच्च सैन्य तकनीक तथा युद्ध कौशल था। स्टैप्स के इन खानाबदोशों को युद्ध में "घोड़ों के युग" को प्रारंभ करने का श्रेय है। तुर्कों ने लोहे **की रकाब** एवं घोड़े की **नाल** का उपयोग किया। इससे उनकी मारक क्षमता में वृद्धि हुई और अश्वरोही सेना की क्षमता भी बढ़ी। जहाँ एक ओर घोड़े की नाल ने घोड़े को गतिशील बनाया, वहीं रकाब ने सैनिकों को विशेष लाभ की स्थिति में ला दिया।

आम धारणा थी कि भारतीयों की पराजय का मुख्य कारण युद्ध में हाथियों का उपयोग था, अब यह अधिक तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता। हमें **तबकात-ए-नासिरी** या अन्य किसी स्रोत में ऐसा कोई उल्लेख नहीं मिलता, जिससे इस विचार की पुष्ट होती हो। राजा जयपाल का उदाहरण इस संदर्भ में एक अपवाद है, जहाँ उसके हाथी युद्ध से भाग गए थे। इस तरह के उदाहरण अन्यथा बहुत कम हैं। वास्तव में, महमूद गज़नवी भारत से बहुत से हाथी अपने राज्य में ले गया था, जहाँ

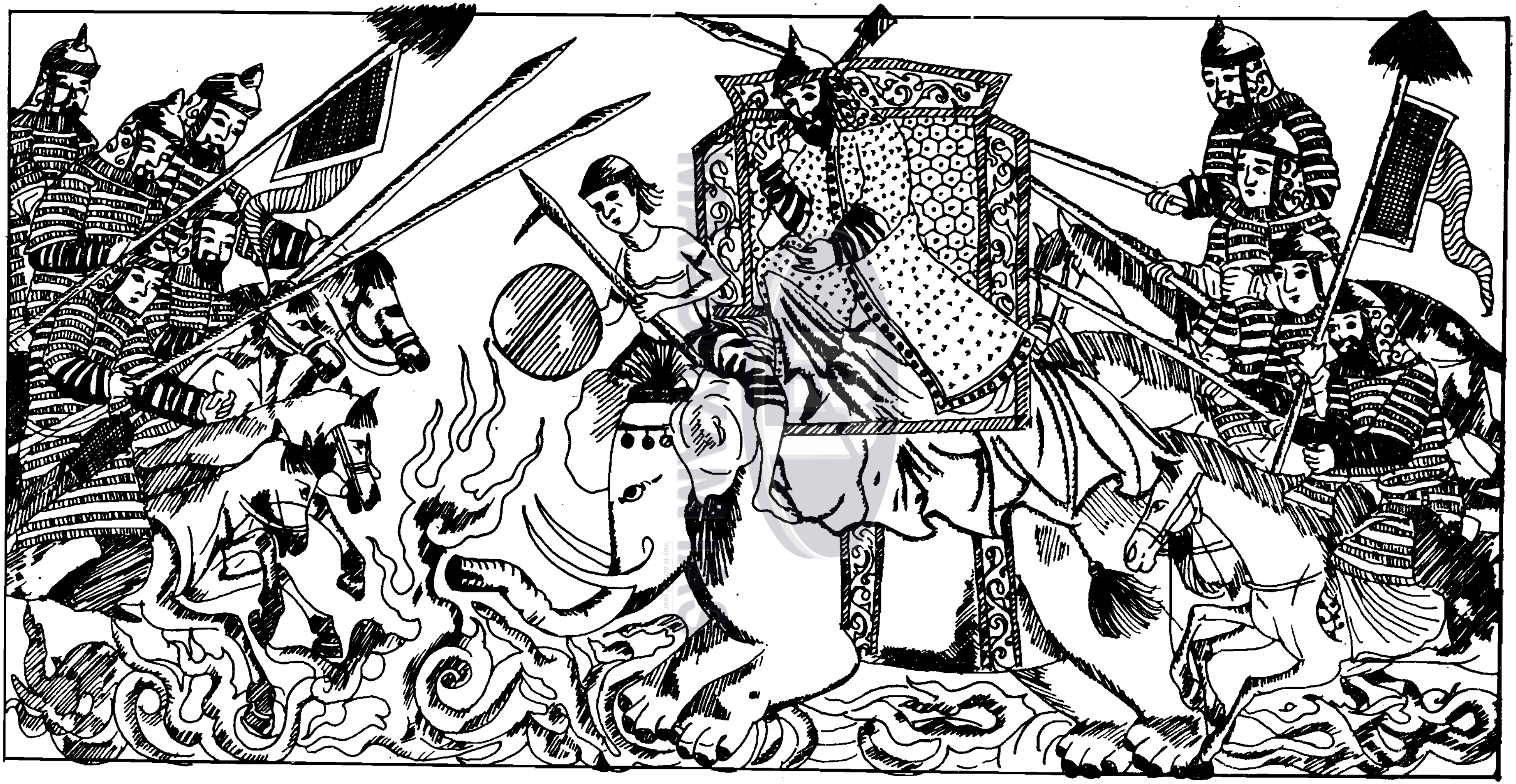

2. सुबुक्तगीन के बेटे महमूद और इस्माइल के मध्य युद्ध का दृश्य।
यह चित्र इस तथ्य को इंगित करता है कि मध्य एशिया के मुस्लिम शासकों द्वारा भी युद्धों में हाथियों का प्रयोग काफी सफलतापूर्वक किया गया।

बोध प्रश्न 2

1) I) कॉलम ब को कॉलम अ से मिलाइये :

अ	ब
युद्ध	**वर्ष**
कोल	1193
तराइन	1194
दिल्ली	1198-99
अन्हिलवाड़ा	1192
कन्नौज	1195-96

II)

अ	ब
वंश	**स्थान**
गहढ़वाल	बुन्देलखण्ड
चौहान	दिल्ली
तोमर	अजमेर
चालुक्य	कन्नौज
चन्देल	गुजरात

2) तुर्कों की सफलता के कारणों की व्याख्या 10 पंक्तियों में कीजिए।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

14.6 संघर्ष एवं सुदृढ़ीकरण : सन् 1206-1290 ई०

दिल्ली सल्तनत के इतिहास में सन् 1206-1290 ई० तक का समय निर्माणात्मक एवं चुनौतियों से भरपूर रहा। इस काल की विशेषता यह थी कि जहाँ एक ओर गौर वंश के शासक वर्ग में आंतरिक बहु-केन्द्रित संघर्ष था, वहीं तुर्कों को नवउदित राजपूत विद्रोहों के विरुद्ध संघर्ष करना पड़ा।

सन् 1206 ई० में मौहम्मद गौरी की अचानक मृत्यु के पश्चात् उसके तीन महत्वपूर्ण सेनापतियों ताजुद्दीन यल्दूज़, नासिरुद्दीन कुबाचा एवं कुतुबुद्दीन ऐबक के बीच सर्वोच्चता के लिए संघर्ष शुरू हो गया। यल्दूज़ के पास अफ़गानिस्तान और सिंध के बीच के मार्ग पर स्थित कर्मन तथा संकूरन के क्षेत्र थे। कुबाचा का उच्छ पर महत्वपूर्ण नियंत्रण था। जबकि ऐबक को पहले से ही मौहम्मद गौरी द्वारा "वायसराय" के रूप में नियुक्त किया जा चुका था और वह भारत स्थित तुर्क सेना का सेनापति भी था। तकनीकी तौर पर वह अभी भी एक गुलाम ही था, किन्तु उसके स्वामी मौहम्मद गौरी की मृत्यु के तुरन्त बाद उसको "सुल्तान" की उपाधि प्रदान की गई। औपचारिक तौर पर दिल्ली सल्तनत की स्थापना एक स्वतंत्र पहचान के रूप में इस घटना से ही की जाती है। आगामी घटनाक्रम ने इसे वास्तविक स्वरूप प्रदान किया।

अपने चार वर्ष के संक्षिप्त शासनकाल में पंजाब पर अधिकार करने की यल्दूज़ की अभिलाषा को निष्क्रिय करने के लिए ऐबक (मृत्यु 1210 ई०) अपनी राजधानी को लाहौर ले गया। ख्वारिज़्म शाह के दबाव के कारण जो दृढ़ता के साथ गौर की ओर बढ़ रहा था, यल्दूज़ स्वयं को भारत में

ऐबक के उत्तराधिकारी के रूप में उसके दामाद इल्तुतमिश ने गद्दी संभाली और वह अपनी राजधानी वापस दिल्ली ले आया। तुर्कों द्वारा विजित क्षेत्र उनके नियंत्रण से बाहर हो गए थे और अधीनस्थ किए गए राजपूत सरदारों ने नजराना देना बंद कर दिया था तथा उनकी प्रभुसत्ता मानने से इन्कार कर दिया। इल्तुतमिश के शासन काल की एक चौथाई शताब्दी (सन् 1210 ई०-1236 ई० तक) के दौरान उन क्षेत्रों पर सल्तनत के प्रभुत्व का स्थापित करने पर बल दिया गया, जिसको वे खो चुके थे। सन् 1215 ई० में यल्दूज़ को तराइन में पराजित कर दिया और सन् 1217 ई० में इल्तुतमिश ने कुबाचा से लाहौर प्राप्त कर लिया और इसे अपने एक गवर्नर के अधीन कर दिया।

इस घटना के तीन वर्ष के अंदर ही, जलालुद्दीन मंगबर्नी का पीछा करते हुए मंगोल चंगेज़ खाँ के नेतृत्व में सिंधु नदी पर प्रकट हुए। जलालुद्दीन ख्वारिज़्म शासक का पुत्र था जिसने पंजाब में शरण ले रखी थी। इकाई 13 में हमने मंगोलों द्वारा नष्ट किए गए इस्लामी राज्यों का वर्णन किया था। इसके बाद से ही मंगोल दिल्ली सल्तनत के शासकों के लिए चिंता का विषय बन रहे। 13-14वीं सदी के दौरान मंगोलों द्वारा किए गए आक्रमणों के विषय में हम इसी इकाई के आगामी भाग में विवेचन करेंगे।

यद्यपि मंगोलों की उपस्थिति ने उत्तर-पश्चिम में सल्तनत को सुदृढ़ करने की इल्तुतमिश की योजना को असफल कर दिया था, लेकिन इसने उन परिस्थितियों को उत्पन्न किया जिससे कुबाचा, जिसके नियंत्रण में उच्छ था, का राज्य नष्ट हो गया। उसको मंगबर्नी के आक्रमण का सामना करना पड़ा। फलस्वरूप, इल्तुतमिश ने भटिण्डा, कुहराम तथा सरसुती पर अधिकार कर लिया। 1226 ई० के आसपास उसने दो तरफा प्रहार मुल्तान एवं उच्छ पर भी किया। कुबाचा पराजित हो गया और स्वयं को सिंधु नदी में डुबो दिया। दिल्ली सल्तनत के लिए उत्तर-पश्चिम पर अधिकार करना अब संभव हो गया। राजपूताना में रणथम्भौर, मन्दौर, जालौर, बयाना एवं थानगीर को पुनः प्राप्त करने में भी तुर्क सफल रहे। सन् 1225 ई० के बाद इल्तुतमिश पूर्व की ओर अग्रसर हुआ। यदा-कदा सैनिक सफलताओं के अतिरिक्त, बंगाल में लखनौती तथा बिहार के शासक सल्तनत के प्रभुत्व की अवहेलना करते रहे। इल्तुतमिश की उपलब्धियों का आकलन करते हुए एक आधुनिक इतिहासकार ने लिखा है कि :

> "प्रशासनिक तंत्र की प्राथमिक रूपरेखा प्रदान करने के कारण सल्तनत उसकी ऋणी थी। उसने निरंकुश राजतंत्र की नींव रखी और बाद में इस राजतंत्र की बदौलत खलजियों के अधीन इसका उपयोग सैनिक साम्राज्यवाद के तंत्र के रूप में हुआ। जहाँ ऐबक ने दिल्ली सल्तनत और इसके संप्रभु स्तर की नींव रखीं, वहीं इल्तुतमिश निश्चित रूप से इसका प्रथम राजा था।"

MAADHYAM IAS

इल्तुतमिश की मृत्यु के बाद तुर्कों के मध्य गुटबाजी एवं कलह और अधिक तेजी से स्पष्ट हुआ। लगभग तीस वर्षों के दौरान इल्तुतमिश के उत्तराधिकारी के रूप में चार शासकों ने दिल्ली सल्तनत पर शासन किया। इन वर्षों के दौरान उच्च राजनीति में निर्णय लेने वाले अति महत्वपूर्ण समूह को **तुर्कान-ए-चिहिलगानी बन्दागान-ए शमसी** (इल्तुतमिश के 40 तुर्क गुलाम अधिकारीगण) के नाम से जाना जाता था। 14वीं सदी ई० के इतिहासकार ज़ियाउद्दीन बर्नी ने इन संकटकालीन वर्षों का संक्षिप्त एवं रोचक वर्णन किया है। वह लिखता है :

> "शमसुद्दीन (इल्तुतमिश) के शासन काल में .... अति महत्वपूर्ण **मालिकों, वज़ीरों**, जो शिक्षित, बुद्धिमान एवं योग्य थे, की उपस्थिति के कारण सुल्तान के दरबार में एक स्थिरता आई .... किन्तु सुल्तान की मृत्यु के बाद .... उसके चालीस गुलाम अधिकारियों ने दरबार की राजनीति में सर्वोच्चता प्राप्त कर ली .... सर्वोच्चता प्राप्त करने वाले ये तुर्क गुलाम अधिकारी जो कुलीन वर्ग से संबंधित थे, ... शमसुद्दीन के उत्तराधिकारियों के शासन काल में .... विभिन्न बहानों द्वारा नष्ट कर दिए गए।"

बर्नी ने अपने मुख्य विवरण में तत्कालिक घटनाक्रमों पर भी प्रकाश डाला है। सन् 1235-1265 ई० के बीच राजनीतिक घटनाक्रम सिंहासन एवं सैनिक अभिजात वर्ग के बीच संघर्ष के इर्द-गिर्द घूमता रहा। सैनिक अभिजात वर्ग अपने विशेषाधिकारों की स्थिति को बनाए रखने के लिए दृढ़ प्रतिज्ञ था और अक्सर संतुलन इस सैनिक अभिजात वर्ग के पक्ष में ही रहा।

इन परिस्थितियों में सल्तनत के अस्तित्व पर ही प्रश्न-चिन्ह लग गया। राजनीतिक अस्थिरता उस समय और अधिक तीव्र हो गई जब छोटे-छोटे राजपूत सरदारों एवं स्थानीय सरदारों ने केन्द्र की अवज्ञा करनी शुरू कर दी। इसके अतिरिक्त, मंगोल आक्रमणकारी अभी भी पंजाब के अंदर तथा आसपास के क्षेत्र में लगातार सक्रिय थे।

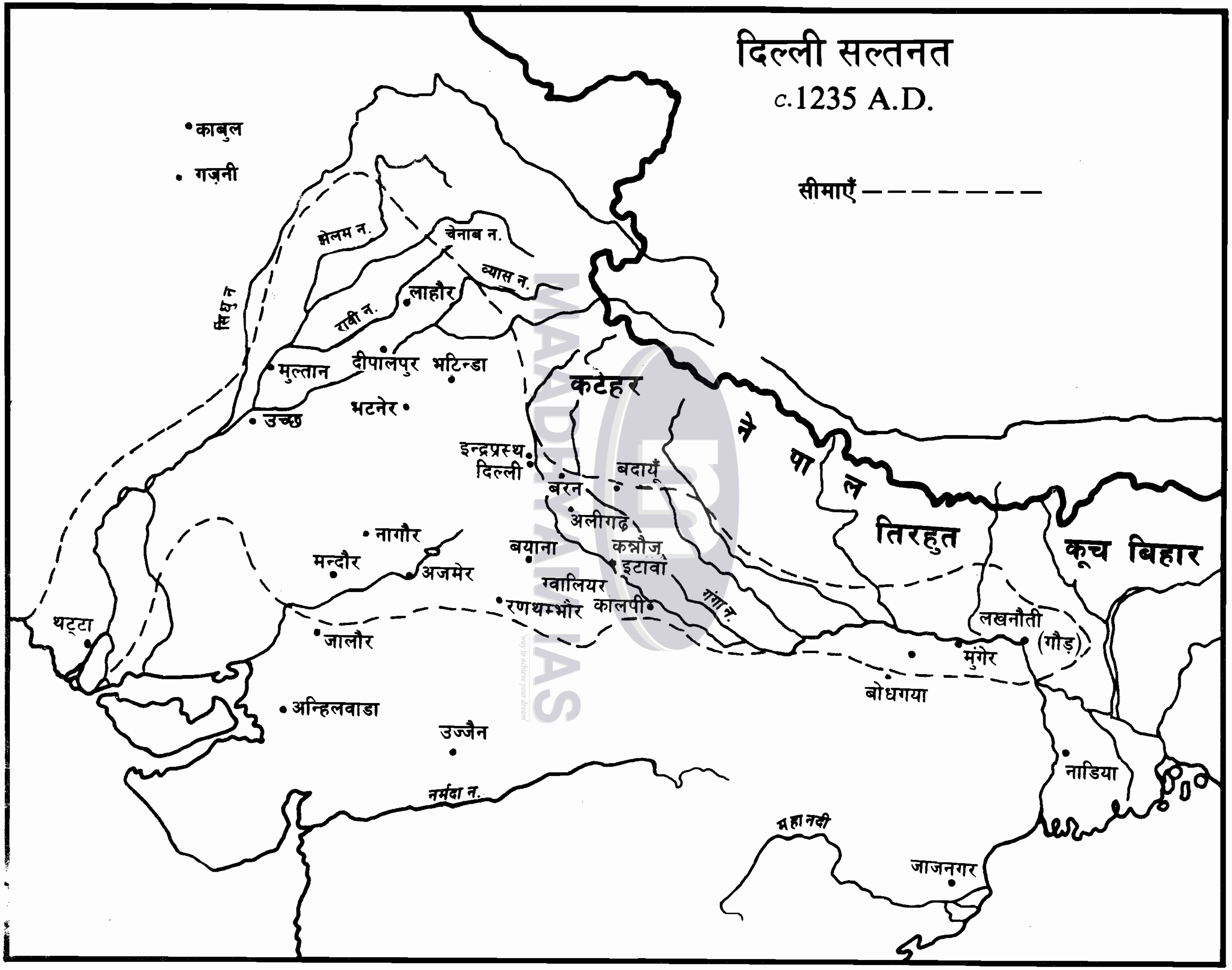

MAADHYAM IAS

1265 ई० में बलबन के सिंहासनारोहण के साथ ही सल्तनत को एक "लौह-इच्छाशक्ति वाला" शासक प्राप्त हो गया। बलबन ने स्वयं के लिए दो उद्देश्य निर्धारित किए :

i) दरबारी उत्सवों की शान-शौकत द्वारा ताज की प्रतिष्ठा को स्थापित करना। सासानिद परम्पराओं का पालन करना, जिससे शासक का स्थान आम जनता से भिन्न हो और सुल्तान उनके लिए भय का प्रतीक बन जाए।

ii) तुर्कों की शक्ति को और सुदृढ़ करना, विद्रोहों का दृढ़ता के साथ दमन करना और प्रशासनिक तंत्र को चुस्त करना।

बलबन की मृत्यु के बाद सिंहासन के लिए एक बार फिर संघर्ष शुरू हो गया। बलबन ने अपने बड़े पुत्र मौहम्मद के पुत्र कै खुसरो को अपना उत्तराधिकारी नामज़द किया था, लेकिन कुलीनों ने बुगरा खाँ के पुत्र कैकूबाद को सिंहासन पर बैठाने में मदद की। दो वर्षों से भी अधिक समय तक सिंहासन के लिए संघर्ष चलता रहा। अंततः जलालुद्दीन खलजी, जो उस समय कुलीन वर्ग में प्रमुख था, ने सिंहासन प्राप्त करने में सफलता प्राप्त की। उसकी इस कार्यवाही का कड़ा विरोध हुआ, क्योंकि उस समय यह समझा जाता था कि खलजी तुर्क नहीं है, बल्कि वह एक अन्य जाति से संबंधित है। सन् 1206-1290 ई० के बीच खलजी महत्वपूर्ण पदों पर आसीन रहे। उदाहरण के लिए, बख्तियार खलजी बंगाल का **मुक्ती** था। यहाँ तक की जलालुद्दीन खलजी स्वयं पश्चिमी पंजाब में सुनाम का **मुक्ती** था।

जलालुद्दीन खलजी ने अपने राज्य को सुदृढ़ता प्रदान करना शुरू किया, किन्तु सन् 1296 ई० में उसके भतीजे अलाउद्दीन खलजी ने उसका वध कर सिंहासन पर अधिकार कर लिया। लगभग 20 वर्षों तक अलाउद्दीन खलजी के अधीन सल्तनत ने विजय की नीति का अनुसरण किया। इसके विषय में आप इकाई 15 में पढ़ेंगे।

बोध प्रश्न 3

1) कुतुबुद्दीन ऐबक ने यल्दूज की शक्ति को कैसे कुचला? पाँच पंक्तियों में लिखिए।

....

....

....

....

....

2) भारत में तुर्की शासन का वास्तविक संस्थापक इल्तुतमिश था। इसकी व्याख्या कीजिए।

....

....

....

....

....

....

....

14.7 मंगोल समस्या

हम इकाई 13 में पहले ही मध्य एशिया एवं ईरान में मंगोलों की शक्ति के उदय के विषय में विवेचन कर चुके हैं। यहाँ पर हम भारत की उत्तर-पश्चिम सीमा पर उत्पन्न मंगोल खतरे एवं उसके परिणामों को मुख्य रूप से रेखांकित करेंगे।

हिन्दुकुश पर्वत द्वारा विभाजित काबुल-गज़नी-कंधार रेखा पर दिल्ली सल्तनत का नियंत्रण न केवल "वैज्ञानिक सीमाओं" के स्थायित्व के लिए महत्वपूर्ण था, अपितु यह भी एक सत्यता थी कि यह मार्ग भारत को उस बड़े सिल्क मार्ग (silk route) से जोड़ता था, जो चीन से मध्य एशिया एवं ईरान होकर गुजरता था। लेकिन मध्य एवं पश्चिम एशिया में होने वाले परिवर्तनों के कारण

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

नव-स्थापित तुर्की राज्य इस कार्य को न कर सका। मंगोल आक्रमणों के कारण उत्पन्न स्थिति ने दिल्ली के सुल्तानों के प्रसार को चिनाब नदी तक ही सीमित रखा, जबकि सतलज का क्षेत्र संघर्षों का मुख्य केन्द्र बन गया। इस तरह, सिंधु नदी भारत की मात्र एक "सांस्कृतिक सीमा" बनकर ही रह गई और सभी व्यावहारिक उद्देश्यों के लिए नियंत्रण रेखा केवल सिंधु नदी के पश्चिम तक ही सीमित थी।

प्रो. के.ए. निज़ामी ने सल्तनत द्वारा मंगोल खतरे की ओर अपनाए गए दृष्टिकोण को तीन भागों में बांटा है : (i) अलगाववाद, (ii) तुष्टिकरण, और (iii) विरोध।

इल्तुतमिश ने "अलगाववादी" नीति का अनुसरण किया। दिल्ली के सुल्तानों को मंगोलों के खतरे का सामना तभी से करना पड़ा जब सन् 1221 ई० में मंगोलों ने ख्वारिज़्म साम्राज्य का अंत कर दिया और चंगेज़ खाँ राजकुमार जलालुद्दीन मंगबर्नी का पीछा करते हुए भारत की सीमाओं पर आ पहुँचा था। जलालुद्दीन को जब कोई विकल्प दिखाई नहीं पड़ा, तब उसने सिंधु नदी को पार किया और सिंधु के पूर्वी क्षेत्र में घुस गया। इल्तुतमिश मंगोलों को, भारत की सीमा तक पहुंच जाने के कारण, नज़रअंदाज नहीं कर सकता था। लेकिन उसके लिए सिंधु क्षेत्र में मंगबर्नी की उपस्थिति भी समान रूप से महत्वपूर्ण थी। सुल्तान को भय था कि कुबाचा तथा खोखर मंगबर्नी के साथ मिलकर कहीं गठजोड़ न कर ले। लेकिन राजनीतिक सत्ता के लिए कुबाचा एवं मंगबर्नी के मध्य गठबंधन नहीं हो सका, बल्कि वे सत्ता के लिए आपस में ही भिड़ गए। परन्तु इसी बीच उसने खोखरों से वैवाहिक संबंध स्थापित करने में सफलता प्राप्त की। इससे उत्तर-पश्चिम में मंगबर्नी की स्थिति और मज़बूत हो गई। अता मलिक ने अपनी पुस्तक **तारीख-ए-जहाँगुशा** में लिखा है कि इल्तुतमिश ने मंगबर्नी की उपस्थिति से उस खतरे का अनुमान कर लिया था, जिसके अनुसार "वह उसके ऊपर अपनी सत्ता को स्थापित कर उसको नष्ट कर सकता था।" इसके अतिरिक्त इल्तुतमिश भली-भाँति सल्तनत की कमज़ोरियों से भी परिचित था। इन्हीं कारणों से बाध्य होकर इल्तुतमिश ने "अलगाव" की नीति का अनुसरण किया।

ऐसा प्रतीत होता है कि चंगेज़ खाँ ने अपने दूत को इल्तुतमिश के दरबार में भेजा था। सुल्तान के विषय में स्पष्ट रूप से कुछ कह पाना कठिन है, लेकिन इतना निश्चित है कि जब तक चंगेज़ खाँ जीवित रहा (मृत्यु 1227 ई०), तब तक इल्तुतमिश ने उत्तर-पश्चिम की ओर कोई अभियान नहीं भेजा। यह संभव हो सकता है कि दोनों के मध्य एक-दूसरे पर आक्रमण न करने का कोई समझौता हुआ हो। इल्तुतमिश ने कूटनीतिक तरीके से ख्वारिज़्म राजकुमार के साथ राजनीतिक गठबंधन करने की अवहेलना की। ख्वारिज़्म राजकुमार ने आइन-उल मुल्क को इल्तुतमिश के दरबार में अपने राजदूत के रूप में इस प्रार्थना के साथ भेजा कि वह उसको राजनीतिक शरण दे। किन्तु इल्तुतमिश ने यह कहते हुए इंकार कर दिया कि ठहरने के लिए अनुकूल वातावरण नहीं है। दूसरे, उसने उसके दूत का वध करा दिया। मिन्हाज सिराज उल्लेख करता है कि इल्तुतमिश ने मंगबर्नी के विरुद्ध सैनिक अभियान भेजा। किन्तु मंगबर्नी ने किसी तरह से युद्ध को टाल दिया और वह सन् 1224 ई० में अंततः भारतीय भूमि को छोड़ गया।

इल्तुतमिश की "अलगाववाद" की नीति में परिवर्तन, "तुष्टीकरण" की नीति की ओर बदलाव, उस समय हुआ जबकि सल्तनत की सीमाओं को लाहौर एवं मुल्तान तक बढ़ा दिया गया। इस नीति के कारण मंगोल आक्रमणों के सम्मुख सल्तनत प्रत्यक्ष तौर पर आ गई क्योंकि अब दोनों के मध्य कोई मध्यवर्ती राज्य न रहा था। बमियान के हसन करलग ने रजिया सुल्तान के सम्मुख मंगोल विरोधी गठबंधन बनाने का प्रस्ताव रखा, किन्तु उसने इस प्रस्ताव को मानने से इंकार कर दिया। इससे स्पष्ट है कि उसने मंगोलों के प्रति "तुष्टीकरण" की नीति का अनुसरण किया। हमको इस तथ्य को भी ध्यान में रखना चाहिए कि इस नीति का अनुसरण चंगेज़ खाँ के पुत्रों के बीच साम्राज्य के बंटवारे के कारण किया गया, जिससे कि उनकी शक्ति कमज़ोर हो गई। दूसरा कारण यह भी था कि उस समय मंगोल पश्चिम एशिया में व्यस्त थे।

चाहे कोई भी कारण रहे हों, किन्तु 1240-1266 ई० के मध्य मंगोलों ने प्रथम बार भारत पर अधिकार करने की नीति का अनुसरण किया और दिल्ली के साथ एक-दूसरे पर "आक्रमण न करने के समझौते के" स्वर्णिम युग का अंत हो गया। इस दौरान सल्तनत को मंगोलों से गंभीर खतरा बना रहा। इसका मुख्य कारण मध्य एशिया में होने वाला परिवर्तन था। ट्रांस ऑक्सियाना के मंगोल खाँ के लिए शक्तिशाली ईरानी शासन, मंगोल खानेत, का सामना करना कठिन था। इसलिए उसने अपने भाग्य को परखने के लिए भारत की ओर कूच किया।

सन् 1241 ई० में तैर बहादुर ने लाहौर पर आक्रमण किया और नगर को पूर्ण रूप से नष्ट कर दिया। इसी के साथ सन् 1245 ई० एवं 1246 ई० में दो और आक्रमण किए गए। नासिरुद्दीन के शासन काल में बलबन द्वारा किए गए विशेष प्रयासों के बावजूद सन् 1241-66 ई० के बीच

सल्तनत की सीमाएँ सिमट कर ब्यास नदी तक रह गईं। इसके बावजूद भी कुछ समय तक ''तुष्टीकरण की नीति जारी रही। सन् 1206 में हलागू के दूत का दिल्ली में उचित सम्मान किया गया और इसी तरह के कूटनीतिक सम्मान का परिचय हलागू ने भी दिया।

दिल्ली सल्तनत की नीति में विशेष परिवर्तन बलबन के सत्तासीन होने के बाद ही हुआ। कुल मिलाकर यह ''विरोध'' का समय था। बलबन अधिकतर समय दिल्ली में ही रहा उसकी मुख्य ताकत मंगोलों को रोके रहने में ही लगी रही और उसने उनको ब्यास नदी से दूर रखने में सफलता भी प्राप्त की। बर्नी ने लिखा है कि तामीर खाँ तथा आदिल खाँ जैसे कुलीनों ने बलबन को मालवां एवं गुजरात पर आक्रमण करने का सुझाव दिया और उसे प्रसारवादी नीति का अनुसरण करने की सलाह दी। किन्तु बलबन ने उत्तर दिया :

> ''जबकि मंगोलों ने इस्लाम की संपूर्ण भूमि पर अधिकार कर लिया है, लाहौर को नष्ट कर दिया है और इसे आधार बनाकर प्रत्येक वर्ष हमारे देश पर आक्रमण करते हैं.......... तब मैं अपनी राजधानी को कैसे छोड़ सकता हूँ। मंगोल निश्चय ही इस अवसर का लाभ उठाते हुए दिल्ली पर अधिकार कर लेंगे और दोआब को रौंद डालेंगे। अपने ही राज्य में शाँति बनाए रखना और अपनी शक्ति सुदृढ़ करना दूसरे देशों के क्षेत्रों पर आक्रमण करने से कहीं बेहतर है, जबकि अपना स्वयं का राज्य असुरक्षित हो।''

बलबन ने मंगोलों के विरुद्ध ''बल एवं कूटनीति'' दोनों का उपयोग किया। उसने अपनी सुरक्षा रेखा को मजबूत करने के प्रयत्न किए। ब्यास नदी के पार मंगोलों के विस्तार को रोकने के लिए भटिण्डा, सुनाम, तथा समाना के किलों की मरम्मत कराई। बलबन ने मुल्तान एवं उच्छ पर अधिकार करने में भी सफलता प्राप्त की, किन्तु पंजाब में उसकी सेनाओं पर मंगोलों का भारी दबाव बना रहा। बलबन के पुत्र राजकुमार मौहम्मद को प्रत्येक वर्ष मंगोलों के विरुद्ध सैनिक अभियान भेजने पड़ते थे। मंगोलों से मुल्तान की ही रक्षा करते हुए सन् 1285 ई० में राजकुमार की मृत्यु हुई। परन्तु एक वास्तविकता यह भी थी कि सन् 1295 ई० तक मंगोलों ने दिल्ली पर अधिकार करने के प्रति कोई विशेष उत्सुकता नहीं दिखाई।

खलजियों के शासनकाल में मंगोल आक्रमणों का क्षेत्र और आगे की ओर बढ़ गया। सन् 1299 ई० में मंगोलों ने कुतलग ख्वाजा के नेतृत्व में प्रथम बार दिल्ली पर आक्रमण किया। तब से दिल्ली मंगोल आक्रमणों का एक स्थायी लक्ष्य बन गई। दूसरी बार कुतलग ख्वाजा ने दिल्ली पर उस समय आक्रमण किया जब अलाउद्दीन चित्तौड़ के अभियान में व्यस्त था। यह आक्रमण इतना भयंकर था कि मंगोलों ने दिल्ली में व्यापक स्तर पर सर्वनाश किया। दिल्ली में उनके रहते अलाउद्दीन खलजी नगर में प्रवेश करने का प्रयास न कर सका।

मंगोलों के लगातार होने वाले आक्रमणों ने अलाउद्दीन को स्थायी समाधान ढूँढने के लिए बाध्य किया। उसने व्यापक स्तर पर सैनिकों की भर्ती की और सीमावर्ती किलों को मज़बूत किया। फलस्वरूप मंगोलों को पहले सन् 1306 ई० में तथा फिर 1308 ई० में पराजय का सामना करना पड़ा। मंगोलों की इस पराजय का एक कारण 1306 ई० में मंगोल सरदार दावा खाँ की मृत्यु और उसकी मृत्यु के बाद वहाँ गृह युद्ध का शुरू हो जाना भी था। इससे मंगोल बहुत अधिक कमजोर पड़ गए और अब उनका अस्तित्व एक शक्ति के रूप में समाप्त हो गया। इससे दिल्ली के सुल्तानों को अपनी सल्तनत की सीमाओं का प्रसार करने में सहायता मिली। मंगोलों का अंतिम महत्वपूर्ण आक्रमण तरमाशिरीन के नेतृत्व में मौहम्मद तुगलक के शासन काल में हुआ।

इस तरह दिल्ली के सुल्तान मंगोल समस्या का समाधान करने में सफल रहे और मंगोलों से अपने राज्य को बचाए रखने में सफलता प्राप्त की। इससे सल्तनत की शक्ति भी स्पष्ट होती है। इसके अतिरिक्त, मंगोलों द्वारा मध्य एवं पश्चिमी एशिया में किए गए सर्वनाश के कारण बड़ी संख्या में विद्वान, दार्शनिक, कलाकार एवं अन्य लोग भाग कर दिल्ली आ गए और उन्होंने इसको मुस्लिम संस्कृति के एक महान् नगर के रूप में रूपांतरित कर दिया।

MAADHYAM IAS

14.8 भारत में तुर्की विजय के राजनीतिक परिणाम

भारत की तुर्की विजय के कारण भारत की राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियों में दूरगामी परिवर्तन हुए।

उनकी विजय का पहला बड़ा परिणाम यह हुआ कि सामंतीय एवं बहु-केन्द्रित राजनीति का स्थान

प्राप्त थे। "सल्तनत" जिसका हम इकाई 16 में वर्णन करेंगे, उसमें इसके इसी स्वरूप को अभिव्यक्त किया गया है।

जिस मुख्य संस्था के कारण सल्तनत संभव हो सकी, वह **इक्ता** व्यवस्था थी। इस व्यवस्था के अनुसार, राजस्व अनुदान हस्तांतरित किए जाते थे। इस संस्था को सैलजुकों ने अपने अब्बासी शासन क्षेत्रों में अपनाया था, जिसमें उन्होंने अपनी आवश्यकतानुसार परिवर्तन किए। आप खंड 5 तथा 6 में **इक्ता** के इतिहास के बारे में विस्तृत रूप से अध्ययन करेंगे। यहाँ पर हम इसकी मुख्य विशेषताओं का उल्लेख करेंगे, जिससे कि आप यह चित्रण कर पाएँ कि कैसे इसने भिन्न प्रकार की राजनीतिक प्रणाली को आधार उपलब्ध कराया। इस व्यवस्था के अंतर्गत राजा के अधिकारियों को राजस्व एकत्रित करने तथा सेना एवं अश्वरोहियों के रख-रखाव के लिए भू-क्षेत्र अनुदान दिए जाते थे। इन अधिकारियों को **मुक्ती** कहा जाता था। तुर्कों से पूर्व भूमि-अनुदान प्राप्तकर्ताओं को स्थायी **मालिकाना** अधिकार प्राप्त थे, किन्तु **इक्ता** के अंतर्गत इनका स्थानांतरण होता रहता था और एक विशेष स्थान पर साधारणतया वे तीन या चार वर्ष तक ही रहते थे।

अगर संपूर्ण सल्तनत के दृष्टिकोण से देखें तो मालूम पड़ता है कि यह व्यवस्था अनुदान प्राप्तकर्त्ता को केन्द्रीय सत्ता पर काफी हद तक निर्भर बना देती थी किन्तु परवर्ती राजनीतिक प्रणालियों में यह संभव नहीं था। जहाँ एक ओर **राजा**, **राणा** एवं **ठाकुर**, देश की एकता बनाए रखने में असफल रहे, वहीं पर तुर्कों ने "अखिल भारतीय स्तर के प्रशासन" की स्थापना करने में सफलता प्राप्त की और ऐसा उन्होंने दिल्ली की सरकार के नियंत्रण में मुख्य नगरों एवं बड़े व्यापारिक मार्गों को लाकर किया।

इक्ता व्यवस्था ने जहाँ एक ओर निरंकुश राज्य के लिए आधार उपलब्ध कराया, वहीं यह कृषि के अतिरिक्त उत्पाद को एकत्रित करने का एक साधन भी बन गया। तुर्क अपने साथ नगरों में रहने की परम्परा को लेकर आए थे। इसका परिणाम यह हुआ कि देश के ग्रामीण अंचलों से अतिरिक्त उत्पाद भू-करों के रूप में नगरों में पहुंचने लगा। इससे पर्याप्त मात्रा में शहरी अर्थव्यवस्था में वृद्धि हुई। तुर्क अपने साथ **रहट** एवं **चरखे** को लेकर आए। **रहट** से कृषि उत्पादन बढ़ाने में काफी सहायता मिली (विस्तृत जानकारी के लिए खंड 6 की इकाई 22 को पढ़िए)।

बोध प्रश्न 4

1) मंगोलों के आक्रमणों का सामना करने के लिए दिल्ली के सुल्तानों ने **अलगाववाद**, **तुष्टीकरण** तथा **विरोध** – तीन शस्त्रों का अनुसरण किया। व्याख्या कीजिए।

....

....

....

....

....

2) कॉलम ब को कॉलम अ से मिलाइये :

I)

अ	ब
फख मुदब्बिर	तारीख-ए-फिरोज़शाही
अता मलिक जुवैनी	तबकात-ए नासिरी
मिन्हाज सिराज	आदाब-उल हर्ब व अल शुजात
ज़ियाउद्दीन बर्नी	तारीख-ए जहाँगुशा

II)

अ	ब
चंगेज़ खाँ की मृत्यु	1241 ई०
जलालुद्दीन मंगबर्नी का वापस लौटना	1260 ई०
हलागू द्वारा अपने दूत को दिल्ली भेजना	1227 ई०
तैर बहादुर का आक्रमण	1224 ई०

3) तुर्कों की भारत विजय के राजनीतिक परिणामों की विवेचना कीजिए।

....

....

....

....

14.9 सारांश

इस इकाई का प्रारंभ तुर्की आक्रमण के समय भारत की राजनीतिक स्थिति से होता है। उस समय भारत एक एकीकृत राजनीतिक इकाई न था, बल्कि अनेक राज्यों में विभाजित था और इन राज्यों पर स्वतंत्र रूप से राजाओं एवं सरदारों द्वारा शासन किया जाता था। मौहम्मद गौरी ने इन राज्यों को अपने अधीन करने का प्रयास किया और इस प्रयास की अंतिम परिणति तराइन के मैदान में पृथ्वीराज चौहान की पराजय के रूप में हुई। इस घटना ने भारत में तुर्क शासन की नींव रखी। मौहम्मद गौरी के प्रस्थान करने के बाद उसका सेनापति कुतुबुद्दीन ऐबक भारत में तुर्क शक्ति की स्थापना के कार्य में जुट गया। इस प्रक्रिया के दौरान उसने यल्दूज़, और उन मुइज़ी दासों का दमन किया, जिन्होंने भारत में मुइज़ी शासन पर अपना दावा पेश किया। लेकिन वह कुबाचा का दमन करने में असफल रहा। यह कार्य इल्तुतमिश के लिए छोड़ दिया गया। इल्तुतमिश ने न केवल मुइज़ी साम्राज्य का प्रसार किया अपितु उसने 'चालीस के गुट' के नाम से प्रसिद्ध कुलीनों की मदद से प्रशासनिक तंत्र को संगठित एवं मजबूत बनाया। उसने कुछ सासानिद (Sasanid) संस्थाओं जैसे **इक्ता** को लागू किया। इससे प्रशासन को केंद्रीकृत करने में सहायता मिली। इस इकाई में उन कारकों का भी उल्लेख किया गया है, जो मुख्य रूप से तुर्कों की सफलता के लिए उत्तरदायी थे तथा इसके परिणामों का भी उल्लेख किया गया है। तुर्कों की सफलता का मुख्य कारण उनकी सर्वोच्च सैन्य तकनीक थी। दूसरी ओर, भारतीय सेना की यह विशेषता थी कि वह मुख्यतः "सामंतीय सैन्य भर्ती" पर आधारित थी। तुर्कों की विजय मात्र एक वंश द्वारा दूसरे वंश का स्थानांतरण ही नहीं था बल्कि इस विजय ने भारतीय राजनीति, समाज एवं अर्थव्यवस्था पर दूरगामी प्रभाव डाले। इन पक्षों का विस्तृत रूप से अध्ययन आप खंड 5 से खंड 8 में करेंगे।

14.10 शब्दावली

MAADHYAM IAS

बन्दगान-ए शम्सी तुर्कान-ए चिहिलगानी : इल्तुतमिश का तुर्की अधिकारी वर्ग (जो 'चालीस के समूह' के नाम से जाना जाता है)।

बर्बर : मध्य एशिया का एक कबीला।

रहट : पानी खींचने का वह यंत्र जिससे गहराई से पानी खींचा जा सकता है (अधिक विस्तार के लिए खंड 6 देखिए)

चरखा : रूई की कताई का एक यंत्र, जिसमें छः तकलियाँ लगी थीं और जिसे हत्थे की सहायता से घुमाया जाता था।

14.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) देखिए भाग 14.3

2) देखिए भाग 14.3

बोध प्रश्न 2

1) I) 1194, 1192, 1193, 1195-96, 1198-99

II) कन्नौज, अजमेर, दिल्ली, गुजरात, बुन्देलखण्ड

2) देखिए भाग 14.5

बोध प्रश्न 3

1) देखिए भाग 14.6

2) देखिए भाग 14.6

बोध प्रश्न 4

1) देखिए भाग 14.7

2) I) आदाब-उल हर्ब वा अल शुजात, तारीख-ए जहाँगुशा, तबाकत-ए नासिरी, तारीख-ए फिरोज़शाही

(II) 1227, 1224, 1260, 1241

3) देखिए भाग 14.8

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

इकाई 15 क्षेत्रीय प्रसार

इकाई की रूपरेखा

15.0 उद्देश्य
15.1 प्रस्तावना
15.2 ख़लजी शासन का प्रसार
  15.2.1 पश्चिम तथा मध्य भारत
  15.2.2 उत्तर-पश्चिम तथा उत्तर भारत
  15.2.3 दक्खन एवं दक्षिण की ओर प्रसार
15.3 तुगलक शासन का प्रसार
  15.3.1 दक्षिण भारत
  15.3.2 पूर्वी भारत
  15.3.3 उत्तर-पश्चिम तथा उत्तर
15.4 सारांश
15.5 बोध प्रश्नों के उत्तर

15.0 उद्देश्य

आप इकाई 14 में पढ़ चुके हैं कि दिल्ली सल्तनत के शासकों ने सैनिक विजय प्राप्त करने के पश्चात् सल्तनत को सुदृढ़ता प्रदान करने का प्रयास किया। अतः दिल्ली सल्तनत के शासन काल के प्रारम्भिक सौ वर्षों में, विजित किये गये प्रदेशों के क्षेत्रीय प्रसार में कोई विशेष वृद्धि नहीं हुई। सल्तनत को स्थायित्व प्रदान करने के पश्चात् ही 14वीं सदी ई० में सल्तनत की सीमाओं का प्रसार करने की ओर ध्यान केन्द्रित किया गया। इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आपको :

- दिल्ली सल्तनत की सीमाओं में 14वीं सदी ई० में उत्तर, उत्तर-पश्चिम तथा उत्तर-पूर्व में होने वाले प्रसार का ज्ञान प्राप्त हो सकेगा, और
- दक्षिण भारत की ओर होने वाले प्रसार की जानकारी होगी।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

15.1 प्रस्तावना

13वीं सदी के मध्य में तुर्की सुल्तानों द्वारा प्रारम्भिक विस्तार करने की लहर के शान्त हो जाने के पश्चात् बाद के सुल्तानों का मुख्य उद्देश्य सल्तनत को दृढ़ता प्रदान करना था। अतः खलजी वंश की स्थापना तक सल्तनत की प्रारम्भिक सीमाओं में कोई उल्लेखनीय वृद्धि नहीं हो पायी। 13वीं सदी ई० के अन्त में तुर्की शासन का खलजी वंश द्वारा तख़्त पलट दिया गया। इससे शासक वर्ग के जातीय चरित्र में काफी बदलाव आया। यह एक अति महत्वपूर्ण घटना थी। सल्तनत की उन्मुक्त नीति और सल्तनत के मामलों का प्रबन्ध करने के लिये विभिन्न प्रकार के शासक समूहों की भूमिका के फलस्वरूप क्षेत्रीय प्रसार करना सम्भव हो सका। जलालुद्दीन फिरोज़ खलजी द्वारा सत्ता प्राप्त करने के बाद झाइन एवं रणथम्भौर में हुई लूटमार ने यह सिद्ध कर दिया कि क्षेत्रीय प्रसार एक राजनैतिक आवश्यकता थी। पड़ोसी राज्य शक्तिशाली हो गये थे और उनके द्वारा किया गया कोई भी संगठित प्रयत्न दिल्ली सल्तनत के लिये महंगा साबित हो सकता था। इसके अतिरिक्त अलाउद्दीन खलजी के शासन काल में जहाँ एक ओर इन हमलों का कारण क्षेत्रीय प्रसार था वहीं धन एकत्रित करने का लालच भी इसके साथ मिश्रित हो गया। 14वीं सदी ई० के प्रारम्भ में इन दोनों कारकों ने क्षेत्रीय प्रसार की गति को सुनिश्चित किया।

15.2 खलजी शासन का प्रसार

क्षेत्रीय प्रसार के कार्यक्रम को कार्यान्वित करने के लिए प्रथम खलजी सुल्तान जलालुद्दीन के पास न तो इच्छा शक्ति थी और न ही संसाधन। उसके छः वर्ष के शासन को सुल्तान की नीतियों तथा उसके समर्थकों के स्वार्थों के बीच सामंजस्य बनाये रखने के आन्तरिक विरोधाभासों ने मानों

जकड़ लिया था। दुर्भाग्यवश समस्या का समाधान सुल्तान जलालुद्दीन की हत्या के रूप में हुआ। अलाउद्दीन, जलालुद्दीन का हत्यारा एवं उत्तराधिकारी, की साम्राज्य प्रसार की भिन्न योजना थी। वह क्षेत्रीय अधिग्रहण तथा सल्तनत के प्रसार के उस युग का अग्रदूत था, जिसके शासन काल के दौरान, 14वीं सदी ई० के मध्य तक, सल्तनत की सीमायें दक्षिणी प्रायद्वीप के अन्तिम छोर तक फैल गईं।

15.2.1 पश्चिम तथा मध्य भारत

अलाउद्दीन खलजी ने दिल्ली में अपनी स्थिति को सुदृढ़ तथा स्वयं को मजबूती से स्थापित करने के बाद सन् 1299 ई० में गुजरात प्रदेश में अपने प्रथम सैनिक अभियान का प्रारम्भ किया। उसके अधीन यह प्रथम क्षेत्रीय प्रसार भी था। इसी के साथ-साथ शायद गुजरात, जिसके सम्पन्न व्यापार ने सदैव ही आक्रमणकारियों को ललचाया था, की सम्पन्नता की ओर भी अलाउद्दीन आकर्षित हुआ।

शाही सेना का नेतृत्व संयुक्त रूप से अलाउद्दीन के दो सर्वश्रेष्ठ सेनापतियों उलुग खान एवं नुसरत खान के अधीन था। गुजरात को सरलता के साथ जीत लिया गया। प्रदेश को लूटा गया। राजधानी अन्हिलवाड़ा को नष्ट कर दिया गया। गुजरात का प्रशासनिक नियन्त्रण अल्प खान को गवर्नर के रूप में सौंप दिया गया।

साम्राज्य का पश्चिम की ओर प्रसार तथा उस पर नियन्त्रण करने के लिये अलाउद्दीन ने सन् 1305 ई० में मालवा को अपने अधीन कर लिया। यह एक विशाल प्रदेश था। इस राज्य की राजधानी माण्डू से राजा राय महालक देव अपने एक शक्तिशाली मन्त्री कोका प्रधान की सहायता से शासन करता था। राय की सेना शाही सेना से संख्या में कहीं अधिक थी लेकिन शाही सेना ने अन्ततः सफलता प्राप्त कर ली और माण्डू के किले पर अधिकार कर लिया गया। मालवा के पतन के बाद, प्रशासन के लिये उसको आइन उल मुल्क को सौंप दिया गया और उसने शीघ्र ही उज्जैन, धार तथा चन्देरी को अपने नियन्त्रण में ले लिया।

मालवा का अनुसरण करते हुए सिवाना, जो जोधपुर से दक्षिण पश्चिम की ओर लगभग 80 किलोमीटर की दूरी पर स्थित था, पर आक्रमण किया गया। अलाउद्दीन की सेना ने सन् 1304-05 से लगभग छः वर्षों तक सिवाना पर बिना कोई विशेष सफलता प्राप्त किये घेराव डाले रखा। किले पर अन्ततः 1309 ई० में अधिकार कर लिया गया। सिवाना का शासक राय शीतल देव सैनिक अभियान के दौरान मारा गया। किले तथा प्रदेश को कमालुद्दीन गुर्ग के नियन्त्रण में सौंप दिया गया।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

सन् 1305 ई० में ही जालौर पर आक्रमण किया गया। युद्ध में इसके शासक कन्हार देव का वध कर दिया गया। किले को सल्तनत में मिला लिया गया और कमालुद्दीन गुर्ग के नियन्त्रण में दे दिया गया।

15.2.2 उत्तर-पश्चिम तथा उत्तर भारत

अलाउद्दीन द्वारा सत्ता प्राप्त करने के बाद अलाउद्दीन को जलालुद्दीन के परिवार द्वारा, जो भागकर मुल्तान चले गये थे, सम्भावित विद्रोह के दमन की समस्या का सामना करना पड़ा। उलुग खान तथा जफर खान को मुल्तान में अरकली खान को समाप्त करने का कार्य सौंपा गया। अरकली खान को बंदी बना लिया गया और सुरक्षित रूप से दिल्ली लाया गया। मुल्तान एक बार फिर दिल्ली के नियन्त्रण में आ गया। मुल्तान अभियान किसी भी तरह से क्षेत्रीय प्रसार का कार्य न था, अपितु सुदृढ़ीकरण की नीति का ही एक भाग था।

सन् 1300 ई० में अलाउद्दीन ने रणथम्भौर पर आक्रमण करने के लिये उलुग खान को भेजा। इस समय रणथम्भौर का शासक राय हमीर था। उलुग खान के अभियान में अवध का गवर्नर नुसरत खान भी सम्मिलित हो गया। रणथम्भौर जाते हुए मार्ग में शाही सेनाओं ने झाइन पर अधिकार कर लिया। तत्पश्चात् रणथम्भौर के किले पर घेराव डाला, जिसका नेतृत्व अलाउद्दीन ने स्वयं अपने हाथ में लिया। यह घेराव लगभग छः माह तक चला। अन्ततः किले के अन्दर महिलाओं ने **जौहर** द्वारा अपनी जान दे दी और एक रात स्वयं राय हमीर देव ने किले के फाटकों को खोल दिया और लड़ते-लड़ते मारा गया।

इसी नीति का अनुसरण करते हुए अलाउद्दीन ने 1303 में चित्तौड़ पर भी आक्रमण किया।

कई आक्रमणों के बाद चित्तौड़ के राजा ने अचानक स्वयं सुल्तान के सम्मुख आत्मसमर्पण का प्रस्ताव प्रेषित किया; उत्तराधिकारी युवराज खिज्र खान को इस क्षेत्र का गवर्नर नियुक्त किया

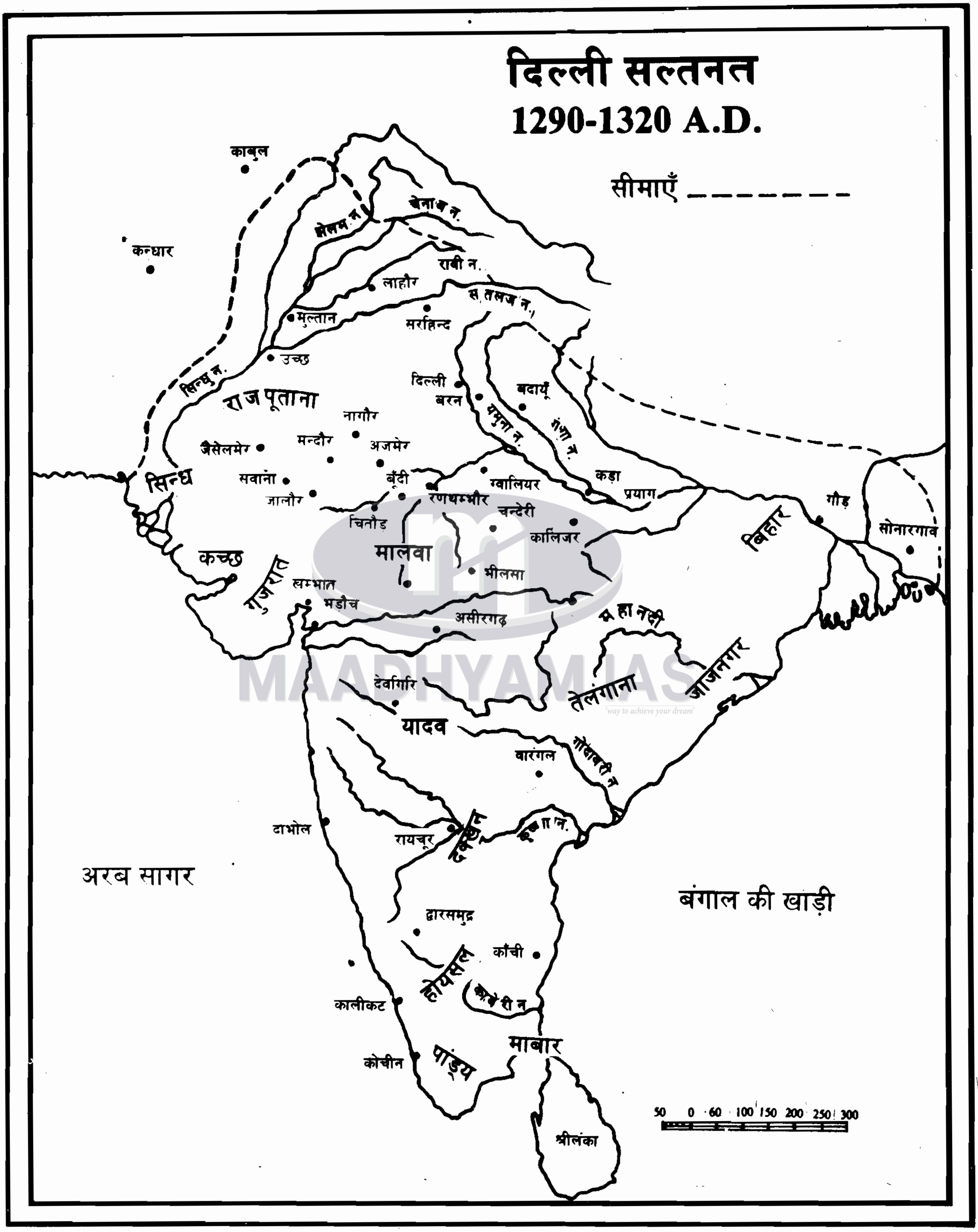

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

गया। लेकिन शीघ्र ही किले को चित्तौड़ के पूर्व शासक के भानजे मालदेव को सौंप दिया गया जो अलाउद्दीन के शासन के अन्त तक दिल्ली के प्रति वफादार बना रहा।

अलाउद्दीन के शासन के प्रथम दशक के अन्त में दिल्ली सल्तनत की सीमाओं का प्रसार लगभग सम्पूर्ण उत्तर, पश्चिम तथा मध्य भारत में हो चुका था। उत्तर-पश्चिम में मुल्तान से मध्य भारत में विन्ध्या पर्वत तक, और सम्पूर्ण राजपूताना का क्षेत्र दिल्ली सल्तनत के अधीन हो गया।

15.2.3 दक्खन एवं दक्षिण की ओर प्रसार

देवगिरी पहले ही 1296 ई० में जब अलाउद्दीन खलजी कड़ा का गवर्नर था उसकी लूट का शिकार हो चुका था। दक्खन में दूसरे सैनिक अभियान की योजना भी अलाउद्दीन ने सन् 1306-7ई० में राय रामचन्द्र देव के विरुद्ध ही बनाई। इस आक्रमण का तात्कालिक कारण देवगिरी द्वारा लंबे समय से दिल्ली को वार्षिक नज़राना न भेजना था।

दक्खन के सैनिक अभियान का नेतृत्व मलिक काफूर को सौंपा गया और इस अभियान में मदद करने के लिये आइन उल मुल्क मुल्तानी तथा अल्प खाँ को निर्देश भेजे गये। रामचन्द्र देव ने थोड़े से विरोध के पश्चात् व्यक्तिगत सुरक्षा का आश्वासन मिलने पर शाही सेनाओं के सम्मुख आत्मसमर्पण कर दिया। रामचन्द्र देव का सुल्तान द्वारा बहुत सम्मान किया गया और इस आश्वासन के साथ उसका शासन वापस लौटा दिया कि वह सुल्तान को वार्षिक नज़राना शीघ्रता के साथ लगातार भेजेगा। रामचन्द्र देव ने सुल्तान के साथ अपनी पुत्री का विवाह भी कर दिया। इससे स्पष्ट होता है कि अलाउद्दीन की नीति देवगिरी पर अधिकार करने की नहीं थी। वह इसको एक संरक्षित राज्य बनाना चाहता था और जितना सम्भव था उससे धन प्राप्त करना चाहता था।

मलिक काफूर द्वारा देवगिरी अभियान के कुशल संचालन से सुल्तान का उसकी सैनिक योग्यताओं में विश्वास बढ़ गया। सुल्तान ने दक्षिण प्रायद्वीप पर सैनिक आक्रमणों का उत्तरदायित्व उस पर सौंपने का निश्चय किया। ऐसा प्रतीत होता है कि अलाउद्दीन के दक्षिण अभियानों का मुख्य उद्देश्य दक्षिणी राज्यों से धन प्राप्त करना था न कि क्षेत्रीय प्रसार करना। अतः अक्तूबर 1309 ई० में मलिक काफूर के नेतृत्व में शाही सेना ने दक्षिण की ओर अपने अभियान का प्रारम्भ किया। अमीर खुसरो ने अपनी रचना **खजाय उल फुतूह** में इन सैनिक अभियानों का विशद् विवरण किया है। रास्ते में मलिक काफूर ने आदिलाबाद ज़िले में स्थित सीरपुर के किले पर अचानक आक्रमण किया। सीरपुर के कुलीनों ने भाग कर वारंगल के राय रुद्रदेव के पास शरण ली। शाही सेना ने सीरपुर के किले पर अधिकार कर लिया।

MAADHYAM IAS

जनवरी 1310 ई० के मध्य में शाही सेनायें वारंगल के समीप पहुंच गयीं।

14 फरवरी 1310 में काफूर ने किले पर आक्रमण किया। युद्ध का शीघ्र ही अन्त हो गया क्योंकि राय रुद्रदेव आत्मसमर्पण करने के लिए तैयार हो गया। उसने अपने कोष का एक भाग सुल्तान को देने का वचन दिया और वह वार्षिक नज़राना अदा करने के लिए भी सहमत हो गया।

सुल्तान की सेना ने वारंगल में शानदार सफलता प्राप्त की। शाही सेना ने 20,000 घोड़े, हाथी, सोने का अपार भण्डार और हीरे-जवाहरातों से लदे हज़ारों ऊंटों को लूट में प्राप्त किया। इस प्रांत का अधिग्रहण नहीं किया गया बल्कि उसे संरक्षित राज्य का दर्जा प्रदान किया गया; जून 1310 ई० के प्रारम्भ में शाही सेना दिल्ली वापस लौट आयी। सुल्तान की धन की लालसा की अब कोई सीमा न थी। मंगोलों के खतरों से उत्तर की सीमा के सुरक्षित हो जाने के फलस्वरूप और विन्ध्याचल के उत्तर तक का सम्पूर्ण भू-भाग उसके अधीन हो जाने के कारण उसने सुदूर दक्षिण की ओर दूसरा सैनिक अभियान भेजने की योजना बनायी।

राजा की दृष्टि अब वारंगल से और दक्षिण की ओर द्वारसमुद्र पर केन्द्रित थी। मलिक काफूर को एक बार फिर शाही सेना का नेतृत्व सौंपा गया। काफूर को लगभग 500 हाथी सहित सोने एवं जवाहरातों को प्राप्त करने का आदेश दिया गया था। फरवरी 1311 ई० में द्वारसमुद्र के किले पर शाही सेना ने घेराव डाला और दूसरे ही दिन द्वारसमुद्र के शासक बल्लाल देव की ओर से शांति स्थापित करने का प्रस्ताव आ गया। अन्य समझौतों की भांति द्वारसमुद्र के शासक ने भी अपार धन और वार्षिक नज़राना देने का वचन दिया।

द्वारसमुद्र की सफलता से उत्साहित होकर मलिक काफूर ने अपने सैनिक अभियान को आगे दक्षिण की ओर जारी रखा। वह माबार की ओर अग्रसर हुआ और एक माह से भी कम समय में ही पांड्यों की राजधानी मदुरा पहुंच गया। लेकिन पांड्य शासक सुंदर पहले ही भाग गया। मलिक काफूर ने राज्य के कोष एवं हाथियों पर अधिकार कर लिया जो मात्रा में कुल 512 हाथी, 5000 घोड़े तथा 500 मन अमूल्य हीरे-जवाहरात थे।

अलाउद्दीन के दक्खन एवं दक्षिण सैनिक अभियानों के दो मुख्य उद्देश्य थे (1) इन क्षेत्रों में दिल्ली के सुल्तान के प्रभुत्व को औपचारिक मान्यता प्रदान करना, और (2) कम से कम जीवन के नुक्सान पर अधिक से अधिक धन-सम्पदा एकत्रित करना। विजित किये गये क्षेत्रों का अधिग्रहण करने की बजाय विजित राज्यों द्वारा उसके सामन्तीय प्रभुत्व को स्वीकार करने की नीति अलाउद्दीन खलजी की राजनीतिक सर्वोच्चता को परिलक्षित करती है।

मलिक काफूर के माबार से लौटने के एक वर्ष के अन्दर ही दक्खन में होने वाली घटनाओं को लेकर अधिग्रहण न करने की नीति का पुर्नावलोकन करने की आवश्यकता महसूस हुई। 1312 ई० के उत्तरार्द्ध में देवगिरि के शासक राम देव की मृत्यु के बाद उसका पुत्र भील्लमा उत्तराधिकारी बना। भील्लमा ने दिल्ली के सुल्तान के प्रभुत्व को मानने से इंकार कर दिया और उसने स्वयं को स्वतंत्र शासक घोषित कर दिया। अलाउद्दीन ने मलिक काफूर को इस विद्रोह को कुचलने के लिये भेजा और प्रांत पर अस्थायी नियंत्रण करने का भी आदेश दिया। लेकिन मलिक काफूर को शीघ्र ही वापस बुला लिया गया और उसे आइन उल मुल्क को इस प्रांत का नियंत्रण सौंप देने का आदेश मिला। अलाउद्दीन की मृत्यु के बाद जनवरी 1316 ई० में आइन उल मुल्क को भी देवगिरी की समस्या को हल किये वगैर दिल्ली वापस बुला लिया गया। इस तरह से अलाउद्दीन का उत्तराधिकारी मुबारक खलजी सत्तासीन होने के तुरन्त बाद ही देवगिरी की ओर प्रस्थान करना चाहता था, लेकिन उसके कुलीन सलाहकारों ने उसको सलाह दी कि वह देवगिरी के अभियान पर न जाये और पहले दिल्ली में अपनी स्थिति को सुदृढ़ करे। मुबारक ने अपने शासन के दूसरे वर्ष में अप्रैल 1317 ई० में इस अभियान के लिये प्रस्थान किया। देवगिरी की ओर से कोई विरोध नहीं किया गया और मराठा सरदारों ने सुल्तानों के सम्मुख समर्पण कर दिया। इस प्रांत को सल्तनत के अधीन कर लिया गया।

बोध प्रश्न 1

1) निम्नलिखित दिये गये स्थानों में से उस स्थान की पहचान कीजिये जिसको अलाउद्दीन खलजी ने दिल्ली का सुल्तान बनने पर प्रथम बार विजित किया।

अ) देवगिरी

ब) मालवा

स) गुजरात

द) माबर

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

2) निम्नलिखित स्थानों में से किन-किन प्रदेशों को अलाउद्दीन खलजी द्वारा सल्तनत में मिला लिया गया था।

अ) वारंगल

ब) सिवाना

स) देवगिरी

द) जालौर

3) दक्खन एवं सुदूर दक्षिण के प्रति अलाउद्दीन की नीति की व्याख्या कीजिये।

....

....

....

....

....

4) नीचे उल्लेखित नामों की सूची में से देवगिरी का सल्तनत के साथ अधिग्रहण करने के बाद किसको प्रथम गवर्नर बनाया गया था।

अ) राय रामचन्द्र देव

ब) मलिक काफूर

स) मुबारक खलजी

द) खुसरो खान

15.3 तुगलक शासन का प्रसार

तुगलक वंश दिल्ली में जिस समय सत्ता में आया (गियासुद्दीन तुगलक ने 1320 ई० में दिल्ली के सिंहासन को प्राप्त किया) उस समय सल्तनत राजनीतिक अस्थिरता से त्रस्त थी। नये शासक द्वारा तुरन्त ध्यान दिये जाने की आवश्यकता थी। दूर-दराज के प्रांतों ने अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी थी। सल्तनत का प्रभावशाली नियन्त्रण केवल केन्द्रीय भू-भाग तक ही सिमट कर रह गया था। प्रशासनिक तन्त्र पूर्णतः पंगु हो चुका था। यह स्वाभाविक ही था कि गियासुद्दीन ने अपना ध्यान आर्थिक एवं प्रशासनिक स्थिति को सुधारने की ओर केन्द्रित किया। लेकिन शीघ्र ही साम्राज्य के बाहय प्रांतों में प्रतिष्ठा एवं प्रभुत्व को पुनर्स्थापित करने का प्रश्न पैदा हो गया।

15.3.1 दक्षिण भारत

दक्षिण में राजनीतिक स्थिति किसी भी तरह से संतोषजनक न थी। अलाउद्दीन के प्रभुत्व को स्वीकार करने और दक्षिण के शासकों द्वारा वफादारी का वचन नाममात्र के लिए ही था। देवगिरी और तेलंगाना के प्रांतों में शाही प्रभुत्व को पुनर्स्थापित करने के लिए नये सैनिक अभियानों की निश्चय ही आवश्यकता थी। जैसा कि आपने ऊपर पढ़ा कि देवगिरी को मुबारक खलजी द्वारा पहले ही सल्तनत के अधीन कर लिया गया था। लेकिन देवगिरी के पार के दक्षिणी राज्यों ने सल्तनत सत्ता के बचे अवशेषों को भी उखाड़ फेंका था। इसलिए तेलंगाना क्षेत्र पर सुल्तान गियासुद्दीन ने तत्काल अपना ध्यान केन्द्रित किया।

सन् 1321 ई० में उलुग खाँ (बाद में मौहम्मद तुगलक के नाम से जाना गया) ने एक विशाल सेना के साथ दक्षिण के लिये प्रस्थान किया। मार्ग में बिना किसी बड़ी बाधा के ही वह वारंगल पहुंच गया। दो सैनिक घिरावों के बाद—जो प्रत्येक चार या पाँच माह चले—वहाँ का शासक राय रुद्र अन्ततः समर्पण करने के लिये तैयार हो गया। लेकिन इस बार विद्रोही को क्षमा करने का कोई अवसर नहीं दिया गया। किले पर अधिकार कर लिया गया, लूटा गया और कुछ तोड़-फोड़ के कार्यों को किया गया। राय को गिरफ्तार कर सुरक्षित रूप से दिल्ली लाया गया। वारंगल का अधिग्रहण कर उसको सल्तनत के प्रत्यक्ष प्रशासन के अधीन कर लिया गया।

इसी नीति का अनुसरण करते हुए उलुग खाँ ने माबार को भी समर्पण करने के लिये बाध्य किया और यहाँ पर भी प्रत्यक्ष शाही प्रशासन स्थापित किया। इस तरह से तेलंगाना के क्षेत्र को दिल्ली सल्तनत का एक भाग बना दिया गया और उसको कई प्रशासनिक इकाइयों में विभाजित कर दिया। स्थानीय योग्य लोगों को प्रशासन में पर्याप्त स्थान दिया गया और पराजित लोगों के विरुद्ध दमन की नीति को समाप्त कर उनको क्षमा कर दिया गया।

15.3.2 पूर्वी भारत

पूर्वी भारत में किये गये सैनिक अभियान दक्षिण में होने वाले युद्धों का परिणाम थे। शाही सेना के वारंगल पर आक्रमण के समय उड़ीसा में स्थिति जाजनगर के शासक भानुदेव द्वितीय ने वारंगल नरेश रुद्र देव की सहायता की थी अतः सन् 1324 ई० के मध्य उलुग खाँ ने वारंगल से प्रस्थान करते हुए जाजनगर पर भी आक्रमण किया। दोनों के मध्य घमासान युद्ध हुआ और अन्ततः विजय उलुग खाँ की हुई। उसने शत्रु के पड़ाव को खूब लूटा और बहुत अधिक धन एकत्रित किया। जाजनगर को जीतकर उसको सल्तनत का एक अंग बना दिया गया।

पूर्वी भारत में बंगाल प्रांत सदैव से ही विद्रोहों का गढ़ रहा था। इस प्रांत के गवर्नर स्वयं को स्वतन्त्र करने का कोई भी अवसर नहीं जाने देते थे। लखनौती राज्य के स्वतन्त्र शासक फिरोज़ शाह की मृत्यु के बाद 1323-24 ई० में सिंहासन के लिये भाइयों के बीच युद्ध प्रारम्भ हो गया। लखनौती के कुछ कुलीन सहायता के लिये गियासुद्दीन के पास आये। गियासुद्दीन ने सहायता करने का वचन दिया और स्वयं बंगाल की ओर प्रस्थान किया। तिरहुत पहुंचने पर सुल्तान वहाँ पर ठहर गया और उसने बहराम खाँ को अन्य अधिकारियों के साथ लखनौती भेजा। विरोधी सेनाओं में परस्पर संघर्ष लखनौती के समीप हुआ। सुल्तान की सेनाओं ने सरलता से बंगाल की सेनाओं को पराजित कर दिया और कुछ दूरी तक उनका पीछा किया। नसीरुद्दीन के नेतृत्व में युद्धरत एक समूह को लखनौती में एक अधीनस्थ शासक के तौर पर नियुक्त कर दिया गया।

15.3.3 उत्तर-पश्चिम तथा उत्तर

अलाउद्दीन के मुल्तान अभियान से ही सुल्तान की पश्चिमी सीमाएँ स्थिर बनी रही थीं। सुल्तान दक्षिण एवं गुजरात के मामलों में ज्यादातर व्यस्त रहे। अंतः मौहम्मद तुगलक के सत्ता में आ

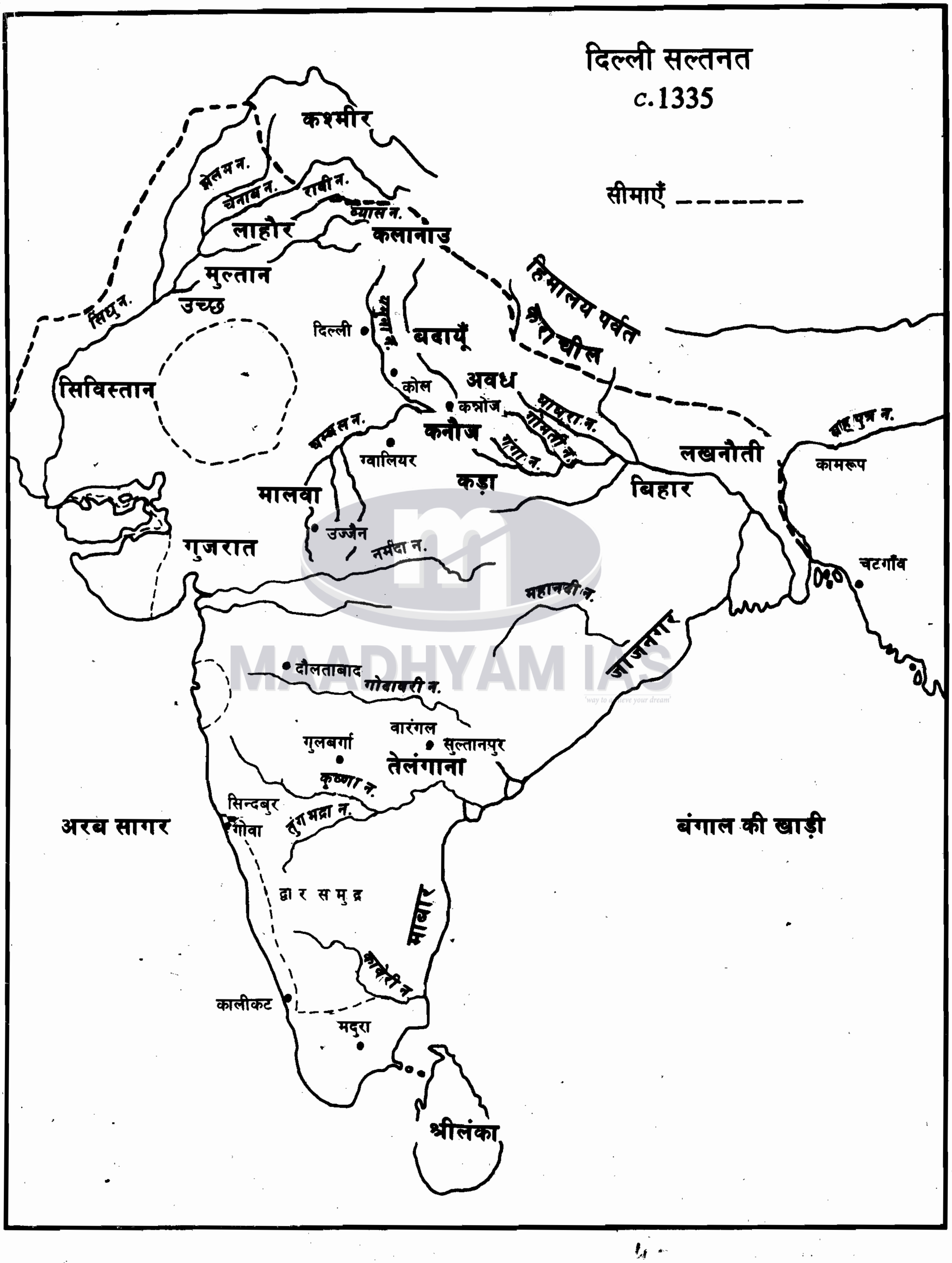

MAADHYAM IAS

जाने के बाद ही उत्तर-पश्चिम सीमा की ओर ध्यान केन्द्रित किया जा सका। सिंहासनारूढ़ होने के तुरन्त बाद मौहम्मद तुगलक ने कलानौर एवं पेशावर में सैनिक अभियान भेजे। संभवतः यह 1326-27 ई० में तरमाशिरीन खाँ के नेतृत्व में हुए मंगोल आक्रमणों का परिणाम था। इसलिये मौहम्मद तुगलक अपने इन अभियानों द्वारा भविष्य में मंगोलों के होने वाले आक्रमणों से उत्तर-पश्चिम सीमा को सुरक्षित करना चाहता था। सुल्तान कलानौर जाते समय स्वयं लाहौर में ठहरा लेकिन उसने अपनी सेना को कलानौर तथा पेशावर पर आक्रमण करने का आदेश दिया। इस कार्य को बिना किसी विशेष कठिनाई के पूरा कर लिया गया। सुल्तान ने इन नये विजित किये गये क्षेत्रों की प्रशासनिक व्यवस्था को दुरुस्त किया तत्पश्चात् वापस दिल्ली लौट आया।

लगभग 1332 ई० में सुल्तान मौहम्मद तुगलक ने कराचील क्षेत्र को विजित करने की योजना बनायी। इस क्षेत्र की पहचान हिमाचल प्रदेश के कांगड़ा जिले में स्थित आधुनिक कुल्लू से की जाती है। यह उत्तर तथा उत्तर-पश्चिम सीमा की किलेबन्दी करने की योजना का ही एक भाग था। इस उद्देश्य के लिये उसने खुसरो मलिक के नेतृत्व में एक विशाल सेना भेजी। सेना ने कराचील क्षेत्र के महत्वपूर्ण स्थान जिद्या पर अधिकार करने में सफलता प्राप्त की। सुल्तान का आदेश इस स्थान को विजित करने के पश्चात् वापस लौटने का था। लेकिन खुसरो मलिक ने अपने उत्साह में सुल्तान के आदेश को नहीं माना और वह तिब्बत की ओर आगे बढ़ गया। परन्तु शीघ्र ही वर्षा प्रारम्भ हो गई और सेना बीमारी और प्रकोपों का शिकार हो गई। यह विपत्ति इतनी भयंकर थी कि मात्र तीन जवान इस विपत्ति पूर्ण कहानी का विवरण देने के लिए जीवित वापिस आ सके। कराचील अभियान में संसाधनों का काफी नुकसान हुआ और इससे सुल्तान मौहम्मद तुगलक की प्रभुसत्ता को भी काफी ठेस पहुंची।

कराचील अभियान से कुछ समय पूर्व सुल्तान मौहम्मद तुगलक ने मध्य एशिया में स्थित खुरासान को अपने अधीन करने के लिए एक अति महत्वाकांक्षी योजना को प्रारम्भ किया। इस उद्देश्य के लिये 370,00 की एक विशाल सेना को भर्ती किया गया और सिपाहियों को एक वर्ष के वेतन का भुगतान पहले ही कर दिया गया। सेना के लिये मूल्यवान हथियारों को खरीदने के लिये काफी बड़ी मात्रा में धन खर्च किया गया। परन्तु अन्ततः इस योजना को यह कह कह छोड़ दिया गया कि यह अव्यावहारिक है। सेना को भी बर्खास्त कर दिया गया। इसके कारण न केवल गम्भीर वित्तीय हानि हुई बल्कि सुल्तान की प्रभुसत्ता को भी काफी गहरा धक्का लगा और इसके फलस्वरूप कई विद्रोह भी हुए जो दिल्ली सल्तनत के लिये अत्यधिक हानिकारक साबित हुए।

MAADHYAM IAS

बोध प्रश्न 2

1) दक्षिणी राज्यों का दिल्ली सल्तनत में कब अधिग्रहण किया गया?

   अ) अलाउद्दीन खलजी के शासन काल में

   ब) गियासुद्दीन तुगलक के शासन काल में

   स) मौहम्मद तुगलक के शासन काल में

2) मौहम्मद तुगलक ने निम्नलिखित में से कौन से सैनिक अभियान का परित्याग कर दिया था?

   अ) वारंगल

   ब) कराचील

   स) जाजनगर

   द) खुरासान

3) कराचील अभियान एक त्रासदी साबित क्यों हुआ?

   ....

   ....

   ....

4) निम्नलिखित में से कौन सा प्रदेश 1335 ई० में सल्तनत की पूर्वी सीमा को निर्धारित करता था

   अ) जाजनगर

   ब) पेशावर

   स) कलानौर

   द) मालवा।

15.4 सारांश

आप इकाई 14 में पढ़ चुके हैं कि इल्तुतमिश की सन् 1236 ई० में मृत्यु के बाद किस तरह से दिल्ली सल्तनत की सीमाओं का प्रसार रुक गया था। इसके बाद आधी शताब्दी तक दिल्ली के सुल्तानों के सभी प्रयास वित्तीय एवं प्रशासनिक सुधारों को मजबूती प्रदान कर प्रारंभिक क्षेत्रीय उपलब्धियों को सुदृढ़ करने की ओर थे। क्षेत्रीय प्रसार के दूसरे चरण का प्रारम्भ 14वीं सदी ई० के प्रारम्भ में खलजियों के अधीन ही हुआ। अलाउद्दीन के प्रशासनिक एवं वित्तीय उपायों ने जहाँ सल्तनत के सुदृढ़ीकरण में मदद की वहीं दूसरी ओर सल्तनत के आधार को भी विस्तृत किया। नये क्षेत्रों का अधिग्रहण एक वास्तविक स्वरूप को प्राप्त कर सका। तब भी हम यह देखते हैं कि अलाउद्दीन सल्तनत के केन्द्रीय स्थल से एक उचित दूरी तक ही बढ़ा और उसने सीधे अधिग्रहण किये गये क्षेत्रों पर सुल्तान के प्रभावशाली नियन्त्रण को स्थापित किया और इन क्षेत्रों को सल्तनत के प्रांत बना दिया गया। लेकिन दूर के प्रांतों पर दो कारणों से विजय प्राप्त की गई प्रथम उद्देश्य धन प्राप्त करना था और दूसरे उन राज्यों को प्रत्यक्ष तौर पर सल्तनत के अधीन न करके उनको संरक्षित राज्य का दर्जा प्रदान करना था। यह उन राज्यों के लिये विशेष रूप से सत्य था जिनको दक्खन एवं सुदूर दक्षिण में विजित किया गया था।

लेकिन मुबारक खलजी द्वारा देवगिरी के मामले में इस नीति में परिवर्तन किया गया। इसी नीति का अनुसरण गियासुद्दीन तुगलक ने वारंगल एवं माबार जैसे सुदूर दक्षिण में स्थित राज्यों के विषय में भी किया। इन राज्यों पर प्रभावकारी प्रशासन कायम करने के उद्देश्य से मौहम्मद तुगलक ने देवगिरी को सल्तनत की दूसरी प्रशासनिक राजधानी बनाया। लेकिन यह प्रयोग अल्पकालिक सिद्ध हुआ और इसकी असफलता का कारण सल्तनत के शासक एवं अन्य वर्गों की अनिच्छा का होना था। इन सबके बावजूद भी मौहम्मद तुगलक के शासन काल में सल्तनत की सीमाएँ अपने चर्मोत्कर्ष पर थीं, उत्तर-पश्चिम में पेशावर, दक्षिण में माबार, पश्चिम में गुजरात तथा पूर्व में उड़ीसा में जाजनगर तक फैली हुई थीं। यह भाग्य की विडम्बना ही है कि मौहम्मद तुगलक के शासन के अन्तिम वर्षों में ही सल्तनत की सीमाएँ लगभग 1296 ई० की सीमाओं तक सिकुड़ने लग गई थीं। इस पतन के कारणों पर खंड 5 की इकाई 18 में प्रकाश डाला जायेगा।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

15.5 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) (अ) × (ब) × (स) √
2) (अ) × (ब) √ (स) × (द) √
3) देखें उपभाग 15.2.3
4) (अ) × (ब) √ (स) × (द) ×

बोध प्रश्न 2

1) (अ) × (ब) √ (स) ×
2) (अ) × (ब) × (स) × (द) √
3) देखें उपभाग 15.3.3
4) (अ) √ (ब) × (स) × (द) ×

परिशिष्ट

दिल्ली सुल्तानों का तिथिक्रम (सन् 1206 ई०-सन् 1526 ई०)

इलबरी

1)	कुतुबुद्दीन ऐबक	1206-1210
2)	आरामशाह (केवल कुछ महीने)	1210
3)	इल्तुतमिश	1210-1236
4)	रज़िया	1236-1240
5)	बहराम शाह	1240-1242
6)	मसूद शाह	1242-1246
7)	नसीरुद्दीन	1246-1266
8)	गियासुद्दीन बल्बन	1266-1287
9)	कैकूबाद	1287-1290

खलजी

1)	जलालुद्दीन खलजी	1290-1296
2)	अलाउद्दीन खलजी	1296-1316
3)	कुतुबुद्दीन मुबारक	1316-1320

तुगलक

1)	गियासुद्दीन तुगलक	1320-1325
2)	मौहम्मद तुगलक	1325-1351
3)	फिरोज़ तुगलक	1351-1388
4)	तुगलक शाह II	1388-1390
5)	नसीरुद्दीन मौहम्मद शाह	1390-1394
6)	मौहम्मद शाह तुगलक	1394-1412

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

सैय्यद

1)	खिज़्र खां	1414*-1421
2)	मुबारक शाह	1421-1434
3)	मौहम्मद शाह	1434-1443
4)	अलाउद्दीन आलमशाह	1443-1451

लोदी

1)	बहलोल लोदी	1451-1489
2)	सिकन्दर लोदी	1489-1517
3)	इब्राहिम लोदी	1517-1526

* 1412 से 1414 तक का काल आंतरिक संघर्षों का काल था।

इस खंड के लिए कुछ उपयोगी पुस्तकें

ऐ. बी. एम. हबीबुल्लाह : **दि फाउन्डेशन ऑफ मुस्लिम रूल इन इंडिया** (अंग्रेजी)

के. एस. लाल, **खलजी वंश का इतिहास 1290-1320 ई० तक** (हिन्दी संस्करण)

आगा मेहंदी हुसैन : **तुगलक डायनेस्टी** (अंग्रेजी)

अवध बिहारी पाण्डे, **पूर्व मध्यकालीन भारत** (हिन्दी संस्करण)

मौहम्मद हबीब एवं के.ए. निजामी : **दिल्ली सल्तनत** भाग I, II

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

इकाई 16 सल्तनत कालीन प्रशासन

इकाई की रूपरेखा

16.0 उद्देश्य
16.1 प्रस्तावना
16.2 दिल्ली सल्तनत और खिलाफत
16.3 दिल्ली सल्तनत की प्रकृति
16.4 केन्द्रीय प्रशासन
16.4.1 सुल्तान
16.4.2 विज़ारत (वित्त)
16.4.3 दीवान-ए अर्ज
16.4.4 अन्य विभाग
16.4.5 दास और कारखाने
16.5 राजस्व प्रशासन
16.6 इक्ता व्यवस्था और प्रांतीय प्रशासन
16.6.1 इक्ता व्यवस्था
16.6.2 प्रांतीय और स्थानीय प्रशासन
16.7 सारांश
16.8 शब्दावली
16.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

16.0 उद्देश्य

खंड 4 में आप दिल्ली सल्तनत की स्थापना की प्रक्रिया और सीमाओं के विस्तार के विषय में अध्ययन कर चुके हैं। इस इकाई में आपके अध्ययन का प्रमुख विषय दिल्ली सल्तनत की प्रशासनिक व्यवस्था है। इस इकाई के अध्ययन से आप निम्न के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

- सुल्तान का खलीफा के साथ सम्पर्क
- राज्य की प्रकृति,
- केन्द्रीय और प्रांतीय स्तर के विभिन्न विभाग,
- प्रशासनिक व्यवस्था में सम्मिलित प्रमुख अधिकारी; और
- प्रशासन पर नियंत्रण रखने की पद्धति।

16.1 प्रस्तावना

आपने खंड 4 में पढ़ा कि कुतुबुद्दीन ऐबक ने किस प्रकार दिल्ली सल्तनत की आधारशिला रखी और मध्य एशिया से संबंध विच्छेद की प्रक्रिया आरंभ हुई। हम आपको दिल्ली सल्तनत की सीमाओं के विस्तार के विषय में भी बता चुके हैं। इस इकाई में हम आपको दिल्ली सल्तनत के केन्द्रीय और प्रांतीय प्रशासन, राजस्व व्यवस्था तथा सल्तनत की प्रकृति के विषय में बताएंगे।

16.2 दिल्ली सल्तनत और खिलाफत

पैगम्बर हज़रत मोहम्मद की मृत्यु के बाद खिलाफत नामक संस्था अस्तित्व में आई। हज़रत अबू बक्र मुस्लिम समुदाय के पहले प्रमुख या खलीफा बने। प्रारंभ में सत्ता के उत्तराधिकार के विषय में चुनाव के कुछ तत्व मौजूद थे। यह प्रथा अपने पूर्व की कबीलाई परम्परा से अधिक भिन्न नहीं थी।

इस्लामी व्यवस्था में खलीफा को धर्म का संरक्षक और राजनीतिक व्यवस्था को बनाए रखने वाला समझा जाता था। वह पूरे (मुस्लिम) समुदाय का प्रमुख था। पहले चार "पवित्र खलीफाओं" (हज़रत अबू बक्र, हज़रत उमर, हज़रत उस्मान और हज़रत अली) के काल के बाद वंशानुगत शासन की प्रथा प्रारंभ हुई। यह प्रथा 661 ई. में उमैय्द वंश के शासन से शुरू हुई। उमैय्द वंश के शासन का केन्द्रीय स्थल सीरिया में डमेस्कस (Damascus) में था। उमैय्द वंश (Umaiyyids) के बाद 9वीं सदी के मध्य में अब्बासी वंश (Abbasids) सत्ता में आया। इस वंश का केन्द्र स्थल बगदाद में था।

समय के साथ केन्द्रीय सत्ता क्षीण हो गई और खलीफा की केन्द्रीकृत संस्था तीन प्रमुख सत्ता-केन्द्रों में बंट गई। स्पेन (उमैय्द वंश की एक शाखा के अधीन), मिस्र (फातिमी वंश (Fatimids) के अधीन) और सबसे पुरानी बगदाद में। इनमें से प्रत्येक मुसलमानों की निष्ठा प्राप्त करने का दावा करता था। भारत के उत्तर-पश्चिमी सीमा के पास कुछ छोटे वंशों ने अपनी स्वतंत्र सत्ता स्थापित कर ली थी। इनमें से एक का केन्द्र ग़ज़ना (ग़ज़नी) था। यहाँ यह महत्वपूर्ण बात ध्यान में रखना आवश्यक है कि सिद्धांततः कोई मुसलमान एक बड़ा या छोटा "स्वतंत्र" राज्य स्थापित नहीं कर सकता था। ऐसे किसी भी राज्य के लिए खलीफा की अनुमति लेना आवश्यक था, अन्यथा मुसलमानों की नज़र में ऐसे राज्य की वैधता संदेहास्पद हो जाती। परन्तु खलीफा की यह अनुमति औपचारिकता से अधिक कुछ नहीं थी और इस औपचारिकता का पालन करना सुरक्षित था।

दिल्ली के सुल्तानों द्वारा खलीफा को मान्यता देना, सम्मान वस्त्रों की प्राप्ति, प्रतिष्ठापन के पत्र की प्राप्ति या सम्मानसूचक उपाधियों की प्राप्ति, खलीफा का नाम सिक्कों पर खुदवाना तथा शुक्रवार की नमाज़ के समय खलीफा के नाम से धर्मोपदेश **(खुतबा)** जारी करने के प्रतीकों के रूप में होता था। यह एक ऐसा कार्य था जो इस्लामी विश्व या व्यवस्था को स्वीकार करना या उससे संबंध बनाए रखने का प्रतीक था। परन्तु वास्तविकता में यह केवल ऐसी स्थिति को स्वीकार करना था, जिसमें कोई शासक अपने आपको स्वयं सत्ता में स्थापित कर चुका था। दिल्ली के सुल्तानों ने खलीफा के पद की महत्ता के भ्रम को बनाए रखा — सैय्यद वंश (1414–1451 ईसवी) तथा लोदी वंश (1451–1526 ईसवी) के दौरान सिक्कों पर लेखन (खलीफा से संबंधित) एक परम्परा के रूप में जारी रहा। परन्तु यह निष्ठा केवल नाममात्र की थी। वास्तव में खिलाफत (एक संस्था के रूप में) कमज़ोर हो चुकी थी। वैसे दूरी भी इतनी अधिक थी कि खलीफा दिल्ली सल्तनत में कोई हस्तक्षेप या भूमिका निभाने की स्थिति में नहीं था।

बोध प्रश्न 1

1) खलीफा की सैद्धांतिक स्थिति क्या थी ?

....

....

....

2) चार "पवित्र खलीफा" कौन थे ?

....

....

3) खिलाफ़त के तीन प्रमुख सत्ता केन्द्र बताइए।

MAADIYAM IAS

. . . .

. . . .

4) खिलाफत के प्रति निष्ठा दिखाने के लिए दिल्ली के सुल्तान किन प्रतीकों का प्रयोग करते थे ?

. . . .

. . . .

. . . .

. . . .

16.3 दिल्ली सल्तनत की प्रकृति

युद्धों में विजयों के आधार पर उत्तर भारत में प्रारंभिक मुस्लिम तुर्की राज्य की स्थापना हुई। जीते हुए प्रदेशों में जहाँ तुर्की शासन स्थापित किया गया, स्थानीय जनसंख्या की तुलना में तुर्क संख्या में काफी कम थे। साथ ही उनके पास साधनों की भी कमी थी। इसलिए इन प्रदेशों के साधनों पर अधिकार करना उनके लिए बहुत जरूरी था। इसका (साधनों पर अधिकार करने की आवश्यकता) प्रभाव तुर्की राज्य की प्रकृति पर पड़ा।

सैद्धांतिक और औपचारिक रूप से दिल्ली सुल्तानों ने इस्लामी कानूनों **(शरियत)** की सर्वोच्चता को मान्यता दी और उसके खुले आम उल्लंघन को रोकने का प्रयास किया। इस्लामी कानूनों के अतिरिक्त उन्होंने धर्म-निरपेक्ष अधिनियम (secular regulations) या **(ज़वाबित)** भी बनाए। कुछ विद्वानों के अनुसार, तुर्की राज्य धर्म पर आधारित राज्य था, हालांकि व्यवहार में तुर्की राज्य उस कार्यसाधकता और अनिवार्यता की उपज था, जिसमें नवस्थापित राज्य की ज़रूरतें सर्वाधिक महत्वपूर्ण थीं। समकालीन इतिहासकार जियाउद्दीन बर्नी "**जहांदारी**" (धर्मनिरपेक्ष) और "**दीनदारी**" ("धार्मिक") के अंतर को रेखांकित करता है। साथ ही, बर्नी कुछ धर्म-निरपेक्ष लक्षणों की अपरिहार्यता या आवश्यकता को भी आकस्मिक परिस्थितियों की पूर्ति के लिए स्वीकार करता है। इस प्रकार, नव-स्थापित राज्य ने बहुत-सी ऐसी नीतियों और प्रथाओं को जन्म दिया जो मूलभूत इस्लामी परम्परा के अनुकूल नहीं थीं। उदाहरण के लिए, इल्तुतमिश के शासन काल (1210–1236) में मुस्लिम धार्मिक वर्ग के एक कट्टर समुदाय **(शफाई)** ने सुल्तान से कहा कि वह इस्लामी कानून को सख्ती से लागू करे, विशेष कर हिन्दुओं से यह कहा जाए कि या तो वे इस्लाम धर्म को स्वीकार करें या मृत्यु। सुल्तान की ओर से उसके वज़ीर जुनैदी ने जवाब दिया कि यह विचार स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि मुसलमान खाने में नमक के बराबर (संख्या में कम) हैं। इतिहासकार बर्नी सुल्तान अलाउद्दीन खलजी और उसके राज्य के एक धर्मशास्त्री काज़ी मुगीसुद्दीन के वार्तालाप का वर्णन करता है। यह वार्तालाप युद्ध में जीते गए माल के बँटवारे के संबंध में है। काज़ी ने सुल्तान से कहा कि धार्मिक कानून (इस्लामी) के अनुसार सुल्तान युद्ध में जीते गए माल का अधिकांश हिस्सा अपने पास नहीं रख सकता। जवाब में सुल्तान ने इस बात पर जोर दिया कि वह राज्य की आवश्यकता के अनुसार कार्य करेगा, जो उसकी दृष्टि में सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। उपरोक्त उदाहरण यह दिखाते हैं कि व्यवहार में तुर्की राज्य एक धर्म-आधारित या धर्म-केन्द्रित राज्य नहीं था। हालाँकि शासक वर्ग इस्लाम धर्म का अनुयायी था, फिर भी राज्य की नीतियों का निर्धारण अपनी विशिष्ट आवश्यकताओं तथा परिस्थितियों के अनुसार होता था।

MAADHYAMIAS

16.4 केन्द्रीय प्रशासन

सल्तनत के केन्द्रीय प्रशासन का संचालन सुल्तान की अधीनता में विभिन्न अमीरों की देख-रेख में होता था।

16.4.1 सुल्तान

प्रारंभिक इस्लामी व्यवस्था में सुल्तान के पद का कोई अस्तित्व नहीं था। खिलाफत की शक्ति के क्षीण होने के साथ सुल्तान एक शक्तिशाली शासक के रूप में अस्तित्व में आया। वह एक स्वतंत्र राज्य के सार्वभौमिक शासक के रूप में था।

दिल्ली सुल्तान जनहित के लिए नागरिक और राजनीतिक नियम बनाते थे। **खुतबा** और सिक्के प्रभुसत्ता के प्रतीक समझे जाते थे। **खुतबा** एक औपचारिक धर्मोपदेश है जो शुक्रवार के समय पढ़ा जाता है। इसमें सुल्तान का नाम समुदाय के प्रमुख के रूप में लिया जाता था। सिक्कों को जारी करना भी राजसत्ता का अधिकार था। सिक्कों पर सुल्तान का नाम खुदा रहता था।

(दिल्ली) सल्तनत में बार-बार राजवंशों में परिवर्तन हुए। सुल्तान या सिंहासन पर अधिकार करने का इच्छुक कोई भी व्यक्ति अमीरों या कुलीनों के समर्थन के बिना सत्ता पर अधिकार नहीं रख सकता था। यह अमीर स्वयं कई गुटों में बंटे हुए थे। बर्नी के अनुसार, बलबन ने सुल्तान के पद को अत्यन्त महत्व दिया और उसे पृथ्वी पर ईश्वर की प्रतिछाया **ज़िल-अल अल्लाह (Zill–al Allah)** बताया। बलबन ने दरबार की शान-शौकत, मर्यादा और शिष्टाचार पर बहुत बल दिया। वह अमीरों को भी कड़े दण्ड देता था, ताकि औरों को सबक मिले। यह सब एक ऐसी स्थिति दर्शाते हैं जिसमें सिंहासन अमीरों की महत्वाकांक्षा के सामने सुरक्षित नहीं था। बहुत से अमीर यह विश्वास रखते थे कि उनको भी शासन करने का समान अधिकार था।

राजपरिवार और दरबार

राजपरिवार की देखभाल के लिए बहुत से अधिकारी थे। "**वकील-ए दर**" **(wakil-i dar)** पर पूरे महल और राजपरिवार की देखभाल का उत्तरदायित्व था। सुल्तान के निजी कर्मचारियों के वेतन आदि बाँटना भी उसका कार्य था। **अमीर-ए हाजिब (amir–i hajib)** पर दरबार के समारोहों और शिष्टाचार का उत्तरदायित्व था। सुल्तान के समक्ष सभी आवेदन और याचिकाएँ **अमीर-ए हाजिब** द्वारा प्रस्तुत की जाती थी। कई अन्य छोटे पदाधिकारी भी होते थे।

MAADHYAM IAS

16.4.2 विज़ारत (वित्त)

केन्द्रीय प्रशासन में वित्त विभाग **(wizarat)** प्रमुख के रूप में **वज़ीर** का स्थान सर्वाधिक महत्वपूर्ण था। हालाँकि वह चार प्रमुख विभागों में से एक विभाग का प्रमुख था, लेकिन वह अन्य विभागों का निरीक्षण करने का अधिकार रखता था। विजारत विभाग के प्रमुख कार्य थे:

- राजस्व वसूल करना,
- व्यय पर नियंत्रण रखना,
- लेखा या हिसाब-किताब रखना,
- वेतन बाँटना; तथा
- सुल्तान के आदेश पर **इक्ता** देने की व्यवस्था करना।

वज़ीर के अतिरिक्त, इस विभाग में कई अन्य अधिकारी भी थे। इनमें **मुशरिफ-ए मुमालिक** अथवा प्रमुख लेखाकार **(mushrif-i mumalik)** तथा **मुसतौफि-ए मुमालिक** अथवा लेखा-परीक्षक **(mustaufi-i mumalik)** महत्वपूर्ण थे। अलाउद्दीन खलजी के शासन काल में **दीवान-ए मुस्तख़राज** नामक अधिकारी को राजस्व का बकाया (arrears) वसूल करने का कार्य दिया गया था।

16.4.3 दीवान-ए अर्ज़

दीवान-ए अर्ज़ अथवा सैन्य विभाग का प्रमुख **आरिज़-ए मुमालिक** था। वह सैनिक और सेना संबंधी कार्यों के लिए उत्तरदायी था। वह **इक्ता**-धारकों के सैनिकों का निरीक्षण करता था। वह सुल्तान की सेना के रसद विभाग और परिवहन विभाग की देखभाल और नियंत्रण करता था। अलाउद्दीन खलजी के शासन काल में सेना की भर्ती और योग्यता पर नियंत्रण रखने के लिए कुछ नए नियम बनाए गए। उसने प्रत्येक सैनिक का **हुलिया** (सैनिक के पहचान चिन्ह आदि) रखने पर बल दिया। साथ ही, यह भी आदेश दिया कि घोड़ों पर **दाग** (चिन्ह **dagh**)

घोड़ा न पेश कर सकें, या खराब और निम्न कोटि के घोड़े न रखें। ऐसा प्रतीत होता है कि घोड़े दागने की प्रथा मुहम्मद तुगलक के समय तक जारी रही।

राज्य की सेना में अमीरों के सैनिक और सुल्तान की स्थायी सेना (standing army) (**हश्म-ए कल्ब**) दोनों होते थे। तेरहवीं शताब्दी में शाही घुड़सवार सैनिकों को नगद वेतन के स्थान पर दिल्ली के आस-पास छोटे गाँवों में राजस्व वसूल करने का अधिकार दिया जाता था। इतिहासकार मोरलैण्ड इन्हें "छोटे **इक्ता**" कहता है। इल्तुतमिश के शासन काल में ऐसी घुड़सवार सेना की संख्या लगभग तीन हज़ार थी। बलबन ने राजस्व वसूल करने के अधिकार को समाप्त करने की चेष्टा की (वह नकद वेतन देना चाहता था) जिससे बहुत असंतोष फैला। अलाउद्दीन खलजी इस कार्य को सम्पन्न करने में सफल हुआ और उसने अपने घुड़सवारों को नकद वेतन देने की व्यवस्था की। उसके काल में एक घुड़सवार को 238 **तनका** (एक वर्ष में) मिलते थे और जो सैनिक एक अतिरिक्त घोड़ा रखते थे उन्हें 78 **तनका** और मिलते थे।

फीरोज़ तुगलक ने शाही घुड़सवारों को नकद वेतन देने की व्यवस्था समाप्त कर दी। इसके स्थान पर अब उन्हें एक पत्र दिया जाता था जिसे **इतलाक (itlaq)** कहा जाता था। यह एक प्रकार का धनादेश था। इस धनादेश को सुल्तान की **खालसा** भूमि ("शाही" या "सुरक्षित भूमि") के राजस्व अधिकारी को देने पर उन्हें वेतन मिल जाता था।

16.4.4 अन्य विभाग

दीवान-ए इन्शा (diwan-i insha) नामक विभाग पर राज्य के पत्राचार का उत्तरदायित्व था। इस विभाग का प्रमुख **दबीर-ए मुमालिक** था। यह विभाग सुल्तान और अन्य देशों के बीच तथा सुल्तान और प्रांतीय शासकों के बीच पत्राचार पर नियंत्रण रखता था। इसी विभाग द्वारा **फरमान** (शाही आदेश) जारी किए जाते थे और अधीनस्थ अधिकारियों के पत्र प्राप्त किए जाते थे।

बरीद-ए मुमालिक राज्य के संवाद या समाचार विभाग का प्रमुख था। उसे पूरी सल्तनत में होने वाली घटनाओं का लेखा-जोखा रखना होता था। राज्य के प्रत्येक प्रशासनिक खण्डों या प्रशासनिक केन्द्रों पर **बरीद** नामक स्थानीय अधिकारी रहता था, जो केन्द्रीय विभाग को उस स्थान की घटनाओं और समाचारों की सूचना पत्र द्वारा भेजता था। **बरीद** राज्य संबंधी सूचनाएँ जैसे युद्ध, विद्रोह, स्थानीय मामले, वित्त तथा कृषि की स्थिति आदि प्रेषित करता था। **बरीद** के अतिरिक्त एक अन्य कर्मचारी वर्ग, जिसे **मुनहियान** कहते थे, सूचनाएँ भेजने का कार्य करता था।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

दीवान-ए रिसालत (diwan-i risalat) नामक विभाग का प्रमुख **सद्र-उस सुदूर (sadr-us sudur)** था। वह सर्वोच्च धर्माधिकारी था। इस विभाग का कार्य धार्मिक कार्यकलापों पर दृष्टि रखना और काज़ियों की नियुक्ति करना था। यही अधिकारी विभिन्न प्रकार के अनुदानों, जैसे **वक्फ**, धार्मिक और शिक्षण संबंधी संस्थाओं के लिए, विद्वानों और निर्धनों को **वज़ीफा** और **इदरार**, को अनुमोदित करता था।

न्यायपालिका का प्रमुख स्वयं सुल्तान था। अपराध संबंधी और माल एवं दीवानी संबंधी सभी मामलों में सुल्तान ही सर्वोच्च तथा अंतिम न्यायालय था। सुल्तान के बाद राज्य का प्रमुख न्यायाधीश **काज़ी-उल मुमालिक** (या काज़ी-उल कुज़्ज़ात) था। बहुधा **सद्र-उस सुदूर** तथा **काज़ी-उल मुमालिक** का पद एक ही व्यक्ति के पास होता था। यह प्रमुख **काजी** न्याय-व्यवस्था का प्रमुख था तथा अधीनस्थ न्यायालयों के मुकदमों की अपील (या पुनरावेदन) उसके यहाँ की जा सकती थी।

मुहतसिब (muhatsib) (नागरिक नियंत्रक) न्याय विभाग की सहायता करता था। इनका कार्य यह देखना था कि जनता द्वारा कहीं इस्लामी कानूनों का उल्लंघन तो नहीं किया जा रहा।

16.4.5 दास और कारखाने

शाही महल व्यवस्था में गुलाम एक प्रमुख स्थान रखते थे। अलाउद्दीन खलजी के पास 50,000 दास थे, जबकि फीरोज़ तुगलक के पास लगभग 1,80,000 दास थे। उसके शासन

काल में दासों के लिए एक अलग विभाग (**दीवान-ए बन्दगान**) स्थापित किया गया था। दास प्रमुखतया सुल्तान के निजी सेवकों और अंगरक्षकों के रूप में कार्य करते थे (अंगरक्षक के रूप में लगभग 40,000 दास थे)। समकालीन इतिहासकार अफीफ के अनुसार, फीरोज़ के गुलामों की एक बड़ी संख्या (लगभग 12,000) कारीगर (**कासिब**) के रूप में कार्य करते थे। बर्नी भी दिल्ली के पास गुलामों के एक बड़े बाज़ार का वर्णन करता है। लेकिन सोलहवीं शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश (पहले 25 वर्ष) में गुलामों के बाज़ार का कोई विवरण नहीं मिलता।

राजपरिवार और शाही प्रतिष्ठान की आवश्यकताओं की पूर्ति **कारखानों** द्वारा की जाती थी। यह **कारखाने** दो प्रकार के थे: (i) उत्पादन स्थल; और (ii) गोदाम घर। यहाँ तक कि राजसी ग्रंथालय (**kitabikhana**) का विवरण भी एक **कारखाने** के रूप में मिलता है। फीरोज़ तुगलक के शासन काल में 36 **कारखाने** थे। प्रत्येक **कारखाने** का प्रमुख एक **अमीर** होता था, जिसका पद मालिक या **खान** के बराबर का था। प्रत्येक **कारखाने** की देखभाल, नियंत्रण और हिसाब का लेखा रखने के लिए एक प्रमुख अधिकारी **मुतसर्रिफ (mutasarrif)** होता था। **कारखानों** के हिसाब आदि के निरीक्षण के लिए एक पृथक दीवान या लेखा विभाग भी होता था।

कारखानों में राजसी प्रयोग के लिए अथवा सेना के लिए वस्तुओं का उत्पादन होता था। कहा जाता है कि मुहम्मद तुगलक ने ज़री के काम (सोने-चांदी के तारों से कढ़ाई का काम) के लिए 400 कारीगर रखे थे तथा लगभग 4,000 बुनकर राज-दरबार और सुल्तान द्वारा उपहार में दिए जाने वाले वस्त्रों की पूर्ति के लिए कपड़ा बनाते थे। यहाँ पर यह ध्यान रखना आवश्यक है कि शाही कारखानों में निर्मित माल व्यावसायिक माल नहीं था, अर्थात् माल बाज़ार में बेचने के लिए नहीं उत्पादित किया जाता था। **अमीर** या कुलीन भी निजी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अपने कारखाने स्थापित करते थे। (इस विषय में अधिक चर्चा के लिए खंड 6 देखिए।)

बोध प्रश्न 2

1) दिल्ली सुल्तानों के अधीन तुर्की राज्य की प्रकृति का विश्लेषण कीजिए।

....

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

2) दीवान-ए विज़ारत के प्रमुख कार्यों का विवरण दीजिए।

....

3) कारखानों पर एक टिप्पणी लिखिए।

....

4) निम्न प्रश्न में सही उत्तर पर ✓ का निशान लगाइए:

खलजी:

   क) सिक्के ढालने का अधिकार था।
   ख) सम्मानित वस्त्र।
   ग) शुक्रवार की सामूहिक नमाज़ के बाद पढ़ा जाने वाला धर्मोपदेश।

5) निम्न अधिकारियों के क्या कार्य थे?
   क) **मुशरिफ-ए मुमालिक:** ....
   ....
   ख) **आरिज़-ए मुमालिक:** ....
   ....
   ग) **बरीद:** ....
   ....
   घ) **काज़ी-उल मुमालिक:** ....
   ....

16.5 राजस्व प्रशासन

तेरहवीं शताब्दी में राजस्व व्यवस्था किस प्रकार की थी? इसके विषय में बहुत स्पष्ट जानकारी हमारे पास नहीं है। यहाँ तक कि इस काल में भूमि-कर की सही दर के विषय में भी ज्ञात नहीं है। संभवतः पुरानी कृषि और भूमि-कर व्यवस्था ही जारी रही। प्रमुख अंतर यह था कि केन्द्र में भूमि की आय पर अधिकार करने वाला वर्ग बदल गया। पुराने शासक-वर्ग के स्थान पर अब तुर्की शासक-वर्ग भूमि की आय प्राप्त करने लगा। इस व्यवस्था के विषय में कुछ अधिक जानकारी प्राप्त करने के लिए हम इतिहासकार बर्नी के विवरण (जो अलाउद्दीन खिलजी के शासन के प्रारंभिक वर्षों का विवरण है) का विश्लेषण कर सकते हैं। संक्षेप में बर्नी हमें तीन ग्रामीण अभिजात या उच्च वर्गों के विषय में बताता है। यह वर्ग हैं: **खोत**, **मुकद्दम** और **चौधरी**, जो राज्य की ओर से किसानों से भूमि-कर या **खराज** वसूल करते थे। यह लोग किसानों से कर वसूल करके **दीवान-ए विज़ारत** के अधिकारियों के पास जमा कर देते थे। इस कार्य के बदले में अपने पारिश्रमिक के रूप में उन्हें इस वसूली का एक भाग प्राप्त करने का अधिकार था, जिसे **हक्क-ए खोती** या **खोती** का अधिकार कहते थे। यह धन उन्हें नकद रूप में नहीं मिलता था, बल्कि कर-मुक्त भूमि के रूप में अर्थात् भूमि के एक भाग का कर वह स्वयं अपने पास रख सकते थे। इसके अतिरिक्त, यह किसानों से भी उनकी उपज का कुछ भाग अलग से लेते थे, जिसे **किस्मत-ए खोती** कहा जाता था। भूमि-कर के अतिरिक्त, प्रत्येक कृषक को गृह कर (**घरी**) और पशु या चरागाह कर (**चराई**) भी देना होता था। यह भी संभव है कि शायद **चौधरी** सीधे कर इकट्ठा करने की व्यवस्था से जुड़ा हुआ नहीं था, क्योंकि इब्नबतूता के अनुसार, **चौधरी** "सौ गांवों" (**परगनों**) का प्रमुख होता था। इस अनुमान को और अधिक बल इस तथ्य से मिलता है कि बर्नी हमेशा **हक्क-ए खोती** या **मुकद्दमी** जैसे शब्दों का प्रयोग करता है, **हक्क-ए चौधरी** की बात कहीं नहीं करता। इतिहासकार डब्ल्यू. एच. मोरलैण्ड इन तीनों वर्गों के लिए मध्यस्थ-वर्ग (**intermediaries**) जैसे शब्द का प्रयोग करता है। हम भी इस इकाई में इन वर्गों को मध्यस्थ-वर्ग ही कहेंगे।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

अलाउद्दीन खलजी ने इस मध्यस्थ-वर्ग का दमन किया। बर्नी ने अलाउद्दीन के इस कार्य के लिए उत्तरदायी कारणों का विस्तार से वर्णन किया है (देखिए खंड 6, इकाई 20)। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि मध्यस्थ वर्ग हमेशा विद्रोह के लिए तैयार एक असाध्य वर्ग हो गया था। सुल्तान ने उनके विरुद्ध निम्न प्रमुख आरोप लगाए:

क) मध्यस्थ-वर्ग अपनी भूमि के उस भाग पर कर नहीं देते थे जो कर-मुक्त नहीं थी, बल्कि वे अपने कर का "बोझ" किसानों पर डाल देते थे अर्थात् वे किसानों से राज्य द्वारा निर्धारित कर से अधिक वसूल करके उसमें से अपना कर देते थे।

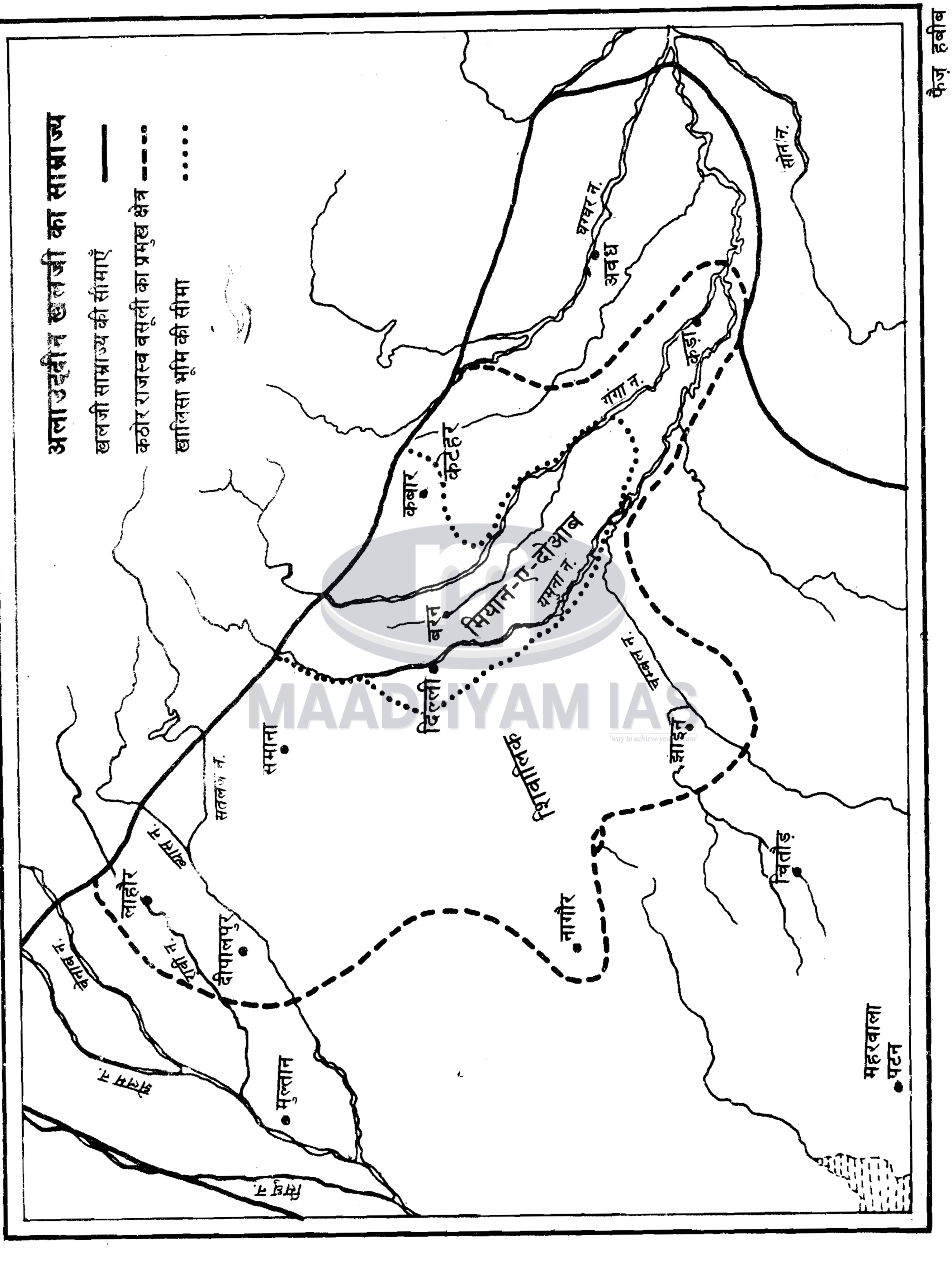

Courtsey:Centre of Advanced Study in History. A.M.U.

ख) वे **चराई** कर नहीं देते।

ग) गलत तरीकों से प्राप्त "अधिक दौलत" ने उन्हें घमण्डी बना दिया। वे राजस्व अधिकारियों के आदेशों का पालन नहीं करते थे और जब उन्हें हिसाब देने के लिए राजस्व कार्यालय में बुलाया जाता, तो वे नहीं जाते।

इन परिस्थितियों में सुल्तान को उनकी आय के साधनों पर प्रहार करना पड़ा। इसके लिए सुल्तान ने जो कदम उठाए वह निम्न थे:

i) राज्य की ओर से राजस्व-दर कुल उपज के आधे के बराबर निश्चित की गई अर्थात् उपज का आधा भाग राज्य. कर के रूप में लेगा। भूमि की नाप **(masahat)** की गई और उसकी प्रत्येक इकाई पर कर निश्चित किया गया। इसके लिए **वफा-ए बिस्वा** शब्द प्रयोग किया गया (**वफा**= उपज; **बिस्वा**= बीघे का 1/20वां भाग)। संभवत: पृथक-पृथक प्रत्येक किसान की भूमि पर कर निर्धारित किया गया।

ii) किसानों और मध्यस्थों पर कर की दर समान रखी गई (50 प्रतिशत) इसमें कोई भेद नहीं किया गया. चाहे वे मध्यस्थ हों या "सामान्य किसान" (बलाहार)।

iii) मध्यस्थों के अनुलाभ (perquisites) समाप्त कर दिए गए।

iv) मध्यस्थों से भी गृह कर और **चराई** कर वसूल किया गया।

इससे यह स्पष्ट है कि इन आदेशों का एक उद्देश्य किसानों को मध्यस्थों की अवैधानिक वसूली से बचाना था। बर्नी का कथन भी यही है कि सुल्तान की नीति का उद्देश्य यह था कि "शक्तिशाली" (**अकविया**) का "बोझ" "कमज़ोर" (**जुआफा**) पर नहीं पड़ना चाहिए। हम यह जानते है कि राज्य द्वारा उपज के 50 प्रतिशत की मांग भारत के भू-राजस्व के इतिहास में सर्वाधिक है। एक ओर, जहाँ किसान अब मध्यस्थों के अत्याचार से बच सके, वहीं अब उन्हे पहले की अपेक्षा कर भी अधिक देना पड़ा। चूंकि कर की दर सब लोगों के लिए समान थी, इसलिए यह प्रतिगामी कर था (अर्थात अधिक गरीब के लिए कर का बोझ अधिक और कष्टदायी)। इस प्रकार, राज्य ने तो मध्यस्थों का नुकसान करके अपनी आय बढ़ा ली, परन्तु किसानों को कोई लाभ नहीं हुआ। उनकी स्थिति उसी प्रकार दयनीय ही रही।

MAADHYAM IAS

ऐसे किसान जो गरीब थे और जिनके पास कोई संसाधन नहीं थे पूरी तरह कुचल दिए गए तथा अमीर किसान जिनके पास संसाधन थे, विद्रोही हो गए। पूरे इलाके बर्बाद हो गए। खेती पूरी तरह [illegible] हो गई। जब दूर के क्षेत्र में दोआब के किसानों की बर्बादी की खबरें पहुंची तो वहां के किसान भी खेतों को छोड़कर जंगलों की ओर भागने लगे। उन्हें भय था कि दोआब में जारी दमनकारी आदेश उनके क्षेत्रों में भी लागू किए जाएंगे। सुल्तान जिन दो वर्षों में (लगभग 1332–34 ई.) दिल्ली रहा उस काल में सख्ती के साथ राजस्व की मांग और अनेक प्रकार के अतिरिक्त करों (**अबवाब**) की बहुतायत से दोआब बर्बाद हो गया। हिन्दूओं ने अनाज के ढेरों में आग लगा कर जला दिया और अपने घरों से जानवरों को भगा दिया। सुल्तान ने **शिक़दारों** और **फौजदारों** (राजस्व संग्राहक और सैनिक प्रमुख) को आदेश दिया कि पूरे क्षेत्र को उजाड़ दें और लूटमार करें। उन्होंने बहुत से **खोत** और **मुकद्दमों** को मार डाला और बहुतों को अंधा कर दिया। जो बच निकले उन्होंने अपने गिरोह बना लिए और जंगलों की ओर भाग गए। पूरा क्षेत्र बर्बाद हो गया। उन्हीं दिनों सुल्तान शिकार खेलने बरन (आधुनिक बुलंदशहर) गया। उसने आदेश दिया कि बरन के संपूर्ण क्षेत्र को लूट कर उजाड़ दिया जाए। सुल्तान ने कन्नौज से लेकर दलमऊ तक के संपूर्ण क्षेत्र में स्वयं लूटमार की और उजाड़ दिया। जो भी पकड़ा गया, मार डाला गया। अधिकांश (किसान) भाग गए और जंगलों में शरण ली। उन्होंने (सुल्तान की सेना ने) जंगलों को घेर लिया और जंगल में जो भी मिला उसे मार डाला।

अलाउद्दीन खलजी के शासन काल में किसानों के उत्पीड़न का इतिहासकार बर्नी द्वारा वर्णन। अंग्रेजी प्रारूप के लिए देखें **The Cambridge Economic History of India**, Ed. T. R. Chandhuri and Irfan Habib,

यह सही है कि अब मध्यस्थों के हाथ से सीधे कर वसूलने का कार्य ले लिया गया लेकिन अब भी उनसे यह आशा की जाती थी कि अपने क्षेत्र में वे कानून और व्यवस्था बनाए रखेंगे तथा बिना किसी पारिश्रमिक के राजस्व अधिकारियों की सहायता करेंगे। राज्य द्वारा किसानों से सीधे सम्पर्क स्थापित किए जाने से राजस्व अधिकारियों की संख्या बहुत बढ़ गई। यह अधिकारी विभिन्न नामों से जाने जाते थे, जैसे "**उम्माल**, **मुतसर्रिफ**, **मुशरिफ**, **मुहासिलान**, **नवीसिन्दगान** आदि। कुछ ही समय बाद मध्यस्थों में भ्रष्टाचार बहुत बढ़ गया जिसके लिए **नायब वज़ीर** शरफ कैनी ने उन्हें दण्डित किया। आठ से दस हजार तक अधिकारी जेल में डाले गए। धोखाधड़ी पकड़ने की प्रक्रिया बहुत सरल थी। लेखा परीक्षक गांव के पटवारी की **बही** या खाते की सूक्ष्मता से जाँच करते थे। किसानों द्वारा राजस्व अधिकारियों को किए गए प्रत्येक वैधानिक या अवैधानिक भुगतान का विवरण **बही** में रहता था। इन भुगतानों की तुलना वसूली की प्राप्ति से की जाती थी और भ्रष्टाचार पकड़ा जा सकता था। अलाउद्दीन खलजी ने कर वसूलने वालों के वेतन बढ़ा दिए थे, फिर भी भ्रष्टाचार जारी रहा।

ये नए नियम जिस क्षेत्र में लागू किए गए थे, बर्नी उनकी ओर भी संकेत करता है। राज्य के केन्द्र को शामिल करते हुए यह एक विस्तृत क्षेत्र में लागू थे। परन्तु मालवा तथा राजस्थान के कुछ क्षेत्र और बिहार, अवध तथा गुजरात इसमें सम्मिलित नहीं थे। इस विषय में यह तथ्य ध्यान में रखना आवश्यक है कि यह नियम केवल **खालसा** ("शाही" अथवा "सुरक्षित" भूमि) के लिए ही थे।

भुगतान की प्रणाली एक अन्य महत्वपूर्ण प्रश्न है। मोरलैण्ड का विचार है कि तेरहवीं शताब्दी में नकद वसूली की प्रथा सामान्यतया प्रचलित थी और चौदहवीं शताब्दी तक इसका काफी विस्तार हो गया था। परन्तु अलाउद्दीन ने अनाज के रूप में वसूली को वरीयता प्रदान की। उसने आदेश दिया कि दोआब की सम्पूर्ण **खालिसा** भूमि से वसूली अनाज के रूप में ही की जाए और दिल्ली तथा उसके आसपास के क्षेत्र से केवल आधा राजस्व नकद रूप में वसूला जाए (शेष आधा अनाज के रूप में)। उसके द्वारा अनाज के रूप में वसूली को वरीयता देने का कारण दिल्ली और अन्य क्षेत्रों में अनाज का भण्डारण था जिससे आपात स्थिति (जैसे सूखा पड़ने या अन्य कारण से अनाज की कमी होने पर) में संग्रहित अनाज का उपयोग हो सके। साथ ही, एक अन्य उद्देश्य यह था कि इस संगृहित अनाज की सहायता से वह अनाज मण्डी में अपनी कीमतों को स्थिर करने की नीति को सफल बना सकता था।

गियासउद्दीन तुगलक द्वारा दो महत्वपूर्ण परिवर्तन किए गए। (i) मध्यस्थ वर्ग को **हक्क-ए खोती** का अधिकार वापस दे दिया गया (परन्तु **किस्मत-ए खोती** का अधिकार नहीं दिया गया) उन्हें गृह कर और **चराई** कर से भी मुक्ति दे दी गई; (ii) भूमि को नापने की व्यवस्था **(मसाहत)** तो जारी रखी गई, परन्तु साथ ही अवलोकन या "वास्तविक उपज" **(बर हुक्म हासिल)** के आधार पर भी कर का निर्धारण जारी रखा। मुहम्मद तुगलक के कार्यों को लेकर कुछ अनिश्चितता है कि उसने भूमि कर की दर 50 प्रतिशत से भी अधिक बढ़ा दी थी। यह भी कहा जाता है कि अलाउद्दीन की मृत्यु के बाद उसके उत्तराधिकारियों ने कर की दर घटा दी थी जिसे मुहम्मद तुगलक ने फिर 50 प्रतिशत कर दिया। यह दोनों दृष्टिकोण गलत प्रतीत होते हैं: अलाउद्दीन द्वारा निर्धारित की गई दर में कोई फेर-बदल नहीं हुआ। वास्तव में, मुहम्मद तुगलक ने कुछ नए कर **(अबवाब)** लगाए और साथ ही पुरानों को फिर जारी किया (उदाहरण के लिए मध्यस्थों पर फिर **चराई** और गृह कर लागू किए)। इसके अतिरिक्त, ऐसा भी प्रतीत होता है कि कर निर्धारित करने के लिए केवल भूमि को नापने की प्रथा अपनाई गई। स्थिति उस समय अधिक बिगड़ी, जब अनाज के रूप में वसूली "वास्तविक उत्पादन" के आधार पर न करके सम्पूर्ण नापी गई भूमि में राज्य द्वारा निर्धारित उपज **(वफा-ए फरमानी)** के आधार पर की गई। साथ ही, नकद रूप में वसूली करने के लिए भी बाज़ार में अनाज के प्रचलित मूल्यों को आधार नहीं बनाया गया, बल्कि "सुल्तान द्वारा निर्धारित मूल्य" **(निर्ख-ए फरमानी)** को आधार माना गया। इस सबके ऊपर, जैसा कि बर्नी कहता है, इन सभी करों को अत्यन्त कठोरता से वसूल करने की कोशिश की गई। इन नियमों को दोआब की सम्पूर्ण **खालिसा** भूमि पर लागू किया गया। परिणाम प्रत्यक्ष थे — मध्यस्थों के नेतृत्व में किसानों का अभूतपूर्व विद्रोह, जिसने खूनी संघर्ष को जन्म दिया। बाद में फीरोज़ शाह तुगलक ने लगभग तेईस प्रकार के उप-कर या **अबवाब** समाप्त किए, जिसमें **चराई** और घरी (गृह कर) शामिल थे।

राजस्व को ठेके पर देने की प्रथा एक अन्य प्रमुख कदम था जो विशेषकर तुगलक काल में अपनाया गया। इस व्यवस्था के अनुसार, कुछ क्षेत्रों में राजस्व वसूल करने का उत्तरदायित्व ठेकेदारों को दे दिया गया। ठेकेदार संभवत: कुल राशि अग्रिम रूप में देकर किसी क्षेत्र में एक निश्चित समय के लिए कर इकट्ठा करने का अधिकार प्राप्त कर लेते थे। फीरोज़ शाह के काल में एक "सिंचाई कर" **(haqq-i sharb)** भी उन लोगों पर लगाया गया, जो राज्य द्वारा निर्मित नहरों से सिंचाई के लिए पानी लेते थे। यहाँ हम आपको यह भी बताना चाहेंगे कि जब फसल खराब हो जाती थी, तब राज्य द्वारा भूमि-कर में छूट आदि दी जाती थी। मुहम्मद तुगलक के काल में किसानों को कृषि ऋण **सोनधर** भी दिया जाता था।

प्रश्न यह उठता है कि दिल्ली सुल्तानों के काल में राज्य का अनुमानित राजस्व कितना था? अभी तक फीरोज तुगलक से पहले के काल के विषय में ऐसा कोई भी अनुमान प्रस्तुत नहीं किया गया है। समकालीन इतिहासकार अफीफ के अनुसार, सुल्तान (फीरोज़ शाह) के आदेश पर ख्वाजा हिसामउद्दीन जुनैद ने राज्य की **जमा** (अनुमानित आय) "जांच के नियम" **(bar huqm-mushahada)** के आधार पर निर्धारित की। इस कार्य को पूरा करने में छ: साल लगे। इस गणना के अनुसार, राज्य की आय लगभग छ: करोड़ 75 लाख तन्का (एक चांदी का सिक्का, देखिए खंड 6) आंकी गई। सुल्तान (फीरोज़ शाह तुगलक) के सम्पूर्ण शासन काल में राज्य की यही आय मान्य रही।

बोध प्रश्न 3

i) मध्यस्थ वर्गों को हटाने के लिए अलाउद्दीन खलजी ने क्या प्रयत्न किए?

. . . .

. . . .

. . . .

. . . .

. . . .

. . . .

. . . .

. . . .

. . . .

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

2) निम्न की परिभाषा दीजिए:

i) **खालिसा:** . . . .

. . . .

ii) **खराज:** . . . .

. . . .

iii) **अबवाब:** . . . .

. . . .

iv) **सोनधर:** . . . .

. . . .

16.6 इक्ता व्यवस्था और प्रांतीय प्रशासन

सल्तनत की सीमाओं के विस्तार और दृढ़ीकरण की प्रक्रिया 13वीं और 14वीं शताब्दी में जारी रही। इसमें विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न प्रकार के नियंत्रण के तरीके अपनाए गए: वह क्षेत्र जो सीधे प्रशासनिक नियंत्रण में रखे गए, तथा वह जो भेंट (tribute) देते थे और अर्द्ध-स्वतंत्र (semi-autonomous) स्थिति में रहे। सल्तनत के विस्तार और केन्द्र से अधिक दूर स्थित क्षेत्रों

16.6.1 इक्ता व्यवस्था

तेरहवीं शताब्दी की प्रारंभिक तुर्की विजयों ने अनेक छोटे स्थानीय राजाओं का अंत कर दिया (समकालीन लेखक इन छोटे राजाओं को **राय** अथवा **राना** कहते हैं)। अपने राज्य के दृढ़ीकरण के लिए तुर्की शासकों ने अपने **अमीरों** को नकद वेतन के स्थान पर राजस्व अधिकार का आवंटन किया (**इक्ता**)। इसे भूमि-अनुदान पद्धति कहा जाता है। जिन व्यक्तियों को यह अधिकार दिया गया उन्हें **मुक्ती** या **वली** कहा जाता था। वे अपने **इक्ता से** कर वसूल करके अपने सैनिकों को वेतन देते थे, और स्वयं अपने खर्च के लिए एक निश्चित राशि ले लेते थे। बचे हुए अतिरिक्त राजस्व (**फवाजिल**) को केन्द्रीय सरकार को भेज देते थे। **इक्ता** एक अरबी शब्द है और प्रारंभिक इस्लामी राज्यों में यह व्यवस्था अपनाई गई थी। राज्य की सेवा करने के पुरस्कार के रूप में यह **इक्ते** दिए जाते थे। खिलाफत के प्रशासन में यह प्रथा धन की व्यवस्था करने और असैनिक तथा सैनिक अधिकारियों को वेतन देने के लिए प्रचलित थी। **इक्ता** के अनुदान का अर्थ भूमि पर अधिकार देना नहीं था। यह अनुदान वंशानुगत भी नहीं था। परन्तु फीरोज़ तुगलक के काल में **इक्ता**-धारियों ने वंशानुगत अधिकार अर्जित कर लिए थे। यह राजस्व-अनुदान स्थानांतरणीय भी थे। **इक्ता**-धारकों का तीन या चार वर्ष के अंतराल पर एक स्थान से दूसरे स्थान पर स्थानांतरण किया जाता था। अत: **इक्ता** को सामंती मध्यकालीन यूरोप में प्रचलित जागीर (fief) के समान नहीं माना जा सकता क्योंकि यूरोप की यह जागीर व्यवस्था स्थानांतरणीय नहीं थी और वंशानुगत थी। यह **इक्ता** अनुदान काफी बड़े भी हो सकते थे (एक पूरा प्रांत या उसका भाग) और छोटे भी। अमीरों या कुलीनों को दिए जाने वाला राजस्व-अनुदान (**इक्ता**) में **इक्ता**-धारियों को राजस्व वसूलने के अतिरिक्त सैनिक और कानून तथा व्यवस्था का उत्तरदायित्व भी निभाना होता था। इस प्रकार , यह **मुक्ती** या **वली** (जिसे **इक्ता** दिया जाता था) प्रांतीय प्रशासन का प्रमुख होता था। उसे पैदल और घुड़सवारों से युक्त एक सेना रखनी होती थी।

> "उन्हें (**मुक्ती**) यह समझना चाहिये कि प्रजा (किसानों) पर उनका अधिकार केवल शान्तिपूर्ण तरीके से उचित धन (भूमि कर) अथवा प्राधिकार (**माल-ए हक**) वसूल करने का है ··· प्रजा के जीवन, सम्पत्ति और परिवार को कोई हानि नहीं पहुँचाना चाहिए, **मुक्ती** को उन पर कोई ऐसा अधिकार नहीं है, अगर प्रजा सुल्तान से सीधे कोई आवेदन या प्रार्थना करना चाहती है तो **मुक्ती** को उन्हें रोकना नहीं चाहिए। जो **मुक्ती इन नियमों** का उल्लंघन करे उसे बर्खास्त और दण्डित करना चाहिए ··· **मुक्ती** और **वली** उन (प्रजा) पर उसी प्रकार (बहुत से) नियंत्रक है जैसे कि शासक अन्य मुक्तियों पर नियंत्रण रखता है। ··· तीन या चार वर्ष बाद **आमिल** और **मुक्ती** का स्थानांतरण कर देना चाहिए ताकि ये स्थानीय स्तर पर अधिक शक्तिशाली न हो जाएं।

MAADHYAM IAS

मुक्ती के अधिकारों के विषय में, निज़ाम-उल मुल्क तूसी के सियासत नामा में किया गया वर्णन। इसके अंग्रेजी प्रारूप के लिए देखें A. B. M. Habibullah, **The Foundation of Muslim Rule in India,** pp. 209–10, Allahabad, 1976

16.6.2 प्रांतीय और स्थानीय प्रशासन

जब राज्य व्यवस्थित होने लगा तो अधिक केंद्रीकरण के प्रयास होने लगे। प्रांतीय प्रशासन में भी परिवर्तन हुए। अब वित्तीय और सैनिक उत्तरदायित्वों को पृथक करने की प्रक्रिया आरम्भ हुई। मुहम्मद तुगलक के काल में **मुक्ती** और **वली** के हाथ से सब वित्तीय अथवा राजस्व संबंधी अधिकार वापस लिए गए और केन्द्रीय अधिकारियों को दे दिए गए। इब्नबतूता के अनुसार, अमरोहा का **इक्ता** दो अधिकारियों के अधीन था। एक **अमीर** कहलाता था (संभवत: सेना और प्रशासन का प्रमुख) तथा दूसरा **वली** उल **ख़राज** (राजस्व वसूलने का प्रमुख) था। मुहम्मद तुगलक का यह भी आदेश था कि **इक्ता**-धारकों के सैनिकों को **दीवान**-ए **विज़ारत** से वेतन दिया जाए ताकि यह अधिकारी छल-कपट न कर सकें।

वित्त संबंधी मामलों में राज्य का नियंत्रण बढ़ गया। केन्द्र में **दीवान** के कार्यालय में प्रांतों से

थी। **दीवान** का कार्यालय प्रांतों में नियुक्त अधिकारियों के कार्य की देखभाल और निरीक्षण भी करता था। प्रांतों में **साहिब-ए दीवान** नामक अधिकारी की नियुक्ति भी की गई। यह कार्यालय **बही खाते** का हिसाब रखता था तथा केन्द्र को सूचनाएँ तथा जानकारी प्रेषित करता था। इस अधिकारी की सहायता के लिए **मुतसर्रिफ** नियुक्त किए जाते थे। राजस्व विभाग के समस्त अधीनस्थ कर्मचारियों को **कारकुन** कहा जाता था।

तेरहवीं शताब्दी के अंत में समकालीन स्रोतों में एक अन्य प्रशासनिक इकाई **शिक** का वर्णन भी मिलता है। **शिक** के विषय में पर्याप्त जानकारी उपलब्ध नहीं है। परन्तु शेरशाह के काल (1540 – 1545 ई.) में **शिक** एक सुनिश्चित प्रशासनिक इकाई के रूप में स्थापित हो गया, जिसे **सरकार** कहा जाने लगा। **शिक** से संबंधित प्रशासनिक अधिकारियों के विवरण **शिकदार** या **फौजदार** के रूप में मिलते हैं। इन अधिकारियों के कार्यों के विभाजन के विषय में जानकारी स्पष्ट नहीं है।

इब्नबतूता के अनुसार, **चौधरी** एक सौ गांवों का प्रधान होता था। आगे चलकर यह **परगना** नामक प्रशासनिक इकाई का केन्द्र-बिन्दु बना। गांव प्रशासन की सबसे छोटी इकाई था। गांव की प्रशासनिक व्यवस्था लगभग वही रही, जो तुर्की आक्रमण से पहले थी। गांव के प्रमुख पदाधिकारी और कार्यकर्ता **खोत**, **मुकद्दम** (प्रधान) तथा **पटवारी** थे (देखिए भाग 16.5)।

प्रांतों तथा अन्य प्रशासनिक इकाइयों में न्याय-व्यवस्था का स्वरूप केन्द्रीय ढाँचे के अनुरूप था। प्रांतों में **काज़ी** और **सद्र** के न्यायालय थे। **कोतवाल** का कार्य कानून और व्यवस्था बनाए रखना था। गांव के स्तर पर दीवानी और सम्पत्ति संबंधी मामलों का निपटारा ग्राम पंचायत करती थी।

बोध प्रश्न 4

1) **इक्ता** पर एक टिप्पणी लिखिए।

....

....

....

....

....

2) **वली** अथवा **मुक्ती** के क्या कार्य थे?

....

....

....

....

3) चौदहवीं शताब्दी में **मुक्ती** के अधिकारों पर नियंत्रण रखने के लिए कौन-से कदम उठाए गए?

....

....

....

....

4) निम्न को परिभाषित कीजिए:

क) **शिक:** ....

....

ख) **कोतवाल:** ....

....

ग) **पटवारी:** ....

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

16.7 सारांश

इस इकाई में हमने देखा कि दिल्ली सल्तनत का स्वरूप ऐतिहासिक रूप में विस्तृत इस्लामी विश्व या व्यवस्था का एक भाग होने से बना; साथ ही, तेरहवीं शताब्दी में अपनी आवश्यकताओं और परिस्थितियों के कारण इसका स्वरूप कैसे बदला। आपने सल्तनत में केन्द्रीय, प्रांतीय और स्थानीय प्रशासनिक व्यवस्था का अध्ययन भी किया। एक विशाल सेना रखने की आवश्यकता (सुरक्षा और राज्य विस्तार के लिए) तथा प्रशासनिक तंत्र रखने की जरूरत ने इसकी कई संस्थाओं को निश्चित रूप दिया। **इक्ता** इसमें एक महत्वपूर्ण संस्था थी। अधिक केंद्रीकरण से प्रशासनिक नियंत्रण की प्रकृति में कई परिवर्तन आए।

16.8 शब्दावली

अबवाब: उपकर या अतिरिक्त कर

अमीर: अधिकारी

बही: खाता या हिसाब की किताब

बलाहार: बहुत छोटा किसान

बिस्वा: **बीघे** का 1/20वां भाग (बीघा-भूमि माप की एक इकाई)

चराई: चरागाह-कर

चौधरी: 100 गांवों तथा परगने का प्रमुख

दीवान-ए विजारत: वित्त विभाग

फवाज़िल: अतिरिक्त मात्रा (रकम)

हश्म-ए कल्ब: केन्द्रीय/शाही घुड़सवार सेना

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

हासिल: वास्तविक राजस्व (जो प्राप्त हुआ)

इदरार: कर-मुक्त भूमि अनुदान

इतलाक: धनादेश, अनुदान आज्ञा पत्र

जमा: अनुमानित राजस्व

ख़ालिसा: "शाही" (सुरक्षित) भूमि जिसका राजस्व सुल्तान के खजाने में जमा होता था।

खोत: गांव का अधिकारी/राजस्व एकत्र करने वाला

खुतबा: शुक्रवार की नमाज़ के समय मस्जिद में पढ़ा जाने वाला धर्मोपदेश, जिसमें शासक का नाम भी लिया जाता था

मसाहत: (भूमि की) नाप

मुहासिलान: राजस्व एकत्र करने वाला

मुकद्दम: ग्राम-प्रधान

मुक्ती या वली: **इक्ता**-धारक या गवर्नर

मुशरिफ: राजस्व अधिकारी

मुतसर्रिफ: लेखा-परीक्षक

नवीसिन्दगान: लिपिक

निर्ख-ए फरमानी: राज्य की ओर से निर्धारित मूल्य

पटवारी: गांव का लेखाकार

शरियत: इस्लामी कानून

तन्का: चांदी का सिक्का

उम्माल: आमिल (राजस्व अधिकारी) का बहुवचन

वफा-ए फरमानी: राज्य द्वारा निर्धारित उपज

वक्फ: धार्मिक संस्थाओं के रख-रखाव के लिए दिए जाने वाले भूमि अनुदान

ज़वाबित: नियम अथवा अधिनियम

16.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) भाग 16.2 देखिए।
2) भाग 16.2 देखिए।
3) भाग 16.2 देखिए।
4) भाग 16.2 देखिए।

बोध प्रश्न 2

1) भाग 16.3 देखिए।
2) उपभाग 16.4.2 देखिए।
3) उपभाग 16.4.5 देखिए।
4) क) ×, ख) ×, ग) ✓
5) उपभाग 16.4.2, 16.4.3 और 16.4.4 देखिए।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

बोध प्रश्न 3

1) भाग 16.5 देखिए।
2) भाग 16.5 देखिए।

बोध प्रश्न 4

1) उपभाग 16.6.1 देखिए।
2) उपभाग 16.6.1 देखिए।
3) उपभाग 16.6.1 देखिए।
4) उपभाग 16.6.2 देखिए।

इकाई 17 सल्तनत कालीन शासक वर्ग का संघटन

इकाई की रूपरेखा

17.0 उद्देश्य
17.1 प्रस्तावना
17.2 गौरी के आक्रमण के समय का शासक वर्ग
17.3 शासक वर्ग की संरचना
- 17.3.1 इलबरी
- 17.3.2 खलजी
- 17.3.3 तुगलक

17.4 **इक्ता** और शासक वर्ग में संसाधनों का वितरण
17.5 उलेमा
17.6 सारांश
17.7 शब्दावली
17.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

17.0 उद्देश्य

इकाई 16 में आपने दिल्ली सल्तनत की प्रशासनिक व्यवस्था का अध्ययन किया। इस इकाई में सल्तनत के शासक वर्ग का विश्लेषण करेंगे। इस इकाई से आप निम्न के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे:

- राज्य द्वारा अधिशेष या अतिरिक्त धन पर अधिकार करने में शासक वर्ग की भूमिका,
- शासक वर्ग का संघटन,
- शासक वर्ग में परिवर्तन; और
- वे स्वार्थ, जो इन्हें एकजुट रखते थे।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

17.1 प्रस्तावना

अपनी स्थापना के प्रारंभिक दौर और आगे के काल में भी सल्तनत की सर्वाधिक गंभीर समस्या जीते हुए प्रदेशों को संघटित करने की थी। इस उद्देश्य की प्राप्ति में शासक वर्ग ने धुरी के रूप में कार्य किया। संसाधनों पर इस वर्ग का संयुक्त स्वामित्व था। तुर्क अपने साथ **इक्ता** नामक व्यवस्था लाए (देखिए इकाई 16, भाग 16.6), जिसने काफी हद तक केंद्रीकरण में सहायता की। जब अधिक केंद्रीकरण की चेष्टा की गई तो **इक्ता** व्यवस्था और शासक वर्ग के संयोजन में कई परिवर्तन आए।

17.2 गौरी के आक्रमण के समय शासक वर्ग

(मुहम्मद) गौरी के आक्रमण के समय उत्तर भारत छोटे-छोटे अनेक ऐसे राज्यों में बंटा हुआ था, जिन पर **राय** और **राना** (स्थानीय राजा) शासन कर रहे थे। गांव के स्तर पर **खोत** और **मुकद्दम** (ग्राम प्रमुख) ग्रामीण अभिजात वर्ग थे। इन दोनों के बीच (**राय**, **राना** और **खोत**, **मुकद्दम**) **चौधरी** को माना जा सकता है, जो 100 गांवों का प्रमुख था।

कुल मिलाकर गौरी के आक्रमण से पूर्व के शासक वर्ग उस वर्ग के रूप में परिभाषित किए जा

अधिकार करता था। यह वर्ग किसानों के अधिशेष पर अधिकार करने के लिए भूमि पर अपने उच्च अधिकारों का दावा करते थे। सल्तनत के शासक वर्ग के संघटन का विश्लेषण करने में इससे जुड़े कई प्रश्न सामने आते हैं: पुराने शासक वर्ग को किस प्रकार हटाकर नए शासक वर्ग ने उसका स्थान ले लिया ? इस वर्ग (नए शासक वर्ग) ने अधिशेष पर अधिकार करने के लिए कौन-से तरीके अपनाए? यह वर्ग पुराने हटाए गए शासक वर्ग से किस प्रकार भिन्न था ?

17.3 शासक वर्ग की संरचना

लगभग सम्पूर्ण तेरहवीं शताब्दी में तुर्की सैन्य शक्ति ने उत्तर भारत पर नियंत्रण स्थापित किया। चौदहवीं शताब्दी के मध्य तक इसका विस्तार दक्कन में भी हो गया। अब एक विशाल प्रतिकूल क्षेत्र को शांत रखना और शासित करना था। इस कार्य के लिए एक शासक वर्ग को बनाए और जारी रखना था। प्रारंभिक तुर्की शासक वर्ग का राजनीतिक और वित्तीय सत्ता पर अधिकार का स्वरूप सुल्तान के साथ हिस्सेदारी का था। प्रारंभिक काल में दूर-दराज के नवविजित प्रांतों में भेजे गए **अमीर** लगभग पूर्ण स्वतंत्र थे। यह **अमीर** या कुलीन इन प्रदेशों में गवर्नर के रूप में भेजे जाते थे। यह **अमीर मुक्ती** या **वली** कहलाते थे और इनके अधीन प्रदेश को **इक्ता** कहा जाता था। समय के साथ, **मुक्तियों** को एक **इक्ते** से दूसरे **इक्ते** में स्थानांतरित करने की प्रथा प्रारंभ हुई (**इक्ता** पर विस्तृत चर्चा इकाई 16 में की जा चुकी है)। संभवत: गौरी के आक्रमण से पूर्व की राजनीतिक व्यवस्था जारी रही। इस व्यवस्था में **राय** और **रानाओं** से अंशदान या निश्चित राशि मांगी जाती थी तथा इनसे यह अपेक्षा की जाती थी कि पहले की भांति ही कर वसूल करें।

समकालीन इतिहासकार मिन्हाज-उस सिराज और बर्नी के अनुसार सल्तनत की स्थापना के प्रारंभिक वर्षों में अधिकांश महत्वपूर्ण कुलीन और सुल्तान गुलाम परिवारों से संबंध रखते थे। प्रारंभिक काल के बहुत से तुर्की कुलीन और सुल्तानों ने अपने सैनिक अथवा राजनीतिक जीवन का आरंभ एक गुलाम के रूप में किया था। परन्तु सुल्तान बनने से पहले ही उन्होंने अपना दास्य मुक्ति पत्र (**खत-ए आज़ादी**) प्राप्त कर लिया था। ऐसा ही एक सुल्तान कुतुबुद्दीन ऐबक था। सन् 1210 में उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके एक कृपापात्र इल्तुतमिश ने दिल्ली पर अधिकार कर लिया और स्वयं को सुल्तान घोषित कर दिया। उसने गुलामों का अपना एक दल तैयार किया, जिन्हें **शम्सी मलिक** (शम्सी-शमसुद्दीन इल्तुतमिश के नाम पर) कहा गया। बर्नी **इन्हें तुरकान-ए-चिहिलगानी** (चालीस का दल) कहता है। इल्तुतमिश के अमीरों में बहुत से **ताजिक** या जन्म से स्वतंत्र (गुलाम के विपरीत) अधिकारी भी थे। मिन्हाज-उस सिराज के अनुसार, नासिरूद्दीन महमूद के सिंहासनारोहण के समय (1246 ई.) शासक वर्ग में अप्रवासी (बाहर से आए हुए) स्वतंत्र **अमीर** भी थे। इल्तुतमिश की मृत्यु के बाद उत्तराधिकार के संघर्ष ने **अमीरों** के मतभेदों को उजागर किया।

शासक वर्ग में आपसी मतभेदों के बावजूद इनमें एक बुनियादी भाईचारा था, जिसकी झलक इस वर्ग से बाहर के व्यक्तियों के विरुद्ध शत्रुता में दिखाई देती है। रज़िया (1236–1240 ई.) ने जब एक हब्शी (एबीसीनियन) गुलाम जमालुद्दीन याकूत को **अमीर-ए आख़ुर** ("शाही घोड़ों के विभाग का प्रधान") का पद दिया तो अत्यधिक असंतोष उभरा। इसी प्रकार का विरोध इमादउद्दीन रेहान (सुल्तान नासिरूद्दीन महमूद के काल में) को एक महत्वपूर्ण पद देने का हुआ, क्योंकि वह एक हिन्दू था, जो धर्म-परिवर्तित करके मुसलमान हो गया था। इस प्रकार, कुलीन होना या शासक वर्ग में स्थान कुछ विशेष वर्गों का विशेषाधिकार समझा जाता था। कभी-कभी यह कार्य "कुलीन जन्म" के सिद्धांत के आधार पर किया जाता था, जैसा कि बलबन की नीतियों से दिखाई देता है। **बर्नी** इन नीतियों का श्रेय बलबन को देता है।

अब आप समझ सकते हैं कि समान हितों के कारण कैसे प्रभावशाली गुट एकजुट रहते थे। शासक वर्ग की संरचना में प्रजाति और संभवत: धर्म भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते थे। वास्तव में, शासक वर्ग एक एकाश्म या समरूपी संगठन नहीं था। इसके कई तरह के दल और गुट थे तथा प्रत्येक गुट ईर्ष्यापूर्वक अपने विशेष हितों की रक्षा करता था। गौरी के आक्रमण के समय जो तुर्की अधिकारी या सेना नायक उसके साथ थे, वे प्रारंभिक तुर्की शासक वर्ग के केन्द्र में थे:

17.3.1 इलबरी

मुहम्मद गौरी द्वारा विजित भारतीय क्षेत्रों पर कुतुबुद्दीन ऐबक ने अधिकार प्राप्त किया। इन क्षेत्रों पर उत्तराधिकार प्राप्त करने का ऐबक को उतना ही अधिकार था, जितना यलदूज़ या कुबाचा जैसे **अमीरों** को था जिन्होंने क्रमश: गज़ना और सिंध पर अपनी स्वतंत्रता और स्वायत्तता घोषित की। यही सल्तनत के प्रारंभिक इतिहास की विशेषता रही। स्वयं को सिंहासनारूढ़ करने और सत्ता में बने रहने के लिए सुल्तान को **अमीरों** के समर्थन की आवश्यकता रहती थी। उदाहरण के लिए, इल्तुतमिश ने दिल्ली के अमीरों की सहायता से सिंहासन पर अधिकार किया। सिंहासन प्राप्त करने के प्रयासों में अथवा सुल्तान बनाने में तुर्की **अमीरों** की भूमिका बहुत महत्वपूर्ण होती थी। **बर्नी** के अनुसार, अनुभवी तुर्की **अमीर** एक-दूसरे से कहते थे कि "तुम क्या हो जो मैं नहीं हूँ और तुम क्या बनोगे जो मैं नहीं बन सकूँगा"।

प्रारंभिक तुर्की कुलीन वर्ग शासन करने के अपने विशिष्ट एकाधिकार पर बहुत अधिक बल देते थे। उनके इस एकाधिकार को जब अन्य सामाजिक दल चुनौती देते थे तो यह वर्ग नाराज़ हो जाता था और वे उसका विरोध करते थे। इल्तुतमिश की मृत्यु के बाद उसके **अमीरों** के दल **तुर्कान-ए-चिहिलगानी** ("चालीस का दल") के हाथ में काफी शक्ति आ गई। यह वर्ग काफी महत्वपूर्ण था। जब सुल्तानों ने अन्य दलों को सत्ता में भागीदार बनाने का प्रयास किया, तो इस गुट ने तीव्र विरोध किया। आप जानते ही हैं कि जब रज़िया ने एबीसीनिया के एक गुलाम याकूत को **अमीर-ए आखुर** का पद दिया तो तुर्की **अमीरों** ने विरोध किया। जब नासिरूद्दीन महमूद (1246–1266 ई.) ने इस गुट की शक्ति का दमन करने के लिए बलबन (जो चालीस के गुट में था) को महत्वपूर्ण पद से हटाकर इमादउद्दीन रेहान, जो एक धर्म-परिवर्तित मुस्लिम था, को उसके स्थान पर बैठाया तो सफलता नहीं मिली। समकालीन इतिहासकार मिन्हाज "शुद्ध नस्ल के तुर्कों" का पक्ष लेते हुए कहता है कि वह "हिन्दुस्तान की प्रजाति के इमादउद्दीन रेहान का अपने ऊपर शासन करना कैसे सहन कर सकते थे।" तुर्की **अमीर** वर्ग के विरोध के सामने असमर्थ सुल्तान ने रेहान को हटाकर बलबन को पुनर्स्थापित कर दिया।

MAADHYAM IAS

जब बलबन स्वयं सुल्तान बना (1266–1286 ई.) तो उसने **तुर्कान-ए-चिहिलगानी** की शक्ति का दमन करने के लिए कई कदम उठाए। वह स्वयं ऐसे **अमीरों** की सहायता से सत्ता में आया था, जो उसके प्रति वफादार थे। बर्नी के अनुसार, बलबन ने अनेक वरिष्ठ तुर्की **अमीरों** की हत्या कराई। यह उन तुर्की **अमीरों** को, जो सुल्तान को चुनौती दे सकते थे, भयभीत करने का प्रयास था। बर्नी के अनुसार, बलबन ने स्वयं सुल्तान नासिरूद्दीन को अपनी "कठपुतली" (नमूना) बनाकर रखा था। इसलिए वह अग्रणी तुर्की **अमीरों** के प्रति सशंकित था।

17.3.2 खलजी

सन् 1290 ई. में खलजी वंश ने इलबरी वंश को उखाड़ फेंका। खलजियों का सत्ता में आना समकालीन इतिहासकारों के लिए एक बिल्कुल नई बात थी। बर्नी कहता है कि खलजी तुर्कों से भिन्न एक अलग "नस्ल" के थे। सी. ई. बोसवर्थ जैसे आधुनिक इतिहासकार उन्हें तुर्क ही मानते हैं, परन्तु तेरहवीं शताब्दी में उन्हें कोई तुर्क नहीं मानता था। इसलिए उनका सत्ता में आना एक विलक्षण और नवीन घटना के रूप में देखा गया, क्योंकि वह **अमीर** और शासक वर्ग के महत्वपूर्ण अंग नहीं थे। अलाउद्दीन खलजी ने तुर्की **अमीरों** की शक्ति का अंत करने के लिए अपने कुलीन या **अमीर** वर्ग में नए लोगों को सम्मिलित किया। इनमें प्रमुख थे मंगोल (नव या नए मुस्लिम), भारतीय और एबीसीनियावासी (मलिक काफूर एबीसीनियाई वर्ग का सुप्रसिद्ध उदाहरण है) **अमीर** वर्ग की संरचना में विस्तार की यह प्रक्रिया तुगलक वंश के काल में भी जारी रही।

प्रसंगवश हम यहाँ यह बता दें कि अलाउद्दीन खलजी और बलबन के काल में दिल्ली में **कोतवालियान** (**कोतवाल** का बहुवचन) नामक **अमीरों** का एक छोटा सा गुट था। वास्तव में, यह एक परिवार का गुट था, जिसका प्रमुख दिल्ली का **कोतवाल** फखरूद्दीन था। ऐसा प्रतीत

17.3.3 तुगलक

मुहम्मद तुगलक के काल में भारतीय और अफगान **अमीरों** के प्रवेश के अतिरिक्त अमीर वर्ग में अभूतपूर्व विषमता आ गई। इसमें काफी संख्या में विदेशी तत्व, विशेषकर खुरासानी, सम्मिलित हो गए जिन्हें सुल्तान अइज़्ज़ा (प्रिय) कहता था। इनमें से बहुत से अमीर सादह ("एक सौ के नायक") के रूप में नियुक्त किए गए। बर्नी इस बात के लिए शोक प्रकट करता है कि सुल्तान ने "निम्न कुल में जन्मे" (जवाहर-ए लुतरह) व्यक्तियों को ऊंचे पद प्रदान कर दिए हैं। वह कहता है कि गाने-बजाने वाले, नाई और रसोइयों को उच्च पद दे दिए गए। वह नामों के साथ कुछ उदाहरण देता है जैसे पीरा माली को दीवान-ए विज़ारत दिया गया। धर्म (इस्लाम) में नए परिवर्तित अज़ीज़उद्दीन खम्मार (अर्क निकालने वाला या आसवक) और कवामुल मुल्क मकबूल, तथा मलिक मख और मलिक साहू लोदी अफगान जैसे अफगानों; और साई राज धारा तथा भीरन राम जैसे हिन्दुओं को **इक्ता** और पद दिए गए।

फीरोज़ तुगलक के काल में कुलीनों की सामाजिक पृष्ठभूमि के विषय में कोई स्पष्ट संकेत नहीं मिलते। ऊपरी तौर पर सुल्तान और अमीरों के बीच अस्थिर शांति प्रतीत होती है।

अमीरों के लिए **खान**, **मलिक** और **अमीर** जैसे पदनामों का प्रयोग किया जाता था। अफगान कुलीनों के लिए बहुधा **खान** पदनाम प्रयोग किया जाता था, **अमीर** का तात्पर्य नायक से था; **मलिक** का उपयोग राजा, शासक या प्रधान के अर्थ में होता था। सम्मान सूचक उपाधियों के अतिरिक्त **अमीरों** को कुछ वैभव तथा सम्मान के प्रतीक चिन्ह भी दिए जाते थे, जिन्हें **मरातिब** कहते थे और जो **अमीरों** के विशेषाधिकार के प्रतीक थे। जैसे — **खिलत** (सम्मान सूचक वस्त्र), सुल्तान द्वारा तलवार या कटार भेंट करना, शोभा यात्रा में घोड़े और हाथी प्रयोग करने का अधिकार, राजचिन्ह-युक्त छतरी, राजचिन्ह धारण करने और नगाड़ा तथा नक्कारा बजाने का अधिकार।

यह तथ्य विशेष ध्यान देने योग्य है कि प्रत्येक सुल्तान **अमीरों** का एक ऐसा गुट संगठित करने का प्रयास करता था, जो स्वयं उसके प्रति वफादार हो। इस नीति के द्वारा सुल्तान को पहले से मौजूद उस **अमीर** वर्ग पर निर्भर रहने की आवश्यकता नहीं रहती थी जिसकी वफादारी संदेहास्पद होती थी। समकालीन इतिहासकारों के विवरणों में हमें इसीलिए **अमीरों** के संदर्भ कुतुबी (कुतुबुद्दीन ऐबक के), शम्सी (शमसुद्दीन इल्तुतमिश के), बलबनी (बलबन के) और अलाई (अलाउद्दीन खलजी के) **अमीरों** के रूप में मिलते हैं। यहाँ यह स्पष्ट करना प्रासंगिक होगा कि चाहे सुल्तान शक्तिशाली हो या कमज़ोर, **अमीरों** का प्रत्येक गुट उसकी कृपा-दृष्टि प्राप्त करने का भरसक प्रयास करता था क्योंकि सभी विशेषाधिकार और शक्तियों का स्रोत सुल्तान ही था। अगर सुल्तान दृढ़ इच्छा शक्ति का स्वामी होता था तो उसकी यह स्थिति उसकी सत्ता को मज़बूत करने में बहुत सहायक सिद्ध होती थी।

दिल्ली सल्तनत के इस सामंती अधिकारी वर्ग में अफगान काफी संख्या में शामिल रहते थे। लोदी वंश (1451–1526 ई.) के सत्ता में आने से **अमीर** वर्ग में अफगानों की प्रधानता स्थापित हो गई।

बोध प्रश्न 1

1) इल्बरी शासकों के काल में शासक वर्ग की संरचना का विश्लेषण कीजिए।

....
....
....
....
....
....

2) खलजी और तुगलक शासकों के समय में अमीर वर्ग के संघटन एवं संरचना में क्या परिवर्तन आए?

....

. . . .

. . . .

. . . .

. . . .

3) निम्न कथनों के समक्ष सही (✓) या गलत (×) का निशान लगाइए:
   क) तेरहवीं शताब्दी में तुर्की अमीरों को वेतन नकद धन के रूप में मिलता था।
   ख) मुहम्मद तुगलक ने अपने अमीर वर्ग में विभिन्न सामाजिक पृष्ठभूमि के व्यक्तियों को सम्मिलित किया।
   ग) बर्नी खलजियों को तुर्क मानता है।

17.4 इक्ता और शासक वर्ग में संसाधनों का वितरण

इकाई 16 में आप **इक्ता** व्यवस्था, इस्लामी विश्व में इसका आरंभिक इतिहास और भारत में उसके प्रयोग के विषय में अध्ययन कर चुके हैं। सल्तनत की आय का प्रमुख साधन था भूमिकर। जिस भूमि की आय सुल्तान के लिए सुरक्षित रहती थी, उसे **खालिसा** कहा जाता था। **इक्ता** वह भू-भाग था, जिसकी आय अमीरों को अनुदान में दी जाती थी **मुक्ती** अथवा **इक्ता**-धारकों को अपने क्षेत्र से भू-राजस्व जमा करना होता था और वहां कानून व्यवस्था बनाए रखनी होती थी। साथ ही साथ, आवश्यकता पड़ने पर इन लोगों को सुल्तान के लिए सैनिक सहायता की व्यवस्था भी करनी होती थी।

यह राजस्व या भूमि अनुदान स्थानांतरणीय थे और वंशानुगत नहीं होते थे। वास्तव में, **इक्ता** व्यवस्था द्वारा ही सुल्तान अमीरों पर अपना नियंत्रण स्थापित करता था। **मुक्ती** अपने क्षेत्र के किसानों से भू-राजस्व वसूल करने के पश्चात उसमें से स्वयं अपना और अपने सैनिकों का वेतन ले लेता था। अतिरिक्त या बचे हुए धन (**फवाज़िल**) को **दीवान-ए विज़ारत** में भेजना केंद्रीकरण का द्योतक था। **मुक्ती** को अपनी आय और व्यय का विवरण भी केन्द्रीय कोषागार को भेजना होता था। धोखाधड़ी रोकने के लिए कठोर लेखा-परीक्षण किया जाता था।

अलाउद्दीन खलजी ने अपने अमीरों पर नियंत्रण रखने के लिए कई कदम उठाए। **बरीदों** (गुप्तचर अधिकारी) के नियमित विवरण (या रिपोर्ट) द्वारा सुल्तान को अमीरों की गतिविधियों की सूचना प्राप्त होती रहती थी। उनके आपसी मेल-मिलाप पर भी नज़र रखी जाती थी। अमीरों और उनके परिवारों के बीच आपसी वैवाहिक संबंध स्थापित करने के लिए भी सुल्तान की अनुमति लेना आवश्यक था। राज्य के इन उपायों को बार-बार होने वाले विद्रोहों की पृष्ठभूमि में देखना होगा। अपने-अपने क्षेत्रों के संसाधनों का दुरुपयोग करके **मुक्ती** विद्रोह करते थे या सिंहासन पर अधिकार करने की चेष्टा करते थे। इसी कारण से **इक्तों** का स्थानांतरण भी युक्तिसंगत माना जा सकता है। मुहम्मद तुगलक के काल में (1325–1351 ई.) अमीरों को तो नकद वेतन के बदले में **इक्ता** दिया जाता था, परन्तु पूर्व व्यवस्था के विपरीत उनके सैनिकों के वेतन का वितरण कोषागार से नकद धन के रूप में किया जाता था। यह नई वित्तीय व्यवस्था और **इक्ता** अनुदानों पर बढ़ा हुआ नियंत्रण ही संभवत: सुल्तान और अमीरों के बीच संघर्ष का कारण बना क्योंकि इस नई व्यवस्था के कारण अमीरों को **इक्ता** से होने वाले अनेकों लाभों से हाथ धोना पड़ा। परन्तु फीरोज़ तुगलक के काल में राज्य की नीति में बदलाव आया और **इक्ता** पर केन्द्रीय नियंत्रण में ढील दी गई। यहाँ तक कि फीरोज़ ने **इक्ता**-धारकों की मृत्यु के बाद उनके पुत्रों और वंशजों को **इक्ता** देने की परम्परा आरंभ की। तुलनात्मक दृष्टि से फीरोज़ तुगलक के लम्बे शासन काल में बहुत कम विद्रोह हुए, परन्तु इसी काल में राज्य का विकेंद्रीकरण और बिखराव भी शुरू हुआ। लोदी वंश (1451–1526 ई.) के काल तक **इक्ता**-धारकों (इन्हें अब **वजहदार** कहा जाता था) का स्थानांतरण अथवा बदली करने की प्रथा समाप्त हो गई।

17.5 उलेमा

सल्तनत में **उलेमा** अथवा धार्मिक वर्ग का महत्वपूर्ण स्थान था। महत्वपूर्ण वैधानिक और न्यायिक पदों पर नियुक्ति इसी वर्ग से की जाती थी। इनमें प्रमुख थे: **सद्र**, **शेख-उल इस्लाम**, **काज़ी**, **मुफ्ती**, **मुहतसिब**, इमाम तथा **खतीब**। उलेमा को शासक वर्गों का ही एक अंग माना जा सकता है। इस वर्ग के रख-रखाव के लिए भी सुल्तान द्वारा कर मुक्त भूमि अनुदान दिए जाते थे। बहुधा यह अनुदान अमीर वर्ग द्वारा भी दिये जाते थे। वैचारिक और सैद्धांतिक धरातल पर **उलेमा** का महत्व काफी अधिक था, क्योंकि यह शासक वर्ग के पद और स्थिति की न्यायसंगति अथवा औचित्य प्रमाणित करते थे। यह एक ऐसा प्रभाव था जो केवल धार्मिक ही नहीं, बल्कि कई बार राजनीतिक भी होता था।

बोध प्रश्न 2

1) **इक्ता** व्यवस्था की दो प्रमुख विशेषताएँ लिखिए।

   i) ....

   ....

   ....

   ii) ....

   ....

   ....

2) अमीर वर्ग को नियंत्रित करने के लिए अलाउद्दीन खलजी ने क्या नीतियाँ अपनाई ?

....

....

....

....

....

....

3) निम्न वक्तव्यों के समक्ष सही (✓) या गलत (X) का निशान लगाइए:

क) i) **इक्ता** वंशानुगत अनुदान थे।
   ii) **इक्ता** अमीरों की व्यक्तिगत सम्पत्ति होते थे।
   iii) सामान्यत: **इक्ता** स्थानांतरणीय राजस्व अनुदान होते थे।

ख) i) **मुक्ती** सुल्तान के व्यक्तिगत अंगरक्षक होते थे।
   ii) **मुक्ती** धार्मिक शिक्षा देते थे।
   iii) **मुक्ती** प्रांतीय गवर्नर होते थे, जिन्हें **इक्ता** अनुदान दिए जाते थे।

ग) **फवाज़िल**
   i) अमीरों को दिया जाने वाला अतिरिक्त धन था।
   ii) वह अतिरिक्त आय थी, जो इक्ता-धारकों द्वारा कोषागार में जमा की जाती थी।
   iii) नकद वेतन के स्थान पर दिया जाने वाला राजस्व अनुदान था।

17.6 सारांश

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

अपने से पहले के सभी शासक वर्गों से भिन्न था। प्रारंभ में इसने मुख्य रूप से अपना विदेशी (तुर्की) चरित्र बनाए रखा, परन्तु धीरे-धीरे सम्मिश्रण की प्रक्रिया बढ़ती गई। सुल्तानों ने भी विभिन्न सामाजिक वर्गों से अमीरों को लेना प्रारंभ कर दिया। इस प्रकार अमीर वर्ग की प्रकृति और चरित्र विस्तृत होता गया। इसमें केवल तुर्क ही नहीं, बल्कि भारतीय मुसलमान, गैर-मुस्लिम और विदेशी (एबीसीनिया वासी) भी सम्मिलित हो गए। **उलेमा** वर्ग को भी शासक वर्ग का एक अंग माना जा सकता है। इनके रख-रखाव के लिए भी राज्य द्वारा कर मुक्त राजस्व अनुदान अथवा **वज़ीफा** (नकद) मिलता था।

17.7 शब्दावली

अमीर-ए आखुर: शाही अस्तबल/घोड़ों का प्रमुख

अमीर-ए सादह: "शतपति", एक सौ का नायक

खत-ए आज़ादी: दास मुक्ति-पत्र

ताजिक: एक प्रजाति/स्वतंत्र पैदा हुए अमीर (जो जन्म से गुलाम नहीं हों)

तुर्कान-ए चिहिलगानी: "चालीस का दल" (इल्तुतमिश के तुर्की अमीरों का समूह)

उलेमा: धर्मशास्त्री

वजहदार: वेतनभोगी कर्मचारी/इक्ता-धारक।

17.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

बोध प्रश्न 1

1) उपभाग 17.3.1 देखिए।
2) उपभाग 17.3.2 और उपभाग 17.3.3 देखिए।
3) क) ×, ख) ✓, ग) ×

बोध प्रश्न 2

1) भाग 17.4 देखिए।
2) भाग 17.4 देखिए।
3) क) (i) ×, (ii) ×, (iii) ✓
   ख) (i) ×, (ii) ×, (iii) ✓
   ग) (i) ×, (ii) ✓, (iii) ×

इकाई 18 समस्या, संकट और ह्रास

इकाई की रूपरेखा

18.0 उद्देश्य
18.1 प्रस्तावना
18.2 राजत्व की प्रकृति
18.3 सुलतान और अमीरों के बीच संघर्ष
18.4 राजस्व प्रशासन का संकट
18.5 क्षेत्रीय राज्यों का उदय
18.6 मंगोल
18.7 सारांश
18.8 शब्दावली
18.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

18.0 उद्देश्य

दिल्ली के सुल्तानों को अनेक राजनीतिक और प्रशासनिक समस्याओं का सामना करना पड़ा। समय के साथ-साथ यह समस्याएँ इतनी गहन हो गई कि इन्होंने राजनीतिक संकट को जन्म दिया और अंततः राजवंशों को पतन की ओर ले गई। इस इकाई से आप निम्न पहलुओं के बारे में समझ सकेंगे:

- राजत्व की प्रकृति,
- सुल्तान और अमीरों अथवा कुलीनों के बीच संघर्ष,
- वित्तीय व्यवस्था के संकट,
- क्षेत्रीय शक्तियों के उदय; और
- मंगोल।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

18.1 प्रस्तावना

सल्तनत काल (1206–1526) में भारत में पाँच राजवंशों ने शासन किया: (i) इलबरी वंश, (ii) खलजी वंश, (iii) तुगलक वंश, (iv) सैय्यद वंश; तथा (v) लोदी वंश।

चूँकि तुर्क मध्य एशिया से आये थे इसलिए प्रारंभिक काल में वे भारत की राजनीतिक तथा आर्थिक व्यवस्था से पूर्णतया परिचित नहीं थे। इसलिए अपने शासन को बनाए रखने के लिए उन्होंने कई प्रशासनिक व्यवस्थाएँ प्रारम्भ कीं जो कुछ परिवर्तनों के साथ काफी समय तक प्रचलन में रहीं। उस काल के राजनीतिक इतिहास के अध्ययन से पता चलता है कि शासकों को बहुत-सी आंतरिक समस्याओं और बाह्य संकटों का सामना करना पड़ा। विशेष कर सुल्तान और अमीर वर्ग के बीच के लगातार संघर्ष ने दिल्ली सल्तनत को पतन की ओर अग्रसर किया।

18.2 राजत्व की प्रकृति

सल्तनत में किसी स्पष्ट और परिभाषित उत्तराधिकार के नियम का विकास नहीं हुआ। वंशानुगत या पैतृक उत्तराधिकार का सिद्धांत स्वीकार तो किया जाता था, परन्तु हमेशा उसका

पालन नहीं किया जाता था। ऐसा भी कोई नियम नहीं था कि केवल बड़ा पुत्र ही सिंहासन का उत्तराधिकारी होगा। एक बार तो एक पुत्री को भी शासन दिया गया (उदाहरण के लिए – रज़िया)। परन्तु किसी भी हालत में कोई गुलाम तब तक शासक नहीं बन सकता था, जब तक कि वह अपना मुक्ति-पत्र या स्वतंत्रता न प्राप्त कर ले। वास्तव में, उत्तराधिकार जिस रूप में सल्तनत में प्रचलित था, उसके विषय में कहा जा सकता है कि "जिसकी जितनी लंबी तलवार उसका उतना ही अधिक अधिकार।"

इस प्रकार, उत्तराधिकार के नियम के अभाव के कारण आरंभ से ही सत्ता पर अधिकार करने के लिए षड्यंत्र होने लगे। ऐबक की मृत्यु के बाद उसका पुत्र आराम शाह नहीं बल्कि ऐबक का दामाद और गुलाम-इल्तुतमिश पदारूढ़ हुआ। इल्तुतमिश की मृत्यु (1236) के बाद भी लम्बे समय तक सत्ता का संघर्ष और संकट चलता रहा। अंतत: 1266 ई. में इल्तुतमिश के गुलाम बलबन ने, जो "चालीस के दल" का सदस्य भी था, गद्दी पर अधिकार कर लिया। आप पहले ही पढ़ चुके हैं कि किस प्रकार बलबन ने राजत्व के विचार को एक नया रूप दिया और सुल्तान के पद की प्रतिष्ठा को पुनर्स्थापित करने का प्रयास किया। लेकिन बलबन की मृत्यु के बाद हुए सत्ता के संघर्ष ने एक बार फिर दिखा दिया कि उत्तराधिकार का फैसला "तलवार" ही कर सकी। बलबन द्वारा नामांकित कैख़ुसरो की जगह कैक़ुबाद गद्दी पर बैठा दिया गया। बाद में खलजी अमीरों ने उसकी भी हत्या कर दी और खलजी वंश की नींव डाली। सन् 1296 में अलाउद्दीन खलजी ने अपने चाचा जलालुद्दीन खलजी की हत्या करके सत्ता पर अधिकार कर लिया। अलाउद्दीन की मृत्यु के बाद भी गृह युद्ध और सत्ता छीनने का संघर्ष शुरू हो गया। अमीरों के विद्रोहों के कारण मुहम्मद तुगलक का शासन कमज़ोर हुआ। फीरोज़ तुगलक की मृत्यु के बाद सत्ता की स्पर्धा ने तुगलक वंश का अंत करके सैय्यद वंश (1414–1451) की स्थापना का मार्ग प्रशस्त किया।

लोदी वंश (1451–1526) की स्थापना के साथ एक नया तत्व — अफगान सामने आया। प्रभुसत्ता या राजतंत्र के विषय में अफगानों के विचार बहुत भिन्न थे। वे अपने ऊपर सुल्तान की सत्ता मानने को तो तैयार थे, परन्तु पूरे राज्य को अपने प्रजातीय दलों या कुल (फरमूली, सरवानी, नियाज़ी आदि) में बांटना चाहते थे। सिकन्दर लोदी की मृत्यु के बाद (1517 ई.), साम्राज्य का बंटवारा इब्राहीम और जलाल के बीच हो गया। शाही विशेषाधिकार और सुविधाओं का भोग भी कुल के सदस्य समान रूप से बाँटते थे। उदाहरण के लिए, हाथी रखना सुल्तान का विशेषाधिकार था, परन्तु कहा जाता है कि आज़म हुमायूं सरवानी के पास लगभग 700 हाथी थे।

MAADHYAM IAS

इसके अतिरिक्त अफगान अपनी प्रजातीय सेना रखने के सिद्धांत में भी विश्वास करते थे। इसने आगे चलकर केन्द्रीय सरकार की सैनिक क्षमता को हानि पहुँचाई। सिकन्दर लोदी ने अफगान अमीरों पर नियंत्रण रखने की चेष्टा की, परन्तु अफगान विचारधारा का झुकाव विकेंद्रीकरण की ओर था। इस विचार ने अंत में राज्य में दरार पैदा कर दी।

18.3 सुल्तान और अमीरों के बीच संघर्ष

सल्तनत काल का राजनीतिक इतिहास दर्शाता है कि सल्तनत का संगठन और ह्रास मुख्यत: कुलीनों (अमीरों) की रचनात्मक और विनाशकारी गतिविधियों का परिणाम था। अमीरों की लगातार यह चेष्टा थी कि वे अधिकतम राजनीतिक एवं आर्थिक लाभ प्राप्त कर लें।

इलबरी वंश (1206–90 ई.) के दौरान संघर्ष के तीन प्रमुख मुद्दे थे — उत्तराधिकार, अमीर वर्ग का संघटन और सुल्तान तथा अमीरों के बीच आर्थिक एवं राजनीतिक शक्तियों का विभाजन। जब कुतुबुद्दीन ऐबक सुल्तान बना तो प्रभावशाली अमीरों ने उसकी सत्ता को स्वीकार नहीं किया। इनमें प्रमुख थे कुबाचा (मुल्तान और उच्छ का गवर्नर), यल्दूज़ (गज़नी का गर्वनर) तथा अली मर्दान (बंगाल का गवर्नर)। इल्तुतमिश को भी यह समस्या उत्तराधिकार में मिली। उसने कूटनीतिज्ञता और शक्ति के प्रयोग से इसका समाधान किया। बाद में इल्तुतमिश ने अमीरों को **तुर्कान-ए-चिहिलगानी** ("चालीस का दल") नामक सामूहिक गुट में संगठित किया। यह गुट व्यक्तिगत रूप से उसके प्रति वफादार था। "चालीस के दल" के अमीरों की

(देखिए इकाई 17)। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं था कि "चालीस के दल" में आंतरिक मतभेद और कलह नहीं था। केवल एक बात पर इनके विचारों में पूरी एकता थी — इस विशिष्ट गुट में गैर-तुर्की अमीरों के प्रवेश को रोकना। "चालीस का दल" लगातार यह कोशिश करता रहता था कि सुल्तान पर उसका प्रभाव बना रहे। सुल्तान भी इस दल को नाराज़ करना नहीं चाहता था, लेकिन सुल्तान अन्य दलों के अमीरों को उच्च पदों पर नियुक्त करने का अधिकार भी नहीं छोड़ना चाहता था। इस सबके बीच इल्तुतमिश ने एक अत्यन्त कौशलपूर्ण संतुलन बनाए रखा, परन्तु उसकी मृत्यु के बाद यह संतुलन समाप्त हो गया। उदाहरण के लिए, इल्तुतमिश ने अपने जीवनकाल में ही अपनी पुत्री रजिया को अपना उत्तराधिकारी घोषित कर दिया था। परन्तु उसकी मृत्यु के बाद कुछ अमीरों ने रज़िया को शासक स्वीकार नहीं किया, क्योंकि उसने "चालीस के दल" के दबाव का मुकाबला करने के लिए गैर-तुर्की (एबीसीनियाई और भारतीय) अमीरों को संगठित करना शुरू किया।

इस दल (चालीस का दल) के काफी अमीरों द्वारा रज़िया का विरोध करने का यही एक मुख्य कारण था। इन लोगों ने उसके भाई रूक्नुद्दीन को समर्थन दिया, क्योंकि वह अयोग्य और कमज़ोर था। उन्हें पूरी आशा थी कि वह उनकी शक्ति को नष्ट करने का प्रयास नहीं करेगा। नसीरूद्दीन महमूद (1246–66 ई.) के शासन काल में भी यही संघर्ष चलता रहा। बलबन का हटाया जाना सबसे बड़ा शक्ति परीक्षण था। बलबन सुल्तान महमूद का **नायब** (उप) था और "चालीस के दल" का सदस्य था। सुल्तान ने उसे हटाकर उसके स्थान पर एक भारतीय मुसलमान इमादउद्दीन रेहान की नियुक्ति की। अमीरों के तीव्र विरोध के सामने सुल्तान को झुकना पड़ा। रेहान को हटाकर बलबन को पुनर्स्थापित किया गया।

बलबन के शासन काल (1266–87 ई.) में **तुर्कान-ए-चिहिलगानी** का प्रभाव कम हो गया। सुल्तान बनने से पहले बलबन स्वयं "चालीस के दल" का सदस्य था। इसलिए वह अमीरों की विद्रोही प्रवृत्ति से भली-भांति परिचित था। अत: बलबन ने उनमें से सर्वाधिक शक्तिशाली अमीरों को अपना निशाना बनाया और कई अमीरों की हत्या करा दी। उसने अपने रिश्ते के भाई को भी नहीं छोड़ा और उसे मरवा दिया। साथ ही उसने अपने प्रति वफादार अमीरों के एक गुट का गठन भी किया, जिन्हें "बलबनी" कहा गया। "चालीस के दल" के अनेकों अनुभवी अमीरों के हटाए जाने से राज्य उनकी सेवाओं से वंचित रह गया। "बलबनी" गुट के अनुभवहीन अमीर इस कमी को पूरा नहीं कर पाए। इसके परिणामस्वरूप इलबरी वंश के शासन का अंत और खलजी वंश की स्थापना हुई।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

अलाउद्दीन खलजी के शासन काल (1296–1316 ई.) में अमीरों के समूह की संरचना का विस्तार हुआ। अब अमीरों का कोई एक दल राज्य पर अपने एकाधिकार का दावा नहीं कर सकता था। अब नियुक्ति का मुख्य आधार स्वामीभक्ति और योग्यता था कोई विशेष प्रजाति या मत नहीं। साथ ही, वह अमीरों पर विभिन्न प्रकार से नियंत्रण भी रखता था (देखिए इकाई 17)। इसके अतिरिक्त, अलाउद्दीन द्वारा भू-राजस्व की दर को 50 प्रतिशत तक बढ़ाने से (देखिए इकाई 16) भी अमीरों को संतुष्टि हुई होगी क्योंकि **इक्तों** की आय बढ़ने से उनके वेतन भी बढ़ गए होंगे। सीमाओं के विस्तार के कारण संसाधनों में भी इतनी वृद्धि हो गई कि योग्यता के आधार पर नए व्यक्तियों को स्थान मिल सके। मलिक काफूर नामक अबीसीनियाई गुलाम का उदाहरण सुप्रसिद्ध है (वह गैर-तुर्की होते हुए भी सर्वाधिक महत्वपूर्ण अमीर बन गया)। परन्तु यह स्थिति बहुत लम्बे समय तक न चल सकी। अलाउद्दीन खलजी की मृत्यु के बाद अमीरों के बीच षड्यंत्र और संघर्ष खुलकर होने लगे तथा खलजी वंश के शासन का अंत हो गया।

जहाँ तक तुगलक वंश का प्रश्न है तो आप देख ही चुके हैं कि मुहम्मद तुगलक ने किस प्रकार घुमा-फिराकर बार-बार अमीरों को संघटित करने का प्रयास किया (इकाई 17)। लेकिन उनपर नियंत्रण रखने के उसके सभी प्रयत्न विफल हुए। खुरासानी अमीरों, जिन्हें वह "**अइज़्ज़ा**" (प्रिय) कहता था, ने भी उसे धोखा दिया। अमीरों द्वारा उत्पन्न की गई समस्याओं का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि उसके विरुद्ध लगभग 22 विद्रोह हुए और उसे अपना एक बड़ा क्षेत्र खोना पड़ा (दक्कन का यह क्षेत्र बहमनी राज्य के नाम से प्रसिद्ध हुआ)।

मुहम्मद तुगलक की मृत्यु के बाद समस्या नियंत्रण से बाहर हो गई। इन परिस्थितियों में फीरोज़ तुगलक से अमीरों के प्रति सख्ती बरतने की अपेक्षा नहीं की जा सकती थी। उसके काल में अमीरों को बहुत-सी सुविधाएँ दी गई। अमीर अपने **इक्तों** को वंशानुगत बनाने में

सफल हुए। सुल्तान की तुष्टिकरण की नीति अमीरों को प्रसन्न रख सकी, परन्तु आगे चलकर यह विनाशकारी सिद्ध हुई। सेना अत्यन्त अयोग्य और अक्षम हो गई, क्योंकि अलाउद्दीन खलजी द्वारा प्रारंभ की गई घोड़े दागने की प्रथा लगभग समाप्त कर दी गई थी। अत: फीरोज़ तुगलक के बाद उसके उत्तराधिकारी और बाद के शासकों के लिए दिल्ली सल्तनत के पतन के प्रवाह को रोकना असंभव था।

सैय्यद (1414–51 ई.) और लोदी वंश (1451–1526 ई.) के काल में स्थिति कुछ उत्साहवर्धक नहीं दिखाई देती। सैय्यद तो संकट से निबटने की न तो इच्छा ही रखते थे और न ही वह इस योग्य थे। सिकन्दर लोदी ने आते हुए विनाश को रोकने का अंतिम प्रयास किया। लेकिन अफगानों के आंतरिक मतभेद और उनकी असीमित व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाओं ने पतन की प्रक्रिया को और तीव्र कर दिया। अंतत: दिल्ली सल्तनत पर अंतिम प्रहार बाबर के हाथों हुआ।

बोध प्रश्न 1

1) सबसे बड़े पुत्र को गद्दी मिलने के नियम के अभाव का दिल्ली सल्तनत के पतन में क्या योगदान रहा ?

....

....

....

....

....

2) अफगानों के राजत्व के सिद्धांत की प्रमुख विशेषताएँ बताइए।

....

....

....

....

....

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

3) सल्तनत के पतन में अमीरों की भूमिका का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।

....

....

....

....

....

....

18.4 राजस्व प्रशासन का संकट

इल्तुतमिश ने **इक्ता** व्यवस्था के रूप में एक ठोस राजस्व अनुदान की नीति आरंभ की थी। इस व्यवस्था के द्वारा एक विशाल प्रशासनिक तंत्र के रख-रखाव की व्यवस्था की जाती थी। फीरोज़ तुगलक के काल में इस व्यवस्था के कार्यान्वयन में विकृति आ गई। उसके शासन काल में राजस्व अनुदान या **इक्ता** वंशानुगत और स्थायी हो गए। यह (शाही ?) सैनिकों **(यारान-ए हश्म)** पर लागू होता था। अफीफ के अनुसार, "किसी व्यक्ति की मृत्यु होने पर उसका पद स्थायी रूप से उसके पुत्र को मिल जाता था। अगर उसके कोई पुत्र न हो तो उसके दामाद को मिलता। अगर दामाद न हो तो उसके गुलाम को मिलता। अगर कोई गुलाम भी नहीं

धारकों से बचा हुआ अतिरिक्त धन (**फवाज़िल**) खजाने में जमा कराना बंद कर दिया। उसके काल में **इक्ता**-धारकों द्वारा अपने अनुदान को पुन: अपने आधीन अन्य लोगों को अनुदानित करने की प्रथा भी बढ़ गई।

इस सबका बहुत गंभीर प्रभाव पड़ा। इससे राज्य को केवल राजस्व की भारी हानि ही नहीं हुई, बल्कि स्थायी अनुदान के कारण अनुदान-धारकों ने अपने क्षेत्रों में अपनी जड़ें भली भांति जमा लीं, जिससे भ्रष्टाचार और विद्रोहों को बढ़ावा मिला।

18.5 क्षेत्रीय राज्यों का उदय

आप पहले ही पढ़ चुके हैं कि सल्तनत की स्थापना के समय से ही दिल्ली के सुल्तानों और उनके अमीरों के बीच संघर्ष चल रहे थे। लेकिन जब केन्द्रीय शक्ति मज़बूत थी तो विद्रोह सफलतापूर्वक दबा दिए गए। मुहम्मद तुगलक के शासन काल में 1347 में बहमनी राज्य की स्थापना के समय पहली बार राज्य के विघटन के लक्षण दिखाई दिए। परन्तु अगले पचास वर्षों तक सल्तनत सलामत (अक्षुण्ण) बनी रही। सन् 1398 में तैमूर के आक्रमण ने इसकी कमज़ोरियों को उजागर कर दिया। इसने अमीरों को सुल्तान की सत्ता से स्वतंत्र प्रभाव क्षेत्र विकसित करने का अवसर प्रदान किया। महत्वपूर्ण प्रांतीय गवर्नर अपने स्वतंत्र राज्य स्थापित करने लगे। मालवा में दिलावर खान (1401) ने, गुजरात में जफर खान (1407) ने, जौनपुर में ख्वाजा जहाँ (1394) ने तथा पन्द्रहवीं शताब्दी में राजस्थान के कुछ क्षेत्रों ने अपनी स्वतंत्रता की घोषणा कर दी। बंगाल तो बुगरा खां के समय (13वीं सदी के अंत) से ही अर्द्ध-स्वतंत्र था (खंड 8 में क्षेत्रीय राज्यों पर विस्तार से चर्चा की जाएगी)। सल्तनत का वास्तविक प्रभाव क्षेत्र दिल्ली के आसपास के 200 मील तक सीमित हो गया था। इसके बहुत गहरे परिणाम हुए। गुजरात, मालवा, बंगाल और जौनपुर जैसे उपजाऊ क्षेत्रों के निकल जाने से राज्य के राजस्व संसाधनों में भारी कमी आई। विद्रोही तत्वों का दमन करने के लिए अब राज्य लम्बे युद्ध करने की स्थिति में नहीं था। सैय्यद और लोदी सुल्तानों के काल में तो स्थिति इतनी खराब हो गई थी कि नियमित राजस्व जमा करने के लिए भी वार्षिक सैनिक अभियान भेजने पड़ते थे।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

उदाहरण के लिए, 1414 से 1432 ई. तक लगातार मेवात और कटेहर के छोटे-छोटे राजाओं के दमन के लिए सेनाएँ भेजनी पड़ी। इसी तरह बयाना और ग्वालियर के छोटे राज्य भी राजस्व देने से कतराने लगे। परिणामस्वरूप 1416 से 1506 ई. तक लगातार उनके विरुद्ध सेनाएँ भेजी गई। इस सबसे पता चलता है कि पन्द्रहवीं शताब्दी में सुल्तानों का नियंत्रण नाममात्र का ही रह गया था। इन परिस्थितियों में बहुत थोड़े से प्रयास से ही सल्तनत को उखाड़ फेंका जा सकता था।

18.6 मंगोल

दिल्ली सल्तनत के पतन के लिए मंगोल आक्रमण कहाँ तक उत्तरदायी थे? जैसा कि आप खंड 4 में पढ़ चुके हैं, सबसे पहले इल्तुतमिश के शासनकाल में दिल्ली सल्तनत पर मंगोलों का खतरा मंडराया। आपने यह भी देखा होगा कि सुल्तान ने किस प्रकार कूटनीति से इसे टाल दिया। थोड़े-थोड़े अंतराल के बाद यह आक्रमण मुहम्मद तुगलक के शासन काल तक जारी रहे। बलबन, अलाउद्दीन खलजी और मुहम्मद तुगलक मंगोलों के आक्रमण के प्रति सजग थे और उन्हें रोकने में पूर्णतया सफल रहे। मंगोल आक्रमणों का सामना करने में दिल्ली सुल्तानों को काफी धन व्यय करना पड़ा और बड़ी संख्या में सैनिक मारे गए। परन्तु ऐसा नहीं लगता कि इससे सल्तनत की शक्ति विशेष कमजोर हुई। कभी-कभी इससे लगे आघात बड़े थे, लेकिन कुल मिलाकर इन्होंने सल्तनत की अर्थव्यवस्था और राज्य तंत्र को अधिक नुकसान नहीं पहुंचाया।

बोध प्रश्न 2

1) फीरोज तुगलक द्वारा राजस्व अनुदान (इक्ता) व्यवस्था को स्थायी और वंशानुगत बनाने

के क्या परिणाम हुए ?

....
....
....
....
....
....

2) दिल्ली सल्तनत के पतन में क्षेत्रीय राज्यों के उदय का क्या योगदान था ?

....
....
....
....
....
....

18.7 सारांश

सल्तनत के पतन का एक राजनीतिक कारण उत्तराधिकार के किसी स्थापित और सार्वभौमिक नियम का अभाव था। सभी इस्लामी राज्यतंत्रों के इतिहास में स्थिति यही थी। जब तक सुल्तान शक्तिशाली था और उसे अमीरों के कुछ वर्गों का समर्थन प्राप्त था, तो कुछ हद तक वंशीय शासन बनाने की स्थिति में था। ऐसी परिस्थितियों में अमीर वर्गों में मतभेद और आंतरिक कलह दबे हुए रहते थे, परन्तु जरा सा अवसर मिलते ही उनके आंतरिक संघर्ष बहुधा हिंसक रूप में सामने आ जाते थे। प्रारंभ में **इक्ता** व्यवस्था से केन्द्रीय सत्ता को मदद मिली। इनका स्थानांतरित होना और स्थायी न होना सुल्तान की शक्ति का प्रतीक थे। जबकि इन तत्वों की समाप्ति (विशेष कर फीरोज़ तुगलक के काल में) ने राज्य की शक्ति के विघटन का मार्ग प्रशस्त कर दिया। विभिन्न क्षेत्रों में स्वायत्त और स्वतंत्र राजनीतिक केन्द्रों की स्थापना ने इस प्रक्रिया को तीव्र कर दिया। मंगोलों के आक्रमणों से भी कभी-कभी सल्तनत को हानि पहुँचती थी। परन्तु कुल मिलाकर उनके आक्रमणों ने सल्तनत के राजनीतिक और आर्थिक ढाँचे को अधिक प्रभावित नहीं किया।

18.8 शब्दावली

अइज़्ज़ा: "जो प्रिय हों" (मुहम्मद तुगलक अपने खुरासानी अमीरों को अइज़्ज़ा कहता था)

उमरा: अमीर का बहुवचन

यारान-ए-हश्म: सैनिक

18.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) भाग 18.2 देखिए।
2) भाग 18.3 देखिए।
3) भाग 18.3 देखिए।

बोध प्रश्न 2

1) भाग 18.4 देखिए।
2) भाग 18.5 देखिए।

इस खंड के लिए कुछ उपयोगी पुस्तकें

A.B.M. Habibullah, *The Foundation of Muslim Rule in India.*

W.H. Moreland, *The Agrarian System of Moslem India.* (Chapters II & III ; Apendices A, B and C)

R.P. Tripathi, *Some Aspects of Muslim Administration.*

K.S. Lal, *History of the Khaljis* (Chapter XI)

Mohammad Habib & K.A. Nizami, *A Comprehensive History of India,* Vol. V.

Tapan Ray Chaudhuri, & Irfan Habib *Cambridge Economic History of India,* Vol. I, pp-45–82).

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

परिशिष्ट 1

तेरहवीं और चौदहवीं सदियों के प्रांतीय गवर्नर

अध्याय 11 में "प्रांत" और "गवर्नर" शब्दों का प्रयोग दो प्रत्यय समूहों को इंगित करने के लिए किया गया है, जिनको मैं या तो समानार्थक मानता हूँ, या जिनके बीच बहुत कम आंतरिक विभेद पाता हूँ, जिसका हमारे वर्तमान उद्देश्य की दृष्टि से कोई विशेष महत्व नहीं है। पहला समूह है **विलायत, वली। विलायत** शब्द का प्रयोग ऐतिहासिक विवरणों में विविध अर्थों में किया गया है, जिनको संदर्भ के आधार पर लगभग हमेशा ही सटीकता से परिलक्षित किया जा सकता है। इसका अर्थ हो सकता है (1) साम्राज्य का एक क्षेत्र अर्थात् प्रांत, (2) साम्राज्य का एक अनिश्चित क्षेत्र अथवा अंचल, (3) साम्राज्य का समूचा क्षेत्र, (4) एक अन्य देश (5) किसी विदेशी का अपना देश (इस अंतिम अर्थ में अंग्रेजी भाषा के अंतर्गत "ब्लाइटी" (Blighty) शब्द को सहज मान्यता मिल गई है। **वली** को कभी-कभी अन्य देश के शासक के अर्थ में प्रयोग किया जाता है, लेकिन इसका सामान्य अर्थ है साम्राज्य के एक प्रांत का गवर्नर, अर्थात्, सम्राट अथवा उसके मंत्रियों के अधीन कार्य करने वाला स्थानीय अधिकारी।

जहाँ तक मेरी जानकारी है, ऐसा संकेत कभी नहीं मिलता कि उपरोक्त काल में **वली** का नौकरशाही पद से अधिक कुछ अर्थ था और **गवर्नर** शब्द से इसका सटीक बोध हो जाता है, और यह बात पश्चिम एशिया के समूचे इतिहास पर लागू होती है। दूसरे समूह, **इक्ता, मुक्ती** (अधिक सटीक रूप में, iqta, muqti) के संबंध में हम भिन्न स्थिति पाते हैं। उन्नीसवीं सदी के अनेक अनुवादकों ने इन प्रत्ययों का भाषांतर यूरोप की सामंती व्यवस्था से ली गई शब्दावली में किया है। कुछ हाल के लेखकों ने भी उन्हीं का अनुसरण किया है, जिनकी पुस्तकों में हम जागीर (fiefs), सामंतीय सरदार (feudal chief) और ऐसे अन्य शब्दों का प्रयोग पाते हैं। सामान्य पाठक को निष्कर्ष के लिए बाध्य होना पड़ता है कि दिल्ली सल्तनत का संगठन एक असमरूप प्रक्रिया थी, जिसके अंतर्गत किन्हीं प्रांतों पर नौकरशाही गवर्नर **(वली)** शासन करते थे, लेकिन देश के अधिकांशतः भाग **(इक्ता)** ऐसे व्यक्तियों (Muqti) के अधीन थे, जिनकी स्थिति आधुनिक यूरोप के सामन्तों (barons) से बहुत कुछ मेल खाती थी। इसलिए इस सवाल की परख जरूरी है कि क्या ये व्यंजक सचमुच तथ्यों को इंगित करते हैं। अथवा दूसरे शब्दों में, क्या राज्य के अंतर्गत कुछ ऐसे तत्व थे जिनके लिए सामंती व्यवस्था की नामांकन प्रणाली का प्रयोग समुचित रूप में किया जा सकता है। यूरोपीय सामंती व्यवस्था की प्रकृति के बारे में छात्रों को पर्याप्त जानकारी है: दिल्ली सल्तनत के अंतर्गत **मुक्ती** की स्थिति को इतिहास लेखों के आधार पर पुष्ट किया जा सकता है। एक तुलनात्मक अध्ययन से यह देखा जा सकेगा कि उत्तर भारत के कृषि इतिहास के विवेचन में ये शब्द समुचित प्रकाश डालते हैं अथवा विभ्रम को जन्म देते हैं।

इंडो-पर्शियन साहित्य में **इक्ता** का सामान्य अर्थ है भविष्य में की जाने वाली सेवाओं के लिए दिया जाने वाला राजस्व अनुदान। मुगल काल में यह शब्द (**तुयूल** के साथ-साथ) अधिक सुपरिचित शब्द **जागीर** के पर्याय के रूप में बारंबार प्रयुक्त हुआ है। तेरहवीं सदी में भी इस शब्द का वही अर्थ हो सकता है, इसकी पुष्टि **बर्नी** (60, 61) के उन 2000 फौजियों के एक विवरण से होती है, जिन्हें प्रतिबंधित भू-अनुदान प्रदान किये गये थे, लेकिन वे उन प्रतिबंधित सेवाओं से बिल्कुल बच निकले। इन व्यक्तियों के अधीन आने वाले गांवों को **इक्ता** कहा गया है और इन व्यक्तियों को **इक्तादार** (iqtadar) लेकिन इस समय **इक्ता** शब्द का आमतौर पर अधिक संकुचित अर्थ में प्रयोग किया जाता था, जैसा कि **बर्नी** ने (50) "**बीस इक्ता**" पद का प्रयोग सल्तनत के विशेष भाग को सूचित करने के लिए किया है। यह स्पष्ट है कि "**बीस इक्ता**" उपरोक्त लेख में मिलने वाले "2000 **इक्ता**" से बिल्कुल भिन्न श्रेणी क्रम की ओर संकेत करता है। इतिहास लेखन संबंधी समूची सामग्री में **इक्ता** का उल्लेख भू-अनुदानों के रूप में ही नहीं, बल्कि प्रशासनिक दायित्वों के रूप में किया गया है। दोनों अर्थों के बीच विभेद को स्वामित्व संबंधी श्रेणियों के प्रयोग से अत्यंत स्पष्ट रूप में चिन्हित किया गया है। इस काल में **इक्तादार** का हमेशा ही सामान्य अर्थों में अभिप्राय होता था, भू-अनुदान प्राप्तकर्ता, लेकिन **मुक्ती** का आशय था प्रशासनिक दायित्वों को पूरा करने वाला। सवाल उठता है, **मुक्ती** की स्थिति को सामंती अथवा नौकरशाही माना जाए ?

---

1. यह परिशिष्ट डब्ल्यू. एच. मोरलैण्ड की पुस्तक **Agrarian System of Moslem India** के परिशिष्ट 'ब' का

पहले हम उस कुलीन वर्ग की उत्पत्ति पर विचार करेंगे जिसमें से ही **मुक्ती** का चयन होता था। सबसे पहले ऐतिहासिक विवरण से हमें उस समय के सभी प्रमुख कुलीनों की जीवनियाँ[1] मिलती हैं और हमें उनसे पता चलता है कि लगभग प्रत्येक व्यक्ति ने, जिसका उल्लेख **मुक्ती** के रूप में मिलता है, अपने कार्य जीवन की शुरुआत शाही गुलाम के रूप में की थी। दिल्ली के दूसरे सुल्तान शमसुद्दीन अल्तमश ने, जो स्वयं पहले सुल्तान का गुलाम रह चुका था, विदेशी गुलाम खरीदे, उन्हें अपनी निजी सेवाओं के लिए नियुक्त किया और उनकी क्षमता संबंधी अपने मूल्यांकन के आधार पर अपने साम्राज्य के सर्वोच्च पदों तक उनकी क्षमताओं के अनुसार प्रोन्नति दी।

मेरी दृष्टि में ऐसा बिल्कुल असंभव लगता है कि इस प्रकार के कुलीन वर्ग का ऐसी सामंतीय व्यवस्था के रूप में विचार किया जाय जिसके अंतर्गत सुल्तान अपने क्षेत्रीय मातहतों का प्रमुख मात्र हो। वस्तुत:हम देखते हैं गुलामों से भरा एक शाही परिवार, जो अपनी योग्यता अथवा पक्षपात के आधार पर दासोचित कर्त्तव्यों के स्तर से उठकर प्रांतों अथवा समूचे साम्राज्य के प्रशासन स्तर तक जा सकते थे — सारत: यह सामान्य एशियाई प्रकार की नौकरशाही थी। **मुक्ती** की वास्तविक स्थिति के परीक्षण से यही निष्कर्ष निकलता है। जहाँ तक मेरी जानकारी है, इसका विवरण किन्हीं निश्चित शब्दावली में नहीं किया गया है, लेकिन उपलब्ध ऐतिहासिक सामग्री में अंकित घटनाएं निम्नांकित सारांश को समुचित ठहराती है।

1. **मुक्ती** को अपना कोई क्षेत्रीय अधिकार प्राप्त नहीं था और न वह किसी अंचल विशेष पर दावा कर सकता था। उसकी नियुक्ति सुल्तान ही करता था जो उसे किसी भी समय निष्कासित अथवा अन्य पद पर स्थानांतरित कर सकता था। इस अवधारणा की पुष्टि करने वाले अंश इतने हैं कि उस सबको उद्दृत करना असंभव है। लगभग कोई दस पृष्ठ पढ़ने पर हमें सुल्तान के इस प्राधिकार के प्रयोग के उदाहरण मिल ही जाते हैं। जीवनियों का उपरोक्त सार-संक्षेप यह स्पष्ट करने के लिए काफी है कि तेरहवीं सदी में **मुक्ती** का स्थान विशेष से कोई अनिवार्य संबंध नहीं होता था, सुल्तान की इच्छानुसार उसे लाहौर से लखनौती तक कहीं भी नियुक्त किया जा सकता था। इसी प्रकार आगामी (चौदहवीं) सदी से भी उदाहरण लिया जा सकता है। बर्नी (42) के विवरण के अनुसार गियासुद्दीन तुगलक ने तख्त संभालने के बाद अपने रिश्तेदारों तथा समर्थकों को **इक्ते** प्रदान किये।

MAADHYAM IAS

नीचे इस "इतिहास" पुस्तिका के आधार पर किन्हीं विशेष जीवनियों का सार संक्षेप दिया गया है।

तगान खान (पृ. 242) को शमसुद्दीन ने खरीद कर क्रमश: **साकी- खास**, ए दवातदार,[2] **चाशनीगीर**, **अमीर-ए आखूर**, बदायूं के **मुक्ती** और फिर लखनौती के **मुक्ती** के रूप में नियुक्त किया, जहाँ उसे शाही प्रतीक चिन्ह प्रदान किए गए।

सैफुद्दीन ऐबक (पृ. 259) को सुल्तान ने खरीद कर कालक्रम में **सर-ए जमादार**, **सर-ए जानदार**, समाना के **मुक्ती**, बरन के **मुक्ती**, और अंतत: **वकील-ए दर** के रूप में नियुक्त किया, जो उस समय दरबार का सबसे अधिक सम्मानित पद था।

तुगरिल खान (पृ. 261) भी एक गुलाम था, जिसने क्रमश: **नायब-ए चाशनीगीर**, **अमीर-ए मजलिस**, **शाहनगी-ए फील**, **अमीर-ए आखूर**, सरहिंद और बाद में लाहौर, कन्नौज तथा अवध के **मुक्ती** के रूप में काम किया। अंतत: उसे लखनौती मिला जहाँ उसने राजा की पदवी धारण की।

उलुग खान (पृ. 281) जो बाद में बलबन के नाम से मशहूर हुआ, के विषय में कहा जाता है कि उसका संबंध तुर्किस्तान के एक कुलीन परिवार से था, लेकिन अनुल्लेखित परिस्थितियों में उसे गुलाम बना लिया गया था। उसे बेचने के लिए बगदाद और फिर गुजरात लाया गया, जहाँ से उसे एक गुलाम विक्रेता दिल्ली लाया और सुल्तान को बेच दिया। उसे पहले एक निजी सेवक के रूप में नियुक्त किया गया था, फिर वह क्रमश: खेल संचालक, अस्तबल निरीक्षक, हांसी का **मुक्ती**, लार्ड चैम्बरलेन बना, और फिर दिल्ली सुल्तान का उप-राजा और फिर बाहैसियत शासक।

1. टी. नासिरी, बुक XXII, पृ. 229.
2. **दवातदार** शब्दकोष में मिलने वाला "राजकीय सचिव" अर्थ समुचित नहीं लगता, क्योंकि हमें प्राप्त सूचना के अनुसार सुल्तान का रत्न जड़ित कलमदान खो देने के कारण तगान खान को कठोर दंड दिया गया था। मैं इस शब्द को सम्राट की लेखन सामग्री की देखरेख के लिए जिम्मेदार कर्मचारी के रूप में ही करता हूँ। परवर्ती काल में मुख्य **दवातदार** एक उच्च अधिकारी हुआ करता था।

वे ऐसे व्यक्ति थे जिनका अपनी नियुक्ति के क्षेत्रों से कोई संबंध नहीं था, लेकिन जिनका चयन उनकी प्रशासनिक क्षमता के लिए किया गया था। ऐसी व्यवस्था ऐसी किसी चीज के ठीक उल्टी है, जिसको सही अर्थों में सामंतीय व्यवस्था के रूप में परिभाषित किया जा सकता है।

2. **मुक्ती** मूलत: वे प्रशासनिक जिम्मेदारियाँ निभाता था जिनके लिए उसकी नियुक्ति की गई होती थी। यह तथ्य उस समय के ऐतिहासिक ग्रंथों के किसी भी सजग पाठक को स्पष्ट होगा। इसके अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं, लेकिन निम्नांकित ही शायद पर्याप्त सिद्ध हों। बर्नी (पृ. 96) ने विस्तार से बताया है कि बलबन ने किस प्रकार अपने बेटे बुगरा खान को बंगाल की गद्दी पर बिठाया और इस अवसर पर उसके द्वारा दी गई सलाह को भी दर्ज किया। अपने बेटों को आलसी और काहिल पाते हुए उसने विशेष रूप से सुल्तान को अपनी गद्दी बनाए रखने के लिए सक्रिय सतर्कता की आवश्यकता पर बल दिया। इस प्रसंग में उसने सुल्तान (**इक्लीमदारी**) और गवर्नर (**विलायतदारी**) के बीच अंतर भी स्पष्ट किया। उसके अनुसार एक सुल्तान की गलतियां असाध्य और उसके परिवार के लिए संघातिक हो सकती हैं जबकि गवर्नरशिप (**विलायतदारी**) के मामले में लापरवाह और बेअसर होते हुए भी **मुक्ती** को, आर्थिक दंड अथवा बर्खास्तगी के खतरे के बावजूद, अपने जीवन तथा अपने परिवार के लिए भयभीत होने की जरूरत न थी और वह पुन: राजकीय संरक्षण पा सकता था। इस प्रकार **मुक्ती** की विशेष भूमिका गवर्नर पद की थी और अपने दायित्वों में असफल रहने पर उसे आर्थिक दंड अथवा बर्खास्तगी का सामना करना पड़ता था।

आगामी (चौदहवीं) सदी से अफीफ (414) द्वारा दिया गया एक विवरण ले सकते हैं, किस प्रकार राजस्व मंत्रालय में नियुक्त कुलीन व्यक्ति आइनउल मुल्क ने संबंधित मंत्री से झगड़ा कर लिया और फलस्वरूप बर्खास्त कर दिया गया। सुल्तान ने तब उसे यह कहते हुए मुल्तान का **मुक्ती** नियुक्त किया, "प्रांत (**इक्ता**) में जाओ और उस स्थान की जिम्मेदारियों में) (**कारहा वा करदारहा**) अपने को लगाओ। आइनउल मुल्क ने जवाब दिया: "जब मैं **इक्ता** के अंतर्गत प्रशासन कार्य (**अमल**) संभालूँगा और उस स्थान की जिम्मेदारियां निभाना चाहूँगा, मेरे लिए राजस्व मंत्रालय को लेखा-जोखा सौंपना संभव नहीं होगा। मैं उसे सीधे दरबार को भेजूंगा।" इस बात पर सुल्तान ने मुल्तान के मामलों को राजस्व मंत्रालय से अलग कर दिया। आइनउल मुल्क ने नियुक्ति स्वीकार कर ली। उपरोक्त गद्यांश की भाषा **मुक्ती** की स्थिति को मात्र प्रशासकीय रूप में दिखाती है।

MAADHYAM IAS

राज्य की सेवा के लिए एक फौजी टोली हर समय तैयार रखना **मुक्ती** की जिम्मेदारी होती थी। इन टोलियों का ओहदा कुलीनों के लिए जारी किए गये गियासुद्दीन तुगलक के आदेशों (बर्नी, 431) से देखा जा सकता है, जिनको उसने **इक्ता** और **विलायत** दे रखे थे। उसने कहा था सैनिकों के वेतन के छोटे से छोटे हिस्से का भी लालच मत करो। तुम अपने हिस्से से उन्हें कुछ देते हो या नहीं, यह फैसला तुम पर ही निर्भर करता है। लेकिन सैनिकों के नाम से निकाले गये एक छोटे हिस्से की भी इच्छा करते हो तो कुलीनता का पद तुम्हें नहीं मिलना चाहिए था। वह कुलीन जो सेवकों के वेतन के छोटे से हिस्से का भी उपयोग करता है, अच्छा हो वह धूल फांककर रहे। **मुक्ती** की फौजी टोलियों की तादाद और वेतन सुल्तान द्वारा तय होता था, जो उनका खर्चा संभालता था। **मुक्ती** अपनी इच्छानुसार अपने साधनों से उनका वेतन बढ़ा सकता था, लेकिन इस संबंध में उसकी स्वतंत्र शक्ति की यही सीमा भी थी।

4. **मुक्ती** को अपने क्षेत्र से जायज राजस्व की वसूली करनी होती थी और अनुमोदित खर्चे, जैसे सैनिकों का वेतन अलग करके अतिरिक्त धन उसे राजधानी स्थित राजकोष को भेजना होता था। उदाहरणार्थ, (बर्नी, पृ. 220) सिंहासनारूढ़ होने से पहले अलाउद्दीन ख़लजी, जब वह कड़ा और अवध का **मुक्ती** था और दक्खन क्षेत्र में आक्रमण की योजना बना रहा था, उसने अपने प्रांतों के अतिरिक्त राजस्व की केंद्र द्वारा मांग को स्थगित करने के लिए आवेदन किया ताकि वह इस धन को कुछ और सैनिक टोलियाँ बनाने में लगा सके। उसने वादा भी किया कि वापस आने पर वह स्थगित अतिरिक्त राजस्व का लाभांशों के साथ राजकोष में भुगतान कर देगा।

5. **मुक्ती** के वित्तीय कारोबार — प्राप्ति तथा व्यय — दोनों ही का लेखा-परीक्षण राजस्व मंत्रालय के अधिकारियों द्वारा किया जाता था। उसके (**मुक्ती**) पास बची राशि की उगाही क्रमबद्ध तरीके से, किन्हीं सुल्तानों के अधीन बड़ी सख्ती से, की जाती थी। गियासुद्दीन तुगलक के उपरोक्त आदेश यह संकेत देते हैं कि **इक्ता** और **विलायतों** के मालिकों को इस प्रक्रिया के अधीन बहुत परेशानी का सामना करना पड़ता था। उसका निर्देश था कि इस मामले में उनके साथ छोटे अधिकारियों जैसा सलूक नहीं होना चाहिए। उसके बेटे मौहम्मद के शासनकाल में यह सख्ती और बढ़ा दी गई, जैसा कि बर्नी (पृ. 556, 574) फिरोज के चतुर एवं लचीले प्रशासन द्वारा अपनाए गए ठीक प्रतिकूल रुझान पर बल देता है। फिरोज के अधीन इस मसले को लेकर कोई भी **वली** या **मुक्ती** बरबादी का शिकार नहीं हुआ।

मुक्ती की हैसियत के संबंध में यह कथन शुद्ध नौकरशाही संगठन का संकेत देता है। हम इस संगठित विधि के अंतर्गत सुल्तान की मर्जी से अधिकारियों को नियुक्त, स्थानांतरित, निष्कासित अथवा दंडित होते पाते हैं, उन्हें सुल्तान के आदेशों के अधीन अपने क्षेत्र का प्रशासन करना होता था और वे राजस्व मंत्रालय के सुदृढ़ वित्तीय नियंत्रण के अधीन होते थे। इनमें से किसी भी विशेषता का समतुल्य हम यूरोप की सामंती-व्यवस्था में नहीं पाते। यूरोपीय इतिहास के एक अध्येता ने जिसको मैंने उपरोक्त सारांश दिखाए थे, यह मत सामने रखा कि सादृश्य सामंती संगठन विधि के साथ नहीं, बल्कि उन नौकरशाहियों के साथ है जिन्हें इंग्लैंड के हेनरी द्वितीय जैसे शासकों ने सामंतवाद के विकल्प के रूप में स्थापित करने का प्रयास किया। सामंती शब्दावली का प्रयोग शायद इस तथ्य से प्रेरित था कि दिल्ली सल्तनत के कुछ कुलीन किन्हीं अवसरों पर सामंतों की तरह बर्ताव करते थे, अर्थात् शाही तख्त पर कब्जे के लिए वे बगावत का सहारा लेते थे अथवा इस या उस पक्ष की ओर से मुठभेड़ में लगते थे। लेकिन कम से कम एशियाई परिवेश में नौकरशाह भी उसी प्रकार बागी हो सकते हैं जैसे कि सामंती 'बैरन' (barons) उनके बीच सादृश्य इतना कम और सतही है कि सामंतवाद संबंधित शब्दावली और उसके द्वारा अभिसूचित भ्रांत धारणाओं को उचित नहीं ठहराया जा सकता। ये राजशाहियाँ नौकरशाही तथा सामंतवाद का सम्मिश्रण नहीं थी इनका प्रशासन पूरी तरह नौकरशाही की तरह था।

यह सवाल बना रहता है कि **वली** और **मुक्ती** के पदस्तर अथवा प्रकार्यों के बीच क्या कोई अंतर था? इतिहास लेखों में **वली** का इतना कम उल्लेख मिलता है कि उनके आधार पर वैसा कोई वक्तव्य नहीं दिया जा सकता जैसा कि **मुक्ती** से संबंधित सामग्री से संभव है। निरंतर प्रयोग की जाने वाली दोहरी शब्दावली **वली** और **मुक्ती** अथवा **इक्ता** और **विलायत** दिखाते हैं कि ये दोनों संस्थाएं किसी भी दृष्टि से एक जैसी सामान्य प्रकृति की थीं लेकिन इस पर इस सीमा तक बल नहीं दिया जा सकता कि विवरण क्रम में सामने आने वाले संभावित अंतर को भी नजरअंदाज कर दिया जाय। एक लेखक के कथनानुसार यह अंतर राजधानी से सापेक्षिक दूरी का था।[3] निकटवर्ती प्रांत **इक्ता** के रूप में जाने जाते थे और सुदूरवर्ती प्रांत **विलायत** के रूप में। लेकिन ऐतिहासिक विवरणों की भाषा के विस्तृत विश्लेषण से इस विचार की पुष्टि नहीं होती। स्वयं शब्दों पर ही ध्यान दें तो यह स्पष्ट होगा कि **वली** नौकरशाही गर्वनर के लिए उपयुक्त इस्लामी शब्द हैं। आठवीं सदी में बगदाद के अबू यूसुफ (पृ. 161, 163) ने इसी अर्थ में इस शब्द का प्रयोग किया है, और वर्तमान काल में तुर्कीस्तान में इसी अर्थ में यह शब्द प्रचलित है। मैने आरंभिक इस्लामी साहित्य में, जो अनुवादों के माध्यम से मुझे प्राप्त है, **इक्ता** तथा **मुक्ती** शब्दो की छानबीन नहीं की है, लेकिन जिस अर्थ में पहला (**इक्ता**) शब्द भारत में प्रचलित बना रहा, उसे अनुदान के ही अर्थ में हम समुचित अनुभव कर सकते हैं कि एक प्रांत के लिए **इक्ता** के प्रयोग का मूल आशय था कि प्रांत अनुदान में दिया गया था, अर्थात् गर्वनर इस बात के लिए जिम्मेदार था कि वह राजकीय सेवाओं के लिए फौजी टोली का रखरखाव करे। यह संभव है कि किसी समय **वली** और **मुक्ती** के बीच अंतर इसी बात का रह गया हो कि पहले को सैनिक टोलियां नहीं रखनी पड़ती

3. कानूनगो, **शेरशाह** (पृ. 349, 350) बर्नी ने **विलायत** शब्द का प्रयोग दिल्ली के निकटवर्ती प्रांतों जैसे बरन (पृ. 58), अमरोहा (पृ. 50) अथवा समाना (पृ. 483) के लिए किया है जबकि मुल्तान (पृ. 584) और मरहट, अथवा मराठा देश (पृ. 390) का विवरण **इक्ता** के रूप में किया गया है। चौदहवीं सदी के किन्हीं कालखंडों में कुछ दूरवर्ती प्रांतों का भिन्न स्तर था, वे गर्वनर के बजाय **वजीर** के अधीन होते थे (बर्नी, 379, 397, 454 इत्यादि), लेकिन उनको **विलायत** अथवा **इक्ता** किसी भी रूप में चरित्रांकित नहीं किया जा सकता।

थीं जबकि दूसरे को ऐसा करना पड़ता था। लेकिन यदि दोनों के बीच मूल अंतर यही था तो वह भी गियासुद्दीन तुगलक के समय तक बिल्कुल अप्रासंगिक हो गया जिसके सैनिक टोलियों से संबंधित आदेश उन दोनों ही वर्गों (कुलीन) पर जिनको उसने **इक्ता** और **विलायत** दिए थे, समान रूप से लागू होते थे।

ऐतिहासिक विवरण **वली** और **मुक्ती** के बीच किसी अन्य संभावित अंतर का संकेत नहीं देते। यह तथ्य कि किन्हीं प्रसंगों में हम **विलायत** के **मुक्ती** का उल्लेख पाते हैं[4] इस बात का संकेत देता है कि कम से कम व्यवहारत: ये शब्द समानार्थक थे। इस संभावना से इन्कार नहीं किया जा सकता कि हैसियत संबंधी कुछ मामूली अंतर थे, उदाहरण के लिए, राजस्व मंत्रालय की लेखा-जोखा प्रणाली के संबंध में, लेकिन कृषि प्रशासन के दृष्टिकोण से वे बहुत महत्वपूर्ण नहीं हो सकते। मेरे विचार से, हमारा इस विचार को पूरी तरह अस्वीकार करना समुचित ही होगा कि दिल्ली राजशाही में कुछ ऐसे तत्व थे जिनके लिए सामंती-व्यवस्था से संबंधित शब्दावली का प्रयोग किया जा सकता है। राजस्व मंत्रालय के सीधे अधीन आने वाले क्षेत्रों के अलावा, समूचा राज्य नौकरशाही गवर्नरों द्वारा प्रशासित प्रांतों में विभाजित था। इन गवर्नरों और मंत्रालय के बीच संबंधों में अंतर पाया जा सकता है, लेकिन जहाँ तक प्रांत विशेष के कृषिकर्म प्रशासन का सवाल है, **वली** और **मुक्ती** को यदि पूर्णतया नहीं तो कम से कम व्यवहार में समानार्थक माना जा सकता है।

यह बात और जोड़ी जानी चाहिए कि परवर्ती शब्द बहुत समय तक प्रचलित नहीं रहा। पंद्रहवीं सदी के मध्य में लिखी गई **तारीख-ए-मुबारकशाही** में पूर्ववर्ती ऐतिहासिक विवरणों का सारांश देते हुए यह शीर्षक बनाए रखा गया है, लेकिन स्वयं अपने युग का विवरण देते हुए लेखक ने **अमीर** शब्द का प्रयोग किया है। इस शब्द का प्रयोग एक सदी पहले ही इब्नबतूता ने किया था। वह भारतीय गर्वनरों की चर्चा कभी **वली** और कभी **अमीर** के रूप में करता है, लेकिन जहाँ तक मैंने पाया है **मुक्ती** के रूप में कभी नहीं। संभवत: उसके समय तक **अमीर** शब्द का व्यापक प्रयोग होने लगा था। अकबर के शासनकाल के लेखक निज़ामुद्दीन अहमद की भाषा की तुलना बर्नी से करने पर जिसका सारांश उसने दिया। यह स्पष्ट होता है कि उसने इसके स्थान पर **हाकिम** शब्द अपनाया। फरिश्ता ने किन्हीं अवसरों पर **मुक्ती** शब्द की पुनरावृत्ति की, लेकिन अधिकांशत: **हाकिम**, **सिपहसालार** अथवा किन्हीं अन्य आधुनिक समतुल्य शब्दों का प्रयोग किया। अकबर के शासनकाल तक **मुक्ती** स्पष्टत: एक पुरातात्विक शब्द बन गया था।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

---

4. उदाहरण के लिए टी. नासिरी, अवध विलायत के **मुक्ती** (पृ. 246, 247), सरसुती **विलायत** के **मुक्ती** (पृ. 256)। जैसा ऊपर बताया गया है, बर्नी (पृ. 96) **मुक्ती** की जिम्मेदारियों का विवरण **विलायतदारी** के रूप में देता है।

इकाई 19 राज्य और अर्थव्यवस्था

इकाई की रूपरेखा

19.0 उद्देश्य
19.1 प्रस्तावना
19.2 राजस्व साधनों का वितरण
- 19.2.1 **इक्ता** और **खालिसा**
- 19.2.2 **इक्ता** व्यवस्था का संचालन
- 19.2.3 भूमि अनुदान

19.3 भू-राजस्व एवं उसकी वसूली
- 19.3.1 अलाउद्दीन खलजी की कृषि नीति
- 19.3.2 मौहम्मद तुगलक की कृषि नीति

19.4 अलाउद्दीन खलजी का बाज़ार नियंत्रण
19.5 मुद्रा प्रणाली
19.6 दास प्रथा और दास व्यापार
19.7 सारांश
19.8 शब्दावली
19.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

19.0 उद्देश्य

इस इकाई में गौर विजय के पश्चात् दिल्ली सल्तनत की स्थापना के फलस्वरूप भारतीय अर्थव्यवस्था पर पड़े प्रभावों का विश्लेषण किया गया है। इस इकाई में सल्तनत काल में हुए परिवर्तनों (अर्थव्यवस्था में) पर भी प्रकाश डाला गया है

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप निम्नलिखित के बारे में जानकारी प्राप्त करेंगे:

- भू-राजस्व की प्रकृति और उसकी वसूली की प्रणालियां,
- राजस्व स्रोतों के वितरण की पद्धति,
- अलाउद्दीन खलजी के मूल्य नियंत्रण संबंधी उपाय,
- नगरीय अर्थव्यवस्था में दासों का प्रयोग और दासता के स्रोत, और
- अर्थव्यवस्था में मुद्रा का बढ़ता प्रयोग और मुद्रा प्रणाली।

19.1 प्रस्तावना

गौर शासकों की उत्तर भारत पर विजय और दिल्ली सल्तनत की स्थापना के फलस्वरूप तत्कालीन राजनैतिक व्यवस्था में परिवर्तनों के साथ ही आर्थिक परिवर्तन भी हुए। विजेताओं की कर वसूली एवं वितरण और मुद्रा प्रणाली संबंधी सुस्पष्ट धारणाएं एवं कार्य प्रणालियां थीं। परन्तु, तत्कालीन व्यवस्थाओं को पूर्ण रूप से तत्काल परिवर्तित करना संभव नहीं था: प्रारंभ में नई धारणाओं एवं योजनाओं को पुरानी व्यवस्थाओं पर अध्यारोपित किया गया, और कालांतर में 15वीं शताब्दी के अंत तक विभिन्न सुल्तानों द्वारा इनमें संशोधन एवं परिवर्तन किए गए।

नए शासक अपनी रुचि एवं पसंद के मुताबिक सुख-साधन का उपभोग करते थे। गुलाम-मज़दूरी इस दृष्टि से अत्यधिक सहायक थी।

मौहम्मद हबीब के अनुसार, दिल्ली सल्तनत की स्थापना के फलस्वरूप हुए आर्थिक परिवर्तनों ने एक ऐसी व्यवस्था को जन्म दिया जो इससे पूर्व की व्यवस्था से अधिक श्रेष्ठ थी। उनके अनुसार, परिवर्तन इतने महत्वपूर्ण थे कि उन्हें "नगरीय-क्रान्ति" और "ग्रामीण क्रान्ति" के द्वारा निर्दिष्ट किया जा सकता है। डी.डी. कौसाम्बी ने "नई तकनीकी को ग्रहण कर उसे प्रसारित करने की दुर्बल मनोवृत्ति" को "मुस्लिम आक्रामकों"

द्वारा तोड़ने का श्रेय तो दिया, परन्तु उन्होंने परिवर्तनों को भारतीय "सामान्तवाद" में पहले से उपस्थित तीव्रकारी तत्वों से अधिक नहीं पाया।

आइए, इस इकाई में दिल्ली सल्तनत कालीन आर्थिक संस्थाओं और परिवर्तनों का अध्ययन करें।

19.2 राजस्व साधनों का वितरण

13वीं शताब्दी के दौरान एक बड़े क्षेत्र पर सुल्तानों का नियंत्रण हो गया। प्रारंभ में, नए विजित प्रदेशों को सेना- नायकों में बांट दिया गया, जो स्वयं और अपनी सेनाओं के रख-रखाव हेतु लूट या पराजित एवं अधीनस्थ ग्रामीण अभिजात वर्ग से प्राप्त उपहारों पर निर्भर थे। पूर्व शासकों के काल के विपरीत सैनिकों को नकद वेतन मिलता था।

भूमि कर अथवा **खराज** देने से इंकार करने वाले क्षेत्रों को **मवास** कहा जाता था, जिन्हें लूटा जाता अथवा सैनिक कार्यवाहियों द्वारा कर देने के लिए बाध्य किया जाता था। उन्होंने धीरे-धीरे राजस्व वसूली और वितरण की कार्य प्रणाली एक साथ स्थापित की।

19.2.1 इक्ता और खालिसा

नए शासकों ने **इक्ता** व्यवस्था कायम की, जिसमें राजनैतिक संरचना की एकता को बिना हानि पहुंचाए, राजस्व संग्रह और वितरण दोनों कार्य सम्मिलित किए गए। **इक्ता** एक भूमि अनुदान था एवं उसका प्राप्तकर्त्ता **मुक्ती** या **वली** कहलाता था। **इक्ता** व्यवस्था की आदर्श परिभाषा ग्यारहवीं शताब्दी के एक सेल्जुक राज्यवेत्ता निजाम-उल मुल्क तुसी द्वारा दी गई है (देखिए खंड 5)।

तुसी की परिभाषा के अनुसार **इक्ता** एक प्रकार का राजस्व संबंधी कार्यभार था, जो **मुक्ती** को सुल्तान की इच्छानुसार प्राप्त होता था। **मुक्ती** सुल्तान को देय भूमि कर और अन्य करों को उचित ढंग से प्राप्त करने का अधिकारी था, लेकिन उसका किसानों के लिए कार्य करने वालों, स्त्रियों तथा बच्चों एवं उनकी अन्य जायदाद पर कोई हक नहीं था। **मुक्ती** की सुल्तान के प्रति कुछ जिम्मेदारियां थीं, जिनमें प्रमुख सैन्य-दलों का अनुरक्षण करना एवं आवश्यकता पड़ने पर उन्हें सुल्तान के लिए हाज़िर करना था। **इक्ता** एक स्थानांतरणीय कार्यभार था और **इक्ताओं** के स्थानांतरण की प्रथा प्रचलन में थी।

MAADHYAM IAS 'way to achieve your dream'

खालिसाः वह क्षेत्र जिसका राजस्व सीधे सुल्तान के निजी कोष के लिए वसूल किया जाता था, **खालिसा** कहलाए। अलाउद्दीन खलजी के शासन में **खालिसा** क्षेत्र में काफी वृद्धि हुई। परन्तु **खालिसा** पूरे राज्य में फैले हुए क्षेत्र नहीं थे। दिल्ली और इससे जुड़े हुए ज़िले तथा दोआब के भाग **खालिसा** के अंतर्गत आते थे। इल्तुतमिश के काल में तबरहिंद (भटिंडा) भी **खालिसा** के अंतर्गत था। अलाउद्दीन खलजी के अधीन संपूर्ण मध्य दोआब और रूहेलखंड के कुछ भाग **खालिसा** के अंतर्गत आ गए थे। परन्तु संभवतः फिरोज़ तुगलक के समय **खालिसा** के क्षेत्रफल में यथेस्ट कमी आई।

ऐसा कहा जाता है कि इल्तुतमिश (1210-36) द्वारा सुल्तान की फौज (**हश्म-ए कल्ब**) के सैनिकों को वेतन की जगह दोआब प्रदेश में "छोटे **इक्ता**" प्रदान किए गए। बलबन (1266-86) ने उनके पुनर्ग्रहण हेतु एक उत्साहहीन असफल प्रयास किया। अलाउद्दीन खलजी (1296-1316) ने ही सैनिकों को नकद वेतन देने की प्रथा को दृढ़ता से स्थापित किया। इस प्रथा को पुनः फिरोज़ तुगलक द्वारा बदला गया जिसने सैनिकों को उनके वेतन के स्थान पर गांवों को प्रदान करना प्रारंभ किया। इन्हें **वजह** कहा जाता था और उनके स्वामियों को **वजहदार**। ये आवंटन न केवल स्थायी बल्कि वंशानुगत प्रकृति के होते थे।

19.2.2 इक्ता व्यवस्था का संचालन

आप खंड 5 में **इक्ता** व्यवस्था के बारे में पढ़ चुके हैं। यहां हम इसके कुछ और पहलुओं पर ध्यान देंगे। सल्तनत की स्थापना के प्रारंभिक वर्षों में न तो इन आवंटनों की राजस्व आय ज्ञात थी न ही अधिन्यासी के सैन्यदल का आकार निश्चित था। तथापि, बलबन द्वारा कतिपय संशोधन और केन्द्रीय नियंत्रण की दिशा में कुछ प्रयास किए गए, जब उसने प्रत्येक **मुक्ती** के साथ एक **ख्वाजा** (लेखाकर) की नियुक्ति की। इससे यह अर्थ निकाला जा सकता है कि सल्तनत **इक्ता** की वास्तविक आय और **मुक्ती** के व्यय को आंकने का प्रयास कर रही थी।

इक्ता प्रशासन में प्रभावी परिवर्तन अलाउद्दीन खलजी के काल में हुआ। केन्द्रीय वित्त विभाग (**दीवान-ए विजारत**) ने संभवतया प्रत्येक **इक्ता** द्वारा प्राप्त होने वाली अनुमानित राजस्व आय का आकलन किया। लेखा-परीक्षण सख्त होता था, दंड कठोर थे, तबादले बार-बार होते थे और कई बहानों के आधार पर **इक्ता** की अनुमानित राजस्व आय में अक्सर वृद्धि (**तौफीर**) की जाती थी।

गियासुद्दीन तुगलक (1320-25) ने कुछ उदार नीति अपनाई। केन्द्रीय वित्त मंत्रालय द्वारा अनुमानित राजस्व आय में वृद्धि, एक वर्ष के लिए, 1/10वां या 1/11वां भाग से अधिक नहीं हो सकती थी। **मुक्तियों** को अपने स्वीकृत वेतनों के अतिरिक्त 1/10वें से 1/20वें भाग तक की आय अपने पास रखने की इजाजत दी गई।

मौहम्मद तुगलक (1325-51) के काल में केन्द्रीय हस्तक्षेप अपने चरम बिंदु पर पहुंच गया। कई मामलों में एक ही क्षेत्र के लिए एक **वली** और एक **अमीर** की नियुक्ति की गई। **वली** का कार्य राजस्व संग्रह कर, उसमें से अपने वेतन को रखकर शेष को राजकोष भेजना होता था। **अमीर** अथवा सेनानायक का राजस्व वसूली से कोई संबंध नहीं था और वह अपना तथा अपने अधीन सैनिकों का वेतन संभवतया स्थानीय कोष से प्राप्त करता था। आप खंड 5 में पढ़ चुके हैं कि मौहम्मद तुगलक के शासनकाल में **इक्ताधारियों** को राजकोष से नकद भुगतान किया जाता था। इससे सेनानायकों में असंतोष फैला और मौहम्मद तुगलक के लिए राजनैतिक समस्याएं उत्पन्न हुईं। फिरोज़ तुगलक ने इसमें कुछ रियायत देने का निश्चय किया। उसने सरदारों के नकद वेतनों में वृद्धि की तथा राजस्व (**महसूल**) का नवीन आकलन तैयार किया, जो **जमा** कहलाया।

फिरोज़ तुगलक के उत्तराधिकारियों द्वारा केन्द्रीय नियंत्रण को पुनः स्थापित करने का कोई प्रयास नहीं किया गया। लोदी शासकों (1451-1526) के काल में प्रशासनिक और राजस्व कार्यभारों को संयुक्त कर दिया गया तथा उन्हें **इक्ता** नहीं बल्कि **सरकार** और **परगना** कहा जाता था। सिकन्दर लोदी (1489-1517) के शासन काल में एक प्रकार की उप आवंटन की व्यवस्था प्रचलित थी। मुख्य अधिन्यासी (**इक्ताधारी**) अपने अधिन्यास (**इक्ता**) के कुछ भागों को अपने अधीनस्थों को हस्तांतरित करते थे, जो बाद में अपने सैनिकों को आवंटन करते थे।

19.2.3 भूमि अनुदान

जैसा कि आप जानते हैं, धार्मिक व्यक्तियों और संस्थाओं, जैसे दरगाहों, मस्जिदों और मदरसों एवं शासक वर्ग पर निर्भर अन्य ऐसे स्थानों, की देख-भाल राजस्व-आय के अनुदानों द्वारा होती थी। ये राजस्व अनुदान **मिल्क, इदरार,** और **इनाम** कहलाते थे। ये अनुदान सामान्य तौर पर न तो वापस लिये जाते थे न ही हस्तांतरित किए जाते थे। परन्तु, सुल्तान को इन अनुदानों को रद्द करने का अधिकार था। ऐसा कहा जाता है कि अलाउद्दीन खलजी ने लगभग सभी अनुदानों को निरस्त कर दिया था। गियासुद्दीन तुगलक द्वारा भी बड़ी संख्या में अनुदानों को रद्द किया गया। लेकिन, फिरोज़ तुगलक ने यह नीति बदलकर न केवल पहले प्रारंभ किए गए सभी अनुदानों को फिर जारी किया, बल्कि नए अनुदान भी स्वीकृत किए। सुल्तान की इस उदारता के बावजूद, अनुदानों का कुल योग, कुल अनुमानित राजस्व आय का लगभग 1/20वां भाग था। **अमीरों** ने भी अपने स्वयं के **इक्ताओं** से राजस्व अनुदान प्रदान किए। उल्लेखनीय है कि सुल्तान ये अनुदान न केवल **खालिसा** बल्कि **इक्ता** क्षेत्रों में भी प्रदान करते थे। इन अनुदानों में खेती की जाने वाली और साथ ही कृषि-योग्य भूमि जहां पैदावार उत्पन्न नहीं की गई हो, सम्मिलित थी।

बोध प्रश्न 1

1) आप **इक्ता** को किस प्रकार परिभाषित करेंगे?

....

....

....

....

2) मौहम्मद तुगलक द्वारा **इक्ता** व्यवस्था में क्या-क्या परिवर्तन किए गए?

....

....

....

....

3) सही वाक्य के आगे (√)और गलत वाक्य के आगे (x) चिह्न लगाइए:
   अ) अलाउद्दीन खलजी ने **मुक्तियों** को **इक्ताओं** द्वारा प्राप्त अतिरिक्त आय अपने पास रखने की अनुमति प्रदान की। ( )
   ब) गियासुद्दीन तुगलक द्वारा ठेके पर राजस्व वसूल करने वालों को **इक्ता** प्रदान किए गए। ( )
   स) फिरोज़ तुगलक के अधीन **जमा** का अर्थ अनुमानित राजस्व आय से था। ( )

19.3 भू-राजस्व और उसकी वसूली

भारत के नए शासक इस्लामी भूमिकर **खराज** से भली-भांति परिचित थे। **खराज** भूमि पर उत्पन्न पैदावार का हिस्सा होता था, न कि भूमि पर लगान। 13वीं शताब्दी के दौरान **खराज** ने लगभग भेंट का रूप ले लिया। इसका भुगतान एकमुश्त में, पहले के शासन के अधिपतियों द्वारा किया जाता था, जिनके साथ सल्तनत शासक वर्ग ने एक समझौता कर लिया था। दूसरी ओर, सल्तनत की आज्ञा न मानने वाले क्षेत्रों **(मवास)**, जहां ऐसे समझौते संभव नहीं थे, से लूटमार और लड़ाई द्वारा वसूली की जाती थी। यह वसूली संभवतया मुख्यतः मवेशियों और दासों के रूप में की जाती थी।

दिल्ली सल्तनत के स्रोत ऐसे कोई संकेत नहीं देते हैं कि अलाउद्दीन खलजी (1296-1316) के शासन से पूर्व **खराज** के निर्धारण और उसकी वसूली को व्यवस्थित करने का कोई गंभीर प्रयास किया गया हो।

19.3.1 अलाउद्दीन खलजी की कृषि नीति

आप खंड 5 में अलाउद्दीन खलजी की कृषि नीति के संबंध में कुछ विस्तार से पढ़ चुके हैं। उसका प्रयास था कि राज्य की ओर से राजस्व की मांग बढ़ाकर आमदनी को बढ़ाया जाए, सीधी वसूली करके बिचौलियों को मिलने वाले मुनाफों को समाप्त किया जाए।

MAADHYAM IAS

आप जानते हैं कि राज्य की मांग अनाज के रूप में निर्धारित की जाती थी, परन्तु वसूली साधारणतया नकद में होती थी। बर्नी से हमें ज्ञात होता है कि राजस्व संग्रह-कर्ताओं को राजस्व की वसूली इतनी कड़ाई से करने के आदेश दिए जाते थे जिससे कि किसान अपनी उपज को खेतों पर ही बेचने को विवश हो जाएं। अन्यत्र बर्नी लिखता है कि अलाउद्दीन खलजी ने दोआब क्षेत्र को **खालिसा** में शामिल कर वहां से प्राप्त कर **(महसूल)** को सैनिकों को नकद वेतन देने में खर्च किया।

साथ ही, हमें इसी लेखक का एक विरोधाभासी कथन मिलता है कि सुल्तान ने किसानों को नकद के स्थान पर अनाज के रूप में कर अदा करने का आदेश दिया। इरफान हबीब के अनुसार इसका संबंध दोआब में **खालिसा** के केवल कुछ भागों से रहा होगा। सुल्तान को अपने अन्न-भंडारों के लिए वहां से आपूर्ति की आवश्यकता थी। अन्यथा, वसूली सामान्य तौर पर नकद में होती थी।

इस नई नीति ने ग्रामीण बिचौलियों को किस प्रकार प्रभावित किया, इसके बारे में हम इकाई 20 में अध्ययन करेंगे।

अलाउद्दीन खलजी द्वारा प्रारंभ की गई कर प्रणाली दीर्घकाल तक जारी रही, यद्यपि गियासुद्दीन तुगलक (1320-25) ने कुछ सीमा तक इसे संशोधित किया और **खोत** और **मुकद्दमों** को अपनी उपज और मवेशी पर कर देने से मुक्त किया। लेकिन उसने अपने किसानों पर किसी प्रकार के उप कर लगाने की स्वीकृति नहीं दी।

19.3.2 मौहम्मद तुगलक की कृषि नीति

प्रारंभ में मौहम्मद तुगलक ने अलाउद्दीन खलजी की भूमि की माप पर आधारित राजस्व संग्रह प्रणाली को गुजरात, मालवा, दक्खन, दक्षिण भारत और बंगाल में लागू किया। बाद में उसने कृषि कर की दर में बहुत वृद्धि कर दी। बर्नी का कथन कि यह वृद्धि दस या बीस गुना अधिक थी निश्चय ही अतिशयोक्तिपूर्ण है

परन्तु इससे स्पष्ट होता है कि वृद्धि बहुत बड़ी मात्रा में की गई। बर्नी का कहना है कि अतिरिक्त नए कर **(अबवाब)** भी लगाए गए। दूसरे करों, **खराज**, चराई और गृह कर को भी सख्ती से वसूला जाने लगा। याहया के अनुसार मवेशियों को दागा गया और घरों की गिनती की गई, जिससे कोई कर से मुक्त न हो सके। लेकिन इन उपायों से अधिक महत्वपूर्ण बात यह थी कि **खराज** के आंकलन हेतु **वफा-ए फरमानी** (राज्य द्वारा निर्धारित पैदावार) और **निर्ख-ए फरमानी** (राज्य द्वारा घोषित मूल्य) को आधार बनाया गया। इससे स्पष्ट अर्थ निकलता है कि राजस्व की गणना करते वक्त उपज और मूल्यों के जिन आंकड़ों का उपभोग किया गया, वे वास्तविक नहीं थे।

इससे आसानी से निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उपज और मूल्यों का सरकारी निर्धारण निश्चय ही बढ़ा कर दिया गया था। वास्तविक उपज के बजाय बढ़ी हुई उपज का प्रयोग और बाज़ार में चल रहे मूल्यों से कहीं अधिक मूल्यों के उपभोग से उत्पाद की कीमत तथा राज्य की हिस्सेदारी में वृद्धि अतिरंजनापूर्ण थी। राजस्व मांग में इस वृद्धि से जुताई योग्य भूमि कम होती गई, किसानों का पलायन हुआ और जैसा कि हम इकाई 20 में देखेंगे, दोआब और दिल्ली के आसपास विशाल किसान आंदोलन हुए। इससे दिल्ली को होने वाली अनाज की आपूर्ति बंद हो गई और लगभग 7 वर्षों तक, 1335 से 1342, अकाल की चोट सहनी पड़ी।

मोहम्मद तुगलक वह पहला सुल्तान था, जिसने इन समस्याओं से जूझते हुए कृषि को बढ़ाने हेतु एक कृषि नीति को निरूपित करने का प्रयास किया। उसने जुताई योग्य भूमि को सुधारने तथा सिंचाई के लिए कुएं खोदने जैसे कार्यों हेतु **सोनधर** नामक कृषि ऋण प्रारंभ किया। बर्नी के अनुसार 1346-47 तक 70 लाख **टंका** (अफीफ के अनुसार 2 करोड़ **टंका**) **सोनधर** के अंतर्गत वितरित किए गए, परंतु किसानों को शायद ही इसका कोई अंश मिला।

कृषि को बढ़ाने के लिए **दीवान-ए अमीर-ए कोही** नामक नया मंत्रालय स्थापित किया गया। इसके दो मुख्य कार्यों में खेती योग्य भूमि में विस्तार और खेती के अयोग्य भूमि को सुधारने तथा बोई जाने वाली फसलों में सुधार लाना था। यह सलाह दी गई कि गेहूं के स्थान पर गन्ना और गन्ने के स्थान पर अंगूरों और खजूरों की कृषि की जानी चाहिए।

सुल्तान अपनी कृषि सुधार योजना को लागू करने में इतना दृढ़ निश्चित था कि एक धर्मशास्त्री के यह कहने पर कि नकदी में ऋण देकर अनाज के रूप में ब्याज प्राप्त करना एक पाप था, उसे फांसी दे दी गई।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

लेकिन फिर भी बर्नी का मानना है कि ये सब उपाय लगभग पूर्णतः असफल सिद्ध हुए। फिरोज़ तुगलक (1351-88) ने इस नीति को त्याग दिया। साथ ही कृषि उप करों को भी समाप्त किया और गृह कर और चराई कर वसूलने पर रोक लगा दी। लेकिन उसने **खराज** (भूमि कर) से भिन्न एक दूसरा कर **जज़िया** किसानों पर लगाया। उसने हरियाणा में, जहां उसने नहरें खुदवायीं, एक प्रकार का सिंचाई कर प्रारंभ किया।

बाद के काल से संबंधित बहुत कम सूचनाएं मिलती हैं, लेकिन शासक जो भी रहे हों, भूमि कर की नकद धन के रूप में वसूली शायद इब्राहीम लोदी (1517-26) के समय तक जारी रही। मुद्रा की कमी और खाद्यान्नों के मूल्यों में गिरावट को देखते हुए उसने भू-राजस्व को वस्तु तथा अनाज के रूप में प्राप्त करने के आदेश दिए।

बोध प्रश्न 2

1) अलाउद्दीन खलजी की भू-राजस्व प्रणाली का वर्णन कीजिए।

....

....

....

....

....

2) सही और गलत वाक्यों के आगे (√) अथवा (×) का चिह्न लगाइए:

अ) वे क्षेत्र जो बिना बल प्रयोग के **खराज** अदा नहीं करते थे, **मवास** कहलाते थे। ( )

ब) गियासुद्दीन तुगलक ने **खोतों** और **मुकद्दमों** की फसलों और मवेशियों पर कर लगाया। ( )

स) इब्राहीम लोदी ने राजस्व वसूली नकद धन के रूप में करने का आदेश दिया। ( )

19.4 अलाउद्दीन खलजी का बाज़ार नियंत्रण

अलाउद्दीन खलजी की नीतियों ने ग्रामीण अर्थव्यवस्था तक ही सीमित न रहकर नगरीय बाज़ार व्यवस्था को भी प्रभावित किया। उसे उन सात अधिनियमों को जारी करने का श्रेय दिया जाता है, जो बाज़ार नियंत्रण उपायों के रूप में जाने जाते हैं। बर्नी ही, जो इस संबंध में हमारा मुख्य स्रोत है, केवल ऐसा प्रमाण है जिससे इन अधिनियमों के बारे में विस्तार से जानकारी प्राप्त होती हैं।

सुल्तान ने सभी वस्तुओं, खाद्यान्नों से लेकर वस्त्रों, दासों, मवेशियों इत्यादि (अधिनियम 1) की कीमतों को निर्धारित कर दिया। अपने उपायों को सफल बनाने के उद्देश्य से सुल्तान ने इन कीमतों को बलपूर्वक लागू करने की पूरी व्यवस्था की। एक बाज़ार नियंत्रक (**शहना-ए मण्डी)** , **बारिदों** (खुफिया अधिकारी) और **मुनहियानों** (गुप्तचरों) की नियुक्ति की गई (अधिनियम 2)। खाद्यान्न व्यापारियों को **शहना-ए मंडी** के नियंत्रण में रखा गया और उनसे जमानत ली गई (अधिनियम 4)। सुल्तान स्वयं प्रतिदिन इन तीनों स्रोतों से अलग-अलग जानकारी प्राप्त किया करता था (अधिनियम 7)। जमाखोरी (**इहतिकार**) पर प्रतिबंध था (अधिनियम 5)। बाज़ार में सख्त नियंत्रण सुनिश्चित करते हुए भी सुल्तान ने जरूरी आवश्यकताओं जैसे अनाजों और अन्य वस्तुओं की कम दरों पर नियमित आपूर्ति को नज़रअंदाज़ नहीं किया।

न.	सामग्री	अलाउद्दीन खलजी	मौहम्मद तुगलक	फिरोज़ तुगलक
				(मूल्य : **जीतल** प्रति मन)
1.	गेहूँ	$7\frac{1}{2}$	12	8
2.	जौ	4	8	4
3.	धान	5	14	—
4.	दालें	5	—	4
5.	मोठ	3	4	4
6.	शक्कर (सफेद)	100	80	—
7.	शक्कर (खांड)	60	64	120, 140
8.	भेड़ का गोश्त	10	64	—
9.	घी	16	—	100

मूल्य सूची के.एम. अशरफ की पुस्तक, **लाइफ एण्ड कंडीशन्स आफ द पीपुल आफ हिन्दुस्तान** दिल्ली, 1960 पृ. 160। विभिन्न स्रोतों के आधार पर तैयार की गई इस मूल्य-सूची से स्पष्ट है कि मौहम्मद तुगलक के शासन काल में कीमतें बढ़ी तथा पुनः फिरोज़ तुगलक के शासन काल में वे अलाउद्दीन खलजी के काल में प्रचलित मूल्य-स्तर पर पहुँच गई।

1. तत्कालीन इतिहासकारों द्वारा वर्णित सल्तनत कालीन मूल्य सूची

यह बात सुस्पष्ट है कि बाज़ारों में खाद्यान्न व्यापारी उसी अवस्था में आपूर्ति कर सकते थे, यदि उन्हें सस्ती दरों पर खाद्यान्न उपलब्ध होते। प्रकटतः इसी कारण सुल्तान ने दोआब में भू-राजस्व को इतनी सख्ती से वसूलने का आदेश दिया कि किसान खेतों के निकट ही अपनी पैदावार **कारवानियों** (खाद्यान्न व्यापारी) को बेचने को मजबूर हो गए।

सुल्तान ने दिल्ली और राजस्थान में झाइन नामक स्थान पर अन्न भंडार गृहों की व्यवस्था की। दोआब की **खालिसा** भूमि से भूमि कर वस्तुओं के रूप में वसूल किया गया। यह अनाज राज्य के अन्न भंडार गृहों में जमा होता था (अधिनियम 3)। मुल्तानी वस्त्र व्यापारियों को वस्त्र खरीदने और बाज़ार में लाने हेतु 20 लाख **टंका** का अग्रिम ऋण दिया गया।

इस संदर्भ में सभी स्रोतों से यह ज्ञात होता है कि सुल्तान को मूल्यों को कम रखने और बाज़ार में वस्तुओं की प्रचुर आपूर्ति जारी रखने में सफलता प्राप्त हुई। परन्तु इस बात को लेकर विभिन्न मत हैं कि सुल्तान द्वारा बाज़ार नियंत्रण क्यों लागू किया गया और किस-किस क्षेत्र में इसको लागू किया गया। दरबारी कवि

MAADHYAM IAS way to achieve your dream

अमीर खुसरो ने इन उपायों को अतिशय उदारतापूर्ण तथा साधारण जनता के सुख-चैन व कल्याण हेतु बताया है। चिश्ती संत नासिरूद्दीन महमूद (चिराग-ए दिल्ली) ने इसे सुल्तान द्वारा सभी की भलाई के लिए किया गया प्रयास बताया है। परन्तु इतिहासकार बर्नी का मत बिल्कुल भिन्न है। इसके लिए वह सुल्तान की परोपकारी भावनाओं को श्रेय न देकर ठोस वित्तीय कारण बताता है। सुल्तान एक बड़ी सेना के निर्माण हेतु चिन्तित था और वह मंगोल आक्रमणों के विरुद्ध अन्य उपाय जैसे सामरिक महत्व वाले स्थानों पर किलों का निर्माण और दिल्ली के चारों ओर दीवार खड़ी करके किलेबंदी करना चाहता था। यदि अतिरिक्त घुड़सवारों और सैनिकों को तत्कालीन वेतनमानों पर नियुक्त किया जाता तो राजकोष पूर्ण रूप से खाली हो जाता। वेतनमानों में कमी उसी अवस्था में की जा सकती थी यदि कीमतों को पर्याप्त रूप से कम स्तर तक रखा जाता।

बर्नी के ये विचार अधिक तर्कसंगत प्रतीत होते हैं। चूंकि मुख्य **लश्करगाह** (सैनिक छावनी) दिल्ली में थी और अधिकतर शाही सैनिक दिल्ली और उसके आस-पास तैनात थे, बाज़ार नियंत्रण का प्रमुख केन्द्र स्वयं दिल्ली ही था। तथापि, चूंकि दोआब के आस-पास के क्षेत्रों द्वारा खाद्यान्नों की सस्ते दरों पर आपूर्ति अनाज के व्यापारियों को प्राप्त होती थी, उन स्थानों में भी कीमतों की कम दर प्रचलित थी।

बाज़ार नियंत्रण लंबे समय तक जारी नहीं रहा और अलाउद्दीन खलजी के शासन काल के बाद हमें इसके बारे में सूचना नहीं मिलती है। मूल्य नियंत्रण में सफलता प्राप्त करने के लिए एक अत्यन्त कार्य-कुशल और चौकन्ने प्रशासन की जरूरत थी। अतएव, इसके जारी न रहने का एक संभाव्य कारण पर्याप्त रूप से योग्य प्रशासन की कमी होना रहा होगा। परन्तु, इरफान हबीब, अलाउद्दीन खलजी के उत्तराधिकारियों द्वारा मूल्य नियंत्रण की नीति को त्यागने के लिए एक भिन्न मत प्रकट करते हैं। चूंकि, कम कीमतों के प्रचलन का अर्थ उन क्षेत्रों से कम राजस्व प्राप्ति था, मूल्य नियंत्रण कम कीमतों वाले क्षेत्र के सीमित होने तक ही व्यावहारिक था और अधिकांश व्यय भी वहीं केन्द्रित था। मंगोलों के खतरे के टलते ही सेना और व्यय को, दिल्ली और उसके आस-पास ही केन्द्रित न कर, उसका विकेंद्रीकरण करना आवश्यक हो गया। अतः अब राज्य कोषागार का हित मूल्य नियंत्रण को समाप्त करने में था।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

बोध प्रश्न 3

1) अलाउद्दीन खलजी द्वारा ''मूल्य नियंत्रण'' लागू करने के हेतु किए गए उपायों का वर्णन कीजिए।

....

....

....

....

....

2) संक्षेप में इनके कारण बताइए:

अ) ''मूल्य नियंत्रण'' लागू करने के विषय में बर्नी के विचार :

....

....

....

....

....

ब) अलाउद्दीन खलजी के उत्तराधिकारियों के काल में मूल्य नियंत्रण समाप्त करना :

....

....

....

....

19.5 मुद्रा प्रणाली

दिल्ली सल्तनत की स्थापना के साथ ही मुद्रा अर्थव्यवस्था में बहुत वृद्धि हुई, जो विशेष रूप से 14वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में बढ़ी। चूंकि, मुद्रा अर्थव्यवस्था में प्रगति का अर्थ सरल शब्दों में, लेन-देन या व्यापार में मुद्रा के अधिक प्रयोग से है (इसे मुद्रीकरण भी कहा जाता है)। दिल्ली सल्तनत की स्थापना के उपरांत बड़ी मात्रा में सोने, चांदी और तांबे के सिक्कों को जारी करना, इसी भारतीय अर्थव्यवस्था के मुद्रीकरण की एक सहवर्ती प्रक्रिया थी।

दिल्ली सल्तनत की स्थापना से पूर्व काल में सिक्कों की, विशेष रूप से शुद्ध चांदी के, कमी रहती थी। प्रारंभिक गौरी विजेताओं ने टकसालों को अत्यन्त कम मात्रा में चांदी-युक्त तांबे के सिक्कों को जारी करते पाया। प्रारंभ में मुद्रित किए जाने वाले सिक्कों की संख्या को बढ़ाने के अतिरिक्त कोई परिवर्तन नहीं किए गए। सिक्कों पर देवी लक्ष्मी या बैल और घुड़सवार इत्यादि की प्रतिकृतिया अंकित रहती थी। केवल इसके ऊपर एक विकृत रूप से नए शासक का नाम नागरी लिपि में उत्कीर्ण किया जाने लगा। इन सिक्कों को **देहलीवाल** कहा जाता था।

इल्तुतमिश (1210-36) को दिल्ली सल्तनत की मुद्रा के मानकीकरण का श्रेय दिया जाता है। उसके द्वारा स्थापित मुद्रा प्रणाली अपने सारभूत रूप में दिल्ली सल्तनत के काल में जारी रही। उसने सोने व चांदी के **टंका** और तांबे के **जीतल** सिक्के जारी किए। **जीतल** की संगणना उत्तर भारत में एक **टंका** के 1/48वें भाग से और देवगिरि की विजय के पश्चात् दक्खन में 1/50वें भाग से की जाती थी।

सोने व चांदी के मध्य 1 : 10 का एक निश्चित अनुपात स्थापित कर दिया गया था।

मुद्रा प्रणाली के अध्ययन हेतु ऐतिहासिक साक्ष्य ही नहीं वरन् अभी भी उपलब्ध सिक्कों के रूप में भौतिक प्रमाण (इन्हें मुद्रा-विषयक प्रमाण कहते हैं) भी मौजूद हैं।

सल्तनत टकसालों द्वारा सामान्य तौर पर तीन धातुओं के सिक्के जारी किए जाते थे: सोना, चांदी और बिलन (चांदी की सूक्ष्म मात्रा युक्त तांबा)। मुख्य सिक्के **टंका** और **जीतल** होते थे, परन्तु कुछ छोटी मुद्राएं भी प्रचलन में थी। बर्नी **दांग,** और **दिरम** का वर्णन करता है जो राजधानी दिल्ली में प्रचलित थे। उत्तर भारत में निम्नलिखित मुद्राओं के मध्य समीकरण इस प्रकार था:

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

1 चांदी **टंका** = 48 **जीतल** = 192 **दांग** = 490 **दिरम**

बंगाल द्वारा प्रेषित सोना व चांदी, 13वीं शताब्दी के दौरान सिक्कों की ढलाई का मुख्य स्रोत था। उत्तर भारत और बाद में दक्खन के खजानों पर कब्जा, सोने व चांदी के सिक्कों की ढलाई में बहुत सहायक रहा

सल्तनत की टकसालों ने न केवल सरकारी कोष के लिए सिक्के जारी किए बल्कि निजी व्यापारियों द्वारा लाए गए सोने-चांदी और विदेशी सिक्कों को भी मुद्रांकित किया।

अलाउद्दीन खलजी के शासन काल तक चांदी की मुद्राएं प्रमुख थीं। गियासुद्दीन तुगलक के शासन काल से सोने और बिलन की तुलना में चांदी के सिक्कों की संख्या में गिरावट हुई। मौहम्मद तुगलक के अधीन सोने के सिक्के चांदी के सिक्कों पर छा गए और फिरोज़ तुगलक के अधीन चांदी के सिक्के लगभग लुप्त ही हो गए। 15वीं शताब्दी में बिलन सिक्के प्रचलन में प्रभावी रहे क्योंकि लोदी शासकों (1451-1526) द्वारा अन्य सिक्के जारी नहीं किए गए।

मौहम्मद तुगलक की प्रतीक-मुद्रा

इल्तुतमिश द्वारा प्रारंभ की गई मुद्रा प्रणाली में केवल एक अभिनव प्रयोग मौहम्मद तुगलक द्वारा किया गया था। सुल्तान ने तांबे व पीतल की मिश्र धातु का एक सिक्का जारी कर उसकी संगणना चांदी के **टंके** के बराबर घोषित की। इस सिक्के पर पहली बार फारसी में अभिलेख भी था। इस नई मुद्रा का प्रत्यक्ष मूल्य इसके मूलभूत मूल्य से (इसे बनाने में प्रयोगित धातु की कीमत) से कही अधिक था। इसलिए इसे प्रतीकात्मक मुद्रा कहा गया। पड़ोसी एशियाई साम्राज्यों में प्रतीक-मुद्रा को जारी करने के प्रयास हो चुके थे। चीन में कुबलई खाँ (1260-94) ने कागज की प्रतीक-मुद्रा जारी की और यह प्रयोग सफल रहा। फारस (ईरान) में कैखत्तु खाँ (1293) ने भी प्रतीक-मुद्रा चलाने का प्रयास किया था, परंतु यह असफल रहा।

मोहम्मद तुगलक का प्रयोग भी पूर्णतः असफल रहा, शायद इसलिए कि इस नई मुद्रा की आसानी से नकल की जा सकती थी। बर्नी अतिशयोक्तिपूर्ण ढंग से लिखता है कि प्रत्येक 'हिन्दू' घर एक टकसाल बन गया (बर्नी का हिन्दू घरों पर यह आरोप शायद इसलिए था क्योंकि सोने-चांदी के कारीगर और **सर्राफ** अधिकांशतः हिन्दू थे)। तथापि, सुल्तान ने इस असफलता को सौम्यता के साथ स्वीकार किया और प्रतीक-मुद्रा को राजकोष द्वारा शुद्ध मुद्रा में बदल दिया गया।

बोध प्रश्न 4

1) प्रतीक-मुद्रा को जारी करने की विवेचना कीजिए।

....

....

....

....

....

2) सही कथन के आगे (√) और गलत कथन के आगे (×) का चिह्न अंकित कीजिए:
   अ) अलाउद्दीन खलजी द्वारा सल्तनत की मुद्रा प्रणाली स्थापित की गई। ( )
   ब) उत्तर भारत में चांदी का एक **टंका** 48 **जीतलों** के बराबर था। ( )
   स) दक्खन में सिक्कों हेतु चांदी के मुख्य स्रोत स्थानीय शासकों के खजाने थे। ( )
   द) फिरोज़ तुगलक के शासन काल में चांदी के सिक्कों की संख्या सोने के सिक्कों से बहुत अधिक थी। ( )

19.6 दास प्रथा और दास व्यापार

गौरी शासकों ने भारत में दास प्रथा का प्रचलन देखा, जहां इसका एक प्राचीन इतिहास रहा था। इस विषय में उनके लिए भी कोई नैतिक आशंकाएं बाधक नहीं थीं। दास प्रथा इस्लाम में स्वीकृत थी और इस्लामी देशों में यह प्रचलित थी। इरफान हबीब के अनुसार, गज़नवियों और गौरियों के उत्तरी भारत पर आक्रमण, जूलियस सीजर के इंग्लैंड पर आक्रमणों की भांति, आंशिक रूप से गुलामों को प्राप्त करने के उद्देश्य से थे। एक युद्ध की सफलता सोना, चांदी, मवेशी और घोड़ों के साथ-साथ पकड़े गए दासों की संख्या से आंकी जाती थी। कुतबुद्दीन ऐबक ने 1195 में गुजरात पर अभियान के दौरान 20 हज़ार और 1202 में कालिंजर पर आक्रमण कर 50 हज़ार दास प्राप्त किए। सल्तनत की स्थापना के बाद भी अविजित क्षेत्रों में लड़ाइयों द्वारा गुलामीकरण की प्रक्रिया जारी रही। बलबन के रणथम्भौर अभियान और दक्खन में मलिक काफ़ूर के मुहिमों का एक प्रमुख उद्देश्य गुलामों को प्राप्त करना था।

दासों को प्राप्त करने का एक अन्य स्रोत विद्रोही गांवों (मवास) की लूट-मार था, जो क्षेत्र सल्तनत को **खराज** अदा करने से मुकर जाता था। इन स्रोतों से प्राप्त दासों की संख्या बहुत अधिक थी। अलाउद्दीन खलजी (1296-1316) के शासनकाल में 50,000 दास थे। यह संख्या फिरोज़ तुगलक (1351-88) के समय 1,80,000 तक पहुंच गई। सुल्तान के अतिरिक्त अमीरों के पास निजी तौर पर बड़े-बड़े दासों के दल होते थे, जिनमें बड़ी संख्या में औरतें भी सम्मिलित थी। यहां तक कि अभिजात गरीब वर्ग भी दास रखता था।

नए शासक वर्ग, जो अपनी पसंद के अनुसार कार्य करवाना चाहता था, के लिए दास बहुत महत्व के थे। प्रारंभ में कुछ सीमा तक पारंपरिक भारतीय शिल्पकर्मियों और कारीगरों को नए कुलीन वर्ग की मांगों और नई उत्पादन तकनीकी जैसी चरखे और रूई धुनने के यंत्र के प्रयोग में मुश्किल आई होगी। अप्रशिक्षित दासों को किसी भी कार्य में दक्ष किया जा सकता था। फिरोज़ तुगलक के दासों में 12,000 कारीगर सम्मिलित थे।

एक बड़ा दास बाजार था। बर्नी ने अलाउद्दीन खलजी द्वारा विभिन्न उम्र के दासों की कीमत निश्चित करने का ब्यौरा दिया है। दासों की बहुलता ने भारत से इस्लामी देशों में दासों के निर्यात को प्रोत्साहित किया। लेकिन फिरोज़ तुगलक ने दासों के निर्यात को बंद करवा दिया।

बोध प्रश्न 5

1) सही कथन के आगे (√) और गलत के आगे (×) का चिन्ह लगाइये :
   अ) गुलाम केवल सुल्तान और उसके अमीरों द्वारा रखे जाते थे। ( )
   ब) गौरी के अभियान आंशिक रूप से दास प्राप्ति के इच्छुक आक्रमणकारियों के अभियान थे। ( )
   स) फिरोज़ तुगलक के अधीन बड़ी संख्या में दास शिल्पकर्मी थे। ( )
   द) अलाउद्दीन खलजी ने भारत से दासों के निर्यात पर रोक लगाई। ( )

2) दिल्ली सल्तनत में दासों की आपूर्ति के मुख्य स्रोत क्या थे?

....

....

....

....

....

19.7 सारांश

इस इकाई में आपने भारतीय अर्थव्यवस्था पर दिल्ली सल्तनत के प्रभाव का अध्ययन किया। हमने देखा कि धीरे-धीरे किस प्रकार पहले से प्रचलित राजस्व वसूली और वितरण की व्यवस्थाएं परिवर्तित हुई, नकद लेन-देन बढ़ा, और शुद्ध चांदी के सिक्के प्रारंभ किए गए।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

19.8 शब्दावली

जीतल : तांबे का एक सिक्का, 48 **जीतल** = 1 **टंका**

कारवानी : अनाज व्यापारी

खराज : भू-राजस्व

महसूल : अनुमानित राजस्व

मवास : विद्रोही गांव या क्षेत्र जहां से बल प्रयोग द्वारा राजस्व वसूली की जाती थी

मदरसा : मुस्लिम शिक्षण संस्थान

मिल्क, इदरार, इनाम : राजस्व मुक्त अनुदान

वजह/वजहदार : देखें खंड 5

वली : **इक्ताधारी**/प्रांतीय राज्यपाल

19.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) देखें उप-भाग 19.2.1
2) देखें उप-भाग 19.2.2

बोध प्रश्न 2

1) देखें उप-भाग 19.3.1
2) (अ) √ (ब) × (स) ×

बोध प्रश्न 3

1) देखें भाग 19.4
2) देखें भाग 19.4

बोध प्रश्न 4

1) देखें भाग 19.5
2) (अ) × (ब) √ (स) √ (द) ×

बोध प्रश्न 5

1) (अ) × (ब) √ (स) √ (द) ×
2) देखें भाग 19.6

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

इकाई 20 कृषि व्यवस्था

इकाई की रूपरेखा

20.0 उद्देश्य
20.1 प्रस्तावना
20.2 कृषि उत्पादन
20.2.1 फसलें तथा अन्य कृषि उत्पादन
20.2.2 नहर सिंचाई व्यवस्था और इसका प्रभाव
20.3 कृषि संबंध
20.3.1 कृषक
20.3.2 ग्रामीण मध्यस्थ वर्ग
20.4 सारांश
20.5 शब्दावली
20.6 बोध प्रश्नों के उत्तर

20.0 उद्देश्य

इस इकाई में हम 13वीं-14वीं शताब्दी की कृषि अर्थव्यवस्था का अध्ययन करेंगे। हम यह भी मालूम करने का प्रयास करेंगे कि दिल्ली सल्तनत की स्थापना से कृषि उत्पादन और कृषि संबंधों पर क्या प्रभाव पड़ा? इस इकाई के अध्ययन के बाद आप निम्नलिखित की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे:

- कृषि योग्य भूमि का विस्तार, किसानों द्वारा उगाई जाने वाली फसलें, नहर सिंचाई और इसका प्रभाव, तथा
- कृषि संबंध, पूर्ववर्ती ग्रामीण व्यवस्था में आये परिवर्तन तथा अधीनस्थ ग्रामीण कुलीन तंत्र।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

20.1 प्रस्तावना

दिल्ली सल्तनत की स्थापना के बाद कृषि उत्पादन व्यवस्था में बहुत क्रांतिकारी परिवर्तनों की आशा करना उचित नहीं होगा। हालांकि कुछ नई तकनीकों के आने से सिंचाई व्यवस्था में सुधार हुआ तथा नील और अंगूर जैसी कुछ फसलों का अधिक प्रसार हुआ जिन्हें नकदी फसलें (जिनकी बाजार में मांग हो) कहते हैं। वास्तव में महत्वपूर्ण परिवर्तन कृषि संबंधों के क्षेत्रों में दिखाई देते हैं। डी.डी. कोसाम्बी के अनुसार इन परिवर्तनों ने भारतीय सामंतवाद में पहले से मौजूद तत्वों को अधिक प्रगाढ़ बनाने से अधिक कुछ नहीं किया जबकि मोहम्मद हबीब इन परिवर्तनों को इतना अधिक महत्वपूर्ण और प्रगतिशील मानते हैं कि उन्होंने इसे "ग्रामीण क्रांति" का नाम दिया।

20.2 कृषि उत्पादन

तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी में भूमि और व्यक्ति का अनुपात बहुत अनुकूल था (अर्थात् काफी मात्रा में भूमि उपलब्ध थी, और उस पर कृषि करने वालों की संख्या कम)। 1200 ई. में भारत की जनसंख्या 1800 ई. की तुलना में काफी कम थी। परन्तु यह कितनी कम थी इसके विषय में हमें कोई ज्ञान नहीं है। इस समय के इस प्रकार के कोई आंकड़े तो उपलब्ध नहीं हैं। परन्तु ऐतिहासिक ग्रंथों से यह पता चलता है कि 16वीं शताब्दी की तुलना में 13वीं-14वीं शताब्दी में काफी कम क्षेत्र बसे हुए थे। गंगा-यमुना के दोआब के अत्यधिक उपजाऊ क्षेत्र में भी काफी बड़े-बड़े जंगल और चरागाह फैले हुए थे। 13वीं शताब्दी में सूफी संत निज़ामुद्दीन औलिया ने दिल्ली और बदायूं के बीच यात्रियों को शेरों द्वारा परेशान करने का विवरण दिया है। बर्नी के अनुसार 14वीं शताब्दी में इस क्षेत्र में इतने घने जंगल थे कि बहुत बड़ी संख्या में किसानों ने सुल्तान की सेना से बचने के लिए यहां शरण ली। यहां तक कि बाबर के समय (1526-30) में भी मध्य भारत के जंगलों में, कालपी और कानपुर के दक्षिण में, यमुना के बीहड़ों के पार हाथी घूमते रहते थे।

लेकिन अकबर के शासन के अंत तक (1605 ई.) मध्य दोआब के लगभग सम्पूर्ण क्षेत्र में खेती होती थी। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि दिल्ली सल्तनत के काल में कृषि योग्य भूमि के ऐसे विस्तृत क्षेत्र मौजूद थे जिन पर कृषि नहीं होती थी। इसलिए भूमि के ऐसे टुकड़ों पर नियंत्रण की अपेक्षा ऐसे व्यक्तियों पर नियंत्रण महत्वपूर्ण था जो कृषि करते थे। इस स्थिति का कृषि संबंधों पर प्रभाव का हम यथा स्थान पर अध्ययन करेंगे। हालांकि कृषि व्यवस्था को समझने के लिए भूमि और व्यक्ति का अनुपात भी बहुत महत्वपूर्ण है। भूमि के अनुकूल अनुपात होने का तात्पर्य है कि कृषि काफी व्यापक थी। विस्तृत कृषि का सीधा और सरल अर्थ यह है कि कृषि उत्पादन के बढ़ने का तात्पर्य था अधिक भूमि पर फसल बोना। जबकि दूसरी ओर सघन खेती का अर्थ है कृषि योग्य भूमि का न बढ़ना बल्कि उसी सीमित उपलब्ध भूमि पर अधिक फसल पैदा करना। इसके लिए अधिक निवेश की आवश्यकता होती है। यह निवेश अधिक मजदूर, अधिक हल, अधिक उर्वरक और अतिरिक्त सिंचाई के साधनों के रूप में होता है। अतः कृषि योग्य भूमि के काफी मात्रा में उपलब्ध होने से दिल्ली सल्तनत में कृषि बहुत विस्तृत थी। बड़ी मात्रा में कृषि योग्य अतिरिक्त भूमि और खाली पड़ी भूमि का अर्थ था कि पशुओं के लिए काफी चारागाह उपलब्ध थे। **मसालिक-उल अबसार** नामक समकालीन ग्रंथ के लेखक के अनुसार भारत में पशुओं की संख्या काफी अधिक और मूल्य बहुत कम था। अफीफ के अनुसार दोआब में कोई भी गांव ऐसा नहीं था जहां पशुशाला न हो। इन पशुशालाओं को **खरक** कहा जाता था। बैलों की संख्या तो इतनी अधिक थी कि ढोने के लिए अनाज और अन्य सामान बैल गाड़ी के बजाय बैलों के ऊपर लादा जाता था।

20.2.1 फसलें तथा अन्य कृषि उत्पादन

दिल्ली सल्तनत की कृषि की सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषता किसानों द्वारा बड़ी संख्या में फसलें उगाना था। संभवतः दक्षिण चीन के अतिरिक्त विश्व के किसी अन्य भाग में इतनी बढ़ी संख्या में फसलें नहीं उगाई जाती थीं। इब्न बतूता भारत में फसलों की इतनी बड़ी संख्या देख कर बहुत प्रभावित हुआ। उसने दोनों प्रमुख फसलों **खरीफ** और **रबी** के मौसम की विभिन्न उपजों का विवरण विस्तार से दिया है। वह यह भी बताता है कि दिल्ली के आस-पास के क्षेत्रों में दो फसलें पैदा की जाती थी। इसका तात्पर्य है कि एक ही भूमि पर **खरीफ** और **रबी** दोनों फसलें पैदा होती थीं। ठक्कर फेरू, जो अलाउद्दीन खलजी के समय दिल्ली की टकसाल का प्रमुख था, लगभग 1290 ई. में करीब 25 फसलों के नाम गिनता है और उनकी औसत उपज भी बताता है। उपज के बारे में हम निश्चित रूप से कुछ कहने में असमर्थ हैं क्योंकि फेरू माप-तौल की जिन इकाइयों का वर्णन करता है उनके विषय में हमें विस्तृत ज्ञान नहीं है। परन्तु उसके विवरण से विभिन्न फसलों के बारे में काफी जानकारी प्राप्त होती है। खाने वाले अनाजों की फसलों में वह गेहूं, धान, मोटे अनाज (जौ, ज्वार, मोठ) तथा दालों (उड़द, मूंग, मसूर इत्यादि) का विवरण देता है। जबकि नगदी फसलों में वह गन्ना, कपास, तथा तेल प्रदान करने वाली फसलों, तिल और अलसी आदि के नाम बताता है।

इससे हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि शायद बढ़ी हुई सिंचाई सुविधाओं ने गन्ना और गेहूं जैसी **रबी** (जाड़े की फसलों) फसलों के अधीन क्षेत्र बढ़ाने में मदद की होगी। "तुर्की" विजेताओं के साथ अब गन्ने से मदिरा बनाने की विधि काफी बड़े क्षेत्र में लोकप्रिय हो गई। बर्नी के अनुसार दिल्ली के आस-पास और दोआब के क्षेत्र में मदिरा बनाना एक ग्रामीण उद्योग के रूप में स्थापित हो गया। थोड़ी आश्चर्य की बात यह है कि ठक्कर फेरू अपने विवरण में नील की खेती के विषय में कुछ नहीं कहता जबकि नील के उत्पादन का संकेत इस बात से मिलता है कि इस समय काफी मात्रा में नील का निर्यात ईरान के लिए होता था। इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि ईरान में इलखान शासकों द्वारा नील की खेती को बढ़ावा दिया जा रहा था ताकि भारत पर निर्भरता समाप्त हो जाये। ऐसा लगता है कि नील बनाने के हौज़ में चूने-गारे के प्रयोग से सुधार होने के कारण नील की खेती को बढ़ावा मिला होगा।

इब्न बतूता के विवरण से हमें दिल्ली सल्तनत में फलों के उत्पादन के विषय में भी पता चलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि कृषकों को फलों की कलम लगाने की तकनीक का ज्ञान नहीं था। प्रारंभ में दिल्ली के अतिरिक्त केवल कुछ स्थानों पर ही अंगूर उगाये जाते थे। परन्तु अफीफ के अनुसार चौदहवीं शताब्दी में अंगूरों का उत्पादन इतना बढ़ गया कि इसके दाम गिर गए। संभवतः ऐसा दो कारणों से हुआ:

i) मौहम्मद तुगलक की किसानों को सलाह कि वे लगातार अपनी फसलों में सुधार करें और गेहूं की जगह गन्ना और गन्ने की जगह अंगूर बोयें।

ii) फिरोज़ तुगलक द्वारा दिल्ली के आस-पास सात प्रकार के अंगूरों की खेती के लिए 1200 बाग लगाना।

भारतीय किसान इस काल में रेशम उत्पादन (रेशम के कीड़े पालने का काम) नहीं करते थे और इसी काल में वास्तविक रेशम के विषय में कोई जानकारी नहीं मिलती। केवल टसर, एरी और मुका जैसे जंगली या

अर्द्धजंगली (कीड़ों से बनी) रेशम के विवरण मिलते हैं। पहली बार 1432 ई. में चीनी नाविक मा हुआन बंगाल में रेशम के कीड़े पालने का विवरण देता है।

20.2.2 नहर सिंचाई व्यवस्था और इसका प्रभाव

अधिकांशतः कृषि वर्षा अथवा नदियों द्वारा प्राकृतिक सिंचाई पर आधारित थी। चूंकि कृषि प्राकृतिक साधनों पर निर्भर थी अतः केवल वर्षा के पानी से उगाई जाने वाली **खरीफ** की फसल और मोटे अनाज उगाने की प्रवृत्ति अधिक थी।

समकालीन स्रोतों में हमें नहर द्वारा सिंचाई का विवरण भी मिलता है। नहरें बनवाने वाला पहला सुल्तान गियासुद्दीन तुगलक (1320-25) कहा जाता है। लेकिन बाद में फिरोज़ तुगलक (1351-88) द्वारा बड़े पैमाने पर नहरें बनवाने का काम किया गया। फिरोज तुगलक ने यमुना नदी से हिसार पानी ले जाने के लिए दो नहरें बनवाईं, दोआब में काली नदी से एक नहर खुदवाई जो दिल्ली के पास यमुना से मिलती थी, तथा एक-एक सतलज और घग्घर नदी से निकलवाई। निश्चय ही, उन्नीसवीं शताब्दी से पहले यह नहरों का सबसे बड़ा जाल था।

नहरों द्वारा सिंचाई के कारण पूर्वी पंजाब में कृषि का बहुत विस्तार हुआ। अब गन्ने जैसी नगदी फसलों के उत्पादन पर बहुत ध्यान दिया गया क्योंकि अन्य फसलों की तुलना में इसे सिंचाई की अधिक आवश्यकता होती थी। अफीफ के अनुसार भूमि का एक विशाल भाग जो लगभग 80 कोस (200 मील) में फैला था **रजबवाह** और **उलुगखानी** नामक दो नहरों से सींचा जाता था। अफीफ के अनुसार पूर्वी पंजाब में जहां पहले केवल एक फसल होती थी अब सिंचाई की सुविधाओं के कारण **खरीफ** और **रबी** की दो फसलें पैदा होने लगीं। इससे अब नहरों के किनारे कृषि बस्तियां बस गई। नहरों से सिंचाई वाले क्षेत्र में लगभग 52 ऐसी बस्तियां बस गई। अफीफ अत्यंत उत्साहपूर्वक कहता है "एक भी गांव उजाड़ नहीं रह गया और एक गज भमि भी ऐसी नहीं बची जहां खेती न होती हो"।

बोध प्रश्न 1

1) दिल्ली सल्तनत में भूमि और मनुष्य के अनुकूल अनुपात का क्या प्रभाव पड़ा?

....

....

....

....

....

2) नहरों द्वारा सिंचाई पर एक टिप्पणी लिखिए।

....

....

....

....

....

3) निम्नलिखित में से कौन से कथन सही (√) हैं और कौन से गलत (×):

i) मौहम्मद तुगलक ने सिंचाई के लिए बहुत सी नहरें बनवाईं। ( )

ii) सल्तनत काल में दोआब में दो फसलें उगाई जाती थीं। ( )

iii) तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी में भारतीय किसानों द्वारा रेशम के कीड़ों का पालन किया जाता था। ( )

20.3 कृषि संबंध

कृषि अर्थव्यवस्था के विषय में चर्चा के लिए यह जानना अत्यंत आवश्यक है कि दिल्ली सल्तनत की

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

स्थापना के बाद कृषि संबंधों की प्रकृति में क्या अंतर आया और यह अन्तर किस सीमा तक था। यह जानने के लिए 1200 ई. से पहले की कृषि व्यवस्था समझना जरूरी हो जाता है। हम यहां इस बहस में नहीं पड़ेंगे कि उस समय के सामाजिक और आर्थिक ढांचे को सामंती व्यवस्था कह सकते हैं या नहीं परन्तु हम काफी विश्वसनीय रूप से कह सकते हैं कि गौरी के आक्रमण के समय शासक वर्ग का आधार ग्राम था। लगभग कुछ उसी रूप में जैसा कि उस समय का पश्चिमी यूरोप का सामंत अभिजात्य वर्ग था।

इतिहासकार मिन्हाज गौरी और आरंभिक सुल्तानों का प्रतिरोध करने वाले भारतीय शासक वर्ग को **राय** और **राना** तथा उनके घुड़सवार सेनानायकों को **रावत** नाम से संबोधित करता है। उत्तर भारत के विभिन्न भागों से प्राप्त शिलालेखों के साक्ष्य के आधार पर **राजा (राय), रानका (राना)** तथा **राउत (रावत)** की सामंती पदानुक्रम व्यवस्था लगभग साबित हो चुकी है। तुर्की शासन के आरंभिक काल में सुल्तानों ने इस पराजित और पराधीन ग्रामीण कुलीन वर्ग के साथ एक प्रकार का समझौता किया। जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि भेंट में वसूल की जाने वाली प्रमुख धनराशि **खराज** थी। ऐसा प्रतीत होता है कि अलाउद्दीन खलजी के काल में जब **खराज** का स्थान किसानों पर सख्ती से लागू और वसूल किए जाने वाले भूमि कर ने ले लिया फिर भी कर की वसूली में पहले के ग्रामीण कुलीन वर्ग की एक निश्चित भूमिका रहती थी। अलाउद्दीन खलजी के काल की एक घटना इस विषय को और स्पष्ट करती है, अफीफ के अनुसार जब दीपालपुर का **मुक्ती** (गवर्नर) गाज़ी मलिक वहां के एक **राय** (राजा) पर दबाव डालना चाहता था तो उसने **राय** से मांग की कि वह पूरे वर्ष का भूमि कर नकद धन के रूप में तुरंत दे। जब **राना** वह मांग पूरी न कर सका तो गाज़ी मलिक ने **मुकद्दमों** (ग्रामों के प्रधान) और **चौधरियों** को मारना पीटना शुरू किया। इस घटना से यह पता चलता है कि पहले का कुलीन तंत्र हालांकि अब सत्ता में नहीं था और पराधीन था, परन्तु कम से कम 14वीं शताबब्दी के प्रारंभ तक, अपने क्षेत्र के भूमि कर की वसूली करने का अधिकार रखता था। ग्राम प्रमुख और **चौधरी** की सहायता से सीधे कर वसूल करने का अधिकार प्रशासन के पास भी था।

20.3.1 कृषक

कृषि उत्पादन कृषकों द्वारा भूमि के पृथक्-पृथक् भागों पर किया जाता था। परन्तु यह कृषक अर्थव्यवस्था समतावादी नहीं थी। किसानों का स्वामित्व भूमि के भिन्न-भिन्न आकार के भागों पर था। बर्नी के विवरण के अनुसार एक ओर तो बड़े भू-भागों के मालिक **खोत** और **मुकद्दम** थे जबकि दूसरी ओर भूमि के छोटे-छोटे टुकड़ों का स्वामी **बलाहार** था जो गांव में निम्न कोटि का माना जाता था। विभिन्न प्रकार के किसानों के नीचे बड़ी संख्या में भूमिहीन मजदूर रहे होंगे परन्तु उनकी उपस्थिति के बारे में स्पष्ट जानकारी बाद के स्रोतों में मिलती है समकालीन ग्रंथों में नहीं।

कृषि योग्य भूमि की प्रचुरता होने के बावजूद भी कृषक जिस भूमि को जोतता था उस पर उसे स्वामित्व का अधिकार नहीं था। इसके विपरीत वह जो फसल उगाता था उस पर उच्च वर्गों के निश्चित अधिकार थे। हालांकि किसान को जन्म से स्वतंत्र स्वीकार किया जाता था परन्तु बहुधा उसे अपनी इच्छानुसार स्थान बदलने या भूमि छोड़कर जाने के अधिकार से वंचित रखा जाता था।

अफीफ के अनुसार एक गांव में लगभग 200 से 300 पुरुष होते थे। बर्नी के अनुसार प्रत्येक गांव में हिसाब-किताब रखने के लिए एक **पटवारी** होता था। उसके बही खाते से उस प्रत्येक वैध और अवैध भुगतान का पता चल सकता था जो किसान राजस्व अधिकारियों को देते थे। **पटवारी**, एक सरकारी कर्मचारी नहीं बल्कि ग्राम का अधिकारी होता था। निश्चय ही इस पद का प्रारंभ दिल्ली सल्तनत द्वारा नहीं किया गया था। इस प्रकार से एक ग्राम अधिकारी या लिपिक के होने से ऐसा प्रतीत होता है कि एक प्रशासनिक इकाई के रूप में गांव का अस्तित्व दिल्ली सल्तनत के प्रशासन से बाहर था।

ऐसा प्रतीत होता है कि सम्पूर्ण गांव से भूमि कर का भुगतान एक संयुक्त इकाई के रूप में होता था अन्यथा सम्पूर्ण गांव का लेखा-जोखा रखने के लिए एक लिपिक की क्या आवश्यकता थी। इस प्रकार **पटवारी** का होना और उसके कार्यों की प्रकृति एक ग्रामीण समुदाय की उपस्थिति का भी आभास देता है। अलाउद्दीन खलजी द्वारा प्रत्येक किसान पर पृथक् भूमि कर निर्धारण के प्रयासों के बावजूद ऐसा प्रतीत होता है कि व्यवहारिक रूप से भूमि कर के भुगतान के लिए गांव एक इकाई के रूप में माना जाता था। बर्नी की यह शिकायत कि ''अमीर का भार गरीब पर पड़ता है'' भी यह दिखाती है कि ग्राम समुदाय एक आदर्श संस्था न होकर शोषण का एक यंत्र थी।

20.3.2 ग्रामीण मध्यस्थ वर्ग

आप खंड 5 में उस ग्रामीण कुलीन वर्ग के विषय में पढ़ चुके हैं जिसे **खोत,**

से जाना जाता था। यह वर्ग **किसानों के उच्च वर्ग से** संबंधित था। बर्नी के विवरण से ऐसा प्रतीत होता है कि अलाउद्दीन के कृषि संबंधी उपायों **से पहले इस वर्ग के** पास कर मुक्त भूमि होती थी। एक वर्ग के रूप में ग्राम प्रमुखों का वर्ग बहुत समृद्ध था। बर्नी विद्वेषपूर्ण प्रसन्नता से लिखता है कि अलाउद्दीन ने इस वर्ग (**खोत, मुकद्दम** और **चौधरी**) पर पूरी मात्रा में भूमि कर लागू किया और गृह कर और चराई कर से उन्हें जो छूट मिली थी वह भी समाप्त कर दी। उसने उन्हें **अपनी** ओर से कोई कर लगाने के लिए मना कर दिया और इस प्रकार इस (विशिष्ट) वर्ग को सामान्य किसानों के बराबर बना दिया।

यह ग्रामीण मध्यस्थ वर्ग भूमि कर की वसूली के लिए महत्वपूर्ण था इसलिए इनके विरुद्ध यह कठोर कदम अधिक समय तक नहीं चल सके और गियासुद्दीन तुगलक ने पुनः संतुलन स्थापित किया। सबसे पहले उन्हें चराई कर और स्वयं की भूमि पर कर देने से छूट मिल गई। परन्तु उन्हें किसानों पर अपनी ओर से उप कर लगाने का अधिकार नहीं मिला। फिरोज़ तुगलक के काल में उन्हें अन्य कई छूटें भी प्राप्त हो गई। रोचक बात यह है कि बर्नी इन रियायतों और उससे इस वर्ग की बढ़ी हुई समृद्धि का वर्णन बड़े अनुमोदन के साथ करता है।

इस ग्रामीण मध्यस्थ वर्गों में **चौधरी** पद का उदय संभवतः चौदहवीं शताब्दी में हुआ। इसका उल्लेख मिन्हाज द्वारा या तेरहवीं शताब्दी के किसी भी अन्य स्रोत में नहीं हुआ है। इस शब्द का प्रयोग पहली बार चौदहवीं शताब्दी के मध्य में बर्नी द्वारा किया गया है। इब्न बतूता कहता है कि "**चौधरी** एक सौ गांवों का प्रमुख था" जिसे वह **सदी** कहता है। चौदहवीं शताब्दी के मध्य से गांवों के एक समूह के लिए प्रचलित शब्द **परगना** था। इतिहासकार इरफान हबीब के अनुसार संभवतः **चौधरी** गुर्जर प्रतिहार और चालुक्यों के समय के अधिकारी **चौरासी** का ही परिवर्तित नाम था हालांकि उसकी सत्ता और शक्ति काफी कम हो चुकी थी।

फिरोज़ तुगलक के समय से इन सभी मध्यस्थ वर्गों को एक सामान्य पदनाम **ज़मींदार** के नाम से सम्बोधित किया जाने लगा जो मुगल काल में बहुत अधिक प्रचलित हो गया।

बोध प्रश्न 2

1) निम्नलिखित में से प्रत्येक पर लगभग 50 शब्दों में टिप्पणी लिखिए :

क) **ग्राम समुदाय**

MAADHYAM IAS

....
....
....
....
....

ख) **चौधरी**

....
....
....
....
....

ग) **पटवारी**

....
....
....
....
....

2) निम्नलिखित वक्तव्यों पर सही (√) और गलत (×) के निशान लगाइये :
   i) दिल्ली सल्तनत के काल में भूमि पर किसानों का स्वामित्व था। ( )
   ii) **पटवारी** गांव का ऐसा कर्मचारी था जो बही खाते रखता था। ( )
   iii) सल्तनत काल में भूमि और व्यक्ति का अनुपात अनुकूल था। ( )

20.4 सारांश

इस इकाई में हमने दिल्ली सल्तनत के काल में कृषि व्यवस्था, कृषि उत्पादन, सिंचाई के साधन तथा किसान और भूमि से संबंधित मध्यस्थ वर्गों का अध्ययन किया। इस काल में बड़ी मात्रा में कृषि योग्य भूमि कृषि के उपयोग में नहीं थी। दोआब के क्षेत्र में दो फसल उगाने की प्रथा प्रचलित थी। नहरें कृत्रिम सिंचाई का प्रमुख साधन थीं। गांवों में उच्च भूमि अधिकारियों (**खोत, मुकद्दम** और **चौधरी**) तथा साधारण कृषक (**रैयूयत**) भिन्न स्तरों में बंटे थे।

20.5 शब्दावली

नकदी फसलें : ऐसी फसलें जो प्रमुखतया बाजार में बेचने के उद्देश्य से उगाई जाती थीं, जैसे—गन्ना, कपास, तथा नील आदि।

आसवन : वह प्रक्रिया जिसमें गर्म करके भाप बनाई जाती है और इस भाप को ठंडा करके तरल पदार्थ प्राप्त किया जाता है।

कोस : दूरी नापने का माप, 1 कोस = 2.5 मील

खरीफ : शरदकालीन फसल

रबी : जाड़े की फसल

रैयूयत : साधारण किसान

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

20.6 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) देखें भाग 20.2
2) देखें उप-भाग 20.2.2
3) i) × ii) √ iii) ×

बोध प्रश्न 2

1) देखें उप-भाग 20.3.1 और 20.3.2
2) i) × ii) √ iii) √

इकाई 21 नगरीय अर्थव्यवस्था का उदय तथा व्यापार और वाणिज्य

इकाई की रूपरेखा

21.0 उद्देश्य
21.1 प्रस्तावना
21.2 नगरों का विकास
21.3 नगरीय उत्पादन
21.4 व्यापार तथा वाणिज्य
 21.4.1 आंतरिक व्यापार
 21.4.2 विदेशी व्यापार : समुद्री व स्थल
 21.4.3 व्यापार से संबंधित वर्ग
 21.4.4 परिवहन
21.5 सारांश
21.6 शब्दावली
21.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

21.0 उद्देश्य

इस इकाई में आप 13वीं -14वीं शताब्दी में नगरीय अर्थव्यवस्था, शिल्प उत्पादन और व्यापार के विस्तार के विषय में अध्ययन करेंगे। दिल्ली सल्तनत के काल में इन सभी क्षेत्रों में काफी विकास हुआ। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप यह जान सकेंगे कि दिल्ली सल्तनत के काल में—

- शहरों के आकार और संभवत संख्या में भी भारी वृद्धि हुई,
- शिल्प उत्पादन बहुत अधिक बढ़ा, और
- व्यापार के क्षेत्र में भी बहुत अधिक विस्तार हुआ।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

21.1 प्रस्तावना

उपलब्ध समकालीन प्रमाणों से पता चलता है कि गौरी के आक्रमण के समय नगरीय अर्थव्यवस्था ह्रास की स्थिति में थी। सल्तनत की स्थापना से पहले की शताब्दियों में नगरों की संख्या कम और आकार छोटा था। इतिहासकार डी.डी. कोसाम्बी के अनुसार राजधानी भी तम्बुओं का एक ऐसा शहर था जो एक स्थान से दूसरे स्थान प्रस्थान करता रहता था। उच्च शासक वर्ग सेना के साथ एक स्थान से दूसरे स्थान भ्रमण करता रहता था जबकि निम्न कुलीन वर्ग पूर्णतया गांवों में सीमित था। इतिहासकार आर.एस. शर्मा भी शहरों के ह्रास के इस दृष्टिकोण का समर्थन करते हैं। उन्होंने पुरातात्विक खुदाई से प्राप्त प्रमाणों के विस्तृत शोध के आधार पर शहरों के ह्रास के मत को पुनः स्थापित किया है। शहरों के ह्रास संबंधी मत की पुष्टि इस काल के मन्द व्यापार से भी होती है। इस काल में सोने चांदी के सिक्कों की भारी कमी तथा विदेशी सिक्कों की पूर्ण अनुपस्थिति भी यह संकेत देते हैं कि विदेशी व्यापार बहुत निम्न अवस्था में था। किसी एक क्षेत्र से प्राप्त सिक्कों के भण्डार में दूसरे क्षेत्रीय राज्यों के सिक्कों की अनुपस्थिति भी यह दिखाती है कि आंतरिक व्यापार भी बहुत मन्द अवस्था में था। दिल्ली सल्तनत की स्थापना के लगभग तुरंत बाद यह स्थिति तेजी से बदलती दिखाई देती है। पुरातात्विक साक्ष्य और सिक्कों के अध्ययन साहित्यिक स्रोतों के इन प्रमाणों की पुष्टि करते हैं कि सल्तनत काल में शहरों का विकास हुआ और व्यापार में वृद्धि हुई। इन प्रमाणों के आधार पर इतिहासकार मौहम्मद हबीब ने ''शहरी क्रांति'' के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। इकाई 19 में आप इसके विषय में पढ़ चुके हैं।

21.2 शहरों का विकास

शहरों की संख्या और आकार में वृद्धि के विषय में उपलब्ध प्रमाणों की चर्चा करने से पहले, आइये हम यह देखें कि शहर या नगर का क्या तात्पर्य है। शहर की दो साधारण परिभाषायें हैं: i) आधुनिक सामान्य परिभाषा के अनुसार 5000 से अधिक जनसंख्या वाली कोई बस्ती, ii) एक ऐसी बस्ती जहाँ अधिकांश जनसंख्या (लगभग 70% से ऊपर) कृषि के अतिरिक्त अन्य व्यवसायों में संलग्न हों। यह दोनों परिभाषायें एक दूसरे की पूरक नहीं हैं परन्तु द्वितीय परिभाषा बहुत छोटे शहरों पर भी लागू हो सकती है।

प्राचीन काल के लिए जिस प्रकार के पुरातात्विक साक्ष्य उपलब्ध हैं वे 13वीं-15वीं शताब्दी के लिए नहीं मिलते क्योंकि मध्यकालीन पुरातत्व के क्षेत्र पर अधिक ध्यान नहीं दिया गया है। इस काल के ग्रन्थ नगरों के विकास की पुष्टि करते हैं। समकालीन ग्रन्थों में जिन प्रमुख नगरों का विवरण मिलता है वे हैं—दिल्ली, (राजधानी), मुल्तान, अन्हिलवाड़ा (पाटन), खम्भात, कड़ा, लखनौती और दौलताबाद (देवगिरि)। लाहौर एक बड़ा शहर था परन्तु 13वीं शताब्दी के मंगोल आक्रमणों के बाद इसका ह्रास हुआ किन्तु 14वीं शताब्दी में यह फिर समृद्ध हो गया। इस काल में शहरों की जनसंख्या के लिए कोई निश्चित जानकारी नहीं मिलती परन्तु ऐसे उल्लेख अवश्य मिलते हैं जिनसे पता चलता है कि उस समय के मानकों से वे काफी बड़े शहर थे। इब्न बतूता, जो 1330 में दिल्ली आया, लिखता है कि दिल्ली, जबकि मौहम्मद तुगलक वहाँ की बड़ी जनसंख्या दौलताबाद स्थानांतरित कर चुका था तब भी सम्पूर्ण पूर्वी इस्लामिक साम्राज्यों में आकार और जनसंख्या में सबसे बड़ा शहर था। दौलताबाद के विषय में भी वह कहता है कि वह आकार में इतना बड़ा था कि दिल्ली का मुकाबला कर सकता था। इस काल में कुछ नए शहर भी अस्तित्व में आए जैसे राजस्थान में झाइन जिसका नाम अलाउद्दीन खलजी के काल (1296-1316) में "शहर नौ" (नया शहर) रखा गया।

शहरी विकास के उत्तरदायी कारण

एक अपरिचित नए प्रदेश में आने वाले आक्रमणकारियों के लिए स्वाभाविक था कि वे इधर-उधर बिखरे रहने की अपेक्षा संयुक्त रूप से रहें। इसलिए प्रारंभिक चरणों में तुर्क आक्रमणकारी अपने घुड़सवारों के साथ अपने **इक्तों** के मुख्यालयों में रहने लगे। प्रारंभिक अवस्था में **इक्ता** मुख्यालयों में **मुक्ती**, उसके घुड़सवार, उस पर निर्भर अन्य वर्ग, नौकर-चाकर और इन सभी के परिवार केन्द्रित थे और यह एक बड़े सैनिक शिविर नुमा शहर थे। वास्तव में इस काल के अधिकांश शहरों का समकालीन स्रोतों में **इक्ता** मुख्यालयों के रूप में वर्णन किया गया है उदाहरण के लिए—हांसी, कड़ा, अन्हिलवाड़ा आदि। इन शहरों को बनाए रखने के लिए इन्हें अनाज और आवश्यकता की वस्तुएं उपलब्ध कराना पड़ता था। प्रारंभ में **खराज/माल** (भूमिकर) की वसूली के लिए सैनिक आस-पास के गांवों पर धावा बोलते थे अथवा लूट मार करते थे। लेकिन धीरे-धीरे चौदहवीं शताब्दी तक, जैसा कि मोरलैण्ड कहता है, नकद धन के रूप में कर वसूली की व्यवस्था स्थापित हुई। अब किसानों से भूमिकर नकद धन के रूप में मांगा जाता था। अब किसान खेतों पर ही अपना अनाज बेचने के लिए मजबूर हो जाते थे। व्यापारीगण शहरों की आवश्यकताओं की आपूर्ति करते थे जिससे व्यापार का ऐसा सिलसिला चला जिसे हम "प्रेरित व्यापार" कहते हैं।

एक भिन्न सांस्कृतिक पृष्ठभूमि से आने वाले इस नये शासक वर्ग की आराम और विलासिता की आवश्यकतायें भी भिन्न थीं, वे फारसी कविता और गाने, भिन्न प्रकार के नृत्य, किताबें, पहनने के लिए रेशमी कपड़े तथा मेहराबी भवन निर्माण चाहते थे। उस काल के मानदण्डों के अनुसार इस वर्ग के पास अपार संसाधन थे अतः वे इनसे अपनी रुचि के अनुसार आराम और विलासिता की वस्तुएं प्राप्त करना चाहते थे। इसलिए इस्लामी संस्कृति के केन्द्रों से अप्रवास को प्रोत्साहन मिला। इन अप्रवासियों में, जैसा कि इसामी ने लिखा है, केवल सैनिक ही नहीं बल्कि, शिल्पी, कारीगर, गायक, नृतक, संगीतज्ञ, कवि, हकीम, ज्योतिषी आदि भी थे। अप्रवासी कुशल कारीगरों ने संभवतः नई तकनीकों और तकनीकी का प्रयोग किया (इसके विषय में आप विस्तार से इकाई 22 में पढ़ेंगे)। समय के साथ-साथ भारतीय कारीगरों ने भी नये शिल्पों के विषय में सीखा।

बोध प्रश्न 1

1) तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी के शहरों के विकास के लिए उत्तरदायी कारक बताइये।

....

....

....

....

....

....

....

....

निम्नलिखित कथनों पर सही (√) अथवा गलत (×) का निशान लगाइये :

i) सन् 1200 ई. से पहले के प्राप्त सिक्कों के भण्डारों में सामान्यतः विदेशी सिक्के नहीं मिलते हैं। ( )

ii) दिल्ली सल्तनत के सम्पूर्ण काल म लाहौर एक बड़ा शहर रहा। ( )

iii) इब्न बतूता दिल्ली की जनसंख्या के विषय में अपना अनुमान बताता है। ( )

21.3 नगरीय उत्पादन

ऐसा प्रतीत होता है कि दिल्ली सल्तनत की स्थापना ने शहरी शिल्प उत्पादन को दोहरा बढ़ावा दिया i) सल्तनत कालीन शासक वर्ग शहरों में केन्द्रित था और अपने अपार संसाधन, जो उसे भूमि कर के रूप में प्राप्त होते थे, शहरों में ही खर्च करता था। यह धन वह सेवाओं के भुगतान के रूप में देता था या उत्पादित वस्तुएं खरीदता था। जो धन सेवाओं के भुगतान के रूप में दिया जाता था उसका एक भाग भी गुणक प्रभाव के कारण शिल्प उत्पादन के क्षेत्र में जाता था। जबकि शासक और अमीर वर्ग की मांग अधिक मूल्य की विलासिता की वस्तुओं की थी; उस पर निर्भर निम्न वर्ग ने साधारण आवश्यकता के शिल्प उत्पादन के लिए एक बड़े बाजार को जन्म दिया।

ii) नगरीय उत्पादन को बढ़ाने वाला दूसरा प्रमुख कारण आक्रमणकारियों द्वारा भारत लाई गई नई तकनीकें थीं (इसके विषय में विस्तृत अध्ययन आप अगली इकाई में करेंगे)। विलासिता के क्षेत्र में रेशम के कपड़ों का उत्पादन बढ़ा; ईरान से कालीन बनाने की कला आई। एक अन्य महत्वपूर्ण नगरीय उत्पादन कागज बनाना था। शहरों में रोजगार प्रदान करने वाला सबसे बड़ा क्षेत्र संभवतः भवन निर्माण का था। बर्नी के अनुसार अलाउद्दीन ने अपनी इमारतों के निर्माण के लिए लगभग 70,000 कारीगर रखे थे।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि 1400 ई. में शहरों में प्रति एकड़ भवनों का अनुपात 1200 ई. की तुलना में कहीं अधिक था।

उत्पादन का संघठन

हमारे लिए यह जानना भी महत्वपूर्ण है कि उत्पादन किस प्रकार संगठित किया जाता था? क्या शहरों में कारीगर उत्पादन के लिए ''घरेलू पद्धति'' प्रयोग करते थे — अर्थात् उनके पास अपने औजार और कच्चा माल था? क्या उत्पादन पर उनका ही स्वामित्व था और वे स्वयं इसे बाजार में बेचते थे? दूसरे शब्दों में क्या वे स्वयं रोजगार में लग्न थे? अथवा क्या उनके औजार अपने थे और वे अपने घर पर उत्पादन करते थे अथवा उन्हें कच्चा माल व्यापारियों द्वारा दिया जाता था जो उत्पादित वस्तुएं ले लेते थे अर्थात् ये कारीगर **गृह उत्पादन** पद्धति पर कार्य करते थे? समकालीन ग्रंथ इन आयामों के विषय में बहुत कम जानकारी प्रदान करते हैं। फिर भी चूँकि नई तकनीकी के बावजूद अधिकांश औजार लकड़ी या लोहे के होते थे अतः यह मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये कि औजार काफी सस्ते थे। इसलिए कारीगर अपने औजारों का स्वयं स्वामी होता था। शायद श्रम के संघठन के भिन्न तरीके प्रचलित थे। कुछ कारीगर घूम-घूम कर आवाज लगाते हुए अपनी सेवाएं बेचते थे। इस श्रेणी में **धुनिये** को रखा जा सकता है जैसाकि **खैरूल मजालिस** में विवरण है यह कंधे पर रुई धुनने का यंत्र रख कर घर-घर आवाज लगाता घूमता था और एक निश्चित धनराशि के बदले लोगों की रुई धुनता था। सूत कातने का काम अधिकांशतः महिलाएं घरों में ही करती थीं। कपड़ा बुनने वाले अपने घरों में करघे पर उस सूत से कपड़ा बनाते थे जो वे स्वयं कातते या बाजार से खरीदते थे। वे एक निश्चित मजदूरी लेकर लोगों द्वारा दिए गए सूत से कपड़ा बनाकर भी देते थे। लेकिन अगर कपड़ा बनाने में प्रयोग होने वाला कच्चा माल रेशम, सोने और चांदी के तार जैसा कीमती होता था तो इसे बनाने के लिए उन्हें किसी की निगरानी में **कारखानों** में जाकर यह कार्य करना होता था। सुल्तान और अमीरों के अपनी आवश्यकता और विलासिता की कीमती वस्तुएं बनाने के लिए स्वयं अपने **कारखाने** थे। इन **कारखानों** की उपस्थिति के विषय में हमें निश्चित जानकारी मिलती है। डी.डी. कोसाम्बी के अनुमान के

विपरीत इन **कारखानों** में इनके स्वामियों के निजी प्रयोग के लिए वस्तुएँ बनाईं जाती थीं बाजार के लिए नहीं। शहाबुद्दीन अल उमरी अपनी पुस्तक **मसालिक-उल अबसार** में लिखता है कि दिल्ली में मौहम्मद तुगलक के कारखानों में लगभग चार हज़ार रेशम के कारीगर कशीदाकारी का कार्य करते थे। अफीफ के अनुसार, फिरोज़ तुगलक के **कारखानों** में कपड़े और कालीन बड़ी मात्रा में बनाए जाते थे यद्यपि हमारे स्रोतों में व्यापारियों के **कारखानों** का उल्लेख नहीं मिलता परन्तु हम यह कह सकते हैं कि शायद वे भी बाजार के लिए अपने **कारखानों** में कुछ उत्पादन करते हों।

बोध प्रश्न 2

1) तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी में नगरीय उत्पादन में वृद्धि के लिए उत्तरदायी कारकों का विवरण दीजिए।

....

....

....

....

....

....

....

....

2) नगरीय केन्द्रों में श्रम के संघठन के विभिन्न रूपों का विवरण दीजिए।

....

....

....

....

....

....

....

....

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

21.4 व्यापार तथा वाणिज्य

हम देख चुके हैं कि 13वीं-14वीं शताब्दी में कई बहुत बड़े और बहुत से छोटे-छोटे नगर अस्तित्व में आये और फूले-फले। अपने शिल्प उत्पादन के लिए इन शहरों को कच्चे माल और अस्तित्व के लिए भोजन की आवश्यकता थी। इसी काल में भू-राजस्व की वसूली नकद धन के रूप में करने की प्रथा भी बढ़ रही थी। अलाउद्दीन खलजी के समय तक नकद धन में वसूली की प्रथा पूरी तरह स्थापित हो चुकी थी जैसा कि हमने पिछली इकाई में देखा नगरों में स्थित शासक वर्गों ने लगभग सम्पूर्ण कृषि उत्पादन के अधिशेष पर अपना अधिकार जमा लिया था और ग्रामीण मध्यस्थ वर्गों का हिस्सा बहुत घटा दिया था।

उपरोक्त सभी कारक आंतरिक व्यापार के विकास में बहुत सहायक सिद्ध हुए। भूमि कर का नकद भुगतान करने के लिए किसानों को अपनी अतिरिक्त उपज तुरंत बेचनी होती थी। जबकि व्यापारियों को नगरों के रूप में ऐसे बाजार प्राप्त थे जहां वे अनाज और खाद्यान्न बेच सकते थे। भू-राजस्व के भुगतान की आवश्यकता के कारण जिस व्यापार का जन्म हुआ उसे ''प्रेरित व्यापार'' कहते हैं।

21.4.1 आंतरिक व्यापार

आंतरिक व्यापार का विकास दो स्तरों पर हुआ; i) गाँव और शहर के बीच थोक वस्तुओ (मुख्य रूप से कृषि उत्पादन) का कम दूरी का व्यापार, ii) विभिन्न शहरों के बीच अधिक मूल्य की वस्तुओं (मुख्य रूप से शिल्प उत्पादन) का अधिक दूरी का व्यापार। जैसा कि पहले बताया जा चुका है गाँव और शहर का यह व्यापार शहरों के अविर्भाव और भूमि कर की नकद वसूली का स्वाभाविक परिणाम था। नगरीय केन्द्र अपने खाद्यान्न और शिल्प उत्पादन के लिए कच्चे माल की पूर्ति के लिए आस-पास के गाँवों पर पूर्णतया निर्भर थे जबकि गाँव में किसानों को भूमि कर का नकद भुगतान करने के लिए अपने उत्पादन को बेचकर धन प्राप्त करना जरूरी था। इस तरह के व्यापार की सबसे बड़ी विशेषता वस्तुओं का एक दिशा में प्रवाह था। शहर अपने आस-पास के गाँवों से खाद्यान्न और कच्चा माल प्राप्त करते थे परन्तु उन्हें अपना शिल्प उत्पादन गाँवों की ओर भेजने की कोई आवश्यकता नहीं थी क्योंकि यह गाँव लगभग पूर्णतया आत्म निर्भर थे। व्यापार के इस एक दिशा में प्रवाह का प्रमुख कारण भूमि कर का नकद भुगतान था और स्वाभाविक रूप से इसने गाँवों से निरंतर निकासी की व्यवस्था को जन्म दिया तथा शहरों को पूरी तरह गाँवों पर निर्भर कर दिया। इस व्यापार की मात्रा तो बहुत अधिक थी परन्तु मूल्य बहुत कम। यह व्यापार मुख्यतः चावल, चना और गन्ना आदि खाद्यान्नों में तथा शिल्प उत्पादन के लिए कच्चे माल—कपास जैसी वस्तुओं का होता था।

विभिन्न शहरों के बीच का व्यापार मुख्यतः विलासिता की वस्तुओं का था अतः अधिक मूल्य का था। एक शहर के कारीगर और शिल्प उत्पादन दूसरे शहर ले जाए जाते थे। बर्नी इस तरह के व्यापार के बहुत से उदाहरण देता है: राजधानी दिल्ली में शराब कोल (अलीगढ़) और मेरठ से आती थी, मलमल (उत्तम कपड़ा, देवगिरि से तथा अन्य कपड़ा लखनौती (बंगाल) से आता था। इब्न बतूता के अनुसार दिल्ली में साधारण कपड़ा अवध के क्षेत्र से और पान मालवा (जिसे दिल्ली पहुंचने में 24 दिन लगते थे) से आता था। मुल्तान शक्कर दिल्ली और लाहौर से प्राप्त करता था और घी सिरसा (हरियाणा) से।

शहरों के बीच लम्बी दूरी के व्यापार द्वारा विदेशों से आने वाली वस्तुएं सीमा के शहरों से अन्य शहरों को पहुंचती थीं तथा निर्यात वाली वस्तुएं विभिन्न स्थानों से सीमावर्ती शहरों में। स्थली विदेश व्यापार का सबसे बड़ा केन्द्र संभवतः मुल्तान था। यह पुनः निर्यात के केन्द्र के रूप में भी कार्य करता था। गुजरात के भड़ौच और खम्भात जैसे तटीय शहर विदेशी व्यापार के विनिमय केन्द्रों के रूप में कार्य करते थे।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

21.4.2 विदेशी व्यापार: समुद्री व स्थली

सल्तनत काल में समुद्री और स्थल दोनों ही प्रकार का व्यापार काफी बढ़ा।

समुद्री व्यापार

खलजी काल में दिल्ली सल्तनत में गुजरात के मिलने से दिल्ली सल्तनत और फारस की खाड़ी तथा लाल सागर के बीच व्यापारिक संबंध बढ़े क्योंकि गुजरात फारस की खाड़ी और लाल सागर से व्यापारिक मार्गों द्वारा जुड़ा था। फारस की खाड़ी से गुजरने वाले जहाज़ों के लिए बसरा और हुर्मुज प्रमुख बंदरगाह थे। लाल सागर में अदन, मोचा और जद्दा के बंदरगाह गुजरात के लिए महत्वपूर्ण थे। इन बंदरगाहों से एक ओर तो माल डेमस्कस और अलेप्पो पहुंचता था और दूसरी ओर एलैक्जैण्डरिया। अलेप्पो और एलैक्जैण्डरिया भूमध्य सागर के मार्ग में थे जिससे यूरोप से सम्पर्क हो सका। गुजरात के बंदरगाहों से माल पूर्व की ओर मलक्का जलडमरूमध्य में मलक्का और इन्डोनेशियाई द्वीपसमूह में बेन्टम और अंचिन पहुँचता था।

एक यूरोपीय यात्री टॉम पायर्स जो 16वीं सदी के प्रथम दशक में भारत आया खम्भात (गुजरात में) के व्यापार के बारे में कहता है:

> "खम्भात अपने दोनों हाथ आगे फैलाता है। अपने दाहिने हाथ से वह अदन पहुँचता है और दूसरे हाथ से मलक्का ....

पायर्स आगे लिखता है:

> "मलक्का खम्भात के बिना नहीं रह सकता न ही खम्भात मलक्का के बिना अगर यह दोनों बहुत समृद्धशाली बनना चाहते हैं। अगर खम्भात को मलक्का के साथ व्यापार न करने दिया जाय तो इसका अंस्तित्व समाप्त हो जायगा क्योंकि फिर इसके पास अपने माल के लिए कोई मार्ग नहीं बचेगा

गुजरात से मलक्का को निर्यात का प्रमुख माल रंगीन कपड़े थे जो खम्भात और गुजरात के अन्य शहरों में बनते थे। इन कपड़ों की इन नगरों (मलक्का के) में बहुत मांग थी। बदले में गुजरात के व्यापारी इन स्थानों

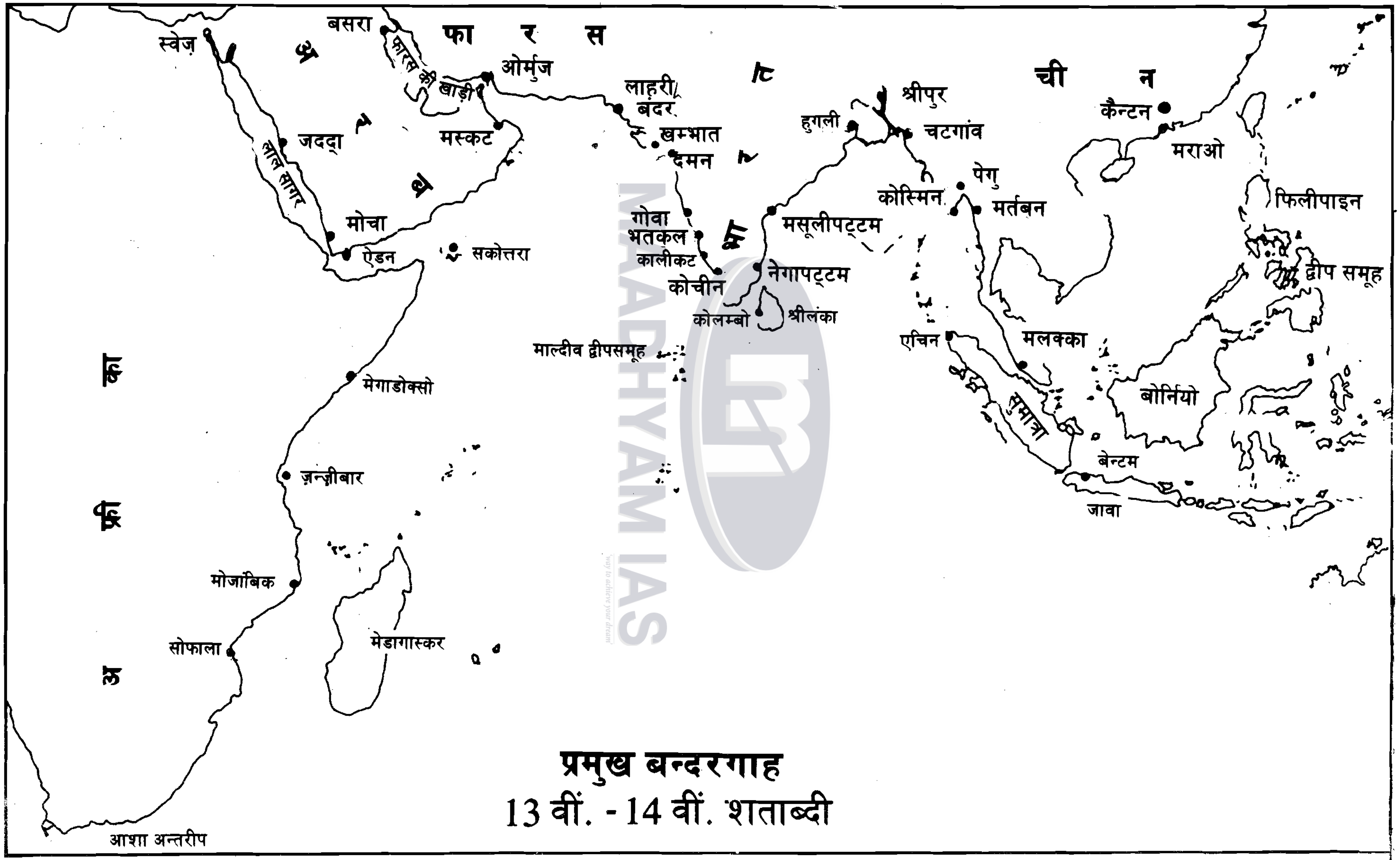

प्रमुख बन्दरगाह
13 वीं. - 14 वीं. शताब्दी

MAADHYAM IAS

से मसाले लेकर आते थे। "रंगीन कपड़ों के बदले मसाले" का व्यापार पुर्तगालियों के एशिया में प्रवेश के समय तक जारी रहा।

इटली का यात्री वार्थेमा जो 16वीं सदी के प्रथम दशक में भारत आया लिखता है कि खम्भात के बंदरगाह में विभिन्न देशों के 300 जहाज (प्रति वर्ष) आते-जाते हैं। वह यह भी बताता है कि लगभग 400 "तुर्की" व्यापारी दयु में रहते थे।

इलखानों के दरबार का इतिहासकार वस्साफ लिखता है कि प्रति वर्ष माबार और खम्भात में ईरान से लगभ 10,000 घोड़े लाये जाते थे। भड़ौच के सिक्कों के भण्डारों में (इकाई 19 देखें) दिल्ली सल्तनत के सिक्कों के साथ मिस्र, सीरिया, यमन, ईरान, जिनोवा, आर्मीनिया और वेनिस के भी सोने चांदी के सिक्के मिले हैं जो विस्तृत समुद्री व्यापार की पुष्टि करते हैं।

बंगाल के बंदरगाहों के भी चीन, मलक्का और सुदूर पूर्व से व्यापारिक संबंध थे। सूती वस्त्र, शक्कर और रेशम बंगाल से निर्यात की मुख्य वस्तुएं थीं। वार्थेमा के अनुसार प्रत्येक वर्ष लगभग 50 जहाज यह वस्तुएं लेकर ईरान और विभिन्न स्थानों को जाते थे। बंगाल में हुर्मुज़ से नमक और मालदीव से समुद्री सीपें आयात की जाती थी। यह सीपें बंगाल, बिहार और उड़ीसा में सिक्कों के रूप में प्रयोग की जाती थी।

समुद्री व्यापार का एक अन्य केन्द्र सिंध था। यहाँ का सबसे महत्वपूर्ण बंदरगाह दैबुल था। इस क्षेत्र के व्यापारिक संबंध लाल सागर की अपेक्षा फारस की खाड़ी के बंदरगाहों से अधिक थे। सिंध से विशेष किस्म के कपड़े और दूध से बने पदार्थ निर्यात किए जाते थे। धुँआरी मछली भी यहाँ की एक विशेषता थी।

तटीय व्यापार

तटीय व्यापार का विकसित होना स्वाभाविक ही था। सिंध से लेकर बंगाल तक बीच में गुजरात, मालाबार और कोरोमंडल के तट थे। इससे विभिन्न क्षेत्रों के माल को तटीय शहरों में विनिमय का अवसर मिला जो स्थली अंतर्क्षेत्रीय व्यापार से भिन्न था।

स्थल व्यापार

भूमि मार्गों से व्यापार का प्रमुख केन्द्र मुल्तान था। मुल्तान-क्वेटा मार्ग के द्वारा भारत मध्य एशिया, अफगानिस्तान और ईरान से जुड़ा हुआ था। परन्तु मध्य एशिया और ईरान में बार-बार मंगोल आक्रमणों के कारण अव्यवस्था थी इसलिए व्यापारी इस मार्ग को अधिक पसंद नहीं करते थे।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

आयात व निर्यात

आयात के दो प्रमुख वस्तुएँ थीं:

i) घोड़े – घुड़सवार सेना के लिए घोड़ों की जरूरत हमेशा बनी रहती थी क्योंकि भारत में अच्छी नस्ल के घोड़े नहीं होते थे और मध्य एशिया और अरब के घोड़ों के लिए भारत की जलवायु अनुकूल नहीं थी। ये घोड़े प्रमुखतः जोफर (यमन), किस, हुर्मुज़ तथा अदन से आयात किए जाते थे।

ii) बहुमूल्य धातुएँ — सोना और चांदी। विशेषकर चांदी की मांग बहुत अधिक थी क्योंकि भारत में खदानों से बहुत ही कम चांदी प्राप्त होती थी। साथ ही सिक्कों और विलासिता की वस्तुएँ बनाने के लिए इसकी मांग बढ़ती रहती थी। जरी, कमख्वाब और रेशम के कपड़े चीन, एलैक्जैण्डरिया तथा ईराक से आयात किए जाते थे। यूरोप से आने वाली मूल्यवान और विलासिता की वस्तुएँ गुजरात बंदरगाह से होकर आती थीं।

सल्तनत काल में भारत से निर्यात की प्रमुख वस्तुएं अनाज और सूती वस्त्र थे। फारस की खाड़ी के कुछ क्षेत्र अपनी खाद्य आवश्यकताओं के लिए पूर्णतया भारत पर निर्भर थे। दास मध्य एशिया को और नील ईरान को निर्यात किये जाते थे। इसके अतिरिक्त अन्य बहुत सी वस्तुएं निर्यात की जाती थी। गोमेद तथा अन्य बहुमूल्य पत्थर खम्भात से निर्यात किए जाते थे।

पुर्तगालियों का आगमन

विस्तृत व्यापारिक गतिविधियों के बावजूद विदेशी व्यापार में भारतीय व्यापारियों की भागेदारी नगण्य थी केवल गुजराती बनियों का एक वर्ग, दक्षिण के **चेट्टी** तथा भारत में बसे कुछ मुसलमान व्यापारी इस बड़े व्यापार में भाग लेते थे। व्यापार मुख्यतया अरब व्यापारियों के हाथ में था। 1498 में पुर्तगाली आशा अंतरीप से होकर कालीकट पहुँचे। इसने भारतीय समुद्री व्यापार में "शक्ति के तत्व" का एक नया आयाम जोड़ा। अपने श्रेष्ठ तोप युक्त जहाजों की सहायता से पुर्तगालियों ने शीघ्र ही एशिया के व्यापार पर अपना

प्रभुत्व स्थापित कर लिया। भारतीय समुद्रों के पश्चिमी भाग में स्थित व्यापारिक केन्द्र भी इस प्रभुत्व के अधीन हो गए। इसने भारतीय व्यापार पर अरब हिस्सेदारी बहुत कम कर दी हालांकि पूर्वी क्षेत्र में विशेषकर मलक्का में भारतीय व्यापारियों के साथ वे अपना अस्तित्व बचा पाये।

पुर्तगालियों ने 1510 में गोवा प्राप्त कर लिया और यह उनका मुख्यालय बना। उन्होंने 1511 में मलक्का, 1515 में हुर्मुज़, 1534 में बसीन और 1537 में दयु पर अधिकार कर लिया। उनके संरक्षण में शीघ्र ही गोवा निर्यात व्यापार का एक प्रमुख केन्द्र बन गया। पुर्तगाली गोवा के सामरिक महत्व को भली-भाँति जानते थे और समझते थे कि भारत में अपनी स्थिति बनाए रखने के लिए गोवा महत्वपूर्ण है। परन्तु गोवा पर पुर्तगालियों का अधिकार अन्य पश्चिम भारतीय बन्दरगाहों के लिए हानिकारक था। टॉम पॉयर्स उचित ही कहता है कि दक्खन और गुजरात के मुसलमान शासकों के लिए "गोवा एक हानिकारक पड़ोसी था"। भारतीय समुद्र पर 100 साल के पुर्तगाली प्रभुत्व के फलस्वरूप अनेक पश्चिमी तट के बन्दरगाहों का पतन हो गया। यह सब पुर्तगालियों की निम्नलिखित आक्रमणकारी नीतियों के कारण हुआ :

i) उन्होंने समुद्री मार्गों पर अधिकार कर लिया,
ii) अन्य व्यापारियों द्वारा ले जाये जाने वाले माल और उसकी मात्रा पर भी नियंत्रण रखते थे, तथा
iii) उन्होंने **कार्थेज** (फारसी का **किरतार** अर्थात् कागज का पत्र) जारी करने की परम्परा प्रारम्भ की। यह एशियाई समुद्र में जहाजों के आने-जाने के लिए एक प्रकार का आज्ञा पत्र था। इसके न होने पर माल लूट कर जहाज जब्त किया जा सकता था। **कार्थेज** देने के लिए एक निश्चित धनराशि ली जाती थी।

इन नीतियों ने भारतीयों तथा अरबों के समुद्री व्यापार को बहुत हानि पहुँचाई।

21.4.3 व्यापार से संबंधित वर्ग

सल्तनत कालीन ग्रंथों में दो प्रकार के व्यापारियों का विवरण मिलता है : **कारवानी** अथवा **नायक** और **मुल्तानी**। जो व्यापारी अनाज का व्यापार करते थे बर्नी उन्हें **कारवानी** (एक फारसी शब्द जिसका अर्थ है वे लोग जो बड़ी संख्या में एक साथ चलते हों या **कारवाँ**) कहते हैं। उस समय के एक प्रमुख सूफी नासिरूद्दीन चिराग दिल्ली उन्हें **नायक** कहते थे। वे उनका वर्णन करते हुए कहते हैं "ये वे लोग हैं जो विभिन्न क्षेत्रों से अनाज लेकर शहर (दिल्ली) आते हैं — कुछ के पास अनाज से लदे 10 हज़ार बैल होते हैं और कुछ के पास 20 हज़ार"। यह लगभग निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि यह **कारवानी** ही बाद के काल के बंजारे थे। मुगल काल के ग्रंथ यह स्पष्ट रूप से बताते हैं कि यह बंजारे समूहों में रहते थे और इनका प्रमुख **नायक** कहलाता था।

मुल्तानी वह दूसरे प्रकार का महत्वपूर्ण व्यापारी वर्ग था जिसका वर्णन उस समय के स्रोतों में होता है। बर्नी कहता है कि अधिक दूरी का व्यापार इन व्यापारियों के हाथ में था। वे ब्याज और व्यापार **(सूद ओ सौदा)** दोनों ही कामों में संलग्न थे। ये **साह** और **मुल्तानी** इतने धनी थे कि कुलीनों को भी ऋण देते थे। बर्नी के अनुसार इस वर्ग को हमेशा धन की जरूरत रहती थी। अधिकांश **साह** और **मुल्तानी** हिन्दू थे। परन्तु कुछ मुसलमान मुल्तानी व्यापारियों का भी वर्णन मिलता है। उदाहरण के लिए हमीदउद्दीन मुल्तानी को बर्नी **मलिक उत तुज्जार** (महान् व्यापारी) नाम से संबोधित करता है। इन विशिष्ट व्यापारी वर्गों के अतिरिक्त भी जो भी चाहे व्यापार कर सकता था। उदाहरण के लिए बिहार के एक सूफी दिल्ली और गज़नी के बीच दासों के व्यापार में संलग्न थे। अनेकों धार्मिक व्यक्ति मध्य एशिया से दिल्ली आकर व्यापार में लग गए थे।

दिल्ली सल्तनत में उभरनें वाला एक अन्य वर्ग **दलालों** का था जो व्यापार में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता था। वे बेचने और खरीदने वाले के बीच एक संपर्क के रूप में काम करते थे और दोनों ही पक्षों से अपना कमीशन लेते थे। बर्नी कहता है कि ये लोग "बाजार के स्वामी" **(हाकिमान बाजार)** थे। उसके अनुसार बाजार में कीमतें बढ़ाने के लिए भी यह उत्तरदायी थे। वस्तुओं की कीमतें निर्धारित करते समय अलाउद्दीन खलजी दलालों से परामर्श लेता था और पूछता था कि प्रत्येक वस्तु के उत्पादन में कितनी लागत आती है। बर्नी "प्रधान" दलाल **(मिहतरान-ए-दलालहा)** का उल्लेख भी करता है। इससे ऐसा आभास मिलता है कि दलालों का एक निश्चित संघ भी होता था। परन्तु इसके विषय में विस्तृत जानकारी उपलब्ध नहीं है। अलाउद्दीन खलजी के काल में इन "प्रधान" दलालों के साथ बहुत कड़ाई की गई। लेकिन फिरोज़ तुगलक के काल तक इस वर्ग ने अपनी खोई हुई शक्ति पुनः प्राप्त कर ली। फिरोज़ तुगलक ने दलालों पर लगाए जाने वाले **दलालात-ए बाज़ारहा** नामक कर भी समाप्त कर दिया। इसके अतिरिक्त यह नियम भी बनाया गया कि अगर खरीदने और बेचने वाले के बीच सौदा न हो सके तब भी दलाल लिया हुआ कमीशन वापस करने के लिए बाध्य नहीं थे। इससे यह भी आभास मिलता है कि तुगलक काल में दलाली एक भली प्रकार स्थापित संस्था का रूप ले चुकी थी।

MAADHYAM IAS
way to achieve your dream

सर्राफ एक अन्य व्यवसायिक वर्ग था। इसकी भूमिका भी दलाल से कम महत्वपूर्ण नहीं थी। मुद्रा विनिमय के कारण यह व्यापारियों के लिए बहुत महत्वपूर्ण थे विशेषकर विदेशी व्यापारियों के लिए जो अपने देश की मुद्रायें लेकर आते थे। वे सिक्कों में धातु की शुद्धता (भारतीय व विदेशी) की जांच करते थे और सिक्कों के विनिमय की दर निर्धारित करते थे। वे **हुंडी** (इसे फारसी में **सुफ्ताजा** कहते थे) भी जारी करते थे और मुद्रा पत्र भी देते थे। इस रूप में वे एक बैंक की भांति कार्य करते थे। तुर्कों के आगमन के बाद कागज के प्रचलन के कारण **हुंडी** की प्रथा बहुत तेजी से बढ़ी। इन सभी सेवाओं या कार्यों के बदले **सर्राफ** अपना एक निश्चित कमीशन लेते थे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उस काल के व्यापारिक क्रियाकलापों में दलाल और **सर्राफ** की केन्द्रीय भूमिका थी। वे कई महत्वपूर्ण आर्थिक संस्थाओं के अभिरक्षक थे। वास्तव में कोई भी व्यापारी इनके बिना कार्य नहीं कर सकता था।

21.4.4 परिवहन

माल ढोने के लिए पशु और बैलगाड़ी दोनों का प्रयोग होता था। संभवतः पशुओं की पीठ पर लाद कर अधिक माल ढोया जाता था। इब्न बतूता लिखता है कि उसने देखा कि लगभग 3000 बैलों की पीठ पर लगभग 30,000 मन अनाज लाद कर अमरोहा से दिल्ली जा रहा था। अफीफ के अनुसार बैलगाड़ी पर बैठ कर लोग यात्रा भी करते थे। माल ढोने वाले पशु परिवहन का बहुत सस्ता माध्यम था। यह पशु धीरे-धीरे रास्ते में चरते हुए बड़े झुण्डों में चलते थे जिससे परिवहन का खर्च कम होता था। इब्न बतूता लिखता है कि पूर्ण साम्राज्य विशेष मार्गों से जुड़ा था जिन पर बराबर दूरी पर स्तंभ तथा मीनारें बनाई जाती थीं। **मसालिक-उल अबसार** के लेखक शहाबुद्दीन अल उमरी के विवरण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि राज्य द्वारा व्यापार के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ पैदा करने का प्रयास किया जाता था। हर पड़ाव पर **सराय** बनाई जाती थी। बंगाल में इवाज़ खलजी ने बाढ़ रोकने के लिए लंबे बांध बनाये, नदियों के मार्ग से थोक माल ले जाने के लिए नावों की व्यवस्था की जाती थी जबकि समुद्री व्यापार के लिए जहाजों की व्यवस्था थी।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

बोध प्रश्न 3

1) निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखें :

i) बन्जारा

....

....

....

....

....

ii) **मुल्तानी**

....

....

....

....

....

iii) आयात व निर्यात की वस्तुएं

....

....

iv) "प्रेरित व्यापार"

v) दलाल और **सर्राफ**

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

व्यापार के विस्तार के लिए उत्तरदायी कारणों की विवेचना कीजिए।

परिवहन के प्रमुख साधनों का उल्लेख कीजिए।

4) 13वीं-14वीं शताब्दी के प्रमुख समुद्री और स्थल व्यापार मार्गों का उल्लेख कीजिए।

21.5 सारांश

इस इकाई में आपने पढ़ा कि तुर्कों के आने के बाद उद्योग और व्यापार बढ़ा। हम देखते हैं कि 1200 ई. के बाद के सिक्कों के अधिक भण्डार मिलते हैं। इस काल में बहुत से नये नगरों का उदय हुआ। आपने यह भी पढ़ा कि शहरों में किस प्रकार शिल्प उत्पादन संगठित किया जाता था। आपने 13वीं-14वीं शताब्दी के प्रमुख समुद्री और स्थल मार्गों तथा प्रमुख बंदरगाहों की भी जानकारी प्राप्त की। आयात व निर्यात की प्रमुख वस्तुओं तथा परिवहन के प्रमुख साधनों के बारे में भी पढ़ा। साथ ही हमने व्यापार से संबंधित प्रमुख वर्गों—**कारवानी मुल्तानी, दलाल** और **सर्राफ** के बारे में भी अध्ययन किया। बढ़ी हुई व्यापारिक गतिविधियों के बावजूद भारतीय व्यापारियों की भागेदारी नगण्य थी; विशेषकर विदेशी व्यापार पर पूर्णतया अरब व्यापारियों का प्रभुत्व था। हमारे अध्ययन काल के अन्तिम वर्षों में आशा अन्तरीप की खोज के परिणामस्वरूप नए समुद्री मार्ग की खोज से पुर्तगालियों के भारत आगमन से एक नया आयाम जुड़ा। आने वाले वर्षों में विश्व के साथ भारत के व्यापारिक संबंधों में भारी परिवर्तन आए।

MAADHYAM IAS

21.6 शब्दावली

घरेलू उत्पादन : उत्पादन की वह प्रक्रिया जिसमें कारीगर अपने औजारों और कच्चे माल की सहायता से अपने घरों में उत्पादन करते थे।

माल : भूमि कर

गृह उत्पादन पद्धति : उत्पादन का वह तरीका जिसमें कारीगर के औजार तो अपने होते थे परन्तु वस्तुएँ बनाने के लिए उन्हें कच्चा माल अथवा धन व्यापारियों द्वारा प्राप्त होते थे।

21.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) देखें उप-भाग 21.2.1
2) i) √ ii) × iii) √

बोध प्रश्न 2

1) देखें भाग 21.3
2) देखें उप-भाग 21.3.2

बोध प्रश्न 3

1) देखें भाग 21.4
2) देखें भाग 21.4
3) देखें उप-भाग 21.4.1
3) देखें उप-भाग 21.4.2

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

इकाई 22 तकनीकी और दस्तकारी

इकाई की रूपरेखा

22.0 उद्देश्य
22.1 प्रस्तावना
22.2 कृषि तकनीकी
  22.2.1 हल
  22.2.2 बोआई
  22.2.3 फसल-कटाई, गुहाई और ओसाई
  22.2.4 सिंचाई के साधन
22.3 वस्त्र तकनीकी
  22.3.1 ओटाई, धुनाई और कताई
  22.3.2 बुनाई
  22.3.3 रंगाई और छपाई
22.4 भवन निर्माण
  22.4.1 चूना-गारा
  22.4.2 मेहराब और गुंबद/मेहराबी छत
22.5 कागज निर्माण और ज़िल्दसाज़ी
22.6 सैन्य तकनीकी
  22.6.1 रकाब
  22.6.2 नाल
  22.6.3 बारूद और अग्नि-शस्त्र
22.7 कलई
22.8 काँच निर्माण
22.9 जहाज़ निर्माण
22.10 आसवन
22.11 सारांश
22.12 शब्दावली
22.13 बोध प्रश्नों के उत्तर

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

22.0 उद्देश्य

इस इकाई में आपका परिचय दिल्ली सल्तनत की प्रमुख दस्तकारियों और तकनीकी से कराया जायेगा। इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप निम्नलिखित के बारे में जानकारी प्राप्त करेंगे :

- कृषि तकनीकी,
- वस्त्र तकनीकी,
- भवन निर्माण कला,
- कागज निर्माण और जिल्दसाज़ी,
- सैन्य तकनीकी,
- कलई,
- काँच निर्माण,
- जहाज़ निर्माण, और
- आसवन तथा किण्वन।

22.1 प्रस्तावना

ऐसी कोई भी मानव सभ्यता नहीं हुई जिसमें उसमें रहने वालों ने अपने जीवन हेतु किसी न किसी तकनीक अथवा शिल्पकारी का प्रयोग न किया हो। वास्तव में, तकनीकी का इतिहास किसी भी तरह से राजनैतिक व आर्थिक अध्ययन से कम महत्वपूर्ण नहीं है। तकनीकी किसी समाज की भौतिक संस्कृति का एक अविच्छेय

हिस्सा है।

इस इकाई में हम आपको सल्तनत कालीन तकनीकी के कुछ पहलुओं की जानकारी देंगे।

सबसे असाधारण बात यह थी कि अप्रवासी मुसलमानों द्वारा लाये गये तकनीकी के नये यंत्रों और नई शिल्प-कलाओं से भारतीय परिचित हुए जो इस्लामी संस्कृति-क्षेत्रों में उत्पन्न अथवा विकसित हुए थे। अतएव हमारी पद्धति यह रहेगी कि स्वदेशी हस्त-कलाओं और तकनीकी को नयी आयातित तकनीकी और हस्तकलाओं के साथ रख उनका अध्ययन करें।

एक बात की ओर आपका ध्यान जाएगा, वह यह कि उस काल में औजार, यंत्र और उपकरण लकड़ी और मिट्टी के बने होते थे, जबकि अति आवश्यकता पड़ने पर ही लोहे का प्रयोग होता था। आवश्यकता पड़ने पर रस्सी, चमड़े और बाँस का भी प्रयोग किया जाता था। इसी कारण वे कम खर्चीले होते थे।

हमने इसमें विभिन्न शिल्पकर्मियों द्वारा प्रयोग में लाये जाने वाले यंत्रों व औजारों का अध्ययन नहीं किया है। उदाहरण के तौर पर: हथौड़ा, आरी, बसूला, रन्दा, सूआ, कुल्हाड़ी, बरमा, गेंती, बेलचा, **तोषा** (छेनी) और सन्दान (anvil) इत्यादि।

हमने खनन और धातुकर्म का उल्लेख भी नहीं किया है। धातुकर्म के अंतर्गत कच्ची धातु का प्रगलन, लकड़ी और चारकोल के प्रयोग द्वारा किया जाता था। वात्या भट्टी **(blast furnace)** उपलब्ध नहीं थी परन्तु उसका कार्य धौंकनियों **(bellows)** द्वारा किया जाता था। नमक और हीरों का खनन भी प्रमुख उद्योगों में से थे। नमक खारे समुद्र-जल के प्राकृतिक वाष्पीकरण द्वारा भी व्यवस्थित ढंग से इकट्ठा किया जाता था।

22.2 कृषि तकनीकी

इस खंड में हम कृषि संबंधित प्रमुख तकनीकी यन्त्रों का वर्णन करेंगे।

22.2.1 हल

कई सदियों पूर्व हल द्वारा फावड़ा या कुदाली का स्थान ले लिया गया था। सिंधु-घाटी की सभ्यता के एक केन्द्र कालीबंगा (राजस्थान) से प्राप्त पुरातत्वीय प्रमाण, "लौह-रहित" हल के प्रचलन के लिए, सुप्रसिद्ध है,

2. लोहे के फाल युक्त हल—मिफ्ताह-उल फुज़ाला

MAADHYAM IAS

यद्यपि इसमें संशय है कि यह मनुष्यों द्वारा या बैलों द्वारा चलाया जाता था। तथापि, वैदिक युग में बैलों युक्त हल-कृषि एक निर्विवाद सत्य है। लौह-युग, जो गंगा के मैदानों में आर्यों के आवास के साथ पहचाना जाता है, ने हल के विकास में योगदान दिया। जहां पहले हल का सम्पूर्ण फ्रेम लकड़ी का बना होता था, अब लोहे का हल/फाल प्रयोग में लाया जाने लगा। लोहे के हल/फाल से अपेक्षाकृत कठोर भूमि की जुताई में बहुत सहायता मिली। मालवा में लगभग 1460 में संकलित एक फारसी शब्दकोश **मिफ्ताह-उल फुज़ाला** में एक चित्र दो-जुते हुए बैलों द्वारा एक लोहे के फाल युक्त हल को स्पष्ट रूप से प्रदर्शित करता है। यूरोप की तरह, भारत में घोड़ों द्वारा चलाए जाने वाले पहियों युक्त हल का निर्माण इसलिए नहीं हुआ कि यहां का हल वजन में हल्का था जो नरम मिट्टी के लिए उपयुक्त था।

22.2.2 बोआई

बोआई के लिए छिटका-बोआई प्रणाली अपनाई जाती थी। कंधों पर रखे हुए कपड़े के थैले में से बीजों को बाहर निकाल कर उन्हें हाथों से ही इधर-उधर छिड़क दिया जाता था। भारत में बीजवपित्र **(seed drill)** के समय-निर्धारण को लेकर विवाद है: कुछ लोग इसका उद्‌गम वैदिक-काल में मानते हैं। कुछ भी हो, भारत के पश्चिमी तट के समानान्तर इसके प्रयोग का एकमात्र सकारात्मक प्रमाण एक पुर्तगाली—बारबोसा (लगभग 1510)—द्वारा सिंचन कृषि के संदर्भ में प्राप्त होता है।

22.2.3 फसल-कटाई, गुहाई और ओसाई

फसल की कटाई हंसिया द्वारा की जाती थी। गुहाई का कार्य बैलों द्वारा किया जाता था जो खलिहान में जई के ऊपर गोल-गोल चक्कर लगाते थे। "पवन-शक्ति" का उपयोग ओसाई के लिए भूसी को अन्न-कणों से अलग करने के लिये किया जाता था।

22.2.4 सिंचाई के साधन

खेतों की सिंचाई हेतु जल प्राप्त करने के कई साधन थे। वर्षा का पानी एक प्राकृतिक स्रोत था। यह जल तालाबों और कुण्डों में इकट्ठा हो जाता था जिसे सिंचाई हेतु प्रयोग में लाया जाता था। बाढ़ अथवा आप्लावन द्वारा बने नदी नालों का भी इसी उद्देश्य से उपयोग किया जाता था। लेकिन सबसे महत्वपूर्ण नियंत्रित साधन, विशेष तौर पर उत्तर-भारत में, कुंओं का जल था। सिंचाई के साधनों का उद्देश्य कुंओं से जल को बाहर निकालना था। ये कुंए अधिकतर पक्के (ईंट-पत्थरों के) होते थे जिनकी दीवारें ऊंची और उन्हें घेरता हुआ चबूतरा होता था। कच्चे कुंए भी थे लेकिन ये पानी निकालने हेतु बहुत टिकाऊ या मजबूत नहीं माने जाते थे।

मोटे तौर पर पानी को बाहर निकालने हेतु 5 साधन अथवा तकनीक प्रचलित थीं:

I) सबसे सरल तरीका रस्सी और बाल्टी द्वारा हाथों से, बिना किसी यंत्र की सहायता के, पानी बाहर खींचना था। वास्तव में बाल्टी आकार में छोटी होती थी जिसके फलस्वरूप इस विधि द्वारा बड़े विस्तृत खेतों को पानी नहीं दिया जा सकता था। परन्तु, हम छोटे खेतों में फसलों को इस प्रणाली द्वारा सिंचित किए जाने की संभावना से इंकार नहीं कर सकते, विशेषतः सब्जियों के लिए जिन्हें अधिक पानी की ज़रूरत नहीं रहती।

II) दूसरी विधि चरखी अथवा घिर्री के प्रयोग द्वारा रस्सी-बाल्टी द्वारा हाथों से ही पानी बाहर निकालने की थी। निश्चय ही, चरखी के कारण मानव-ऊर्जा की आवश्यकता कम हो गयी और अपेक्षाकृत बड़े आकार के थैले या बड़ी बाल्टियां रस्से से बांधी जा सकती थी। इसका उपयोग घरेलू कार्यों के लिए भी विशेषतः महिलाओं द्वारा किया जाता था।

III) रस्सी-बाल्टी-चरखी प्रणाली की एक उन्नत विधि में मानव शक्ति के स्थान पर बैलों की एक जोड़ी का प्रयोग किया जाने लगा। अब यह विशिष्ट रूप से सिंचाई के लिए प्रयोग में लिया जाने वाला विशेष यंत्र हो गया। उत्तर भारत के कुछ क्षेत्रों में आज भी यह प्रचलन में है जिसे **चरस** कहा जाता है। यह एक बहुत बड़ा थैला होता है जिससे यह आभास होता है कि एक बार ऊपर खींचने में अत्यधिक मात्रा में पानी बाहर निकाला जा सकता है। इसके अलावा बैलों के चलने का मार्ग ढलावदार होता था जिसकी लंबाई कुंए की गहराई के अनुरूप होती थी। इस विधि द्वारा प्राप्त जल पीने, बर्तन धोने या कपड़े धोने के लिए प्रयोग में नहीं लिया जाता था। इन पांचों प्रणालियों में से, **चरस** एक बहुउद्देशीय साधन नहीं था। यह पूर्णरूप से सिंचाई हेतु ही प्रयोग में लाया जाता था, इस तथ्य को आज तक अनुभव नहीं

किया गया ०।

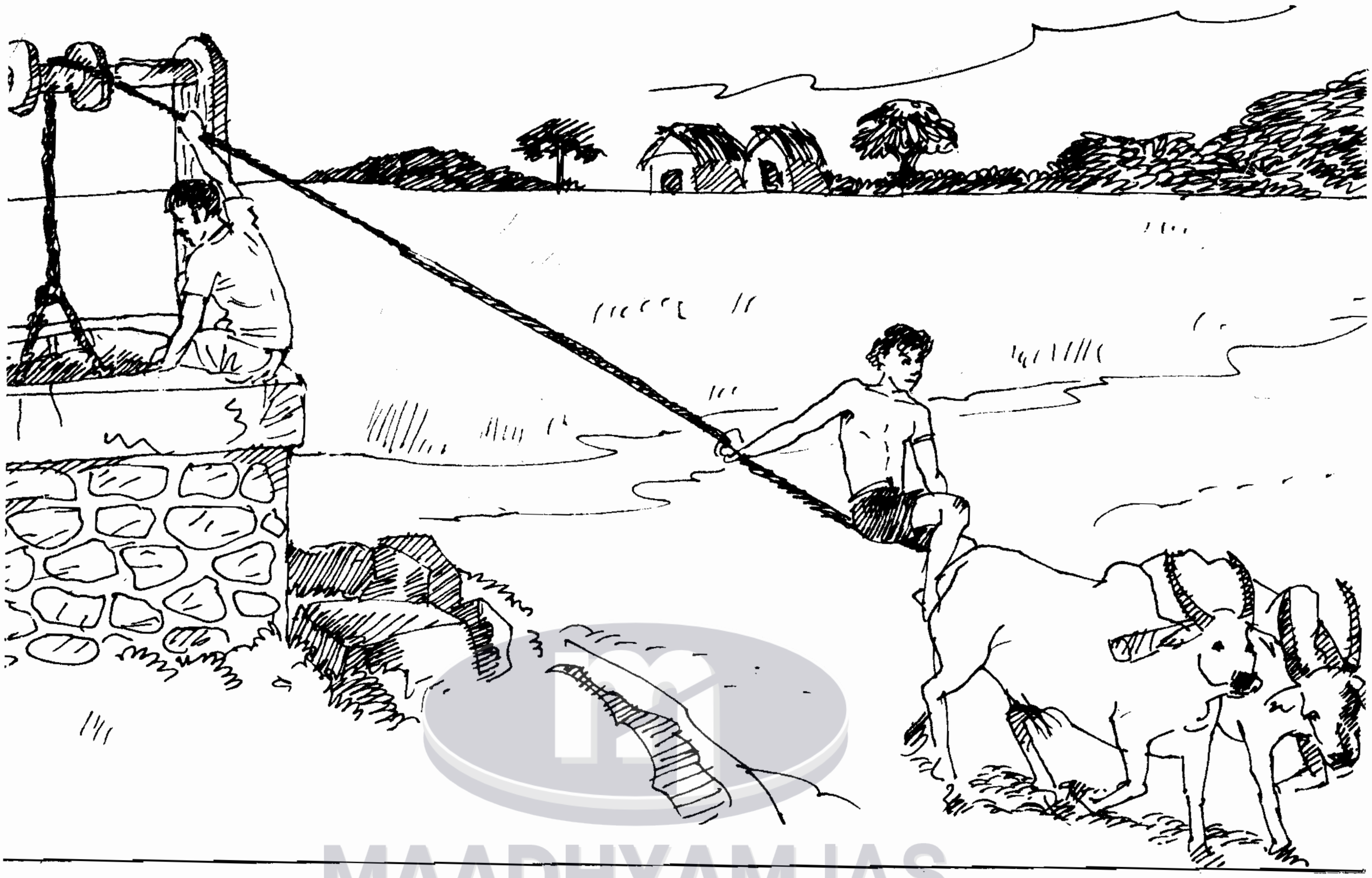

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

3. चरस : पशु शक्ति का प्रयोग

(V) चौथी विधि जो अर्द्ध-यांत्रिक प्रकृति की थी, 'लीवर के प्रथम श्रेणी सिद्धांत' पर आधारित थी। इसमें एक अभिलम्ब बल्ली या पेड़ के तने (इस कार्य हेतु विशेष रूप से बनी) की धरनी से एक लम्बी रस्सी बांधी जाती थी जिससे यह झूलने वाली स्थिति में रहे। बाल्टी को रस्सी से बांधा जाता था जिसके दूसरे सिरे को कुएं के ऊपर लटकती हुई बल्ली के एक सिरे से बांधा जाता था। इस बल्ली के दूसरे सिरे से एक प्रतिभार लटकाया जाता था जो पानी से भरी बाल्टी से थोड़ा अधिक भारी होता था। इस प्रकार भार और प्रतिभार के दोनों किनारों पर होने से बल्ली के मध्य में आलम्ब उत्पन्न होता था। इस प्रक्रम में इसे प्रयोग में लाने वाले व्यक्ति को बहुत कम प्रयास करने की आवश्यकता पड़ती है। यह विधि मिस्र में **शदूफ** के नाम से जानी जाती है। संस्कृत में इसे **तुला** कहते हैं, परन्तु बिहार और बंगाल में इसे **ढेंकली** या **लाट/लाठा** कहा जाता है।

V) पांचवी पानी निकालने की प्रणाली **साकिया** अथवा **'रहट'** थी। ऊपर वर्णित चार प्रक्रमों में से किसी में भी पहिये मूलभूत अवयव नहीं थे। इस जल-चक्र को जल-यंत्र कहा जा सकता है क्योंकि **इसमें गियर प्रणाली** की व्यवस्था थी। गियर प्रणाली के साथ हम तकनीकी रूप से एक बहुत उन्नत अवस्था में प्रवेश करते हैं: इस पर केवल हाल ही में बिजली के ट्यूबवैलों द्वारा श्रेष्ठता स्थापित की गयी।

साकिया के उद्गम को लेकर काफी विवाद है: क्या मुसलमानों के भारत में आने से पूर्व इसका अस्तित्व था अथवा क्या यह तुर्कों के माध्यम से भारत में आयातित हुई? भारत में इसका प्रारंभिक रूप एक चक्र और उसके घेरे से लगे हुए घड़े अथवा मिट्टी के बर्तन था। संस्कृत में इसे **अरघट्टा** अथवा **अरहट** कहा जाता था। अंग्रेजी में इस यंत्र को **नोरिया** कहा जाता था जो अरबी शब्द **नौरह** का बिगड़ा हुआ रूप है। इसे मानव शक्ति द्वारा संचालित किया जाता था। इसे उथले पानी या पानी के खुले स्रोत पर प्रयोग किया जाता था जैसे नहर, जलाशय का नदियाँ जिनमें पानी का स्तर ऊपर तक हो। अतः इसका प्रयोग कुओं पर बिल्कुल नहीं किया जा सकता था।

दूसरे चरण में इस यंत्र का प्रयोग कुओं पर किया गया। इस प्रकार के प्रयोग के लिए पहिये से जुड़े हुए पानी के घड़ों को हटा कर इन घड़ों को एक माला या एक लम्बी कड़ी के रूप में जोड़ा गया जो इतनी लम्बी होती थी कि कुएं के पानी के स्तर पर पहुंच सके। यह माला या कड़ी दोहरी रस्सी से बनाई जाती थी और कोई सिरा खुला नहीं होता था। इसमें घड़ों को लकड़ी के टुकड़ों से जोड़ा जाता था। महत्वपूर्ण बात यह है कि यंत्र के इस परिवर्तित रूप में लिए अरबी या फारसी में कोई पृथक् नाम नहीं है। संस्कृत में इसे **घटियंत्र** (पात्रों का यंत्र) कहा गया हालांकि सामान्य तौर पर दोनों प्रकार के **नोरिया** के लिए **अरघट्टा** या **अरहट** रूप प्रचलित रहा। यह भी मानव शक्ति द्वारा ही संचालित किया जाता था।

तीसरे तथा अन्तिम चरण में हम इस यंत्र में तीन नए परिवर्तन पाते हैं।

i) इसमें दो अतिरिक्त पहिये लगाए गए,
ii) गियर पद्धति का प्रयोग किया गया, तथा
iii) पशु शक्ति का प्रयोग।

इसमें एक लैन्टर्न पहिया, जिस पर थोड़ी-थोड़ी दूरी पर छोटी-छोटी खूटियाँ लगी रहती थीं, एक धुरी से जोड़ा जाता था जो पशु शक्ति द्वारा क्षैतिज दिशा में घूमता था। इससे जुड़ा एक अन्य उर्ध्वाकार पहिया था जो एक धुरी से तीसरे पहिये से जुड़ा हुआ था। इस तीसरे पहिये में घड़ों की माला लगी रहती थी जिससे कुएँ से पानी निकलता था। इस प्रकार यह गियर व्यवस्था पशु-बल के उपयोग हेतु थी। मुख्य रूप से इसमें लेन्टर्न-चक्र (वह चक्र जिसमें घड़े लगे हुए हों) के क्षैतिज बल (horizontal motion) को कुएं के ऊपर लगे हुए चक्र के लिए उदग्र बल (vertical motion) में परिवर्तित करना होता था।

MADHYAM IAS

5· चर्खी के प्रयोग द्वारा पानी बाहर निकालने की विधि

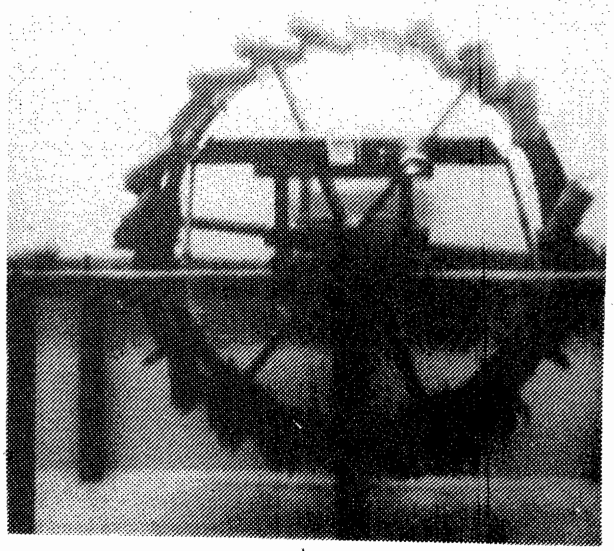

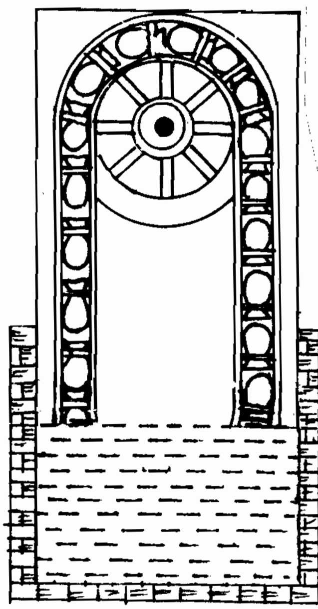

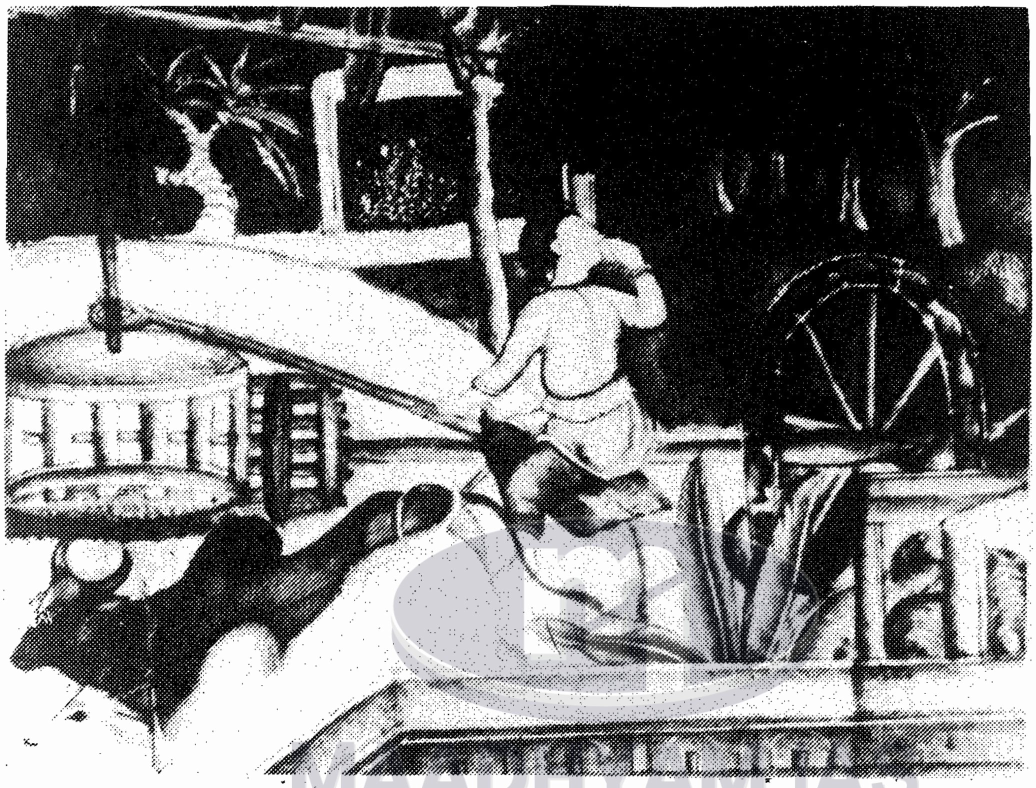

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

6. (स) साक़िया — नोरिया की तीसरी अवस्था — देखें गियर व्यवस्था के साथ तीन चक्र; तीसरा चक्र घड़ों के साथ

इस विवाद में कुछ आधुनिक विद्वान भ्रमवश **नोरिया** की प्रथम दो अवस्थाओं को **साकिया** के समरूप समझते हैं। लेकिन अब आप जान गये हैं कि **साकिया** न केवल अपनी परिकल्पना बल्कि अपने घटकों की दृष्टि से भी मूलतः भिन्न है। एक अर्थगत भूल **साकिया** के लिए भी **अरघट्टा** और **अरहट्टा** (आधुनिक **रहट**) शब्दों का प्रयोग था जब यह प्रारंभिक मध्यकाल में मुसलमानों द्वारा लाया गया। वास्तव में प्राचीन भारत में पशुओं द्वारा चलाए जाने वाले जल-चक्रों का कोई प्रमाण नहीं है।

यहां उल्लेखित जल को कुंओं से निकालने की 5 विधियों को दो मुख्य वर्गों में बांटा जा सकता है:
अ) आवर्तक अथवा असतत जल आपूर्ति प्रणाली, और
ब) निरंतर आपूर्ति व्यवस्था।

प्रथम चार विधियों को पहले और पांचवी प्रणाली को दूसरे वर्ग में रखा जा सकता है। इन साधनों को चलाने के स्रोत के आधार पर, अर्थात मानव द्वारा संचालित और पशुओं द्वारा संचालित, प्रथम और चौथी विधि को मानव शक्ति वर्ग में और अन्य को पशु शक्ति वर्ग में रखा जा सकता है। चूंकि जल को दीवारों से ऊपर उठाना होता था पांचवीं को छोड़ सभी प्रणालियों में दो वस्तुएं समान रूप में थीं: रस्सी और बाल्टी/थैले। बाल्टी अथवा थैले का आकार प्रयोग में लाई जा रही 'शक्ति' के अनुपात में होता था।

अन्य कई औजार जैसे, बेलचा, गेंती और खुरपी भी होते थे जो न केवल कृषि क्षेत्र में बल्कि बागवानी में भी काम आते थे।

हिन्दुस्तान का अधिकांश भाग समतल भूमि पर स्थित है। यद्यपि हिन्दुस्तान में इतने अधिक नगर तथा इतनी विलायतें हैं किन्तु किसी स्थान पर भी जल-धारायें नहीं हैं। नदियाँ तथा कहीं-कहीं पर स्थित जलाशय यहां की जल-धारायें हैं। कुछ नगरों में जहां नहरें खोद कर जल लाना सम्भव है वहां भी नहीं लाया जाता। इसके अनेक कारण हैं। इनमें से एक कारण यह है कि यहां की कृषि तथा यहां के उद्यानों को जल की आवश्यकता नहीं होती। खरीफ़ की फ़सल वर्षा के जल से ही हो जाती है। यह बड़ी ही विचित्र बात है कि रबी की फ़सल भी जल के बिना हो जाती है। पौधों को एक दो वर्ष तक डोल अथवा रहँट से सींच दिया जाता है। तत्पश्चात् उन्हें सींचने की कोई आवश्यकता नहीं होती। कुछ तरकारियों को निरन्तर सिंचाई की आवश्यकता होती है।

रहट

लाहौर, दीबालपुर, सेहरिन्द तथा उस क्षेत्र के स्थानों में रहट से सिंचाई होती है। दो रस्सियों को जो गोलाई में कुएं तक पहुंच जायें ले लिया जाता है। दोनों रस्सियों के बीच-बीच में लकड़ियां बांध दी जाती हैं। लकड़ियों में घड़े बांध दिये जाते हैं। जिन दोनों रस्सियों में लकड़ियां तथा घड़े बंधे रहते हैं उन्हें उस चर्खी पर रख देते हैं जो कुएँ पर रहती है। इस चर्खी के धुरे से एक दूसरी चर्खी जुड़ी रहती है उसके निकट ही खड़े धुरे पर एक अन्य चर्खी होती है। इस चर्खी को बैल घुमाता है। इसके दांत चर्खी के दांत से जुड़े रहते हैं। इस प्रकार वह चर्खी जिस पर घड़े होते हैं घूमती है। जहां जल गिरता है वहां एक कठौता होता है और जल नालियों से होता हुआ प्रत्येक स्थान पर पहुँच जाता है।

चरसा

आगरा, चन्दवार, ब्याना तथा उस क्षेत्र में डोल से सिंचाई होती है। इसमें बड़ा परिश्रम करना पड़ता है और यह बड़ी ही भद्दी विधि है। कुएँ के किनारे दो शाखाओं वाली एक लकड़ी जाती है। इन दोनों के मध्य में एक गड़ारी लगा देते हैं। एक बहुत बड़े डोल में एक रस्सी जाती है। रस्सी गड़ारी पर रख दी जाती है और उसका एक छोर बैल से बांध दिया जाता है आदमी को बैल को हांकना पड़ता है तथा दूसरे को डोल को खाली करना पड़ता है। जब बैल डोल कर वापस होता है तो रस्सी बैल के मार्ग पर जिस पर मूत्र तथा गोबर पड़ा रहता है लथेड़ती और फिर वही रस्सी कुएँ में पहुँचती है।

डोल

कुछ खेतों को जिन्हें सिंचाई की आवश्यकता होती है स्त्री तथा पुरुष डोल भर-भर कर सींचते हैं।

. बाबर द्वारा वर्णित सिंचाई के विभिन्न तरीके (बाबरनामा, अनुवाद, ए.ए. रिजवी, मुगल कालीन भारत-बाबर, भाग 2, पृ. 170-71.

MAADHYAM IAS
way to achieve your dream

बोध प्रश्न 1

1) 13-15वीं शताब्दियों के मध्य कुंओं से जल को निकालने के लिए प्रयोग में आने वाली विभिन्न प्रणालियों का वर्णन कीजिए।

....

....

....

....

....

....

....

....

....

....

2) गहराई से पानी को निकालने की **'साकिया'** में प्रयोग में की जाने वाली तकनीक का वर्णन कीजिए?

....

....

....

....

....

....

....

....

....

3) सही वाक्य के आगे (√) और गलत वाक्य के आगे (x) चिह्न लगाइयेः
   1) कच्चे कुएं बहुत अधिक पानी निकालने हेतु टिकाऊ होते थे। ( )
   2) **ढेंकली** विशुद्ध लीवर सिद्धान्त पर कार्य करती है। ( )
   3) **साकिया** के अंतर्गत गियर प्रणाली और पशु-शक्ति का प्रयोग किया जाता था। ( )
   4) **चरस** का उपयोग मुख्य रूप से घरेलू कार्यों हेतु किया जाता था। ( )

22. 3 वस्त्र तकनीकी

सल्तनत काल में तुर्कों द्वारा वस्त्र-निर्माण के क्षेत्र मे बहुत सी तकनीकें प्रयोग में लाई गईं।

22.3.1 ओटाई, धुनाई और कताई

कपास की खेती का संबंध कृषि तकनीकी से है। कपास के गोलों को इकट्ठा करने के पश्चात् इसको बुनने योग्य बनाने के लिए तीन मूलभूत चरणों से गुजरना पड़ता है:
1) ओटाई अथवा बीजों को अलग करना,
2) धुनाई अथवा तंतुओं को ढीला करना,
3) कताई अथवा सूत बनाना।

प्रथम प्रक्रिया दो तरीकों से की जाती थी:
(अ) रोलर और बोर्ड विधि, तथा
(ब) चर्खी

इस प्रकार बीजों से अलग की हुई रूई को, तंतुओं को अलग व उन्हें मुलायम करने के उद्देश्य से, डण्डों अथवा प्रत्यंचा (bow string) से धुना जाता था (फारसी में **नद्दाफी** और हिन्दी में **धुन्ना)**। कताई का कार्य पारंपरिक विधि से, तकली (फारसी में **दूक)** के साथ एक फिरकी जो इसे नियंत्रित करती थी, होता था।

वस्त्र निर्माण के क्षेत्र में सबसे महत्वपूर्ण तकनीकी क्रान्ति 13-14वीं शताब्दी में मुसलमानों द्वारा भारत में लाए **चरखें** द्वारा संभव हुई। प्राचीन भारत में **चरखें** का कोई अस्तित्व नहीं था। चरखों का प्रथम लिखित संदर्भ हमें इसामी के **फुतुह-उस सलातीन** (1350 ई.) में प्राप्त होता है। इसके (**चरखे**) प्रयोग से तकली का महत्व समाप्त नहीं हो गया बल्कि इसने तकली के परिक्रमण में वृद्धि कर दी। **चरखे** के लकड़ी के फ्रेम के एक किनारे तकली को लगाया जाता था जिसे दूसरी ओर स्थित चक्र पर लगे पट्टे से जुड़े होने के कारण घुमाया जा सकता था। इस प्रकार चरखे में शक्ति संचालन (पट्टे के चलने के) और गतिपालक चक्र (fly wheel) के सिद्धान्त निहित थे जिसके फलस्वरूप परिभ्रमण की अन्तरीय गतियां (differential speed of otation) प्राप्त होती थी। इस बात पर विवाद है कि कब इस यंत्र के साथ एक हत्थे या **क्रैन्क हैंडिल** को ःग्न किया गया। लेकिन यह विवाद अब **मिफ्ताह-उल फुज़ाला** (ई. 1530) के एक चित्र की सहायता ामाप्त हो गया है। इसमें **चरखे** को फ्रेम के साथ लगे हत्थे से घुमाते हुए दर्शाया गया है।

एक आकलन के अनुसार एक ही समय में एक **चरखा** एक तकली की तुलना में छः गुना अधिक सूत निर्मित कर सकता है। इसके परिणामस्वरूप अधिक सूत निर्मित होने लगा और लगातार अधिक वस्त्र भी बनने लगे होंगे।

यहां यह बताना आवश्यक है कि तकली से निर्मित सूत बहुत महीन किस्म का होता था जबकि चरखे द्वारा मोटे कपड़ों हेतु मोटा सूत निर्मित होता था।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

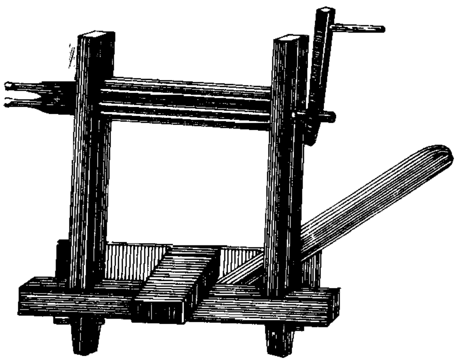

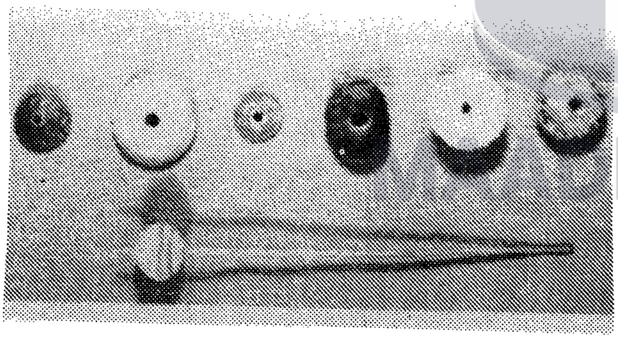

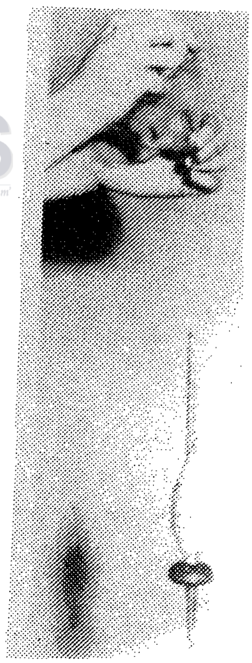

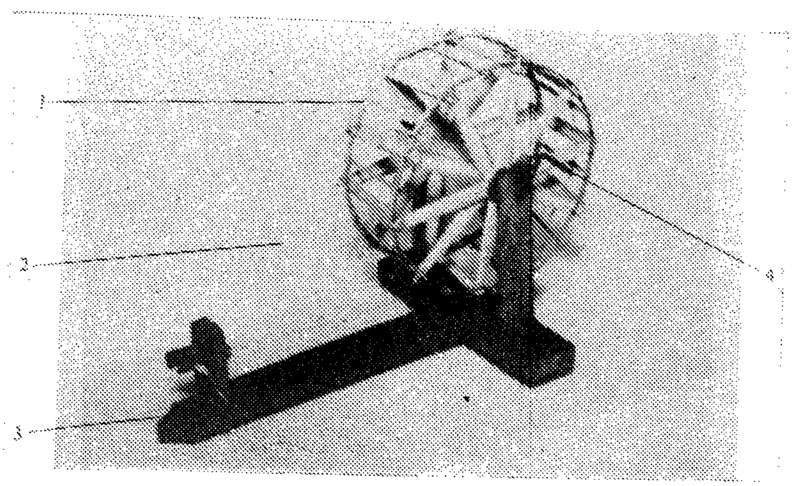

SHYAM IAS
'way to achieve your dream'

7. **(a) Ginning: roller and board method**
   (b) Carding
   (c) Spindle
   (d) Spinning with the spindle
   (e) Spinning-wheel: 1 spindle 2. belt 3. wheel 4. handle

22.3.2 बुनाई

क्षेप-भरनी प्रकृति के क्षैतिज करघें (horizontal loom of throw shuttle type) का प्रयोग साधारण या लहरिएदार मोटे रेशम के वस्त्रों का निर्माण करने में होता था। यह कहना मुश्किल है प्राचीन भारत में पैरों द्वारा चलाये जाने वाले करघे का प्रयोग होता था, किन्तु इस करघे का प्रथम प्रमाण हमें लगभग 1530 में चित्रित **मिफ्ताह-उल फुज़ाला** (लगभग 1469 ई.) से प्राप्त होता है। इस करघे में बुनकर अपने पैरों से धागों के तानों को ऊपर उठा और फैला सकता था जबकि उसके हाथ मुख्यत: भरनी और शेड पर कार्य करते थे। इससे बुनाई की गति में वृद्धि आयी। पैटर्न बुनाई (एक ही साथ विभिन्न रंगों की) के संदर्भ में एक विद्वान का मानना है कि इस उद्देश्य हेतु **ड्रा लूम** लगभग 1001 ई. के दक्षिण भारत में उपलब्ध था। लेकिन इसके संबंध में संदेह है। इस मत के जवाब में यह कहा गया कि शायद इसे मुसलमानों द्वारा 17वीं शताब्दी के अंत में भारत लाया गया था।

10. पैरों द्वारा चलाये जाने वाले करघे का 16वीं शताब्दी का एक चित्र (कार्यरत कबीर)

22.3.3 रंगाई और छपाई

वनस्पति और खनिज स्रोतों से प्राप्त विभिन्न रंगों को रंगाई हेतु प्रयोग में लाया जाता था। नीला, मजीठ और लाख इत्यादि अधिक प्रचलित थे। नील का प्रयोग विरंजन (bleaching) और रंगाई दोनों के लिए होता था। तेज रंगों के लिए कई पदार्थ जैसे फिटकरी मिलाए जाते थे। भारतीय रंगरेज निमज्जन (immersion), बंधेज जैसी कई विधियों को अपनाते थे। परन्तु ठप्पा-छपाई (**छापा**) प्राचीन भारत में ज्ञात नहीं थी। भारत में इसको लाने का श्रेय कुछ विद्वान मुसलमानों को देते हैं।

बोध प्रश्न 2

1) 13वीं-15वीं शताब्दियों में ओटाई के लिए प्रचलित विधियों का वर्णन कीजिए?

....

....

....

....

2) चरखे पर एक टिप्पणी लिखें।

....

....

....

3) बुनकरों द्वारा 13वीं-14वीं शताब्दियों में अपनाई जाने वाली तकनीकों का वर्णन करें।

....

....

....

22.4 भवन निर्माण

इस भाग में हम मुख्यतः तुर्कों द्वारा भारत में लायी गई भवन निर्माण संबंधी तकनीकों का अध्ययन करेंगे।

22.4.1 चूना-गारा

MAADHYAM IAS

प्राचीन भारत में निर्माण के पारंपरिक मूलभूत अवयव मिट्टी, पत्थर, लकड़ी और कभी-कभी ईंटें थीं। साधारण चुनाई का पदार्थ या गारा साधरणतया मिट्टी व पानी से मिलकर बना होता था। इसमें भूसा मिलाकर इसे उन्नत किया जाता था जो प्लास्टर के उपयोग में भी आता था। परन्तु चूना-गारा निश्चित रूप से दिल्ली सल्तनत के काल में बाहर से आए मुसलमानों द्वारा यहां लाया गया।

चूना-गारे के मुख्य अवयव चूना और सुर्खी (कूटी हुई ईंटें) होते थे। चूना, इसके प्राप्ति स्रोत के आधार पर कई प्रकार का होता था। चूनें के दो मुख्य स्रोत जिप्सम और बजरी (कंकड़) होते थे जिन्हें भट्टियों में जलाकर अधबुझा चूना प्राप्त किया जाता था। इसे पानी के साथ मिलाकर बुझा चूना प्राप्त किया जाता था। इस मिश्रण में अब सुर्खी मिलायी जाती थी। इसके पश्चात गारे को अधिक चिपचिपा बनाने हेतु इसमें कई प्रकार के श्लेषीय, लसदार और रालदार चुनाई कराकों जैसे गोंद, दालों, गुड़ इत्यादि को मिलाया जाता था।

22.4.2 मेहराब और गुंबद/मेहराबी छत

चूने-गारे के प्रयोग का एक परिणाम ईंटों के अधिक उपयोग के रूप में निकला क्योंकि इसने ईंटों के भवनों को अधिक टिकाऊ बना दिया। दूसरा महत्वपूर्ण परिणाम यह था कि चूने-गारे ने मेहराब के निर्माण को सही मायनों में संभव बनाया। वास्तव में, वैज्ञानिक पद्धति से मेहराब के निर्माण में ईंटों व पत्थरों की जो व्यवस्था होती है उसके लिए एक मजबूत चुनाई पदार्थ की सख्त जरूरत थी जो डाट पत्थरों **(voussairs)** को एक साथ स्थायी रूप से रखे। चूने-गारे ने इस आवश्यकता को पूर्ण किया। इससे तुर्कों के आने से पूर्व के भारतीय भवनों में मेहराबों की लगभग अनुपस्थिति को समझा जा सकता है। लेकिन कुषाण युग इसका अपवाद था: कौशाम्बी (इलाहाबाद के निकट) में किए गए उत्खनन से छोटी खिड़कियों पर बनी (दरवाजों पर नहीं) मेहराबों का अस्तित्व सामने आया है। जैसा कि आप जानते हैं कुषाण मध्य एशिया से यहां आए थे अतएव वे मेहराब निर्माण से परिचित थे। उसके पश्चात् वैज्ञानिक रूप से बनी मेहराबों का एक भी प्रमाण मुसलमानों के यहां आने तक उपलब्ध नहीं है। मेहराब का एक अन्य रूप कदलिकाकृत **(corbelled)** होता था जो धरणिक **(trabeate)** निर्माण प्रक्रिया का ही एक रूप था अर्थात् स्तम्भ-व-धरनी **(pillar-and-beam)** तकनीक जो पूर्व मुस्लिम भारतीय स्थापत्य कला की एक विशिष्टता थी।

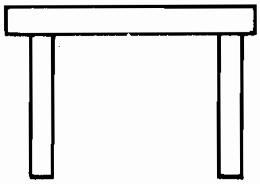

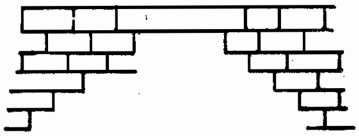

Corbelling
(ब)

Lintel (beam)
(अ)

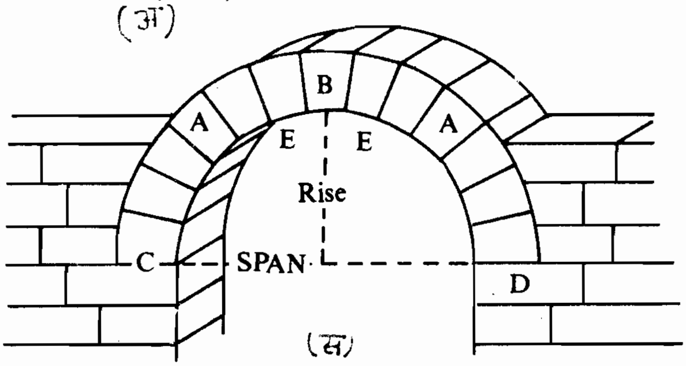

(स)
Arch and its parts

A : voussairs vorsseirs
B : keystone
C : spinging lines
D : abutment
E : crown

. (अ) धरनी व स्तम्भ . (ब) कदलिकाकृत

. (स) वैज्ञानिक तरीके से बनायी गई मेहराब और उसके भाग (अ) डाट पत्थर (ब) मुख्य पत्थर

मेहराब से गुंवद (मेहराबी या गुंवदी छत) की ओर प्रगति एक प्राकृतिक विकासक्रम था क्योंकि गुंबद निर्माण बिना मेहराब के ज्ञान के संभव नहीं था। इसलिए यह कहा जाता है कि एक गुंबद वास्तव में 360 डिग्री पर बनी एक संपूर्ण मेहराब है। दूसरे शब्दों में, गुंवद का निर्माण वैज्ञानिक तरीके से बनायी गई मेहराबों के प्रतिच्छेदन के सिद्धान्त पर किया जाता था (टिप्पणी: गुंवदों की समानता भ्रमवश बौद्ध स्तूपों के साथ न की जाए)।

MAADHYAM IAS
way to achieve your dream

22.5 कागज निर्माण और जिल्दसाज़ी

अब आप जानते हैं कि बाहर से आये मुसलमानों ने किस प्रकार इस्लामिक सांस्कृतिक क्षेत्रों में विकसित हुई विभिन्न प्रकार की तकनीकों और औजारों को भारत में लाने का कार्य किया। कागज निर्माण ऐसा ही एक योगदान था।

प्राचीन भारत में लेखन हेतु कई साधन थे: शिलाएं, ताम्र पट्टिकाएं, रेशम और सूती वस्त्र और विशेष रूप से निर्मित ताड़ की पत्तियाँ (तालपत्र) और भुर्ज की छाल (भुर्जपत्र)। अंतिम दो का प्रयोग पुस्तकें लिखने हेतु किया जाता था।

कागज का निर्माण सर्वप्रथम पहली शताब्दी ई. के लगभग चीन में हुआ। यह बाँसों की लुग्दी द्वारा निर्मित किया गया। अरब-मुसलमानों ने कागज निर्माण उन चीनियों द्वारा सीखा जिन्हें 751 ई. में किसी लड़ाई में बन्दी बनाया गया था। शीघ्र ही अरबों ने इस विद्या से चिथड़ों और पुराने मलमल से कागज बनाना विकसित किया।

भारतीय शायद 7वीं शताब्दी ई. में कागज के बारे में परिचित थे परन्तु उन्होंने इसका उपयोग कभी भी लेखन सामग्री के रूप में नहीं किया। जब चीनी यात्री आइ चिंग ने भारत की यात्रा की तो उसे चीन ले जाने के लिए संस्कृत पांडुलिपियों की नकल हेतु भारत में कागज प्राप्त नहीं हुआ। उसके स्वयं के कागज के समाप्त हो जाने के कारण उसने अपने मित्रों को चीन से उसे कागज भेजने हेतु संदेश भेजा। दिल्ली सल्तनत के काल में कागज का कई उद्देश्यों के लिए प्रयोग होता था, विशेषतः पुस्तकों, **फरमानों** और विभिन्न व्यावसायिक तथा प्रशासकीय दस्तावेज़ों हेतु। कागज दिल्ली सल्तनत में इतनी बड़ी मात्रा में उपलब्ध था कि दिल्ली के मिठाई बेचने वाले अपने ग्राहकों को मिठाइयाँ कागज से निर्मित पैकेटों, जो **पुड़ियां** कहलाती थी, में देते थे **जो आज भी भारत में** प्रचलित हैं। लेकिन कागज निर्माण केन्द्र कम व दूर-दूर थे। 14वीं शताब्दी

के चीनी समुद्री यात्री मा हुआन से हमें ज्ञात होता है कि बंगाल में कागज निर्माण होता था। तथापि अधिकांश कागज की आवश्यकता को इस्लामिक देशों, विशेषतः समरकंद और सीरिया, द्वारा कागज को आयातित कर पूरी की जाती थी।

कागज पर पुस्तकों के लिखने की प्रवृत्ति के साथ ही जिल्दसाज़ी की एक नवीन कला का भारत में विकास हुआ क्योंकि उसकी तकनीक प्राचीन लेखन सामग्री की पत्तियों को (**तालपत्रों** और **भुर्जपत्रों**) जोड़ने की कला से भिन्न थीं।

बोध प्रश्न 3

1) भवन निर्माण कला के क्षेत्र में तुर्कों के योगदान का वर्णन कीजिए।

....

....

....

....

....

....

....

....

....

....

2) भारत में कागज निर्माण पर 5 पंक्तियों में लिखें।

....

....

....

....

....

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

22.6 सैन्य तकनीकी

इस भाग में हम केवल निम्नलिखित तीन चीज़ों का अध्ययन करेंगे :

1) रक़ाब,
2) नाल, और
3) बारूद।

22.6.1 रक़ाब

यह एक निर्विवाद तथ्य है कि लोहे के रक़ाब के बारे में भारत में अज्ञानता थी। शायद इसीलिए **रक़ाब** के लिए संस्कृत में कोई शब्द नहीं है। इसके स्थान पर शायद **कोतल कश** (surcingle), बड़े अंगूठे वाले **रक़ाब** (toe-stirrup) और निलम्बन काँटे (suspension hook) का भारत में प्रचलन था। परन्तु **रक़ाब** विशेष मुसलमानों की देन था। इस **रक़ाब**, को सर्वप्रथम 6वीं शताब्दी के आस-पास चीन में प्रयोग में लाया गया और बाद में वहाँ से यह अगली शताब्दी में फारस व अन्य इस्लामिक देशों में पहुंचा। इल्तुतमिश के शासनकाल में युद्ध कला पर संकलित एक फ़ारसी स्रोत में **रक़ाब** का उल्लेख मिलता है। (**रक़ाब** के सैनिक महत्व के लिए बॉक्स में लिखे परिच्छेद को देखें)।

युद्ध में घोड़े के उपयोग के इतिहास को तीन कालों में विभक्त किया गया है : पहला रथों में उपयोग, दूसरा चरण घुड़सवार योद्धा का है जो अपने घुटनों की शक्ति का उपयोग कर घुड़सवारी करता था, तीसरे चरण में घुड़सवार घुड़सवारी के लिए रक़ाब का उपयोग करने लगा। युद्ध में घोड़े पर बैठे घुड़सवार की स्थिति पैदल सैनिक से बेहतर होती थी। सेना में घोड़े के उपयोग की प्रत्येक बेहतर तकनीक को दूरगामी सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तन से जोड़ा गया है।

जब रक़ाब का उपयोग नहीं होता था, तो घुड़सवार खूब जम कर नहीं बैठ पाता था और बराबर उसके गिरने की संभावना बनी रहती थी। लगाम और एड़ के बल पर वह घुड़सवारी करता था, साधारण काठी के सहारे वह घोड़े पर जमा रहता था, फिर भी युद्ध करने में उसे दिक्कत होती थी और वह अपनी युद्ध कला को विकसित नहीं कर सकता था। घोड़े पर चढ़कर वह तेजी से गतिशील मुद्रा में तीरंदाज़ी कर सकता था और भाले फेंक सकता था। तलवार का उपयोग सीमित था क्योंकि रक़ाब के अभाव में आपका ध्वंसकारी घुड़सवार अपने दुश्मनों पर तलवार भांज तो सकता था, पर अगर वार खाली हो गया तो वह स्वयं धराशायी हो सकता था। रक़ाब के चलन के पहले उसे भाला एक हाथ से संभाले रहना पड़ता था और कंधे और भुजा की शक्ति से उससे वार किया करता था। रक़ाब के उपयोग से आक्रमण का तरीका और अधिक कारगर हो गया। अब वह भाले पर अधिक नियंत्रण रख सकता था और इसे बाँह और अपने शरीर के बीच रखकर शत्रु पर वार कर सकता था। इसके लिए अब उसे केवल अपने बाहुबल का उपयोग नहीं करना पड़ता था, बल्कि इसके लिए वह अपनी समस्त शक्ति और घोड़े की पकड़ का भी उपयोग कर सकता था ।

रक़ाब से घुड़सवार को आगे-पीछे के अतिरिक्त बगल से भी सहारा मिलता था और वह काठी के अगले और पिछले हिस्से का उपयोग कर सकता था। इसके उपयोग से घोड़ा और घुड़सवार एक इकाई के रूप में हो गये और उनके आक्रमण में अपूर्व धार और तेजी आ गयी। अब योद्धा को घोड़े के संचालन में अपने हाथों को व्यस्त नहीं करना पड़ता था, अब उसे इशारा भर करना होता था। इस प्रकार रक़ाब के उपयोग से मानवीय ऊर्जा की बचत होने लगी और पशु की शक्ति का पूरा उपयोग होने लगा, इससे योद्धा की शत्रु पर मार करने की क्षमता में वृद्धि हुई। इसने आकस्मिक घुड़सवार आक्रमण की तकनीक को जन्म दिया, युद्ध कला के क्षेत्र में यह एक नया क्रांतिकारी परिवर्तन था।

11. लिन व्हाइट, मिडिवल टैक्नोलॉजी एण्ड सोशल चेंज, लंदन, 1973, पृ. 1-2 (हिन्दी अनुवाद)

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

22.6.2 नाल

मध्यकालीन भारत के कुछ विद्वानों ने **रक़ाब** को तुर्कों को मिली सैन्य सफलताओं के लिए एक सहयोगी कारक माना है। कम से कम उनके आक्रमणों की प्रारंभिक अवस्थाओं में-**नाल** को इसके एक दुर्बल सहयोगी के रूप में लिया गया है।

घोड़े को पालतु बनाना ही पर्याप्त नहीं था। इसकी सवारी करने के उद्देश्य से इसे नियंत्रित करने हेतु कुछ यंत्रों की आवश्यकता पड़ती थी, जैसे साधारण लगाम, काँटेदार लगाम, हरना (आगे) और पिछले भाग (pommel and cantle) सहित **जीन** और **रक़ाब**।

लोहे की नाल का आगमन बाद में हुआ। यह विचित्र है कि घुड़सवारी के साज-सामानों में से नाल ही एक मात्र ऐसा सामान है जिसका अन्य की भांति घोड़े को नियंत्रित करने में प्रत्यक्ष रूप से कार्य नहीं होता है। यदि ऐसा है तो नाल लगाने की जरूरत क्यों? इसका कारण घोड़े के खुर हैं जो अश्वीय शरीर रचना का सर्वाधिक कोमल हिस्सा होता है। घोड़े का खुर लगातार बढ़ने वाला मानव नाखुनों के सदृश्य एक श्रृंगी संरचना होता है जिसके टूटने, छिलने और चिरने का खतरा बना रहता है। अपने मूल प्राकृतिक आवास में घोड़े के पैर और खुर स्वयं व्यवस्थित रहते थे अतः उनको काटने की आवश्यकता नहीं थी। परन्तु घरेलू और सधे हुए घोड़ों को उनको काम में लाते वक्त विशेष रूप से नम अक्षान्तरों में नाल चढ़ाई जाती थी। जख्मी पैर युक्त घोड़ा लंगडाएगा और उसके सवार के लिए किसी उपयोग का नहीं रहेगा। नाल लगाने के दो लाभ हैं: प्रथम इससे नरम जमीन पर पैर को अच्छी पकड़ प्राप्त होती है और द्वितीय खुरदरे कठोर धरातल पर खुर सुरक्षित रह सकते हैं। इस संदर्भ में घुड़सवारों की विश्व व्याप्त सूक्ति समझ आती है: ''नाल नहीं घोड़ा नहीं''। अश्व सेना में एक पंगु घोड़ा, किसी घोड़े के न होने से ज्यादा बेकार माना जाता है।

भारत के किसी भी पुरातत्वीय उत्खनन में नाल का उल्लेख नहीं मिला है। अब यह एक निर्विवाद तथ्य है कि तुर्कों के भारत आने के साथ ही ये यहां आयातित हुए थे। **नाल** एक अरबी/फारसी शब्द है, इसे बनाने या लगाने वाले को **नालबंद** और नाल चढ़ाई को **नालबंदी** कहा जाता है। घोड़ों पर संस्कृत साहित्य (**सलिहोत्रा**) में नाल लगाने का उल्लेख नहीं मिलता है (**रक़ाब** और **चरखे** की भांति)। इसी कारण **नाल** लगाने के कार्य पर विगत में केवल मुसलमान कारीगरों का एकाधिकार था। कुछ भी हो, हमारे स्रोत केवल ठंडी नाल चढ़ाई की जानकारी देते हैं न कि यूरोप में प्रचलित गर्म-नाल चढ़ाई के बारे में।

22.6.3 बारूद और अग्नि-शस्त्र

कई दशकों पूर्व, कुछ विद्वानों, भारतीय व यूरोपीय दोनों, यह सिद्ध करना चाहते थे कि बारूद और अग्नि-शस्त्रों का प्राचीन भारत में प्रचलन था। संस्कृत स्रोतों में से **शुक्रनीति** को मुख्य रूप से उन्होंने अपने अध्ययन हेतु केन्द्र-बिन्दु माना। तथापि अन्य विद्वानों ने उनके निष्कर्षों को, **शुक्रनीति** के सावधानीपूर्ण अध्ययन के बाद, ठुकरा दिया। पुनश्चः यह सिद्ध करने के असफल प्रयास हुए कि गज़नी शासक सुल्तान महमूद के आक्रमणों के बाद भारत आने वाले मुसलमान अग्नि-शस्त्रों का प्रयोग करते थे।

बारूद में शोरा, गंधक और चारकोल होता है, और इसका आविष्कार चीन में हुआ। कालान्तर में यह इस्लामिक देशों में पहुंच गया। बाहर से आए तुर्कों द्वारा बारूद, शायद 13वीं शताब्दी के अंत में या 14वीं शताब्दी के प्रारंभ में, भारत लाया गया। लेकिन यह बात ध्यान देने योग्य है कि सुल्तान फिरोज़शाह तुगलक के शासनकाल तक इसका उपयोग केवल आतिशबाजी के लिए होता था न कि अग्नि-शस्त्रों या तोप के गोले दागने हेतु। अग्नि-शस्त्रों का सर्वप्रथम उपयोग 15वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारत के गुजरात, मालवा और दक्खन जैसे प्रदेशों में हुआ। किसी भी स्थिति में, नियमित आधार पर यूरोपीय अग्नि-शस्त्रों का प्रयोग पुर्तगालियों द्वारा किया गया जब वे 1498 ई. में कालीकट आये, और उत्तर भारत में प्रारंभिक 16वीं शताब्दी में बाबर द्वारा।

22.7 कलई

घरेलू तांबे (और पीतल) के बर्तनों में बासी खाद्य सामग्री रखने से अम्ल-विषाक्ता का खतरा रहता है। इसलिए उन पर टिन का एक आवरण, विशेष रूप से अन्दर की ओर, खाद्य-अम्ल की रासायनिक क्रिया से बचने के लिए, लगाया जाता है। यह कला भारत में तुर्कों के साथ आयी। इस तकनीक का प्राचीन भारत में कोई प्रमाण नहीं मिलता। साहित्यिक स्रोतों के अलावा, दक्षिण (कोल्हापुर के निकट) में उत्खनन क्षेत्रों से पुरातत्वीय प्रमाण मिलता है जहां एक, बाहर व भीतर दोनों ओर, कलई युक्त ताम्र पात्र प्राप्त हुआ है। परन्तु चूंकि, इस पात्र के साथ बहमनी साम्राज्य (1347-1538 ई.) के सिक्के भी प्राप्त हुए थे। यह उसी युग का माना जाना चाहिए।

MAADHYAM IAS

कलई करने वाले **कलईगार** कहलाते थे। टिन (**रंगर**) एक अत्यंत आघातवर्ध्य और तन्य (malleable and ductile) धातु है, और धातु के बर्तनों पर इसकी कलई से उनको जंग व रासायनिक विषाक्तता से सुरक्षा मिलती है। **कलईगार** सर्वप्रथम बर्तनों से मिट्टी, इत्यादि हटा देता है। इसके बाद उन्हें एक छोटी भट्टी पर चारकोल की सहायता से गर्म किया जाता है। ताप की आवश्यक डिग्री को बनाए रखने के लिए छोटी धौंकनियों का प्रयोग किया जाता है। अगले चरण में रुई की सहायता से शुद्ध टिन और **नौसादर** के मिश्रण को लगाया जाता है। नौसादर का वाष्पीकरण हो जाता है और धातु का धरातल स्वच्छ निकल आता है। इसी दरम्यान टिन पिघलता है तथा रुई को निरंतर चारों ओर रगड़कर पूरे पात्र पर इसे फैला दिया जाता है—बाहर व अन्दर।

अबुल फज़ल **आइन-ए अकबरी** में कलई का उल्लेख करता है। उसके अनुसार शाही रसोई के ताम्र बर्तनों पर एक माह में दो बार कलई की जाती थी जबकि शहज़ादों व अन्य के लिए एक बार।

22.8 शीशा उत्पादन

भारत में शीशे का सर्वप्रथम प्रयोग ई.पू. प्रथम सहस्राब्दि में हुआ बताया जाता है। समाज में किसी वस्तु की उपस्थिति उसके संभावित प्रयोग का संकेत दे सकती है परन्तु आवश्यक नहीं कि वह इसकी तकनीक से भी परिचित हो। फिर भी भारत में शीशे की कमी नहीं थी : शायद आयातित शीशे के सामानों से लंबे संबंध ने स्वदेशी उत्पादन को जन्म दिया हो। परन्तु भारतीय काँच-सामग्री मनकों और चूड़ियों के निर्माण तक सीमित रही। मुसलमानों के आगमन के बाद इस्लामिक देशों से दवाईयों की शीशियों, जार और पात्र भारत आने लगे। यह निर्धारण करना संभव नहीं है कि क्या वे शीशे के सामान वास्तव में दिल्ली सल्तनत के काल में इनके आयातित रूपों की नकल पर बनाए गये थे। फिर भी, हमारे अध्ययन काल में चश्में के लिए लेन्स या दर्पण जैसी काँच से बनी वस्तुएँ प्राप्त नहीं होती (दर्पण तांबे या कांसे के बने होते थे जिनके धरातल चमकीले होते थे।

22.9 जहाज़ निर्माण

नावों और जहाजों के सम्पूर्ण फ्रेम समस्त विश्व की भांति लकड़ी के बनते थे। पहले तख्तों को खाँचों द्वारा (rabetting or tongue-and-groove method) जोड़ा जाता था। फिर उन्हें नारियल के छिलकों से बने रस्सों द्वारा सी दिया जाता था। कभी-कभी लकड़ी की कीलों का भी प्रयोग होता था। लोहे की कीलों और सन्धरों (clamps) का उपयोग तख्तों को जोड़ने में 1498 ई. के बाद यूरोपीय जहाज़ निर्माण के प्रभाव में किया जाने लगा। लंगर पत्थरों से निर्मित होते थे, बाद में, यूरोपवासियों द्वारा लोहे के बने लंगर प्रचलित किए गए।

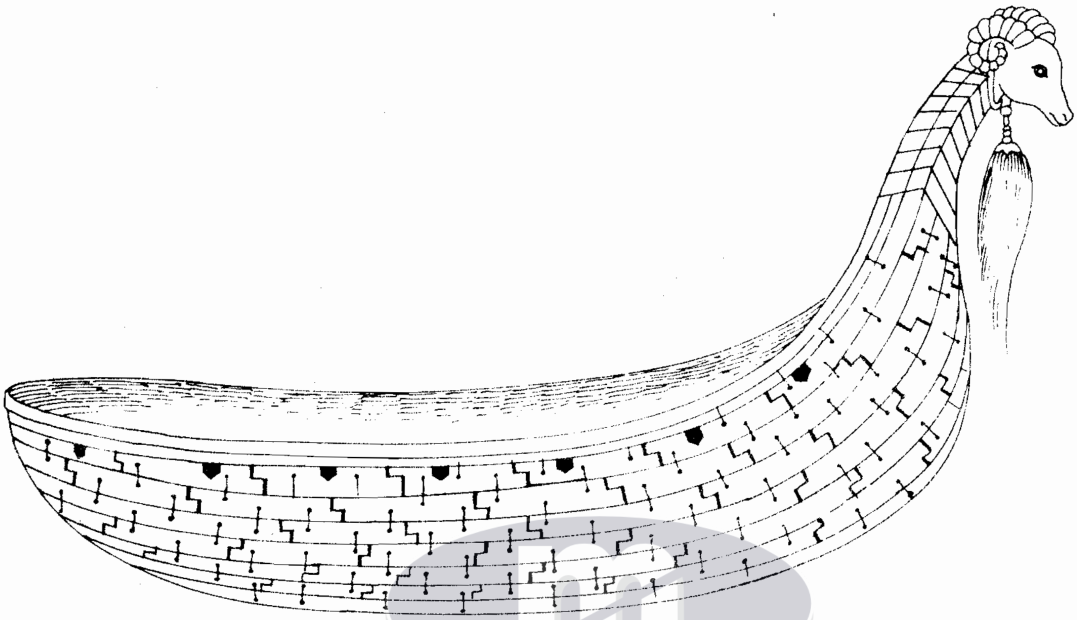

11. रैबेटिंग और तख्तों को जोड़ने के लिए लोहे की कीलो का प्रयोग

समुद्र-यात्राओं के लिए मुसलमानों द्वारा भारत में चुम्बकीय दिशासूचक (कुतुबनुमा) का उपयोग एक महत्वपूर्ण योगदान था।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

22.10 आसवन

ऐसा कोई समाज नहीं हुआ जिसने मादक पेय पदार्थों का निर्माण न किया हो। वैदिक युग में **सोम** ऐसा ही एक मादक पेय था। मदिरा प्राप्त करने की दो विधियां हैं: किण्वन और आसवन। प्रथम विधि सम्पूर्ण विश्व में सुज्ञात थी। मदिरा चावल, गन्ने के रस, महुआ के फूलों के किण्वन (fermentation) द्वारा प्राप्त की जाती थी।

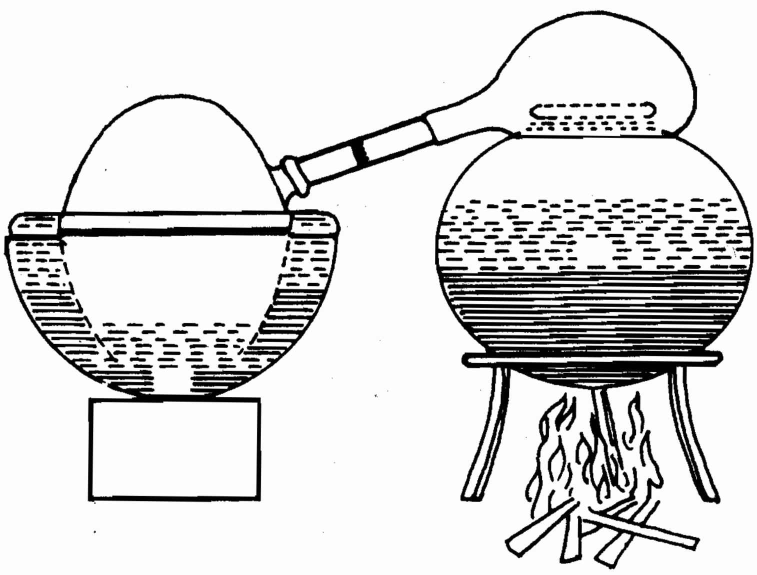

12. आसवन-यन्त्र का निर्माण (मार्शल, 1953)

आसवन (distillation) विधि बाद में प्रचलित हुई। यह कहा जाता है कि सर्वप्रथम इसकी खोज ई. 12वीं शताब्दी में इटली में हुई। भारत के संदर्भ में एक राय यह है कि आसवन तुर्कों की देन है। यह मत स्वीकार्य नहीं है। हाल ही के वर्षों में पाकिस्तान के सिरकप (तक्षशिला) और शैखान की ढ़ेरी में उत्खनन के दौरान आसवन के संयंत्र जैसे संपूर्ण संक्षेपण पात्र और भभका के कुछ भाग प्राप्त हुए हैं जो तक्षशिला के संग्रहालय में सुरक्षित है। यह संयंत्र दूसरी शताब्दी ई.पू. से दूसरी शताब्दी ई.के मध्य का है, तुर्कों के भारत आने से बहुत पूर्व। तुर्कों का योगदान इसे पूर्व की तरफ प्रचलित करने का है।

बोध प्रश्न 4

1) निम्नलिखित को परिभाषित कीजिए

अ) **रक़ाब**

....

....

....

ब) **नाल**

....

....

....

2) खाली स्थानों को पूरा कीजिए

अ) बारूद का आविष्कार .... में हुआ।

ब) भारत में अग्नि-शस्त्रों का प्रयोग सर्वप्रथम .... के काल में हुआ।

स) भारत में कलई की विधि .... द्वारा प्रसारित की गई।

द) तख्तों को जोड़ने के लिए .... विधि अपनाई गई।

य) आसवन विधि का सर्वप्रथम आविष्कार .... में हुआ।

MAADHIYAM IAS
'way to achieve your dream'

22.11 सारांश

इस इकाई द्वारा आपको उन तकनीकों या विधियों का ज्ञान हुआ होगा जिनसे सल्तनत कालीन लोग अपनी रोज़मर्रा की वस्तुओं का निर्माण या उत्पादन करते थे। कृषि के संदर्भ में अब आप लोहे के फाल युक्त हलों, बोआई की प्रणालियों, सिंचाई-साधनों, फसल-कटाई, गुहाई और ओसाई से परिचित हैं। वस्त्र उद्योग के अंतर्गत आप ओटाई, धुनाई, कताई, बुनाई, रंगाई और छपाई संबंधी अध्ययन कर चुके हैं। भवन निर्माण के संदर्भ में चूना-गारा, वैज्ञानिक तरीके से बनाई गई मेहराबों और गुंबद, मेहराबी छतें अधिक महत्वपूर्ण हैं। कागज निर्माण और जिल्दसाज़ी नयी कलायें थी। यही स्थिति **रक़ाब, नाल** और बारूद के संदर्भ में सैन्य तकनीकी की थी। **कलईगिरी** भी एक नया उद्यम था। काँच उत्पादन इस काल में निम्न-स्तरीय था। पुर्तगालियों के आने से पूर्व तक पोत निर्माण में लोहे का प्रयोग नहीं होता था। मादक द्रव्यों के उत्पादन के लिए किण्वन और आसवन प्रणाली अपनाई जाती थी।

अंत में मुसलमानों द्वारा भारत में लाई गई नई विधियों और उद्यमों को संक्षेप में दोहराए: **साक़िया,** चरखा, करघा (पैरों द्वारा संचालित), चूना-गारा, **मेहराब, गुंबद**, कागज और जिल्दसाज़ी, **रक़ाब, नाल,** बारूद, कलई और नाविक के लिए कुतुबनुमा। भारतीयों ने इन सभी को बिना किसी झिझक या विरोध के स्वीकार किया।

22.12 शब्दावली

फिटकरी : सफेद खनिज लवण जो रंगाई में उपयोगी होता है।

मेहराब : वक्राकार संरचना

डाट-पत्थर : वे पत्थर अथवा ईंटें जो मेहराब बनाने में प्रयुक्त होते हैं, मुख्य-पत्थर (key stone) के अतिरिक्त।

कदलिकाकृत : वह विधि जिसके द्वारा छत बनाने के लिए पत्थर के कोनों को अन्दर की तरफ निकाल कर, पत्थरों को एक के ऊपर एक रखकर खाली स्थान को भरा जाता है (देखें खंड 8 इकाई 31)।

फरमान : सुल्तान का आदेश

गियर : दांतनुमा चक्रों का एक समूह जो दूसरे ऐसे ही समूह में फिट होकर शक्ति संचालन करता है।

निमज्जन : पानी के धरातल के नीचे किसी वस्तु को रखना

लूम (करघा) : वस्त्र बुनाई का यंत्र

धरणिक : वह विधि जिसमें छत को बड़े पत्थर या धरनी (beam) द्वारा ढका जाता है (देखें खंड 8 इकाई 31)।

ट्रेडिल-लूम : पैरों द्वारा चलने वाले लूम (करघे)

बुझा-चूना : कैल्शियम हाइड्रॉक्साइड $CO(OH)_2$: यह कैल्शियम ऑक्साइड पर जल की क्रिया द्वारा तैयार होता है।

अनबुझा चूना : कैल्शियम ऑक्साइड (CaO) जो कैल्शियम कार्बोनेट (चूना) को गर्म करके प्राप्त किया जाता है।

22.13 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) देखें उप-भाग 22.2.4
2) देखें उप-भाग 22.2.4
3) (i) × (ii) √ (iii) √ (iv) ×

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

बोध प्रश्न 2

1) देखें उप-भाग 22.3.1
2) देखें उप-भाग 22.3.1
3) देखें उप-भाग 22.3.2

बोध प्रश्न 3

1) देखें उप-भाग 22.4.1, 22.4.2
2) देखें भाग 22.5

बोध प्रश्न 4

1) देखें उप-भाग 22.6.1, 22.6.2
2) अ) चीन ब) 15वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध
   स) तुर्की द) खांचों द्वारा तख्तों को जाड़ने की विधि द्वारा
   य) दूसरी शताब्दी ई. पूर्व से दूसरी शताब्दी ई. के मध्य

परिशिष्ट*

14वीं सदी के कुछ उद्धरण

14वीं सदी की कृषि व्यवस्था के सन्दर्भ में जो कुछ महत्वपूर्ण उद्धरण हैं उनका समझना कठिन है। जहां कहीं उनके अनुवाद उपलब्ध हैं वे पूर्णतया ठीक नहीं है। नीचे दिये गये उद्धरण शाब्दिक अनुवाद हैं, जहां कहीं कोई संदेह व परिवर्तन आता है उसे कोष्ठक में दिया गया है तकनीकी शब्दों की व्याख्या अनुवाद के बाद टिप्पणी में कर दी गई है। वाक्यांश व उपवाक्यों को चिन्हांकित कर दिया गया है और कोष्ठक में नम्बर लिख दिया है ताकि प्रासंगिकता इत्यादि में कोई समस्या नहीं हो।

I) अलाउद्दीन के राजस्व फरमान

(बर्नी, पृ. 287. अंग्रेजी अनुवाद, इलियट, III, पृ. 182 और जे.ए.एस.बी. (जर्नल ऑफ एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल, भाग 39 पृ. 382, अन्तिम भाग ब्लॉकमैन के नोट के साथ)

1) सुल्तान अलाउद्दीन ने विद्वानों से नियमों के विषय में सलाह मशविरा किया ताकि हिन्दुओं (1) का दमन किया जा सके,
2) और उनके घरों में धन और सम्पत्ति नहीं रहना चाहिए क्योंकि यह असंतोष और विद्रोह का सबसे बड़ा कारण है;
3) और करों की अदायगी के लिए राजा से रंक तक सब के लिए समान नियम होने चाहिए (2),
4) और कर की जो माँग समाज के धनी लोगों से की जाती है उसे निर्बल को नहीं भुगतना चाहिए,
5) हिन्दू (1) के पास सुख सुविधा के इतने साधन नहीं होने चाहिए जिससे वे घोड़े की पीठ पर सवार होकर हाथ में हथियार लेकर एवं सज-धज कर निकल सके तथा आनन्द उठा सकें,
6) उपर्युक्त लक्ष्य की प्राप्ति हेतु दो नियम (3) बनाये जा सकते हैं। यह सरकार की सर्वोच्च प्राथमिकता है।
7) प्रथम (नियम)—जो कृषि कार्य में संलग्न हैं, चाहे छोटे या बड़े हों, वे भूमि की माप और प्रति बिस्वा उपज के आधार पर (4) खेती करें,
8) और बिना किसी रियायत के आधा हिस्सा कर के रूप में दें;
9) इस भुगतान के समय राजा व रंक (2) के बीच कोई भेद-भाव नहीं किया जाना चाहिए;
10) राजस्व के प्रमुख संग्रहणकर्ता के विशेष अधिकारों (5) के नाम पर एक रत्ती भी नहीं छोड़ा जा सकता।

(यह विवरण आगे दूसरे नियम की बात करता है, जो चरागाह पर कर लागू करने के विषय में है।)

टिप्पणियाँ

1) "हिन्दू" : जैसा कि अध्याय 11 में बताया गया बर्नी इस शब्द का संकीर्ण अर्थों में प्रयोग करता है, इस शब्द के माध्यम से वह उस वर्ग को सम्बोधित करता है जो सामान्य कृषकों के ऊपर हैं। अतः इस संदर्भ में वास्तव में यह सरदार तथा ग्राम प्रमुख का पर्याय है।
2) "राजा से लेकर रंक तक" **अज़ खोत व बलाहार, बलाहार** फारसी शब्द नहीं है। ब्लॉकमैन ने सामान्य अर्थ में निम्न प्रकार के कामों में लगे ग्रामीण मजदूरों के लिए इस शब्द का प्रयोग किया है। इसे इस अर्थ में लेना ही सुविधाजनक है। ऊपरी दोआब के क्षेत्र में, जहां का बर्नी रहने वाले था, **बलाहार** शब्द का प्रयोग झाडू लगाने वाले लोगों के लिए किया जाता था। अतः लेखक के मस्तिष्क में बलाहार ग्रामीण जीवन में सबसे नीचा काम करने वाला रहा होगा। इसके लिए उपयुक्त अंग्रेजी शब्द नहीं है।

बर्नी ने जिस शब्द **"खोत"** का प्रयोग बार-बार किया है, वह इस काल के साहित्य में और कहीं नहीं मिलता। बर्नी ने **खोत** तथा **खूता** शब्द का प्रयोग बार-बार किया है और इनमें अन्तर करना मुश्किल है। **बलाहार** शब्द के विपरीत **खोत** व **खूता** शब्दों का प्रयोग ग्रामीण उच्च एवं कुलीन वर्गों के लिए किया जाता है। **खोत** का प्रयोग अधिकतर ग्राम प्रधान या **मुकद्दम** के साथ क्रिया गया है (288, 291, 324, 430, 479, 554)। जबकि दो उद्धरणों में (288) इस का संबंध **चौधरी** अथवा **परगने** के प्रमुख और **मुकद्दम** दोनों के साथ जोड़ा गया है तथा इसके विशेष अधिकार लगभग वही थे जो **मुकद्दम** के थे (430)।

* यह परिशिष्ट डब्लू.एच. मोरलैण्ड की पुस्तक, **एग्रेरियन सिस्टम ऑफ मुस्लिम इण्डिया** के परिशिष्ट 'सी' का हिन्दी अनुवाद है।

बर्नी अपनी पुस्तक के लगभग अन्त तक (539, 589) स्थानीय सरदारों (जो राजा के अधीन थे) के लिए **जमींदार** शब्द का प्रयोग नहीं करता तथा कृषि और राजस्व व्यवस्था संबंधी उसके विवरण में भी इसकी चर्चा नहीं होती। जहां कहीं हम **जमींदार** शब्द के प्रयोग की आशा करते हैं वहां **खोत** शब्द का प्रयोग मिलता है। इसकी तर्क संगत व्याख्या यही हो सकती है कि **जमींदार** उसके काल में ही अस्तित्व में आया और धीरे-धीरे **खोत** का स्थान ले रहा था। अतः ये दोनों ही वास्तव में समान अर्थ वाले शब्द हैं। जहाँ कहीं **खोत** शब्द का प्रयोग हुआ है उस स्थान पर अगर हम **जमींदार** पढ़ें तो अर्थ तर्कसंगत और उचित प्रतीत होता है। अगर ये समानार्थ शब्द नहीं हैं तब हमें यह मान लेना चाहिए कि बर्नी के काल का यह महत्वपूर्ण वर्ग **खोत** अगले लेखक के काल तक पूर्णतया समाप्त हो गया था। साथ ही उतने ही महत्व का **जमींदार** वर्ग रहस्यमय ढंग से अस्तित्व में आ गया, यह परिकल्पना जितनी अतार्किक है उतनी ही अनावश्यक।

खोत शब्द की पहचान संदिग्ध हैं। ब्लॉकमैन ने उसे अरबी का एक दुर्लभ शब्द बताया। स्टेनगास ने उस शब्द का प्रयोग "लचीली टहनी", या मोटे किन्तु खूबसूरत एवं सक्रिय आदमी के संदर्भ में किया। लेकिन इससे यह कतई पता नहीं चलता कि **खोत** एक ग्राम प्रमुख को कैसे इंगित करता है। जो पांडुलिपि मैंने देखी उसमें कोई व्यंजन नहीं है और यह संभव है कि इसका उच्चरण भिन्न था। हम एक ऐसे शब्द का विश्लेषण कर रहे हैं जिसकी उत्पत्ति स्वतंत्र रूप से भारत में हुई। इस शब्द का जो भी अर्थ हो बर्नी ने इसे निश्चित रूप से प्रमुख के अर्थ में प्रयोग किया है। बलॉकमैन सही विश्लेषण करके इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि इस शब्द का तात्पर्य ग्रामीण समाज के सर्वोच्च वर्ग से है, लेकिन ज़मीन के मालिक एवं ज़मीन जोतने वाले के संदर्भ में उसके द्वारा प्रयोग ऐतिहासिक दृष्टि से त्रुटिपूर्ण है।

ऐसा भी कहा जाता है कि उत्पत्ति की दृष्टि से यह शब्द भारतीय है जिसकी उत्पत्ति "मराठी" के **खौत** शब्द से हुई। यह शब्द कोंकन भाषा में आम तौर पर प्रयोग किया जाता है। लेकिन बर्नी द्वारा इस शब्द को अरबी भाषा के अक्षरों **खे** और **ते** से लिया जाना इस शब्द की किसी संस्कृतजनित भाषा से उत्पत्ति असंभव सी प्रतीत होती है। 16वीं सदी के बीजापुर राज्य में **खोत** शब्द के विषय में कोई जानकारी नहीं मिलती। इसकी यह संभावित व्याख्या दी जा सकती है कि दक्खन पर अलाउद्दीन की विजय के बाद अरबी शब्द **खोत** प्राकृतिक रूप से **खौत** के रूप में अपना लिया गया। **खोत** शब्द मुगल विजय से पहले गुजरात में भी प्रचलित था जैसा कि प्रो होदीवाला की पुस्तक **स्टडीज़ इन पारसी हिस्ट्री** के पृ. नं. 204 में बताया गया है। परन्तु उसकी व्याख्या नहीं की गई है। यह संभव है कि यह अरबी शब्द उत्तर में प्रयोग में नहीं रहा और कोंकण भाषी गुजरात में भारतीय स्वरूप में प्रचलित रहा लेकिन इस विषय में अधिक लिखित प्रमाणों की आवश्यकता है।

3) यह उद्धरण व्याकरण की दृष्टि से पूर्णरूपेण शुद्ध नहीं कहा जा सकता। **आबरदन** को **आबरदन्द** पढ़ना आसान है और उद्धरण 5 के अन्त में पूर्ण विराम देना चाहिए। इस स्थिति में इसका अनुवाद होगा: "उपर्युक्त उद्देश्य की पूर्ति हेतु दो नियम बनाये गये" जिससे व्याकरण तथा अर्थ स्पष्ट होता है।

4) "माप के नियम और प्रति विस्वा उपज" **हुक्म ए मसाहत व वफा-ए बिस्वा।**

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

बर्नी दो प्रकार के हुक्म या भूमि की माप के नियमों का उल्लेख करता है—**मसाहत** और **हासिल** अर्थात् "माप" और "पैदावार"। लेकिन आगे के उद्धरण में **मसाहत** फसल के नुकसान से संबंधित रियायत है जिसकी **हासिल** में कोई जरूरत नहीं थी। अगर हम इन दो शब्दों को विधि के अर्थ में न देखें तो हम अवश्य ही उन अर्थों में देखेंगे जिसे हमने माप और हिस्सेदारी के संदर्भ में प्रयोग किया है। जिससे उस काल के हिन्दू तथा मुसलमान दोनों परिचित थे और यह 16वीं सदी से 19वीं सदी तक किसी न किसी रूप में प्रचलित रहे हैं। मुगल काल के कागजात में **मसाहत** के लिए **जरीब** अथवा पैमाइश शब्द का प्रयोग होता है लेकिन ऐसा प्रतीत होता है कि स्थानीय स्तर पर इसका प्रयोग जारी रहा। 1832 तक माप के क्रियाकलाप में संलग्न स्थानीय कर्मचारियों को **"मसाहत"** विभाग के नांम से जाना जाता था (Rev. Sel ii, पृ. 378)। **हासिल** का प्रयोग उपज की हिस्सेदारी के अर्थ में किया जाता है और मुझे इसका कोई दूसरा संदर्भ नहीं लगता है।

"वफ़ा-ए बिस्वा" मुहावरे का प्रयोग बर्नी के अलावा दूसरी जगहों पर नहीं मिलता और वह भी इसका प्रयोग माप शब्द के बाद इसे दुहराने के लिए करता है। यह क्षेत्रफल की एक इकाई है। एक **बिस्वा** का अर्थ है 1/20 **बीघा**। बर्नी के बाद के दो इतिहासकारों के अनुसार **वफा** का तकनीकी अर्थ "फसलों की उपज" है और यहाँ भी शायद इसका अर्थ यही है। इसलिए "बिस्वा उपज" से यह पता चलता है कि बोए गये क्षेत्र से नियमित उपज की दर क्या है। माप की पद्धति का यह महत्वपूर्ण अंग है। **तारीख-ए मुबारक शाही,** ओरिऐन्टल 5318, पृ. 34 एक अनुच्छेद जहाँ दोआब में मौहम्मद तुगलक के शासनकाल में शोषण व दमन का विवरण मिलता है, में **किश्त-हा मी-पैमीदन्द व वफा-हा फरमानी मी-बस्तंद** पढ़ने को मिलता है अर्थात् "वे खेतों को मापते थे तथा नियमानुसार उपज निर्धारित करते थे"। यहाँ **वफा** शब्द का प्रयोग किसी दूसरे अर्थ में नहीं किया जा सकता है। यही अर्थ अफीफ (पृ. 180) के संदर्भ में भी लिखा जा सकता है। जहाँ यह शब्द दो बार प्रयोग किया गया है। इन उदाहरणों को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि बर्नी भी इसी अर्थ से परिचित था। मुझे मुगल काल में इस शब्द का प्रयोग नहीं मिलता है संभवतः इस समय यह प्रयोग में नहीं था।

5) "प्रमुखों के प्राधिकार" **हकूक-ए खोतान**। जैसा कि उद्धरण से पता चलता है कि राज्य के कार्य करने के बदले में इन प्रमुखों से खेतों की भूमि के एक भाग से राजस्व की वसूली नहीं की जाती थी। लेकिन गियासुद्दीन का विचार था कि **खोतों** को इस छूट से ही संतुष्ट रहना चाहिए। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि यह राजस्व मुक्त

राशि काफी रही होगी। लेकिन इस प्रकार की कितनी भूमि रखने की आज्ञा थी यह स्पष्ट नहीं है। इसी अनुच्छेद में लिखा है कि प्रधान किसानों से स्वयं अपने प्रयोग के लिए भी धन की वसूली करते थे। शायद नियम (4) का तात्पर्य भी यही है कि किसानों को वह राजस्व भी चुकाना पड़ता था जो वास्तव में प्रमुखों को या ग्राम प्रधानों को देना चाहिए।

II) **गियासुद्दीन की कृषि नीति**

(बर्नी, 429, ऑरिऐन्टल 2039 अनुवाद, **जर्नल ऑफ एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल**, खंड 40, पृ. 229, इलियट का अनुवाद, खंड III, पृ. 230, अपूर्ण है।)

मैने श्री आर. पेजेट से प्रार्थना की कि वे इस जटिल अनुच्छेद का अनुवाद कर दें। उन्होंने उदारतापूर्वक निम्नलिखित अनुवाद किया उनकी टिप्पणियों को भी "D" से चिन्हांकित किया है। शेष टिप्पणियाँ मेरी स्वयं की हैं।

1) उसने राज्य के राजस्व को समानता से ''उत्पाद के नियम'' के आधार पर निर्धारित किया (1),
2) राज्य के नये तरीकों तथा फसल के नुकसान होने पर किसानों को राहत देने के लिए सही आंकलन किया गया (2);
3) राज्य के प्रान्तों और देहातों में खुफिया विभाग की सूचनाओं, कर वृद्धि के समर्थकों तथा ठेके पर कर वसूलने वालों के विचारों के आधार पर राजस्व (3) नहीं बढ़ाया गया।
4) उसने **फ़रमान** जारी किया कि जासूस, क्रूर-वृद्धि के समर्थक, करों के ठेकेदार तथा भूमि बर्बाद करने वालों को राजस्व विभाग के आस-पास न रहने दिया जाये,
5) और उसने राजस्व मंत्रालय को यह भी हिदायत दी कि प्रांतों और गांवों में अनुमान, जासूसों की रिपोर्ट तथा कर वृद्धि के समर्थकों की इच्छानुसार राजस्व में 1/10 या 1/11से अधिक की बढ़ोत्तरी नहीं की जानी चाहिए,
6) और इस बात के लिए सतत प्रयत्नशील रहना चाहिए कि कृषि में बढ़ोत्तरी हो तथा राजस्व में वृद्धि भी धीरे-धीरे की जाय,
7) और वृद्धि इस तरह नहीं की जानी चाहिए कि एक साथ राजस्व इतना बढ़ा दें कि पूरे देश की बर्बादी हो जाय और दुबारा फिर राजस्व न बढ़ाया जा सके।
8) सुल्तान तुगलक शाह ने इस बात पर बल दिया कि किसानों से राजस्व की वसूली इस तरह की जाय जिससे आगे कृषि का विकास भी संभव हो,
9) और कृषि सुव्यवस्थित हो तथा प्रति वर्ष राजस्व में थोड़ी वृद्धि हो।
10) सुल्तान कहा करता था कि तुम्हें एक बार इतना कर नहीं ले लेना चाहिए जिससे कृषि भी व्यवस्थित न रह सके और भविष्य में विस्तार भी असंभव हो जाए।
11) किसी भी राज्य की बर्बादी का प्रमुख कारण शोषण एवं दमन पर आधारित राजस्व की वसूली और बहुत अधिक राजकीय मांग है।
12) बर्बादी की शुरुआत **मुक्ती** तथा अधिकारियों के विनाशकारी कार्यकलापों से होती है।
13) राजस्व की वसूली के विषय में सुल्तान तुगलक शाह सभी **मुक्तिओं**, राज्यपालों एवं अधिकारियों को आदेश दिया करता था,
14) हिन्दुओं को इस स्थिति में रखना चाहिए कि वह वैभव के कारण अंधे होकर विद्रोही न हो जाय,
15) और वह गरीबी से इतना मजबूर न हो जाय कि कृषि कार्य छोड़ दे।
16) राजस्व की वसूली कुशल राजनीतिज्ञों तथा विशेषज्ञों द्वारा बताए गए नियमों के अनुसार की जानी चाहिए,
17) और हिन्दुओं (4) के विषय में कूटनीतिक कुशलता यही है कि उपरोक्त नियम का पालन किया जाए
18) राजस्व वसूली के संदर्भ में सुल्तान गियासुद्दीन तुगलक का, जो एक अनुभवी, दूरदृष्टि वाला व्यक्ति था महत्वपूर्ण योगदान माना जाता है,
19) उसने **मुक्तिओं** तथा राज्यपालों से अनुरोध किया कि राजस्व वसूली में छानबीन एवं निरन्तरता **बनाये** रखना चाहिए,
20) ताकि प्रमुख तथा ग्राम प्रधान राज्य द्वारा निर्धारित कर के अतिरिक्त अलग से किसानों पर राजस्व **का** भार नहीं डाल सकें;
21) और प्रमुख तथा ग्राम प्रधान होने के नाते उनकी अपनी कृषि भूमि एवं चरागाह कर मुक्त थे। इसी से उन्हें संतुष्ट रहना चाहिए और किसानों पर अलग से राजस्व को आरोपित नहीं किया जाना चाहिए।
22) इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि प्रमुखों तथा ग्राम प्रधानों पर अधिक उत्तरदायित्व है। अगर वे अन्य किसानों की तरह राजस्व का भुगतान करेंगे तो प्रमुख या ग्राम-प्रमुख रहने में जो विशेषता है वह समाप्त हो जाएगी।
23) उन **अमीरों** और **मलिकों** (5) को जिन्हें गियासुद्दीन ने बढ़ावा दिया और प्रांत तथा **इक्ते** प्रदान किए,

MAADHYAM IAS
way to achieve your dream

24) उनके विषय में उसने इस बात की इजाजत नही दी कि उन्हे आम कर्मचारियो (6) की भाँति राजस्व मंत्रालय के पास लाया जाय और उनसे दुर्व्यवहार हो और सख्ती से राजस्व की बसूली की जाय.
25) किंतु उसने उन्हें यह अवश्य निर्देश दिया कि,
26) "यदि आप राजस्व मंत्रालय में बुलाए जाने के अपमान से बचना चाहते हैं, तथा यह चाहते हैं कि आप के साथ सख्ती और दुर्व्यवहार न हो,
27) और यदि आप **मलिक** और **अमीर** के अपने पद को अपमान से बचाना चाहते हैं,
28) तो अपने **इक्ता** में उचित मांग करें,
29) **इक्ता** की इस उचित रकम में से अपने कर्मचारियों को भी दे,
30) और सैनिकों को दी जाने वाली रकम में से किसी प्रकार की कोई चोरी नहीं होनी चाहिए।
31) आप अपने स्वयं के राजस्व में से सैनिकों को कुछ दें या न दें वह आपकी इच्छा पर निर्भर करता है
32) लेकिन अगर आप सैनिकों के राजस्व से कुछ भी लेना चाहते हैं तो,
33) आपके लिए **अमीर** और **मलिक** शब्द का प्रयोग भी अपमानजनक होगा,
34) और जो **अमीर** सैनिक के वेतन से कुछ भी लेता है, उसके लिए अच्छा हो कि धूल खा ले।
35) लेकिन **मलिक** और **अमीर** अगर अपने **इक्ता** व प्रांतों से 5/10 या 5/11 और 1/10 या 1/15 भाग राजस्व का चाहता है,
36) और **इक्ता** धारक और गवर्नर की विशेष सुविधाओं का भी उपयोग करता है,
37) तो उसे रोका नहीं जा सकता है और इसे वापस मांगना या **अमीर** पर दबाव डालना निन्दनीय है।
38) इसी प्रकार यदि प्रांतों में उनके प्रतिनिधि या अधीनस्थ (7) अपने वेतन के अलावा 1/2% या 1% और ले लेता है तो,
39) इस रकम के लिए उन्हें अपमानित नहीं किया जाना चाहिए तथा उन्हें मार पीट कर जेल में डाल कर या दंडित करके वापस नहीं मांगना चाहिए।
40) लेकिन अगर वह मोटी रकम (8) ले लेता है और राज्य के राजस्व में से इसकी छूट प्रदान करता है या प्रांतों और गांवों से बड़ी रकम आपस में बांट कर ले लेता है,
41) ऐसे गद्दार चोर को अपमानित कर, पीट कर, या जंजीरों में बंदी बनाना चाहिए और उनसे उस धन को वापस ले लेना चाहिए।"

ग्रंथ पर टिप्पणी

3) "ठेके" ग्रंथ में **पज़ रफ्तनिहा** निश्चित रूप से एक गलती है इसका सही रूप **पज़ इरुफ्तनिहा** (D) है।
4) "भूमि को बर्बाद करने वाला" को **मुहाज़्ज़िबान** के लिए **मुखर्रिबान**। ओरिएन्टल 2039 में ऐसा पढ़ा जा सकता है।
7) "इस तरह नहीं" इसमें ता की जगह ना है जैसे ओरिएन्टल 2039 में।
26) "अगर आपकी इच्छा है" में **ख्वाहद** की जगह **ख्वाहेद** हो सकता है जिसे ओरिएन्टल 2039 में उद्धत किया गया है।
26) "सामने नहीं आना चाहिए" जिसमें **बायुफ्तद** के लिए **नायुफ्तद** हो सकता है, ओरिएन्टल 2039।
38) "ले लेना चाहिए" **इसायत** की जगह **इसाबत** पढ़े जैसे, ओरिएन्टल 2039 ।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

टिप्पणियाँ

1) "उत्पाद के नियम", **हुक्म ए हासिल**। पिछले उद्धरण में नोट 3 को देखें।
2) "फसल का नुकसान", **बूद व नाबूद-हा** इस मुहावरे का तकनीकी अर्थ अकबर के कर निर्धारण नियम से हुआ। जिसका शाब्दिक अर्थ है "अस्तित्व और बिना अस्तित्व के"। (**आईन,** I, 288) जिसमें लिपिक से कहा जाता है कि **बूद** का रेकार्ड तैयार करे तथा **नाबूद** को उसमें से घटा दें अर्थात् नापी हुई भूमि में से ऐसे क्षेत्र को हटा दें जहाँ फसल बर्बाद हो गई हो। शायद **किस्मत** शब्द का प्रयोग ऐसे क्षेत्र के लिए है जो बर्बाद हुए क्षेत्र के वर्गीकरण के लिए किया जाता है। **नाबूद** शब्द 19वीं सदी तक ऐसे विस्तृत अर्थ में प्रयोग किया जाता था जिसका प्रयोग कुल अनुमानित राजस्व में दी गई छूट के लिए होता था।
3) "राजस्व को बढ़ाने की बात करने वाले", **मुवाफिरान**। यह शब्द किसी भी शब्दकोष में नहीं है इसका तकनीकी अर्थ **तौफीर** या ज़मीन से होने वाले किसी प्रकार के लाभ के संदर्भ में लिया जा सकता है। बाद के उद्धरण (574) में, बर्नी, **तौफीर नुमायान** का प्रयोग गुप्त लाभ की जानकारी देने वाले के लिए करता है। ये कार्यालय में प्रयोग होने वाला शब्द था और श्री ड्यिूहर्स्ट ने राजस्व बढ़ाने की बात करने वालों के अर्थ में प्रयोग किया जिसे मैंने लगभग इसी अर्थ में लिया।
4) "हिन्दू" का भी वही संकीर्ण अर्थ है जो पहले के उद्धरणों में लिया गया है।
5) **"अमीर** और **मलिक"**, इस समय कुलीनों के लिए तीन प्रमुख पद-नाम प्रयोग होते थे **खान, अमीर,** तथा

मलिक। यहां इन्हें अभिजात वर्ग के लिए प्रयोग किया गया है।

6) ''पदाधिकारी'', **आमिलान, उम्माल**। इस समय तक **आमिल** शब्द किसी विशिष्ट व निश्चित पद के लिए प्रयोग नहीं किया जाता था बल्कि कार्यपालिका संबंधी किसी भी अधिकारी के संदर्भ में किया जाता था।

7) ''एजेन्टस एवं नायब'' **कारकूनान व मुतसर्रिफान। कारकुन** का शाब्दिक अर्थ एजेंट है। इसमें मुझे यह स्पष्ट नहीं है कि अब तक यह लिपिक के अर्थ में प्रयोग होता था या नहीं जो कि 16वीं शताब्दी में निश्चित रूप से था। कुछ उद्धरणों को इस रूप में पढ़ा जा सकता है परन्तु अन्य के विषय में संदेह है। शायद पदों का विशिष्टीकरण हो रहा था परन्तु पूरी तरह नहीं हो पाया था। मुझे अभी तक ऐसा कोई उद्धरण नहीं मिला है जो यह बता सके कि **मुतसर्रिफ** किसी खास पद की बात करता है बल्कि इस शब्द का प्रयोग स्थानीय नौकरशाही के संदर्भ में किया जाता है। इसका अर्थ अधीनस्थ अधिकारी के लिए सामान्य रूप में लिया जा सकता है या अधीनस्थ अधिकारियों के किसी वर्ग की बात करता है।

8) ''एक काफी रकम'', **मुआतदूद - हा**। मैं इसे एक अच्छी खास रकम के अर्थ में लेता हूँ। शाब्दिक अर्थ में, जिसे गिना जा सके अर्थात् जो गिनने योग्य हो (D)।

इक्ता और **मुक्ती**, जिन्हें अनुवाद में इसी रूप में लिखा गया है, के विषय में परिशिष्ट 'बी' में व्याख्या की गई है। इनके इस रूप को रखने का कारण यह दिखाना है कि यह कितने महत्वपूर्ण थे और कैसे बार-बार दुहराए गए हैं।

III) फिरोज शाह का द्वितीय नियम

(बर्नी, 574; अभी तक इसके अनुवाद का प्रकाशन नहीं हुआ है। वह अध्याय जिसमें इस नियम की चर्चा की गई है, अनिशयोक्तिपूर्ण है और इसमें लिखी सभी बातों को इतना महत्व भी नहीं दिया जाना चाहिए। फिरोज़ की सामान्य नीति के विवरण के विषय में इस पर विश्वास न करने का कोई कारण भी नहीं है)।

1) **द्वितीय नियम :** यह निर्देश दिया गया कि राजस्व की मांग और जज़िया (1) की वसूली ''उत्पाद के नियम'' से की जाएगी;

2) और ''संविभाजन'' तथा ''मांग में बढ़ोत्तरी'' तथा ''फसल का नष्ट होना'' और ''अनुमान के आधार पर अधिक मांगना'' इत्यादि से किसानों को पूरी तरह मुक्त कर दिया गया (2);

3) और ठेके पर राजस्व की वसूली करने वालों, ज़मीन को बर्बाद करने वालों और राजस्व की मांग को बढ़ाने की बात करने वालों (3) को राज्य और प्रांतों में न रहने दिया जाय।

4) और **महसूल-ए मुआमलाती** (4) को कम कर दिया गया ताकि किसान स्वेच्छा से बिना कष्ट के अदायगी कर सकें;

5) किसानों पर कोई हिंसा या दमन नहीं हो इस बात की पूरी कोशिश की गयी क्योंकि मुसलमानों के खज़ाने (5) के मालिक वे ही हैं।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

टिप्पणियाँ

1) **जज़िया** का संदर्भ सबसे अधिक उलझन पैदा करने वाला है। अफीफ के अनुसार (383) दिल्ली में यह कर प्रत्येक व्यक्ति पर निर्धारित नकद अदायगी की राशि थी। इसकी संभावना है कि किसानों के लिए यह राजस्व के साथ ही लगाया जाता हो और राजस्व की मात्रा के साथ इसकी राशि बदलती हो। यह भी संभव है कि **जज़िया** व राजस्व निर्बाध रूप से प्रयुक्त हुए हैं और मुस्लिम प्रजा के ऊपर करों के उत्तरदायित्व का सामान्य अर्थ में विवरण देते हैं।

2) यह धारा किसानों पर लगाये जाने वाले परिचित कर को बताने वाली है। **किस्मत**, फसल नष्ट होना, **नबूदा** पिछले उद्धरण में भी मिलते हैं। वहाँ **मुआतदूदहा** काफी मात्रा में रकम के अर्थ में प्रयोग हुआ है यहां पर **तसव्वुरी** का अर्थ यह होना चाहिए कि यह सब एकतरफा थे और ''अनुमान पर आधारित'' थे।

3) यह उद्धरण भी पिछले का ही अर्थ देता है जो राजस्व के आकलन में विभिन्न शब्दों के रूप में स्वाभाविक रूप में आते हैं।

4) **महसूल-ए मुआमलाती**। इस मुहावरे का सही अर्थ अभी तक किसी भी अनुच्छेद में नहीं मिला है। इसका संदर्भ तो यह बता सकता है कि यह कर किसानों पर लगाये जाने वाले **खराज** या राजस्व से भिन्न है। परन्तु इसकी प्रकृति के विषय में केवल अनुमान लगाया जा सकता है।

5) खज़ाना, **बैत-उल माल**। यह इस्लामी कानून का परिचित शब्द है जहाँ **खराज** या अन्य करों को जंमा किया जाता था। यह मुसलमानों के हितों के लिए प्रयोग होने वाला धन था परन्तु भारत में इस काल तक यह राज्य के राजस्व व आय का एक भाग था।

IV) फिरोज शाह का कर निर्धारण

(अफीफ, पृ. 94; इसका कोई अनुवाद नहीं मिला है; इलियट में केवल एक वाक्य देखने को मिलता है (खंड III, पृ. 288)।

1) राजा ने .... राज्य की माँग (1) को पुनः निर्धारित किया। इसके लिए ख्वाजा हिसामुद्दीन जुनैद की नियुक्ति की गई।

2) अत्यन्त योग्य ख्वाजा 6 वर्षों तक राज्य में रहा,
3) ''निरीक्षण के नियम'' के आधार पर माँग को निर्धारित कर दिया गया (2),
4) कुल निर्धारित राशि (3) 675 लाख **टंका** आंकी गई जो संप्रभुता के सिद्धांत के आधार पर निश्चित की गई।
5) फिरोज़शाह के चालीस वर्षों के शासनकाल में यह राशि अपरिवर्तित रही।

टिप्पणियाँ

1) ''मांग'', **महसूल**। अफीफ ने अक्सर इस शब्द का प्रयोग राजस्व मांग अथवा **खराज** के लिए किया है। जहां तक मुझे ज्ञात है उसने कभी इसका प्रयोग ''ज़मीन की उपज'' के संदर्भ में नहीं किया, जैसा कि बाद के लेखकों ने किया।

2) ''निरीक्षण के नियम'', **हुक्म-ए मुशाहदा** शब्द साहित्य में तथा और किसी दूसरी जगह, जहाँ तक मैं जानता हूँ, देखने को नहीं मिलता। बर्नी ने पिछले उद्धरण में यह बताया है कि फिरोज़ ने सत्तारोहण के समय ''उत्पाद के नियम'' को अपनाया। अफ़ीफ का विवरण भी इसी समय का है क्योंकि यह नियुक्ति सुल्तान के दिल्ली आने के तुरंत बाद की गई या तो दोनों में से किसी लेखक ने कोई गलती की या फिर दोनों का एक ही अर्थ है। गलत होने की संभावना कम है, क्योंकि पुराने नौकरशाह जो लेखक बने, वे तकनीकी शब्दों का दुरुपयोग नहीं करते थे। यह ठीक है कि अफीफ की शब्दावली बर्नी से भिन्न है, खासकर **खोत** तथा **परगना** को लेकर। लेकिन शाब्दिक भिन्नता से अर्थ की भिन्नता नहीं झलकर्ती

मुशाहदा से सामान्य तात्पर्य ''अवलोकन'' या ''देखना'' है; और दोनों वक्तव्यों में सामंजस्य स्थापित करने के लिए इसका प्रयोग अनुमान के आधार पर हिस्से में बांटना है। यहां संदर्भ उस व्यक्ति से है, जो उपज का निरीक्षण या अवलोकन करते हैं ताकि उपज का अनुमान लगा सकें। हम यह कह सकते हैं कि बर्नी के अनुसार, बटाई की जानी चाहिए, जबकि अफीफ कहता है कि अनुमान के आधार पर बटाई होनी चाहिए, वास्तविक हिस्से में बांटना नहीं। अफीफ स्पष्ट रूप से कहता है कि यह अनुमान पर आधारित हिस्सेदारी है, न कि उपज का वास्तविक रूप से बांटना। मुगल काल में **मुशाहदा** शब्द की विलुप्ति समझ में आती है क्योंकि इस समय तक इस प्रक्रिया को समझने के लिए हिन्दी शब्द **कनकूत** प्रयोग किया जाने लगा था।

MAADHYAM IAS

राजस्व की मांग प्रत्येक मौसम की फसलों के साथ परिवर्तित होती रहती थी। इसकी मात्रा इस बात पर निर्भर करती थी कि कितने क्षेत्र में फसल बोई गई और उपज कितनी हुई। इसलिए **बस्तन** या ''निर्धारित करना'' का अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि पहले से निर्धारित धन (**टंका**) के रूप में राजस्व। मैं इसका अर्थ यह समझता हूं कि राजस्व निर्धारण की पूरी पद्धति पुनः व्यवस्थित की गई, क्योंकि पिछले शासक के काल में अराजकता फैली हुई थी।

3) ''कुल योग'', **जमा,** बाद के काल के साहित्य में इसके दो परिभाषित अर्थ हैं। इसकी व्याख्या परिशिष्ट ''ए'' में की गई है। **जमा-ए माल** , यह राजस्व मांग का कुल योग है। **जमा-ए विलायत** (या **परगनाता**) यह वह मूल्यांकन था जिसके आधार पर उक्त अनुदान दिए जाते थे। इस उद्धरण में पहला अर्थ उचित नहीं है। राजस्व की मांग की तुलना में कुल मांग एक भिन्न प्रक्रिया द्वारा निर्धारित होती थी; क्योंकि वह मांग जो हर ऋतु में परिवर्तित होती है, चालीस वर्षों तक अपरिवर्तित रहने वाली मांग के समकक्ष नहीं हो सकती। ग्रंथ में **जमा-ए ममलकत** लिखा गया है, जो **जमा-ए विलायत** का ही एक भिन्न रूप है। इस स्थिति में मूल्यांकन का सही अर्थ निकलता है। हम लोगों ने अध्याय 11 में पाया कि मूल्यांकन पूर्व के शासकों के काल में भी किया जाता था और यह किसी भी अनुदान व्यवस्था की प्रमुख विशेषता है। हमने यह भी देखा कि प्रचलित मूल्यांकन वास्तविकता से बहुत भिन्न था। मैं इस उद्धरण को इस रूप में देखता हूं कि यह हमें बताता है कि ख्वाजा ने कर निर्धारण की पद्धति को व्यवस्थित किया और छह साल के अनुभव के पश्चात् एक नया मूल्यांकन तैयार किया, जो शासन के संपूर्ण काल तक मान्य रहा।

कुछ उपयोगी पुस्तकें

तपन राय चौधरी और इरफान हबीब : **द कैम्ब्रिज इकानॉमिक हिस्ट्री, खंड I (अंग्रेजी)**

प्रो. मुहम्मद हबीब : **एन इन्ट्रोडक्शन टू इलियट एण्ड डाउसन्स हिस्ट्री ऑफ इंडिया एज़ टोल्ड बाई इट्स ओन हिस्टोरियन्स, खंड II (अंग्रेजी)**

ए.जे. कैसर : **इण्डियन रेस्पोंस टु यूरोपियन टेक्नालॉजी एण्ड कल्चर (अंग्रेजी)**

के.एस. लाल : **खलजी कालीन इतिहास (हिन्दी संस्करण)**

इरफान हबीब (सम्पादित) : **मध्यकालीन भारत,** खण्ड 1

मौहम्मद हबीब व के.ए. निज़ामी : **दिल्ली सल्तनत**

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

इकाई 23 मध्य एवं पूर्वी भारत

इकाई की रूपरेखा

23.0 उद्देश्य
23.1 प्रस्तावना
23.2 मालवा
23.3 जौनपुर
23.4 बंगाल
23.5 आसाम
    23.5.1 कमाटा-कामरूप
    23.5.2 अहोम
23.6 उड़ीसा
23.7 सारांश
23.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

23.0 उद्देश्य

इस इकाई में हम पूर्वी तथा मध्य भारत में सन् 1300-1500 ई. के बीच के क्षेत्रीय राज्यों का अध्ययन करेंगे। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- मध्य तथा पूर्वी भारत में क्षेत्रीय राज्यों के उदय के विषय में जान जाएंगे,
- इन राज्यों के क्षेत्रीय प्रसार के विषय में भी आप बता सकेंगे,
- क्षेत्रीय राज्यों के अपने पड़ोसी राज्यों तथा अन्य दूसरे क्षेत्रीय राज्यों के साथ संबंधों के विषय में भी आपको जानकारी प्राप्त होगी, और
- क्षेत्रीय राज्यों के दिल्ली सल्तनत के साथ संबंधों के विषय में भी आपको ज्ञान हो सकेगा।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

23.1 प्रस्तावना

आप खंड 5 की इकाई 18 में पहले ही पढ़ चुके हैं कि कमज़ोर होती दिल्ली सल्तनत को क्षेत्रीय राज्यों ने गंभीर खतरा पैदा कर दिया था और उनके उदय के कारण सल्तनत के भौतिक बिखराव की प्रक्रिया का प्रारंभ हो गया। इस इकाई में हमारा अध्ययन मध्य तथा पूर्वी भारत में मालवा, जौनपुर, बंगाल, आसाम तथा उड़ीसा में क्षेत्रीय राज्यों के उदय पर केन्द्रित होगा। हम इन उपरोक्त राज्यों में राजनीतिक प्रणाली की स्थापना और उनके प्रसार तथा विखंडन का अध्ययन करेंगे।

आप देखेंगे कि किस प्रकार से उनका उद्भव हुआ और कैसे उन्होंने अपने नेतृत्व को स्थापित करने में सफलता प्राप्त की। सन् 1300 ई. से 1500 ई. तक की सदियों के दौरान मध्य तथा पूर्वी भारत में दो प्रकार के राज्यों का उदय हुआ। (अ) प्रथम वे राज्य थे जिनका उदय एवं विकास सल्तनत से स्वतंत्र तौर पर हुआ (जैसे कि आसाम एवं उड़ीसा के राज्य), (ब) बंगाल, जौनपुर एवं मालवा जैसे राज्य, जो अपने अस्तित्व के लिए सल्तनत के ऋणी थे। ये सभी राज्य निरंतर एक दूसरे के साथ युद्ध करते रहते थे। इन संघर्षों में कुलीन वर्गों, अमीरों या राजाओं तथा स्थानीय अभिजात वर्गों ने निर्णायक भूमिका अदा की।

23.2 मालवा

सल्तनत के पतन ने मालवा के स्वतंत्र राज्य की स्थापना के मार्ग को प्रशस्त किया। मालवा के तुगलक गवर्नर दिलावर खां ने सन् 1406 ई. में स्वतंत्रता प्राप्त कर ली तथा स्वयं को

मालवा का राजा घोषित कर दिया। उसने निमार, सौयार, दमोह तथा चन्देरी पर अधिकार करके अपने राज्य की सीमाओं का प्रसार किया। दिलावर खां ने अपनी पुत्री का विवाह खानदेश के मलिक राजा फारूकी के बेटे अली शेर खलजी के साथ किया और फारूकी की बेटी का विवाह अपने पुत्र अल्प खां के साथ। इन वैवाहिक संबंधों द्वारा उसे अपने राज्य की दक्षिण-पूर्वी सीमाओं की रक्षा करने में मदद मिली। गुजरात के शासक मुजफ्फर शाह के साथ मित्रतापूर्ण संबंध बनाए रखते हुए उसने सफलतापूर्वक मालवा को आक्रमणों से बचाया। लेकिन शीघ्र ही 1407 ई. में उसकी मृत्यु हो जाने के कारण मालवा गुजरात के शासक मुजफ्फर की साम्राज्यवादी अभिलाषाओं का शिकार हो गया। लेकिन 1408 में होशंग शाह (सन् 1406-35 ई.) ने मालवा की सत्ता पर अधिकार करने में सफलता प्राप्त कर ली (विस्तृत जानकारी के लिए इकाई 24 को देखिए)। उसने शीघ्र ही खेरला तथा गगरौन पर अधिकार कर लिया। उसकी दृष्टि ग्वालियर पर भी लगी थी। लेकिन मुबारक शाह की शक्ति को महसूस करने पर ग्रामीण क्षेत्रों में कुछ नुकसान पहुँचाने के बाद सन् 1423 में होशंग ने ग्वालियर से अपनी सेनाओं को वापस लौटा लिया। होशंग शाह ने कालपी के मुस्लिम शासक के साथ वैवाहिक संबंध स्थापित किए और उसने कालपी का उपयोग जौनपुर-मालवा तथा दिल्ली-मालवा के बीच मध्यवर्ती राज्य के रूप में किया।

होशंग शाह का उत्तराधिकारी मौहम्मद शाह अयोग्य साबित हुआ। मौहम्मद शाह के संक्षिप्त शासनकाल में मालवा का दरबार आंतरिक षड्यंत्रों का अखाड़ा बन गया और इसके गंभीर परिणाम हुए। इसकी अंतिम परिणति उसकी हत्या (1436 ई.) के रूप में हुई और यह हत्या उसके ही कुलीन वर्ग के एक सदस्य महमूद खलजी द्वारा की गई। इस तरह से गौरी शासन का स्वयं ही अंत हो गया।

महमूद खलजी की स्वयं की स्थिति को पुराने गौरी अमीरों द्वारा चुनौती दी गई। महमूद खलजी ने प्रारंभ में तुष्टीकरण की नीति का अनुसरण किया और उनको जागीरें तथा उच्च पद प्रदान किये, लेकिन वे उनका समर्थन प्राप्त न कर सका। उसको उच्च कुलीनों द्वारा किए गए अनेक विद्रोहों का सामना करना पड़ा। अंत में, उसने इन विद्रोही कुलीनों की समस्या का सफलतापूर्वक हल कर लिया। अपनी आंतरिक स्थिति को सुदृढ़ करने के बाद महमूद खलजी को अपने राज्य के प्रसार करने का समय प्राप्त हो गया।

MAADHYAMIAS

मेवाड़ ऐसा राज्य था, जिसने उसको सबसे अधिक आकर्षित किया। आप इकाई 24 में पढ़ेंगे कि राणा कुम्भा के अधीन मेवाड़ ने अपने सीमावर्ती राजपूत राज्यों को अपने अधीन करने और मेवाड़ के साथ मिलाने की नीति का अनुसरण किया। इससे मालवा के लिए प्रत्यक्ष तौर पर खतरा पैदा हो गया। सन् 1437 के प्रारंभ में महमूद खलजी को शक्तिशाली राणा का सामना करना पड़ा। राणा कुम्भा ने होशंग शाह के पुत्र उमर खां से वायदा किया कि वह महमूद खलजी के स्थान पर मालवा की गद्दी पर उसको बैठाएगा। सारंगपुर की लड़ाई (1437 ई.) में महमूद खलजी को पराजित कर दिया गया और उसको गिरफ्तार कर लिया गया। बाद में, महमूद खलजी ने रणमल की मृत्यु के बाद मेवाड़ में फैली अराजकता का लाभ उठाते हुए, 1442 ई. में मेवाड़ पर आक्रमण कर दिया। उसने बनमाता के मंदिर को नष्ट कर दिया और बिना कुछ विशेष प्राप्ति के वह वापस लौट गया। तब से महमूद खलजी ने राणा कुम्भा के विरुद्ध हर वर्ष आक्रमण किए। यद्यपि महमूद खलजी ने गगरौन पर 1444 ई. में तथा मण्डलगढ़ पर 1457 ई. में अधिकार कर लिया था, लेकिन राणा कुम्भा अपने क्षेत्र की एकता बनाए रखने तथा उसकी ठीक प्रकार से सुरक्षा करने में सफल रहा। लेकिन यह संघर्ष बिना किसी कमी के अनवरत चलता रहा। मालवा एवं जौनपुर के बीच संघर्ष का मुख्य कारण कालपी था। होशंग शाह अपने भतीजे जलाल खां को कालपी की सत्ता प्राप्त कराने में पहले मदद दे चुका था। लेकिन जलाल खां की मृत्यु के बाद (1442) नसीर खान जहां कालपी का शासक बना। परन्तु महमूद शर्की ने उसको बाहर निकाल दिया। इसके कारण जौनपुर का कालपी पर नियंत्रण बढ़ने लगा। महमूद खलजी ने इसको पसंद नहीं किया। इसका परिणाम 1444 ई. में दोनों के बीच संघर्ष के रूप में हुआ। अंततः एक संधि पर हस्ताक्षर किए गए। महमूद शर्की कालपी को खान जहां को देने को तैयार हो गया और इसके कारण जौनपुर तथा मालवा के बीच मधुर संबंध कायम हो गए।

गुजरात ऐसी दूसरी अन्य शक्ति थी जिसका सामना मालवा को करना पड़ा। आप इकाई 24 में पढ़ेंगे कि मुजफ्फर गुजराती ने एक बार होशंग शाह को कैद करने में सफलता प्राप्त की थी।

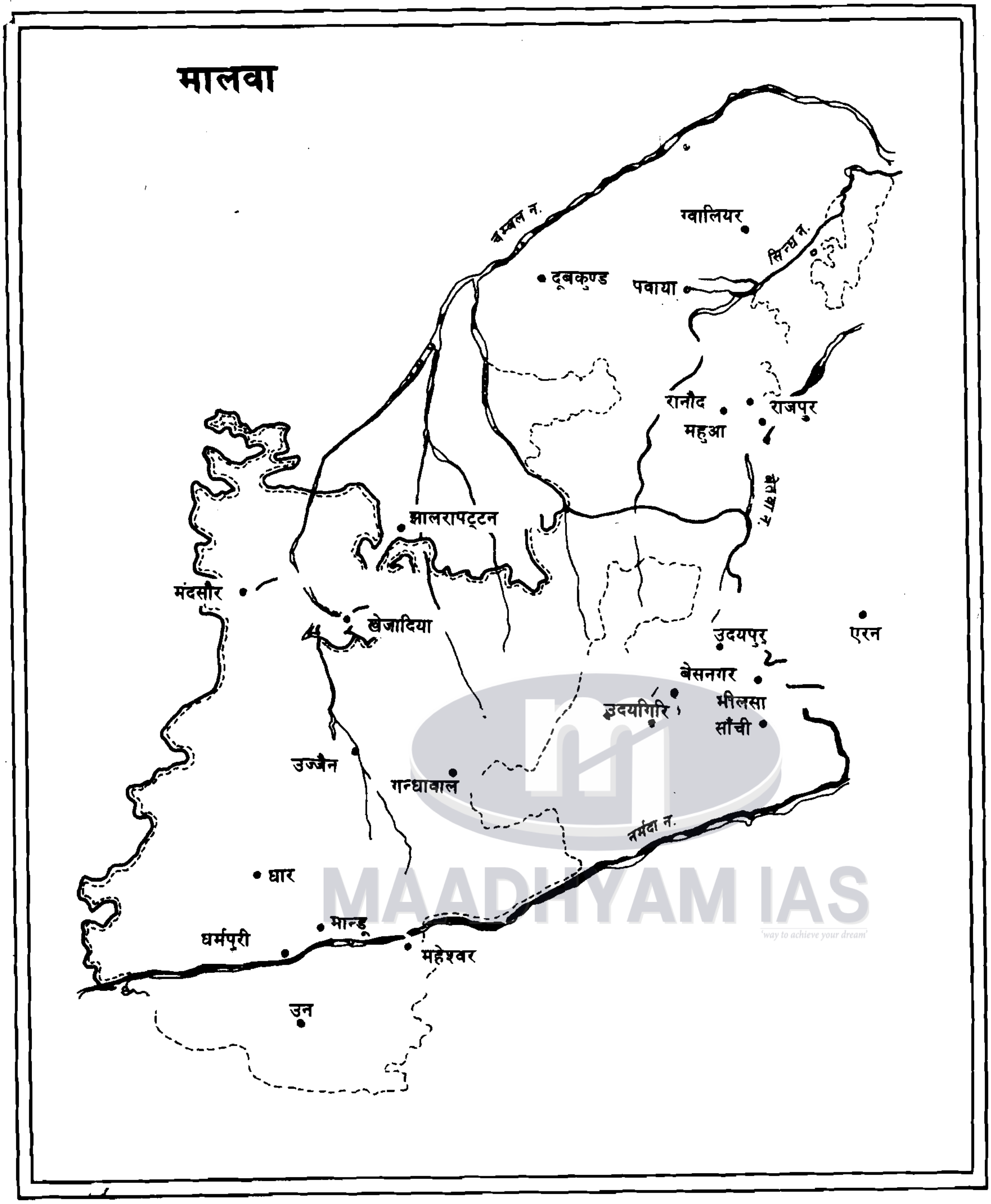

1442 में अहमद शाह की मृत्यु के बाद, मौहम्मद शाह गुजराती की स्थिति कमज़ोर हो जाने पर महमूद खलजी को सुल्तानपुर तथा नन्दूरबार पर 1451 ई. में अधिकार करने का अवसर प्राप्त हो गया। जिस समय महमूद खलजी मौहम्मद गुजराती के विरुद्ध अभियान पर था ठीक उसी समय मौहम्मद गुजराती की मृत्यु हो गई। उसके उत्तराधिकारी सुल्तान कुतबुद्दीन ने महमूद खलजी के साथ संधि कर ली। दोनों पक्ष एक दूसरे की प्रादेशिक सीमाओं का सम्मान करने के लिए सहमत हो गए। दोनों इस बात के लिए भी सहमत हुए कि वे मेवाड़ में अपनी-अपनी स्वतंत्र नीति का अनुसरण करेंगे। परन्तु अन्य क्षेत्रों के लिए दोनों के मध्य इस तरह का समझौता न हो सका। महमूद खलजी ने बहमनी राजनीति में जो हस्तक्षेप किया, महमूद बेगड़ा उससे कठोरता से निपटा (और जानकारी के लिए देखें इकाई 28)।

महमूद खलजी के पुत्र एवं उत्तराधिकारी गियास शाह (1469-1500 ई.) ने विजयों की अपेक्षा सुदृढ़ीकरण की ओर अधिक ध्यान दिया। मेवाड़ के राणा के साथ संक्षिप्त संघर्ष के अलावा (1473 ई. में यह संघर्ष हुआ) गियास शाह का शासन काल अपनी इस नीति के फलस्वरूप अंत तक शांतिमय रहा।

23.3 जौनपुर

अफीफ हमें सूचित करता है कि गोमती नदी के किनारे जौनपुर नगर की स्थापना फिरोज़ शाह तुगलक द्वारा 1359-60 ई. में उस समय की गई थी, जबकि वह अपने दूसरे बंगाल अभियान पर था। यह शहर सत्ता का एक मज़बूत केन्द्र हो गया और शीघ्र ही इसका विकास दिल्ली के एक विरोधी नगर के रूप में हुआ।

फिरोज़ शाह तुगलक के एक अमीर मलिक सरवर ने फिरोज़ के पुत्रों के बीच उत्तराधिकार के लिए हुए संघर्ष का भरपूर लाभ उठाया और सुल्तान मौहम्मद शाह के अधीन वह वजीर के पद तक पहुंच गया। मलिक सरवर ने **सुल्तान-उस शर्क** की उपाधि के साथ-साथ पूर्वी ज़िलों का नियंत्रण प्राप्त कर लिया। तैमूर के आक्रमण के कारण दिल्ली का राज्य बिखर गया। सरवर ने इस अवसर का लाभ उठाते हुए स्वयं को जौनपुर का स्वतंत्र शासक घोषित कर दिया। उसने अपने राज्य की सीमाओं को कोल (अलीगढ़), सम्भल तथा मैनपुरी में स्थित रापरी तक प्रसारित कर दिया। उसकी उच्च अभिलाषाओं के कारण जौनपुर का दिल्ली, बंगाल, उड़ीसा तथा मालवा के साथ कड़ा सैन्य संघर्ष हुआ। यद्यपि इन संघर्षों में उसे सफलता प्राप्त न हुई, लेकिन उसने जाजनगर तथा ग्वालियर के शासकों को अपने अधीन कर लिया। उसके उत्तराधिकारी एवं पुत्र मुबारक शाह शर्की (1399-1401) को अपनी स्थिति को सुदृढ़ करने का शायद समय प्राप्त नहीं हो सका। लेकिन छोटे भाई एवं उत्तराधिकारी इब्राहिम शाह शर्की (1401-1440) ने प्रभावशाली ढंग से अपने राज्य का प्रसार किया। इस संबंध में उसकी सबसे महत्वपूर्ण विजय कन्नौज (1406) की थी। इस समय कन्नौज मौहम्मद शाह तुगलक के अधीन था। इससे उसके सम्मान में बहुत अधिक वृद्धि हुई और उसकी आगामी उपलब्धियों के लिए मार्ग प्रशस्त हुआ। 1407 ई. में उसने दिल्ली पर अधिकार करने की इच्छा से आक्रमण किया, लेकिन प्रारंभिक सफलताओं के बावजूद उसका यह प्रयास असफल रहा। यद्यपि उसने कालपी (1414) पर भी अपना प्रभाव स्थापित कर लिया था, लेकिन कालपी का शासक कादिर खां उसके लिए समस्याएं पैदा करता रहा। सन् 1414 ई. में इब्राहीम ने बंगाल के शासक गणेश को भी पराजित किया। अपने शासन के अंतिम वर्षों में उसने पुनः सन् 1437 ई. में दिल्ली पर आक्रमण किया और उसके आसपास के कुछ परगनों पर अधिकार कर लिया। सुल्तान मौहम्मद शाह तुगलक ने अंततः उससे समझौता कर लिया। सुल्तान अपनी पुत्री बीबी हाजी का विवाह इब्राहिम के पुत्र महमूद खां से करने के लिए सहमत हुआ। इब्राहिम की शक्तिशाली सफलताओं ने जौनपुर राज्य की प्रतिष्ठा की वृद्धि की। इब्राहिम को **शीराज़-ए हिन्द** की उपाधि प्राप्त हुई।

इब्राहिम के उत्तराधिकारियों महमूद शर्की (1440-54), मौहम्मद शर्की (1457-58) तथा हुसैन शर्की (1458-1505) के शासनकाल में दिल्ली सुल्तानों के साथ लगातार संघर्ष होते रहे। अंततः बहलोल लोदी ने 1483-84 ई. में जौनपुर पर अधिकार कर लिया और इसे मुबारक नोहानी के अधीन कर दिया गया। हुसैन शाह ने इसको पुनः प्राप्त करने के लिए अंतिम प्रयास किए, किन्तु वह असफल हुआ। अंततः बहलोल ने अपने पुत्र बरबक शाह को जौनपुर के सिंहासन पर बैठा दिया और इस तरह से शर्की शासकों के काल का अंत हो गया।

बोध प्रश्न 1

1) होशंग शाह की प्रमुख उपलब्धियाँ बताइए।

....

....

....

....

....

2) लोदी-शर्की संघर्ष ने अंततः शर्की राज्य के भाग्य का सूर्यास्त कर दिया। उपरोक्त कथन की रोशनी में शर्की शासकों के पतन की विवेचना लगभग पाँच पंक्तियों में कीजिए।

....

....

....

....

....

3) निम्नलिखित कथनों में कौन-सा सही है और कौन-सा गलत। सही (✓) तथा गलत (×) के चिन्ह लगाइए :
   i) दिलावर खां तुगलकों का गवर्नर था।
   ii) गगरौन मालवा तथा शर्की शासकों के बीच एक मध्यवर्ती राज्य था।
   iii) महमूद खलजी के साथ संघर्ष में राणा कुम्भा उमर खां के साथ था।
   iv) इब्राहिम शर्की ने **शीराज़-ए हिन्द** की उपाधि प्राप्त की।

23.4 बंगाल

बंगाल दिल्ली से काफी दूरी पर स्थित था और अपनी भौगोलिक-राजनीतिक परिस्थितियों के कारण इस पर दिल्ली के सुल्तानों को अपना कड़ा नियंत्रण रख पाना काफी मुश्किल था। राज्य के गवर्नरों ने इस दूरी का पूरा-पूरा लाभ उठाया। जैसे ही केन्द्रीय सत्ता कमज़ोर होती या शासकगण किसी अन्यत्र स्थान पर व्यस्त होते तब इस क्षेत्र के कुलीन वर्ग के लोग अर्ध-स्वतंत्र शासकों के रूप में कार्य करने लगते।

पहले भी सन् 1225 ई. में इल्तुतमिश ने स्वयं अपनी सत्ता को स्थापित करने के लिए बंगाल के विरुद्ध सैनिक अभियान का संचालन किया था और बलबन को बंगाल के गवर्नर तुगरिल बेग के विद्रोह को कुचलने में लगभग तीन वर्ष का समय लगा। बंगाल पर दिल्ली सल्तनत के प्रभुत्व को बनाए रखने के लिए बलबन ने अपने पुत्र बुगरा खां को सन् 1281 ई. में बंगाल का गवर्नर नियुक्त किया। बुगरा खां ने बलबन की मृत्यु के पश्चात् (1287) स्वयं को दिल्ली सल्तनत के सिंहासन का दावेदार प्रस्तुत करने के स्थान पर बंगाल का शासक बने रहने का निर्णय किया। बाद में, हमें यह वृतांत मिलता है कि सन् 1301 ई. में गियासुद्दीन तुगलक ने लखनौती की ओर सैनिक अभियान के लिये प्रस्थान किया। लेकिन मौहम्मद तुगलक के समय में बंगाल के प्रति अधिक प्रभावशाली नीति का अनुसरण किया गया। मौहम्मद तुगलक ने अपने वफादार समर्थकों को लखनौती, सोनारगांव एवं सतगांव का गवर्नर नियुक्त किया। इससे शक्तिशाली गुटों के मध्य संतुलन स्थापित करने में सफलता प्राप्त हुई। इसके कारणवश स्थानीय प्रभावशाली तत्वों की शक्ति को कम करने में मदद मिली और दिल्ली के नियंत्रण में वृद्धि हुई। फिर भी, समय-समय पर बंगाल की ओर से दिल्ली के प्रभुत्व को चुनौती मिलती रही।

इलियास शाह (1342-57) बंगाल का शक्तिशाली शासक बन गया। उसने लखनौती और सोनारगांव पर अधिकार कर लिया और इसी के साथ-साथ उसने बनारस की ओर कूच किया। सुल्तान फिरोज़ तुगलक ने स्वयं बंगाल की ओर सैनिक अभियान के लिये प्रस्थान किया और इस समस्या का निदान करने में उसे लगभग एक वर्ष (1353-54) का समय लगा। एक बार फिर सन् 1359 में सुल्तान फिरोज़ तुगलक को सिकन्दर शाह की (1357-89) शक्ति को दबाने के लिए उसके विरुद्ध सैनिक अभियान पर जाना पड़ा। फिरोज़ तुगलक की मृत्यु (सन् 1388 ई.) के बाद दिल्ली के सुल्तान इतने कमज़ोर हो गए कि वे बंगाल के अड़ियल शासकों को अपने अधीन न रखे सके।

सिकन्दर शाह का पुत्र गियासुद्दीन आज़म शाह (1389-1409) एक लोकप्रिय शासक था। उसे कमाटा तथा अहोम के राजाओं के संयुक्त आक्रमण का सामना करना पड़ा और करातोया नदी के पार के क्षेत्र को देना पड़ा। 1406 ई. में चीनी शासकों के दूतों के आने से चीन के साथ कूटनीतिक संबंध स्थापित हुए।

1409 में गियासुद्दीन शाह की हत्या के बाद बंगाल को आंतरिक अराजकता तथा संघर्षों के दोहरे संकट का सामना करना पड़ा (1409-1418 और 1435-42) लेकिन इलियास शाह के एक वंशज नसीरुद्दीन अबुल मुजफ्फर महमूद के सत्ता में आ जाने के साथ सभी मामले उचित स्थिति में आ गए। उसके पुत्र रुक्नुद्दीन बरबक (1459-74) ने प्रसारवादी नीति का अनुसरण किया। इसके फलस्वरूप उसकी सीमाएं गंगा के उत्तर में बरनर तक तथा दक्षिण में

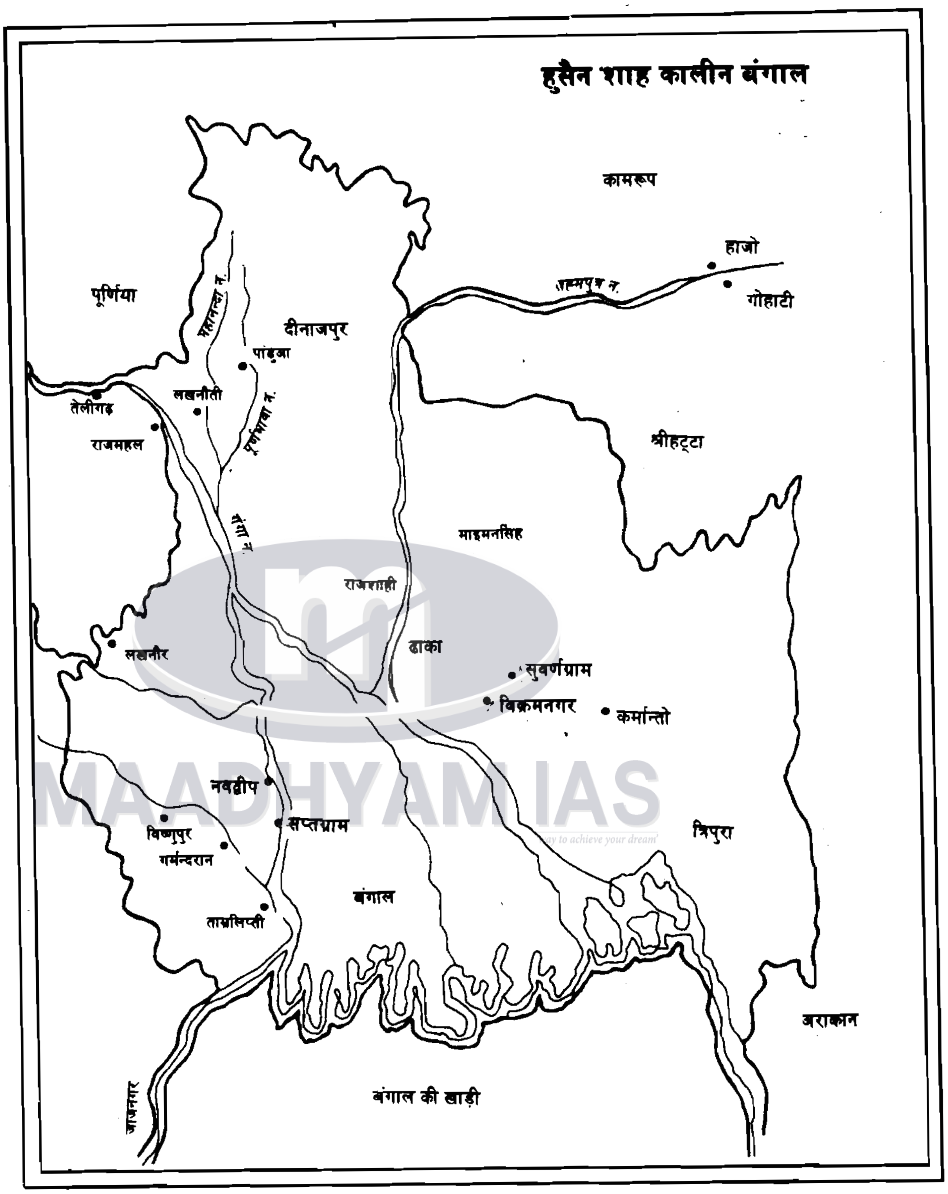

MAADHYAM IAS

जैस्सोर-खुलना तक फैल गईं। प्रसार के कार्य में अबीसीनिया के गुलाम सैनिकों ने निर्णायक भूमिका अदा की, लेकिन बरबक के द्वारा उनको संरक्षण दिए जाने की नीति घातक सिद्ध हुई। 1794 में अबीसीनिया के सेनापति सैफुद्दीन फिरोज़ ने बंगाल की सत्ता पर अधिकार कर लिया। लेकिन वह अपनी स्थिति को सुदृढ़ करने में असफल रहा और सन् 1493 ई. में अलाउद्दीन हुसैन शाह (1493-1519) ने सत्ता पर अधिकार कर लिया। उसने न केवल अबीसीनिया के गुलामों पर नियंत्रण स्थापित करने में सफलता प्राप्त की अपितु एक गहन प्रसारवादी नीति का अनुसरण किया। उसके शासन काल में बंगाल की सीमाएं उत्तर-पश्चिम में, बिहार में स्थित सरन तक, दक्षिण-पूर्व में सिलहट तथा चटगांव तक, उत्तर-पूर्व में हाजो और दक्षिण-पश्चिम में मन्दरान तक फैल गईं। सन् 1495 ई. में उसे सुल्तान सिकन्दर लोदी के शक्तिशाली आक्रमण का सामना करना पड़ा क्योंकि हुसैन शाह ने जौनपुर के शासक को शरण दी थी। बाद में आक्रमण न करने की संधि पर हस्ताक्षर किए गए और हुसैन शाह ने इस तरह के भगोड़ों को शरण न देने का वचन दिया।

बोध प्रश्न 2

1) भौगोलिक-राजनीतिक परिस्थितियों ने बंगाल को अपनी स्वतंत्रता बनाए रखने में कैसे मदद की?

....

....

....

....

....

2) बंगाल की 15वीं सदी के अंत की राजनीति में अबीसीनियाई कुलीनों की क्या भूमिका थी?

....

....

....

3) तिथिक्रमानुसार व्यवस्थित कीजिए :

i)	बख्तियार खलजी	1281 ई.
ii)	बुगरा खां	1459-74
iii)	इलियास शाह	1357-89
iv)	रुक्नुद्दीन बरबक	1205
v)	सिकन्दर शाह	1342

23.5 आसाम

भौगोलिक तौर पर मध्यकालीन आसाम के अंतर्गत पश्चिम में करातोया नदी की घाटी के साथ-साथ संपूर्ण ब्रह्मपुत्र की घाटी तथा उत्तर-पूर्व में मिश्मी पहाड़ियों एवं पटकाय बूम का संपूर्ण इलाका आता था। इसके पूर्व की ओर बर्मा राज्य की सीमा समांतर जाती थी। 13वीं सदी ई. से 15वीं सदी ई. तक आसाम के अंदर चुटिया, अहोम (या ताय अहोम), कोच, दिमासा, त्रिपुरी, मणिपुरी, खासी एवं जैनतिया जैसी कबीलाई राजनीतिक प्रणालियां विद्यमान थीं। अंततः चुटिया और अहोम कबीलों का शक्तिशाली कबीलों के रूप में उदय हुआ। इनके अतिरिक्त आसाम में कमाटा (कामरूप) राज्य भी विद्यमान था।

23.5.1 कमाटा-कामरूप

मध्यकालीन कमाटा राज्य में ब्रह्मपुत्र घाटी सहित (रंगपुर को छोड़कर), भूटान, कूच बिहार, मैमनसिंह तथा गारो पहाड़ियों के क्षेत्र शामिल थे। राय सन्ध्या के काल (1250-70) तक कामरूप (आधुनिक उत्तरी गोहाटी) कमाटा राज्य की राजधानी था। लेकिन कचारी राज्य के प्रसार ने राय सन्ध्या को अपनी राजधानी को कामरूप से कमाटापुर (आधुनिक कूच बिहार ज़िले में) ले जाने के लिए बाध्य किया और तभी से इसको कामरूप-कमाटा राज्य कहा जाने लगा।

हम पहले ही पढ़ चुके हैं कि मौहम्मद गौरी के एक सेनापति बख्तियार खलजी ने 1206 ई. में कामरूप पर आक्रमण किया। लेकिन उसके लिए यह अभियान एक त्रासदी साबित हुआ। उसकी सेना पूर्णरूपेण नष्ट हो गई। 1227 ई. में सुल्तान गियासुद्दीन इवाज़ ने भी कामरूप पर अधिकार करने का प्रयास किया और उसका भी राय पृथु के हाथों वही हश्र हुआ जो बख्तियार खलजी का हुआ था। बाद में इल्तुतमिश के पुत्र नसीरुद्दीन महमूद ने राय पृथु की शक्ति को कुचलने में सफलता प्राप्त की। 1225 में मलिक यूज़बेक ने कामरूप पर आक्रमण किया और बाद में उसका भी वही हाल हुआ जो बख्तियार खलजी का हुआ था। उसकी सेनाएं शीघ्र ही शक्ति-विहीन हो गईं, मलिक यूज़बेक गंभीर रूप से घायल हो गया और 1227 में उसकी मृत्यु हो गई। सिंहध्वज के शासन काल (1300-1305) में बंगाल के सुल्तान शमसुद्दीन फिरोज़ शाह (1301-22) ने 1303 में ब्रह्मपुत्र को पार करते हुए मैमनसिंह एवं सिलहट पर अधिकार कर लिया।

कामरूप राज्य सदैव अहोम साम्राज्यवादी योजनाओं का शिकार होता रहा। **बुरंजी** साहित्य में कमाटा के शासक सिंधु राय (1260-1285) के विरुद्ध अहोम राजा सुकाफा (1228-1268) की सफलता का वर्णन मिलता है। सिंधु राय ने सुकाफा की अधीनस्थता को स्वीकार कर लिया, लेकिन उसके उत्तराधिकारी प्रताप ध्वज (1300-05) ने अहोम शासकों को नज़राना देना बंद कर दिया जिसके फलस्वरूप सुखांगफा (1293-1332) ने फिर कमाटा राज्य पर आक्रमण किया। एक लंबी लड़ाई तथा भारी नुकसान के बाद अंततः प्रताप ध्वज ने शांति के लिए सुलह की और सुखांगफा के साथ अपनी पुत्री रजनी का विवाह कर दिया।

14वीं सदी के कमाटा राज्य की एक महत्वपूर्ण विशेषता उन भुयान सरदारों का महान विद्रोह था, जिन्होंने अस्थिर परिस्थितियों का लाभ उठाया। धर्म नारायण तथा दुर्लभ नारायण के बीच उत्तराधिकार के लिए युद्ध हुआ। प्रारंभ में भुयान सरदारों का विद्रोह असफल रहा, क्योंकि दुर्लभ नारायण (1330-50) तथा अरिमत्ता (1365-85) की शक्ति इनसे कहीं अधिक थी। लेकिन अरिमत्ता की मृत्यु (1385) के बाद उसके उत्तराधिकारी भुयान सरदारों के प्रहारों का सामना कर सकने में बड़े कमज़ोर साबित हुए और 15वीं शताब्दी के मध्य में राय पृथु के वंश को भुयान सरदारों के ख्यान वंश द्वारा उखाड़ दिया गया और नीलध्वज (1440-1460) ने इस नए वंश की स्थापना की। नीलाम्बर (1480-1498) ख्यान वंश का सबसे शक्तिशाली शासक हुआ और उसने अपने राज्य की सीमाओं को करातोया से बारनदी तक बढ़ा दिया। अबीसीनियाई गुलामों ने बंगाल (गौड़) में अराजकता की जो स्थिति पैदा की, नीलाम्बर ने उसका लाभ उठाते हुए, बंगाल के उत्तर-पूर्वी भाग पर अधिकार करने में सफलता प्राप्त की। बाद में, अलाउद्दीन हुसैन शाह (1493-1519) ने नीलाम्बर की शक्ति को कुचल दिया और इसी के साथ ख्यान वंश के शासन का अंत हो गया।

23.5.2 अहोम

अहोमों का संबंध दक्षिण-पूर्वी एशिया के ताय कबीले की उपशाखा माओ-शान से था। सन् 1208 ई. में अहोम ऊपरी बर्मा में स्थित मोगौंग नामक प्रदेश तथा युनान को छोड़कर 1223 ई. में ऊपरी असम दिखोऊ घाटी (आधुनिक सिबसागर मण्डल) में अंतिम तौर पर बस गए। उन्होंने चरायदेव (बाद में, 1397 ई. में चारगुआ को राजधानी बनाया) को अपने राज्य की राजधानी बनाया। माओ-शान कबीले का सुकाफा प्रथम अहोम राजा (1228-68) था और उसने चुटियों, मोरान, बोरहियों, नागों, कचारियों तथा कमाटा (कामरूप) को अपने अधीन करा लिया। उसके पुत्र सुत्यूफा (1268-1281) ने कचारियों को पराजित कर अपने प्रभुत्व क्षेत्र को दक्षिण की ओर ब्रह्मपुत्र के किनारे कालंग (आधुनिक उत्तरी कछार उपमंडल) तक बढ़ा दिया। सुखांगफा (1293-1332) के अधीन अहोम शासक संपूर्ण ब्रह्मपुत्र घाटी की सर्वोच्च शक्ति बन गए। सुखांगफा की मृत्यु के बाद एक रिक्तता पैदा हो गई थी और इसके फलस्वरूप अहोम राज्य तीन बार राजा के बिना (सन् 1364-69, 1376-1380 ई. तथा 1389-1397 ई.) रहा। किसी तरह से सुदंगफा के शासन काल में (1397-1407) स्थिति में स्थायित्व पैदा हो गया। इसके शासन काल में नारा तथा कमाटा के शासकों के साथ संघर्ष हुए। इसके फलस्वरूप अहोम राज्य की सीमाएं उत्तर में पटकाय तथा उत्तर-पूर्व में करातोया नदी तक पहुंच गईं। सुदंगफा के शासन काल में स्थापित सीमाएं संपूर्ण 15वीं सदी में बनी रहीं। बाद में सुहेनफा (1488-93) को नाग तथा कचारियों के विद्रोहों का सामना करना पड़ा। लेकिन इन विद्रोहों का दमन कर दिया गया। 15वीं सदी ई. के अंतिम वर्षों में सुपिम्फा के (1493-97) बुरागोहिन, खेनपुंग जैसे कुलीनों ने विद्रोह कर दिया। यद्यपि विद्रोह का दमन कर दिया गया, लेकिन इसने कुलीनों के बीच होने वाले आतंरिक कलहों को स्पष्ट कर दिया जिसका प्रारंभ 15वीं सदी के अंतिम वर्षों में हो चुका था।

23.6 उड़ीसा

तुर्कों के आक्रमण के समय उड़ीसा पूर्वी गंगा शासकों के अधीन था। **तबकात-ए-नासिरी** के वृतांत के अनुसार बख्तियार खलजी ने मौहम्मद तथा अहमद भाइयों को जाजनगर (आधुनिक उड़ीसा) पर ठीक अपनी मृत्यु से पूर्व (1205) आक्रमण करने के लिए भेजा। इस समय जाजनगर का शासक राजराजा III (1197-1211) था। अगला आक्रमण गियासुद्दीन इवाज़ के नेतृत्व में अनंगभीम III के सत्तासीन (1211-38) होने के तुरन्त बाद हुआ। यद्यपि **तबकात-ए नासिरी** में इवाज़ की सफलता की प्रशंसा की गई है, लेकिन चाटेश्वर अभिलेख

के अनुसार इस संघर्ष में अनंगभीम III की विजय हुई। ऐसा प्रतीत होता है कि इवाज़ के आक्रमण को रोक दिया गया था।

नरसिंहम I (1238-64) को इख्तियारुद्दीन यूजबेक के आक्रमण का सामना करना पड़ा और यूजबेक को अपने प्रथम दो आक्रमणों में सफलता भी प्राप्त हुई। लेकिन बाद में नरसिंहम I ने उसके प्रयासों को विफल कर दिया। नरसिंहम I ने अपने राज्य की सीमाओं को मिदनापुर, हावड़ा तथा हुगली तक फैला दिया। 13वीं सदी के समापन पर (1296) सतगांव दिल्ली सुल्तानों के अधीन हो गया। आप खंड 4 में पढ़ चुके हैं कि गियासुद्दीन तुगलक (1320-25) के शासन काल में तथा उलुग खां (बाद में मौहम्मद तुगलक) ने किस तरह से जाजनगर पर अधिकार कर लिया और यहाँ के शासक उनके सामन्त हो गए।

भानूदेव III (1352-78 ई.) के शासन काल से ही गंगा के इस राज्य की शक्ति कमज़ोर होने लगी और इस अवसर का लाभ उठाते हुए, पड़ोसी राज्यों ने आक्रमण शुरू कर दिये।

सन् 1353 ई. में बंगाल के शासक शमसुद्दीन इलियास ने चिल्का झील को पार करते हुए जाजनगर के शासक को पराजित किया और वह विशाल लूट की दौलत के साथ अनेक हाथी भी ले गया। बाद में, दिल्ली, विजयनगर, जौनपुर तथा बहमनी शासकों ने भी उड़ीसा में यदा-कदा लूटपाट की।

इस तरह की अव्यवस्था तथा अनिश्चय की स्थिति में भानूदेव IV (1414-1435 ई.) के मंत्री कपिलेन्द्र ने 1435 ई. में उड़ीसा के सिंहासन पर अधिकार कर उड़ीसा में गजपति शासन की नींव डाली। 1464-65 ई. तक उसके राज्य की सीमाएं दक्षिण अरकाट ज़िले तथा दक्खन के पूर्वी पठार तक फैल गईं। कपिलेन्द्र ने हुमायूँ बहमनी को उस समय अपमानजनक ढंग से पराजित किया, जिस समय हुमायूँ ने देवारकोन्डा पर आक्रमण किया और कपिलेन्द्र देवारकोन्डा के सरदार की मदद के लिए आया। इसके बाद कपिलेन्द्र जब तक जीवित रहा तब तक बहमनी शासकों ने तेलंगाना पर आक्रमण करने का साहस नहीं किया। 1450 ई. में कपिलेन्द्र ने बंगाल के शासक नसीरुद्दीन (1442-59) को पराजित कर दिया और गौडेश्वर की उपाधि को धारण किया। सन् 1453 में राजामुन्द्री भी उसके राज्य का एक भाग बन गया। 1462 तक उसके राज्य की सीमाएं हुगली से दक्षिण में कावेरी नदी तक फैल गईं लेकिन उसके शासन काल के अंतिम वर्षों में विजयनगर के शासक सलूवा नरसिंह ने कावेरी नदी के थाल से उड़ीसा के लोगों को निष्कासित कर दिया। पुरुषोत्तम ने 1467 ई. में सिंहासन प्राप्त करने के बाद तमिल क्षेत्रों पर आक्रमण किया, लेकिन उसके शोषण का प्रभाव क्षेत्र केवल कांची तक सीमित रहा। इसी के साथ-साथ पुरुषोत्तम को बहमनी शासक मौहम्मद शाह III (1463-1482 ई.) को कोन्डनीर (कोण्डाविडू) तथा राजामुन्द्री देना पड़ा। सलूवा नरसिंह ने (बाद में विजयनगर शासक) स्थिति का लाभ उठाते हुए उदयगिरि (1476) पर अधिकार कर लिया। जब तक मौहम्मद शाह III जीवित था, पुरुषोत्तम ने इन क्षेत्रों पर अधिकार करने का प्रयास नहीं किया। 1482 ई. में उसकी मृत्यु के बाद पुरुषोत्तम ने राजामुन्द्री, कोण्डनीर तथा उदयगिरि को लगभग 1484 ई. में सलूवा नरसिंह से छीन लिया। इस तरह से उसने अपने राज्य की सीमाओं को उत्तर में भगीरथी से दक्षिण में पैन्नार नदी तक बढ़ा लिया। अपने पिता की भांति, उसके पुत्र प्रताप रूद्र (1497-1540 ई.) ने, प्रसारवादी नीति का अनुसरण किया। उसके अधिकतर सैनिक अभियान 16वीं सदी ई. के प्रारंभ में हुए और ये हमारे अध्ययन क्षेत्र से बाहर हैं। उसने अपने शासन का अधिकतर समय विजयनगर के शासक कृष्णदेव राय तथा बंगाल के शासक हुसैन शाह के साथ संघर्ष करने में बिताया। 1540 ई. में उसकी मृत्यु हो गई और उसकी मृत्यु के बाद उसके उत्तराधिकारी राज्य की एकता को कायम न रख सके और शीघ्र ही सूर्यवंशी (गजपति) शासन का अंत (1542) हो गया।

बोध प्रश्न 3

1) कामरूप राज्य के साथ बंगाल के शासकों के संबंधों की व्याख्या कीजिए।

....

....

....

2) ताय-अहोम कौन थे? सुखांगफा की उपलब्धियों को बताइए।

....

....

....

3) विजयनगर, बहमनी तथा बंगाल के शासकों के साथ कपिलेन्द्र के संबंधों का विवेचन कीजिए।

....

....

....

4) रिक्त स्थानों को भरिए :
   i) कमाटा .... की राजधाना था।
   ii) राय पृथु ने .... और .... की शक्तियों को पराजित किया।
   iii) असमिया साहित्य को .... कहा जाता है।
   iv) अहोम .... कबीले से संबंधित थे।
   v) ख्यान वंश की नींव .... के द्वारा रखी गई।
   vi) पुरुषोत्तम ने कोन्डाविडू तथा राजामुन्द्री .... को दे दिया।

23.7 सारांश

इस इकाई में आपने मालवा, जौनपुर तथा बंगाल के स्वतन्त्र राज्यों के उदय का अध्ययन किया है। इन राज्यों का उदय दिल्ली सल्तनत के कमज़ोर हो जाने के परिणामस्वरूप हुआ था। हमने इन इकाईयों में दिल्ली सल्तनत तथा पड़ोसी राज्यों के साथ इन राज्यों के संबंधों का भी विवचेन किया है। इन राज्यों के अतिरिक्त हमने असम एवं उड़ीसा के राज्यों का भी उल्लेख किया है। इन दोनों राज्यों का विकास दिल्ली सल्तनत से स्वतन्त्र तौर पर हुआ। असम में कमाटा-कामरूप तथा अहोम नाम के दो राज्य विद्यमान थे। अहोम राज्य अभी भी राज्य निर्माण की प्रक्रिया में था और यह मुख्यत: कबीलाई संगठन पर आधारित था।

MAADIYAM IAS
'way to achieve your dream'

23.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) देखें भाग 23.2
2) देखें भाग 23.3
3) देखें भाग 23.2, 23.3

बोध प्रश्न 2

1) देखें भाग 23.4
2) देखें भाग 23.4
3) (i) 1205 (ii) 1281 (iii) 1342 (iv) 1459-74 (v) 1357-89

बोध प्रश्न 3

1) देखें उपभाग 23.5.1
2) देखें उपभाग 23.5.2
3) देखें भाग 23.6
4) इन प्रश्नों के उत्तर के लिये देखें उपभाग 23.5.1 तथा भाग 23.6.

इकाई 24 उत्तरी एवं पश्चिमी भारत

इकाई की रूपरेखा

24.0 उद्देश्य
24.1 प्रस्तावना
24.2 कश्मीर
24.3 उत्तर-पश्चिम : राजपूताना
24.3.1 गुहिल एवं सिसोदिया
24.3.2 वागड़ के गहलौत
24.3.3 मारवाड़ के राठौड़
24.3.4 छोटे राजपूत राज्य
24.4 गुजरात
24.4.1 मालवा के साथ संबंध
24.4.2 राजपूताना के साथ संबंध
24.4.3 बहमनी तथा खानदेश के साथ संबंध
24.5 सिन्ध
24.6 सारांश
24.7 शब्दावली
24.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

MAADHYAM IAS

24.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद :

- आप उन क्षेत्रीय शक्तियों के विषय में बता सकेंगे जिनका उत्तरी तथा पश्चिमी भारत में उदय हुआ,
- आप इन राज्यों के क्षेत्रीय प्रसार के विषय में जानकारी प्राप्त करेंगे,
- इन राज्यों के अपने पड़ोसी राज्यों तथा अन्य दूसरी क्षेत्रीय शक्तियों के साथ संबंधों के विषय में भी आप जान सकेंगे, और
- आपको दिल्ली सल्तनत और इन राज्यों के बीच संबंधों के विषय में भी जानकारी प्राप्त होगी।

24.1 प्रस्तावना

इससे पूर्व की इकाई अर्थात् इकाई 23 में आप देख चुके हैं कि मध्य तथा पूर्वी भारत में क्षेत्रीय शक्तियों का उदय कैसे हुआ। इस इकाई में हमारा ध्यान उत्तरी तथा पश्चिमी भारत में क्षेत्रीय शक्तियों के उदय पर केंद्रित होगा। इस इकाई में हम कश्मीर, राजपूताना, सिंध तथा गुजरात के क्षेत्रीय राज्यों के प्रादेशिक प्रसार की विवेचना करेंगे।

इन क्षेत्रीय शक्तियों में से कुछ दिल्ली सल्तनत के पतन का परिणाम थीं। जबकि कुछ का स्वतंत्र तौर पर विकास हुआ था। कश्मीर राज्य का विकास स्वतंत्र तौर पर हुआ जबकि गुजरात राज्य का विकास दिल्ली सल्तनत के पतन के फलस्वरूप हुआ। सिंध एवं राजपूताना लगातार दिल्ली सल्तनत के आक्रमणों से प्रभावित थे। यहाँ तक कि वे दिल्ली सल्तनत का एक भाग भी रहे। फिर भी सिंध और राजपूताना अपनी-अपनी क्षेत्रीय विशेषताओं को बनाए रखने में सफल हुए।

24.2 कश्मीर

भौगोलिक तौर पर कश्मीर घाटी के दक्षिण तथा दक्षिण-पश्चिम में पीर पंजाल की पर्वत शृंखलायें तथा दक्षिण-पूर्व तथा उत्तर-पश्चिम क्षेत्र शक्तिशाली मध्य तथा उत्तर-पश्चिमी हिमालय पर्वत की शृंखलाओं से ढका है। कश्मीर घाटी के अंतर्गत एक ओर झेलम नदी एवं इसकी सहायक नदियों का मैदानी क्षेत्र आता है तो दूसरी ओर पठारी क्षेत्र है। नदी के किनारे का मैदानी क्षेत्र उपजाऊ है तथा भूमि कछारी है और यहाँ काफी मात्रा में खेती होती है, लेकिन ऊँचे पठार कम उपजाऊ हैं और अगर खेती की भी जाती है तो फसल अच्छी नहीं होती है। कश्मीर घाटी के पर्वतों से घिरे होने के कारण दर्रों (जोजिला, बनिहल, बुदिल, पीर पंजाल तथा तोशामैदान) का बहुत अधिक महत्व है और राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक प्रक्रियाओं पर उनका व्यापक प्रभाव हुआ है। दक्षिणी दर्रों को लोदी शासकों के समय तक पार न किया जा सका था किंतु बारामुला, पाखली तथा स्वात के दर्रों को सदैव पार किया जाता रहा।

13वीं सदी ई. का कश्मीर एक स्वतंत्र राज्य था लेकिन वहाँ का हिन्दू राजा जगदेव (1198-1212 ई.) एक कमजोर शासक था। उसके शासन के दौरान एक असंतुष्ट सामंतीय समुदाय दमरा ने विद्रोह किया परंतु इस विद्रोह को दबा दिया गया। लेकिन उसके राजादेव (1212-35 ई.) संग्रामदेव (1235-52 ई.) तथा रामदेव (1252-56) जैसे उत्तराधिकारी अपनी शक्ति को बनाए न रख सके। रामदेव की मृत्यु के बाद दमरा सामंत सिंहदेव (1286-1301 ई.) को शासन पर अधिकार करने का अवसर मिल गया। लेकिन उसके वंश का शासन भी अधिक दिनों तक न चला। तुर्कों के भारत आने के बाद लगभग दो सदियों तक कश्मीर उनके प्रभाव से मुक्त रहा। यद्यपि इससे पहले महमूद गज़नवी ने 1015 ई. तथा 1021 ई. में दो बार कश्मीर पर आक्रमण करने का प्रयास किया लेकिन हिमालय तथा हिन्दुकुश की दुर्गम पहाड़ियों ने उसकी इच्छाओं को पूरा न होने दिया। कश्मीर में कभी भी आक्रमणकारी प्रवेश नहीं कर सकते थे — इस मान्यता को 1320 ई. में उस समय तोड़ दिया गया जबकि सेनापति दुलाचा ने कश्मीर पर आक्रमण कर उसे पराजित करने में सफलता प्राप्त की और अथाह संपत्ति को लूटा। लेकिन भयंकर तूफान के कारण बनिहाल दर्रे पर उसकी मृत्यु हो गई।

इस आक्रमण के गहरे प्रभाव हुए। इसने कश्मीर में मुसलमान शासन की स्थापना के मार्ग को प्रशस्त कर दिया। जिस ढंग से राजा सहदेव ने मंगोल समस्या का सामना किया, तथा मंगोलों द्वारा कश्मीर में भयंकर तबाही के कारण कश्मीर की जनता में असंतोष बढ़ा। इस स्थिति का लाभ लद्दाख के भौटा राजकुमार रिंचन ने उठाया और 1320 ई. में उसने सिंहासन पर अधिकार कर लिया। उसने शीघ्र ही इस्लाम को स्वीकार कर लिया और उसने सुल्तान सद्रुद्दीन की उपाधि धारण की। उसकी हत्या के बाद कश्मीर राज्य में लम्बे समय तक अराजकता की स्थिति बनी रही। बाद में शहाबुद्दीन (1356-74) ने सल्तनत को मजबूत आधार प्रदान करने का प्रयास किया। जिस समय 1398 ई. में तैमूर लंग ने भारत पर आक्रमण किया, उसने फौलाद बहादुर तथा ज़ैनुद्दीन को कश्मीर के सुल्तान सिकन्दर के पास दूत बनाकर भेजा और उन्होंने सुल्तान से विशाल धन-राशि की मांग की। इससे एक बार फिर कश्मीर में अराजकता फैल गई। 1420 ई. में ज़ैन-उल आबेदीन कश्मीर के सिंहासन पर बैठा। उसने सन् 1470 तक 50 वर्षों के लिए कश्मीर में कुशलतापूर्वक शासन किया। उसने अपने राज्य की सीमाओं को पश्चिमी तिब्बत तक बढ़ा दिया और लद्दाख तथा शैल पर अधिकार कर लिया। लेकिन उसकी उपलब्धियों को शीघ्र ही उसके उत्तराधिकारियों ने नष्ट कर दिया। उसकी मृत्यु ने आंतरिक कलह को जन्म दिया। अंततः 16वीं सदी के प्रारंभ में सैय्यद शासकों ने कश्मीर राज्य की सत्ता को प्राप्त कर लिया।

सैय्यदों के शासन तक दिल्ली के सुल्तानों एवं कश्मीर के शासकों के बीच कोई संघर्ष नहीं हुआ। लेकिन बहलोल लोदी के समय में कश्मीर एवं दिल्ली के बीच संबंध तनावपूर्ण हो गये। **तबकात-ए अकबरी** के अनुसार हैदर शाह (1470-72) की मृत्यु के बाद उत्तराधिकार के लिए प्रारंभ हुए संघर्ष में बहलोल लोदी के आदेश पर पंजाब के गवर्नर तातार खाँ ने सुल्तान हसन के चाचा बहराम खाँ का पक्ष लिया। सुल्तान हसन ने बहराम खाँ का वध करने में सफलता प्राप्त की। तातार खाँ के द्वारा बहराम खाँ की सहायता करने से सुल्तान हसन नाराज हो गया। उसने मलिक ताज़ि भट्ट को पंजाब पर आक्रमण करने के लिए भेजा। ताज़ि भट्ट ने न केवल तातार खाँ को पराजित किया बल्कि उसने सियालकोट पर अधिकार कर लिया। सुल्तान हसन की मृत्यु (1484) के बाद सैय्यद हसन के पुत्र सैय्यद मौहम्मद के

आदेश पर तातार खाँ ने कश्मीर पर एक बार फिर आक्रमण किया। जम्मू एव कश्मीर की संयुक्त सेनाओं के सामने तातार खाँ को पराजय का मुंह देखना पड़ा।

बोध प्रश्न 1

1) कश्मीर के एक स्वतंत्र राज्य के रूप में उदित होने में भूगोल की भूमिका की विवेचना कीजिए।

....
....
....
....
....
....
....
....

2) ज़ैन-उल आबेदीन कौन था?

....
....
....
....
....
....
....
....

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

24.3 उत्तर-पश्चिम : राजपूताना

भारत के वर्तमान उत्तर-पश्चिम क्षेत्र के अंतर्गत राजस्थान, गुजरात का एक भाग तथा पंजाब आता है। भौगोलिक दृष्टिकोण से इस क्षेत्र के अंतर्गत थार का वह विशाल रेगिस्तान है जिसमें बीकानेर, जैसलमेर तथा बाढ़मेर आते हैं। दक्षिण-उत्तर क्षेत्र में कच्छ का वह मैदान है जिसके अंतर्गत नगर पारकर का राज्य फला-फूला। अरावली पहाड़ियों की तलहटी में प्रसिद्ध मेवाड़ राज्य, डूंगरपुर, बांसवाड़ा, चित्तौड़ तथा रणथम्भौर का विकास हुआ। इस क्षेत्र में राजपूतों के कबीलाई राजतंत्रों के उदय से पूर्व भील, मीना, मेर तथा जाट यहाँ की स्थानीय जातियाँ थीं। ये जातियाँ भिन्न-भिन्न इलाकों में फैल गईं। भीलों की प्रमुखता मेवाड़ डूंगरपुर तथा बांसवाड़ राज्यों में थी और मीना, मेर तथा जाट क्रमशः जयपुर, जोधपुर तथा बीकानेर में प्रमुख थे। इन स्थानीय जातियों को राजतंत्र स्थापित करने में सफलता प्राप्त न हो सकी। जबकि राजपूत जो भारत के उत्तर-पश्चिम भाग से आये थे, इस कार्य में सफल हुए।

जैसलमेर के भाटी पंजाब में स्थित सतलज नदी के मैदान से आये थे और सिसोदिया दक्षिण भारत में नर्मदा नदी की घाटी से। मध्य भारत में स्थित नरवर से कछवाहा आये तथा जोधपुर एवं बीकानेर के राठौरों के संबंध कन्नौज क्षेत्र से थे। राजपूतों के विस्थापन से कुछ महत्वपूर्ण प्रवृत्तियों की ओर संकेत प्राप्त होता है। प्रारंभ में वे नदियों के किनारों पर बसे और यहाँ पर उनको पर्याप्त मात्रा में पानी उपलब्ध हुआ तथा खेती करने के लिए अच्छी भूमि। जिस समय आबादी में वृद्धि हुई और उत्तराधिकार या अन्य विषयों को लेकर झगड़े बढ़ने लगे, तब कमजोर वर्ग उन क्षेत्रों की ओर प्रस्थान कर गये जहाँ पर जनसंख्या कम थी और ऐसी कोई राजनीतिक शक्ति विद्यमान न थी जो इन नये आगन्तुकों का अपने-अपने क्षेत्रों में विरोध कर पाती। ये नये आगन्तुक वहाँ की मूल जातियों की तुलना में राजनीतिक संगठन तथा युद्ध करने की कला में कहीं अधिक कुशल थे। इन नये आगन्तुकों की संख्या कम होने के कारण उन्होंने

स्थानीय कबीलों पर नियंत्रण स्थापित करने के लिए दोहरी नीति का अनुसरण किया। प्रथम, शक्ति का प्रयोग किया और दूसरे सामाजिक-धार्मिक उपायों को अपनाया।

शक्ति के प्रदर्शन और अपनी स्थिति को सुदृढ़ करने के लिए उन्होंने पहले किलों का निर्माण कराया। दूसरा कार्य सामाजिक-धार्मिक दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण था। विस्थापित जातियों ने मस्तक पर तिलक लगाने की एक परंपरा का प्रारंभ किया। इस तिलक लगाने की परंपरा के अनुसार प्रत्येक उत्तराधिकारी सरदार के मस्तक पर एक स्थानीय जाति या कबीले के सदस्य द्वारा तिलक लगाया जाता था। उदाहरण के तौर पर मेवाड़ में भील, बीकानेर में गोदरा जाट तथा जयपुर में मीना अपने क्षेत्रों के उत्तराधिकारी सरदारों के मस्तकों पर तिलक लगाते थे। तिलक लगाने की इस परंपरा के बिना उत्तराधिकारी सरदार को इस क्षेत्र तथा इसकी जनता का वैध सरदार या प्रमुख नहीं माना जाता था। राजपूत वंशों द्वारा 16वीं-17वीं सदियों में मुगल शासकों की अधीनस्थता स्वीकार करने के बावजूद भी स्थानीय जाति द्वारा तिलक करने की यह सामाजिक परंपरा निरंतर जारी रही। राजनीतिक तौर पर मुगल सम्राट इन विशेषाधिकारों का उपयोग करते हुए शासक वंश के परिवार के एक सदस्य को उत्तराधिकारी घोषित करते थे। लेकिन स्थानीय स्तर पर तिलक लगाने के सामाजिक अनुष्ठान के कार्य को स्थानीय जाति के द्वारा ही किया जाता रहा। यह केवल प्रतीकात्मक था जबकि इस प्रथा का अर्थ था कि वास्तविक शक्ति मूल जाति के हाथों में थी। तिलक लगाने का एक तात्पर्य यह भी था कि इन जातियों ने शासन करने की अपनी शक्तियाँ एक ऐसे सरदार को सौंप दी हैं जिसका कर्त्तव्य इस क्षेत्र की जनता की बाहरी आक्रमण से रक्षा करना तथा जनता के लिए लोक हित कार्यों की देखभाल करना था। प्रारंभ में इस सामूहिक रीति का अनुसरण स्थानीय लोगों की भावनाओं का सम्मान करने के लिए किया गया। लेकिन समय के चलते यह परंपरा मात्र एक सामाजिक अनुष्ठान बन कर रह गई। धीरे-धीरे राजपूत लोग क्षेत्र के वास्तविक शासक एवं सरदार हो गये तथा कबीलाई लोग किसान। सरदार लोग सैनिकों तथा स्वयं के रख-रखाव के लिए किसानों से अतिरिक्त उत्पाद को प्राप्त करते थे। इस अतिरिक्त उत्पाद को प्राप्त करने के हेतु इसको धार्मिक स्वरूप प्रदान कर इसे **भोग** कहा गया। **भोग** शब्द से धार्मिक पवित्रता का बोध होता है : देवी-देवताओं की पूजा-अर्चना में चढ़ाई गई भेंट को भी **भोग** कहा गया है। कहने का तात्पर्य यह है कि राजा को ईश्वर का प्रतिनिधि माना गया। इसलिए राजा तथा उसके अधिकारियों को दिए जाने वाले **भोग** को धार्मिक कर्त्तव्य समझा जाता था। इसने राजा के प्रभुत्व को और शक्तिशाली बनाया और स्थानीय लोगों द्वारा विद्रोह किए जाने की संभावनाएं काफी क्षीण हो गई। बाह्य आक्रमण से राज्य की रक्षा करना राजा का अनुबंधित कर्त्तव्य था। कुछ निश्चित भू-भाग पर सरदार के पास सामंतीय अधिकार थे और इसने कबीलाई राज्य से राजतंत्रीय राज्य को जन्म दिया।

24.3.1 गुहिल एवं सिसोदिया

उत्तर-पश्चिम क्षेत्र में जिस सबसे शक्तिशाली राज्य का उदय हुआ वह मेवाड़ का राज्य था। 13वीं शताब्दी के दौरान जैत्र सिंह (1213-61) ने गुहिल शक्ति को सुदृढ़ किया और वह तुर्कों के आक्रमणों का सामना करने से बचा रहा। अलाउद्दीन खलजी ने राणा रतन सिंह को पराजित करने में सफलता प्राप्त की और सन् 1303 में मेवाड़ पर अधिकार कर लिया। 14वीं सदी ई. के दौरान मेवाड़ राज्य में आंतरिक कलहों का बोलबाला हो गया। इसके फलस्वरूप सिसोदिया राजा हमीर के द्वारा मेवाड़ को विजित करने में सफलता प्राप्त हुई। इस तरह मेवाड़ में सिसोदिया राज्य की नींव पड़ी। हमीर ने मेवाड़ राज्य के अधीन अजमेर, जहाजपुर, मण्डलगढ़, छहापेन, बूंदी, नागौर, जालेर तथा साम्भर को कर लिया। लेकिन राणा कुम्भा (1433-68) के शासनकाल में सिसोदिया शक्ति अपने चरमोत्कर्ष पर थी। राणा कुम्भा के शासन काल में एक महत्वपूर्ण घटना यह घटित हुई कि सिसोदियों पर राठौड़ वंश का प्रभाव बढ़ने लगा। राणा कुम्भा किसी तरह से राठौड़ों पर नियंत्रण बनाए रखने में सफल हुआ।

राणा कुम्भा ने मेवाड़ राज्य की सीमाओं को दूर-दराज तक बढ़ाया। लगभग सम्पूर्ण राजस्थान उसके शासन के अधीन हो गया। उसने कोटा, बूंदी, आमेर, नरवर, दुर्गापुर, साम्भर, नागौर, रणथम्भौर, तथा अजमेर पर अधिकार कर लिया। उसने मालवा तथा गुजरात के सुल्तानों के आक्रमणों को कई बार निष्क्रिय किया। (इन झड़पों के विषय में अलग से गुजरात एवं मालवा के भाग में विस्तृत रूप से लिखा जाएगा)। राणा कुम्भा का वध उसके पुत्र उदा के द्वारा कर दिया गया और 1468 में वह सिंहासनारूढ़ हुआ। उदा (1468-73) और उसके उत्तराधिकारी रैमल (1473-1508) के शासनकाल में निरंतर सत्ता के लिए संघर्ष होता रहा और 1508 में अंततः यह संघर्ष तभी समाप्त हुआ जब राणा सांगा ने मेवाड़ के सिंहासन को प्राप्त किया।

24.3.2 वागड़ के गहलौत

मेवाड़ के गुहिल केवल मेवाड़ की सीमाओं तक ही सीमित न थे। 12वीं सदी ई. के प्रारंभ में मेवाड़ का सामंत सिंह अपने राज्य की स्थापना के लिए वागड़ (आधुनिक डूंगरपुर तथा बांसवाड़ा) गया। लेकिन गुजरात के हस्तक्षेप के कारण वह लम्बे समय तक इस क्षेत्र पर अपना नियंत्रण कायम न कर सका। जब वागड़ पर गुजरात का नियंत्रण कमजोर हो गया, तभी सामंत सिंह का एक वंशज जगत सिंह 13वीं सदी ई. में इस क्षेत्र को अपने अधीन कर पाया। 14वीं तथा 15वीं सदियों के दौरान गुहिलों के नियंत्रण को सुदृढ़ किया गया। अक्सर उनके संघर्ष गुजरात के सुल्तान के साथ होते रहते थे। मालवा का सुल्तान भी उनका स्थायी शत्रु था।

गुहिलों की एक दूसरी शाखा खेम सिंह के पुत्र राणा मोकल के नेतृत्व में प्रतापगढ़ गई तथा उसके एक वंशज सूरज मल (1473-1526) के द्वारा 15वीं सदी के अंत में प्रतापगढ़ में एक स्वतंत्र राज्य की स्थापना की गई।

24.3.3 मारवाड़ के राठौड़

13वीं सदी ई. के मध्य राठौड़ों ने कन्नौज से पाली की ओर विस्थापन किया। राठौड़ सरदार सिहा ने पाली के ब्राह्मणों को मेर तथा मीनाओं के आक्रमण से मुक्त करने में मदद की। इस तरह से लगभग सन् 1243 ई. के आसपास उसने इस क्षेत्र पर अपने प्रभुत्व को स्थापित कर दिया और इसके बाद से राठौड़ सरदारों ने अपने शासन को इदर, मल्लानि, मंदसौर, जैसलमेर, बाड़मेर, अमरकोट एवं भीनमल पर स्थापित कर दिया। राठौड़ शक्ति राव चुण्डा (1384-1423) तथा राव जोधा (1438-89) के शासनकालों में अपने चरमोत्कर्ष पर थी।

1395 ई. में राव चुण्डा ने दहेज में मन्दसौर को प्राप्त किया। बाद में उसने अपने प्रभाव को खातू, डीडवाना, साम्भर, नागौर तथा अजमेर तक फैला दिया जो दिल्ली सुल्तान के अधीन था। चुण्डा की बढ़ती शक्ति को चुनौती देने के लिए भाटियों, संखालों तथा मुल्तान के गवर्नर ने एक गुट बनाया। उन्होंने नागौर पर आक्रमण किया तथा 1423 ई. में चुण्डा का वध कर दिया। राव जोधा के अधीन राठौड़ एक महत्वपूर्ण शक्ति बन गए और उसने आगे अपने प्रभाव क्षेत्र को बढ़ाते हुए मेड़ता, फालोदी, पोखरान, भद्राजुन, सोजत, जैतारन, सिवाना, गौडवदा तथा नागौर के कुछ भागों को अपने अधीन कर लिया। राव शुजा के शासनकाल के दौरान (1492-1515) राठौड़ शक्ति के पतन के संकेत मिलने लगे। बीरन देव ऐसा प्रथम सरदार था जिसने अपनी स्वतंत्रता की घोषणा की। इसके तुरंत बाद बाडमेर तथा पोखरन के सरदारों ने राठौड़ राज्य से अपने संबंध तोड़ लिये।

राठौड़ शक्ति केवल मारवाड़ क्षेत्र तक सीमित न थी और जोधा (11438-89) के पुत्र बीका के नेतृत्व में इसका प्रसार जंगल अर्थात् आधुनिक बीकानेर की ओर हुआ। बीका ने लगभग 1465 ई. में जंगल की ओर विस्थापन किया। उसने पुंगल के राव शेखा के साथ वैवाहिक संबंध स्थापित करके अपनी स्थिति को मजबूत किया। राव शेखा ने अपनी पुत्री को उसे विवाह में दिया। इस क्षेत्र के जाटों ने भी उसके सम्मुख आत्मसमर्पण कर दिया। सन् 1488 ई. में उसने बीकानेर नगर की स्थापना की और यह सत्ता का एक केंद्र बन गया। अपने पिता की मृत्यु के बाद बीका ने अपने पूर्वजों की जोधपुर गद्दी को प्राप्त करने का असफल प्रयास किया। उसने पंजाब के भी कुछ क्षेत्रों को विजित किया। 1504 में उसकी मृत्यु के समय उसके नियंत्रण में एक विशाल भू-भाग था।

24.3.4 छोटे राजपूत राज्य

उपरोक्त उद्धृत किए गए राजपूत राज्यों के अतिरिक्त राजपूताना में 13वीं सदी ई. से 15वीं सदी ई. के बीच अन्य कई छोटे "राज्यों" का उदय हुआ। सबसे महत्वपूर्ण जैसलमेर के भाटी थे। उन्होंने 11वीं सदी ई. के प्रारंभ में पंजाब से थार रेगिस्तान की ओर विस्थापन किया। संपूर्ण 14वीं एवं 15वीं सदियों के दौरान जैसलमेर शासकों के लगातार मेवाड़, मुल्तान, अमरकोट तथा बीकानेर के साथ संघर्ष होते रहे।

इसके बाद कछवाह आते हैं। उन्होंने मध्य भारत से धुन्धर की ओर विस्थापन किया। वे गुर्जर-प्रतिहार शासकों के सामन्त थे। 11वीं सदी ई. के दौरान कछवाह सरदार दुलाह राय ने नरवर से पूर्वी राजस्थान को विस्थापन किया तथा वहाँ पर उसने बड़गूजर को पराजित कर धुन्धर राज्य (आमेर, आधुनिक जयपुर) की स्थापना की। 15वीं सदी ई. के दौरान कछवाहों ने आमेर, मेद, बैराट तथा शेखवती क्षेत्र पर नियंत्रण बनाए रखा। मुगल शासन के दौरान उनका महत्व बढ़ गया।

हम पहले ही इकाई 9 में पढ़ चुके हैं कि जिस समय तुर्कों ने आक्रमण किया उस समय चौहान एक महत्वपूर्ण शक्ति थे। तुर्कों के हाथ पृथ्वीराज की पराजय (1192 ई. का तराइन का दूसरा युद्ध) के बाद चौहानों की शक्ति का पतन हो गया। उसके बाद जालौर, रणथम्भौर, नादोल, सिरोही तथा हडौती जैसे छोटे-छोटे सत्ता के केंद्रों का उद्‌भव हुआ और ये राज्य एक समय दिल्ली सल्तनत के भाग बन गए (देखें इकाई 14)। ये राज्य इतने कमजोर थे कि ये मेवाड़ या मारवाड़ के प्रहारों का सामना नहीं कर सकते थे।

13वीं सदी ई. के मध्य में किसी समय हाड़ाओं ने बूंदी-कोटा क्षेत्र में एक छोटा सा राज्य स्थापित करने में सफलता प्राप्त की। वे मेवाड़ के राजा के सामन्त थे। समर सिह ने सन् 1253-54 ई. में बलबन के आक्रमण के विरुद्ध अपने राज्य की रक्षा करने में सफलता प्राप्त की, लेकिन वह अलाउद्‌दीन के शक्तिशाली प्रहार का सामना न कर सका और युद्ध करते हुए वह मारा गया। सन् 1304 ई. में उसके पुत्र नपूज का भी अलाउद्‌दीन के हाथों वही हाल हुआ। 15वीं सदी ई. के दौरान हाड़ा शासकों ने मेवाड़, गुजरात तथा मालवा राज्यों को काफी नजराना दिया। वास्तव में, 13वीं सदी ई. से 15वीं सदी ई. के बीच बूंदी राज्य का नाम मात्र का अस्तित्व था।

13वीं-15वीं सदियों के दौरान अमरकोट एवं बाड़मेर क्षेत्र में करावी तथा सोधा के यादवों का एक राजनीतिक शक्ति के रूप में उदय हुआ। लेकिन 13वीं सदी ई. से 15वीं सदी ई. के बीच उन्होंने क्षेत्रीय शक्तियों के निर्माण में कोई विशेष योगदान नहीं किया।

बोध प्रश्न 2

1) राजपूत कबीलों ने उत्तर-पश्चिम भारत में अपने राजतंत्रों को स्थापित करने में कैसे सफलता प्राप्त की?

....
....
....
....
....
....
....
....

MAADHYAM IAS

2) राठौड़ कौन थे?

....
....
....
....
....
....
....
....

3) राजा कुम्भा की शक्ति के उदय की संक्षिप्त विवेचना कीजिए।

....
....
....
....
....

24.4 गुजरात

8वीं सदी ई.-12वीं सदी ई. के बीच गुजरात राज्य में चालुक्यों के उद्भव के विषय में आप खंड 3 की इकाई 9 में पहले ही पढ़ चुके हैं। सल्तनत की स्थापना के बावजूद भी 13वीं सदी ई. के दौरान गुजरात पर चालुक्यों का नियंत्रण बना रहा। खंड 4 की इकाई 15 में आप पढ़ चुके हैं कि अलाउद्दीन के सेनापतियों उलुग खां तथा नुसरत खां ने किस तरह से चालुक्य शासक राजा करण बघेला को पराजित किया और इस प्रकार उन्होंने गुजरात में सल्तनत राज्य की नींव रखी। संपूर्ण 14वीं सदी ई. में दिल्ली के सुल्तानों की गुजरात पर सर्वोच्चता बनी रही। लेकिन फिरोज़शाह के समय से सल्तनत का नियंत्रण कमजोर होता दिखायी पड़ता है। उसने शमसुद्दीन दमघनी को गुजरात का गवर्नर नियुक्त किया। 1398 ई. में तैमूर के आक्रमण के समय गुजरात को केंद्र से अलग होने का एक सुअवसर प्राप्त हो गया। इसके शीघ्र बाद ही उस समय गुजरात के गवर्नर जफरशाह (बाद में उसने मुजफ्फर शाह की उपाधि को धारण किया) ने 1407 ई. में गुजरात में एक स्वतंत्र राज्य की स्थापना की।

अपनी स्वतंत्र स्थापना के समय से ही गुजरात राज्य का अपने पड़ोसियों – मालवा, राजपूताना, खानदेश तथा बहमनी राज्यों के साथ संघर्ष हुआ।

24.4.1 मालवा के साथ संबंध

मालवा के शासक गुजरात राज्य के परंपरागत शत्रु थे। 1408 ई. में मुजफ्फर शाह ने मालवा पर आक्रमण किया और मालवा के शासक होशंग शाह को बंदी बना लिया। यद्यपि होशंग शाह ने गुजरात की अधीनस्थता को स्वीकार कर लिया था किंतु वह गुजरात की बढ़ती शक्ति के प्रति ईर्ष्यालु था। गुजरात की शक्ति को कम समझकर मालवा के शासक ने गुजरात राज्य के शत्रुओं के साथ मित्रता कर ली। लेकिन गुजरात के शासक अहमद शाह ने होशंग शाह की शक्ति को कुचल दिया। बाद में कुतबुद्दीन अहमद शाह II के शासनकाल में (1451-59) मालवा के महमूद खलजी ने गुजरात पर आक्रमण किया, लेकिन उसके इस आक्रमण को गुजरात ने असफल कर दिया। बाद में, मेवाड़ के शासक राणा कुम्भा को पराजित करने के लिए महमूद खलजी ने कुतबुद्दीन अहमद शाह II के साथ गठबंधन बना लिया। लेकिन महमूद खलजी का यह कार्य शुद्ध तौर पर कूटनीतिक था और उसने ऐसे किसी भी सम्भावित अवसर को नहीं छोड़ा जिसके द्वारा वह गुजरात की प्रतिष्ठा को आघात कर सकता था।

MAADHYAM IAS

24.4.2 राजपूताना के साथ संबंध

जिस अन्य शक्ति के साथ गुजरात लगातार संघर्षरत रहत, वह राजपूताना था। जिस प्रथम राजपूत राज्य को गुजरात का भाग बनाया गया वह इदर था। अहमद शाह ने शीघ्र ही डूँगरपुर पर (1433 ई.) अधिकार कर लिया। बाद में कुतबुद्दीन (1451-59) और महमूद बेगड़ा (1459-1511) को मेवाड़ के शासक राणा कुम्भा का सामना करना पड़ा। जैसा कि हम पहले ही देख चुके हैं कि राणा ने सिरोही, आबू तथा नागौर पर अधिकार कर लिया। सिरोही, आबू तथा नागौर पर अहमद शाह के चाचा फिरोज़शाह का शासन था। राणा की इस कार्यवाही के फलस्वरूप राणा कुम्भा को गुजरात, सिरोही तथा नागौर के संयुक्त आक्रमण का मुकाबला करना पड़ा। इस युद्ध का अंतिम परिणाम यह हुआ कि राणा को भारी हर्जाना देकर शांति करनी पड़ी। कुम्भलगढ़ पर दो बार अधिकार होने के बावजूद राणा कुम्भा अपनी राजधानी को अपने पास रखने में सफल रहा।

चम्पानेर के राजपूत राज्य का भी गुजरात के साथ संघर्ष होता रहता था। लेकिन सन् 1483-84 ई. में महमूद बेगड़ा ने अंतिम तौर पर इस राज्य को गुजरात राज्य में मिला लिया और इसका नाम महमूदाबाद रख दिया गया तथा यह गुजरात राज्य की दूसरी राजधानी हो गया। महमूद बेगड़ा के समय में अन्य छोटी राजपूत रियासतों जैसे--जूनागढ़, सोरठ, कच्छ तथा द्वारका पर अधिकार कर लिया गया और मुजफ्फर शाह के शासनकाल के दौरान गुजरात राज्य की सीमाएं दूर-दराज के स्थलों जैसे कि काठियावाड़ प्रायद्वीप तक पहुंच गईं।

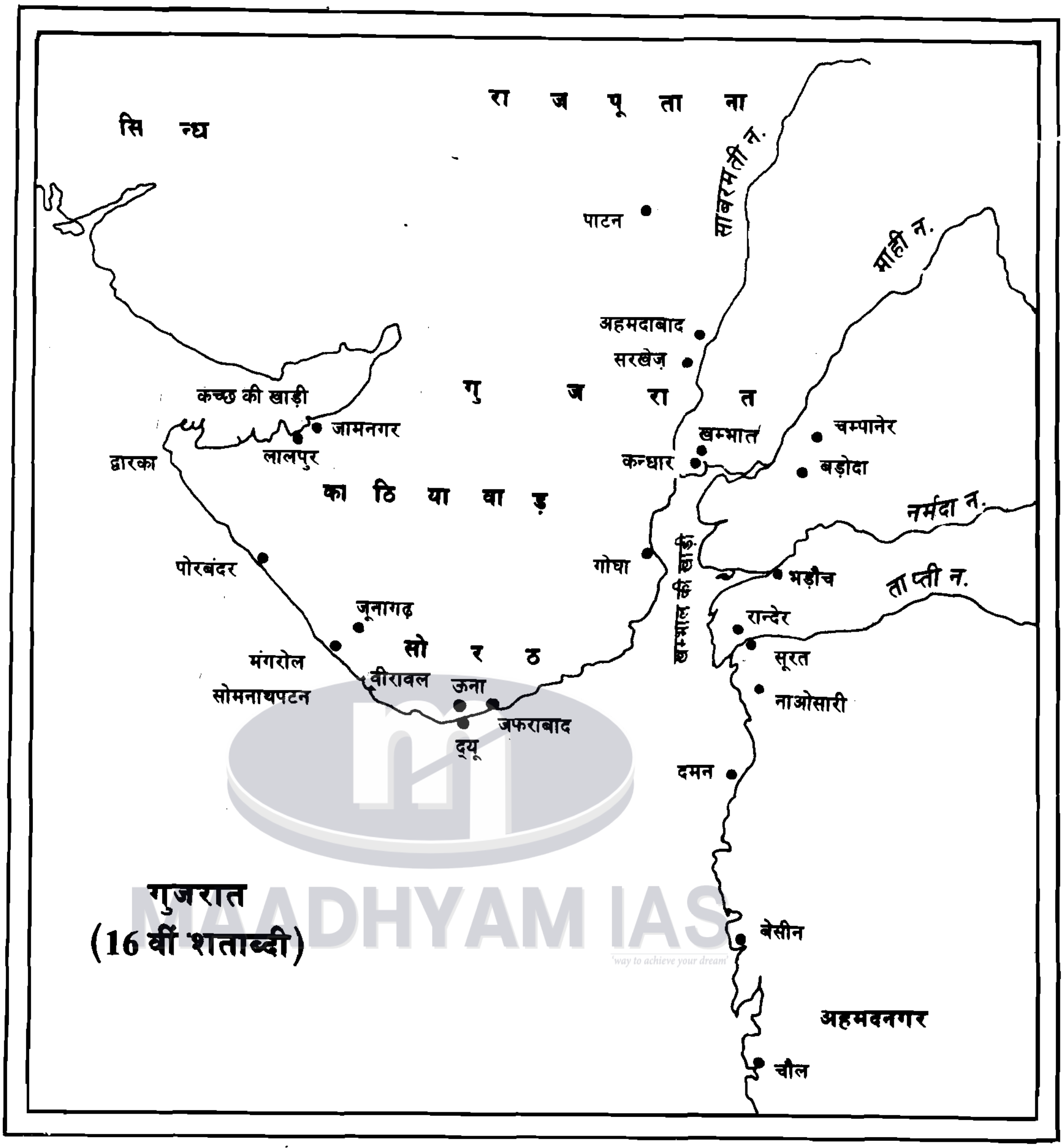

24.4.3 बहमनी तथा खानदेश के साथ संबंध

बहमनी शासक फिरोज़शाह के गुजरात शासकों के साथ मधुर संबंध बने रहे। लेकिन उसकी मृत्यु के बाद अहमद बहमनी के सत्तासीन (1422-1436) होने के साथ इस स्थिति में गुणात्मक परिवर्तन हुआ। उसने खानदेश के साथ वैवाहिक संबंध स्थापित किये। 1429 ई. में बहमनी तथा खानदेश खानदेश ने झालावाड़ के शासक राय कान्हा को शरण दी। इस कार्य ने गुजरात के शासक अहमदशाह गुजराती को भड़काया और उसको उनके विरुद्ध बल प्रयोग करना पड़ा। उसने उनको पराजित कर दिया और माहिम पर अधिकार कर लिया। लेकिन बेगड़ा के समय में पुनः सौहार्दपूर्ण संबंधों को स्थापित किया गया। जिस समय मालवा के शासक महमूद खलजी ने बहमनी राज्य पर आक्रमण किया, तब महमूद बेगड़ा इसका पीछा करने के लिए दो बार आया।

महमूद बेगड़ा ने खानदेश शासकों के साथ भी मित्रतापूर्ण संबंध बनाए रखे, लेकिन आदिल खां ने नजराना देना बंद कर दिया और अहमदनगर तथा बरार के साथ मिल गया। इसी

कारण से महमूद बेगड़ा ने खानदेश पर आक्रमण किया और अंततः आदिल खां को महमूद बेगड़ा की अधीनस्थता को स्वीकार करने के लिए बाध्य किया गया। लेकिन बेगड़ा ने खानदेश या दौलताबाद पर अधिकार नहीं किया बल्कि उसने यहाँ के शासकों को केवल नजराना अदा करने के लिए बाध्य किया।

महमूद बेगड़ा के सिंध के शासक जाम निजामुद्दीन के साथ भी घनिष्ठ सम्बन्ध थे। निजामुद्दीन उसका नाना था और जब सिंध के कबीलाई लोगों ने उसके विरुद्ध विद्रोह किया तब वह निजामुद्दीन की सहायता करने के लिए गया।

महमूद बेगड़ा ने भारतीय समुद्र में उदित होती पुर्तगाल की शक्ति का भी दमन किया। इस कार्य में उसे मिश्र के शासकों तथा ऑटोमन शासकों द्वारा भेजे गए उनके सेनापतियों अमीर हुसैन तथा सुलेमान रईस ने सहायता प्रदान की। इनकी संयुक्त सेनाओं ने सन् 1508 ई. में चौल में पहली बार पुर्तगाल के जहाजी बेड़े को पराजित किया। और 1509 ई. में अलवुकर्क ने इस संयुक्त सेना को पराजित किया दिया। इसके फलस्वरूप महमूद बेगड़ा ने सन् 1510 में पुर्तगालियों के साथ एक संधि की और उनसे अरब सागर में गुजरात के जहाजों की सुरक्षा का आश्वासन प्राप्त किया।

सन् 1508 में दिल्ली के सुल्तान सिकन्दर लोदी ने अपना एक दूत गुजरात भेजा। सिकन्दर लोदी तथा ईरान के इस्माइल सफवी जैसे शासकों के दूतों के गुजरात आने से गुजरात के शासक की प्रतिष्ठा में बहुत वृद्धि हुई। इससे यह स्पष्ट है कि समकालीन राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में महमूद बेगड़ा का महत्वपूर्ण स्थान बन गया था।

24.5 सिंध

भारत की पश्चिमी सीमा पर स्थित सिंध एक दूसरा स्वतंत्र राज्य था। सिंध राज्य में मुसलमान शक्ति की स्थापना का इतिहास सन् 712 में उस समय से प्रारंभ होता है जब मौहम्मद बिन कासिम ने सिंध पर आक्रमण किया। ऐसा प्रतीत होता है कि सुमीरों ने सिंध में अपनी शक्ति की स्थापना किसी समय 10वीं सदी ई. में की थी। उनके शासन के विषय में हमें कोई विशेष जानकारी नहीं है और न ही उनके पड़ोसी राज्यों के साथ संबंध के बारे में। लेकिन यदा-कदा उद्धरणों से स्पष्ट है कि उनका प्रभाव देबल तथा मकरान समुद्र तट तक फैला हुआ था। कच्छ के कुछ क्षेत्रों पर भी उनका प्रभाव था। **तारीख-ए जहाँगुशा** के अनुसार सन् 1224 ई. में ख्वारिज़्म के शासक जलालुद्दीन मंगबर्नी ने सुमीर राजकुमार चानेसर को पराजित किया तथा देबल व दमरिल्ह पर अधिकार कर लिया। इल्तुतमिश के शासनकाल में उसके वजीर निजाम-उल मुल्क जुनैदी ने 1228 ई. में सिंध पर अधिकार कर लिया तथा इसके शासक चानेसर को इल्तुतमिश के दरबार में भेज दिया गया। बाद में 1350-51 ई. में मौहम्मद तुगलक ने विद्रोही कुलीन तगी का पीछा करते हुए थट्टा पर आक्रमण किया।

1351 ई. में सम्माहों ने सुमीरों को हराकर उनका स्थान ग्रहण कर लिया। उन्होंने सिंध में 175 वर्षों तक शासन किया। **चचनामा** में यह उद्धृत है कि सम्माह मौहम्मद बिन कासिम की विजय से पूर्व भी सिंध में निवास करते थे। वे मूल तौर पर राजपूतों की यादव शाखा से संबंधित थे और बाद में उन्होंने इस्लाम स्वीकार कर लिया। वे मुख्य तौर पर खेती करते थे और उनकी भूमि सुमीरों के अधीन थे। 1360-61 ई. में तथा पुनः 1362 ई. में फिरोज़शाह तुगलक ने जाम जौना तथा थट्टा के बनबेनिया पर आक्रमण किये। जाम को आत्मसमर्पण करना पड़ा। लेकिन 1388 ई. में फिरोज़शाह तुगलक की मृत्यु के तुरंत बाद सम्माहों ने सल्तनत के विरुद्ध विद्रोह कर दिया और जाम तुगलक के नेतृत्व में स्वतंत्र हो गये। सिंध के जाम शासकों के गुजरात के साथ सौहार्दपूर्ण संबंध थे। जाम निज़ामुद्दीन ने अपनी दो पुत्रियों का विवाह गुजरात के शासक के साथ किया और महमूद बेगड़ा उसकी छोटी पुत्री बीबी मुगली का पुत्र था। हम पहले ही देख चुके हैं कि 1472 ई. में महमूद बेगड़ा उस समय जाम निज़ामुद्दीन की सहायता के लिए आया जिस समय समुद्री डाका डालने वाले कबीलों ने विद्रोह करके जाम के प्रभुत्व के लिए खतरा उत्पन्न कर दिया था। सिंध के जाम शासकों में जाम निज़ामुद्दीन (1460-1508) सबसे महान् शासक था और उसके मुल्तान के शासक सुल्तान हुसैन के साथ घनिष्ठ संबंध थे। ईरान के इल खान वंश के अर्घुन शासकों ने जाम निज़ामुद्दीन के शासन के अंतिम वर्षों (1493 ई.) में जाम शक्ति के लिए खतरा उत्पन्न कर

दिया। लेकिन जब तक जाम निज़ामुद्दीन जीवित रहा, तब तक अर्घुनों के आक्रमण सफल न हो सके। लेकिन 1508 ई. में उसकी मृत्यु के बाद अर्घुनों ने 16वीं सदी के दौरान अपना राज्य स्थापित करने में सफलता प्राप्त कर ली।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

बोध प्रश्न 3

1) मालवा के शासकों के साथ गुजरात राज्य के संबंधों की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।

....

....

....

....

....

....

....

....

2) सम्माह कौन थे?

....

....

....

....

....

....

....

....

24.6 सारांश

इस इकाई में हमने 13वीं सदी ई. से 15वीं सदी ई. तक उत्तर-पश्चिम भारत में क्षेत्रीय राज्यों के उदय के विषय में विवरण किया। हम देख चुके हैं कि कश्मीर का सल्तनत से बाहर एक स्वतंत्र राज्य के रूप में उदय हुआ। बहलोल लोदी के शासनकाल को छोड़कर 13वीं सदी से 15वीं सदी ई. तक कश्मीर के संबंध सल्तनत के साथ सौहार्दपूर्ण बने रहे। राजपूताना में जातीय संगठन पर आधारित गुहिल, सिसोदिया एवं राठौड़ जैसे महत्वपूर्ण राज्यों का उदय हुआ। सल्तनत के पतन के परिणामस्वरूप गुजरात एक स्वतंत्र राज्य बन गया। 15वीं सदी के प्रारंभ में इसने एक स्वतंत्र राज्य का दर्जा प्राप्त कर लिया था। गुजरात अपने पड़ोसी राज्यों – मालवा, राजपूताना तथा बहमनी – के साथ लगातार संघर्षरत रहा। इसी दौरान सुदूर पश्चिम स्थित सिंध राज्य ने सुमीरों तथा सम्माहों के अधीन सल्तनत के दासत्व को उतार फेंकने का भरसक प्रयास किया। अपने इस उद्देश्य को वह फिरोज़शाह तुगलक की मृत्यु के बाद ही प्राप्त कर सका।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

24.7 शब्दावली

भोग : भू-राजस्व; देवता को दी जाने वाली भेंट

गद्दी : सिंहासन

जाम : यह एक उपाधि थी जिसको सिंध के सम्माह शासकों ने धारण किया

अर्घुन : ईरान के इल खां शासक के वंशज

24.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) देखें भाग 24.2
2) देखें भाग 24.2

बोध प्रश्न 2

1) देखें भाग 24.3
2) देखें उपभाग 24.3.1, 24.3.2
3) देखें उपभाग 24.3.3

बोध प्रश्न 3

1) देखें उपभाग 24.4.1
2) देखें भाग 24.5

इकाई 25 उत्तर भारत में राज्य, प्रशासन और अर्थव्यवस्था

इकाई की रूपरेखा

25.0 उद्देश्य
25.1 प्रस्तावना
25.2 उत्तर भारत में क्षेत्रीय राज्यों की चरित्रगत विशेषताएं
25.3 उत्तराधिकारी राज्यों के रूप में उत्तर भारतीय राज्य
25.4 उत्तराधिकार का प्रश्न
25.5 वैधता का मामला
25.6 प्रशासनिक ढांचा
25.7 राजस्व प्रशासन
25.8 सामंत और भूमिधर कुलीन वर्ग
25.9 अर्थव्यवस्था
25.10 सारांश
25.11 शब्दावली
25.12 बोध प्रश्नों के उत्तर

25.0 उद्देश्य

इस इकाई में हम उत्तरी भारत के राज्यों की राज्य व्यवस्था, प्रशासन और अर्थव्यवस्था पर विचार-विमर्श करेंगे। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- क्षेत्रीय राज्यों की चरित्रगत विशेषताओं का उल्लेख कर सकेंगे,
- उत्तराधिकार के मुद्दे पर प्रकाश डाल सकेंगे,
- राजाओं द्वारा अपनी प्रभुसत्ता को वैध बनाने की चेष्टाओं को रेखांकित कर सकेंगे,
- प्रशासनिक तंत्र के बारे में बता सकेंगे, और
- राजनीतिक व्यवस्था में राजस्व और अर्थव्यवस्था के निर्धारण में सामंतों और भूमिधर कुलीनतंत्र की भूमिका का उल्लेख कर सकेंगे।

25.1 प्रस्तावना

इस इकाई में उत्तर भारत का मतलब विंध्य पर्वत शृंखला के उत्तर में स्थित समस्त प्रदेश से है, उत्तर में कश्मीर, उत्तर-पश्चिम में राजपूताना, सिंध, मुल्तान और गुजरात; मध्य में मालवा और जौनपुर; पूर्व में उड़ीसा, बंगाल, असम के कमाटा और अहोम क्षेत्र इसके अंतर्गत शामिल किए गए हैं। दिल्ली और इसके आसपास के इलाके भी उत्तर भारत में ही पड़ते हैं, परन्तु इस इकाई में हम उनका ज़िक्र नहीं कर रहे हैं क्योंकि यहाँ हमारा उद्देश्य क्षेत्रीय राज्यों पर विचार-विमर्श करना है जबकि यह क्षेत्र दिल्ली सल्तनत में आता था। इस इकाई में क्षेत्रीय राज्यों की चरित्रगत विशेषताओं, उनके प्रशासनिक ढांचे और क्षेत्रीय राजनीतिक व्यवस्था में सामंत वर्ग की भूमिका का विश्लेषण करने का प्रयास भी किया जाएगा।

25.2 उत्तर भारत में क्षेत्रीय राज्यों की चरित्रगत विशेषताएं

आम तौर पर यह धारणा बनी हुई है कि सल्तनत काल में हिंदुओं और मुसलमानों के बीच जो बैर-भाव था, वह 13वीं-15वीं शताब्दी के दौरान और बढ़ा और उनके आपसी झगड़ों तथा

संघर्षों में वृद्धि हुई। पर श्वाज़बर्ग ने इस बात का खंडन करते हुए सही कहा है कि इस काल में हिंदू और मुसलमान शासकों के बीच संघर्ष की अपेक्षा मुसलमान और मुसलमान राजाओं तथा हिंदू और हिंदू राजाओं के बीच प्रायः अधिक गहरे संघर्ष हुए। उदाहरण के लिए, मालवा और जौनपुर के मुसलमान शासक गुजरात के परम्परागत दुश्मन थे; कमाटा और अहोम के राजाओं के बीच आए दिन युद्ध हुआ करते थे; उड़ीसा के शासकों को हमेशा विजयनगर के शासकों का आक्रमण सहना पड़ा और राजपूताना के विभिन्न राजवंश आपस में लड़ा करते थे। उन्होंने अपार संकट की स्थिति में भी एकता की भावना प्रदर्शित नहीं की। वस्तुतः राजनीतिक संधियों में धर्म की अपेक्षा समय और परिस्थिति की अधिक भूमिका रही। 1450-51 में महमूद शाह गुजराती के खिलाफ मालवा के महमूद खलजी प्रथम ने चम्पानेर के राजा गंगा दास की सहायता की थी। बाद में, मेवाड़ के राणा कुंभा की शक्ति को देखते हुए महमूद खलजी ने राणा के खिलाफ गुजराती शासक कुतबुद्दीन की सहायता की।

13वीं-15वीं शताब्दी की राजनीतिक व्यवस्था का एक खास गुण यह था कि इस काल की राजनीतिक व्यवस्था का फैलाव ''उर्ध्व'' था, न कि ''क्षैतिज''। अर्थात् इन क्षेत्रीय राज्यों का भू-क्षेत्र सल्तनत के मुकाबले काफी कम था, पर यहाँ राजनीतिक व्यवस्था ग्रामीण इलाकों तक गहराई से जमी हुई थी। (अधिक जानकारी के लिए इकाई 23 और 24 देखिए)।

क्षेत्रीय शासकों के अधीनस्थ भू-क्षेत्र के अधिकांश हिस्सों में उनकी पकड़ कमजोर थी; जहाँ उनका लगभग पूर्ण नियंत्रण होता था, वहाँ भी उन्हें प्रायः कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था। नियंत्रण के आधार पर उनके अधिकार क्षेत्र को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है :

i) जिस क्षेत्र से भू-राजस्व सीधे राजस्व पदाधिकारियों द्वारा वसूल किया जाता था, वहाँ राज्य का प्रभाव और नियंत्रण सबसे ज्यादा होता था।

ii) जिन इलाकों का राजस्व स्थानीय सरदार वसूल करते थे, वहाँ भी राज्य का नियंत्रण पर्याप्त होता था।

iii) जिन क्षेत्रों से केवल नज़राना आता था, वहाँ राज्य का नियंत्रण सबसे कम था। इस व्यवस्था का सीधा प्रभाव क्षेत्रीय शासकों और सामंतों, करदाता सरदार या राजा और स्थानीय कुलीन वर्ग (तथाकथित **ज़मींदार, मुकद्दम** आदि) के बीच के संबंधों पर पड़ा। विभिन्न क्षेत्रीय राज्यों के शासक वर्ग की प्रकृति पर विचार-विमर्श करते वक्त हम इस मुद्दे पर विस्तार से बातचीत करेंगे।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

25.3 उत्तराधिकारी राज्यों के रूप में उत्तर भारतीय राज्य

क्षेत्रीय राज्यों को आम तौर पर सल्तनत के उत्तराधिकारी राज्य के रूप में देखा जाता है। इसके पक्ष में एक तर्क दिया जाता है कि क्षेत्रीय राज्यों के संस्थापक किसी न किसी रूप में सल्तनत के मातहत कर्मचारी रह चुके थे; चाहे उन्होंने गवर्नर के रूप में सल्तनत की सेवा की हो या किसी अन्य पद पर कार्य किया हो। अगली इकाईयों को पढ़ते वक्त आप महसूस करेंगे कि कुछ मामलों में यह बात सही है, पर सभी जगह यह बात लागू नहीं होती। मसलन, गुजरात, मालवा और जौनपुर के संस्थापक क्रमशः ज़फर खां, दिलावर खां और मलिक सरवर तुगलक सल्तनत में गवर्नर के रूप में कार्य कर चुके थे। इसके अतिरिक्त, बंगाल के शासक का सल्तनत से सीधा और निरंतर संबंध बना रहा।

लेकिन, राजपूत राज्य इस दृष्टि से अपवाद थे। उन्हें हमेशा सल्तनत का आक्रमण झेलना पड़ा पर उन्होंने कभी भी उसका पूर्ण आधिपत्य स्वीकार नहीं किया। उन्हें जब भी मौका मिला उन्होंने सल्तनत के जुए को उतार फेंका और अपने वंशीय राज्य की स्थापना की। सिंध के मामले में भी बिल्कुल ऐसा ही हुआ। सल्तनत के दबाव में आकर सिंध के शासकों ने इल्तुतमिश, मौहम्मद तुगलक और फिरोज़ तुगलक का प्रभुत्व स्वीकार कर लिया, परन्तु व्यावहारिक तौर पर सुमिराहों और सम्माहों ने स्वतंत्र रूप में शासन किया। असम (कमाटा और अहोम), कश्मीर और उड़ीसा राज्यों का उदय सल्तनत से बिल्कुल स्वतंत्र रूप में हुआ। (अधिक विवरण के लिए इकाई 23 और 24 देखिए)।

कुछ क्षेत्रीय शक्तियों का उदय सल्तनत के खंडहर पर हुआ था, अतः यह माना जाने लगा कि इसकी राजनीतिक संरचना भी सल्तनत के ही ढांचे पर निर्मित थी। आइए, देखें इस कथन में कितनी सच्चाई है।

25.4 उत्तराधिकार का प्रश्न

इकाई 16 में आप सल्तनत की सामाजिक तथा राजनीतिक व्यवस्था का अध्ययन कर चुके हैं। आपने पढ़ा होगा कि इस्लाम में उत्तराधिकार संबंधी कोई निश्चित नियम नहीं है। परिणामस्वरूप, इसके लिए चुनाव, मनोनयन और वंशानुगत राज्यारोहण तीनों प्रक्रियाएं साथ-साथ चलती रहीं। वस्तुतः जिसके पास शक्ति होती थी, वह गद्दी का हकदार बन जाता था। अतः इस मामले में उलट-फेर करने की पूरी गुंजाइश थी।

सल्तनत के समान क्षेत्रीय हिंदू या मुस्लिम राज्यों में भी उत्तराधिकार का कोई निश्चित नियम नहीं था। अतः षड्यंत्र और गुप्त संधियों का बड़ा जोर रहता था और इसमें कभी-कभी महिलाएं भी महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती थीं। मालवा में ज्येष्ठाधिकार की अपेक्षा मनोनयन का सिद्धांत प्रभावी हुआ। जौनपुर में "शक्ति" का बोलबाला रहा। 1458 में हुसैन शाह शर्की ने अपने बड़े भाई मौहम्मद शाह शर्की को मारकर गद्दी हासिल कर ली। इसी प्रकार, गुजरात में अपने राज्यारोहण के पूर्व अहमद शाह को अपने चाचा मौदूद सुल्तान (फिरोज़ खां) की चुनौती का सामना करना पड़ा था। बंगाल में इस मामले में सरदारों की भूमिका प्रमुख रही और शासकों को राज्याधिकार प्राप्त करवाने में वे सक्रिय रहे। शमसुद्दीन अहमद शाह की हत्या उसके गुलामों शादी खां और नासिर खां (1435) द्वारा कर दी गई। इसके जवाब में विरोधियों ने उनकी हत्या कर दी (1442)। 1487 तक अबीसीनियाई (हब्शी) सरदारों की शक्ति अपने शिखर पर पहुंच गई। इस समय अबीसीनियाई सरदार मलिक अंदिल ने जलालुद्दीन फतह शाह को मारकर गद्दी हथिया ली।

राजपूताना में भी ज्येष्ठाधिकार का शत-प्रतिशत पालन नहीं किया जाता था। इस संदर्भ में गुहिलों और सिसोदियों के मामले को लिया जा सकता है। राणा लाखा की मृत्यु के बाद चुंडा (राणा का ज्येष्ठ पुत्र) को गद्दी प्राप्त नहीं हुई, बल्कि उसके अल्पवयस्क पुत्र राणा मोकल को शासक बनाया गया। इसी प्रकार, उदय ने अपने पिता राणा कुंभा को मारकर गद्दी हासिल की। रायमल भी आसानी से राजा न बन सका। उसे उदा के पुत्रों सहसमल और सूरजमल की चुनौतियों का सामना करना पड़ा।

कश्मीर में भी उत्तराधिकार का कोई निश्चित नियम न बनाया जा सका। 1323 में अपने मालिक की मृत्यु के बाद शाह मीर ने गद्दी हथिया ली। उसके ज्येष्ठ पुत्र जमशेद के राज्यारोहण (1342) के लिए भी लंबा उत्तराधिकार युद्ध चला। ज़ैन-उल आबेदीन ने खुद 1420 में अपने बड़े भाई अली शाह को मारकर सत्ता हासिल की।

अहोम राजाओं की नियुक्ति में प्रभावशाली सामंतों की परिषद—**बर गोहैन** और **बुराह गोहैन** की प्रमुख भूमिका होती थी। वस्तुतः इन परिषदों की अनुशंसा के बगैर कोई राजा गद्दी पर बैठने की सोच नहीं सकता था। केवल उड़ीसा राज्य में गंगा शासकों के शासनकाल में उत्तराधिकार के नियम का सम्मान किया गया। पर, कालांतर में, जब सत्ता का हस्तांतरण गजपति शासकों के हाथों में हुआ, तब इस नीति की अवमानना हुई। कपिलेंद्र की मृत्यु के बाद उसके छोटे लड़के पुरुषोत्तम ने अपने बड़े भाई हमीर के अधिकार पर कब्जा जमा लिया।

25.5 वैधता का मामला

राजा सर्वोच्च शक्ति था और वह सभी मामलों में अंतिम निर्णायक था। पर, जैसा कि आप पढ़ चुके हैं, इस्लाम में सुल्तान की सत्ता को कोई वैधता प्राप्त नहीं थी और खलीफा मुसलमानों का राजनीतिक प्रधान होता था। दिल्ली के सुल्तान अपनी सत्ता को "वैध" बनाने के लिए खलीफा के नाम का **खुतबा** पढ़ा करते थे और सिक्के में उसका नाम खुदवाया करते थे। क्षेत्रीय राज्यों के लिए भी अपने आपको वैध करार करना जरूरी था। यह केवल जनता पर हक जमाने के लिए ही जरूरी नहीं था, बल्कि प्रतिद्वंद्वियों को शांत करने के लिए भी यह जरूरी था। कोई भी राज्यारोहण बिना संघर्ष या युद्ध के सम्पन्न नहीं होता था, अतः विजयी उत्तराधिकारी को अपनी वैधता साबित करनी होती थी। कुछ क्षेत्रीय राज्य इतनी दूर स्थित थे, जिनके लिए बगदाद से खलीफा की मंजूरी मंगाना मुश्किल और अव्यावहारिक था। इस स्थिति में यह कार्य **उलेमा** और सूफी सम्पन्न किया करते थे।

कट्टर मुसलमानों को अपने पक्ष में करने के लिए मालवा, गुजरात, बंगाल और जौनपुर के शासकों ने हमेशा **उलेमा** और सूफियों का समर्थन प्राप्त करने की कोशिश की और इसके बदले में उन्हें अच्छे पद और राजस्व मुक्त भू-अनुदान (**मदद-ए माश**) प्रदान किए गये। वे अक्सर मुस्लिम संतों की **खानकाहों** में "मत्था टेकने" जाया करते थे। इवाज़ खलजी, मुगीसुद्दीन, रुक्नुद्दीन कैकॉस, शमसुद्दीन फिरोज़ आदि बंगाल के शासकों ने खलीफा से वैधता की मंजूरी हासिल की और सभी ने अब्बासिद खलीफा का नाम सिक्के पर खुदवाया। इब्राहिम शर्की के संरक्षण में अनेक प्रमुख मुस्लिम संतों मखदूम असदउद्दीन आफताब-ए हिंद, मखदूम सद्रउद्दीन चिराग-ए हिंद, पांडुआ के सैय्यद अलाउल हक आदि ने ख्याति पाई। मालवा शासक होशंग शाह ने **उलेमा** और अन्य विद्वानों को मालवा में बसाने के हर प्रयत्न को प्रोत्साहित किया। होशंग शाह के मन में मखदूम काज़ी बुरहानुद्दीन के प्रति अपार श्रद्धा थी और वह उसका शिष्य (**मुरीद**) भी बन गया था। महमूद खलजी ने मिस्र के अब्बासिद खलीफा से **"खिल्लत"** प्राप्त किया था। इससे मालवा के शासक की प्रतिष्ठा बढ़ी। गुजराती शासक महमूद बेगड़ा, बुरहानुद्दीन के **मुरीद** प्रसिद्ध सूफी सैय्यद उस्मान का बड़ा सम्मान किया करता था। 1459 में उसकी मृत्यु के तुरंत बाद महमूद बेगड़ा ने अहमदाबाद में उसकी याद में एक मस्जिद और **रौज़ा** (गुम्बद) बनवाया। बुरहानुद्दीन के पुत्र शाह आलम को भी गुजराती शासकों कुतबुद्दीन और महमूद बेगड़ा से सम्मान और संरक्षण प्राप्त हुआ। कश्मीर के राजा भी सूफियों का सम्मान किया करते थे। राजपूताना में, राजाओं ने अपने राजनीतिक कार्यों को वैध करार देने के लिए ब्राह्मणों को अपने पक्ष में मिलाकर रखा और इसके बदले में ब्राह्मणों को मुक्तहस्त से राजस्व मुक्त भू-अनुदान दिए। इकाई 9 में आप पहले ही पढ़ चुके हैं कि 8-12वीं शताब्दी के दौरान यह प्रथा आम प्रचलन में थी। यही प्रवृत्ति 13-15वीं शताब्दी में भी बरकरार रही।

उड़ीसा में भगवान जगन्नाथ को वास्तविक राजा माना जाता था। इस कारण से ब्राह्मणों का राजनीतिक प्रभाव तेजी से बढ़ा। उन्होंने कपिलेंद्र द्वारा गंगा शासक को हटाए जाने को वैध घोषित किया (1435) और हमीर की जगह पुरुषोत्तम को गद्दी दिए जाने का समर्थन किया।

बोध प्रश्न 1

1) क्षेत्रीय राज्यों द्वारा "क्षैतिज" और "ऊर्ध्व" फैलाव से आप क्या समझते हैं?

....
....
....
....
....

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

2) क्या क्षेत्रीय राज्यों को सही अर्थों में सल्तनत का उत्तराधिकारी कह सकते हैं? टिप्पणी कीजिए।

....
....
....
....
....

25.6 प्रशासनिक ढांचा

अधिकांश क्षेत्रीय राज्यों का उदय दिल्ली सल्तनत के पतन के परिणामस्वरूप हुआ और इन क्षेत्रीय राज्यों ने दिल्ली सल्तनत के प्रशासनिक प्रारूप की नकल की। हालांकि कश्मीर का उदय स्वतंत्र रूप में हुआ, परंतु वहाँ भी मोटे तौर पर सल्तनत के प्रशासनिक ढांचे के आधार पर काम किया जाता था। राजस्थान और उड़ीसा में शब्दावली में कुछ परिवर्तन किए गए। अहोम राज्य का चरित्र मूलतः कबीलाई था, अतः यहाँ का प्रशासनिक ढांचा बिल्कुल भिन्न था।

मालवा, गुजरात, बंगाल, जौनपुर और कश्मीर में केन्द्रीय प्रशासन में **वज़ीर** सर्वोच्च अधिकारी होता था। उसके बाद **आरिज-ए मुमालिक, शेख-उल इस्लाम** और **काज़ी** का स्थान आता था। इसके अतिरिक्त **हाजिब, दबीर** (पत्र-व्यवहार विभाग), **अमीर-ए दर** (त्योहारों का अधिकारी), **अमीर-ए आख़ुर** (राजकीय घुड़साल का सरदार; कश्मीर में इसे **महाश्वशाला** के नाम से जाना जाता था) आदि अधिकारी थे। राजकीय परिवार **(हरम)** की देखभाल के लिए एक अलग प्रशासनिक तंत्र था। राज्यों को कई प्रांतों में विभाजित किया गया था। बंगाल में प्रांत **इक्लीम, अर्स** और **दियार** के नाम से जाने जाते थे। प्रांतीय गवर्नरों को **सर-ए लश्कर व वज़ीर** (सैन्य और वित्तीय अधिकारों से युक्त) कहा जाता था। कश्मीर और अन्य प्रांतों में इन्हें **हाकिम** के नाम से जाना जाता था। कश्मीर में इन **हाकिमों** की नियुक्ति अक्सर राजकीय परिवार से की जाती थी।

प्रांत **शिक** (बंगाल में) और **परगना** में विभक्त होते थे और गांव प्रशासन की सबसे छोटी इकाई होता था। केंद्र की तरह प्रांत में भी **काज़ी** न्याय पक्ष संभालते थे। **मुहतसिब** नैतिकता के लिए जिम्मेदार थे, **कोतवाल** का काम शहर में कानून-व्यवस्था की देखभाल करना था। **शिकदार** समूचे प्रांत की देखभाल करता था। गांवों में एक मुखिया **(मुकद्दम)** और लेखाकार **(पटवारी)** होते थे।

शासक एक स्थायी सेना रखते थे, पर इसके अतिरिक्त वे अपनी सैन्य शक्ति के लिए काफी हद तक प्रांतीय गवर्नरों और सरदारों पर आश्रित रहते थे। सेना में पैदल और घुड़सवार मुख्य लड़ाकू दल होते थे। इसके अलावा, हाथी भी सेना में मुख्य भूमिका निभाता था। मालवा और जौनपुर के शासक नियमित रूप से हाथी प्राप्त करने के लिए हमेशा प्रयत्नशील रहे। बंगाल और गुजरात में नौसेना भी सेना का एक महत्वपूर्ण अंग था।

उड़ीसा में प्रमुख केन्द्रीय अधिकारी थे : **राजगुरु** (राजकीय पुजारी), **महाप्रधानी** (प्रधानमंत्री), **महासंधिविग्रही** (युद्ध और शांति का सचिव), **महासेनापति** (सेना का प्रधान अधिकारी), **मूलभंडारामुना मुद्राहस्त** (राजकीय कोष का प्रधान अधिकारी), **महादंडपति** (मुख्य पुलिस अधिकारी), **महामंडलिक** (प्रांत का प्रधान), और **महापात्र** आदि। राज्य **महामंडलों** में, **महामंडल मंडलों** में और **मंडल नाडु** या **विषय** या **भोग** में विभक्त थे। प्रशासन की सबसे छोटी इकाई **गांव** था। इन क्षेत्रों के अधिकारियों को क्रमशः **महारानक, रानक, विषयपति** और **ग्रामिक** कहते थे। **ग्रामिकों** की सहायता के लिए **कर्ण** (लेखाकार), **पुरोहित, दंडपति** (पुलिस कर्मी), **उरिकावलि** (गांव का चौकीदार) और **ग्रामभट** (गांव का सेवक) होते थे। शहर के सर्वोच्च अधिकारी को **पुरवारी** कहते थे। उसकी सहायता के लिए **दंडनायक** (मैजिस्ट्रेट) और **दंडपति** (पुलिस निरीक्षक) होते थे। राजधानी के मामलों को संभालने के लिए अधिकारियों का एक अलग दल होता था। इन्हें **कलिंगनगरअध्यक्ष** कहते थे।

उड़ीसा में सैन्य संगठन के अंतर्गत राज्य के सभी नागरिकों (सभी जातियाँ और समुदाय) को आपात स्थिति में सेना में भर्ती होने को कहा जा सकता था। ऐसा प्रतीत होता है कि केवल ब्राह्मण सैन्य सेवा से मुक्त थे। पर कहीं-कहीं अपवाद भी मिलते हैं। **चाटेश्वर** अभिलेख में अनंगभीम III (1211-38) के ब्राह्मण मंत्री विष्णु का उल्लेख है, जिसने कलचुरियों के खिलाफ सेना का नेतृत्व किया था। अधिकांश सैनिक खेतिहर थे, जो आम दिनों में खेती का काम करते थे।

अहोम की राजनीतिक व्यवस्था का आधार कबीलाई था और वह अर्द्ध-सामंती प्रवृत्ति का था। राजा कबीलाई सरदार हुआ करता था। वह दो सदस्यी परिषद **(पात्र-मंत्री)** की सहायता से राज्य चलाता था। दोनों एक-दूसरे पर अंकुश लगाए रखते थे। पार्षद राजा का चुनाव करते थे और राजा पार्षदों को मनोनीत करता था। आम तौर पर गैर-सैनिक नियुक्तियां वंशानुगत आधार पर होती थीं, पर इसके साथ-साथ ज्ञान और सम्मान से युक्त दूसरे व्यक्ति भी नियुक्त किए जा सकते थे। प्रत्येक परिवार के वयस्क पुरुष सदस्य को राजा (राज्य) को समय-समय पर अपनी सेवा प्रदान करनी पड़ती थी। लेकिन, इसके बावजूद राजा के लिए अपनी जनता का शोषण करना बहुत कठिन था।

अहोम शासकों ने एक अनूठा सैनिक संगठन कायम किया था। इसे **पाइक** के नाम से जाना जाता था। 15 से 60 आयु वर्ग के सभी पुरुषों को **"गोत"** (इकाईयों) के रूप में संगठित किया जाता था। प्रत्येक **"गोत"** में चार वयस्क पुरुष होते थे। प्रत्येक **"गोल"** का एक सदस्य बारी-बारी से अपनी सेवा प्रस्तुत करता था। उन्हें कम से कम एक मानव-वर्ष के बराबर सेवा करनी होती थी। यहाँ एक बात का उल्लेख कर देना उपयोगी होगा कि उनकी

सेवाएं केवल सेना के लिए ही सुरक्षित नहीं थीं। उदाहरण के लिए, उन्हें धान की खेती और उस पर आधारित अर्थव्यवस्था को बनाए रखने का काम भी करना पड़ता था। इसके अतिरिक्त, वे जंगलों तथा दलदली भूमि को खेती योग्य बनाने में भी सहायता करते थे।

25.7 राजस्व प्रशासन

राज्य की आय का प्रमुख स्रोत भू-राजस्व था। कश्मीर, मालवा, गुजरात, जौनपुर और बंगाल में भू-राजस्व को **खराज** के नाम से जाना जाता था। इन क्षेत्रीय राज्यों में राज्य कर का प्रतिशत क्या था, इसके बारे में निश्चित जानकारी उपलब्ध नहीं है। किसी आकस्मिक घटना की स्थिति में कर में छूट दी जाती थी। ज़ैन-उल आबेदीन के शासनकाल में राज्य में अकाल पड़ने पर राजस्व को घटाकर 1/4 और कहीं-कहीं 1/7 कर दिया गया था। राजस्व का निर्धारण मिट्टी की उर्वरता के आधार पर किया जाता था। कश्मीर में कर वसूली वस्तु के रूप में होती थी; अनाज को पहले राजकीय भंडारों में जमा किया जाता था और फिर उसे एक निश्चित दर पर बेचा जाता था। इससे अनाज की कीमत घटाने में काफी मदद मिली। इसके अतिरिक्त, अभाव के समय में भी इस भंडार से मांग की पूर्ति की जा सकती थी।

इब्न बतूता (14वीं शताब्दी) के अनुसार बंगाल में भू-राजस्व कुल उपज का आधा होता था। पर इसी समय का एक चीनी यात्री वांग-ते युआन लिखता है कि राज्य का हिस्सा कुल उपज का 1/5 वां भाग था। बंगाल में, आम तौर पर, उपज के आधार पर ही करारोपण होता था, जमीन को मापने पर जोर नहीं दिया जाता था। किसान प्रत्येक वर्ष आठ किस्तों में लगान सीधा राज्य को देता था। बंगाल में **मजमुआदारों** (राजस्व को ठेके पर लेने वाले) का एक वर्ग था, जो किसानों से कर वसूल कर एक नियत राशि राज्य को दे देते थे। करदाता सरदार राज्य को एक मुश्त में राशि का भुगतान कर देते थे। भू-राजस्व वसूलने के लिए उनके पास अपना दल था। सभी धार्मिक क्षेत्र भू-राजस्व और अन्य प्रत्येक प्रकार के कर से मुक्त थे।

उड़ीसा में भू-राजस्व उपज का छठवां हिस्सा था। सम्पूर्ण राज्य **बीसी** और **खंड** नामक प्रखंडों में विभक्त था। प्रत्येक प्रभाग **बीसी** और **खंडाधिपति** के अधीन था। उनकी सहायता के लिए **खंडायत** और **बोइमुल** (बाद में इसे लेखाकार का पद दे दिया गया) रखे जाते थे। इन अधिकारियों के अलावा, उच्च सैनिक अधिकारियों की नियुक्ति भी की जाती थी। इनमें **महानायक, भूपति** और **भूयान** आदि प्रमुख थे। ये वंशानुगत सरदार होते थे। नागरिक और धार्मिक क्षेत्र की देखभाल के लिए भी अधिकारी नियुक्त किए गए थे, जैसे **पुरोहित, राजगुरु** आदि। इन्हें वेतन के रूप में राजस्व मुक्त भूमि मिलती थी। उड़ीसा और गुजरात में एक रोचक बात यह थी कि यहाँ धार्मिक अनुदान वंशानुगत होते थे; उन्हें **भूमिछिद्रपिधान्याय** के नाम से जाना जाता था। अनुदान प्राप्तकर्ता को गांव के साथ वहाँ के शिल्पकार, मजदूर आदि भी प्राप्त हो जाते थे। इस प्रकार, यहाँ कारीगर और किसान अर्द्ध-गुलाम बन गए। आम तौर पर पुरोहित वर्ग को ही राजस्व मुक्त भूमि मिला करती थी; उन पर आवश्यकता पड़ने पर केवल एक कर (**तनकी**) लगाया जाता था। उड़ीसा में राज्य भूमि का मालिक होता था। भूमि कर के अलावा अन्य करों का भी प्रावधान था।

अहोम राज्य में भूमि का स्वामी राज्य/कुल होता था। ज़मीन को कई टुकड़ों में विभक्त कर दिया जाता था (परिवार के आकार के अनुपात में) और उसे प्रत्येक सदस्य (पाइक) के बीच बांट दिया जाता था। यह ज़मीन उनके द्वारा राज्य को दी जाने वाली सेवाओं के बदले में दी जाती थी। उनकी मृत्यु के बाद भूमि का पुनर्वितरण होता था।

बोध प्रश्न 2

1) क्या आप सोचते हैं कि विभिन्न क्षेत्रीय राज्यों का प्रशासनिक ढांचा दिल्ली सल्तनत से मिलता-जुलता था? 60 शब्दों में उत्तर दीजिए।

....

....

....

....

....

MAADHYAMIAS

2) अहोम सैन्य संगठन पर पाँच पंक्तियां लिखिए।

....

....

....

....

....

3) निम्नलिखित को परिभाषित कीजिए।

मजमुआदार

....

....

खराज

....

....

बीसी

....

....

25.8 सामंत और भूमिधर कुलीन वर्ग

MAADHYAM IAS

13-15वीं शताब्दी की क्षेत्रीय राजनीतिक व्यवस्था में सामंतों की अहम भूमिका रही है। इस सामंत वर्ग में हिंदू और मुसलमान दोनों शामिल थे। वे **खान-ए आजम, खान-ए मुअज्ज़म, महापत्राधिपत्र** आदि जैसी पदवियों से अपने को विभूषित करते थे। इन सामंतों को उनके वेतन के बदले में "**इक्ता**" (वेतन के बदले राजस्व का एक हिस्सा) दिया जाता था; इसके बदले में वे उस इलाके की कानून व्यवस्था संभालते थे, राजस्व वसूल करते थे और समय आने पर राजा को सैनिक भी मुहैया करवाते थे। सैद्धांतिक तौर पर यह पद वंशानुगत नहीं होता था और यह पद राजा अपनी इच्छा के अनुसार किसी भी सरदार को दे सकता था; पर धीरे-धीरे यह पद वंशानुगत होता गया। केवल राजपुताना इसका अपवाद था, जहाँ यह पद ज्यादातर कुल के सदस्यों को ही दिया जाता था। कभी-कभी राजा की कृपा से कुल के बाहर के व्यक्ति भी इस पद को सुशोभित कर सकते थे। आप पहले देख चुके हैं कि इन सामंतों में विद्रोह की प्रवृत्ति थी और उत्तराधिकार के युद्ध में ये किसी एक दल के साथ हो जाया करते थे। उनके पास सैन्य शक्ति थी, अतः राजा को उनपर आश्रित रहना पड़ता था। कुछ सरदार इतने शक्तिशाली होते थे कि वे उत्तराधिकारियों को गद्दी दिलाने में प्रमुख भूमिका निभाते थे और राजा उनके हाथों का खिलौना बन जाते थे।

भूमिधर कुलीन वर्ग

आप खंड 6 में सल्तनत शासनकाल में राजस्व वसूली और कानून और व्यवस्था बनाए रखने में भूमिधर कुलीन वर्ग की भूमिका के बारे में पढ़ चुके हैं। क्षेत्रीय राज्यों में भी ऐसे वर्ग सक्रिय थे। भौगोलिक और राजनीतिक आधार पर उन्हें दो कोटियों में विभक्त किया जा सकता है :

i) सीमांत क्षेत्र में रहने वाला भूमिधर कुलीन वर्ग। इस कोटि में "सरदार" और "राजा" आते हैं : तथाकथित बिचौलिये **ज़मींदार**।
ii) मुख्य भू-क्षेत्र में रहने वाला भूमिधर वर्ग : तथाकथित प्राथमिक **ज़मींदार**।

पहली कोटि में दुराग्रही और हठी तत्वों का बोलबाला था। वे कभी किसी एक राजा का पक्ष लेते थे, तो कभी किसी दूसरे राजा का; वे अपनी निष्ठा बदलते रहते थे।

मुख्य भू-क्षेत्र में रहने वाले भूमिधर कुलीन वर्ग पर दबाव अपेक्षाकृत अधिक रहता था और उनकी गतिविधियों पर कड़ी निगरानी भी रखी जाती थी। क्षेत्रीय राज्यों की एक चरित्रगत विशेषता यह है कि यहाँ के अधिकांश शासक अप्रवासी थे; उनका कोई स्थानीय आधार नहीं था। उनका प्रमुख उद्देश्य एक ऐसे निष्ठावान ग्रामीण कुलीन वर्ग का निर्माण करना था

जिसकी सहायता से पुराने कुलीन वर्ग की शक्ति को संतुलित किया जा सके। क्षेत्रीय शक्तियों का यही प्रमुख उद्देश्य होता था और इसी में उनकी सफलता निहित होती थी। मुसलमानों के आक्रमण और राजपूत रजवाड़ों के आपसी युद्ध के कारण राजपूत काफी संख्या में मालवा और गुजरात की ओर स्थानांतरित हो गए। तेरहवीं शताब्दी तक हम देखते हैं कि इस क्षेत्र के अधिकतर भूपति राजपूत थे। अतः इस प्रक्रिया में मालवा और गुजरात के राजाओं को कड़े विरोध का सामना करना पड़ा। गुजरात में सुल्तान अहमद शाह प्रथम ने **वंठा** व्यवस्था लागू कर इस क्षेत्र में मूलभूत परिवर्तन किए।

बंगाल में, बख्तियार खलजी ने विजय के पश्चात् सारी ज़मीन अपने सेनापतियों में वितरित कर दी और उन्हें "**मुक्ती**" बना दिया। ग्रामीण इलाकों में मुसलमानों के प्रभाव को असरदार बनाने के लिए सूफियों और **उलेमा** को गांवों में बसाने के प्रयत्न किए गए और **मदद-ए माश** के रूप में भूमि अनुदान दिए गए।

25.9 अर्थव्यवस्था

क्षेत्रीय राज्यों की अर्थव्यवस्था का मुख्य आधार कृषि था। बंगाल, असम, कश्मीर और उड़ीसा प्रधानतः धान उत्पादन के क्षेत्र थे, जबकि राजपूताना, मालवा, गुजरात और जौनपुर में गेहूं प्रमुख फसल थी, मालवा की भूमि काफी उर्वर थी, जिसमें अच्छे किस्म का धान, गेहूं, चना, मटर, दाल, कपास, अच्छे किस्म के **पान** के पत्ते, आम आदि उपजाए जाते थे। ये खाद्य-सामग्रियां दिल्ली सल्तनत को भेजी जाती थीं।

कश्मीर, बंगाल, असम, गुजरात और उड़ीसा की मध्यकालीन अर्थव्यवस्था में व्यापार की महत्वपूर्ण भूमिका थी। कश्मीरी व्यापारियों का व्यापार-संबंध पटना, बनारस, ल्हासा, काठमांडु और पीकिंग तक फैला हुआ था। कश्मीर और पंजाब के बीच पीर पंजाल पहाड़ी क्षेत्र के रास्ते व्यापार होता था। कश्मीर जोजिला दर्रे के रास्ते लेह से भी जुड़ा हुआ था। यहाँ पंजाब से नमक और लद्दाख तथा यारकंद से शॉल आयात किया जाता था। कश्मीर शॉल, कस्तूरी, स्फटिक, रेशम, केसर और मेवे निर्यात करता था। ज़ैन-उल आबेदीन ने कश्मीर में रेशम उद्योग को बढ़ावा देने का विशेष प्रयत्न किया और इस क्रम में बेहतर तकनीक और डिजाइन को प्रोत्साहन दिया। रेशम के कीड़े शहतूत के पेड़ पर पाले जाते थे। ज़ैन-उल आबेदीन ने कश्मीर में कागज उद्योग की भी शुरुआत की। बंगाल में व्यापार भूमि और जल दोनों मार्गों से होता था, पर जल मार्ग अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण था। दो प्रमुख समुद्री रास्ते प्रयोग में लाए जाते थे : दक्षिण-पूर्वी मार्ग जो भारत को ईस्ट-इंडीज़ और चीन से जोड़ता था और दक्षिण-पश्चिमी मार्ग जो उड़ीसा, कोरोमंडल और मालाबार को अरब और अबीसीनिया से जोड़ता था। निर्यातक वस्तुओं में कपड़े, चावल, गेहूं, रेशम, चीनी आदि का प्रमुख स्थान था। इब्न बतूता हवाला देता है कि 14वीं शताब्दी के दौरान बंगाल में हिजड़ों और दासों का व्यापार भी प्रचलित था। सेन शासकों के अधीन व्यापार में गिरावट आई। मिन्हाज सिराज इस बात का ज़िक्र करता है कि 13वीं शताब्दी में बंगाल में कौड़ियों का अधिक प्रचलन था धातु के बने सिक्के गायब थे। सल्तनत शासन की स्थापना के बाद सतगांव, सोनारगांव और चटगांव जैसे महत्वपूर्ण बंदरगाह अस्तित्व में आए। इसके अतिरिक्त लखनौती, सोनारगांव, फतेहाबाद, मुहम्मदाबाद आदि शहर अस्तित्व में आए, जहाँ सिक्कों की ढलाई होती थी। इस प्रकार, मुस्लिम शासन के दौरान बंगाल में शहरीकरण की प्रक्रिया शुरू हुई। पूर्वी समुद्र पर अरब और फारस के व्यापारियों का बोलबाला था और बंगाली व्यापारी ज्यादातर बिचौलिए का काम करते थे। गुजरात में अच्छे समुद्र तट थे और वहाँ से लाल समुद्र और फारस की खाड़ी के रास्ते अरब और फारस के देशों से व्यापार होता था। खंभात, पाटन, सोमनाथ और भड़ौच सर्वाधिक महत्वपूर्ण बंदरगाह थे। समकालीन लेखन में गुजरात तट पर 84 बंदरगाहों का उल्लेख हुआ है। बारबोसा ने भी गुजरात के 12 महत्वपूर्ण बंदरगाहों का उल्लेख किया है। वारथेमा 1506 ई. में गुजरात गया था, उसके अनुसार विभिन्न देशों से हर साल 300 जहाज बंगाल आते थे और फारस, तुर्की, सीरिया और बारबेरी देशों को रेशम और कपड़ा निर्यात किया जाता था। गुजरात में व्यापारिक गतिविधियों में हिंदू और मुसलमान दोनों शामिल थे। गुजरात की अर्थव्यवस्था का मुख्य स्रोत व्यापार से आने वाला राजस्व था। अहोम अर्थव्यवस्था में वस्तु-विनिमय का प्रचलन था। यहाँ तक कि प्रशासकों को भी वेतन के रूप में भूमि और खेती करने वाले (**पाइक**) दिए जाते थे। गांव आत्मनिर्भर थे, पर नमक जैसी खाद्य वस्तु के लिए उन्हें दूसरे क्षेत्रों पर निर्भर रहना

पड़ता था। चावल प्रमुख फसल थी। ताय-अहोमों ने रोपाई द्वारा धान की खेती की नई तकनीक विकसित की थी, जो उनके आसपास के क्षेत्रों से अधिक विकसित तकनीक थी।

बोध प्रश्न 3

1) क्षेत्रीय राज्यों के शासकीय वर्ग के स्वरूप और ढांचे पर एक टिप्पणी लिखिए।

....

....

....

....

....

2) 13-15वीं शताब्दी में उत्तर भारत में प्रमुख व्यापार-मार्गों का उल्लेख कीजिए।

....

....

....

....

....

25.10 सारांश

इस इकाई में हमने उत्तर भारत के क्षेत्रीय राज्यों की चरित्रगत विशेषताओं का अध्ययन किया। उनका प्रभाव 'उर्ध्व' रूप में ग्रामीण क्षेत्रों में भी गहराई से समाया हुआ था, पर 'क्षैतिज' रूप में उनका प्रसार कम था अतः उनके राज्य-क्षेत्र का फैलाव सल्तनत की अपेक्षा कम था। क्षेत्रीय राज्य सल्तनत के "उत्तराधिकारी राज्यों" का प्रतिनिधित्व करते हैं। पर यह सर्वथा सत्य नहीं है। प्रशासनिक ढांचे में इन राज्यों ने सल्तनत के प्रशासनिक ढांचे को भी अपनाया और अपनी जरूरत और सहूलियत के मुताबिक उसमें परिवर्तन भी किया। स्थानीय विभिन्नताओं और स्थानीय संस्कृति का प्रभाव स्पष्टतः परिलक्षित होता है। जैसा कि आम तौर पर दिखाने की कोशिश की जाती है, अर्थव्यवस्था और संस्कृति के क्षेत्र में क्षेत्रीय राज्य बिल्कुल शून्य नहीं है। इन राज्यों की सांस्कृतिक गतिविधियों पर हम खंड 8 में विचार-विमर्श करेंगे।

MAADHYAM IAS

25.11 शब्दावली

अर्स	: प्रांत
बर गोहैन तथा बुराह गोहैन	: मूलतः यह नाम उन दो बड़े अधिकारियों के हैं, जिन्हें सूकाफा ने नियुक्त किया था। ये अधिकारी राजा के बाद सर्वशक्तिमान थे। क्रमशः यह पद वंशानुगत होता गया और इनके नाम पर परिषद् गठित हो गई।
दियार	: **अर्स** की भांति
गोत	: चार वयस्क पुरुषों की इकाई
हाकिम	: प्रांतीय गवर्नर
इक्लीम	: **अर्स** की भांति
पाइक	: अहोम सैनिक/घर परिवार के सदस्य
पात्र मंत्री	: बर और बुराह गोहैन की परिषद्
रौज़ा	: मकबरा
तनकी	: आवश्यकता पड़ने पर कर के रूप में पुरोहितों से ली जाने वाली नाममात्र की रकम

25.12 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) भाग 25.2 देखिए।
2) भाग 25.3 देखिए।

बोध प्रश्न 2

1) भाग 25.6 देखिए।
2) भाग 25.6 देखिए।
3) भाग 25.7 देखिए।

बोध प्रश्न 3

1) भाग 25.8 देखिए।
2) भाग 25.9 देखिए।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

इकाई 26 दक्खन और दक्षिण भारत में क्षेत्रीय शक्तियाँ

इकाई की रूपरेखा

26.0 उद्देश्य
26.1 प्रस्तावना
26.2 चार प्रमुख राज्य
  26.2.1 यादव और काकतीय
  26.2.2 पांड्य और होयसल
  26.2.3 चार राज्यों के मध्य संघर्ष
26.3 दक्षिणी राज्य और दिल्ली सल्तनत
  26.3.1 प्रथम चरण : अलाउद्दीन खलजी का दक्षिण आक्रमण
  26.3.2 द्वितीय चरण
26.4 प्रशासन और अर्थव्यवस्था
  26.4.1 प्रशासन
  26.4.2 अर्थव्यवस्था
26.5 स्वतंत्र राज्यों का उदय
26.6 सारांश
26.7 शब्दावली
26.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

MAADHYAM IAS

26.0 उद्देश्य

इस इकाई में हम तेरहवीं शताब्दी से लेकर चौदहवीं शताब्दी के मध्य तक दक्षिण भारतीय राजनीतिक व्यवस्था का विश्लेषण करेंगे। इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप :

- दक्षिण भारत की राजनैतिक व्यवस्था के विषय में जान सकेंगे,
- दक्षिण भारत के राज्यों के आपसी संघर्ष की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे,
- दक्षिण भारतीय राज्यों और दिल्ली सल्तनत के संबंधों के विषय में जान सकेंगे,
- इनके प्रशासन और अर्थव्यवस्था को समझ सकेंगे, तथा
- दक्षिण में नये राज्यों के उदय की प्रक्रिया समझ सकेंगे।

26.1 प्रस्तावना

खंड 3 में हम भारतीय उपमहाद्वीप के दक्षिणी क्षेत्र में तेरहवीं शताब्दी तक प्रचलित राज्य व्यवस्था, समाज और अर्थव्यवस्था की चर्चा कर चुके हैं। अब हम इसके बाद के काल के दक्षिण भारतीय इतिहास का अध्ययन करेंगे। इस इकाई के अध्ययन में दक्षिण भारत से अभिप्राय विन्ध्य पर्वत श्रृंखला के समस्त दक्षिणी क्षेत्र से हैं। इसमें दक्खन और प्रायद्वीपीय दक्षिण सम्मिलित हैं। इकाई 11 व 12 में इस क्षेत्र की प्राकृतिक भौगोलिक परिस्थितियों का अध्ययन किया जा चुका है इसलिये हम पुनः इसकी चर्चा नहीं करेंगे।

तेरहवीं शताब्दी से पंद्रहवीं शताब्दी तक के दक्षिण भारतीय इतिहास में दो चरण बहुत स्पष्ट हैं :

i) तेरहवीं शताब्दी के प्रारंभिक घटनाक्रम में चोल और चालुक्य राज्यों का विघटन सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। इन राज्यों के अवशेषों से चार स्वतंत्र राज्य अस्तित्व में आये। इनमें से पांड्य और होयसल राज्य इस क्षेत्र के दक्षिण में स्थित थे तथा काकतीय और यादव राज्य उत्तरी क्षेत्र में स्थित थे। यह राज्य लगभग सौ वर्ष तक अस्तित्व में बने रहे।

ii) दूसरे चरण का प्रारंभ चौदहवीं शताब्दी के दूसरे चतुर्थांश से (1325 से 1350 के मध्य) माना जा सकता है। इस समय इस क्षेत्र में विजयनगर और बहमनी नामक दो शक्तिशाली राज्यों का उदय हुआ। लगभग अगले दो सौ साल तक यह दोनों राज्य लगभग सम्पूर्ण दक्षिण में अपना प्रभुत्व बनाए रहे।

प्रथम चरण के काल में हम चारों राज्यों के इतिहास, उनके आपसी संबंधों, उनकी राज्य व्यवस्था, समाज और अर्थव्यवस्था का अध्ययन करेंगे। दूसरे चरण में हम इन राज्यों के दिल्ली सल्तनत के साथ संबंधों का अध्ययन करेंगे।

26.2 चार प्रमुख राज्य

चोल और चालुक्य राज्यों के विघटन के परिणामस्वरूप दक्षिण में अनेक छोटे-छोटे राजतंत्रों और राज्यों का उदय हुआ। इनमें प्रमुख चार राज्य निम्नलिखित थे :

i) यादव
ii) काकतीय
iii) पांड्य
iv) होयसल

26.2.1 यादव और काकतीय

तेरहवीं शताब्दी में यादव और काकतीय राज्यों ने एक बड़े क्षेत्र में अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। यह क्षेत्र आधुनिक आंध्र प्रदेश और लगभग सम्पूर्ण दक्खन तक फैला हुआ था।

यादव

लगभग नवीं शताब्दी ई. से हमें यादव वंश के इतिहास के विषय में जानकारी उपलब्ध है। लगभग 300 वर्षों तक यह वंश राष्ट्रकूट और चालुक्य राज्यों के सामन्त के रूप में शासन करता रहा। चालुक्यों के पतन के बाद वे एक बड़े क्षेत्र में स्वतंत्र शासक के रूप में अस्तित्व में आए।

MAADHYAM IAS

इस वंश के भील्लमा V ने जो चालुक्य शासक सोमेश्वर IV का सामंत था, 1187 ई. में स्वतंत्र स्थिति प्राप्त की और यादव वंश की नींव डाली। सिंहन के शासन काल (1210-46 ई.) में यादव राज्य की सीमाओं में दक्षिणी गुजरात, पश्चिमी मध्य प्रदेश और बरार, महाराष्ट्र के कुछ भाग, कर्नाटक, आधुनिक हैदराबाद के पश्चिमी भाग और मैसूर के उत्तरी क्षेत्र सम्मिलित थे। कृष्ण (1246-60 ई.) तथा रामचन्द्र (1271-1311 ई.) यादव वंश के अन्य महत्वपूर्ण राजा थे। 1311-12 में राजा रामचंद्र की मृत्यु के बाद यादव वंश का अन्त हो गया।

काकतीय

काकतीय कल्यानी के चालुक्यों के सामन्त थे। लगभग 1162 ई. में काकतीय रुद्रदेव (प्रताप रुद्रदेव I), ने चालुक्य शासक तैलपा III को पराजित करके काकतीय वंश की नींव डाली। लगभग 1185 ई. में वेलनन्ती राजाओं को पराजित करके उसने कुरनूल जिला प्राप्त किया। गणपति (1199-1262 ई.), रुद्रम्बे (1262-95) तथा प्रताप रुद्र II (1295-1326) इस वंश के अन्य महत्वपूर्ण शासक थे। उनका शासन आन्ध्र के अधिकांश क्षेत्र गोदावरी, कांची, कुरनूल तथा कुडप्पा जिलों तक था। उलुग खां (मौहम्मद तुगलक) ने 1322 में लगभग सम्पूर्ण तेलंगाना को रौंद डाला और इस प्रकार काकतीय वंश का अंत हो गया।

26.6.2 पांड्य और होयसल

यह दोनों राज्य दक्खन के आगे के क्षेत्र—सम्पूर्ण प्रायद्वीपीय दक्षिण—पर नियंत्रण बनाए हुए थे।

होयसल वंश

होयसल वंश का शासन आधुनिक कर्नाटक और तमिल क्षेत्र के अधिकांश भागों में फैला हुआ था। इस वंश का प्रथम स्वतंत्र शासक बल्लाल II (1173-1220 ई.) था। 12वीं शताब्दी के अंत में स्वतंत्र राज्य के रूप में होयसल राज्य अस्तित्व में आया। 14वीं शताब्दी

के प्रारंभ में इस राज्य का अंत हुआ। नरसिंह II (1234-63 ई.), नरसिंह III (1263-91 ई.) तथा बल्लाल III (1291-1342 ई.) जैसे प्रमुख होयसल शासकों ने पांड्य और यादव शासकों के विरुद्ध संघर्ष किए।

पांड्य वंश

पांड्य शासन में आधुनिक तमिलनाडु के कुछ भाग और आधुनिक केरल का लगभग सम्पूर्ण भाग शामिल था। तेरहवीं शताब्दी के प्रारंभ में स्वतंत्र राज्य के रूप में पांड्य राज्य अस्तित्व में आया। चौदहवीं शताब्दी के आरंभ में इस राज्य का अन्त हुआ। इस वंश का प्रथम स्वतंत्र शासक मरवर्मन सुंदर पांड्य I (1216-1238 ई.) था। मरवर्मन सुंदर पांड्य II (1238-51 ई.), जटावर्मन सुंदर पांड्य I (1251-68), मरवर्मन कुलशेखर पांड्य (1268-1310 ई.) तथा जटावर्मन वीर पांड्य II इस वंश के अन्य महत्वपूर्ण शासक थे।

26.2.3 चार राज्यों के मध्य संघर्ष

इस सम्पूर्ण काल गें यह चारों राज्य एक दूसरे के विरुद्ध किसी न किसी युद्ध में उलझे रहते थे। यहाँ इन युद्धों की विस्तृत चर्चा के स्थान पर हम बहुत संक्षेप में इन युद्धों की प्रकृति की चर्चा करेंगे :

- काकतीय, होयसल और पांड्य राज्यों के बीच चोल राज्य के अवशेषों पर नियंत्रण के लिए लगातार संघर्ष रहता था।
- यादव और काकतीय वंश के बीच भी लगातार युद्ध चलता रहता था परन्तु कोई भी दूसरे को निर्णायक रूप से पराजित नहीं कर पाया।
- इसी प्रकार के संघर्ष यादव, होयसल, काकतीय तथा पांड्य राज्यों के बीच में भी थे।
- इन राज्यों के आपसी संघर्षों के अतिरिक्त कई अन्य युद्ध भी हुए। दक्षिण भारत के चार अत्यधिक महत्वपूर्ण आक्रमण यादव और पांड्य शासकों ने किए। यादव वंश के संस्थापक भील्लमा V ने मालवा और गुजरात पर आक्रमण किए। सिंहन और रामचन्द्र जैसे यादव शासकों ने भी मालवा (1215 ई.) और गुजरात पर आक्रमण किए परन्तु कोई निश्चित सफलता नहीं मिली।
- पांड्य शासक मरवर्मन कुलशेखर ने लंका के विरुद्ध आक्रमण किया (1283-1302 ई.)। लंका के राजा पराक्रमबहा III (1302-1310) ने पांड्य राजा के समक्ष समर्पण कर दिया। इसके पश्चात् दोनों के बीच शांति बनी रही।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

26.3 दक्षिणी राज्य और दिल्ली सल्तनत

13वीं शताब्दी के अन्त तक उत्तर भारत में अपनी स्थिति मजबूत करने के बाद दिल्ली सुल्तानों ने 14वीं सदी के प्रारंभ में दक्षिण की ओर दृष्टि डाली।

इकाई 15 में आप खलजी और तुगलक वंशों के अधीन दक्षिण और दक्खन में सल्तनत के विस्तार का विस्तृत अध्ययन कर चुके हैं। यहाँ हमारे अध्ययन का प्रमुख केंद्र बिंदु दिल्ली सुल्तानों की विस्तारवादी नीति और दक्खन की राजनीति पर इसके प्रभाव का अध्ययन करना है। दक्षिण के राज्यों के सल्तनत से संबंधों का अध्ययन हम दो चरणों में करेंगे :

i) अलाउद्दीन खलजी के शासनकाल में,
ii) अलाउद्दीन की मृत्यु के समय से मौहम्मद तुगलक के शासन के अन्त तक।

26.3.1 प्रथम चरण : अलाउद्दीन खलजी का दक्षिण आक्रमण

जलालउद्दीन खलजी के शासनकाल (1290-96 ई.) में उसके भतीजे अलाउद्दीन ने यादव राज्य की राजधानी देवगिरि पर आक्रमण किया। यादव शासक राजा रामचन्द्र पराजित हुआ और अलाउद्दीन ने भारी लूट प्राप्त की। राजा रामचन्द्र ने प्रत्येक वर्ष एक बड़ी राशि भेंट स्वरूप देने का प्रण किया। इसके बाद लगभग 10 वर्ष तक दिल्ली सल्तनत की ओर से दक्षिण पर कोई आक्रमण नहीं हुआ। अलाउद्दीन के सत्ता ग्रहण करने के पश्चात् दक्षिण पर आधिपत्य स्थापित करने के लिए एक निश्चित योजना बनाई गई। 1306 से 1312 तक आक्रमणों की एक शृंखला के बाद दक्षिण के चारों प्रमुख राज्य पूर्णतया पराजित किए जा सके।

i) देवगिरि

अलाउद्दीन ने 1306-07 में अपने विश्वसनीय सेनानायक मलिक काफूर को दक्षिण आक्रमण के लिए नियुक्त किया। आक्रमण का तात्कालिक कारण यादव राजा रामचन्द्र द्वारा वार्षिक भेंट राशि देना बन्द करना था। राजा पुनः पराजित हुआ और काफूर राजा को बन्दी बना कर दिल्ली ले आया। राजा ने सुल्तान को वार्षिक भेंट राशि देने का वायदा किया। सुल्तान ने उसको राज्य वापस करके उसे पुनः राजा के पद पर स्थापित किया।

ii) वारंगल

मलिक काफूर ने 1309 में काकतीय राजधानी वारंगल पर आक्रमण किया। अलाउद्दीन का प्रमुख उद्देश्य काकतीय राजा को पराजित करना था। इतिहासकार बर्नी सुल्तान द्वारा काफूर को दिए गए निर्देशों का निम्नलिखित शब्दों में वर्णन करता है :

> ''तुम एक दूरस्थ देश में जा रहे हो, वहाँ अधिक दिन नहीं रुकना। तुम अपना पूरा ध्यान वारंगल को जीतने और राजा रुद्रदेव को पराजित करने पर केन्द्रित करना। अगर राजा अपना खजाना, हाथी और घोड़े तुम्हें देने को तैयार हो जाए और भविष्य में वार्षिक भेंट राशि देने का वायदा करे तो यह व्यवस्था स्वीकार कर लेना।''

आक्रमण में पराजित होने के बाद राजा ने अपना खज़ाना काफूर को सौंप दिया और वार्षिक भेंट राशि देने का वायदा किया।

iii) द्वारसमुद्र

अगला आक्रमण होयसल राज्य की राजधानी द्वारसमुद्र पर हुआ (1310-11)। वहाँ के शासक बल्लाल देव ने मामूली संघर्ष के बाद समर्पण कर दिया। अन्य दोनों दक्षिणी राज्यों की भांति होयसल राज्य से युद्ध संधि हो गई।

iv) मदुरा

मदुरा में राज्य पर नियंत्रण करने के लिए दो भाइयों सुंदर पांड्य और वीर पांड्य के बीच आपसी संघर्ष चल रहा था। इस संघर्ष का लाभ उठाकर काफूर ने उस पर आक्रमण किया। वीर पांड्य ने सुंदर पांड्य को पराजित करके राज्य से निकाल दिया और सिंहासन पर अधिकार कर लिया। सुंदर पांड्य ने अलाउद्दीन खलजी से मदद मांगी। होयसल राज्य को पराजित करने के बाद मलिक काफूर मदुरा पहुंचा और वीर पांड्य को पराजित कर लूट में भारी धनराशि प्राप्त की।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

मलिक काफूर ने 1312 में यादव राजधानी पर पुनः आक्रमण किया। आक्रमण का प्रमुख कारण यह था कि राजा राम देव की मृत्यु के बाद उसके पुत्र शंकर देव ने दिल्ली सुल्तान को भेंट राशि देना बंद कर दिया था। शंकर देव पराजित हुआ और कृष्णा तथा तुंगभद्रा नदी के बीच के सम्पूर्ण क्षेत्र पर काफूर ने अधिकार कर लिया। जब अलाउद्दीन ने काफूर को दिल्ली वापस बुलाया तो वह दक्षिण के विजित क्षेत्र आइन उलमुल्क को सौंपकर चला गया।

आइये हम अलाउद्दीन की दक्षिण नीति की प्रमुख विशेषताओं पर ध्यान दें :

- लगभग सम्पूर्ण दक्षिण भारत बिना किसी विशेष प्रतिरोध के जीत लिया गया।
- अलाउद्दीन दक्षिण भारत को अपने राज्य में सम्मिलित करने के पक्ष में नहीं था क्योंकि दिल्ली से इस दूरस्थ क्षेत्र पर नियंत्रण रखना मुश्किल था। दक्षिण राज्यों को परास्त करने के बाद उन पर दबाव डाला गया कि वे दिल्ली सुल्तान की अधीनता स्वीकार कर लें और निश्चित धन वार्षिक भेंट के रूप में दिल्ली सुल्तान को भेजें। वहां के राजवंशों को हटाने का कोई प्रयास नहीं किया गया।
- आर्थिक रूप से दक्षिण भारत की विजयों से दिल्ली सुल्तानों को काफी लाभ हुआ और भारी धन राशि प्राप्त हुई।

26.3.2 द्वितीय चरण

अलाउद्दीन खलजी की मृत्यु के बाद दक्षिण के राज्यों ने दिल्ली सल्तनत की अधीनता स्वीकार करने से इन्कार कर दिया और वार्षिक भेंट राशि देना भी बंद कर दिया। परिणामस्वरूप दिल्ली सल्तनत की ओर से दक्षिण पर आक्रमण का नया क्रम शुरू हुआ। साथ ही सल्तनत की दक्षिण नीति में भी परिवर्तन आया।

अलाउद्दीन ने अपने अन्तिम दिनों में दक्षिण के राज्यों का उत्तरदायित्व मलिक काफूर को सौंप दिया था। उसकी मृत्यु के बाद उसके उत्तराधिकारी मुबारक खलजी (1316-1320) ने

देवगिरि पर आक्रमण किया और विशाल क्षेत्र अपने राज्य में मिला लिया। सुल्तान ने वहाँ अपने अधिकारी नियुक्त किए। इन अधिकारियों को भू-क्षेत्र **(इक्ता)** प्रदान किए गए। इन अधिकारियों को **सादा अमीर** अथवा 100 के सेनानायक कहा गया। इन **अमीरों** का कार्य अपने क्षेत्र से भू-राजस्व वसूल करना और शांति व्यवस्था बनाए रखना था। साथ ही उसने इन **अमीरों** को वारंगल पर आक्रमण करने का आदेश दिया। वारंगल का राजा प्रताप रुद्र देव पराजित हुआ और उसके राज्य के कुछ क्षेत्र भी सल्तनत में सम्मिलित कर लिए गए।

मुबारक खलजी की मृत्यु के बाद वारंगल ने पुनः वार्षिक भेंट राशि देना बंद कर दिया। नए सुल्तान गियासुद्दीन तुगलक ने अपने पुत्र उलुग खां (मौहम्मद तुगलक) के नेतृत्व में एक विशाल सेना तेलंगाना पर आक्रमण करने भेजी। कुछ प्रारंभिक असफलताओं के बाद उलुग खां वारंगल के राजा प्रताप रुद्र देव को पराजित करने में सफल हुआ। अब तेलंगाना का सम्पूर्ण क्षेत्र दिल्ली सल्तनत में मिला लिया गया। उलुग खां ने इस सम्पूर्ण क्षेत्र को प्रशासनिक इकाईयों में बांट दिया और **सादा अमीरों** के नियंत्रण में दे दिया। ये अमीर सल्तनत के प्रति प्रत्यक्ष रूप से उत्तरदायी थे। माबार भी 1323 में विजित किया गया। शरीफ जलालउद्दीन इसका गवर्नर नियुक्त किया गया और मदुरा उसका प्रशासनिक केंद्र। अब उलुग खां सुल्तान बना और मौहम्मद तुगलक की उपाधि धारण की। उसने यह देखा कि उसके राज्य के दक्षिणी क्षेत्रों की प्रशासनिक व्यवस्था अकुशल है अतः उसने दक्षिण में देवगिरि को दूसरी राजधानी के रूप में विकसित करने का निर्णय किया (1327-28)। देवगिरि का नाम दौलताबाद रखा गया। बड़ी संख्या में अमीरों, व्यापारियों, विद्वान व्यक्तियों तथा अन्य जनमानस को दौलताबाद में बसने के लिए प्रोत्साहित किया गया।

इस तरह हम देखते हैं कि मौहम्मद तुगलक की दक्षिण नीति खलजी से बिल्कुल अलग थी। तुगलक ने दक्षिण के बड़े भाग को अपने राज्य में मिलाकर वहाँ सल्तनत के ढाँचे पर भू-राजस्व व्यवस्था और प्रशासन लागू किया।

बोध प्रश्न 1

1) चोल और चालुक्य साम्राज्यों के अवशेषों पर बनने वाले नए राज्यों के नाम और उनके क्षेत्रीय विस्तार बताइए।

....

....

....

....

....

....

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

2) निम्नलिखित कथनों पर सही (✓) अथवा गलत (×) का निशान लगाइए।
   i) पांड्यों के सामन्त यादव थे।
   ii प्रताप रुद्र I काकतीय राज्य का संस्थापक था।
   iii) आधुनिक आंध्र प्रदेश के अधिकांश भाग पांड्य राज्य में थे।
3) अलाउद्दीन खलजी की दक्षिण नीति में तुगलकों द्वारा क्या परिवर्तन किए गए। लगभग पाँच पंक्तियों में लिखिए।

....

....

....

....

....

26.4 प्रशासन और अर्थव्यवस्था

इस क्षेत्र के तेरहवीं शताब्दी के अंत तक के प्रशासनिक ढांचे और आर्थिक व्यवस्था की चर्चा ... 3 की इकाई 11 व 12 में कर चुके हैं। अधिकांश प्रशासनिक संस्थायें और आर्थिक

गतिविधियाँ इस काल में भी पूर्ववत जारी रहीं। अधिकतर महत्वपूर्ण परिवर्तन बहमनी राज्य और विजयनगर साम्राज्य की स्थापना के पश्चात् ही दिखाई पड़ते हैं। इनकी चर्चा हम इकाई 27 व 28 में करेंगे। यहाँ इस इकाई में हम आर्थिक व प्रशासनिक क्षेत्र के उन छोटे-छोटे परिवर्तनों की चर्चा करेंगे जो चार दक्षिणी राज्यों की स्थापना के बाद इनमें दिखाई पड़ते हैं।

26.4.1 प्रशासन

इन राज्यों की प्रमुख राजनीतिक संस्था राजतंत्र थी। इसके साथ ही सामन्ती व्यवस्था भी सामान्यतया प्रचलित थी। दक्खन के क्षेत्र में (यादव व काकतीय राज्यों में) प्रान्तीय प्रमुखों के रूप में सफल सैनिक अधिकारियों को नियुक्त किया जाता था जिन्हें **नायक** कहा जाता था। यह **नायक** छोटे स्तर के सामन्तों पर नियंत्रण रखने, भू-राजस्व वसूल करने और कानून व्यवस्था बनाए रखने का कार्य करते थे। एक स्रोत के अनुसार राजा सामन्तों और **नायकों** को केवल छोटे गांव अनुदान में देते थे। बड़े गांवों की आय सेना के रख-रखाव के लिए अलग रखी जाती थी। काकतीय राजा **नायकों** की बढ़ती शक्ति के प्रति हमेशा सशंकित रहते थे। वे **नायकों** को अधिक समय तक एक स्थान पर नहीं रहने देते थे ताकि वे स्थानीय स्तर पर अधिक शक्तिशाली न हो सकें। विजयनगर साम्राज्य की अत्यधिक महत्वपूर्ण **नायनकार** व्यवस्था संभवतः इसी समय प्रारंभ हुई थी।

राज्य के विभिन्न विभागों की देख-रेख के लिए कई मंत्री नियुक्त किए गए थे। प्रशासन की सबसे छोटी इकाई गांव थे। गांवों की प्रशासनिक व्यवस्था का उत्तरदायित्व एक ग्राम प्रमुख के नेतृत्व में ग्राम पंचायत पर था। गांवों के समूह भी एक प्रशासनिक इकाई में संघठित किए जाते थे (काकतीय राज्य में इन्हें **स्थल** कहा जाता था तथा **स्थल** के समूह **नाडु** कहलाते थे)। विभिन्न राज्यों में यह प्रशासनिक इकाईयाँ और इनके प्रमुख भिन्न-भिन्न नामों से जाने जाते थे। **ब्रह्मदेय** व्यवस्था इस काल में भी जारी रही तथा प्रशासन और अर्थव्यवस्था में मंदिरों की भूमिका भी पूर्ववत बनी रही।

26.4.2 अर्थव्यवस्था

इस काल में भी कृषि उत्पादनों से प्राप्त कर राज्य की आय का मुख्य साधन था। राज्य द्वारा लगातार अधिक से अधिक भूमि को कृषि के अधीन लाने का प्रयास किया जाता था। सिंचाई के लिए तालाब (जिन्हें काकतीय राज्य में **समुद्रम** कहा जाता था) और बांध बनाए जाते थे। राज्य द्वारा निर्धारित भू-राजस्व की दर के विषय में निश्चित जानकारी उपलब्ध नहीं है। दौलताबाद में दिल्ली सल्तनत का नियंत्रण स्थापित हो जाने के बाद भू-राजस्व व्यवस्था में कई नई व्यवस्थाएं लागू की गईं (देखें इकाई 28)। चरागाहों, खानों और जंगलों पर राज्य का स्वामित्व था और राज्य इनसे कर वसूल करता था। चुंगी से आय और व्यापार से प्राप्त कर राज्य की आय के अन्य साधन थे (इन्हें काकतीय राज्य में **सुन्कम** कहा जाता था)। काकतीय राज्य में गाड़ी **(बन्दी)**, दास **(बनीसा)** और घोड़े रखने पर एक अलग कर वसूल किया जाता था। पांड्य राज्य मोती वाली सीपों के लिए प्रसिद्ध था। मार्कोपोलो ने भी इसके विषय में लिखा है। समुद्र से मोती निकालने वाले अपने लाभ का दस प्रतिशत राज्य को देते थे। अरब व्यापारियों तथा बाद के यूरोपीय व्यापारियों के आगमन के बाद दक्षिण भारत की व्यापारिक गतिविधियों में तेजी आई। इन व्यापारिक गतिविधियों से प्राप्त आय के कारण दक्षिण भारत की समृद्धि काफी बढ़ गई। व्यापारी संघ (गिल्ड) महत्वपूर्ण भूमिका निभाते थे। वे राज्य की कर नीति तथा अन्य आर्थिक नीतियां निर्धारित करने में मदद करते थे। सम्पूर्ण दक्षिण भारत में सर्वाधिक महत्वपूर्ण व्यापारिक समुदाय **चेट्टी** था।

26.5 स्वतंत्र राज्यों का उदय

जैसा कि पहले बताया जा चुका है चौदहवीं शताब्दी के द्वितीय चतुर्थांश में (1325-50) दक्षिण भारत में तीन स्वतंत्र राज्यों का उदय हुआ :

i) माबार
ii) बहमनी
iii) विजयनगर

इन राज्यों का उदय एक लंबी उथल-पुथल और अस्थिरता के काल के बाद हुआ। इन राज्यों के उदय में दक्षिण के राज्यों और दिल्ली सल्तनत के संपर्क का भी योगदान था। इकाई के इस

भाग में हम माबार के स्वतंत्र राज्य के उदय की चर्चा करेंगे। बहमनी और विजयनगर राज्यों के उदय का विश्लेषण हम इकाई 27 और 28 में करेंगे।

माबार

जैसा कि आपने ऊपर पढ़ा दिल्ली सल्तनत द्वारा 1323 में माबार विजय किया गया और शरीफ जलालउद्दीन एहसन इसका गवर्नर नियुक्त किया गया। कुछ वर्षों तक जलालउद्दीन दिल्ली सुल्तानों के प्रति वफादार बना रहा। परन्तु दिल्ली से दूरी और संचार संपर्क के साधनों की कमी का फायदा उठाकर 1333-34 में उसने स्वयं को स्वतंत्र घोषित कर दिया और जलालउद्दीन एहसन शाह की उपाधि धारण की। इस समय तुगलक सुल्तान अपने राज्य के अन्य कई भागों की समस्याओं में उलझा हुआ था अतः माबार को वापस लेने के लिये कोई गंभीर प्रयास नहीं किया गया। यह राज्य लगभग चालीस वर्षों तक स्वतंत्र रह सका। अंततः 1378 में विजयनगर साम्राज्य ने इसे जीतकर अपने राज्य में मिला लिया और इसकी स्वतंत्रता का अंत कर दिया।

बोध प्रश्न 2

1) दक्षिण के राज्यों में **नायकों** की भूमिका का उल्लेख कीजिये।

....

....

....

....

....

....

2) दक्षिण के राज्यों की अर्थव्यवस्था की प्रमुख विशेषताएं क्या थीं?

....

....

....

....

....

....

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

26.6 सारांश

इस इकाई में हमने चोल और चालुक्य साम्राज्यों के पतन के बाद दक्खन और दक्षिण भारत की राजनैतिक व्यवस्था का अध्ययन किया। इस क्षेत्र में चार स्वतंत्र राज्यों का उदय हुआ। ये थे—यादव, काकतीय, पांड्य और होयसल। लगभग सौ वर्षों तक इन राज्यों का स्वतंत्र अस्तित्व बना रहा। उसके बाद दिल्ली सल्तनत ने उन्हें परास्त कर दिया। दक्षिण में दिल्ली सल्तनत की विजय पताका फहराने में अलाउद्दीन खलजी के सेनानायक मलिक काफूर ने प्रमुख भूमिका निभाई परन्तु फिर भी इस काल में इन राज्यों की स्वायत्तता बनी रही। मौहम्मद तुगलक के शासनकाल में लगभग सम्पूर्ण दक्खन और प्रायद्वीपीय दक्षिण के कुछ भाग दिल्ली सल्तनत में मिला लिए गए। देवगिरि नामक महत्वपूर्ण शहर को सल्तनत की दूसरी राजधानी के रूप में विकसित किया गया परन्तु यह स्थिति अधिक समय तक जारी न रह सकी। मौहम्मद तुगलक के शासनकाल के दौरान नई राजनीतिक शक्तियां उभरी और तीन नए स्वतंत्र राज्यों माबार, बहमनी और विजयनगर का उदय हुआ। इनमें से अन्तिम दो लंबे समय तक बने रहे और दक्षिण भारतीय राजनीति का प्रमुख केंद्र रहे।

26.7 शब्दावली

ब्रह्मदेय : ब्राह्मणों को दिए जाने वाले धार्मिक भूमि अनुदान (खंड 1 देखें)

चेट्टी : दक्षिण भारत का एक प्रमुख व्यापारी समुदाय

26.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) उपभाग 26.2.1 व 26.2.2 देखें
2) i) × ii) ✓ iii) ×
3) उपभाग 26.3.1 व 26.3.2 देखें

बोध प्रश्न 2

1) देखें उपभाग 26.4.1
2) देखें उपभाग 26.4.2

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

इकाई 27 विजयनगर साम्राज्य

इकाई की रूपरेखा

27.0 उद्देश्य
27.1 प्रस्तावना
27.2 स्थापना और दृढ़ीकरण
- 27.2.1 प्रारंभिक काल 1336-1509
- 27.2.2 कृष्णदेव राय 1509-29
- 27.2.3 अस्थिरता का युग 1529-42
- 27.2.4 पुर्तगाली
- 27.2.5 सुदूर दक्षिण के साथ विजयनगर के संबंध
- 27.2.6 दक्खन के मुस्लिम राज्य

27.3 धर्म और राजनीति
- 27.3.1 प्रतीकात्मक राजत्व
- 27.3.2 ब्राह्मणों की राजनीतिक भूमिका
- 27.3.3 राजाओं, संप्रदायों और मंदिरों के मध्य संबंध

27.4 स्थानीय प्रशासन
- 27.4.1 नायनकार व्यवस्था
- 27.4.2 आयगार व्यवस्था

27.5 अर्थव्यवस्था
- 27.5.1 भूमि एवं आय संबंधी अधिकार
- 27.5.2 मंदिरों की आर्थिक भूमिका
- 27.5.3 विदेशी व्यापार
- 27.5.4 आंतरिक व्यापार और नगरीय जीवन

27.6 सामाजिक व्यवस्था
27.7 सारांश
27.8 शब्दावली
27.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

27.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप निम्नलिखित बातों के विषय में जानकारी प्राप्त करेंगे :

- विजयनगर साम्राज्य का उद्भव,
- 14वीं-16वीं सदियों के मध्य विजयनगर की शक्ति का प्रसार,
- बहमनी शासकों और सुदूर दक्षिण के साथ विजयनगर के सबंध,
- साम्राज्य को मजबूत बनाने और उसके पतन की प्रक्रिया, और
- प्रशासनिक व्यवस्था, नायनकार और आयगार व्यवस्था के विशेष संदर्भ सहित आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था।

27.1 प्रस्तावना

इस इकाई में हम दक्षिण भारत के वृहत्तर-भू-भाग में विजयनगर साम्राज्य के आविर्भाव, विस्तार और विकास के साथ-साथ उसके विघटन का अध्ययन करेंगे।

पिछली इकाई में आप दक्षिण भारतीय वृहत्तर-भू-भाग में चालुक्य और चोल साम्राज्यों के पतन के फलस्वरूप चार राज्यों के आविर्भाव के बारे में अध्ययन कर चुके हैं। दक्षिण में पांड्य और होयसल जबकि उत्तर में काकतीय और यादव राज्यों का उत्कर्ष हुआ। दिल्ली के सुल्तानों द्वारा दक्खन एवं दक्षिण भारत पर आक्रमणों से इन राज्यों की शक्ति क्षीण हुई और

वे दिल्ली सल्तनत के अधीन हो गए। इसके बाद 14वीं शताब्दी के दूसरे चतुर्थांश में बहमनी और विजयनगर राज्यों का आविर्भाव एवं प्रसार हुआ। हरिहर और बुक्का (अंतिम यादव राजा संगमा के पुत्र) वारंगल के काकतीयों के अधीन सेवारत थे। दिल्ली सुल्तानों के हाथों वारंगल की पराजय के बाद वे काम्पिली चले गए। सल्तनत द्वारा काम्पिली को अपने अधीन करने के बाद दोनों भाइयों को दिल्ली ले जाया गया, जहाँ वे इस्लाम स्वीकार कर सुल्तान के कृपापात्र बने। शीघ्र ही होयसलों ने स्थानीय लोगों की मदद से काम्पिली पर आक्रमण किया और दिल्ली के राज्यपाल को पराजित किया। इस संकट के समय में सुल्तान ने हरिहर और बुक्का को इस क्षेत्र के शासन हेतु भेजा। उन्होंने सुल्तान की शक्ति की पुनः स्थापना प्रारंभ की, किन्तु विद्यारान्या के संपर्क में आ पुनः हिंदू धर्म ग्रहण किया। उन्होंने अपनी स्वतंत्रता की घोषणा कर 1336 में विजयनगर राज्य की स्थापना की, जिसका राजा हरिहर बना। शीघ्र ही यह राज्य एक शक्तिशाली विजयनगर साम्राज्य के रूप में विकसित हुआ।

27.2 स्थापना और दृढ़ीकरण

उपभाग 8.2.4 में आप पहले ही अध्ययन कर चुके हैं कि दक्षिण भारत के राजनीतिक घटनाक्रम के निर्धारण में भौगोलिक समाकृतियों की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। स्थानीय शक्तियों के मध्य संघर्ष के मुख्य केन्द्र थे कृष्णा-गोदावरी डेल्टा, कावेरी घाटी, तुंगभद्रा दोआब और कोंकण भू-भाग जो अपनी उर्वरता एवं दूर फैले गहरे सागरों तक पहुंच के लिए जाना जाता था। 8वीं-13वीं शताब्दी के मध्य संघर्ष राष्ट्रकूटों और पल्लवों के मध्य था, जबकि बाद में टकराव विजयनगर और बहमनी राज्यों के बीच था। बहमनी शासकों ने विजयनगर शासकों को अपनी शक्ति के प्रमुख केन्द्र तुंगभद्रा से प्रायद्वीप के पार पूर्व और पश्चिम की ओर विस्तार करने के लिए विवश किया। शुरू में विजयनगर शासकों को रायचूर और तुंगभद्रा दोआब में बहमनी शक्ति को दबाने में मुश्किल उठानी पड़ी क्योंकि बहमनी शासकों की वारंगल स्थित राजाकोन्डा के वेलामाओं के साथ संधि थी। इन परिस्थितियों ने विजयनगर को उत्तर की ओर बढ़ने से रोका एवं उसे दक्षिण में तमिल-क्षेत्र तथा प्रायद्वीप के पार पूर्व और पश्चिम में विस्तार के लिए विवश किया। किन्तु बाद में यह गठबंधन टूट गया जिसका लाभ विजयनगर साम्राज्य को मिला।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

27.2.1 प्रारंभिक काल 1336-1509

इस काल में विजयनगर, बहमनी, कोण्डाविडु (ऊपरी कृष्णा-गोदावरी डेल्टा विस्तार) के रेड्डियों, राजाकोण्डा, (कृष्णा-गोदावरी डेल्टा के निचले विस्तारों) के वेलामाओं, तेलुगु-चोडाओं (कृष्णा-गोदावरी क्षेत्र के मध्य) और उड़ीसा के गजपतियों के मध्य कृष्णा-गोदावरी डेल्टा, तुंगभद्रा दोआब और मराठवाड़ा (विशेषतः कोंकण) के नियंत्रण को लेकर संघर्ष होते रहे।

इन निरंतर संघर्षों के कारण विजयनगर की सीमाएं परिवर्तित होती रहीं। 1336-1422 के मध्य मुख्य संघर्ष विजयनगर एवं बहमनी शासकों के मध्य हुए जिसमें तेलुगु-चोडा सरदारों ने बहमनी शासकों का और राजाकोण्डा के वेलामाओं एवं राजामुन्द्री के रेड्डियों ने विजयनगर का साथ दिया। इसके फलस्वरूप विजयनगर का पलड़ा भारी रहा।

1422-46 के दौरान रायचूर दोआब के अधिग्रहण को लेकर विजयनगर और बहमनी शासकों के मध्य संघर्ष छिड़ा जिसमें विजयनगर की हार हुई। इसने विजयनगर सेना की कमियों को पूरी तरह से उजागर किया। इसने शासकों को मुस्लिम तीरंदाज़ों तथा अच्छी नस्ल वाले घोड़ों को अपनी सेना में शामिल करने तथा उसके पुनर्गठन के लिए विवश किया। मुस्लिम तीरंदाज़ों को राजस्व अनुदान भी दिए गए। इस काल में संपूर्ण कोण्डाविडु क्षेत्र का समामेलन विजयनगर साम्राज्य में हुआ।

1465-1509 के मध्य एक बार फिर रायचूर दोआब संघर्षों का केन्द्र बना। प्रारंभ में विजयनगर को अपने पश्चिमी बंदरगाहों, यथा : गोवा, चौल और दभोल बहमनी शासकों को समर्पित करने पड़े। परन्तु, 1490 के आसपास यूसुफ आदिल खां के नेतृत्व में बीजापुर की स्थापना के बाद बहमनी राज्य में आंतरिक विघटन की प्रक्रिया प्रारंभ हुई। इस स्थिति का लाभ उठाते हुए विजयनगर ने तुंगभद्रा क्षेत्र (अदोनी एवं कुरनूल) पर कब्जा करने में सफलता पाई। इससे पहले पश्चिमी बंदरगाहों के हाथ से निकल जाने से अरबों के साथ अश्व-व्यापार अव्यवस्थित हो चुका था, जो विजयनगर की घुड़सवार सेना के लिए महत्वपूर्ण था। तथापि,

होनावर, भतकल, बकानूर एवं मंगलौर बंदरगाहों को हासिल करने के बाद अश्व-व्यापार पुनः प्रारंभ हुआ। इसके फलस्वरूप घोड़ों की निरंतर आपूर्ति से विजयनगर सेना की कार्यक्षमता को बल मिला।

पूर्व में उड़ीसा के गजपति एक प्रमुख शक्ति थे। उनके अधिकार-क्षेत्र में कोण्डाविडु, उदयगीर और मसूलीपट्टम आते थे। विजयनगर शासकों ने गजपतियों को गोदावरी तक खदेड़ कर कोण्डाविडु, उदयगीर एवं मसूलीपट्टम पर अधिकार जमाया। परंतु शीघ्र ही, 1481 में, बहमनियों द्वारा मसूलीपट्टम हथिया लिया गया। विजयनगर को उदयगीर, उम्मातुर (मैसूर के समीप) एवं सेरिंगपट्टम के सरदारों के निरंतर विद्रोहों का भी सामना करना पड़ता था।

27.2.2 कृष्णदेव राय 1509-29

यह काल विजयनगर के महानतम शासक कृष्णदेव राय (1509-29) की उपलब्धियों का है। इस अवधि में बहमनी शक्ति का पतन हुआ, जिसके फलस्वरूप 5 राज्यों का उद्भव हुआ : अहमदनगर में निज़ामशाही; बीजापुर में आदिल शाही; बरार में इमद शाही, गोलकोण्डा में कुतब शाही; और बीदर में बरीद शाही। बहमनी सल्तनत के विघटन की ओर अग्रसर होने के कारण कृष्णदेव राय को बीजापुर के आदिल शाहियों से कोविलकोण्डा और रायचूर तथा बहमानी शासको से गुलबर्गा एवं बीदर प्राप्त करने में सफलता मिली। कृष्णदेव राय ने गजपतियों से उदयगीर, कोण्डाविडु (कृष्णा नदी के दक्षिण में), नालगोण्डा (आन्ध्रप्रदेश), तेलँगाना, राजामुन्द्री एवं वारंगल पुनः प्राप्त किए।

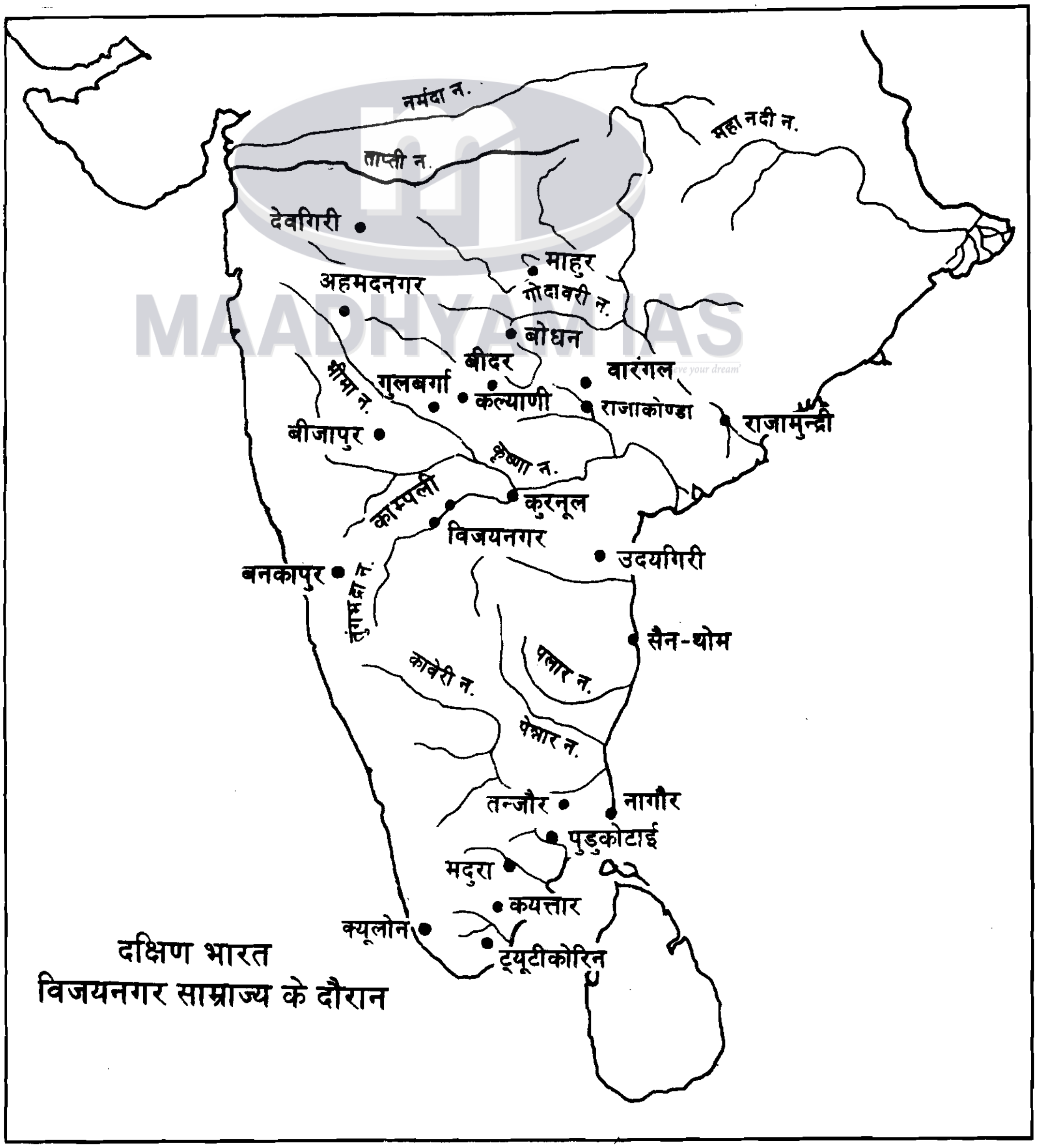

MAADHYAM IAS

दक्षिण भारत
विजयनगर साम्राज्य के दौरान

1510 से पुर्तगाली भारत में एक प्रमुख नौसैनिक शक्ति के रूप में सामने आए। गोवा और साथ ही डाण्डा राजौरी एवं दभोल पर अधिकार कर उन्होंने अश्व-व्यापार पर एकाधिकार जमाया, क्योंकि गोआ दक्खनी राज्यों में अश्व-व्यापार का प्रमुख व्यापारिक केन्द्र था। कृष्णदेव राय ने पुर्तगालियों के साथ मित्रता के संबंध बनाए रखे। अलबुकर्क की प्रार्थना पर कृष्णदेव राय ने उन्हें भतकल में दुर्ग-निर्माण की स्वीकृति दी। इसी तरह, पुर्तगाली सैनिकों ने कृष्णदेव राय की बीजापुर के इस्माइल आदिल खान के विरुद्ध जीत में पर्याप्त योगदान दिया।

27.2.3 अस्थिरता का युग 1529-42

कृष्णदेव राय की मृत्यु के साथ ही आंतरिक संघर्ष एवं बाहरी आक्रमण प्रारंभ हुए। आंतरिक स्थिति का लाभ उठाते हुए बीजापुर के इस्माइल आदिल खां ने रायचूर और मुद्गल पर कब्जा कर लिया। गजपतियों और गोलकोण्डा राजाओं ने भी कोण्डाविडु को प्राप्त करने के लिए असफल प्रयास किए। इस गड़बड़ी का फायदा उठाते हुए कृष्णदेव राय के भाई अच्युत राय (1529-42) ने विजयनगर सिंहासन हथियाने में सफलता पाई। परन्तु उसकी मृत्यु के बाद पुनः उत्तराधिकार को लेकर अच्युत राय के पुत्र और उसके भतीजे सदाशिव के बीच संघर्ष छिड़ा। सदाशिव ने 1542 में सिंहासन प्राप्त किया। लेकिन वास्तविक शक्ति कृष्णदेव राय के दामाद राम राय के हाथों में ही रही।

सदाशिव ने मुसलमानों को सेना में प्रवेश देने की नीति [illegible] और [illegible] छोड़ [illegible] दिए, जिससे सेना की कार्य-कुशलता में वृद्धि हुई।

27.2.4 पुर्तगाली

राम राय के पुर्तगालियों के साथ मित्रतापूर्ण संबंध नहीं थे। 1542 में मार्टिम अल्फांसो डिसूजा गोवा का राज्यपाल बना तथा उसने भतकल में लूटपाट की। बाद में, राम राय को अल्फांसो डिसूजा के उत्तराधिकारी जोआओ दे केस्ट्रो के साथ 1547 में एक संधि करने में सफलता मिली, जिसमें राम राय ने अश्व-व्यापार के एकाधिकार प्राप्त किए। राम राय ने पुर्तगालियों के प्रभाव क्षेत्र, कोरोमण्डल स्थित सेन थोम में उनके प्रभाव को नियंत्रित करने की कोशिश की।

27.2.5 सुदूर दक्षिण के साथ विजयनगर के संबंध

1512 तक, विजयनगर शासकों ने लगभग संपूर्ण दक्षिणी प्रायद्वीप को अपने अधिकार में ले लिया। राजागंबीर-राज्यन् (तोंडईमंडलम्) नामक छोटे-से हिन्दू राज्य, कालीकट के जमोरिन और क्विलोन (केरल) के शासकों ने विजयनगर का आधिपत्य स्वीकार किया। 1496 तक लगभग संपूर्ण सुदूर दक्षिण केप कोमोरिन तक के क्षेत्र जिसमें स्थानीय चोल, चेरा शासक के क्षेत्र आते थे, तंजौर, पुडुकोट्टाई तथा मदुरा के मानाभूषा भी आते थे, विजयनगर के अधीनस्थ हो गए। किन्तु पाण्ड्य शासक (टयूटीकोरिन तथा कयत्तर का सरदार) को गौण राजा के रूप में शासन करने दिया गया। तमिल प्रदेश के आधिपत्य का एक रोचक पहलू यह था कि जीत के बाद तेलुगु सैनिक उस दूरस्थ तथा विरल जनसंख्या वाले प्रदेश में स्थायी तौर पर बस गए। इन प्रवासियों ने वहाँ की काली मिट्टी का भरपूर फायदा उठाया एवं कालांतर में **रेड्डियों** के एक महत्वपूर्ण खेतिहर वर्ग का आविर्भाव हुआ। साथ ही, तमिल प्रदेश में **नायकों** का बिचौलियों के रूप में उद्भव भी तमिल क्षेत्र में प्रसार का ही परिणाम था।

विजयनगर राज्य एक वृहत राजनीतिक व्यवस्था थी, जिसके अंतर्गत विभिन्न लोग आते थे जैसे तमिल, कन्नड और तेलुगु भाषी समुदाय।

विजयनगर शासकों की तुंगभद्रा प्रदेश पर प्रत्यक्ष प्रादेशिक सम्प्रभुता थी। दूसरे स्थानों पर, विजयनगर शासकों ने तेलुगु योद्धाओं (**नायकों**) और उन स्थानीय सरदारों जो **नायकों** के रूप में कार्यांतरित हो चुके थे और उन सम्प्रदायी वर्गों जैसे वैष्णवों (उनकी राजनीति भूमिका के बारे में आप अगले भाग में पढ़ेंगे) द्वारा आनुष्ठानिक सम्प्रभुता स्थापित की।

27.2.6 दक्खन के मुस्लिम राज्य

आप पहले ही पढ़ चुके हैं कि 1538 तक बहमनी राज्य 5 प्रदेशों में विभाजित हुआ—बीजापुर, गोलकोण्डा, अहमदनगर, बीदर और बरार। 1542-43 में बीजापुर और गोलकोण्डा के मध्य आपसी समझ से बीजापुर को विजयनगर के विरुद्ध खुली छूट मिल गई, जबकि अहमदनगर ने बीदर की कीमत पर विस्तार की योजना बनाई। इस समझौते के साथ इब्राहीम आदिल शाह ने विजयनगर पर आक्रमण किया किंतु उसका दो टूक जवाब मिला। लेकिन यह समझ भी लंबे समय तक जारी न रह सकी। अहमदनगर ने बीदर के कल्याणी के

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

दुर्ग को हासिल करने में राम राय की सहायता प्राप्त की। राम राय के दक्खन राज्यों के साथ संबंध बहुत जटिल थे, बीदर के विरुद्ध उसने अहमदनगर की सहायता की परंतु जब अहमदनगर ने गुलबर्गा (जो कि बीजापुरी क्षेत्र था) पर आक्रमण किया, राम राय ने बीजापुर शासक का पक्ष लिया। राम राय ने विजयनगर और दक्खनी राज्यों के मध्य एक सामूहिक सुरक्षा योजना बनाने में सफलता प्राप्त की। यह स्वीकार किया गया कि किसी एक के विरुद्ध आक्रमण की स्थिति में आक्रमणकारी के विरुद्ध अन्य सभी सशस्त्र संघर्ष करने को बाध्य होंगे।

इस समझौते का खुला उल्लंघन करते हुए 1560 में अहमदनगर ने बीजापुर पर आक्रमण किया। राम राय को अहमदनगर के विरुद्ध गोलकोण्डा की सहायता मिली, परंतु यह समझौता भी शीघ्र समाप्त हो गया। अहमदनगर पराजित हुआ और कल्याणी बीजापुर को समर्पित किया गया। इसी समय, राम राय ने भी बीदर पर आक्रमण कर सुरक्षा समझौते का उल्लंघन किया। गोलकोण्डा के शासक ने अहमदनगर के साथ मिलकर कल्याणी पर आक्रमण किया। राम राय ने अपनी सेना कल्याणी के दुर्ग को हथियाने के लिए गोलकोण्डा के विरुद्ध भेजी। दूसरी तरफ, विजयनगर और बीजापुर ने मिलकर (जो पुनः एक अस्थायी मिलन था) अहमदनगर और गोलकोण्डा, के आक्रमण का सामना किया। अंत में, अहमदनगर को अपने कोविलकोण्डा, गनपुरा और पंगल के किले देने पड़े। इस दौरान राम राय की नीति एक मुस्लिम राज्य को दूसरे से लड़ाकर विजयनगर के पक्ष में शक्ति-संतुलन को बनाए रखना था। बाद में गोलकोण्डा, अहमदनगर, बीदर और बीजापुर ने सम्मिलित होकर विजयनगर के विरुद्ध मोर्चा बनाया। यह युद्ध कृष्णा नदी के निकट स्थित तालिकोटा नामक कस्बे में (1565) हुआ। विजयनगर पर इसका विनाशकारी प्रभाव पड़ा। राम राय मारा गया। यद्यपि, विजयनगर राज्य लगभग सौ और वर्षों तक अस्तित्व में रहा, इसका क्षेत्रफल घट चुका था और रायों की दक्षिण भारत की राजनीति में कोई महत्ता नहीं रही।

MAADHYAM IAS

बोध प्रश्न 1

1) कृष्णा-गोदावरी डेल्टा, तुंगभद्रा दोआब और कोंकण के नियंत्रण को लेकर विजयनगर और बहमनी राज्यों के मध्य संघर्ष का वर्णन कीजिए।

....

....

....

....

....

....

2) 50 शब्दों में पुर्तगालियों और विजयनगर के शासकों के संबंधों का वर्णन कीजिए।

....

....

....

....

....

....

3) दक्खनी मुस्लिम राज्यों के साथ संघर्षों के कारण अंततः विजयनगर के भाग्य का सूर्यास्त हो गया। टिप्पणी कीजिए।

....

....

....

....

....

....

27.3 धर्म और राजनीति

धर्म और धार्मिक वर्गों की विजयनगर साम्राज्य के राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक जीवन में एक महत्वपूर्ण भूमिका थी।

27.3.1 प्रतीकात्मक राजत्व

सामान्य तौर पर यह कहा जाता है कि धर्म की कठोर पालना का सिद्धांत विजयनगर साम्राज्य का एक प्रमुख अवयव एवं विशिष्ट लक्षण था। लेकिन, अधिकतर विजयनगर के शासकों को हिन्दू शासकों से भी युद्ध करना पड़ता था, जैसे उड़ीसा के गजपति। विजयनगर की सेना में रणनीति के दृष्टिकोण से सबसे महत्वपूर्ण दस्ते मुस्लिम सेनानायकों के अधीन होते थे। देवराया II द्वारा मुस्लिम तीरंदाज़ों को भर्ती किया गया। इन मुस्लिम टुकड़ियों ने विजयनगर के हिन्दू प्रतिद्वंद्वियों के विरुद्ध विजयनगर की जीत में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

विजयनगर शासकों ने सफल सैनिक कार्यवाहियों के फलस्वरूप **दिग्विजयन** की पदवी धारण की। विजयनगर का राजत्व एक प्रकार से प्रतीकात्मक था, क्योंकि विजयनगर के शासक अपनी सत्ता के प्रमुख केंद्र से परे भू-भागों पर अपने अधिपतियों द्वारा नियंत्रण करते थे। इस प्रतीकात्मकता का निरूपण धर्म के साधन द्वारा होता था, जो लोगों द्वारा स्वामिभक्ति निश्चित करता था। उदाहरण के तौर पर प्रतीकात्मक राजत्व का महानवमी के उत्सव में सबसे अच्छा दृष्टान्त मिलता है। यह एक वार्षिक राजकीय समारोह था, जो 15 सितम्बर और 15 अक्तूबर के मध्य नौ दिन तक चलता था। इसकी समाप्ति दसवें दिन दशहरा के उत्सव में होती थी। प्रादेशिक क्षेत्रों के महत्वपूर्ण व्यक्ति (जैसे सेनानायक) इस उत्सव में भाग लेते थे। इस उत्सव द्वारा साम्राज्य के प्रादेशिक भागों पर विजयनगर के शासकों की सम्प्रभुता की मान्यता को बल मिलता था। यद्यपि ब्राह्मण इस उत्सव में भाग लेते थे, उनकी भूमिका प्रमुख नहीं होती थी। उत्सव के आनुष्ठानिक कृत्यों का निष्पादन स्वयं राजा द्वारा किया जाता था।

27.3.2 ब्राह्मणों की राजनीतिक भूमिका

विजयनगर साम्राज्य का एक विशिष्ट लक्षण ब्राह्मणों का राजनैतिक एवं धर्म-निरपेक्ष कार्यकर्ताओं न कि धार्मिक मुखियाओं के रूप में महत्व था। अधिकतर **दुर्ग दाननायक** (दुर्ग-प्रभारी) ब्राह्मण होते थे। साहित्यिक स्रोत इस बात की पुष्टि करते हैं कि उस युग में दुर्गों का बहुत महत्व था और उनका नियंत्रण ब्राह्मणों, विशेषतः तेलुगु मूल के, द्वारा किया जाता था।

इस काल में अधिकतर शिक्षित ब्राह्मण प्रशासक व लेखाकार के रूप में राजकीय कर्मचारी बनना चाहते थे, जहाँ उनके लिए उज्ज्वल जीविकोपार्जन के साधनों की संभावनाएं थीं। शाही सचिवालय पूर्ण रूप से ब्राह्मणों द्वारा संचालित थे। ये ब्राह्मण अन्य ब्राह्मणों से भिन्न थे : ये तेलुगु **नियोगी** नामक उपजाति से संबंधित थे। वे धार्मिक कृत्यों को लेकर बहुत पुरातनपंथी नहीं थे। ब्राह्मण प्रभावशाली ढंग से राजा के लिए प्रजा की दृष्टि में वैधता स्थापित करने का कार्य करते थे। विद्‌यारन्या नाम के ब्राह्मण और उसके परिजन संगमा-बंधुओं के मंत्री थे : उन्होंने उनको पुनः हिन्दू धर्म में स्वीकार कर उनके शासन को वैधता प्रदान की।

ब्राह्मणों ने सेनापतियों के रूप में विजयनगर की सेना में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। उदाहरण के तौर पर कृष्णदेव राय के काल में ब्राह्मण सलुव टिम्मा को आर्थिक सहायता प्रदान की गई क्योंकि वह राजनीतिक व्यवस्था का एक अंगीभूत अंग था। इन ब्राह्मणों का कार्य साम्राज्य के विभिन्न भागों में दुर्गों का निर्माण और देख-रेख करना होता था, जिसके लिए उन्हें कुछ शाही गांवों (**भंडारावाडा**) का राजस्व प्राप्त होता था। शाही गांवों और अमरम गांवों (जिनकी आय स्थानीय सैनिक मुखियाओं के अधीन थी) में विभेदन किया गया।

27.3.3 राजाओं, सम्प्रदायों और मंदिरों के मध्य संबंध

दूरस्थ तमिल भू-भाग पर प्रभावी नियंत्रण हेतु विजयनगर के शासकों ने तमिल क्षेत्र के वैष्णव संप्रदायी मुखियाओं का सहयोग लिया। तमिल प्रदेश में अजनबी होने से विजयनगर के शासकों के लिए अपनी शक्ति को वैधता प्रदान करने हेतु मूलभूत तमिल धार्मिक संगठनों जैसे मंदिरों के साथ संबंध स्थापित करना आवश्यक हो गया।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

राजाओं, संप्रदायों और मंदिरों के मध्य संबंधों की निम्नलिखित चार बिंदुओं के आधार पर व्याख्या की जा सकती है :

1) राजत्व को बनाए रखने के लिए मंदिर आधारभूत थे।
2) संप्रदायी मुखिया राजाओं और मंदिरों के मध्य एक कड़ी का कार्य करते थे।
3) यद्यपि मंदिरों की सामान्य देख-रेख स्थानीय संप्रदायी वर्गों द्वारा की जाती थी, मंदिरों संबंधी विवादों को सुलझाने का कार्य राजा के हाथों में था।
4) ऐसे विवादों में राजा का हस्तक्षेप वैधानिक न होकर, प्रशासनिक होता था।

1350-1650 के मध्य दक्षिण भारत में कई मंदिरों का निर्माण हुआ। भौतिक संपत्ति (निश्चित गांवों के कृषि उत्पादन का एक हिस्सा) के रूप में मंदिरों को प्राप्त होने वाले अनुदानों और उपहारों के फलस्वरूप विजयनगर राज्य के अधीन एक विशेष कृषि-अर्थव्यवस्था ने जन्म लिया। (इसका अध्ययन अर्थव्यवस्था के भाग में किया जाएगा।)

संगमावंश के आरंभिक शासक शैव थे, जिन्होंने विजयनगर के विरूपक्क्षा (पम्पापति) के मंदिर का पुनःनिर्माण किया। सलूव मुख्यतया वैष्णव थे, जिन्होंने शैव और वैष्णव दोनों ही मंदिरों को संरक्षण दिया। कृष्णदेव राय (तुलूव शासक) ने कृष्णास्वामी मंदिर (वैष्णव मंदिर) का निर्माण किया और शिव मंदिरों को भी अनुदान दिया। अराविडु राजाओं ने भी वैष्णव मंदिरों को उपहार प्रदान किए।

27.4 स्थानीय प्रशासन

आप खंड 3 में इस युग से पहले की स्थानीय संस्थाओं (जैसे **सभा**, **नाडु** और **उर**) के बारे में पढ़ चुके हैं। परवर्ती चोलों के समय में प्रादेशिक सभा (**नाडु**) और साथ ही गांव सभाओं (**सभा** और **उर**) की शक्ति कमजोर हो गई थी। विजयनगर साम्राज्य के काल में **नायक** और **आयगार** व्यवस्था की प्रमुखता के बावजूद ये संस्थाएं पूर्ण रूप से लुप्त नहीं हुईं।

27.4.1 नायनकार व्यवस्था

नायनकार व्यवस्था विजयनगर के राजनैतिक संगठन की एक महत्वपूर्ण विशेषता थी। सेनानायक और योद्धा **नायक** या **अमरनायक** की पदवी धारण किया करते थे। इन योद्धाओं को इनकी जातीय पहचान, कर्तव्यों या अधिकारों और विशेषाधिकारों के आधार पर वर्गीकृत करना कठिन है।

नायक संस्था का गहन अध्ययन दो पुर्तगाली विद्वानों फरनाओ नूनिज़ और डोमेन्गो पाएस द्वारा किया गया जिन्होंने 16वीं शताब्दी में तुलूव वंश के कृष्णदेव राय और अच्युत राय के राज्य-काल में भारत की यात्रा की थी। उन्होंने **नायकों** को महज रायों (केंद्रीय सरकार) के एजेंट के रूप में देखा। नूनिज़ द्वारा वर्णित **नायकों** द्वारा रायों को दी जाने वाली अदायगी, के प्रमाण से सामंती दायित्वों का प्रश्न सामने आता है। विजयनगर के अभिलेख और बाद में मेकेन्जी की पांडुलिपियां **नायकों** का प्रादेशिक **नायकों** के रूप में चित्रण करते हैं, जिनकी राजनीतिक महत्वाकांक्षाएं कई बार शासकों के उद्देश्यों के विपरीत टकराती थीं। एन.के. शास्त्री (1946 में) ने 1565 के पूर्व और उसके बाद के **नायकों** के मध्य एक विभाजन-रेखा खींची है। पहले वे पूर्ण रूप से शासकों पर निर्भर थे, जबकि बाद में ये **नायक** अर्द्ध-स्वतंत्र हो गए थे। किंतु, बाद में उन्होंने अपनी राय में संशोधन करते हुए 1565 के पूर्व **नायकों** को सैनिक-मुखिया बताया जिनके अधीन सैनिक जागीरें होती थीं। एक नवीनतम कृति में (**सोरसेज़ ऑफ इंडियन हिस्ट्री**) उन्होंने विजयनगर साम्राज्य को एक सैनिक महासंघ बताया जिसमें कई सरदार मिलकर उनमें से सर्वाधिक शक्तिशाली के नेतृत्व में सहयोग करते थे। उन्होंने इस बात पर बल दिया कि इस्लाम के बढ़ते खतरे को देखते हुए विजयनगर शासकों को सैन्य-शक्ति और धर्म पर महत्व देना पड़ा। कृष्णास्वामी **नायक** व्यवस्था को सामंती मानते हैं। परंतु वेंकटरमन्या का कहना है कि **नायक** व्यवस्था में यूरोपीय सामंतवाद के प्रमुख लक्षण जैसे स्वामिभक्ति, सम्मान और उप-सामंतीकरण अनुपस्थित थे। इसी तरह डी.सी. सरकार इस सिद्धांत का खंडन करते हुए इसकी सामंतवाद के एक रूपांतर के रूप में इसकी एक प्रकार की जमींदार प्रथा के रूप में व्याख्या करते हैं, जिसमें राजा हेतु सैनिक सेवाओं के लिए **अमरनायकों** को भूमि बांटी जाती थी।

इसी प्रकार, डी.सी. सरकार और टी.वी. महालिंगम विजयनगर के **नायकों** को योद्धाओं के रूप में प्रस्तुत करते हैं, जिन्हें केंद्रीय सरकार द्वारा सैनिक सेवा के बदले पद (**कर**) दिया जाता

था। **अमरनायक** उस सैन्य अधिकारी को कहा जाता था, जिसके अधीन निश्चित संख्या में सैन्य टुकड़ियां रहती थीं। इन **नायकों** को भूमि या क्षेत्र में राजस्व अधिकार प्राप्त थे, जो **अमरम (अमरमकरा या अमरामहाली)** कहलाते थे। तमिल-प्रदेश और विजयनगर साम्राज्य में भूमि का लगभग 3/4 भाग इसके अंतर्गत आता था। **नायकों** की जिम्मेदारियां और गतिविधियों में से कुछ इस प्रकार थीं : मंदिरों को उपहार देना, तालाबों का निर्माण, उजाड़ भूमि को फिर से उपजाऊ बनाना और मंदिरों से शुल्क वसूल करना। तथापि, तमिल अभिलेख राजा या उसके अधिकारियों को **नायकों** द्वारा भुगतान का उल्लेख नहीं करते हैं।

मेकेन्जी की पांडुलिपियों के आधार पर कृष्णास्वामी का मानना है कि विजयनगर के सेनापतियों (पहले कृष्णदेव राय के अधीन) ने कालांतर में स्वतंत्र **नायक** राज्यों की स्थापना की। इन खतरों से बचने के लिए विजयनगर सम्राटों ने सामुद्रिक व्यापार पर अधिक नियंत्रण का प्रयास किया, जो घोड़ों की खरीद-फरोख्त के लिए महत्वपूर्ण था। उन्होंने अच्छी नस्ल के घोड़ों के लिए उच्च दाम देकर इस व्यापार पर अपना एकाधिकार स्थापित करना चाहा। उन्होंने वफादार सैनिकों की सुरक्षित सुरक्षा सेनाएं बनायीं। इस प्रकार, जहाँ एक तरफ तेलुगु **नायक** विजयनगर साम्राज्य की शक्ति के स्रोत थे, वहीं दूसरी ओर वे इसके प्रतिद्वंद्वी भी थे।

27.4.2 आयगार व्यवस्था

इसका पहले ही संकेत दिया जा चुका है कि विजयनगर युग में स्वायत्त स्थानीय संस्थाओं को विशेषतः तमिल भाग में, आघात पहुंचा। विजयनगर काल से पहले कर्नाटक तथा आंध्र में स्थानीय संस्थाओं के पास तमिल क्षेत्र की अपेक्षा कम स्वायत्तता थी। विजयनगर काल में कर्नाटक में स्थानीय क्षेत्रीय विभाजन बदल दिए गए। फिर भी, **आयगार** व्यवस्था जारी रही और संपूर्ण वृहतर क्षेत्र में व्यापक रूप से प्रचलित थी। 15-16वीं शताब्दी के मध्य **नाडु** और **नट्टार** की क्षीण होती शक्ति के फलस्वरूप तमिल प्रदेश में इसका विस्तार हुआ। **आयगार** ग्राम्य सेवक अथवा कर्मचारी होते थे, तथा इसके अंतर्गत परिवारों के समूह आते थे। ये थे—मुखियागण (**रेड्डी** और **गौडा, मनियम**), लेखाकार (**करनम सेनभोवा**) और पहरेदार (**तलाईयारी**)। इन्हें गांव का एक भाग या गांव में एक भूखंड दे दिया जाता था। कभी-कभी उन्हें एक निश्चित लगान अदा करना पड़ता था, किंतु सामान्यतया ये भूखंड **मान्या** अर्थात् कर-मुक्त होते थे, क्योंकि उनकी कृषिय आय पर कोई नियमित कर नहीं लगाया जाता था। कुछ विशेष स्थितियों में ग्राम्य कर्मचारियों को नकद के रूप में उनकी सेवा के लिए सीधा भुगतान किया जाता था। अन्य ग्राम्य-सेवकों जैसे धोबी या पुजारी को भी आनुष्ठानिक कार्यों और गांव के समुदायों की सेवा के लिए भुगतान भूमि के रूप में किया जाता था। अन्य सामान्य सेवाएं देने वाले ग्राम्य सेवकों में चमड़ा-कारीगर, जिनके बनाए चमड़े के थैले सिंचाई के साधनों (**कपिला** या **मोहते**) में उपयोगी थे, कुम्हार, लुहार, बढ़ई, जलापूर्ति कारक व्यक्ति (**निरनिक्कर** : जो सिंचाई-मार्गों की देख-रेख करता था और साहूकारों, महाजनों का पर्यवेक्षक था) थे। आयगार व्यवस्था की विशिष्टता यह थी कि भूमि द्वारा आय का विशेष आवंटन तथा निश्चित नकद भुगतान पहली बार ग्राम्य सेवकों (जिनका निश्चिय कार्य था)को किया गया।

बोध प्रश्न 2

1) दस पंक्तियों में विजयनगर साम्राज्य में ब्राह्मणों की भूमिका और कार्यों का वर्णन कीजिए।

....

....

....

....

....

....

....

2) निम्नलिखित को परिभाषित कीजिए :

अमरम

....

....

भंडारावाडा

....

....

दुर्ग दाननायक

....

....

आयगार

....

....

3) दस पंक्तियों में **नायनकार** व्यवस्था की व्याख्या कीजिए।

....

....

....

....

....

....

....

....

....

....

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

27.5 अर्थव्यवस्था

इस भाग में हम विभिन्न भूमि एवं आय संबंधी अधिकारों तथा मंदिरों की आर्थिक भूमिका का अध्ययन करेंगे। हम विदेशी और आंतरिक व्यापार के पहलुओं तथा नगरीय जीवन का अध्ययन भी करेंगे।

27.5.1 भूमि एवं आय संबंधी अधिकार

चावल मुख्य पैदावार थी। कोरोमण्डल से लेकर पूलिकट तक काले और श्वेत दोनों किस्म के चावल उगाए जाते थे। इसके अलावा, दालों और चनों जैसे खाद्यान्न उगाए जाते थे। अन्य महत्वपूर्ण उत्पादों में गर्म मसाले (विशेषतः काली मिर्च), नारियल और सुपारियां थीं। भू-राजस्व राज्यों की आय का मुख्य साधन था। राजस्व निर्धारण की दर साम्राज्य के विभिन्न भागों में और एक ही स्थान पर भूमि की उर्वरता और उसकी क्षेत्रीय अवस्थिति के आधार पर भिन्न-भिन्न थी। सामान्य तौर पर यह आय का 1/6 भाग थी, परंतु कुछ मामलों में यह अधिक, 1/4 भाग तक थी। ब्राह्मणों और मंदिरों पर यह क्रमशः 1/20 भाग और 1/30 भाग थी। इसका भुगतान नकद और वस्तुओं दोनों के रूप में किया जाता था। हमें भूमि-काश्तकारी के तीन मुख्य वर्गों का संदर्भ मिलता है: **आमरा, भंडारावाडा** और **मान्या**। ये गांवों की आय के विभाजन को प्रदर्शित करते हैं। **भंडारावाडा** राजा के अधीनस्थ गांव थे, यह वर्ग सबसे छोटा था। इसकी आय के एक भाग का उपयोग विजयनगर के दुर्गों के हितार्थ होता था। **मान्या** (कर-मुक्त) गांवों की आय का उपयोग ब्राह्मणों, मंदिरों और मठों की देख-भाल हेतु होता था। सबसे बड़ा वर्ग **आमरा** गांवों का था, जिन्हें विजयनगर शासकों द्वारा **अमरनायकों** को प्रदत्त किया जाता था। **आमरा** गांवों की भूमि पर **अमरनायकों** का मालिकाना हक नहीं होता था, परंतु इससे होने वाली आय पर उनका विशेषाधिकार था। आमरा काश्तकारी (**पट्टेदारी**) इस अर्थ में मुख्यतया अवशिष्ट संपत्ति थी कि इसमें से ब्राह्मणों और दुर्गों के लिए कटौती करने के पश्चात इसका वितरण होता था। सभी गांवों का

तीन-चौथाई हिस्सा इस वर्ग में आता था। अधिकांश इतिहासकार अमरमकनी शब्द का अर्थ ''जागीर'' अथवा ''भूसम्पत्ति'' बताते हैं, लेकिन इसका शाब्दिक अर्थ 1/16वां हिस्सा (**मकनी**) है। इससे संकेत मिलता है कि **अमरनायक** गांव की आय के एक सीमित भाग पर ही दावा कर सकते थे। इस काल में **मान्या** अधिकारों में भी परिवर्तन हुए। राज्य द्वारा भूमि की पट्टेदारी व्यक्तिगत रूप से, **(एकाभोगन)** ब्राह्मणों और ब्राह्मणों के समूहों, साथ ही मठों जिसमें गैर-ब्राह्मण शैव सिद्धान्ता और वैष्णव गुरू भी सम्मिलित थे, को दी जाती थी। परंतु राज्य द्वारा दिये जाने वाले अनुदानों में तुलनात्मक रूप से **देवदान** अनुदान (मंदिर को दिए जाने वाले अनुदान) में बहुत वृद्धि हुई।

भूमि कर के अतिरिक्त कई व्यावसायिक कर प्रचलित थे। ये दुकानदारों, खेतों में काम करने वाले कर्मचारियों, चरवाहों, धोबियों, कुम्हारों, संगीतकारों और जूते बनाने वालों पर लगाए जाते थे। संपत्ति कर का भी प्रावधान था। चराई और मकानों पर भी कर आरोपित किए गए। गांववासियों को गांव के अधिकारियों के भरण-पोषण हेतु भी भुगतान करना पड़ता था। इसके अलावा, **स्थल दायम, मार्गदायम** और **मनुला दायम** तीन मुख्य परिवहन शुल्क थे।

भूमि अधिकार की एक अन्य श्रेणी के अंतर्गत सिंचाई में पूँजी निवेश द्वारा आय प्राप्त की जाती थी। इसे तमिल क्षेत्र में **दसावन्दा** और आन्ध्र तथा कर्नाटक में **काट्टु-कोडगे** के नाम से जाना जाता था। सिंचाई संबंधित इस प्रकार की कृषि गतिविधियाँ अर्द्ध-शुष्क भागों में होती थीं जहां जलराशिकीय तथा स्थलाकृतिक लक्षण विकासात्मक कार्यों के लिए उपयुक्त होते थे। **दसावन्दा** और **काट्टु-कोडगे** इस तरह के विकास कार्य जैसे किसी तालाब या नहर का निर्माण करने वाले व्यक्ति द्वारा अर्जित अधिक उत्पादकता के भाग थे। आय पर यह अधिकार व्यक्तिगत और हस्तांतरण योग्य होता था। इस बढ़ी हुई उत्पादकता का एक भाग उस गांव के किसानों को जाता था, जहाँ विकास संबंधी कार्य किया जाता था।

27.5.2 मंदिरों की आर्थिक भूमिका

विजयनगर के काल में मंदिर महत्वपूर्ण भूस्वामी बने। सैकड़ों गांवों का अनुदान उन देवी-देवताओं को किया गया, जिनकी पूजा विशाल मंदिरों में होती थी। मंदिर-अधिकारी **देवदान** गांवों की व्यवस्था अनुदान के सही उपयोग के लिए करते थे। **देवदान** गांवों की आय से धार्मिक कर्मचारियों का पोषण होता था। इसका उपयोग आनुष्ठानिक कृत्यों हेतु खाद्य चढ़ावा या अन्य सामग्रियों (अधिकतर सुगंधित वस्तुओं और वस्त्रों) की खरीद हेतु किया जाता था। राज्य द्वारा मंदिरों को आनुष्ठानिक प्रयोजनों हेतु नकद धर्मदान भी दिए जाते थे।

MADHYAM IAS 'way to achieve your dream'

मंदिरों द्वारा सिंचाई-संबंधी कार्य भी किया जाता था। **देवदान** भूमि प्राप्त बड़े मंदिरों में एक सिंचाई विभाग होता था, जिसका कार्य मंदिरों को प्राप्त मुद्रा-अनुदानों का समुचित उपयोग करना था। मंदिरों को नकद अनुदान देने वालों को परिवर्द्धित उत्पादन क्षमता से प्राप्त खाद्य भेंट (**प्रसादम्**) का एक भाग प्राप्त होता था।

वास्तव में, मंदिर दक्षिण भारत की आर्थिक गतिविधियों के मुख्य केन्द्र थे। वे केवल विशाल भूस्वामी ही नहीं थे, बल्कि बैंकिग गतिविधियों में भी संलग्न थे। उन्होंने कई लोगों को रोज़गार दिया। महालिंगम एक अभिलेख का उल्लेख करते हैं जिसमें एक मंदिर में 370 सेवकों के होने का वर्णन है। आनुष्ठानिक सेवाओं के लिए मंदिर स्थानीय साज-सामान खरीदते थे। आर्थिक प्रयोजनों के लिए वे व्यक्तियों और ग्राम्य सभाओं को ऋण प्रदान करते थे। ये ऋण भूमि के बदले में दिए जाते थे, जिसकी आय मंदिरों को प्राप्त होती थी। तिरुपति मंदिर को राज्य से प्राप्त नकद धर्मदानों का पुनः सिंचाई कार्यों में उपयोग होता था। इसके फलस्वरूप प्राप्त आय का प्रयोग धार्मिक कार्यों के लिए किया जाता था। श्रीरंगम मंदिर में नकद अनुदानों का प्रयोग त्रिचनापल्ली के व्यवसाय संघों को व्यावसायिक ऋण प्रदान करने में किया जाता था। मंदिरों के अपने व्यापार संघ होते थे, जो अपनी निधि का उपयोग विभिन्न उद्देश्यों के लिए करते थे। इस प्रकार, मंदिर लगभग एक स्वतंत्र आर्थिक व्यवस्था के रूप में कार्य करते थे जिसमें व्यक्ति और संस्थाएं आर्थिक संबंधों द्वारा बंधे हुए थे।

27.5.3 विदेशी व्यापार

विदेशी व्यापार संबंधी जानकारी हमें कृष्णदेव राय के **अमुक्तामाल्यदा,** डोमेन्गो पाएस और नूनिज़ द्वारा प्राप्त होती है। उनमें अश्व-व्यापार का रोचक वर्णन मिलता है। भारतीयों की भूमिका विदेशी व्यापार में न्यूनतम थी। बारबोसा के अनुसार, भारतीय समुद्री व्यापार पर मुस्लिम सौदागरों का पूर्ण नियंत्रण था। शासकों द्वारा उनके साथ अच्छा बर्ताव किया जाता था। उसके अनुसार लाल सागर से लौटने पर सम्राट उन्हें स्थानीय लेन-देन में सहायता हेतु

एक **नायर** अंगरक्षक, **चेट्टी** लेखाकार और एक दलाल प्रदान करता था। उनकी प्रतिष्ठा इतनी थी कि कायल में, मुक्ता मात्स्यकी (मोती ढूंढने संबंधी कार्य) पर सम्राट के एकाधिकार को भी एक मुस्लिम सौदागर को दे दिया गया। अश्व-व्यापार पर अरबों और बाद में पुर्तगालियों का नियंत्रण था। घोड़ों को अरब, सीरिया और तुर्की के पश्चिमी सामुद्रिक बंदरगाहों पर लाया जाता था। गोवा द्वारा विजयनगर और साथ-ही दक्खनी सल्तनतों को घोड़ों की आपूर्ति की जाती थी। सैन्य दृष्टि से दक्षिणी राज्यों के लिए घोड़ों की बहुत महत्ता थी क्योंकि भारत में अच्छी नस्ल के घोड़े प्रजनित नहीं होते थे। इसके अलावा, विजयनगर के उत्तरी दक्खनी मुस्लिम राज्यों के साथ संघर्ष ने मध्य एशिया से आयातित घोड़ों की उत्तरी भारत द्वारा आपूर्ति पर अंकुश लगा दिया था। घोड़ों के अलावा, हाथी-दांत, मोती, मसाले, मूल्यवान पत्थर, नारियल, ताड़-गुड़, नमक इत्यादि भी आयातित किए जाते थे। मोती फारस की खाड़ी और लंका तथा मूल्यवान पत्थर पेगु से मंगाए जाते थे। मक्का से मखमल और चीन से साटन, रेशमी, जरीदार एवं बूटेदार कपड़ा आयात किया जाता था। सफेद चावल, गन्ना (ताड़-गुड़ से भिन्न) और लोहे का मुख्यतया निर्यात किया जाता था। विजयनगर से हीरों का आयात होता था। नूनिज़ वर्णन करता है कि इसकी हीरों की खानें विश्व में सबसे बड़ी थीं। मुख्य खानें कृष्णा नदी के तट पर और कुरनूल तथा अनन्तपुर में थीं। इसके फलस्वरूप, विजयनगर और मलाबार में हीरा, नीलम और माणिक जैसे बहुमूल्य पत्थरों को काटने और परिष्कृत करने के बड़े उद्योगों का विकास हुआ।

27.5.4 आंतरिक व्यापार और नगरीय जीवन

समकालीन विदेशी वृतांत प्रदर्शित करते हैं कि विजयनगर शासकों के काल में स्थानीय लंबी दूरी के व्यापार में वृद्धि हुई। नगरों के मध्य यात्रियों के लिए रास्ते और उनसे संबंधित सुविधाएं श्रेष्ठ थीं। कम दूरी तक खाद्यान्नों के परिवहन हेतु गाड़ियों का प्रयोग किया जाता था। नदी तटीय नौपरिवहन विशेषत: पश्चिमी तट पर अप्रवाही जल-व्यवस्था का भी संदर्भ मिलता है। लंबी दूरी के परिवहन हेतु भारवाही पशुओं का इस्तेमाल होता था। कुछ स्थानों में लंबे मार्गों के परिवहन में सुरक्षा हेतु सशस्त्र रक्षकों का उपयोग किया जाता था। प्रभावशाली स्थानीय व्यक्तियों ने व्यापार की महत्ता समझते हुए नगर-आधारित व्यापार और पूरक व्यापार को नियमित और नियतकालिक मेलों में प्रोत्साहन दिया। उत्सव के समय मंदिरों की ओर जाने वाले मुख्य मार्गों पर नियमित और नियतकालिक मेलों का आयोजन होता था। इन मेलों का आयोजन समीप के कस्बों के व्यापार-संघों द्वारा किया जाता था और इनकी देखभाल व्यापार-संघ के अध्यक्ष द्वारा की जाती थी जिसे **पट्टनस्वामी** कहते थे। स्थानीय प्रभावशाली लोगों, जैसे **गौडा** या **नाडु** के मुखिया के आदेशों पर नगरीय व्यापार को बढ़ावा देने हेतु मेलों का आयोजन होता था। 14वीं से 16वीं शताब्दियों के मध्य के साहित्यिक और अभिलेखीय प्रमाण 80 प्रमुख व्यापारिक केन्द्रों के अस्तित्व को प्रकट करते हैं। कुछ नगर धार्मिक होते थे तो अन्य व्यापारिक और प्रशासनिक केन्द्र होते थे। इन नगरों में कई बाज़ार होते थे, जिनमें व्यापारियों द्वारा व्यवसाय किया जाता था। वे नगरों को किराया अदा करते थे। विशेष वस्तुओं के बाज़ार भी पृथक होते थे। कृषि संबंधी और गैर-कृषि संबंधी उत्पादों के बाज़ार बायें और दायें हाथ के जाति संबंधों के अनुरूप अलग-अलग होते थे। तीर्थयात्रियों के लिए पवित्र आहार का व्यवसाय और आनुष्ठानिक कार्यों और पदों के अधिकार की खरीद मंदिर-संबंधित नगरीय-व्यापार के महत्वपूर्ण अंग थे।

आन्ध्र के व्यापारियों और शिल्पकारों के संगठनों ने किसी विशेष नगर से घनिष्ठ संबंध बनाए, जैसे तेलुगु के तेलियों और व्यापारियों ने बेरवाडा (कृष्णा ज़िले में) शहर से संबंध स्थापित किए। इन नगरों की आय, परिवहन शुल्क दुकानों और घरों के किराए से होती थी। मंदिर-दस्तावेज़ व्यापारियों और शिल्पकारों की संपन्नता और प्रतिष्ठा का वर्णन करते हैं। विजयनगर राज्य में एक ऐसी नगरीय-विशेषता थी, जो उस युग के किसी अन्य दक्षिण भारत के राज्य में नहीं थी। राजधानी-शहर अपने परिवेश में बाज़ारों, महलों, मंदिरों, मस्जिदों इत्यादि को अंगीभूत किए हुए था। तथापि यह नगरीय-विशिष्टता 16वीं शताब्दी के मध्य तक पूर्ण रूप से नष्ट हो गई।

27.6 सामाजिक व्यवस्था

विजयनगर साम्राज्य के दक्षिण भारतीय वृहत्तर भाग में सामाजिक संरचना भारतीय समाज की आम संरचना से भिन्न है। सामाजिक संरचना की यह विलक्षणता तीन तरह से थी:

- दक्षिण भारतीय ब्राह्मणों की धर्म-निरपेक्ष भूमिका,
- निचले सामाजिक समूहों में दोहरा विभाजन, और
- समाज का क्षेत्रीय खंडीकरण।

ब्राह्मण जिन स्थानों पर रहते थे, वहाँ भूमि पर उनका नियंत्रण था, एवं उनकी प्रतिष्ठा और शक्ति भी भूमि पर आश्रित लोगों के नियंत्रण से थी। पुजारी वर्ग की हैसियत से पवित्र कार्यों के कारण भी उन्हें प्रतिष्ठा प्राप्त थी। असंख्य वैदिक मंदिरों के आविर्भाव से, जिन्हें गांवों (**देवदान**) का धर्मदान प्राप्त था, ब्राह्मणों को मंदिर-अधिकारियों के रूप में इतनी शक्ति प्राप्त हुई कि उनका अन्य जातियों और धार्मिक संस्थाओं पर धर्म-विध्यात्मक नियंत्रण हो गया। इन धार्मिक केन्द्रों के व्यवस्थापकों की हैसियत से ब्राह्मणों को बहुत अधिक धर्म-निरपेक्ष अधिकार प्राप्त थे।

क्षेत्रीय खंडीकरण का तात्पर्य यह है कि तमिल प्रदेश में सामाजिक समुदायों का, प्राकृतिक उप-क्षेत्र और उससे संबंधित व्यावसायिक ढाँचे के आधार पर, विभाजन था। दक्षिण भारत के सामाजिक समुदायों का अपने स्थान से दूर स्थित समुदायों से कम संबंध था। वे भाई-बहिन और मामा-भांजी विवाह को वरीयता देते थे।

सामाजिक संरचना की एक और विशिष्टता निचली जातियों का दोहरा विभाजन था, जो बाएं और दाएं हाथ परिकल्पना से संबंध रखता था (दाएं हाथ विभाजन के अनुरूप वैष्णव और बाएं हाथ की जातियां शैव होती थीं)। अधिकतर दाएं हाथ की जातियां कृषि उत्पादन तथा कृषिय उत्पादों में स्थानीय व्यापार में संलग्न थीं। बाएं हाथ की जातियां गैर-कृषि उत्पादों में व्यापार तथा चल-शिल्प उत्पादन में संलग्न थीं।

विजयनगर युग में किसान सामाजिक व्यवस्था का आधार था, जिसपर समाज के सभी अन्य वर्ग निर्भर थे। तमिल काव्य शैली, **सत्काम** मुख्य कृषक वर्ग को विशुद्ध **सत-शूद्र** मानती थी। उन्होंने अपने लिए आनुष्ठानिक पवित्रता और आदरणीय धर्म-निरपेक्ष दर्जा प्राप्त किया।

मंदिर किसी विशेष देवता की पूजा करने वाले वर्गों के सामाजिक अंतरण की रूपरेखा या निर्धारण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते थे। दक्षिण भारतीय राजशाही में वंश-परंपरा की एक प्रमुख विशेषता वंश-देवता की सामूहिक भक्ति थी। किसानों के देवताओं के तीर्थों (जैसे **अम्मान**) के गैर-ब्राह्मण पुजारी ब्राह्मण प्रभुत्व के विशाल शिव और विष्णु तीर्थ-स्थानों की व्यवस्था में भी भाग लेते थे। विशाल तीर्थ-स्थलों पर स्थित संप्रदायी संगठन के अधिष्ठानों (मठों) में ब्राह्मण, गैर-ब्राह्मण परंपरा दोनों के व्यक्ति होते थे। इस प्रकार, इस युग के सामाजिक संगठन में ब्राह्मण, बाएं हाथ और दाएं हाथ की जातियां (जिनमें आदर योग्य कृषि-जातियां **वेल्लाल** और बुनकरों जैसी कमज़ोर जातियां आती थीं) सम्मिलित थीं।

बोध प्रश्न 3

1) विजयनगर साम्राज्य में भू-पट्टेदारी की प्रकृति पर एक टिप्पणी कीजिए।

....

....

....

....

2) विजयनगर शासकों के काल में विदेशी व्यापार के विशेष संदर्भ सहित वाणिज्य और व्यापार की प्रगति का वर्णन कीजिए।

....

....

MAADHYAM IAS

....

....

3) दाएं हाथ और बाएं हाथ जातियों को परिभाषित कीजिए।

....

....

....

....

....

27.7 सारांश

विजयनगर राज्य का अध्ययन प्रदर्शित करता है कि:

- मुख्य संघर्ष विजयनगर और बहमनियों के मध्य था,
- इस संघर्ष के केन्द्र कृष्णा-गोदावरी डेल्टा, कावेरी-घाटी, तुंगभद्रा दोआब और कोंकण प्रदेश थे,
- विजयनगर राजशाही बाहरी भागों में प्रतीकात्मक थी, जिसमें शासक अपने अधिपतियों के द्वारा नियंत्रण रखते थे,
- ब्राह्मण धार्मिक मुखियाओं से अधिक राजनीतिक और धर्म-निरपेक्ष कर्मचारी थे,
- विजयनगर शक्ति का आधार उसकी दो प्रमुख राजनीतिक संस्थाएं **नायनकार** और **आयगार** थीं,
- मंदिर न केवल धार्मिक केन्द्र अपितु आर्थिक गतिविधियों के महत्वपूर्ण केन्द्र भी थे: वे बैंकिंग और सिंचाई के कार्यों का निर्वाहन करते थे,
- वाणिज्य और व्यापार उन्नत अवस्था में था। किंतु, भारतीय व्यापारियों की विदेशी (समुद्री) व्यापार में भूमिका नगण्य थी, जबकि मुस्लिम सौदागरों का इस पर एकाधिकार था।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

27.8 शब्दावली

आमरा	: स्थानीय सेनानायकों को प्रदत्त गांव
भंडारावाडा	: गांव की शाही भूमि
देवदान	: मंदिरों को प्राप्त गांव
दसावन्दा और कट्टू-कोडगे	: सिचाई-निवेश से प्राप्त आय
मान्या	: गांव स्तर के अधिकारियों को दी जाने वाली कर-मुक्त भूमि
नाडु	: देखें खंड 3
सभा	: देखें खंड 3
उर	: देखें खंड 3

27.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) देखें उपभाग 27.2.1
2) देखें उपभाग 27.2.2, 27.2.4
3) देखें उपभाग 27.2.6

बोध प्रश्न 2

1) देखें उपभाग 27.3.2
2) देखें उपभाग 27.3.2, 27.4.2
3) देखें उपभाग 27.4.1

बोध प्रश्न 3

1) देखें उपभाग 27.5.1
2) देखें उपभाग 27.5.3, 27.5.4
3) देखें भाग 27.6

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

इकाई 28 बहमनी राज्य

इकाई की रूपरेखा

28.0 उद्देश्य
28.1 प्रस्तावना
28.2 बहमनी शक्ति का उदय
28.3 विजय तथा सुदृढ़ीकरण
28.3.1 प्रथम चरण : 1347-1422
28.3.2 द्वितीय चरण : 1422-1538
28.4 अफाकियों और दक्खनियों के मध्य संघर्ष एवं सम्राट के साथ उनके संबंध
28.5 केन्द्रीय एवं प्रांतीय प्रशासन
28.6 सैन्य संगठन
28.7 अर्थव्यवस्था
28.8 सामाजिक व्यवस्था और संस्कृति
28.9 सारांश
28.10 शब्दावली
28.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

28.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप निम्नलिखित के बारे में जानकारी प्राप्त करेंगे :

- बहमनी राज्य का उद्भव,
- पुराने दक्खनी कुलीन वर्ग और नए आने वालों (अफाकी) के मध्य संघर्ष और कैसे इसने अंत में बहमनी सल्तनत के पतन के मार्ग को प्रशस्त किया, और
- बहमनी राज्य का प्रशासनिक ढांचा, सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था तथा अन्य सांस्कृतिक पहलू।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

28.1 प्रस्तावना

आप पढ़ चुके हैं कि दक्षिण में दिल्ली सल्तनत का प्रथम अतिक्रमण अलाउद्दीन खलजी के काल में हुआ। मौहम्मद तुगलक के काल में दक्षिण में महत्वपूर्ण विजयें हासिल हुईं। इस इकाई में, हम दक्खन में तुगलक शासन के अंत और इसके स्थान पर बहमनी सल्तनत के सत्तारूढ़ होने का आकलन करेंगे। इसमें बहमनी विजयों, राज्य के सुदृढ़ीकरण, प्रशासन व्यवस्था और संस्कृति संबंधी पहलुओं का ब्यौरा भी दिया जाएगा।

28.2 बहमनी शक्ति का उदय

आइये हम बहमनी राज्य की स्थापना से ठीक पहले के दक्खन में राजनीतिक स्थिति का सर्वेक्षण करें। दक्खन के अधिकांश भागों की विजय और उनका दिल्ली सल्तनत में अधिग्रहण ''मौहम्मद तुगलक के काल में संपन्न हुआ। उसने दक्खनी प्रदेश में विस्तृत प्रशासनिक व्यवस्था कायम की। कुतलग खान को प्रदेश का प्रमुख राज्यपाल अथवा ''वायसराय'' नियुक्त किया गया। सम्पूर्ण प्रदेश को 23 प्रान्तों अथवा **इक्लीमों** में विभाजित किया गया। इनमें से अधिक महत्वपूर्ण जाजनगर (उड़ीसा), मरहट (महाराष्ट्र), तेलंगाना, बीदर, काम्पिली और द्वारसमुद्र थे। बाद में, मालवा भी दक्खन के राज्यपाल के अधीन किया गया। प्रत्येक **इक्लीम** को कई ग्रामीण जिलों (**शिक**) में विभाजित किया गया। राजस्व वसूली

के लिए प्रत्येक **शिक** को **हजारी** (एक हज़ार) और **सदी** (एक सौ) में विभाजित किया गया। मुख्य अधिकारी **शिकदार, वली, अमीर हजाराह** और **अमीर-ए सादाह** थे। राजस्व अधिकारी **मुतसर्रिफ, कारकुन, चौधरी** इत्यादि कहलाते थे।

इस व्यवस्था में सर्वाधिक शक्तिशाली व्यक्ति दक्खन का "वायसराय" होता था जो वास्तव में 23 प्रांतों वाले विशाल प्रदेश का स्वामी होता था। अन्य महत्वपूर्ण व्यक्ति जिसके पास विस्तृत अधिकार थे, **अमीर-ए सादाह** होता था जिसके अधीन सौ गांव होते थे।

इस विस्तृत प्रशासनिक व्यवस्था के बावजूद सुल्तान का वास्तविक नियंत्रण निम्नलिखित कारणों से कमजोर था :
- दिल्ली से दूरी,
- विषम भौगोलिक परिस्थितियां,
- "वायसराय" व अन्य अधिकारियों को प्राप्त विस्तृत अधिकार।

इन परिस्थितियों में दक्खन में नियुक्त अधिकारियों के केन्द्र के साथ असंतोष से दिल्ली के साथ संबंधों के बिगड़ने का खतरा रहता था।

संकट का सूत्रपात

दक्खन को तुगलक शासन से मुक्त कराने में **अमीर-ए सादाह** की भूमिका महत्वपूर्ण थी। उच्च-वंश के इन अधिकारियों के सैन्य अधिकारियों व राजस्व संग्रहकर्त्ताओं के रूप में दोहरे कर्त्तव्य थे। उनका अपने प्रदेश के लोगों के साथ सीधा संबंध था। दक्षिण में विद्रोहों की झड़ी लगने पर मौहम्मद तुलगक ने इसके लिए अमीरों द्वारा हासिल विस्तृत अधिकारों को जिम्मेदार पाया। इसके फलस्वरूप उसने उन्हें दबाने की नीति का अनुसरण किया जिसने बदले में दक्खन में तुगलक वंश के पतन की शुरुआत की। हम संक्षेप में इस काल में हुए विभिन्न विद्रोहों और उनके एक नये राज्य व नए वंश के उदय में योगदान की चर्चा करेंगे।

केन्द्र के विरुद्ध सबसे पहला विद्रोह 1327 में गुलबर्गा में सागर में हुआ। इसका नेतृत्व स्थानीय सरदारों व अमीरों के सहयोग से बहाउद्दीन गुरशस्प ने किया। विद्रोह को दबा दिया गया परन्तु इसने राजधानी को दिल्ली की अपेक्षा अधिक केन्द्रीय स्थान में स्थापित करने की जरूरत की ओर मार्ग प्रशस्त किया, जहाँ से दक्षिणी प्रान्तों को नियंत्रित किया जा सके। इस प्रकार, मौहम्मद तुगलक ने 1328 में देवगिरि को साम्राज्य की दूसरी राजधानी बनाया। परन्तु यह योजना असफल हुई क्योंकि उन्हीं सरदारों ने, जिन्हें दक्खन में केन्द्रीय शक्ति मजबूत करने हेतु भेजा गया था, दिल्ली के नियंत्रण को कमजोर किया।

प्रथम बड़ा सफल विद्रोह माबार में हुआ। माबार के राज्यपाल ने दौलताबाद के कुछ सरदारों के साथ सहयोग कर बगावत का झण्डा उठाया। 1336-37 में बीदर के राज्यपाल ने भी विद्रोह किया परन्तु इसे असफल किया गया।

मौहम्मद तुगलक ने अनुभव किया कि दक्खन में तुगलक शासन के लिए खतरा उन पुराने कुलीन वंश के लोगों से है जिन्हें उसने दिल्ली से दक्षिण में भेजा था। इसके फलस्वरूप उसने इनको नये अमीरों द्वारा बदलने की नीति अपनाई जिससे ये उसके प्रति वफादार रहे। परन्तु **अमीर-ए सादाह** के विद्रोही रवैये की वजह से यह सफल नहीं हुई, जिन्होंने अंततः दक्खन में एक स्वतंत्र राज्य कायम करने में सफलता पाई।

1344 के लगभग दक्खन से मिलने वाली कुल राजस्व राशि में शीघ्र गिरावट आई। मौहम्मद तुगलक ने दक्खन को 4 **शिकों** में विभाजित कर उन्हें नव-मुस्लिमों के नेतृत्व में रखा जिन्हें बर्नी **"नये अमीर"** कहता है। इसे **अमीर-ए सादाह** वर्ग द्वारा पसंद नहीं किया गया। 1345 में, गुजरात में नियुक्त सरदारों ने षड्यंत्र में शामिल होकर दिल्ली के विरुद्ध विद्रोह किया। मौहम्मद तुगलक को गुजरात की इस बगावत में **अमीर-ए सादाह** के हाथ को लेकर शक हुआ। मौहम्मद तुगलक ने, दक्खन के वायसराय को रायचूर, गुलबर्गा, बीजापुर, इत्यादि के अमीरों को भड़ौच आने का निर्देश जारी करने को कहा। **अमीर-ए सादाह** ने मौहम्मद तुगलक के हाथों कठोर सजा के डर से दक्खन में तुगलक-शासन पर चोट करते हुए स्वयं को दौलताबाद में स्वतंत्र घोषित किया और देवगिरि के वरिष्ठ अमीर नासिरउद्दीन इस्माइल शाह को अपना सुल्तान चुना। दौलताबाद में अपने शासन की स्थापना के बाद, सर्वप्रथम गुलबर्गा को राज्य में मिलाया गया। दिल्ली सल्तनत का विरोध करने वालों में राजपूत, दक्खनी,

मगोल, गुजराती अमीर और तंजौर के राजा द्वारा भेजे गए सैनिक दल थे। अंत में उनकी जीत हुई। परन्तु, इस्माइल शाह ने हसन कंगू (अलाउद्दीन हसन बहमन शाह) के पक्ष में गद्दी छोड़ दी और इस प्रकार 1347 में दक्खन में बहमनी राज्य की नींव पड़ी। नये राज्य के अधीन दक्खन का सम्पूर्ण क्षेत्र था। अगले 150 वर्षों तक इस राजशाही ने दक्षिण की राजनीतिक गतिविधियों में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

28.3 विजय तथा सुदृढ़ीकरण

बहमनी राज्य के राजनीतिक विकास को दो चरणों में विभाजित किया जा सकता है : प्रथम चरण (1347-1422) में गतिविधियों का केन्द्र गुलबर्गा था जबकि द्वितीय चरण (1422-1538) में राजधानी बीदर स्थानांतरित हो गई जो अपेक्षाकृत अधिक केन्द्रीय स्थिति में थी और उपजाऊ थी। इस चरण में अफाकियों और दक्खनियों के मध्य संघर्ष अपनी चरम सीमा पर पहुंचा।

28.3.1 प्रथम चरण : 1347-1422

1347-1422 के मध्य के युग में कई प्रमुख लड़ाइयां जीती गईं। आन्ध्र प्रदेश में कोटगीर, महाराष्ट्र में कन्दहार, कर्नाटक में कल्याणी, तेलंगाना में भोंगीर, गुलबर्गा (कर्नाटक) में सागर, खेमभवी, मालखेर और सेरम, महाराष्ट्र में मनरम अक्कालकोट और महेन्द्री तथा मालवा (मध्य प्रदेश) में मांडू को इस काल में बहमनियों की अधीनता स्वीकार करनी पड़ी। बहमनी राज्य का फैलाव उत्तर में मांडू से दक्षिण में रायचूर तक तथा पूर्व में भोंगीर से पश्चिम में दभोल और गोवा तक था।

इस युग में तेलंगाना और विजयनगर के रायों से बहमनियों की मुख्य प्रतिद्वन्द्विता थी। तेलंगाना के राय के साथ एक मुठभेड़ के बाद गोलकोण्डा बहमनियों को सुपुर्द कर दिया गया। लेकिन, विजयनगर के साथ युद्ध निर्णायक सिद्ध नहीं हुआ और तुंगभद्रा दोआब पर दोनों शक्तियों का साझा प्रभुत्व जारी रहा।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

शीघ्र ही चौहदवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में बहमनी शासक को विजयनगर के पक्ष में गोवा से हाथ धोना पड़ा। खेरला (मध्य प्रदेश) के राजा, जिसे बहमनी राज्य के खिलाफ विद्रोह करने के लिए विजयनगर, मालवा और खानदेश के शासकों से प्रोत्साहन मिलता था, के विरुद्ध बहमनी शासक के अभियान में राजा को समर्पण करने को विवश होना पड़ा। तेलंगाना में दो प्रतिद्वन्द्वियों वेमा (राजमुन्द्री के) वेलामा (आन्ध्र-गुट) को क्रमशः विजयनगर और बहमनियों द्वारा सहयोग मिलता था। बहमनी शासकों ने तेलंगाना में घुसपैठ करने की कोशिश की परन्तु वेमाओं द्वारा उन्हें खदेड़ दिया गया। क्षेत्रीय हितों के लिए बहमनी शासकों ने एक आन्ध्र गुट के विरुद्ध दूसरे को समर्थन देना जारी रखा। पंद्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में विजयनगर के खिलाफ संघर्ष में बहमनी शासकों की असफलताओं का एक मुख्य कारण वेलामाओं द्वारा पूर्व में दिए गए समर्थन को त्याग कर विजयनगर के साथ सहयोग करना था।

28.3.2 द्वितीय चरण : 1422-1538

1422-1538 के मध्य की अवधि की विशेषता राजधानी का गुलबर्गा से बीदर स्थानांतरित होना था। यह केन्द्र में और मार्मरिक महत्व की स्थिति में थी। तीन भाषाई क्षेत्रों (मराठी, कन्नड और तेलुगु) का यहाँ संगम होता था। इस पर आधिपत्य के लिए विजयनगर और बहमनी शासकों में संघर्ष इस दौर में भी जारी रहा। इस अवधि में वारंगल को बहमनी राज्य में मिलाया गया। मालवा और गुजरात के स्वतंत्र राज्यों (देखें, इकाई 23, 24) को भी बहमनी शक्ति का आवेग सहना पड़ा। जहाँ एक ओर मालवा कमजोर साबित हुआ, दूसरी तरफ गुजरात की सल्तनत के साथ प्रमुख लड़ाइयों के बावजूद बहमनी शासकों को सफलता प्राप्त नहीं हुई। इस संघर्ष का एक महत्वपूर्ण परिणाम खानदेश की सल्तनत और बहमनी शासकों के बीच एक मोर्चे का, गुजरात से आने वाले खतरे का मुकाबला करने हेतु, निर्माण होना था।

1436-1444 के मध्य विजयनगर और बहमनी शासकों में दो मुठभेड़ हुईं। पहली में बहमनी शासकों को हार माननी पड़ी। तथापि, दूसरी, फरिश्ता के अनुसार अंततः बहमनी के लिए लाभदायक रही। संगमेश्वर और खानदेश के राजाओं ने भी अधीनता स्वीकार की। गुजरात के विरुद्ध युद्ध में बहमनी शासकों की हार का मुख्य कारण अमीरों के दो गुटों, दक्खनियों और अफाकियों (इनके बारे में आप इसके बाद वाले भाग में पढ़ेंगे) के मध्य आंतरिक संघर्ष था। दक्खनियों ने बहमनी शासकों के साथ विश्वासघात किया। इसके फलस्वरूप, खानदेश के विरुद्ध युद्ध में दक्खनियों को शामिल नहीं किया गया जिसके गंभीर परिणाम निकले। 1446 में खेरला और संगमेश्वर (कोंकण) के राजाओं पर प्रतिबंध लगाने के लिए दक्खनियों और अफाकियों को भेजा गया। इस अभियान के बड़े जटिल परिणाम निकले। दक्खनियों ने अफाकियों पर दोषारोपण किए जिसके फलस्वरूप उन्हें सजा दी गयी। अफाकियों ने दरबार में अपने पक्ष की वकालत कर पुनः प्रभुत्व प्राप्त किया। इस प्रकार के संघर्ष साम्राज्य के लिए हानिकारक थे। इसी युग में महमूद गावां ने बहमनी मंत्री के रूप में प्रसिद्धी प्राप्त की। उड़ीसा के शासक ने तेलंगाना के राजा को साथ मिलाकर बहमनी शासक पर आक्रमण

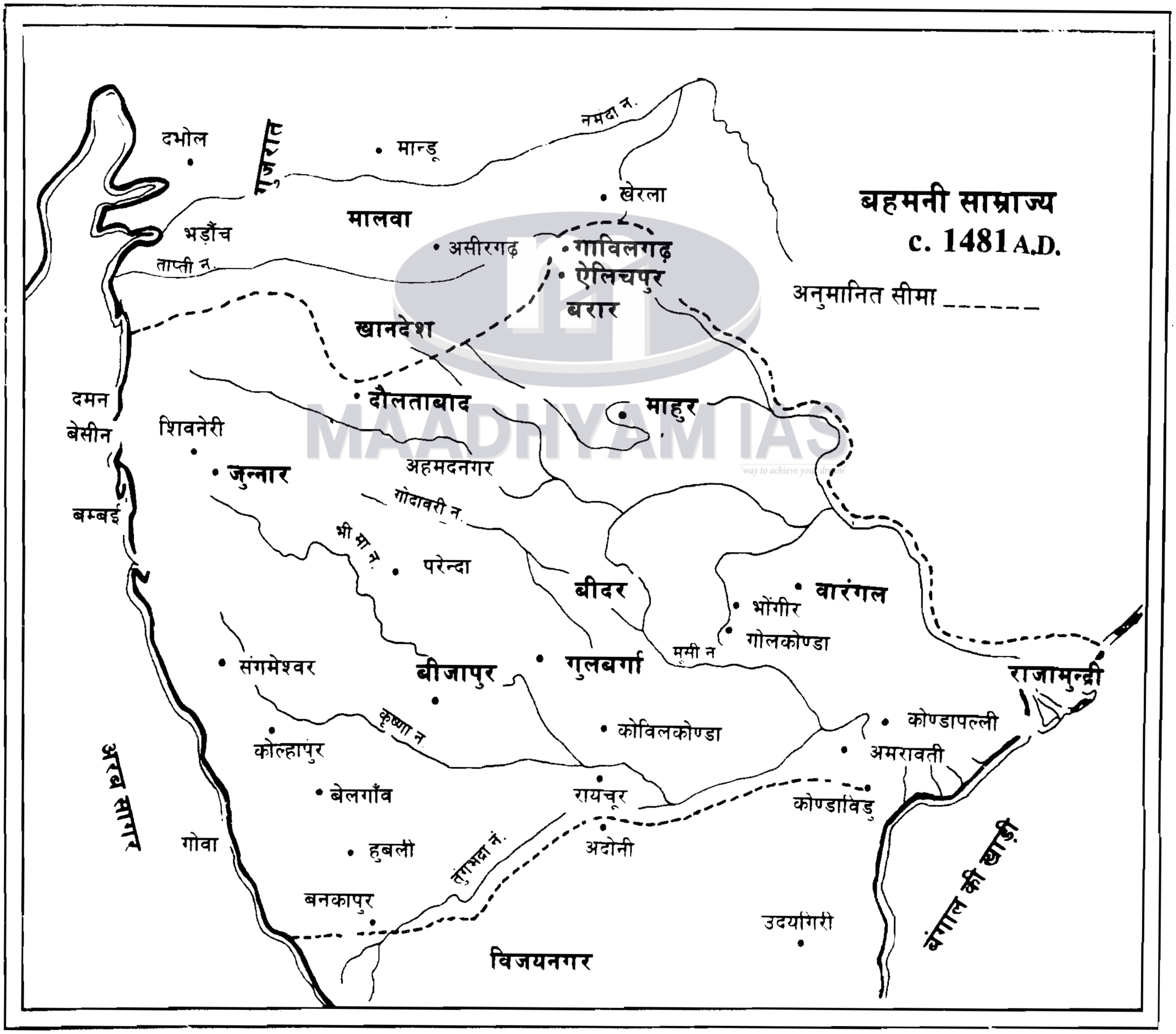

MAADHYAM IAS

किया किन्तु महमूद गावां द्वारा खदेड़ दिये गये। मालवा के शासक ने भी बहमनी प्रदेशों जैसे, बीदर को हासिल करने के प्रयास किये। परन्तु, गुजरात द्वारा बहमनी शासक को समर्थन देने के कारण उसे लौटना पड़ा। मालवा का एक अन्य और प्रयास भी विफल रहा। महमूद गावां ने हुबली, बेलगाम और बागलकोट पर विजय प्राप्त की। बम्बई-कर्नाटक क्षेत्र बहमनी प्रभाव के अंतर्गत आ गया। गावां के समर्थ नेतृत्व में उड़ीसा से गोवा (कोंकण) तक साम्राज्य का विस्तार हुआ। अंत में, महमूद गावां गुटों के संघर्ष का शिकार हुआ और दक्खनी गुट द्वारा उसकी हत्या हुई। इसके बाद राज्य विघटन के मार्ग पर चल पड़ा। विजयनगर के विरुद्ध किए गए युद्धों की समाप्ति विपत्तियों में हुई व अंततः 1538 तक बहमनी वंश की समाप्ति हुई और यह राज्य 5 प्रदेशों में विभाजित हुआ—बरार, बीदर, अहमदनगर, बीजापुर और गोलकुण्डा।

बोध प्रश्न 1

1) तुगलक शासन से दक्खन को मुक्त करने में **अमीर-ए सादाह** की भूमिका का वर्णन कीजिए। अपना उत्तर 8 पंक्तियों में दें।

....

....

....

....

....

....

....

....

2) खाली स्थानों को पूरा कीजिए

i) **अमीर-ए सादाह** .... थे।

ii) .... विद्रोह 1327 में गुलबर्गा में हुआ।

iii) .... बहमनी और विजयनगर शासकों के मध्य संघर्ष का केन्द्र था।

iv) वेमा .... के शासक थे।

MAADHYAM IAS

3) 14-15वीं शताब्दी के मध्य दक्खन का इतिहास, बहमनी और विजयनगर शासकों के मध्य प्रभुत्व के सवाल को लेकर संघर्षों का इतिहास था। 80 शब्दों में टिप्पणी करें।

....

....

....

....

....

....

....

28.4 अफाकियों और दक्खनियों के मध्य संघर्ष एवं सम्राट के साथ उनके संबंध

खंड-5 में हम देख चुके हैं कि अमीरों की भूमिका न केवल सल्तनत को बनाने के लिए थी बल्कि राजा बनाने के रूप में भी थी। प्रत्येक सुल्तान की चाह अमीरों की वफादारी प्राप्त करना था। यही परंपरा बहमनी राज्य में भी जारी रही। अलाउद्दीन बहमन शाह के काल में ही हमें तीन गुट नजर आते हैं : एक वह गुट था जिसने दक्खन में एक स्वतंत्र राज्य की स्थापना में अलाउद्दीन बहमन शाह की सहायता की, दूसरा तुगलक गुट और तीसरे गुट में स्थानीय सरदार और उनके मातहत (**असामी**) थे, जिनके व्यक्तिगत स्वार्थ थे।

अलाउद्दीन मुजाहिद के काल (1375-78) के बाद में अमीरों के इस संयोजन में एक नये घटक का आगमन हुआ, यह था—**अफाकी।** इस शब्द का अर्थ है "सार्वभौमिक" —वे लोग जिन्हें मूलस्थान से उखाड़ दिया गया है और वे अब किसी प्रदेश से संबंधित नहीं हैं। उन्हें **गरीब-उद दयार** अर्थात् "अजनबी" भी कहा जाता था। ये अफाकी यहाँ इरान, ट्रान्सऑक्सियाना और ईराक से आये थे। दक्खनियों और अफाकियों के मध्य वास्तविक संघर्ष 1397 में गियासुद्दीन तहमतान के काल में हुए जब उसने कई अफाकियों को उच्च पदों पर नियुक्त किया : उदाहरणार्थ, सलाबत खाँ को बरार का राज्यपाल, मुहम्मद खां को सर-ए नौबत और अहमद बेग कजनीवी को **पेशवा** बनाया गया। इन उच्च पदों पर, जो पहले दक्खनियों के हाथों में थे, अफाकियों की नियुक्ति ने पुराने अमीर वर्ग और तगलचिन के नेतृत्व वाले तुर्की गुट में बहुत असंतोष को जन्म दिया। तगलचिन ने 1397 में इनके प्रभाव को कम करने में सफलता प्राप्त की जब उसने सफल षड्यंत्र कर गियासुद्दीन को मरवा कर शम्सुद्दीन दाउद II (1397) को एक "कठपुतली" सुल्तान बनाया और स्वयं के लिए **मलिक नाएब** और **मीर जुमला** के पद हासिल किए। अहमद I (1422-36) ने पहली बार, एक अफाकी खलफ हसन बसरी (जिसकी मदद से उसे सिंहासन प्राप्त हुआ था) को **वकील-ए सल्तनत** के उच्चतम पद पर नियुक्त कर उसे **मलिक-उत तुज्जार** (व्यापारियों का शहज़ादा) की उच्चतम पदवी दी। अफाकियों की यह अद्भुत प्रगति उनके द्वारा दक्खनियों की तुलना में लगातार वफादारी के प्रदर्शन के कारण संभव हुई। अफाकी सैयद हुसैन बडखोही व साथियों ने ही अहमद को अपने शासनकाल के प्रारंभिक वर्षों में विजयनगर अभियान के दौरान वहाँ से बच निकलने में सहायता प्रदान की थी। इसके परिणामस्वरूप अहमद I ने अफाकी तीरन्दाजों की एक विशेष टुकड़ी तैयार की। उन्हें इसी प्रकार के अन्य लाभ भी मिलते रहे। इस नीति से दक्खनियों में बहुत असंतोष फैला। इन दो गुटों के मध्य विवाद को अहमद के गुजरात के विरुद्ध मुहिम में देखा जा सकता है जब दक्खनियों के असहयोग के कारण **मलिक-उत तुज्जार** के नेतृत्व में बहमनी सेना को पराजय उठानी पड़ी। दोनों गुटों के बीच यह खाई अहमद II के शासनकाल में और बढ़ी। खानदेश की सेनाओं के आक्रमण के समय दक्खनियों के असहयोग के कारण केवल अफाकी दलों को खलफ हसन बसरी के नेतृत्व में भेजा जा सका। हुमायूं शाह (1458-1461) ने दोनों गुटों के मध्य सामंजस्यता लाने के प्रयास किये। अहमद III (1461-65 ई.) के काल में, दक्खनियों ने शासन की पतवार **ख्वाजा-ए जहां** तुर्क, **मलिक-उत तुज्जार** और महमूद गावां के हाथों में देख अनुभव किया कि अफाकियों के हाथों में शक्ति केन्द्रित थी। दूसरी तरफ, अफाकी इसलिए असंतुष्ट थे क्योंकि अहमद II के अधीन उन्हें प्राप्त शक्तियों में, उसके उत्तराधिकारी के काल में, बहुत कमी कर दी गयी। मौहम्मद III (1463-1482) के मुख्यमंत्री महमूद गावां ने भी दोनों गुटों के मध्य साम्य स्थापित करने के प्रयास किए। इसके परिणामस्वरूप, उसने मलिक हसन को तेलंगाना का **सर-ए लश्कर** और फतउल्लाह को बरार के **सर-ए लश्कर** के पद पर नियुक्त किया। किंतु महमूद गावां स्वयं जरीफ-उल मुल्क दक्खनी और मिफ्ताह हब्शी के षड्यंत्रों का शिकार बना। इसके बाद गुटों का साम्य बिखर गया और बाद के कमजोर राजा एक या दूसरे गुट के हाथों में कठपुतली बनते गए।

शिहाबुद्दीन महमूद के शासनकाल (1482-1512) में संघर्ष चरमोत्कर्ष पर पहुंचा। जबकि राजा का अफाकियों के प्रति स्पष्ट झुकाव था, दक्खनियों ने हब्शी (अबीसीनियाई) गुट से दोस्ती की। हब्शी गुट ने, 1487, में राजा को मारने का एक दुस्साहसिक प्रयास किया किंतु यह असफल रहा। इसके परिणामस्वरूप बड़ी संख्या में दक्खनियों का कत्ले-आम प्रारंभ हुआ जो तीन दिनों तक जारी रहा। इन गुटों के झगड़ों ने केन्द्र को कमजोर कर दिया था। शिहाबुद्दीन का शासनकाल कासिम बरीद, मलिक अहमद, निजाम-उल मुल्क, बहादुर गिलानी आदि के विद्रोहों और षड्यंत्रों से त्रस्त रहा। शिहाबुद्दीन की मृत्यु (1518) ने इन सरदारों को अपने प्रांतों में लगभग खुली छूट प्रदान की। अंत में, बीजापुर के इब्राहीम आदिल शाह ने सर्वप्रथम अपनी स्वतंत्रता की घोषणा 1537 में की। इस प्रकार बहमनी सल्तनत के क्षेत्रीय विखण्डन की प्रक्रिया प्रारंभ हुई।

28.5 केन्द्रीय एवं प्रांतीय प्रशासन

बहमनी शासकों ने दिल्ली सुल्तानों की प्रशासनिक व्यवस्था का अनुकरण किया। शासन की बागडोर राजा के हाथों में थी और उसकी सहायता के लिए **वकील, वज़ीर, बख्शी** और **काज़ी** थे। इनके अलावा **दबीर** (सचिव), **मुफ्ती** (कानून की व्याख्या करने वाला), **कोतवाल**

और **मुहतसिब** (जन-आचरण पर अंकुश रखने वाले) होते थे। **मुनहियानों** (जासूसों) को न केवल राज्य के हर भाग में नियुक्त किया जाता था, बल्कि इस बात के प्रमाण हैं कि मौहम्मद के शासनकाल में उन्हें दिल्ली में भी नियुक्त किया गया।

मुहम्मद I के शासनकाल में बहमनी राज्य को चार **तरफों** या प्रांतों में बांटा गया, ये थे—दौलताबाद, बरार, बीदर और गुलबर्गा। इन प्रान्तों में शासन का प्रमुख **तरफदार** कहलाता था। गुलबर्गा के महत्व को देखते हुए केवल बहुत ही विश्वासपात्र अमीरों की नियुक्ति वहाँ की जाती थी जिन्हें **मीर नायब** (वायसराय) कहा जाता था—ये अन्य प्रांतों के राज्यपालों (**तरफदारों**) से भिन्न थे। कालांतर में, राज्य की सीमाओं के विस्तार के साथ, महमूद गावां ने साम्राज्य को आठ प्रांतों में विभाजित किया। साम्राज्य के कुछ क्षेत्रों को सुल्तान द्वारा सीधे अपने नियंत्रण में (**खासा-ए सुल्तानी**) ले लिया गया।

28.6 सैन्य संगठन

सेना का सेनापति **अमीर-उल उमरा** होता था। सेना में मुख्यतः सिपाही और घुड़सवार होते थे। हाथियों का प्रयोग भी प्रचलित था। शासक-गण बड़ी संख्या में अंगरक्षकों को रखते थे, जो **खासाखेल** कहलाते थे। ऐसा बताया जाता है कि मौहम्मद I के पास 4000 अंगरक्षक थे। इसके अतिरिक्त, **सिलहदार** होते थे जो राजा के व्यक्तिगत शस्त्रागार के प्रभारी का कार्य करते थे। आवश्यकता पड़ने पर **बरबरदानों** को सेना की लामबंदी के लिए कहा जाता था। बहमनी सेना की प्रमुख विशेषता बारूद का प्रयोग था जो सेना के लिए लाभदायक सिद्ध हुआ।

इटली के यात्री, निकोलो कोंती जिसने 15वीं शताब्दी में भारत की यात्रा की थी, लिखा है कि उनकी सेना भालों, तलवारों, विभिन्न हथियारों, ढालों, धनुषों और बाणों का प्रयोग करती थी। वह आगे कहता है कि वे "प्राक्षेपिक और गोलाबारी की मशीनों और साथ ही घेराबंदी के हथियारों का प्रयोग करते थे।" 1500-17 के दौरान भारत-यात्रा करने आये दुआर्ते बारबोसा ने भी ऐसे ही विचार प्रकट किए हैं कि वे गदाओं, फरसों, धनुषों और बाणों का प्रयोग करते थे। वह आगे लिखता है : "वे (मुस्लिम) ऊंची काठी पर बने आसनों पर सवार.... काठी से बंधे हुए लड़ते हैं.... हिन्दू.... अधिकतर पैदल लड़ते थे, जबकि कुछ घोड़ों की पीठ पर..."। महमूद गावां ने सैन्य प्रशासन को कारगर बनाया। पूर्व में **तरफदारों** को किलों के किलेदार नियुक्त करने का पूर्ण अधिकार था। गावां ने एक किले को एक **तरफदार** के न्यायाधिकार के अंतर्गत रखकर, बाकी अन्य सभी एक ही प्रांत के किलों को केन्द्रीय नियंत्रण में ले लिया। भ्रष्टाचार पर अंकुश हेतु, उसने एक नियम बनाया कि प्रत्येक अधिकारी को उसके द्वारा संचालित प्रत्येक 500 सिपाहियों के हिसाब से एक निश्चित रकम दी जाए। जब इस अधिकारी को नकद वेतन की जगह एक क्षेत्र से राजस्व वसूलने का अधिकार दिया जाता था तो उसे राजस्व वसूलने में होने वाला खर्चा नकद धन के रूप में अलग से दिया जाता था। यदि वह नियत संख्या में सिपाहियों को रखने में असफल होता था तो उसे उसी अनुपात में रकम राजकोष में वापस करनी होती थी।

MAADHYAM IAS

बोध प्रश्न 2

1) हम कैसे कह सकते हैं कि **अफाकियों** और दक्खनियों के मध्य संघर्ष ने अंततः बहमनी राज्य के भविष्य पर मुहर लगा दी? 10 पंक्तियों में उत्तर दें।

2) निम्नलिखित को परिभाषित कीजिए :

i) **अफाकी** ....

....

ii) दक्खनी ....

....

iii) **मलिक-उत तुज्जार** ....

....

iv) **मुनहियान** ....

....

3) महमूद गावां द्वारा प्रशासन और सेना के संगठन में कौन-कौन से मुख्य परिवर्तन किए गए? 60 शब्दों में वर्णन करें।

....

....

....

....

....

....

....

....

MAADHYAM IAS

28.7 अर्थव्यवस्था

महमूद गावां ने भूमि की नियमित नाप के और गांवों व कस्बों की सीमाओं के निर्धारण के आदेश दिये। इस प्रकार, इस क्षेत्र में उसे राजा टोडरमल का पूर्वगामी माना जा सकता है। इन उपायों से राजकोष को बहुत लाभ हुआ। प्रथम, साम्राज्य की आय निश्चित और अग्रिम रूप से ज्ञात हो गयी, द्वितीय, इसने अमीरों के भ्रष्टाचार को भी कुछ सीमा तक कम कर दिया, जिससे राज्य की आय में वृद्धि हुई।

बहमनी राज्य में, वाणिज्य और व्यापार उन्नत अवस्था में था। एक रूसी यात्री निकितीन, जो 1469-74 के दौरान दक्खन में रहा बीदर में वाणिज्यक गतिविधियों के बारे में पर्याप्त सूचना देता है। उसके अनुसार प्रधानतः घोड़ों, वस्त्रों, रेशम और मिर्च का व्यापार होता था। उसका आगे कहना है कि शिखबालुदिन पेरातिर और अलादिनान्द के एक बाजार में बड़ी संख्या में लोग एकत्रित होते थे वहाँ व्यापार दस दिनों तक जारी रहता था। वह बहमनी राज्य के सामुद्रिक-बंदरगाह मुस्तफाबाद-दभोल का एक वाणिज्य-केन्द्र के रूप में जिक्र करता है। दभोल न केवल भारतीय बल्कि अफ्रीकी बंदरगाहों से भी भली-भांति जुड़ा हुआ था। घोड़ों को अरब, खुरासान और तुर्किस्तान से आयातित किया जाता था। वाणिज्य और व्यापार मुख्यतया हिंदू व्यापारियों के हाथ में था। कस्तूरी और फर (लोम) का आयात चीन से होता था।

28.8 सामाजिक व्यवस्था और संस्कृति

बहमनी साम्राज्य की सामाजिक-संरचना का स्वरूप सार्वभौमिक था जिसमें मुस्लिम, हिंदू, इरानी, ट्रांसऑक्सियन, ईराकी और अबीसीनियन (हब्शी) सम्मिलित थे। 16वीं शताब्दी के प्रारंभ में पुर्तगालियों का आगमन हुआ। अगर हम इसके भाषाई ढांचे पर ध्यान दें तो यह विषम चरित्र अधिक स्पष्ट होता है। फारसी, मराठी, दक्खनी उर्दू (प्रारंभिक उर्दू), कन्नड और तेलुगु भाषाएं राज्य के विभिन्न भागों में व्यापक रूप से बोली जाती थीं।

मोटे तौर पर समाज में दो वर्ग थे। निकितीन के अनुसार एक तरफ निर्धन और दूसरी तरफ अमीर थे जो "अतिसमृद्ध" थे। उसका कहना है कि "अमीरों को चांदी के तख्तों पर बिठा कर लाया जाता था, जिनके आगे सोने के आभूषणों से लदे 20 घोड़े होते थे और 300 घुड़सवार तथा 500 पैदल-सिपाही, 10 मशालची साथ-साथ चलते थे।" निकितीन बहमनी वज़ीर, महमूद गावां के वैभव का भी सजीव वर्णन करता है। वह लिखता है कि प्रत्येक दिन उसके साथ 500 व्यक्ति भोजन ग्रहण करते थे। उसके घर की सुरक्षा के लिए ही, प्रतिदिन 100 सशस्त्र व्यक्ति निगरानी करते थे। इसके विपरीत आम जनता निर्धन थी। यद्यपि निकितीन केवल दो वर्गों का वर्णन करता है, एक और वर्ग—व्यापारी वर्ग (तथाकथित मध्यम वर्ग)—भी उस काल में मौजूद था।

सूफी-संतों का बहमनी शासकों द्वारा बहुत सम्मान किया जाता था। प्रारंभ में वे लोग दक्खन में खलजियों और तुगलकों के धार्मिक सहायकों के बतौर आए। प्रारंभिक बहमनी राज्य को अपनी सत्ता के लिए जनता द्वारा वैधता प्राप्त करने हेतु सूफियों के सहयोग की जरूरत पड़ी। बहमनी राज्य में आए सूफियों में से प्रमुखतया **चिश्ती**, **कादिरी** और **शत्तारी** सूफी सम्प्रदाय थे। बीदर **कादिरी** सम्प्रदाय के महत्वपूर्ण केन्द्रों में एक था। शेख सिराजउद्दीन प्रथम सूफी था जिसे राजा की कृपा दृष्टि प्राप्त हुई। **चिश्ती** संतों को सर्वाधिक आदर प्राप्त था। दिल्ली के प्रसिद्ध **चिश्ती** संत सैयद मौहम्मद गेसू दराज़ 1402-3 में गुलबर्गा आकर बसे। सुल्तान फिरोज ने उनकी **खानकाह** की देखभाल और व्यय के लिए बड़ी संख्या में गांव अनुदान में दिये। लेकिन उसके शासनकाल के अंतिम भाग में दोनों के मध्य मनमुटाव पैदा हुआ क्योंकि गेसू दराज़ ने सुल्तान के भाई अहमद का, उसके उत्तराधिकार के लिए पक्ष लिया। इसके कारण अंत में गेसू दराज़ को गुलबर्गा से निष्कासित किया गया।

अफाकियों द्वारा भारी संख्या में बहमनी राज्य में आने से शियाओं को भी फज़लुल्लाह के प्रभाव में विशेष स्थान प्राप्त हुआ। अहमद I द्वारा 30,000 चांदी के **टंकों** को कर्बला (ईराक) के सैय्यदों में वितरण के लिये भेजना, उसके शिया मत के प्रति झुकाव को प्रदर्शित करता है। अहमद III का सबसे प्रभावशाली **वजीर** भी एक शिया था।

हिंदू परम्पराओं और संस्कृति का भी बहमनी दरबार में प्रभाव था। सुल्तान फिरोज़ (1397-1422) द्वारा विजयनगर के शाही परिवार की एक लड़की के साथ विवाह करने से हिंदू-मुस्लिम सांस्कृतिक सौहाद्रता को बढ़ावा मिला। एक किंवदंती के अनुसार फिरोज़ एक बार एक हिंदू फकीर के भेष में विजयनगर भी गया था। **उर्स** जैसे महत्वपूर्ण समारोहों में भी हिंदू प्रभाव देखा जा सकता था। उर्स समारोहों में, **जंगम** (गुलबर्गा जिले में मध्याल के **लिंगायतों** का मुखिया) समारोह को विशिष्ट हिंदू रीति—शंख फूंकना, पुष्प-भेंट, इत्यादि—द्वारा संपन्न करता था। रोचक बात यह थी कि **जंगम** मुस्लिम चोगा तथा मुस्लिम **दरवेश** द्वारा पहनी जाने वाली रस्मी टोपी पहनता था।

आप अन्य सांस्कृतिक पहलुओं जैसे स्थापत्य-कला, शिक्षा आदि के बारे में खंड 8 में अध्ययन करेंगे।

बोध प्रश्न 3

1) बहमनी-राज्य में वाणिज्य और व्यापार पर एक टिप्पणी लिखें।

....

....

....

....

....

....

....

....

2) निम्नलिखित वक्तव्यों के आगे सही (✓) या गलत (×) का चिह्न अंकित करें :

i) निकितीन एक इटली का यात्री था जिसने 15वीं शताब्दी में भारत की यात्रा की।

ii) महमूद गावां के अधीन भूमि को व्यवस्थित ढंग से नापा गया।

iii) गेसू दराज़ एक प्रसिद्ध सुहरावर्दी संत था।

3) बहमनी समाज के संदर्भ में निकितीन के विचारों का वर्णन कीजिए।

28.9 सारांश

संक्षेप में हम देखते हैं कि किस प्रकार **अमीर-ए सादाह** एक स्वतंत्र बहमनी राज्य स्थापित करने में सफल हुए। अपने विकास-काल में उनका विजयनगर, मालवा और तेलंगाना के शासकों के साथ निरंतर संघर्ष चला। हमने यह भी देखा कि किस प्रकार **अफाकियों** और दक्खनियों के मध्य विवाद ने बहमनी सल्तनत के विभाजन का मार्ग प्रशस्त किया। जहाँ तक प्रशासनिक-व्यवस्था का प्रश्न है वह, पदवियों, नामावली और महमूद गावाँ के भूमि के नाप संबंधी सुधारों को छोड़कर, दिल्ली सल्तनत से अधिक भिन्न नहीं थी।

28.10 शब्दावली

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

अफाकी : शाब्दिक अर्थ 'सार्वभौमिक'; **अफाक़** से) नया कुलीन वर्ग (ईरान, ईराक और ट्रान्सऑक्सियाना से)

अमीर हजाराह : एक हज़ारी अमीर

चौधरी : देखें खंड 5

दक्खनी : पुराना दक्खनी कुलीन-वर्ग

दरवेश : मुस्लिम एकान्तवासी, संत

इक्लीम : प्रान्त

इनाम : राजस्व मुक्त अनुदान

जंगम : लिंगायत संप्रदाय का मुखिया

कारकुन : देखें खंड 5

खानकाह : सूफियों के रहने का स्थान

खासाखेल : सुल्तान के अंगरक्षक

नायब : वायसराय

मुतसर्रिफ : देखें खंड 5

शिक : जिले के समान एक प्रशासनिक इकाई

शिकदार : जिला-अधिकारी

सिलहदार : शस्त्रागार-प्रभारी

तरफदार : प्रांतीय राज्यपाल

वकील : देखें खंड 5

वली : प्रान्तीय राज्यपाल, **इक्तेदार**

28.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

2) देखें भाग 28.2
   i) राजस्व वसूल करने वाले और सेनानायक
   ii) बहाउद्दीन गुरशस्प
   iii) तुंगभद्रा दोआब
   iv) राजामुन्द्री
3) देखें उपभाग 28.3.1, 28.3.2

बोध प्रश्न 2

1) देखें भाग 28.4
2) देखें भाग 28.4, 28.5
3) देखें भाग 28.5, 28.6

बोध प्रश्न 3

1) देखें भाग 28.7
2) (i) × (ii) ✓ (iii) ×
3) देखें भाग 28.8

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

क्षेत्रीय शक्तियों का आविर्भावः विभिन्न मत

क्षेत्रीय शक्तियों के आविर्भाव के प्रश्न पर समाज शास्त्रियों में बहुत मतभेद हैं। जोसेफ इ. श्वारज़्बर्ग ने सल्तनत-युग की अस्थिरता के लिए कुछ विशेष भू राजनीतिक और पारिस्थितिकीय कारकों पर प्रकाश डाला है।

श्वारज़्बर्ग के अनुसार :

> ''प्रमुख शक्तियों के प्रभाव क्षेत्र व अवधि में उत्तरोत्तर कमी की वजह उनके द्वारा समतुल्य सामर्थ्य रखने वाली अन्य प्रमुख शक्तियों के साथ लगातार बढ़ती हुई **गंभीर प्रतिस्पर्धा** में देखी जा सकती है। इसके फलस्वरूप सल्तनत-काल में दो या दो से अधिक बड़ी शक्तियों में **बार-बार युद्धों के होने और इनकी गहनता में वृद्धि** की प्रवृत्ति विकसित हुई। इससे एक ही शक्ति व्यवस्था के भीतर अस्थिरता बढ़ी और व्यवस्था के भीतर ही सभी प्रदेशों के सामर्थ्य में वृद्धि पर प्रतिबंध लग गया।''

मध्यकाल तक, श्रेष्ठ उपलब्ध कृषि-भूमि पर खेती करने और बसने की प्रक्रिया लगभग पूर्ण हो चुकी थी। इसने गहन कृषि को जन्म दिया, जिसने बदले में अधिक गहन आवास-व्यवस्था को जन्म दिया। इससे जनसंख्या वृद्धि और जनसंख्या दबाव का मार्ग प्रशस्त हुआ। अंतिम दो कारणों से सेना की आक्रामक और रक्षात्मक दोनों ही प्रकार की शक्ति में वृद्धि हुई। इस प्रकार, श्वारज़्बर्ग के अनुसार भौगोलिक विशिष्टताओं ने संघर्ष को अवश्यंभावी बना दिया और क्षेत्रीय शक्तियों के आविर्भाव में योगदान किया।

रिचर्ड जी. फॉक्स, बर्नार्ड कोहन और के.एन. सिंह ने क्षेत्रीय शक्तियों के उदय की, समाज-राजनीतिक मानवविज्ञानीय मॉडल के आधार पर व्याख्या की है जहाँ सगोत्रता, कुल और वंश मुख्य संघठक कारक होते हैं। रिचर्ड फॉक्स के अनुसार, इन वर्गों में राजनैतिक सत्ता की गारंटी और सुरक्षा के लिए कार्य करते हुए भी बार-बार विद्रोह की प्रवृत्ति पाई जाती है, जिससे केन्द्रीय नियंत्रण के संकट में होने के समय केन्द्रीय सत्ता खण्डित एवं कमजोर होती है। राजपूत कुल-संगठन इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। राजपूताना में कुलीय आधार पर संगठित ये सरदार अथवा राजा समान वंशों के छोटे प्रदेशों को नियंत्रित करते थे। आप इकाई 9 में अध्ययन कर चुके हैं कि राजपूत सामाजिक संगठन, कुल, जाति और वंश के द्वारा आपस में कितना गुंथा हुआ था। उनके प्रभाव-क्षेत्रों का आधार विवाहों द्वारा और असंतुष्ट उपवंशों के दूसरे प्रदेशों में बस जाने से था। ये ''एकवंशीय कुल-संगठन'' कई राजनैतिक और सैनिक जिम्मेदारियां निभाते थे जो राजस्व-वसूली और कानून व व्यवस्था को बनाए रखने से संबंधित होती थीं। उन्हें राज्य द्वारा ''वैधता'' प्राप्त थी। राज्य का ''शासनादेश'' कुलनिष्ठा का ''शासनादेश'' माना जाता था। इस ''आंतरिक संसजन'' और ''बाह्य मान्यता'' के कारण स्थानीय स्तर पर उनकी स्थिति इतनी मजबूत हो गयी कि न तो राज्य और न ही कुल-सदस्य उन्हें बेदखल कर सकते थे।

तैमूर के आक्रमण के पश्चात् केन्द्र में उत्पन्न रिक्तता ने इन सरदारों और राजाओं को स्थानीय-स्तर पर गहरी जड़ें जमाने का अवसर दिया। इस प्रकार 13वीं-15वीं शताब्दी के मध्य परिस्थिति का लाभ अपने हितों में उठाने वाले शक्ति-केन्द्रों के मध्य आपसी लड़ाइयां प्रारंभ हुईं।

MAADHYAM IAS

विजयनगर राज्य की प्रकृति

हम खंड 3 के भाग 8.3 में 8-13वीं शताब्दी के बीच मध्यकालीन भारतीय राजनीति के संदर्भ में सामंतीय, खंडीय और एकीकरणात्मक आदि विभिन्न दृष्टिकोणों के बारे में अध्ययन कर चुके हैं। यहाँ हम इसी मॉडल के तहत विजयनगर कालीन राजनीति का विश्लेषण करेंगे।

खंडीय राज्य

बर्टन स्टीन विजयनगर राज्य को एक खंडीय राज्य के रूप में प्रदर्शित करता है (इसके विशिष्ट लक्षणों के लिए देखें, उपभाग 8.3.2)। उसके अनुसार विजयनगर राज्य में सम्पूर्ण राजनीतिक सम्प्रभुता केन्द्र के साथ रही, परन्तु परिधीय क्षेत्रों में ''विध्यात्मक नियंत्रण'' (प्रतीकात्मक नियंत्रण) **नायकों** और ब्राह्मण सेनानायकों के हाथों में रहा। इन अधीनस्थ इकाईयों–खंडों–के केन्द्रीय सत्ता के साथ संबंध पिरामिडनुमा थे। केन्द्र से जितना अधिक दूर कोई खंड होता था, उतनी ही ज्यादा अपनी स्वामीभक्ति को एक शक्ति पिरामिड से दूसरे की ओर स्थानांतरित करने की उसकी क्षमता होती थी।

सामंतीय मॉडल

कुछ विद्वानों ने विजयनगर राज्य के स्वरूप की सामंती-ढांचे की पृष्ठभूमि में व्याख्या करने का प्रयास किया है। उनका कहना है कि ब्राह्मणों को नवीन भूमि अनुदान प्रदान करने की नीति, सामंती विभाजन का प्रमुख कारण थी। बार-बार इन भूमि अनुदानों के दिये जाने के कारण ब्राह्मणों की स्थिति सुदृढ़ बनी। इसके परिणामस्वरूप, उन्हें अपनी व्यवस्थाओं में बहुत अधिक स्वायत्तता मिली, प्रशासनिक शक्तियां और राजस्व-स्रोतों को नियंत्रित करने के अधिकार मिल गए। विद्वानों का मानना है कि चूंकि विजयनगर के शासकों ने हिंदू धर्म की रक्षा का प्रयास किया, इससे नई ब्राह्मण व्यवस्थाओं का जन्म हुआ।

इसी प्रकार सैन्य दृष्टि से तमिल-क्षेत्र में विस्तार ने **अमरनायकों** (योद्धाओं) और अन्य उच्च अधिकारियों के नियंत्रण में सामंतीय भू-भागों का निर्माण किया। **अमरनायक** वंशानुगत भूस्वामी होते थे। वे राजा को नजराना अदा करते थे और सैन्य-सेवा का कार्य करते थे (उत्तर भारत के सामंतों की तरह)।

इन भूमिधरों ने बदले में अपने अधीनस्थ लोगों को भूमि अनुदान देना प्रारंभ किया, जिसके फलस्वरूप **उप-सामंतीकरण** का मार्ग प्रशस्त हुआ। साम्राज्य की विशालता और परिवहन तथा संचार के पर्याप्त साधनों की कमी के रहते साम्राज्य के शासन संचालन हेतु, शासकों द्वारा इन सामंती वर्गों को अधिकार प्रदान करना एक आवश्यकता बन गई। विजय और साम्राज्य को मजबूत बनाने की इस प्रक्रिया में विरोधी सरदारों के स्वर को दबा कर उनके भू-भागों को नये सरदारों के बीच बांट दिया जाता था। फिर भी, कुछ पुराने सरदारों को इस नई व्यवस्था में भी जारी रखा गया।

अन्य व्याख्यायें

एन.के. शास्त्री विजयनगर राज्य को बुनियादी तौर पर एक हिंदू-राज्य के रूप में देखते हैं जो बहमनी सल्तनत और उसके उत्तराधिकारी राज्यों के मुसलमानों के विरुद्ध हिंदू संस्कृति के रक्षक के रूप में एक वैचारिक (धर्म-राजनैतिक) भूमिका का निर्वाहन करता था। इससे विजयनगर राज्य के सैन्यवादी स्वरूप का सिद्धांत जन्म लेता है। उसके अनुसार विजयनगर राज्य एक सैनिक राज्य था।

क्षेत्रीय-राज्य साम्राज्य का दर्जा क्यों नहीं प्राप्त कर सके?

प्रश्न यह है कि ये क्षेत्रीय राज्य 'दूसरे' दर्जे के राज्य के रूप में सीमित रहे और साम्राज्य का दर्जा क्यों प्राप्त नहीं कर सके? श्वारज़बर्ग के शब्दों में, क्यों ये 'अधिप्रादेशिक क्षेत्रीय शक्तियों के रूप में बने रहे और 'अखिल भारतीय शक्ति' का दर्जा प्राप्त नहीं कर सके? इसके लिए कतिपय भू-राजनैतिक, संरचनात्मक और पारिस्थितिकीय कारण हैं। सर्वप्रथम कारण उनका परिधि पर स्थित होना था। कश्मीर, गुजरात, राजपूताना, सिंध, उड़ीसा, असम और बंगाल केन्द्रीय दर्जा प्राप्त करने के लिहाज से साम्राज्य के हृदय-स्थल (केन्द्र) में स्थित नहीं थे। पहाड़ी भू-भागों ने भी उनके क्षेत्रीय विस्तार के मार्ग में बाधाएं खड़ी कीं। कश्मीर अपना विस्तार मुख्य रूप से अगम्य पहाड़ों की वजह से नहीं कर सका। इसी प्रकार उत्तर-पश्चिम में प्रमुख भारतीय रेगिस्तान की बढ़ती शुष्कता ने सिंध और राजपूताना के राज्यों के विस्तार पर रोक लगाई। यद्यपि मालवा और जौनपुर (भारत के) मध्य में स्थित और अत्यंत उर्वर मैदान थे, उनकी 'खुली-सीमाएं' विरोधी राज्यों से घिरी थीं। प्रत्येक राज्य उनके प्रचुर-स्रोतों के नियंत्रण हेतु प्रयास करता रहता था, फलतः क्षेत्रीयता की मुख्य विशेषता निरंतर युद्ध की स्थिति थी जो विस्तार में बाधक थी।

एक अन्य समस्या राजस्व-स्रोतों की कमी थी जिसके कारण वे आगे और विस्तार एवं मजबूती प्रदान करने के लिए बड़ी सेनाएं रखने में असमर्थ थे। उनके सीधे नियंत्रण में बहुत छोटा भाग होता था जिसका राजस्व सीधे राज्य-कोष में जाता था। उन्हें अपनी आय और सशस्त्र सेवकों की आपूर्ति के लिए मुख्यतया 'बिचोलियों' या 'सरदारों' पर निर्भर रहना पड़ता था। यही नहीं, राजस्व जमाकर्त्ता (बिचौलिए) कर-निर्धारण में टालमटोल करते थे। अधीन सरदार भी विद्रोह करने के लिए प्रत्येक अवसर का फायदा उठाते थे। आप पहले ही पढ़ चुके हैं कि मालवा और गुजरात के बीच के परिधीय क्षेत्र के ये करदाता सरदार, अक्सर मौके के अनुसार कभी मालवा और कभी गुजरात को समर्थन देते थे। राजपूतों द्वारा अखिल भारतीय दर्जा प्राप्त न करने का मुख्य कारण बढ़ती हुई अंतर वंशीय लड़ाईयां थीं। गुजरात और बंगाल के अतिरिक्त दूसरे प्रदेशों (विशेषतः जौनपुर और मालवा) के स्थल रुद्ध (समुद्र से संबंध विच्छिन्न) होने से उन्हें सामुद्रिक वाणिज्य और व्यापार बढ़ाने का अवसर प्राप्त नहीं हुआ। इसके फलस्वरूप उनकी आय में कमी आयी और विस्तारवादी नीति हेतु आवश्यक अतिरिक्त स्रोतों के लिए बहुत कम संभावनाएं थीं।

MAADHYAM IAS

इस खण्ड के लिए कुछ उपयोगी पुस्तकें

मौहम्मद हबीब और के.ए. निजामी : **दिल्ली सल्तनत**, खण्ड I व II,

अवध बिहारी पाण्डे : **पूर्व मध्यकालीन भारत तथा उत्तर मध्यकालीन भारत**

ईश्वरी प्रसाद : **मध्यकालीन भारत**

टी.वी. महालिंगम : **एडमिनिस्ट्रेशन एण्ड सोसायटी अन्डर विजयनगर**

नीलकंठ शास्त्री : **हिस्ट्री ऑफ साउथ इंडिया**

इकाई 29 सामाजिक-धार्मिक आंदोलन : भक्ति आन्दोलन

इकाई की रूपरेखा

29.0 उद्देश्य
29.1 प्रस्तावना
29.2 दक्षिण भारत में भक्ति आंदोलन की पृष्ठभूमि
29.3 उत्तर भारत में भक्ति आंदोलन
29.4 भक्ति आंदोलन का उदय
 29.4.1 भक्ति आंदोलन के उदय के राजनीतिक कारण
 29.4.2 सामाजिक-आर्थिक कारण
29.5 प्रमुख लोकप्रिय आंदोलन और उनकी विशेषताएँ
 29.5.1 उत्तर भारत का एकेश्वरवादी आंदोलन
 29.5.2 समान स्वरूपगत विशेषताएँ
 29.5.3 उत्तर भारत में वैष्णव भक्ति आंदोलन
 29.5.4 बंगाल में वैष्णव भक्ति आंदोलन
 29.5.5 महाराष्ट्र में भक्ति आंदोलन
 29.5.6 अन्य प्रदेशों में भक्ति आंदोलन
29.6 अन्य परम्पराओं और आन्दोलनों का प्रभाव
 29.6.1 लोकप्रिय एकेश्वरवादी संत और रामानंद
 29.6.2 एकेश्वरवादी संतों पर नाथपंथी आंदोलन का प्रभाव
 29.6.3 इस्लामी मत का प्रभाव और सूफी मत की भूमिका
 29.6.4 हिंदूवाद को इस्लाम की चुनौती का सिद्धांत
29.7 सारांश
29.8 शब्दावली
29.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

29.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आपः

- भक्ति आंदोलन की पृष्ठभूमि को रेखांकित कर सकेंगे,
- उत्तर भारत में भक्ति आंदोलन के उदय में सहायक प्रमुख राजनीतिक और सामाजिक-आर्थिक कारकों को पहचान सकेंगे,
- इस आंदोलन के प्रमुख संतों और प्रमुख लोकप्रिय शाखाओं का उल्लेख कर सकेंगे,
- भक्ति आंदोलन की प्रमुख विशेषताओं का वर्णन कर सकेंगे, और
- इस आंदोलन पर इस्लाम और अन्य परम्पराओं के प्रभाव पर प्रकाश डाल सकेंगे।

29.1 प्रस्तावना

एक धार्मिक अवधारणा के रूप में भक्ति का अर्थ है, मोक्ष की प्राप्ति के लिए व्यक्तिगत तौर पर पूजे जाने वाले सर्वोच्च ईश्वर के समक्ष भक्तिपूर्ण आत्म-समर्पण। इस सिद्धांत का उद्‌भव प्राचीन भारत के ब्राह्मणवादी और बौद्ध दोनों परम्पराओं में ढूंढा जाता है, इनका मूल **गीता** जैसे ग्रंथों से भी सम्बद्ध है। पर पहली बार दक्षिण भारत में सातवीं और दसवीं शताब्दी के बीच भक्ति धार्मिक सीमाओं से निकल कर धार्मिक समानता के जन आंदोलन में परिणत हो गई। इसमें समाज के विभिन्न तबकों ने हिस्सा लिया। संतों और कवियों के नेतृत्व में यह आंदोलन आगे बढ़ा और दसवीं शताब्दी में यह अपने सर्वोच्च शिखर पर जा पहुंचा। इसके बाद इसकी अवनति आरंभ हो गयी पर ग्यारहवीं शताब्दी में घुमक्कड़ साधु-सन्तों ने इसे दार्शनिक और वैचारिक आंदोलन के रूप में पुनर्जीवित किया। रामानुजाचार्य से इस परम्परा की शुरुआत हुई। तेरहवीं शताब्दी के आरंभ में दिल्ली सल्तनत की स्थापना के साथ एक विशाल क्षेत्र में फैले विभिन्न प्रकार के सामाजिक-धार्मिक आंदोलनों की शुरुआत हुई। भक्ति आंदोलन के रूप में जाना जाने वाला यह आंदोलन देश के कोने-कोने में फैल गया। इन आंदोलनों को दक्षिण भारत के पुराने भक्ति आंदोलन से जोड़ा जाता है। पर सल्तनत काल में पनपने वाला भक्ति आंदोलन अपने समय की उपज था, इसका ऐतिहासिक संदर्भ

अलग था, और इसकी कुछ खास विशेषताएँ थीं। खासकर उनमें से एक निराकार एकेश्वरवादी आंदोलन जिसके अगुवा कबीर और ''छोटी जाति'' के अन्य संत थे, निश्चित रूप से पारंपरिक भक्ति आंदोलन से बिल्कुल अलग ढंग का था इनमें केवल कुछ ऊपरी समानताएँ थीं। इसका सामाजिक आधार, इसकी विचारधारा, इसके नेताओं का सामाजिक आधार और यहां तक कि भक्ति और ईश्वर संबंधी इनकी अवधारणा प्राचीन दक्षिण भारतीय भक्ति आंदोलन और समकालीन अन्य आंदोलनों से भिन्न थी। भक्ति आंदोलन की विभिन्न शाखाओं के बीच इस कदर अंतर है (कहीं-कहीं आधारभूत अंतर भी है) कि इन पर अलग-अलग विचार करना जरूरी है। इससे इनकी विशेषताओं को अलग-अलग पहचानने में सुविधा होगी और हम उनके बीच की समानता और असमानता को समझ सकेंगे।

29.2 दक्षिण भारत में भक्ति आंदोलन की पृष्ठभूमि

सातवीं और दसवीं शताब्दी के बीच दक्षिण भारत के शैव नयनार संतों और वैष्णव अलवर संतों ने जाति और लिंग का भेद किए बिना समाज के हरेक तबके में भक्ति के सिद्धांत का प्रचार किया। इनमें से कुछ संत महिलाएं थीं और कुछ ''छोटी जातियों'' का भी प्रतिनिधित्व करते थे। इन संत कवियों ने भावनात्मक स्वर में भक्ति का प्रचार किया और धार्मिक समतावाद को बढ़ावा दिया। उन्होंने अनुष्ठानों का बहिष्कार किया और घूम-घूमकर नाच गाकर भक्ति का प्रचार किया। अलवर और नयनार संत भक्ति गीतों की रचना संस्कृत में नहीं बल्कि तमिल में किया करते थे। इन कारणों से यह आंदोलन बड़ा लोकप्रिय हो गया। पहली बार भक्ति को जनाधार प्राप्त हुआ। दक्षिण भारत के भक्ति संत बौद्धों और जैनों के आलोचक थे। बौद्धों और जैनों को उस समय के दक्षिण भारतीय राजाओं का संरक्षण प्राप्त था और दरबारों में उन्हें एक विशेष हैसियत प्राप्त थी। बौद्ध और जैन धर्म में अब तक कुछ संकीर्ण और रूढ़िवादी तत्व प्रवेश कर चुके थे। इस समय बौद्ध और जैन धर्म के अनेक अनुयायी भक्ति की ओर आकर्षित हुए। इसके साथ-साथ भक्त संत कवियों ने कट्टर ब्राह्मणों के अस्तित्व को चुनौती दी और भक्ति को सबके लिए सुलभ बनाया, चाहे किसी जाति का व्यक्ति हो, चाहे स्त्री हो या पुरुष सभी भक्ति को अपना सकते थे। दक्षिण भारत के भक्ति आंदोलन की अपनी कुछ सीमाएं भी थीं। इसने कभी भी सामाजिक स्तर पर ब्राह्मण धर्म की वर्ण व्यवस्था और जाति व्यवस्था का प्रयत्नपूर्वक विरोध नहीं किया। जाति व्यवस्था अभी भी धर्म से जुड़ी थी और ''छोटी जातियों'' को अभी भी सामाजिक असमानताओं का बोझ ढोना पड़ रहा था। ब्राह्मणवादी अनुष्ठान, मसलन मूर्ति पूजा, वैदिक मंत्रों का उच्चारण और तीर्थस्थलों की यात्रा, अभी भी कायम थे, जबकि भक्ति को पूजा का सर्वश्रेष्ठ तरीका बताया जा रहा था। इन्होंने बौद्धों और जैनों पर मुख्य रूप से आक्रमण किया, ब्राह्मण इनकी आलोचना से मुक्त रहे। शायद यही कारण है कि दक्षिण भारत में भक्ति आंदोलन के प्रसार में ब्राह्मणों के प्रभुत्व वाले मंदिरों की प्रमुख भूमिका रही। दक्षिण भारत के संत-कवियों ने जाति व्यवस्था के वैचारिक और सामाजिक आधार पर प्रश्न चिह्न नहीं लगाया, परिणामस्वरूप दक्षिण भारत में भक्ति आंदोलन के दौरान जाति व्यवस्था कमजोर होने के बजाय मजबूत हुई। अंततः यह आंदोलन दसवीं शताब्दी में अपने चरमोत्कर्ष पर पहुंचा और शनैः शनैः परम्परागत ब्राह्मण धर्म में विलीन हो गया। इन सीमाओं के बावजूद अपने उत्कर्ष काल में दक्षिण भारतीय भक्ति आंदोलन ने धार्मिक समानता के सिद्धांत का प्रचार किया, परिणामस्वरूप ब्राह्मणों को ''छोटी जातियों'' को पूजा का अधिकार देना पड़ा। ये ''छोटी जातियाँ'' पूजा के माध्यम के रूप में भक्ति को अपना सकती थीं और यहां तक कि **वेद** का अध्ययन करने का अधिकार भी इन्हें प्राप्त हो गया।

भक्ति और दक्षिण भारतीय आचार्य

जब दक्षिण भारत में भक्ति आंदोलन की लोकप्रियता क्षीण हो रही थी, तब कई विद्वान ब्राह्मणों **(आचार्यों)** ने दार्शनिक स्तर पर भक्ति का समर्थन किया। इसमें पहले आचार्य रामानुज (ग्यारहवीं शताब्दी) थे। उन्होंने भक्ति को दार्शनिक आधार प्रदान किया। उन्होंने कट्टर ब्राह्मणवाद और लोकप्रिय भक्ति आंदोलन के बीच सावधानी से संतुलन कायम किया। हालांकि ''छोटी'' जातियों द्वारा वेद पढ़ने के सिद्धांत का उन्होंने समर्थन नहीं किया, पर इस बात को स्वीकार किया कि भक्ति को पूजा की पद्धति के रूप में सबको, यहां तक कि शूद्रों और अस्पृश्यों को भी, अपनाने का अधिकार होना चाहिए। भक्ति का प्रचार करते समय उन्होंने जाति का बंधन स्वीकार नहीं किया और यहां तक कि अस्पृश्यता को समाप्त करने की कोशिश की। एक तेलुगु ब्राह्मण निम्बार्क रामानुज का समकालीन माना जाता है। उन्होंने अपना अधिकांश समय उत्तर भारत में मथुरा के निकट वृंदावन में बिताया। वे राधा और कृष्ण के प्रति पूर्ण समर्पण में विश्वास रखते थे। दक्षिण के एक अन्य वैष्णव भक्ति दार्शनिक थे माधव, इनका काल तेरहवीं शताब्दी माना जाता है। रामानुज के पथ का अनुसरण करते हुए उन्होंने भी शूद्रों द्वारा **वेदों** को न पढ़ने की परम्परा को तोड़ने की कोशिश नहीं की। उनके अनुसार भक्ति ने शूद्रों को पूजा का एक विकल्प प्रदान कर दिया। उनका दर्शन **भागवत् पुराण** पर

आधारित था। ऐसा माना जाता है कि उन्होंने उत्तर भारत का भ्रमण भी किया था। वैष्णव आचार्यों की शृंखला में अंतिम दो आचार्य रामानन्द (14वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध और 15वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध) और वल्लभ (15वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध और 16वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध) उल्लेखनीय है। इन्होंने अपना अधिकांश जीवन सल्तनत काल के दौरान उत्तर भारत में बिताया और वैष्णव भक्ति को एक नया रूप प्रदान किया। इन पर उत्तर भारत वाले अंश में विस्तार से विवेचना की जाएगी।

29.3 उत्तर भारत में भक्ति आंदोलन

सल्तनत काल (13-15वीं शताब्दी) के दौरान उत्तरी और पूर्वी भारत तथा महाराष्ट्र में कई लोकप्रिय सामाजिक-धार्मिक आंदोलन उभरे। इन आंदोलनों ने भक्ति और धार्मिक समता पर जोर दिया। जैसा कि हम पढ़ चुके हैं, दक्षिण भारतीय भक्ति आंदोलन में भी ये विशेषताएं शामिल थीं। सल्तनत काल के दौरान होने वाले सभी भक्ति आंदोलनों का संबंध एक या दूसरे दक्षिण भारतीय वैष्णव आचार्य के साथ रहा है। इन्हीं कारणों से कई विद्वान यह मानने लगे कि सल्तनत काल में पनपे भक्ति आंदोलन पुराने भक्ति आंदोलन की एक कड़ी थे या वह पुनर्जीवित हो उठे थे। उनका तर्क है कि विभिन्न सम्पर्कों और लेन-देन से इन दोनों में एक दार्शनिक और वैचारिक समानता है। अतएव, यह माना जाता है कि उत्तर भारत के निरीश्वरवादी एकेश्वरवादी आंदोलन से जुड़े कबीर और अन्य संत रामानंद के शिष्य थे और रामानंद रामानुज के दार्शनिक सिद्धांत के अनुयायी थे। यह भी माना जाता है कि बंगाल के वैष्णव आंदोलन के महत्वपूर्ण संत चैतन्य, माधव के दार्शनिक मत के अनुयायी थे। ''कृष्ण'' भक्ति पर जोर देने के कारण इस आंदोलन का संबंध निम्बार्क सम्प्रदाय से जोड़ा जाता है।

निस्संदेह दक्षिण भारत की अपेक्षाकृत पुरानी भक्ति परम्परा और सल्तनत तथा मुगल काल में पनपे धार्मिक आंदोलन में कुछ महत्वपूर्ण समानताएं हैं। अगर हम कबीर, नानक और ''छोटी'' जातियों के अन्य संतों के एकेश्वरवादी आंदोलनों को अलग कर दें. तो दोनों आंदोलनों (दक्षिण और उत्तर) में कई सामान्य विशेषताएं रेखांकित की जा सकती हैं। मसलन, दक्षिण भारत के भक्ति आंदोलनों में समतावादी धर्म की तो वकालत की गयी, पर जाति व्यवस्था को कभी नकारा नहीं गया, ब्राह्मण ग्रंथों और ब्राह्मण विशेषाधिकारों को कभी चुनौती नहीं दी गयी।

परिणामस्वरूप, दक्षिण भारतीय भक्ति आंदोलनों के समान उत्तर भारत के अधिकांश वैष्णव आंदोलन अंततः ब्राह्मण धर्म में विलीन हो गये, पर इस प्रक्रिया में ब्राह्मण धर्म में भी कई परिवर्तन आये। पर इसके आगे दोनों आंदोलनों में कोई समानता नहीं है। भक्ति आंदोलन कभी भी एक आंदोलन नहीं रहा, इन आंदोलनों को एक दूसरे से जोड़ने वाला सूत्र भक्ति और धार्मिक समता का सिद्धांत था। मध्यकालीन भारत का भक्ति आंदोलन अपेक्षाकृत पुराने दक्षिण भारतीय आंदोलन से विशिष्ट ही नहीं था, बल्कि इन आंदोलनों की अपनी-अपनी निजी विशेषताएं थीं। इन सभी आंदोलनों की अपनी क्षेत्रीय पहचान थी और इनका अपना सामाजिक, ऐतिहासिक और सांस्कृतिक आधार था। अतएव लोकप्रिय एकेश्वरवाद पर आधारित निरीश्वरवादी आंदोलन निश्चित रूप से विभिन्न वैष्णव भक्ति आंदोलनों से भिन्न था। कबीर की भक्ति की अवधारणा और चैतन्य या मीराबाई जैसे मध्यकालीन वैष्णव संतों की भक्ति की अवधारणा में आधारभूत अन्तर था। वैष्णव आंदोलन के अंतर्गत भी महाराष्ट्र प्रदेश की भक्ति बंगाल के वैष्णव आंदोलन से भिन्न थी, इसी प्रकार उत्तर भारत के रामानन्द, वल्लभ, सूरदास और तुलसीदास के भक्ति आंदोलन का अपना अलग स्वरूप था। कुछ समय बाद एक-एक संतों और मतों को लेकर अलग-अलग सम्प्रदाय खड़े हो गये, इन सम्प्रदायों में आपसी संघर्ष हुआ करता था और कभी-कभी यह संघर्ष हिंसक भी हो जाया करता था। 14वीं और 17वीं शताब्दी के बीच पनपे सभी भक्ति आंदोलनों में कबीर, नानक, सूरदास और अन्य ''छोटी'' जातियों के संतों के नेतृत्व में हुए लोकप्रिय एकेश्वरवादी आंदोलन मूलतः अन्य से अलग और विशिष्ट थे।

लोकप्रिय एकेश्वरवादी आंदोलन और वैष्णव भक्ति आंदोलन

उत्तर भारत में दिल्ली सल्तनत की स्थापना और इस्लाम के आगमन के बाद ये दोनों आंदोलन एक साथ उभरे। अतएव, यह कहा जाता है कि दोनों आंदोलनों के उद्भव में कुछ समान कारण कार्यरत थे, हिंदू धर्म पर इस्लाम का प्रभाव इनमें से एक है। पर यथार्थ यह है कि दोनों आंदोलनों के उदय के कारण और स्रोत ही अलग नहीं हैं, बल्कि उन पर जिन कारकों का प्रभाव पड़ा वे भी बिल्कुल एक दूसरे के विपरीत हैं। आगे आने वाले विचार-विमर्श से यह स्पष्ट हो जाएगा कि एक आंदोलन के मूल में कार्यरत शक्तियों के आधार पर दूसरे आंदोलन का मूल्यांकन नहीं किया जा सकता है। यही कारण है कि लोकप्रिय एकेश्वरवादी आंदोलनों का उदय और उत्कर्ष सल्तनत काल में हुआ, जबकि वैष्णव आंदोलनों की शुरुआत तो सल्तनत काल में हुई, पर मुगल काल में जाकर वे अपने उत्कर्ष पर पहुंचे।

बोध प्रश्न 1

1) भक्ति आंदोलन की प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख करें।

....

....

....

....

....

2) निम्नलिखित में से प्रत्येक पर दो पंक्तियाँ लिखें।

क) रामानुज

....

....

ख) निम्बार्क

....

....

ग) वल्लभाचार्य

....

....

घ) चैतन्य

....

....

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

ङ) माधवाचार्य

....

....

29.4 भक्ति आंदोलन का उदय

उत्तर भारत में 14वीं-17वीं शताब्दी के बीच अनेक राजनीतिक, सामाजिक-आर्थिक और धार्मिक कारणों से भक्ति आंदोलन का जन्म हुआ। इस आंदोलन से काफी संख्या में लोग प्रभावित हुए। इस भाग में हम इन्हीं बातों पर विचार-विमर्श करेंगे।

29.4.1 भक्ति आंदोलन के उदय के राजनीतिक कारण

यह माना जाता है कि तुर्कों के आक्रमण के पहले उत्तर भारत के सामाजिक-धार्मिक क्षेत्र पर राजपूत-ब्राह्मण गठबंधन का वर्चस्व था, जो किसी भी प्रकार के गैर ब्राह्मण आंदोलन के सख्त खिलाफ थे। तुर्कों के आक्रमण के बाद इस गठबंधन का वर्चस्व समाप्त हो गया। तुर्कों के आक्रमण के साथ इस्लाम का भी आगमन हुआ और इससे ब्राह्मणों की शक्ति और प्रतिष्ठा को धक्का पहुंचा। इस प्रकार निरीश्वरवादी आंदोलनों के उदय का रास्ता साफ हो गया, इन आंदोलनों ने जाति-विरोधी और ब्राह्मण विरोधी सिद्धांत अपनाए। ब्राह्मण हमेशा जनता को यह विश्वास दिलाने की कोशिश करते रहते थे कि मंदिर में रखी प्रतिमाएं और मूर्तियां मात्र ईश्वर की प्रतीक नहीं हैं, बल्कि साक्षात् ईश्वर है और इन्हें केवल वे (ब्राह्मण) ही प्रसन्न कर सकते हैं। तुर्कों ने ब्राह्मणों से उनके मंदिर का धन छीन लिया और उन्हें प्राप्त होने वाला राज्य संरक्षण समाप्त हो गया। इस प्रकार ब्राह्मणों को आर्थिक और वैचारिक दोनों स्तरों पर हानि उठानी पड़ी। राजपूत-ब्राह्मण गठबन्धन की क्षीण होती शक्ति के कारण पहला निरीश्वरवादी पंथ **पंथनाथ** के रूप में

उभरा। ऐसा प्रतीत होता है कि यह पंथ सल्तनत काल के आरंभ में अपने उत्कर्ष पर था। ब्राह्मणों की शक्ति और प्रभाव के क्षीण होने और नयी राजनीतिक परिस्थिति के कारण लोकप्रिय एकेश्वरवादी आंदोलनों और उत्तर भारत के अन्य भक्ति आंदोलनों के उदय के लिए एक माहौल तैयार हो गया।

29.4.2 सामाजिक-आर्थिक कारण

यह भी माना जाता है कि मध्यकालीन भारत का भक्ति आंदोलन सामंती शोषण के खिलाफ आम जनता के मनोभावों का प्रतिनिधित्व करता है। इस बात की पुष्टि के क्रम में कबीर, नानक, चैतन्य, तुलसी आदि की उन कविताओं को उद्धृत किया जाता है जिसमें सामंत-विरोधी स्वर काफी तीव्र है। इसी परिप्रेक्ष्य में भारतीय मध्यकालीन भक्ति आंदोलन की तुलना यूरोप के प्रोटेस्टेंट सुधार आंदोलन से की जाती है। पर. भक्ति संतों की कविताओं में कहीं भी इस बात का संकेत नहीं मिलता है कि उन्होंने सामंती व्यवस्था के खिलाफ किसानों के वर्ग हित का समर्थन किया था। वैष्णव भक्ति संत कट्टर ब्राह्मणवादी परम्परा से इसी मायने में अलग थे कि वे भक्ति और धार्मिक समता की बात करते थे। सामान्य तौर पर वे कट्टर ब्राह्मण धर्म के अनेक आधारभूत सिद्धांतों को स्वीकार करते थे। अपेक्षाकृत अधिक प्रगतिशील एकेश्वरवादी संतों ने ब्राह्मण धर्म की कटु आलोचना की, पर उन्होंने कभी भी राज्य और शासक वर्ग को उखाड़ फेंकने की बात नहीं की। इसलिए भारतीय भक्ति आंदोलन की तुलना यूरोपीय प्रोटेस्टेंट सुधार आन्दोलन से नहीं की जा सकती है जिसने समाज को इस कदर बदल डाला कि सामन्तवाद के पतन और पूंजीवाद के उदय के लिए एक माहौल तैयार हो गया। इसका यह मतलब नहीं है कि भक्ति संत जनता के दुःख दर्द से बिल्कुल अछूते थे। उन्होंने हमेशा अपने को जनता के दैनिक जीवन से जोड़ कर रखा और इस बात की पूरी कोशिश की कि आम जनता की तकलीफों को उजागर किया जाए और उनसे जुड़ कर रहा जाए।

आर्थिक और सामाजिक परिवर्तन

कबीर, नानक, धन्ना, पीपा आदि संतों के एकेश्वरवादी आंदोलन की व्यापक लोकप्रियता को व्याख्यायित करने के लिए उत्तर भारत में तुर्कों के आगमन के बाद आये सामाजिक-आर्थिक बदलावों को परखना होगा। तुर्कों का शासक वर्ग राजपूतों की तरह गांवों में नहीं शहरों में रहता था। कृषीय अधिशेष का अधिकांश हिस्सा शासक वर्ग के खजाने में पहुंच जाता था। इस वर्ग ने उपभोक्ता वस्तुओं, विलासिता के सामान और अन्य जरूरत के सामानों की मांग बहुत बढ़ा दी। इस कारण से शिल्प की नयी तकनीकों का बड़े पैमाने पर विकास हुआ। फलस्वरूप 13वीं-14वीं शताब्दियों में शहरी कारीगरों की संख्या में तेजी से वृद्धि हुई।

MAADHYAM IAS
"way to achieve your dream"

समृद्ध होता हुआ शहरी वर्ग एकेश्वरवादी आंदोलन की ओर आकर्षित हुआ, क्योंकि यह धार्मिक समता की बात करता था, जबकि ब्राह्मणवादी व्यवस्था में उनका स्थान काफी नीचे था। इसी कारण से पंजाब के खत्री जैसे व्यापारिक समुदाय इस आंदोलन की ओर तेजी से खिंचे। शहरों के विकास, शहरी शिल्प के उत्पादन और बाजार के विकास से इस वर्ग को काफी फायदा हुआ था। समाज के अनेक वर्गों के समर्थन के कारण ही एकेश्वरवादी आंदोलन इतना लोकप्रिय हो सका। समाज के इन्हीं विभिन्न वर्गों ने उत्तर भारत में हो रहे इस आंदोलन को सामाजिक आधार प्रदान किया। पंजाब में यह आंदोलन शहरी वर्गों तक ही सीमित नहीं रहा, बल्कि इसने जाट किसानों को भी प्रभावित किया और इसका आधार विस्तृत हुआ। गुरू नानक के आंदोलन को जाट किसानों का समर्थन मिलने के बाद सिक्ख धर्म एक जन-धर्म के रूप में विकसित हुआ।

29.5 प्रमुख लोकप्रिय आंदोलन और उनकी विशेषताएं

इस भाग में हम अपने अध्ययन काल के दौरान उत्तर भारत, महाराष्ट्र और बंगाल में हुए प्रमुख एकेश्वरवादी और वैष्णव आंदोलनों की चर्चा करेंगे।

29.5.1 उत्तर भारत के एकेश्वरवादी आंदोलन

पन्द्रहवीं शताब्दी के दौरान शुरू होने वाले एकेश्वरवादी आंदोलनों में निस्संदेह कबीर (1440-1518) प्रथम और सर्वप्रमुख शख्सियत थे। वे जुलाहों के एक परिवार से संबद्ध थे, जिसने इस्लाम धर्म अपना लिया था। कबीर ने अपनी जिंदगी का अधिकांश हिस्सा बनारस (काशी) में बिताया। कबीर के बाद के एकेश्वरवादी संतों में से अनेक ने उन्हें गुरू माना और सभी उनका नाम आदर से लेते थे। उनके **"शबद"** सिक्ख धर्म ग्रंथ **आदि ग्रंथ** में काफी बड़ी संख्या में संगृहीत हैं। इससे एकेश्वरवादियों के बीच उनके महत्व का पता चलता है। रैदास या रविदास कबीर के बाद की पीढ़ी का प्रतिनिधित्व करते हैं। वे जाति से चर्मशोधक (चमड़े का कार्य करने वाले) थे। उन्होंने भी बनारस में अपना जीवन बिताया और वे कबीर के मत से

प्रभावित थे। धन्ना का काल 15वीं शताब्दी है। राजस्थान के एक जाट किसान परिवार में उनका जन्म हुआ था। इस काल के अन्य संतों में सेन (नाई) और पीपा महत्वपूर्ण हैं।

गुरुनानक (1469-1539) ने भी कबीर और अन्य एकेश्वरवादियों के समान ही अपने मत का प्रचार किया, पर कई कारणों से उनकी शिक्षा से बाद में एक जनाधारित धर्म, सिक्ख धर्म, का उदय हुआ। कबीर और अन्य संतों के साथ उनकी शिक्षा में आधारभूत समानता है और साथ ही वैचारिक स्तर पर भी आधारभूत समानता के कारण नानक एकेश्वरवादी आंदोलन से खुद-ब-खुद जुड़ जाते हैं। उनका जन्म पंजाब के एक खत्री परिवार में हुआ था। उनके जन्म स्थान को अब ननकाना साहिब के नाम से जाना जाता है। प्रौढ़ वय प्राप्त कर लेने के बाद अपने मत का प्रचार करने के लिए उन्होंने खूब यात्राएं कीं। अंत में उन्होंने पंजाब में एक जगह पर अपना डेरा बसा लिया, इसे डेरा बाबा नानक के नाम से जाना जाता है। यहां उनके शिष्यों में तेजी से वृद्धि हुई। उनके **''शबदों''** को 1604 ई. में सिक्ख गुरु अर्जुन देव ने **आदि ग्रंथ** में संकलित करवाया।

29.5.2 समान स्वरूपगत विशेषताएँ

एकेश्वरवादी आंदोलन से जुड़े सभी संतों की शिक्षा में कुछ समानताएं हैं, जिसके कारण इस आंदोलन में एक आधारभूत साम्य दिखाई पड़ता है।

i) अधिकांश एकेश्वरवादी ''छोटी'' जातियों के थे और वे इस विषय में सजग थे कि इनके विचारों में समानता है। इनमें से ज्यादातर एक दूसरे के मतों और प्रभाव की जानकारी रखते थे। वे अपने पदों और दोहों में एक दूसरे का उल्लेख करते थे और अपने पूर्ववर्ती संत-कवियों का उल्लेख भी करते थे। इससे उनके बीच सौहार्दपूर्ण संबंध का पता चलता है। कबीर ने रैदास को ''संतों का संत'' कहकर संबोधित किया है। रैदास ने भी सम्मानपूर्वक कबीर, नामदेव, त्रिलोचन, धन्ना, सेन और पीपा का उल्लेख किया है। धन्ना, नामदेव, कबीर, रैदास और सेन की ख्याति और लोकप्रियता का उल्लेख करते हुए गर्व महसूस करते हैं और वे यह स्वीकार करते हैं कि वे इन्हीं संतों से प्रभावित होकर भक्ति की ओर आकर्षित हुए हैं। इस बात पर भी कोई विवाद नहीं है कि नानक पर कबीर का स्पष्ट प्रभाव था। इसलिए अगर बाद के लोगों ने कबीर, रैदास, धन्ना, पीपा आदि को रामानंद का शिष्य माना है, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। पांचवें सिक्ख गुरु अर्जुन देव ने **आदि ग्रंथ** में कबीर, रैदास आदि के पदों को संकलित किया। इससे एकेश्वरवादियों की वैचारिक एकता का पता चलता है।

MAADHYAM IAS

ii) सभी एकेश्वरवादी प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में वैष्णव धारणा, भक्ति, नाथपंथी आंदोलन और सूफ़ी मत से प्रभावित थे। एकेश्वरवादी आंदोलन में इन तीनों धाराओं की त्रिवेणी मिलती है। पर उन्होंने अधिकतर इन विचारधाराओं को मूल रूप में स्वीकार नहीं किया, बल्कि पुरानी विचारधाराओं की नयी व्याख्याएं कीं और उन्हें नया अर्थ दिया।

iii) एकेश्वरवादी यह मानते थे कि भगवान से साक्षात्कार का एक ही मार्ग है और वह है व्यक्तिगत अनुभव। वैष्णव भक्ति संत भी यही मानते थे, पर दोनों के दृष्टिकोण में मूलभूत अंतर है। एकेश्वरवादी मानते थे कि ईश्वर एक है। अतएव नानक के ईश्वर का अवतार नहीं हुआ था, वह आकारहीन, निरंकार, शाश्वत (एकल) और अवर्णनीय (अलख) था। अतएव एकेश्वरवादी भक्ति निर्गुण भक्ति थी न कि सगुण। वैष्णव धर्मावलम्बियों की भक्ति सगुण भक्ति थी, जो ईश्वर के कई अवतारों में विश्वास करते थे। एकेश्वरवादियों ने भक्ति का तत्व वैष्णव भक्ति से ग्रहण किया, पर इसे निर्गुण रंग में रंग दिया। कई बार कबीर भगवान राम को उनके नाम से पुकारते हैं। इसी कारण उन्हें राम-भक्त भी कहा जाता है। पर कबीर ने बड़ी स्पष्टता से कह दिया था कि उनके राम दशरथ के महल में पैदा होने वाले दशरथ नंदन नहीं हैं, वे राम भी नहीं हैं, जिन्होंने रावण का वध किया था, बल्कि निराकार और निर्गुण ईश्वर है। एक ईश्वर और निर्गुण भक्ति में विश्वास करने के अलावा, एकेश्वरवादियों ने ईश्वर का नाम जपने, आध्यात्मिक गुरू, भक्ति गीतों के सामूहिक गायन (कीर्तन) और संतों के संग (सतसंग) के महत्व पर भी बल दिया है।

iv) एकेश्वरवादियों ने जो पथ अपनाया, वह हिन्दू और इस्लाम दोनों धर्मों से परे था। उन्होंने अपने को इन दोनों प्रभावशाली धर्मों से न केवल अलग रखा बल्कि इनकी जमकर आलोचना की। इन्होंने जाति व्यवस्था और मूर्ति पूजा पर तीखा प्रहार किया। उन्होंने ब्राह्मणों और उनके धर्म-ग्रंथों की सत्ता को अस्वीकार कर दिया। कबीर ने अपनी कटु और अक्खड़ शैली में कट्टर ब्राह्मणवाद पर आक्रमण किया और इसके लिए व्यंग्य का सहारा लिया।

v) एकेश्वरवादियों ने काव्य-रचना के लिए स्थानीय भाषाओं का उपयोग किया। इनमें से कुछ ने उत्तर भारत के विभिन्न प्रदेशों में बोली जाने वाली विभिन्न बोलियों के मिश्रण से अपने काव्य की रचना की। एकेश्वरवादियों ने निर्गुण भक्ति का प्रचार करने के लिए अपनी स्थानीय भाषा का प्रयोग नहीं किया, बल्कि मिली जुली सधुक्कड़ी भाषा का उपयोग किया जिसे सब लोग आसानी से समझ सकें। आम लोगों की भाषा का उपयोग इस दृष्टि से उल्लेखनीय है कि इस काल के संत-कवि विभिन्न प्रांतों का प्रतिनिधित्व करते थे और उनकी स्थानीय भाषाएं अलग-अलग थीं। यह इस आंदोलन की एक प्रमुख विशेषता है। अपने मत के प्रचार के लिए एकेश्वरवादियों ने विभिन्न लोकप्रिय प्रतीकों और संकेतों का उपयोग किया। उन्होंने छोटे-छोटे पदों में अपनी उक्तियां व्यक्त की हैं, जिन्हें आराम से याद किया जा सकता है। अतएव, उदाहरण के लिए कबीर की कविता में अक्खड़पन, औघड़पन, और आम लोगों की भाषा का उपयोग हुआ है। कबीर की कविता मूलतः जनता की कविता है।

vi) अधिकांश एकेश्वरवादी संत संन्यासी नहीं थे। वे सांसारिक और गृहस्थ जीवन बिताया करते थे। वे लोगों के बीच रहकर उपदेश दिया करते थे। उन्हें पेशेवर संन्यासियों से चिढ़ थी और वे कटु शब्दों में उनकी आलोचना भी करते थे। उन्होंने अपनी कविताओं में बार-बार पेशेवर जाति समुदायों का उल्लेख किया है। इससे स्पष्ट है कि उन्होंने अपना परम्परागत पेशा छोड़ा नहीं था। उनकी तुलना मध्यकालीन यूरोपीय ईसाई संतों से भी नहीं की जा सकती, जिन्हें चर्च ने ''पवित्र'' घोषित कर दिया था। ये (कबीर आदि संत) एक दूसरे को ''संत'' या ''भगत'' कहकर संबोधित किया करते थे और जनता भी उनके लिए इन्हीं संबोधनों का प्रयोग करती थी। **आदि ग्रंथ** में कबीर, रैदास, धन्ना, पीपा, नामदेव आदि का उल्लेख ''भगत'' के रूप में किया गया है।

vii) अपने मत का प्रचार करने के लिए ये संत खूब घूमा करते थे। महाराष्ट्र के चौदहवीं शताब्दी के संत नामदेव, घूमते-घूमते पंजाब तक पहुंच गये। वहां उनके विचारों को इतनी लोकप्रियता मिली कि बाद में उन्हें **आदि ग्रंथ** में संकलित कर लिया गया। कबीर, रैदास और अन्य संतों के बारे में भी लोगों का मानना है कि उन्होंने खूब यात्राएं कीं।

viii) कबीर और अन्य एकेश्वरवादी संतों के मत देश के विभिन्न इलाकों में फैले और ''नीची'' जातियों के बीच लोकप्रिय हुए। इनकी लोकप्रियता क्षेत्रीय सीमाओं का अतिक्रमण कर गयी। कबीर को सिक्ख पंथ और राजस्थान की दादू पंथी परंपरा में इतना सम्मानजनक स्थान प्राप्त होना इस तथ्य को प्रमाणित करता है। दो सौ साल बाद और वह भी दूरस्थ प्रदेशों में इन संतों की लोकप्रियता बरकरार रही। 17वीं शताब्दी के महाराष्ट्र के संत तुकाराम ने अपने को कबीर, रैदास, सेन, गोरा आदि का अनुयायी और शिष्य बताया। 17वीं शताब्दी में लिखी एक फारसी पुस्तक **दबिस्तान-ए मज़ाहिब** में धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है। इसमें उत्तर भारत के लोगों के बीच कबीर की लोकप्रियता का जिक्र हुआ है।

MAADHYAM IAS

ix) जनता के बीच इन एकेश्वरवादी संतों के मत काफी लोकप्रिय हुए। बाद में प्रमुख संत जैसे कबीर, रैदास और नानक के अनुयायियों ने अपने को एक सम्प्रदाय या पंथ के रूप में संगठित किया और फलस्वरूप कबीर पंथ, रैदासी, नानक पंथ आदि अस्तित्व में आये। इन सभी पंथों में, केवल सिक्ख पंथ जन-धर्म का स्वरूप प्राप्त कर सका। दूसरे पंथ भी आज किसी न किसी रूप में अस्तित्व में हैं। पर उनके अनुयायियों की संख्या काफी कम है और आधार भी संकीर्ण है।

बोध प्रश्न 2

1) भक्ति आंदोलन के उदय के कारणों का उल्लेख करें।

....

....

....

....

....

....

....

....

2) निम्नलिखित पर तीन-तीन पंक्तियाँ लिखें:
कबीर

....

....

....

गुरूनानक

....

....

....

3) प्रमुख एकेश्वरवादी संतो के नाम लिखें। एकेश्वरवादी आन्दोलन की प्रमुख विशेषताएँ भी बताइए।

....

....

....

....

....

29.5.3 उत्तर भारत में वैष्णव भक्ति आंदोलन

MAADHYAM IAS

विवेच्य काल के दौरान उत्तर भारत में रामानन्द वैष्णव भक्ति के सर्वप्रमुख विद्वान संत थे। उनके कुछ विचारों का उल्लेख हम पहले ही भाग 29.3 में कर चुके हैं। उनका काल 14वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और 15वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के बीच का है। अपना आरंभिक जीवन उन्होंने दक्षिण में बिताया पर बाद में वे बनारस में बस गये। उन्हें दक्षिण भारतीय भक्ति परंपरा और उत्तर भारतीय वैष्णव भक्ति के बीच की कड़ी माना जाता है। पर उनकी विचारधारा आरंभिक दक्षिण भारतीय आचार्यों से तीन अर्थों में भिन्न थी—

i) वे विष्णु को नहीं राम को भक्ति का आराध्य मानते थे। उनके अनुसार राम सर्वोच्च ईश्वर थे, जिनकी अराधना सीता के साथ करनी चाहिए। इस दृष्टि से उत्तर भारत की वैष्णव भक्ति परंपरा में उन्हें राम संप्रदाय के संस्थापक के रूप में देखा जाता है।

ii) राम संप्रदाय के प्रचार के लिए उन्होंने संस्कृत का नहीं, बल्कि आम लोगों की भाषा का उपयोग किया।

iii) वैष्णव भक्ति परंपरा में रामानंद का सर्वप्रमुख योगदान यह है कि उन्होंने सभी लोगों के लिए (जाति के बंधन को तोड़कर) भक्ति को सुलभ कराया। धार्मिक और सामाजिक मामलों में उन्होंने जातिगत बंधनों को काफी उदार बना दिया। ब्राह्मण होने के बावजूद उन्होंने ''छोटी'' जातियों के वैष्णव अनुयायियों के साथ भोजन किया।

अंतिम मुद्दे के कारण ही बाद की वैष्णव परंपरा में कबीर और कुछ अन्य एकेश्वरवादियों को रामानंद का शिष्य बताया गया है। यह भी कहा जाता है कि इस्लाम धर्म के बढ़ते प्रभाव के कारण रामानंद ने यह परिवर्तन जरूरी समझा होगा। ऐसा भी माना जाता है कि ''छोटी'' जातियों के बीच नाथ पंथियों के बढ़ते प्रभाव को कम करने के लिए रामानंद के लिए ऐसा करना जरूरी हो गया होगा। उनके अनुयायियों को रामानंदी कहा जाता है। रामानंद द्वारा लिखित एक पद **आदि ग्रंथ** में भी संकलित है।

सल्तनत काल में वैष्णव भक्ति के एक प्रमुख उपदेशक वल्लभाचार्य भी थे। वे तेलुगु ब्राह्मण थे और उनका काल 15वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और 16वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में पड़ता है। उनका जन्म भी बनारस में हुआ था। वे **पुष्टिमार्ग** के संस्थापक थे। इसे वल्लभ संप्रदाय के नाम से भी जाना जाता है। उन्होंने कृष्ण भक्ति का प्रचार किया। प्रमुख कृष्ण भक्त कवि सूरदास (1483-1563) और अन्य सात कवियों को **अष्टछाप** के नाम से जाना जाता है। इन्हें वल्लभ का शिष्य माना जाता है। बाद में यह संप्रदाय गुजरात में लोकप्रिय हुआ।

वस्तुतः उत्तर भारत में वैष्णव भक्ति ने मुगल काल के दौरान अपार लोकप्रियता पाई और उसका जन आधार विकसित हुआ। तुलसीदास (1532-1623) राम भक्ति में लीन हुए जबकि सूरदास (1483-1563), मीराबाई (1503-1573) और अन्य संतों ने कृष्ण भक्ति को लोकप्रिय बनाया।

29.5.4 बंगाल में वैष्णव भक्ति आंदोलन

बंगाल की वैष्णव भक्ति कई मामलों में उत्तर भारत और प्राचीन दक्षिण भारत की भक्ति से अलग थी। इसे दो विभिन्न परंपराओं ने प्रभावित किया। एक तरफ बंगाल की भक्ति **भागवत् पुराण** की वैष्णव भक्ति परंपरा और कृष्ण लीला के महिमा-बखान से प्रभावित थी और दूसरी तरफ सहजिया बौद्ध और नाथपंथियों की परंपरा से। जयदेव (12वीं शताब्दी) से लेकर बाद तक के अनेक भक्त कवियों में वैष्णव भक्ति का यह प्रभाव झलकता है। जयदेव ने **गीत गोविंद** की रचना संस्कृत में की थी। उन्होंने मैथिली भाषा में भी गीत रचे थे। इसे बाद में बंगाल वैष्णव भक्ति परंपरा में समेट लिया गया। उन्होंने कृष्ण और राधा के प्रेम को एक श्रृंगारिक अलौकिक स्वरूप प्रदान किया। इस समय बिहार और बंगाल में सहजिया बौद्ध और नाथपंथी जैसे गैर वैष्णव संप्रदाय भी अस्तित्व में थे। इन्होंने भी बंगाल में भक्ति आंदोलन को प्रभावित किया। ये पंथ धर्म के गूढ़ और भावात्मक तत्वों को आसान और स्वाभाविक बनाकर पेश किया करते थे। चंडीदास (14वीं शताब्दी) और विद्यापति (14-15 शताब्दी) जैसे वैष्णव भक्ति कवि इन गैर वैष्णव पंथों से प्रभावित हुए। भागवत परंपरा का भी उन पर गहरा असर था। प्रथम बंगला कवि चंडीदास और मैथिल कवि विद्यापति ने कृष्ण-राधा संबंध को महिमा मंडित किया। इनके गीत बंगाल के वैष्णव भक्ति आंदोलन के अंग के रूप में विकसित हुए। चैतन्य खुद सहजिया सिद्धांत से प्रभावित नहीं थे। यह संभव है कि चंडीदास और विद्यापति के माध्यम से बंगाल के भक्ति आंदोलन पर इन रहस्यवादी पंथों का प्रभाव पड़ा हो। पर निश्चित रूप से इस भक्ति आंदोलन पर मूल प्रभाव **भागवत् पुराण** का ही था।

बंगाल के वैष्णव संतों में चैतन्य (1486-1533) सर्वप्रमुख हैं। उन्होंने पूर्वी भारत के अन्य हिस्सों में इसका प्रचार किया। एक धार्मिक पुरुष के रूप में उनकी प्रतिष्ठा इतनी ज्यादा थी कि लोग उनके जीवित रहते ही उन्हें कृष्ण का अवतार मानने लगे थे। चैतन्य के आगमन के बाद बंगाल के वैष्णव भक्ति आंदोलन का स्वरूप बदल गया। अब इसमें केवल भक्ति के गीत ही नहीं रचे जाते थे, बल्कि यह एक सुधार आंदोलन के रूप में विकसित हुआ, जिसका एक व्यापक सामाजिक आधार था।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

चैतन्य ने कृष्ण भक्ति को लोकप्रिय बनाने के लिए जाति, धर्म और लिंग के बंधनों को तोड़ दिया। सभी जातियों और समुदायों के लोग उनके अनुयायी थे। हरिदास उनका एक प्रमुख शिष्य था। वह मुसलमान था। उसने संकीर्तन और सामूहिक नृत्य की प्रथा को लोकप्रिय बनाया।

चैतन्य ने परंपरागत ब्राह्मणवादी मूल्यों को बिल्कुल त्याग नहीं दिया। उन्होंने ब्राह्मणों और उनके ग्रंथों को चुनौती नहीं दी। उन्होंने "नीची" जाति के शिष्यों के प्रति ब्राह्मण शिष्यों की जातिगत भावनाओं को अनुमोदित किया। उन्होंने संस्कृत के ज्ञाता छः ब्राह्मण गोस्वामियों को मथुरा के निकट वृंदावन भेजा। वहां उन्होंने एक ऐसे धर्म संस्थान की स्थापना की, जिसमें परंपरागत पूजा और अनुष्ठान का प्रावधान था और भगवान तक पहुंचने में जातिगत बाधाएँ भी थीं। इन गोस्वामियों ने धीरे-धीरे अपने को चैतन्य की मान्यता और बंगाल में पनप रहे लोकप्रिय आंदोलन से अलग कर लिया।

बंगाली समाज पर चैतन्य के आंदोलन का अच्छा खासा प्रभाव पड़ा। उन्होंने संकीर्तन में जातिगत असमानता पर अंकुश लगाया और इस प्रकार बंगालियों के जीवन में एक प्रकार की समानता की भावना आई। बंगाल के साथ-साथ यह आंदोलन उड़ीसा में पुरी में भी लोकप्रिय था। इन स्थानों पर उनके शिष्य केवल ब्राह्मण विद्वान नहीं थे, बल्कि उनके शिष्यों में आम आदमियों की संख्या ज्यादा थी। वे बंगाली में लिखते थे, भक्ति का प्रचार करते थे और वे चैतन्य को जीवित कृष्ण या राधा-कृष्ण के रूप में देखते थे।

29.5.5 महाराष्ट्र में भक्ति आंदोलन

अन्य वैष्णव भक्ति आंदोलनों के समान महाराष्ट्र के वैष्णव आंदोलन पर भी **भागवत् पुराण** का जबरदस्त असर था। इसके अतिरिक्त उन पर शैव नाथपंथियों का भी प्रभाव पड़ा। 11वीं-12वीं शताब्दी के दौरान महाराष्ट्र समाज की "छोटी" जातियों पर इनका गहरा प्रभाव था। ये नाथपंथी काव्य-रचना के लिए मराठी का उपयोग करते थे। ज्ञानेश्वर (1275-1296) महाराष्ट्र के भक्त-संतों में अग्रणी हैं। उन्होंने **भागवत् गीता** पर वृहत् भाष्य लिखा है। इसे **ज्ञानेश्वरी** के नाम से जाना जाता है। यह पुस्तक मराठी साहित्य की आरंभिक कृतियों में से एक है और महाराष्ट्र की भक्ति विचारधारा का आधार है। उन्होंने कई श्लोकों की भी रचना

की जिन्हें **अभंग** के नाम से जाना जाता है। उन्होंने सीख दी कि भक्ति के मार्ग से ही भगवान के पास पहुंचा जा सकता है और इसमें जातिगत भेदभाव के लिए कोई स्थान नहीं है।

नामदेव (1270-1350) पेशे से दर्जी थे। यह माना जाता है कि वे महाराष्ट्र भक्ति आंदोलन और उत्तर भारत के एकेश्वरवाद आंदोलन के बीच की कड़ी थे। वे पंधरपुर में रहते थे, पर उन्होंने उत्तर भारत का भ्रमण किया था और पंजाब भी गए थे। उनके भक्ति गीत भी **आदि ग्रंथ** में संकलित हैं। महाराष्ट्र में नामदेव को **बरकरी** परंपरा (वैष्णव भक्ति परंपरा) में स्थान दिया जाता है, पर उत्तर भारत के एकेश्वरवादी परंपरा में उन्हें निर्गुण संत के रूप में याद किया जाता है।

महाराष्ट्र के अन्य प्रमुख संतों में एकनाथ (1533-99) और तुकाराम (1598-1650) उल्लेखनीय हैं।

29.5.6 अन्य प्रदेशों में भक्ति आंदोलन

14वीं शताब्दी के दौरान कश्मीर में शैव भक्ति फली-फूली। यहां के शैव भक्ति संतों में लाल देद नामक एक महिला का नाम सबसे ऊपर आता है। गुजरात में भक्ति का प्रचार वल्लभाचार्य का **वल्लभ संप्रदाय** करता था। इसके अतिरिक्त नरसिंह मेहता (1414-1481 या 1500-1580) भी प्रमुख संत थे। वे जयदेव और कबीर से परिचित थे और कई संत कवि उनके शिष्य थे। गुजरात के व्यापारियों और जमींदारों के बीच वल्लभ संप्रदाय काफी लोकप्रिय हुआ। 12वीं-13वीं शताब्दी के दौरान कर्नाटक में कन्नड़ भाषी वीर शैवों के बीच शैव भक्ति संप्रदाय विकसित हुआ। उन्होंने भक्ति की परंपरागत अवधारणा को बदल दिया। उनका दृष्टिकोण प्रगतिशील था। उन्होंने इसके माध्यम से समाज की आलोचना करने का बीड़ा भी उठाया।

असम की ब्रह्मपुत्र घाटी और कूच-बिहार में शंकरदेव (1449-1568) ने भक्ति का प्रचार-प्रसार किया। उनका जन्म एक गैर ब्राह्मण भूयान सरदार के परिवार में हुआ था। प्रौढ़ावस्था में वे संन्यासी बन गये और उन्होंने उत्तर तथा दक्षिण भारत के अनेक तीर्थस्थलों का दौरा किया। उन्होंने विष्णु या उनके अवतार कृष्ण के प्रति पूर्ण समर्पण का उपदेश दिया। उन्हें अहोम राज्य के ब्राह्मण पुजारियों के कोप का शिकार बनना पड़ा और उन्होंने पड़ोसी राज्य कूच-बिहार में शरण ली। यहां के राजा ने उन्हें भक्ति के प्रचार-प्रसार की पूरी आजादी दी। इनकी भक्ति एकेश्वरवादी विचारों से प्रभावित थी। इसे **एक-शरण-धर्म** के नाम से जाना जाता था, यानी ऐसा धर्म जिसमें एक आराध्य में श्रद्धा या निष्ठा रखी जाती हो। उन्होंने जाति व्यवस्था की आलोचना की और जनता को उनकी भाषा (**ब्रज बोली** का असमी रूप) में उपदेश दिया। उन्होंने भक्ति के प्रचार-प्रसार के लिए नृत्य-नाटक-संगीत का समावेश किया। उन्होंने सत्र नाम से एक संस्था की भी स्थापना की। सत्र का मतलब है वह मीटिंग जिसमें सभी वर्गों के लोग धार्मिक और सामाजिक मुद्दों पर बातचीत करने के लिए इकट्ठे होते थे। बाद में ये सत्र मठ में रूपांतरित हो गए। उनके संप्रदाय को **महापुरुषीय धर्म** के नाम से जाना जाता था।

MAADHYAM IAS

बोध प्रश्न 3

1) वैष्णव भक्ति आंदोलन पर एक टिप्पणी लिखें।

....

....

....

....

....

2) निम्नलिखित में से प्रत्येक पर पांच पंक्तियां लिखिए :

क) बंगाल का भक्ति आंदोलन

....

....

....

....

....

ख) महाराष्ट्र का भक्ति आंदोलन

....

....

....

....

29.6 अन्य परम्पराओं और आंदोलनों का प्रभाव

यह स्पष्ट है कि अपेक्षाकृत प्राचीन दक्षिण भारतीय भक्ति को सल्तनत काल के भक्ति आंदोलनों से नहीं जोड़ा जा सकता है। पर सल्तनत काल के पहले से चली आई परंपराओं और आन्दोलनों का उन पर प्रभाव था। मसलन **भागवत् पुराण** तथा रामानंद जैसे विद्वान संतों के विचारों और गतिविधियों और नाथपंथ जैसे **अशास्त्रीय** आंदोलनों का प्रभाव इस दौर के भक्ति आंदोलन पर पड़ा।

भागवत् पुराण में भक्ति के सिद्धांत को अंतिम रूप दिया गया। वैष्णव मत के इस ग्रंथ की रचना 9वीं शताब्दी के आसपास हुई थी। इसमें विष्णु के विभिन्न अवतारों, खासकर कृष्ण के अवतार की भक्ति पर विशेष बल दिया गया। **भागवत्** में ब्राह्मणों द्वारा प्रतिपादित वर्ण व्यवस्था के उद्‌भव के सिद्धांत को स्वीकार किया गया है, पर इसमें ब्राह्मणों को केवल उनकी हैसियत या जन्म के आधार पर श्रेष्ठ नहीं माना गया है। इसकी दृष्टि में भक्ति सर्वोपरि है। ऐसा माना जाता है कि **भागवत् पुराण** मध्यकालीन विभिन्न वैष्णव भक्ति आंदोलनों को जोड़ने वाली कड़ी थी। पर कबीर और नानक जैसे एकेश्वरवादी संतों पर **भागवत्**-परम्परा का प्रत्यक्ष प्रभाव दृष्टिगोचर नहीं होता है। इनमें से अधिकांश संत निरक्षर थे और वे **भागवत्** और अन्य धर्म ग्रंथों को पढ़ने में असमर्थ थे। इसी कारण कबीर की भक्ति और **भागवत्** की भक्ति में महत्वपूर्ण अंतर है। कबीर और अन्य निरीश्वरवादी संत अवतार में विश्वास नहीं रखते थे और ब्राह्मणवाद और धर्म ग्रंथों की मान्यताओं को नकारते थे।

29.6.1 लोकप्रिय एकेश्वरवादी संत और रामानन्द

कबीर, रैदास और अन्य एकेश्वरवादी संतों की मान्यताओं और आन्दोलनों का स्रोत रामानन्द के मत को माना जाता है। रामानन्द ने भक्ति का द्वार सबके लिए खोल दिया था और जातिगत बंधनों का कसकर विरोध किया था। उन्होंने लोक भाषा में अपने मत और विचारों का प्रचार किया था। पर समग्र रूप में, उनकी भक्ति की अवधारणा वैष्णव भक्ति का एक अंग थी। दूसरी तरफ कबीर आदि एकेश्वरवादी संत रामानन्द जैसे उदारवादी वैष्णव भक्तों से भी एक कदम आगे बढ़े और उन्होंने समग्र रूप में ब्राह्मण धर्म का विरोध किया। वस्तुतः जिन संतों को रामानन्द का शिष्य कहा जाता है, उनमें से एक ने भी उन्हें या किसी और व्यक्ति को अपने गुरू के रूप में स्वीकार नहीं किया है।

29.6.2 एकेश्वरवादी संतों पर नाथपंथी आन्दोलन का प्रभाव

नाथपंथी जैसे असनातनी आंदोलनों का कबीर और अन्य एकेश्वरवादियों के विचारों पर असर पड़ा था। नाथपंथ के उपदेश ''छोटी'' जातियों, जैसे— डोम, चमार, धोबी, तेली, दर्जी, मछुआरा, बढ़ई, मोची आदि का प्रतिनिधित्व करते थे। इन्हें **सिद्ध** कहा जाता था। 13वीं-14वीं शताब्दी के दौरान उत्तर भारत में तुर्कों के शासन की स्थापना के साथ-साथ नाथपंथी आंदोलन की लोकप्रियता भी अपने उत्कर्ष पर पहुंच गई। नाथपंथी योगियों के सम्प्रदाय में बिना जातिगत भेदभाव के किसी को भी शामिल किया जा सकता था। कबीर के निरीश्वरवादी दृष्टिकोण, उनके सोचने के अलग ढंग, वाणी की कटुता, **उलटबाँसियों** के प्रयोग (विरोधाभास और प्रतीकों का प्रयोग) और कुछ-कुछ रहस्यात्मक प्रतीकों में नाथपंथियों का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। पर कबीर और अन्य एकेश्वरवादियों ने नाथपंथ के विचारों और शैली को ज्यों का त्यों नहीं अपना लिया, बल्कि उसे अपनी जरूरत के अनुकूल ढालकर प्रयुक्त किया। कबीर ने उनके तप संबंधी और रहस्यवादी सिद्धांतों तथा श्वास-नियंत्रण जैसे शारीरिक अभ्यासों को अस्वीकार कर दिया। वस्तुतः जब-जब मध्यकालीन एकेश्वरवादी सतों ने ब्राह्मण धर्म और उनकी व्यवस्था पर आक्रमण के लिए सिर उठाया, उनके स्वर में नाथपंथियों का स्वर मिल गया।

29.6.3 इस्लामी मत का प्रभाव और सूफ़ी मत की भूमिका

कई विद्वानों का यह मानना है कि 12वी शताब्दी के पहले भी और बाद में भी भक्ति आंदोलन के विभिन्न रूप और खुद भक्ति का सिद्धांत इस्लाम मत के प्रभाव के कारण फलीभूत हुआ। यह दावा इस्लाम और भक्ति संप्रदायों के बीच की समानताओं को देखकर किया जाता है। दूसरी तरफ, यह भी कहा जाता है कि भक्ति और भक्ति आंदोलन का जन्म देशी कारणों से हुआ था। अपेक्षाकृत पुराने दक्षिण भारतीय भक्ति आंदोलन पर तो इस्लाम का प्रभाव हो ही नहीं सकता, क्योंकि इसका जन्म दक्षिण भारत में इस्लाम के पहुंचने के काफी पहले हो चुका था। जहां तक अवधारणा का सवाल है, भक्ति और श्रद्धा किसी एक धर्म तक ही सीमित नहीं है। सभी धर्मों में ये तत्व मिल जाते हैं। वस्तुतः ऐसे आंदोलनों के उत्थान और विकास के पीछे कुछ ऐतिहासिंक कारण होते हैं। एक अनुकूल माहौल पाकर ये पनप उठते हैं। अतः मध्यकालीन भारत के भक्ति आंदोलन को समकालीन ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में जाँचना-परखना उचित होगा। किसी दूसरे धर्म में इसका उद्‌गम खोजना या उसे प्रेरणा स्रोत मानना दूर की कौड़ी लाने जैसा प्रयास होगा। हाँ, यह कहा जा सकता है कि विभिन्न भक्ति सम्प्रदायों, खासकर ऐकेश्वरवादियों को इस्लाम ने दूसरे ढंग से प्रभावित किया। कबीर और नानक जैसे निरंकारी संतों ने कुछ विचार इस्लाम से भी ग्रहण किए। एक ईश्वर में विश्वास, अवतारवाद की अस्वीकृति, निर्गुण भक्ति और मूर्तिमूजा तथा जाति व्यवस्था पर उनके आक्रमण में इस्लाम मत के बीज तत्व मिल जाते हैं। लेकिन इस्लाम के तत्वों को उन्होंने हू-ब-हू नहीं अपना लिया, और कट्टरपंथी इस्लाम के कई मतों पर प्रहार किया। पर वैष्णव भक्ति आंदोलन पर इस्लाम का प्रभाव नहीं स्वीकार किया जा सकता है, क्योंकि न तो उन्होंने मूर्तिपूजा को नकारा और न ही जाति व्यवस्था और अवतारवाद का तिरस्कार किया। वे सगुण भक्ति में विश्वास रखते थे। एकेश्वरवादी भक्ति आंदोलन और इस्लाम के बीच एक प्रकार का आदान-प्रदान भी हुआ और इस आदान-प्रदान के क्रम में सूफ़ी मत का जन्म हुआ। सूफ़ी ''पीर'' की बात करते हैं, ''प्यारे'' (ईश्वर) के साथ एकाकार होने का सिद्धांत सामने रखते हैं। इसी प्रकार निरंकारी संत भी गुरू और ईश्वर के प्रति पूर्ण समर्पण की बात करते हैं। यह माना जाता है कि चिश्ती सूफ़ी संतों के साथ कबीर के संबंध थे, पर इसका कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिला है। **जनम-साखियों** में नानक से सूफ़ियों की मुलाकात का उल्लेख मिलता है। हालांकि ऐतिहासिक तौर पर सूफ़ी और एकेश्वरवाद आंदोलन की धारा बिल्कुल अलग-थलग है, पर उनमें कुछ आधारभूत समानताएँ हैं, मसलन वे हिन्दू और मुस्लिम रूढ़िवादिता को एक स्वर से नकारते हैं। उनके बीच का आदान-प्रदान अप्रत्यक्ष था पर इस अप्रत्यक्ष आदान-प्रदान ने भी दोनों को बढ़ावा दिया।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

29.6.4 हिंदूवाद को इस्लाम की चुनौती का सिद्धांत

भक्ति आंदोलन के उदय की साम्प्रदायिकता पर आधारित एक और आधुनिक विचारधारा सामने आयी है। इसके अनुसार भक्ति आंदोलन का उदय इस्लाम से हिंदू धर्म की रक्षा करने के लिए हुआ था। ''मुस्लिम'' शासन में हिंदुओं के साथ अन्याय हो रहा था। इस्लाम एकेश्वरवाद, बंधुत्व और समानता के अपने मत के कारण हिंदू धर्म के अस्तित्व को चुनौती दे रहा था। इस सिद्धांत के अनुसार भक्ति आंदोलन का उदय प्रतिरक्षात्मक कारणों से हुआ था। एक तरफ तो हिंदू धर्म से मूर्तिपूजा और जाति प्रथा जैसी कुप्रथाओं को हटाकर हिंदू धर्म की रक्षा करने का प्रयत्न किया जा रहा था और दूसरी तरफ इसके आधारभूत तत्वों की रक्षा करने के लिए इसे प्रचारित भी किया जा रहा था। कबीर, नानक आदि ने हिंदू धर्म की कुप्रथाओं पर आक्रमण किया और 16वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और 12वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में तुलसीदास ने इस धर्म को लोकप्रिय बनाने का कार्य संपन्न किया। पर मध्यकालीन भक्ति आंदोलन से संबंधित यह धारणा किसी प्रमाण पर आधारित नहीं है :

i) इस्लाम से हिंदू धर्म के खतरे का सिद्धांत वस्तुतः आज की साम्प्रदायिक मानसिकता की उपज है जिसमें वर्तमान माहौल को अतीत के संदर्भ में देखने की कोशिश की जाती है। इस्लाम धर्म के भारत पहुंचने से पूर्व ही उसका ''बंधुत्व'' का सिद्धांत अपनी शक्ति खो चुका था और मुस्लिम समाज में भी सामाजिक-आर्थिक और जातीय असमानताएं प्रवेश कर गई थीं। तुर्की शासक वर्ग में एक प्रकार की जातीय श्रेष्ठता की भावना छिपी थी और वे इस्लाम धर्म स्वीकार करने के बाद भी भारत की ''छोटी जातियों'' को नीची निगाह से देखते थे और उन्हें अच्छे ओहदों के लिए उपयुक्त नहीं मानते थे।

ii) हिंदू जनता अपने धार्मिक आचारों का पालन करती रही और धार्मिक त्योहार मनाती थी। वस्तुतः, अभी भी ज्यादा जनसंख्या हिन्दू थी। यहां तक कि सल्तनत की राजधानी दिल्ली में भी जनसंख्या के हिसाब से हिंदुओं की संख्या अधिक थी।

iii) एकेश्वरवादी संतों ने पंडित-मौलवियों और उनकी रूढ़िवादिता को एक साथ फटकारा।

iv) यह मानना कि सभी एकेश्वरवादी और वैष्णव इस्लाम के खतरे के प्रति अपनी भावना व्यक्त कर रहे थे, कुछ ठीक मालूम नहीं पड़ता। कबीर और "छोटी जातियों" के संत अपने को कभी भी वैष्णव संतों के साथ जोड़कर नहीं देख सके।

v) अंत में यह कहा जा सकता है कि वैष्णव भक्ति संतों की कविताओं और उपदेशों में दूर-दूर तक कहीं इस्लाम धर्म के प्रभाव का संकेत नहीं है। वस्तुतः उन दोनों धर्मों की मान्यताओं में कई आधारभूत मतभेद हैं। दूसरी तरफ चैतन्य के शिष्यों, रामानन्द, कबीर, नानक या दादूदयाल, में मुसलमान और हिंदू दोनों शामिल थे।

बोध प्रश्न 4

1) नाथपंथी सिद्धांत ने भक्ति संतों को किस प्रकार प्रभावित किया?

....

....

....

....

....

2) क्या आप इस बात से सहमत हैं कि भक्ति आंदोलन के उदय में इस्लाम का प्रभाव निहित है? टिप्पणी कीजिए।

....

....

....

....

....

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

29.7 सारांश

भारतीय इतिहास में छठी शताब्दी ई.पू. के असनातनी आंदोलन के बाद, सल्तनत काल में भक्ति आंदोलनों का उदय हुआ, जिसका आयाम काफी व्यापक था। यह तत्कालीन सामाजिक-आर्थिक माहौल की उपज था। इन्होंने समय-समय पर नए सामाजिक-धार्मिक विचार और मान्यताएं सामने रखी हैं और समाज को प्रभावित किया है। भक्ति आंदोलन के दौरान विकसित बहुत सी प्रथाएं हिंदू धर्म में आज भी अस्तित्व में हैं, जैसे ईश्वर का नाम बार-बार जपना, सतसंग में भाग लेना और संकीर्तन का आयोजन करना। इन आंदोलनों से आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं का जन्म हुआ, सिक्ख जैसे नए धार्मिक समुदाय कायम हुए और कई संप्रदायों या पंथों का उदय हुआ।

इस इकाई में हमने निम्नलिखित मुद्दों का अध्ययन किया है :
- दक्षिण भारत के भक्ति आंदोलन की पृष्ठभूमि, जो दूसरे रूप में उत्तर भारत में पनपा।
- भक्ति आंदोलन के उदय में कार्यरत विभिन्न राजनीतिक और सामाजिक-आर्थिक तत्व।
- भक्ति आंदोलन की दो प्रमुख धाराएं—एकेश्वरवादी और वैष्णव।
- उत्तर भारत, महाराष्ट्र और बंगाल में इन दोनों धाराओं के प्रमुख संत और आंदोलन।
- उत्तर भारतीय भक्ति आंदोलन पर विभिन्न सम्प्रदायों और मतों का प्रभाव, और
- भक्ति आंदोलन पर इस्लाम का प्रभाव।

29.8 शब्दावली

आचार्य : नये धार्मिक और दार्शनिक विचारों के प्रणेता संत-विद्वान।

आदि ग्रंथ : सिक्खों का सबसे पवित्र धर्म ग्रंथ, जिसे 1604 में सिक्ख गुरू अर्जुन देव ने संकलित किया था। बाद में इसे **गुरु ग्रंथ साहब** के नाम से जाना जाने लगा।

भगत : भक्त, उपासक का अपभ्रंश रूप

जुलाहा : मुसलमान बुनकर जाति का सदस्य

कीर्तन : सामूहिक भजन गान

मार्ग : रास्ता, राम मार्ग या कृष्ण मार्ग जैसे भक्ति मत

मुक्ति : छुटकारा

नाम : ईश्वर नाम

निरंकार : बिना किसी आकार का

निर्गुण : जिसके गुण का उल्लेख न किया जा सके

पंथ : मार्ग, सम्प्रदाय, किसी खास एकेश्वरवादी संत से जुड़ा हुआ, जैसे **कबीरपंथ, नानकपंथ, दादूपंथ** आदि।

परम्परा : अतीत से चली आ रही रीति

सबद : ईश्वरीय शब्द, ईश्वर से आत्मालाप

सगुण : जिसके गुणों को भक्त देख सके

सम्प्रदाय : परम्परा, खास धार्मिक विचार और प्रथा का एक संगठन

वैष्णव : विष्णु के उपासक

वरकरी : वैष्णव भक्ति परंपरा

कृषीय अधिशेष : कृषकों की अपनी आवश्यकता के अतिरिक्त उत्पादन

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

29.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) देखें भाग 29.1, 29.2
2) देखें भाग 29.2

बोध प्रश्न 2

1) देखें भाग .29.4
2) देखें उपभाग 29.5.1
3) देखें उपभाग 29.5.1, 29.5.2

बोध प्रश्न 3

1) देखें उपभाग 29.5.3
2) देखें उपभाग 29.5.4, 29.5.5

बोध प्रश्न 4

1) देखें उपभाग 29.6.2
2) देखें उपभाग 29.6.3

इकाई 30 सामाजिक-धार्मिक आंदोलन : सूफ़ी आंदोलन

इकाई की रूपरेखा

30.0 उद्देश्य
30.1 प्रस्तावना
30.2 सूफ़ी मत की विशेषताएँ
30.3 मुस्लिम देशों में सूफ़ी आंदोलन का विकास
- 30.3.1 आरंभिक चरण (10वीं शताब्दी तक)
- 30.3.2 संगठित **सूफ़ी** आंदोलन का विकास (10वीं-12वीं शताब्दी)
- 30.3.3 सूफ़ी सम्प्रदायों या **सिलसिलों** की स्थापना (12वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध और तेरहवीं शताब्दी)

30.4 भारत में सूफ़ी मत का विकास
30.5 भारत में सल्तनत काल के सूफ़ी **सिलसिले**
- 30.5.1 **सुहरवर्दी सिलसिला**
- 30.5.2 **चिश्ती सिलसिला**
- 30.5.3 अन्य सूफ़ी **सिलसिले**

30.6 **चिश्ती सिलसिले** की लोकप्रियता के कारण
30.7 सूफ़ियों की सामाजिक भूमिका
- 30.7.1 सूफ़ी और राज्य
- 30.7.2 सूफ़ी और **उलेमा**
- 30.7.3 सूफ़ी और धर्म परिवर्तन
- 30.7.4 **खानकाहों** में भौतिक जीवन

30.8 भारतीय सूफ़ी मत पर समकालीन मुस्लिम देशों रहस्यवादी विचारों का प्रभाव
30.9 सूफ़ी और भक्ति आंदोलन और सांस्कृतिक समन्वय
30.10 सारांश
30.11 शब्दावली
30.12 बोध प्रश्नों के उत्तर

MAADHYAM IAS

30.0 उद्देश्य

इस इकाई में हम मध्यकालीन भारत के सूफ़ी आंदोलन और विचारों पर चर्चा करेंगे। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- सूफ़ी मत की विशिष्टताओं का उल्लेख कर सकेंगे,
- इस्लामी देशों में सूफ़ी मत के उदय पर प्रकाश डाल सकेंगे,
- दिल्ली सल्तनत के दौरान भारत में इसके विकास को रेखांकित कर सकेंगे,
- इस काल में भारत में पनपे विभिन्न सूफ़ी सिलसिलों का वर्णन कर सकेंगे,
- भारत में **चिश्ती** सिलसिले की लोकप्रियता के कारणों पर प्रकाश डाल सकेंगे, और
- समकालीन भारतीय समाज पर सूफ़ी मत के प्रभाव का विश्लेषण कर सकेंगे।

30.1 प्रस्तावना

इस्लाम में विभिन्न रहस्यात्मक प्रवृत्तियों और आंदोलनों को सूफ़ीमत या **तसव्वुफ़** के नाम से जाना जाता है। इस्लाम में व्यक्तिगत अनुभव पर आधारित रहस्यवादिता के माध्यम से ईश्वर और व्यक्ति के बीच सीधा सम्पर्क स्थापित करने की बात की जाती है। प्रत्येक धर्म अपने विकास के क्रम में कभी न कभी इस रहस्यवाद का सहारा अवश्य लेता है। इस दृष्टि से सूफ़ी मत **कुरान** की पवित्रता की भावना पर आधारित इस्लाम का स्वाभाविक विकास है। सूफ़ी संत **शरीयत** को स्वीकार करते थे, पर वे परम्परा से चली आई आराधना पद्धति में बंधकर नहीं रहे, बल्कि उन्होंने ऐसी पद्धति विकसित की, जिसका उद्देश्य भगवान से सीधा तादात्म्य स्थापित करना था।

इस इकाई में, हम सूफ़ी मत की मुख्य विशेषताओं, इस्लामी देशों में इसके उदय और भारत में इसके प्रसार

पर विचार-विमर्श करेंगे। इस इकाई में आप भारत में लोकप्रिय विभिन्न सूफ़ी संप्रदायों की चर्चा करेंगे। इसके साथ ही हम समकालीन भारतीय समाज पर सूफ़ी आंदोलन के प्रभाव का विश्लेषण भी करेंगे।

30.2 सूफ़ी मत की विशेषताएँ

भारत और उसके बाहर कई सूफ़ी मत या **सिलसिले** विकसित हुए। प्रत्येक मत की अपनी-अपनी खास विशेषताएँ थीं, पर सभी सूफ़ी मतों में कुछ समान विशेषताएँ भी थीं। हम यहां इसी प्रकार की विशेषताओं की चर्चा करेंगे।

i) सूफ़ी मत का उदय इस्लामी देशों में हुआ। इसमें अलौकिक यथार्थ (हक़ीक़त) से सीधा सम्पर्क स्थापित करने के लिए सूफ़ी मार्ग (तरीक़ा) पर चलने का महत्व बताया गया।

ii) सूफ़ी मत के अनुसार व्यक्ति को ईश्वर का अनुभव करने के लिए कई ''पड़ावों'' या ''चरणों'' **(मक़ामात)** और मनोवैज्ञानिक परिस्थितियों का सामना करके **(हल)** गुजरना पड़ता है।

iii) सूफ़ी मार्ग को कोई भी व्यक्ति केवल आध्यात्मिक गुरु (**शेख, पीर** या **मुर्शिद**) के कड़े निरीक्षण में ही पार कर सकता है। **शेख, पीर** या **मुर्शिद** का दर्जा वही पा सकते हैं, जिन्होंने सफलतापूर्वक इस मार्ग को तय कर लिया हो और ईश्वर से सीधा संवाद स्थापित कर लिया हो।

iv) शिष्य **(मुरीद)** कई ''पड़ावों'' और ''चरणों'' से गुजरता है। वह ईश्वर में ध्यान लगाने और ध्यान केन्द्रित करने (जिक्र) के लिए आत्म-संताप, ईश्वर का नाम बार-बार जपना जैसे आध्यात्मिक अभ्यासों से गुजरता है।

v) सूफ़ी आवेग उत्पन्न करने वाले संगीत आयोजनों **(समा)** का सहारा लेते थे। इस **''समा''** का उपयोग **परमानन्द** की अनुभूति प्राप्त करने के लिए किया जाता था। कुछ सूफ़ी मत कुछ खास किस्म के संगीत आयोजनों या **''समा''** को मंजूरी नहीं देते थे। **उलेमा** इस प्रथा के बिल्कुल खिलाफ थे।

vi) सूफ़ी मत अनेक **सिलसिलों** में विभक्त था। सभी सिलसिले अपने संस्थापक के नामों पर आधारित थे, जैसे **सुहरावर्दी, कादिरी, चिश्ती** आदि। एक सूफ़ी गुरु और उसके शिष्यों को मिलाकर एक **सिलसिले** का निर्माण होता था।

MAADHYAM IAS
way to achieve your dream

vii) सूफ़ी मत की गतिविधियों का केन्द्र एक आश्रम (खानकाह) होता था। यहां **पीर** अपने शिष्यों को आध्यात्मिक शिक्षा दिया करता था। **पीर** की ख्याति और प्रतिष्ठा पर **खानक़ाह** की लोकप्रियता आधारित होती थी। जो **पीर** जितना ज्यादा प्रतिष्ठित होता था, उसके **खानक़ाह** में शिष्यों की संख्या भी उतनी ही अधिक होती थी। इन **खानक़ाहों** को दान और वृत्ति मिला करता थी।

30.3 मुस्लिम देशों में सूफ़ी आंदोलन का विकास

भारत में 13वीं शताब्दी के आरंभ में सूफ़ी **सिलसिलों** ने अपनी गतिविधियां शुरू कीं। पर इसके काफी पहले इस्लामी प्रभाव के विभिन्न क्षेत्रों में सूफ़ी मत एक सशक्त आंदोलन के रूप में फैल चुका था। भारतीय परिवेश में सूफ़ी मत का एक खास स्वरूप उभरकर आया। पर अपने विकास के आरंभिक चरण में भारतीय सूफ़ी मत इस्लामी दुनिया में विकसित सूफ़ी मान्यताओं और प्रथाओं से प्रभावित हुआ। इस्लामी देशों में 7वीं से 13वीं शताब्दी के बीच सूफ़ी मान्यताओं और प्रथाओं का विकास हुआ था। इस काल में इस्लामी देशों में विकसित सूफ़ी मत को तीन प्रमुख चरणों में विभक्त किया जा सकता है।

30.3.1 आरंभिक चरण (10वीं शताब्दी तक)

आरंभिक दौर में सूफ़ियों ने **कुरान** की आयतों को रहस्यात्मक अर्थ देने की कोशिश की। **कुरान** में उल्लिखित सद्‌गुणों, जैसे पश्चाताप **(तौबा)**, **परहेज़,** सन्यास, गरीबी, ईश्वर में विश्वास (तवक्कुल) आदि की उन्होंने गूढ़ व्याख्या की। सूफ़ी आंदोलन के आरंभिक केन्द्रों में मक्का, मदीना, बसरा और कूफा प्रमुख हैं। आठवीं शताब्दी के सूफ़ियों को ''मौनी'' कहा गया, क्योंकि वे मौन रहकर अपनी साधना में लीन रहते थे और जनता के बीच जाकर सूफ़ी मत का प्रचार नहीं करते थे। वे शिक्षा की अपेक्षा मार्गदर्शन में अधिक विश्वास रखते थे। महिला सूफ़ी राबिया (मृत्यु 801 ई.) के काल में बसरा में सूफ़ी मत अपने चरमोत्कर्ष पर था।

ईरान, खुरासान, ट्रांसऑक्सियाना, मिस्र, सीरिया और बगदाद में भी इस काल में सूफ़ी मत का विकास हुआ। ईरानी क्षेत्रों में सूफ़ी मत पर ईरानी विचारों का प्रभाव पड़ा और इसमें व्यक्तिवादी प्रवृत्तियों तथा गैर परम्परावादी सिद्धांतों और मान्यताओं का समावेश हुआ। ईरान के आरंभिक सूफ़ियों में खुरासान के बयाज़िद बिस्तामी (मृ. 874) का नाम प्रमुख है। अपने सूफ़ी मत में उन्होंने न्यास और "सब कुछ ईश्वर में है" जैसे गूढ़ सिद्धांतों का समावेश कर इस मत को एक नया रूप दिया। उसने सूफ़ी मत में अहम् के दमन **(फना)** की अवधारणा का समावेश किया। बाद में सूफ़ियों ने भी इस सिद्धांत को अपनाया।

अपने आरंभिक दौर में सूफ़ी बगदाद में भी सक्रिय थे। बगदाद अब्बासी खलीफा, अल जुनैद, की राजधानी थी। अल जुनैद (मृ. 910) को कट्टरपंथी इस्लामी वर्ग का समर्थन प्राप्त था। उसके सूफ़ीमत को नियंत्रित और मर्यादित माना जाता था, अतः इस मत को मानने वाले लोग मर्यादित माने गये। अपने समकालीन और बाद के सूफ़ियों पर जुनैद और बिस्तामी दोनों का अच्छा खासा प्रभाव था। इन दोनों द्वारा स्थापित मत एक दूसरे से काफी भिन्न थे। इन्हें जुनैदी और बिस्तामी या ईराकी और खुरासानी के नाम से जाना जाता है।

बगदाद के आरंभिक सूफ़ियों में मंसूर अल हल्लाज (मृ. 923) का नाम उल्लेखनीय है। पहले वह अल जुनैद का शिष्य था, पर बाद में उसने बयाज़िद बिस्तामी का मार्ग अपनाया। उनके रहस्यवादी कथन "मैं ईश्वर हूँ" ने सूफ़ी आंदोलन को एक नया आयाम दिया। इसने ईरान और भारत में सूफ़ी विचारों के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। **उलेमा** ने "ईश्वर निंदक" कहकर उसकी आलोचना की और कहा कि ईश्वर से एकाकार होने का उसका दावा एक छल है। उसकी आलोचना की गयी, बंदी बनाया गया और अंततः फांसी पर चढ़ा दिया गया। उसके सिद्धांतों के आधार पर ही **"इंसान-ए कामिल"** (पूर्ण व्यक्ति) की अवधारणा विकसित हुई।

आरंभ में विभिन्न सूफ़ी मत बहुत संगठित नहीं थे और वे एक जगह से दूसरी जगह घूमते रहते थे। ये लोग छोटे-छोटे समूहों में किसी समर्थ गुरू की तलाश में भटकते रहते थे। अरब क्षेत्र में ये घुमक्कड़ सूफ़ी रिबातं या सीमांत आश्रय स्थलों से जुड़े होते थे। ईरानी क्षेत्र में ये आश्रमों **(खानक़ाहों)** से जुड़े होते थे। महिला सूफ़ियों के आश्रय स्थल अलग होते थे।

30.3.2 संगठित सूफ़ी आंदोलन का विकास (10वीं—12वीं शताब्दी)

10वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और 11वीं शताब्दी के दौरान जब मध्य एशिया और ईरान में पहले गज़नवियों और बाद में सेलजुकों के अधीन तुर्की शासन कायम हुआ तब सूफ़ी मत एक संगठित आंदोलन के रूप में विकसित हुआ। इस काल के दौरान इस्लामी दुनिया में दो समानांतर संस्थाओं का विकास हुआ।
(क) **मदरसा** व्यवस्था (धार्मिक शिक्षा का उच्च संस्थान) यह कट्टरपंथी इस्लामी शिक्षा की मान्य संस्था थी, और (ख) सूफ़ी गतिविधियों के संगठित और स्थायी केन्द्र के रूप में **खानक़ाह** व्यवस्था का नया स्वरूप सामने आया।

खानक़ाह अब सूफ़ियों की व्यक्तिगत गतिविधि का केन्द्र न रहकर सूफ़ी शिक्षा के संस्थागत केन्द्र के रूप में उभर कर सामने आई। पर गुरू और शिष्य का संबंध अभी भी व्यक्तिगत था और इसने अब तक रहस्यमय और आनुष्ठानिक स्वरूप अख्तियार नहीं किया था। अभी सूफ़ी संप्रदाय सही ढंग से आकार नहीं ग्रहण कर सका था। पर **खानक़ाहों** का स्वरूप बदल चुका था। अब ये सूफ़ियों के आश्रय स्थल मात्र न थे बल्कि सूफ़ी मत और मान्यताओं के सुस्थापित केन्द्र थे। इसमें एक आध्यात्मिक गुरू अपने शिष्यों के साथ रहा करता था।

उलेमा सूफ़ी मत को हमेशा संदेह की नज़र से देखते थे। उन्हें खासकर **समा** जैसी और परम्परावादी प्रथाओं से सख्त नफरत थी। कट्टरपंथी इस्लामी शिक्षा प्राप्त कुछ सूफ़ियों ने **उलेमा** और सूफ़ियों के बीच एक प्रकार का संतुलन स्थापित करने की कोशिश की। अबू हमीद अल-ग़ज़ाली (1058-1111 ई.) इस प्रकार के सूफ़ियों में सर्वप्रमुख था। आरंभ में वह **आलिम** (धर्म प्रवक्ता) था, पर बाद में उसने सूफ़ी की ज़िंदगी बसर की। उसने सूफ़ी मत में बाह्य इस्लामी कानूनों का और औपचारिक सिद्धान्तों का पालन करने पर जोर दिया। पर इस्लाम में कट्टरपंथी और सूफ़ी मत की प्रवृत्तियाँ अलग-अलग रास्तों पर ही विकसित हुईं।

इस दौर में सूफ़ी साहित्यिक ग्रंथ रचे गये। इनमें सूफ़ी विचारों और सिद्धांतों को सूत्रबद्ध किया गया। अल-ग़ज़ाली सर्वप्रमुख सूफ़ी लेखक था। अल हुजविरि (मृ. 1088) ने कश्फ-उल महजूब की रचना की। इसे सूफ़ी मत का प्रामाणिक और मान्य ग्रंथ माना जाता है।

इस काल में सूफ़ी मत की एक अन्य विशेषता फ़ारसी में लिखित कविताओं का विकास था। अरबी

रहस्यात्मक साहित्य गद्यात्मक था, और फ़ारसी साहित्य पद्यात्मक। बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी के दौरान फ़ारसी भाषा में लिखित वर्णनात्मक कविताएँ (मसनवी) अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच गयीं। फरीदुद्दीन अत्तार (मृ. 1220) और जलालुद्दीन रूमी (मृ.1273) इस के प्रमुख प्रतिपादक थे।

30.3.3 सूफ़ी सम्प्रदायों या सिलसिलों की स्थापना (12वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध और तेरहवीं शताब्दी)

i) भारतीय सामाजिक और धार्मिक जीवन को सूफ़ी मत ने प्रभावित किया। पर भारत में इसके प्रभावी होने के कई दशक पूर्व मुस्लिम देशों में सूफ़ी आंदोलन एक संगठित रूप ले चुका था और कई मार्ग **(तरीक़ा)** या सूफ़ी सम्प्रदाय कायम हो चुके थे। बारहवीं शताब्दी से ये सम्प्रदाय आकार ग्रहण करने में लगे थे। अधिकांश केन्द्रों का विकास एक गुरू विशेष के नेतृत्व में हुआ। आध्यात्मिक गुरू-शिष्य परम्परा की शुरुआत भी हुई। इनका अलग **तरीका** था, इनकी प्रथाएं और अनुष्ठान अलग-अलग थे। इस प्रकार विभिन्न सूफ़ी सम्प्रदाय **(सिलसिला)** कायम हुए। इसमें एक के बाद दूसरा गुरू आध्यात्मिक उत्तराधिकारी **(खलीफा)** अथवा **सिलसिले** का प्रधान बनता था और सम्प्रदाय की आध्यात्मिक शिक्षा का पालन करते हुए अपने को उससे जोड़कर रखता था।

ii) **सिलसिले** के आध्यात्मिक प्रधान और उसके शिष्यों के संबंध ने अब एक आनुष्ठानिक स्वरूप ग्रहण कर लिया। अब शिष्य को **सिलसिले** में शामिल होने के लिए कई प्रकार के अनुष्ठानों से गुजरना पड़ता था और निष्ठा की शपथ लेनी पड़ती थी। **खानक़ाह** में शिष्यों के दैनिक जीवन को नियंत्रित करने के लिए प्रत्येक **सिलसिले** के अपने अलग-अलग संस्थागत नियम थे। आध्यात्मिक गुरू **(मुर्शिद)** को अब ईश्वर का प्रतिनिधि **(वली)** के रूप में देखा जाने लगा। **मुरीद** (शिष्य) को अपने **मुर्शिद** के समक्ष पूर्ण समर्पण करना होता था। इसके बदले में मुर्शिद अपने मुरीद को **तरीका,** इसका गुप्त **विर्द** (समर्पण के लिए एक शब्द), नियम और प्रतीकों की दीक्षा देता था।

iii) कई **सिलसिलों** के संस्थापकों ने इस्लामी कानून और इस्लाम के अनुष्ठानों को अपना लिया। कई सिलसिलों के संस्थापक पेशेवर **काज़ी** थे, इससे भी **सिलसिला** संस्थापक और कट्टरपंथी इस्लाम के संबंध का पता चलता है। पर उन्होंने कट्टरपंथी इस्लामी अनुष्ठानों को एक रहस्यात्मक आवरण दे दिया और नये प्रयोग किए। उन्होंने कई धार्मिक प्रथाएँ लागू कीं, जो कट्टरपंथी इस्लामी दृष्टिकोण से मेल नहीं खाती थीं। हालांकि **सिलसिला** के संस्थापकों ने इस्लामी कानून के पालन पर विशेष जोर दिया, पर कई **सिलसिलों** में गैर परम्परावादी मान्यताएँ और प्रथाएँ स्थापित हुईं।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

iv) ईरान, मध्य एशिया और बगदाद में सक्रिय लोकप्रिय **सिलसिलों** के नाम नीचे दिये जा रहे हैं। इन्होंने इस्लामी दुनिया में सूफ़ी मत के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। शेख शहाबुद्दीन सुहरावर्दी (मृ. 1234) द्वारा स्थापित सुहरावर्दी, शेख अब्दुल कादिर जिलानी (मृ. 1166) द्वारा स्थापित **कादिरी**, मुइनुद्दीन चिश्ती (मृ. 1236) द्वारा स्थापित **चिश्ती** और बहाउद्दीन नक्शबंदी (मृ. 1398) द्वारा स्थापित **नक्शबंदी** (पहले इसे **ख्वाजगान** के नाम से जाना जाता था) प्रमुख **सिलसिले** थे। इन **सिलसिलों** में दीक्षित सूफ़ी अपने-अपने देश या देशों (जैसे भारत) में उनकी शाखाएँ स्थापित करने लगे। शनैः शनैः ये शाखाएँ अलग और स्वतंत्र सूफ़ी मत के रूप में विकसित हुईं और इनकी विशेषताएँ और प्रवृत्तियाँ भी अलग हो गयीं।

v) इस्लामी देशों (ईरान, खुरासान और ट्रांसऑक्सियाना) और भारत आदि देशों में सूफ़ी मत इन तीन चरणों से गुजरने के क्रम में ईसाई मत, नवप्लेटोवाद, बौद्ध धर्म और हिंदू धर्म के सम्पर्क में आया और इन धर्मों की कई प्रवृत्तियों और दर्शनों को आत्मसात किया। पर इस आंदोलन का ढाँचा इस्लाम से ही प्रेरित रहा।

बोध प्रश्न 1

1) सूफ़ी **सिलसिला** से आप क्या समझते हैं?

....

....

....

....

....

2) सूफ़ी शब्दावली में **पीर** और **मुरीद** की अवधारणा क्या है?

....

....

....

....

3) प्रत्येक पर दो पंक्तियाँ लिखें

i) **खानक़ाह**

....

....

....

ii) **शरा**

....

....

....

4) निम्नलिखित में प्रत्येक पर तीन पंक्तियां लिखें

i) अल जुनैद

....

....

....

ii) मंसूर अल हल्लाज

MAADHYAM IAS

....

....

....

30.4 भारत में सूफ़ी मत का विकास

भारत आकर बसने वाले आरंभिक सूफ़ियों में अल हुजविरि (लगभग 1088 ई.) सर्वप्रमुख है। हमने पहले भी इस बात की चर्चा की थी कि उसने **कशफ-उल महजूब** नामक एक ग्रंथ लिखा था। फ़ारसी में लिखा यह ग्रंथ सूफ़ी मत पर लिखा एक मानक दस्तावेज है। तेरहवीं शताब्दी के आरंभ में दिल्ली सल्तनत की स्थापना के बाद भारत में कई सूफ़ी सम्प्रदायों की स्थापना हुई। सूफ़ी मत के प्रचार प्रसार के लिए भारत एक अनुकूल जगह सिद्ध हुई। यह सूफ़ियों के लिए शरण स्थल भी बना। तेरहवीं शताब्दी में इस्लामी दुनिया पर मंगोलों के आधिपत्य के बाद सूफ़ियों को वहां से भागना पड़ा। भागकर वे सीधे भारत आए। 13वीं-14वीं शताब्दी के दौरान भारत में जगह-जगह **खानक़ाह** स्थापित हो गये। इन सूफ़ियों ने भारत में इस्लामी दुनिया के कई सम्प्रदाय स्थापित किए, अपनी संस्था विकसित की और जहां इनका प्रभाव जमा वहां ये स्थापित हो गये। 14वीं शताब्दी के मध्य तक मुल्तान से लेकर बंगाल तक और पंजाब से लेकर देवगिरि तक समूचे देश में वे सक्रिय हो गये। आरंभिक 13वीं शताब्दी के एक यात्री के अनुसार दिल्ली और इसके आसपास दो हज़ार आश्रय स्थान और **खानक़ाह** स्थापित थे।

मूल रूप से भारत में स्थापित सूफ़ी मत का आधार इस्लामी दुनिया, खासकर ईरान और मध्य एशिया, में स्थापित सूफ़ी सिद्धांत और मान्यतायें थीं। पर भारत में स्थापित होने के बाद इसके विकास में सूफ़ी मत के अभारतीय तत्वों की अपेक्षा भारतीय परिवेश की ज्यादा भूमिका थी। एक बार भारत में जड़ जमा लेने के बाद उनका अलग ढंग से विकास हुआ, अवनति हुई और उत्थान हुआ। हालांकि भारतीय सूफ़ी मत पर

बाहरी सूफ़ीमत के प्रभाव को नकारा नहीं जा सकता है, पर यह भारतीय परिवेश में ही बढ़ा और फला-फूला।

30.5 भारत में सल्तनत काल के दौरान सूफ़ी सिलसिले

भारत में सल्तनत काल के दौरान कई **सिलसिले** लोकप्रिय हुए। यहां हम उनमें से कुछ प्रमुख **सिलसिलों** की चर्चा करेंगे।

30.5.1 सुहरावर्दी सिलसिला

सुहरावर्दी सिलसिला सल्तनत काल का प्रधान सम्प्रदाय था। भारत में इसके संस्थापक शेख बहाउद्दीन ज़करिया (1182-1262) थे। वह एक खुरासानी थे और शेख शहाबुद्दीन सुहरावर्दी के शिष्य थे, जिन्होंने बगदाद में इस **सिलसिला** की शुरुआत की थी। शेख शहाबुद्दीन सुहरावर्दी के आदेश से शेख बहाउद्दीन ज़करिया भारत आये। मुल्तान और सिंध को उन्होंने अपनी गतिविधि का केन्द्र बनाया। अतः उन्होंने मुल्तान में जिस **खानक़ाह** की स्थापना की, उसकी गिनती भारत में स्थापित आरंभिक **खानक़ाहों** में होती है। उस समय दिल्ली का सुल्तान इल्तुतमिश था, पर मुल्तान पर उसके दुश्मन कुबाचा का आधिपत्य था। शेख बहाउद्दीन ज़करिया खुले आम कुबाचा के प्रशासन की आलोचना किया करता था। इल्तुतमिश तथा मुल्तान के शासक कुबाचा के बीच हुए संघर्ष में शेख ने खुले आम इल्तुतमिश का पक्ष लिया। कुबाचा के पतन के बाद इल्तुतमिश ने बहाउद्दीन ज़करिया को **शेख-उल इस्लाम** (इस्लाम का प्रमुख) विद्वान का खिताब प्रदान किया और अनुदान की व्यवस्था की। समकालीन **चिश्ती** संतों के विपरीत उन्होंने व्यावहारिक नीति अपनाई और काफी सम्पत्ति इकट्ठी की। उन्होंने राज्य का संरक्षण स्वीकार किया और शासक वर्ग से अपना संबंध बनाए रखा। बाद में इस सम्प्रदाय से कई स्वतंत्र शाखाओं का जन्म हुआ। इनमें से कुछ को "बेशर" (अवैध संप्रदाय) भी कहा जाता था।

शेख शहाबुद्दीन सुहरावर्दी ने शेख बहाउद्दीन ज़करिया के अलावा कई अन्य **खलीफाओं** (प्रमुख शिष्य) को **सुहरावर्दी सिलसिला** के प्रचार-प्रसार के लिए भारत भेजा। शेख जलालुद्दीन तबरीज़ी उन्हीं में से एक थे। दिल्ली में अपना प्रभुत्व जमाने में वह असफल रहे और बंगाल चले गये। वहाँ उन्होंने अपनी **खानक़ाह** स्थापित की और कई शिष्य बनाए। उन्होंने अपने **खानक़ाह** में **लंगर** (मुफ्त भोजन) की भी व्यवस्था की। यह कहा जाता है कि बंगाल में इस्लामीकरण की प्रक्रिया में उन्होंने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

MAADHYAM IAS 'way to achieve your dream'

सल्तनत काल में पंजाब, सिंध और बंगाल सुहरावर्दी गतिविधि के तीन प्रमुख केन्द्र थे। विद्वानों की आम राय है कि सुहरावर्दी सूफ़ियों ने हिंदुओं को इस्लाम धर्म अपनाने को प्रेरित किया और इसमें उन्हें शासक वर्ग की सहायता मिली। इस दृष्टि से **सुहरावर्दी** और **चिश्ती** सूफ़ियों में जमीन-आसमान का फर्क था, **चिश्ती** सूफ़ियों ने अपनी शिक्षा के माध्यम से धर्म परिवर्तन करना अपना लक्ष्य नहीं बनाया।

30.5.2 चिश्ती सिलसिला

सल्तनत काल में **चिश्ती** सम्प्रदाय का विकास दो चरणों में सम्पन्न हुआ। 1356 में शेख नसीरुद्दीन **(चिराग-ए दिल्ली)** की मृत्यु के बाद प्रथम चरण समाप्त हुआ। 14वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में इसकी अवनति हुई। दूसरे चरण की शुरुआत 15वीं-16वीं शताब्दी में पूरे देश में इसके पुनरुत्थान और प्रसार से हुई।

पहला दौर

भारत में स्थित सूफ़ी सम्प्रदायों में **चिश्ती** सम्प्रदाय सबसे लोकप्रिय था। इसका प्रारंभ हिरात में हुआ था। सीजिस्तान में जन्मे (लगभग 1141) ख्वाजा मुइनुद्दीन चिश्ती ने भारत में इस सम्प्रदाय की स्थापना की (मृ. 1236)। वे गौरी के आक्रमण के समय भारत आये। 1206 ई. में अंतिम रूप से वे अजमेर में बस गये और उन्हें मुसलमानों और गैर-मुसलमानों सभी का आदर प्राप्त हुआ। उनके कार्यकाल का कोई प्रमाणिक दस्तावेज उपलब्ध नहीं है। बाद में, कई दंतकथाओं में उन्हें इस्लाम धर्म के उत्साही प्रचारक के रूप में दर्शाया गया। पर असलियत यह है कि उन्होंने धर्म परिवर्तन में कभी सक्रिय हिस्सा नहीं लिया और गैर-मुस्लिमों के प्रति उनका दृष्टिकोण उदारवादी था।

आने वाली शताब्दियों में अजमेर स्थित उनका मज़ार प्रमुख तीर्थस्थल बन गया। दिल्ली में ख्वाजा कुतबुद्दीन

बख्तियार काकी (मृ. 1236) ख्वाजा मुइनुद्दीन चिश्ती के शिष्य थे। शेख मुइनुद्दीन चिश्ती के एक दूसरे खलीफा शेख हमीदुद्दीन नागौरी (मृ. 1274) ने राजस्थान में नागौर को अपनी गतिविधि का केन्द्र बनाया। शेख हामिदुद्दीन नागौरी ने नागौर में एक सिलसिला स्थापित किया और वहां एक साधारण राजस्थानी किसान की तरह रहने लगे। उन्होंने शासन से जुड़े लोगों के साथ संबंध नहीं रखा। वह शुद्ध रूप से शाकाहारी थे। उन्होंने और उनके उत्तराधिकारियों ने फ़ारसी में लिखे पदों को स्थानीय भाषा **हिंदवी** में अनुदित किया, इस प्रकार का अनुवाद अभी तक हिंदुस्तान में नहीं हुआ था।

दिल्ली में ख्वाजा कुतबुद्दीन बख्तियार काकी का **खलीफा** ख्वाजा फरीदुद्दीन मसूद (1175-1265) उनका उत्तराधिकारी बना। वह गजशकर या बाबा फरीद के नाम से ज्यादा जाने जाते थे। बाबा फरीद दिल्ली छोड़कर पंजाब में अजोधन चले गये और वहां **खानक़ाह** में रहने लगे। उन्होंने शासक और अमीर वर्ग से कोई संबंध नहीं रखा। **नाथपंथी** योगी उनकी **खानक़ाह** में आकर रहस्यवाद के स्वरूप पर बहस किया करते थे। पंजाब में उनकी लोकप्रियता का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि उनकी मृत्यु के 300 वर्ष बाद भी उनके पदों को 1604 ई. में गुरू अर्जुन सिंह ने **आदि ग्रंथ** में संकलित किया। पाकपाटन स्थित उसका मज़ार भी एक तीर्थस्थल बन गया।

बाबा फरीद के ख्यातिलब्ध और 14वीं शताब्दी के प्रमुख सूफी संत शेख निज़ामुद्दीन औलिया (1236-1325) को कौन नहीं जानता है। उन्होंने दिल्ली को **चिश्ती** सम्प्रदाय का केंद्र बनाया। उनके समकालीन दो इतिहासकार ज़ियाउद्दीन बर्नी और अमीर खुसरो ने 13वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और 14वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में उत्तर भारत के सामजिक और धार्मिक जीवन में उनके महत्व को रेखांकित किया है। बाद में, उनके उत्तराधिकारियों ने देश में विभिन्न भागों में **चिश्ती** सम्प्रदाय का प्रचार-प्रसार किया। अमीर हसन सिज्जी लिखित **फवायद-उल फुवाद** में उनकी शिक्षा और वार्तालाप **(मलफूज़ात)** संकलित है। इसमें दार्शनिक और रहस्यात्मक बातों का समावेश नहीं है, बल्कि इसमें सूफ़ी मत के व्यावहारिक पक्ष का उल्लेख किया गया है।

शेख निज़ामुद्दीन औलिया के जीवन-काल में एक के बाद एक सात शासक दिल्ली सल्तनत की गद्दी पर बैठे। परं उन्होंने हमेशा शासकों और अमीरों से दूर रहने की कोशिश की और कभी किसी शासक के दरबार में पैर नहीं रखा। उनकी **खानक़ाह** के **लंगर** (मुफ्त भोजन व्यवस्था) का द्वार हिंदुओं और मुसलमानों के लिए समान रूप से खुला रहता था। अपनी **खानक़ाह** में वे अनेक **नाथपंथी** योगियों से शास्त्रार्थ और वार्तालाप करते थे। योग के कई अभ्यासों पर उनकी पकड़ थी और योगी उन्हें **सिद्ध** (सम्पूर्ण) कहा करते थे। अमीर खुसरो (1253-1325) शेख निज़ामुद्दीन औलिया का परम शिष्य था।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

शेख निज़ामुद्दीन औलिया के कई आध्यात्मिक शिष्य या **खलीफा** हुए। शेख बुरहानुद्दीन ग़रीब (मृ. 1340) उनमें से एक था। मौहम्मद तुगलक ने उन्हें दक्कन जाने को मजबूर किया। उन्होंने दौलताबाद को अपना केन्द्र बनाया और वहां **चिश्ती** सम्प्रदाय का प्रचार-प्रसार किया।

दिल्ली में शेख नासिरूद्दीन महमूद (मृ. 1356) शेख निज़ामुद्दीन औलिया के प्रमुख **खलीफा** और उत्तराधिकारी थे। उन्हें **चिराग-ए दिल्ली** (दिल्ली का दीप) के नाम से भी जाना जाता था। उन्होंने और उनके शिष्यों ने **चिश्ती** सम्प्रदाय की उन प्रथाओं को छोड़ दिया, जो कट्टरपंथी इस्लाम के साथ टकराती थीं। दूसरी तरफ उन्होंने **उलेमा** से अनुरोध किया कि **चिश्ती** सम्प्रदाय की प्रमुख प्रथा **समा** के प्रति अपना कड़ा रुख नरम कर लें।

बाद के तुगलक और सैय्यद शासकों के काल में दिल्ली में चिश्ती सम्प्रदाय का पतन

कुछ विद्वानों का मानना है कि दिल्ली में **चिश्ती** सम्प्रदाय के पतन का कारण सुल्तान मौहम्मद तुगलक़ का रवैया और नीतियां थीं। पर यह ध्यान रखना चाहिए कि व्यक्तिगत रूप में सुल्तान सूफ़ियों का विरोधी नहीं था। सुल्तान ने सूफ़ियों को राज्य की सेवा स्वीकार करने के लिए बाध्य किया। इसके बावजूद कूछ सूफ़ी, यहां तक कि शेख नासिरूद्दीन **चिराग-ए दिल्ली** भी पूरे समय दिल्ली में ही रहे। मौहम्मद तुगलक की मृत्यु के बाद उनके उत्तराधिकारी फिरोज़शाह तुगलक ने सूफ़ियों को धार्मिक दान दिया और **खानक़ाह** फिर सक्रिय हो उठे। 1356 में शेख नासिरूद्दीन की मृत्यु के बाद दिल्ली में कोई ख्याति प्राप्त **चिश्ती** हस्ती नहीं रह गयी। अपने किसी धार्मिक उत्तराधिकारी की नियुक्ति किए बगैर उनकी मृत्यु हो गई। तैमूर के आक्रमण (1398 ई.) के समय उनका एक प्रमुख शिष्य गेसूदराज़ दिल्ली छोड़कर दक्खन जैसी सुरक्षित जगह चला गया। दिल्ली सल्तनत के पतन के बाद सूफ़ी अपेक्षाकृत स्थायित्व प्राप्त राज्यों में फैलने लगे और वहीं अपने **खानक़ाह** स्थापित किए। 14वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और 15वीं शताब्दी के **चिश्ती** सम्प्रदाय देश के विभिन्न भागों में फैल गया। इससे **चिश्ती** सूफ़ियों के दृष्टिकोण और प्रथाओं में मूलभूत बदलाव आया।

दूसरा दौर

सल्तनत काल में शेख नासिरूद्दीन की मृत्यु के बाद **चिश्ती सिलसिले** का पतन आरंभ हुआ और दिल्ली से बिखरकर यह विभिन्न क्षेत्रीय राज्यों में फैल गया। यहीं से **चिश्ती सिलसिलों** के इतिहास का दूसरा दौर शुरू होता है। 13वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से ही सूफ़ी दक्खन की ओर जाने लगे थे, पर दक्खन में **चिश्ती** सम्प्रदाय की नींव मौहम्मद तुगलक के शासन काल में शेख बुरहानुद्दीन ग़रीब ने डाली। बाद में, कई सूफ़ी **चिश्ती** बहमनी राज्य (1347-1538) की राजधानी गुलबर्गा जाकर बस गये। गुलबर्गा में इन सूफ़ियों ने दरबार से अपना रिश्ता कायम किया और राज्य संरक्षण स्वीकार किया। इस प्रकार शासक वर्ग के प्रति **चिश्ती** संप्रदाय के रवैये में परिवर्तन आ गया। दूसरी तरफ बहमनी शासकों ने उन्हें अपने पक्ष में करने के लिए भूमि अनुदान प्रदान किये। मौहम्मद बंदा नवाज़ (लगभग 1321-1422) इन **चिश्तियों** में प्रमुख थे। वह दक्खन चले गये और बहमनी सुल्तान फिरोज़शाह बहमनी (1397-1422) से बतौर भू-अनुदान चार गाँव प्राप्त किए। वह कट्टरपंथी सूफ़ी थे और उन्होंने सूफ़ी मत की मान्यताओं की अपेक्षा इस्लामी कानून **(शरीयत)** को प्रमुखता दी। गेसूदराज़ ने **चिश्तियों** की उन सभी प्रथाओं को छोड़ दिया जो कट्टरपंथी **उलेमा** को नहीं भाती थीं। अपने पूर्ववर्ती **चिश्ती** गुरूओं के विपरीत उन्होंने **तसव्वुफ** पर या सूफ़ी चिंतन पर खूब लिखा। उनकी मृत्यु के बाद भी बहमनी सुल्तान उनके परिवार को भू-अनुदान देते रहे। गुलबर्गा स्थित उनकी दरगाह बाद में दक्खन का एक प्रमुख तीर्थ स्थल बन गई।

पर उनके बाद किसी ने **चिश्ती** सम्प्रदाय में रुचि नहीं दिखाई और उनके परिवारजन भूमिधर कुलीन वर्ग का जीवन व्यतीत करने लगे। इससे उस क्षेत्र में **चिश्ती** सम्प्रदाय का अंत हो गया। 1422 ई. में बहमनी राज्य की राजधानी गुलबर्गा से बदलकर बीदर हो गयी। इस कारण भी गुलबर्गा में **चिश्ती** सम्प्रदाय का पतन हो गया। यह भी बताया गया है कि बीदर स्थित बहमनी दरबार में विदेशियों की ओर विशेष झुकाव था और उनका दृष्टिकोण दक्खन विरोधी था। इस कारण से विदेशी सूफ़ियों को आकर बसने के लिए प्रोत्साहित किया गया और **चिश्तियों** को अति भारतीय होने के कारण संरक्षण प्राप्त न हो सका। पर 15वीं शताब्दी के अंत से एक बार फिर **चिश्ती** सम्प्रदाय शक्ति अर्जित करने लगा और 16वीं-17वीं शताब्दी तक इसका विकास हुआ। आदिलशाही सुल्तानों की राजधानी बीजापुर शहर के ठीक बाहर शाहपुर की पहाड़ी पर इनका नया केन्द्र स्थापित हुआ। शाहपुर पहाड़ी पर स्थापित **चिश्ती** सम्प्रदाय गुलबर्गा में स्थापित **चिश्ती** सम्प्रदाय से भिन्न था। इसने दरबार और **उलेमा** से दूरी बनाए रखी और स्थानीय तत्वों को अपना आधार बनाया। इस प्रकार शाहपुर के सूफ़ी अपने दृष्टिकोण में दिल्ली स्थित आरंभिक **चिश्तियों** से काफी मिलते-जुलते थे। पर यह याद रखना चाहिए कि शाहपुर स्थित चिश्ती सम्प्रदाय दिल्ली और गुलबर्गा स्थित **चिश्ती** सम्प्रदाय से बिल्कुल अलग रहकर विकसित हुआ।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

उत्तर भारत में 15वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और 16वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में **चिश्ती** सम्प्रदाय का पुनरूत्थान हुआ। **चिश्ती** सम्प्रदाय की तीन शाखाएँ उभर कर सामने आयीं, नागौरी (शेख हमीदुद्दीन नागौरी के नाम पर), **साबिरी** (शेख अलाउद्दीन कालियारी के नाम पर), और **निज़ामी** (शेख निजामुद्दीन औलिया के नाम पर)। शर्की सुल्तानों की राजधानी जौनपुर भी इस समय **चिश्ती** सम्प्रदाय का केन्द्र बना। 15वीं शताब्दी के आरम्भ में लखनऊ के निकट रदौली में भी **चिश्ती** केन्द्र स्थापित हुआ। लोदी काल में बहराइच (आधुनिक उत्तर प्रदेश में) भी **चिश्ती** संप्रदाय का केंद्र बना। शेख अब्दुल कुद्दूस गंगोही (1456-1537) ने उत्तर प्रदेश के सहारनपुर जिले के गंगोह में एक प्रमुख केंद्र स्थापित किया। उन्होंने सूफ़ी मत और मान्यताओं तथा आध्यात्मिक विषयों पर अनेक पुस्तकें लिखीं। उन्होंने मौलाना दाउद की रोमानी **हिन्दवी** में लिखित पुस्तक **चंदायन** का फ़ारसी में अनुवाद भी किया। दूसरे दौर में बंगाल और मालवा में **चिश्ती** केंद्र स्थापित हुए। दूसरे दौर के कई सूफ़ी संतों ने अरबी और फ़ारसी के मानक ग्रंथों पर भाष्य लिखे और संस्कृत में रहस्यवाद पर लिखी पुस्तकों का अनुवाद फ़ारसी में किया। दिल्ली के आरंभिक सूफ़ियों की तरह बाद के **चिश्ती** सूफ़ियों ने समाज के सभी तबके के लोगों को अपना शिष्य बनाया। पर उन्होंने अपने पूर्ववर्ती **चिश्तियों** की मान्यताओं का ख्याल नहीं रखा और राज्य का संरक्षण स्वीकार किया।

30.5.3 अन्य सूफ़ी सिलसिले

चिश्ती और **सुहरावर्दी सिलसिलों** के अलावा इस काल में भारत में **फिरदौसी, कादिरी, शत्तारी, कालंदरी** आदि **सिलसिले** भी स्थापित हुए। **फिरदौसी** सिलसिला **सुहरावर्दी** की एक शाखा था। इसकी स्थापना 14वीं शताब्दी में बिहार में राजगीर में हुई थी। भारत में इस **सिलसिला** के सर्वप्रमुख सूफ़ी शेख शरफुद्दीन याह्या मनेरी (मृ. 1380) थे।

मध्यवर्ती इस्लामी देशों में **कादिरी** सर्वप्रमुख सूफ़ी सम्प्रदाय था। इसकी स्थापना अब्दुल कादिर जिलानी (मृ. 1166) ने बगदाद में की थी। 14वीं शताब्दी में यह सम्प्रदाय भारत आया और पंजाब, सिंध तथा

दक्खन को अपना केंद्र स्थल बनाया। **कादिरी** का दृष्टिकोण कट्टरपंथी था और इनका सिद्धांत कट्टरपंथी **उलेमा** से मेल खाता था। **कादिरी** सूफ़ियों के कई प्रांतीय राज्यों के शासक वर्ग से संबंध थे और उन्होंने राज्य की सहायता स्वीकार की। यह सम्प्रदाय शहर में केंद्रित था और इसका उद्देश्य गैर इस्लामी प्रभावों से ग्रस्त भारतीय मुसलमानों की धार्मिक जिंदगी में सुधार लाना था।

15वीं शताब्दी में भारत में शेख अब्दुल्ला शत्तारी ने **शत्तारी सिलसिला** की स्थापना की। यह भी एक कट्टरपंथी सम्प्रदाय था। **शत्तारी** बंगाल, जौनपुर और दक्खन में केंद्रित थे। **कादिरी** सम्प्रदाय के समान शत्तारी सूफ़ियों के संबंध भी शासक वर्ग के साथ थे और उन्होंने भी राज्य-संरक्षण स्वीकार किया।

कलंदरी सम्प्रदाय में कई प्रकार के घुमंतू फकीर शामिल थे, जो सामान्य सामाजिक व्यवहारों का पालन नहीं करते थे। वे निंदनीय माने जाते थे और वे इस्लामी कानून को नहीं मानते थे। उनका कोई आध्यात्मिक गुरू या संगठन नहीं होता था। कई कलंदर **चिश्ती खानक़ाहों** में अक्सर जाया करते थे और इनमें से कई **चिश्ती** सम्प्रदाय में शामिल भी हो गये। **कलंदरों** का सम्पर्क **नाथपंथी** योगियों के साथ भी था और उन्होंने उनकी कई मान्यताओं और प्रथाओं को अपना लिया। मसलन **नाथपंथियों** के समान वे भी अपना कान छिदवाने लगे।

15वीं-16वीं शताब्दी के दौरान कश्मीर में सूफ़ी मत का ऋषि सम्प्रदाय स्थापित हुआ। इस सम्प्रदाय के उदय से पूर्व धर्म प्रचारक मीर सैय्यद हमादानी (1314-1385) इस्लाम के प्रचार-प्रसार के लिए हमदान से अपने शिष्यों के साथ कश्मीर आये। हमदानी, उनके पुत्रों और शिष्यों के धार्मिक प्रचार का कश्मीर की जनता पर बहुत थोड़ा ही प्रभाव पड़ा। दूसरी तरफ शेख नूरुद्दीन वली (मृ. 1430) द्वारा स्थापित **ऋषि** सम्प्रदाय मूलतः स्वदेशी था। यह कश्मीर के ग्रामीण परिवेश में फला-फूला और इसने 15वीं-16वीं शताब्दी के दौरान लोगों के धार्मिक जीवन को प्रभावित किया। **ऋषि** सम्प्रदाय की लोकप्रियता का यही कारण था। इसके अतिरिक्त इसने कश्मीर की लोकप्रिय शैव भक्ति परम्परा से भी प्रेरणा ग्रहण की। यह सम्प्रदाय क्षेत्र के सामाजिक-सांस्कृतिक अंग-ढंग में आंकठ डूबा हुआ था।

बोध प्रश्न 2

1) **सुहरावर्दी सिलसिला** की मुख्य विशेषताओं का उल्लेख करें।

....

....

....

....

2) क) **चिश्ती सिलसिला** के पाँच सूफ़ियों का नामोल्लेख करें।

....

....

....

....

ख) भारत में फले-फूले पाँच सूफ़ी सम्प्रदायों का उल्लेख करें।

....

....

....

....

3) शेख निज़ामुद्दीन औलिया पर पाँच पंक्तियाँ लिखें।

....

....

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

....

....

....

4) दिल्ली से बाहर बसे **चिश्ती** संतों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखें।

....

....

....

....

....

30.6 चिश्ती सिलसिले की लोकप्रियता के कारण

सल्तनत काल के सभी सूफ़ी सम्प्रदायों का उद्देश्य लगभग एक था—आध्यात्मिक गुरू के निर्देशन में सूफ़ी मार्ग अपनाते हुए ईश्वर से सीधा संवाद स्थापित करना। हाँ, प्रत्येक सूफ़ी सम्प्रदाय ने अलग-अलग अनुष्ठान और रीति-रिवाज अपनाए और राज्य तथा समाज के प्रति उनके दृष्टिकोण में भी अंतर था। इस काल के सभी सम्प्रदायों में **चिश्ती** सम्प्रदाय को सर्वाधिक लोकप्रियता प्राप्त हुई और इसका प्रसार भी व्यापक क्षेत्र में हुआ। **चिश्ती** सम्प्रदाय के अनुष्ठान, दृष्टिकोण और प्रथाएँ भारतीय थीं और यह मूलतः एक भारतीय **सिलसिला** था। इसकी लोकप्रियता के कारणों का उल्लेख नीचे किया जा रहा है :

i) **चिश्ती** सम्प्रदाय की कई प्रथाएँ भारत में स्थापित **नाथपंथी** योगियों जैसे गैर-परम्परावादी सम्प्रदायों से काफी मिलती-जुलती थीं। ब्रह्मचारी और सन्यासी का जीवन व्यतीत करना, गुरू के समक्ष दंडवत करना, सम्प्रदाय में शामिल होने वाले नये शिष्य का मुंडन करना और भक्ति संगीत का आयोजन आदि कुछ ऐसी ही प्रथाएँ थीं। इस दृष्टि से, **चिश्तियों** को भारतीय परम्परा के एक हिस्से के रूप में देखा जाने लगा।

MAADHYAM IAS

ii) **चिश्तियों** ने भारत में गैर-मुसलमान जनसंख्या के प्रति धार्मिक सहिष्णुता का दृष्टिकोण अपनाया और अपने को भारतीय परिवेश में ढाल लिया। भारतीय अनुयायियों तक अपनी बात पहुंचाने के लिए **चिश्तियों** ने भारतीय प्रतीकों, मुहावरों, रीति-रिवाजों और अनुष्ठानों को अपना लिया। बहुत से **चिश्ती** संतों ने अपने मत के प्रचार-प्रसार के लिए **हिंदवी** भाषा का प्रयोग किया।

iii) **चिश्ती खानक़ाह** के समतावादी परिवेश ने भारतीय समाज के निचले सदस्यों को काफी संख्या में आकृष्ट किया। **चिश्ती** संत समाज के पिछड़े वर्ग के प्रति सहानुभूति रखते थे और इसने उनके धार्मिक दृष्टिकोण को भी प्रभावित किया। **चिश्ती खानक़ाह** ब्राह्मण सामाजिक व्यवस्था से काफी दूर थे। व्यापारी, शिल्पी, किसान और यहां तक कि सफाई करने वाला भी **चिश्ती** सम्प्रदाय का अनुयायी हो सकता था। उन्होंने तुर्की शासक वर्ग के प्रजातिगत विभाजन (कुलीन और अकुलीन) को भी स्वीकार नहीं किया।

iv) **चिश्ती** गुरूओं ने उच्च भावना से युक्त प्रेरणादायक नेतृत्व प्रदान किया। दरबार से वे दूर रहे और राज्य संरक्षण को उन्होंने अस्वीकार कर दिया, **उलेमा** के कट्टरपंथी और बाहरी कर्मकांड संबंधी दृष्टिकोण को उन्होंने पूर्ण रूप से नकार दिया और इस्लाम की सरल मान्यताओं को सूफ़ी शिक्षा में घोल दिया। इन्हीं सब कारणों से **चिश्ती** सम्प्रदाय लोकप्रिय हुआ।

v) आरंभिक **चिश्तियों** को मरणोपरांत अधिक लोकप्रियता प्राप्त हुई। बाद की शताब्दियों में उनकी **दरगाहों** के आस-पास संतों के सम्प्रदाय बनने लगे। कालांतर में, दंतकथाओं और जीवन लेखन के माध्यम से इन **चिश्तियों** की जादुई शक्ति की बात फैलने लगी। यह भी कहा जाने लगा कि उनकी जादुई शक्ति के कारण ही काफी लोग उनकी ओर आकर्षित हुए और उन्होंने गैर-मुसलमानों का धर्म-परिवर्तन किया। आरंभिक **चिश्ती** संत चमत्कारी शक्ति में विश्वास रखते थे, पर उसके उपयोग को वे अस्वीकार करते थे। सूफ़ी मत और मान्यता में वे चमत्कार को प्रमुख तत्व नहीं मानते थे। पर आरंभिक **चिश्तियों** की लोकप्रियता बढ़ाने में चमत्कार संबंधी कहानियों ने काफी सहयोग दिया और इससे उनके **दरगाहों** को भी ख्याति मिली।

30.7 सूफ़ियों की सामाजिक भूमिका

सूफ़ियों ने समाज में और कभी-कभी राजनीति में भी महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। यहाँ हम विभिन्न क्षेत्रों में उनके योगदान का विश्लेषण करेंगे।

30.7.1 सूफ़ी और राज्य

आप पहले पढ़ चुके हैं कि आरंभिक **चिश्ती** सूफ़ियों और बीजापुर राज्य के शाहपुर के **चिश्तियों** के अलावा अन्य सिलसिलों से जुड़े अधिकांश सूफ़ियों ने, यहां तक कि बाद के **चिश्तियों** ने भी राज्य सहायता स्वीकार की और राज्य से जुड़े रहे। कई बार कई **चिश्ती** सूफ़ी सुल्तान की नीतियों का विरोध भी करते थे। मौहम्मद तुगलक के शासन काल में ऐसा हुआ था। कुछ सूफ़ी शासन तंत्र का हिस्सा बन गये आरंभिक चिश्तियों ने ऐसा नहीं किया पर उन्होंने विभिन्न वर्गों और धार्मिक समुदायों के बीच सौहार्द का वातावरण बनाया जिससे राज्य के सुचारू रूप से संचालन को सहायता मिली।

चिश्ती गुरूओं सहित किसी भी सूफ़ी ने स्थापित राजनीतिक व्यवस्था और वर्ग संरचना पर कभी भी प्रश्नचिह्न नहीं लगाया। उन्होंने राज्य के पदाधिकारियों से केवल यही कहा कि वे किसानों से राजस्व वसूलते समय नरमी बरतें। दूसरी तरफ उन्होंने अपने साधारण अनुयायियों को राज्य सहायता लेने और दरबार के मामलों में दखल देने से नहीं रोका। इसी कमी के कारण प्रगतिशील **चिश्ती सिलसिले** में भी बाद में राज्य संरक्षण और दरबारी राजनीति का प्रवेश हो गया।

30.7.2 सूफ़ी और उलेमा

आपने गौर किया होगा कि **उलेमा** बराबर सूफ़ियों को नकारते रहे। अल-गज़्ज़ाली ने उन दोनों के बीच समन्वय स्थापित करने की काफी कोशिश की, पर नाकाम रहा। सल्तनत काल में उन दोनों के बीच अविश्वास का भाव बना रहा, पर **सुहरावर्दी, कादिरी** आदि जैसे सूफ़ी सम्प्रदायों ने **उलेमा** का पक्ष लिया। **उलेमा** खासकर **चिश्ती** सूफ़ियों और उनकी प्रथाओं के विरोधी थे। उन्होंने **चिश्ती** की समा प्रथा की आलोचना की और **चिश्तियों** द्वारा धार्मिक मेल स्थापित करने के प्रयत्न पर आपत्ति की। शेख नासिरूद्दीन **(चिराग-ए दिल्ली)** और गेसूदराज़ जैसे **चिश्ती** सूफ़ियों ने **चिश्ती** प्रथाओं के प्रति **उलेमा** के आक्रोश को कम करने के लिए चिश्ती सम्प्रदाय को कुछ कट्टरपंथी आयामों से युक्त किया। हमने पढ़ा है कि **चिश्ती** दरबारी राजनीति में हिस्सा लेने लगे थे और दान स्वीकार करने लगे थे। उन्होंने **उलेमा** से मिलते-जुलते सैद्धांतिक दृष्टिकोण अपना लिए।

30.7.3 सूफ़ी और धर्म परिवर्तन

सल्तनत काल में आये सूफ़ियों को आमतौर पर भारत में इस्लाम के प्रणेता के रूप में देखा जाता है। उत्तर मध्यकाल के कई लेखों और हवालों में सूफ़ियों को सक्रिय धर्म-संस्था (मिश्नरी) के रूप में वर्णित किया गया है। शेख मुइनुद्दीन चिश्ती पर लिखी एक जीवनी में बताया गया है कि गैर-मुसलमानों को इस्लाम धर्म में परिवर्तित कराने में उन्होंने सक्रिय हिस्सा लिया था। इसी प्रकार 13वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और 14वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में दक्कन की ओर जाने वाले सूफ़ियों के बारे में भी यही कहा गया कि वे इस्लाम के कट्टर प्रचारक थे और उन्होंने जेहाद (गैर-मुसलमानों के खिलाफ युद्ध) छेड़ रखा था। **सुहरावर्दी** सूफ़ियों में से कई सक्रिय धर्म प्रचारक थे। 14वीं शताब्दी में मीर सैय्यद अली हमादानी धर्म प्रचार और धर्म परिवर्तन के उद्देश्य से कश्मीर आया था, पर उसे वहां सफलता नहीं मिली। पर इस बात का ध्यान रखा जाना चाहिए कि सभी सूफ़ी इस धर्म परिवर्तन के चक्र में नहीं फंसे हुए थे। शेख मुइनुद्दीन चिश्ती धर्म-प्रचारक नहीं था और न ही वह धर्म परिवर्तन में सक्रियता से हिस्सा लेता था। उसने और उसके उत्तराधिकारियों ने गैर-मुसलमानों के प्रति सहिष्णुता का दृष्टिकोण अपनाया। शेख निज़ामुद्दीन औलिया ने एक अवसर पर गौर किया कि कई हिंदू इस्लाम को सच्चा धर्म मानते थे पर उसे ग्रहण नहीं करते थे। उसका यह भी मानना था कि प्रत्येक धर्म की अपनी पूजा-पद्धति, विधि और विश्वास है। आरंभिक सूफ़ियों के संबंध में इस बात के काफी कम प्रमाण मिलते हैं कि उन्होंने दक्खन में धर्म-युद्ध छेड़ रखा था।

हां, यह सही है कि गैर-मुसलमान धर्म की छोटी जातियों के लोग सूफ़ियों और उनकी **दरगाहों** की ओर आकृष्ट हुए और उनके भक्तों में शामिल हो गये। धीरे-धीरे वे इस्लाम के प्रभाव में आये और उन्होंने इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया। इस्लाम धर्म ग्रहण करने वालों के उत्तराधिकारियों ने बाद में यह दावा किया कि उनके पूर्वजों को किसी खास मध्यकालीन सूफ़ी ने इस्लाम धर्म से परिवर्तित किया था। इसका एक ही

मकसद था–वे नये धर्मानुयायी सूफ़ियों, उनकी **दरगाह** से तथा इस्लाम से अपने लंबे संबंध को सिद्ध करना चाहते थे।

30.7.4 सूफ़ी खानकाहों में भौतिक जीवन

हमने पहले पढ़ा है कि कई **खानक़ाह** समृद्ध थे, उन्हें राजकीय सहायता मिलती थी, राज्यों के साथ सूफ़ियों के संबंध थे और कई सूफ़ी भूमिपति भी बन गये। आदर्श तौर पर आरंभिक **चिश्ती खानक़ाहों** में रहते थे और ये दरबार और सामाजिक ऊंच-नीच के वातावरण से दूर समता के माहौल में रहा करते थे। आपने गौर किया होगा कि समग्र रूप में **चिश्तियों** ने स्थापित सामाजिक और राजनीतिक संरचना को स्वीकार किया। उनका यह मानना था कि इसका कोई विकल्प नहीं है। इसके बावजूद उनके **खानक़ाहों** में इस सामाजिक संरचना और असमानता का प्रभाव नहीं पड़ा। **खानक़ाह** में रहने वाले अनुयायी और तीर्थयात्री एक समतावादी परिवेश का अनुभव करते थे। ऐसे **खानक़ाह** अपने खर्चे के लिए सरकारी संरक्षण पर नहीं बल्कि फुतूह (निस्वार्थ दान) पर आश्रित थे।

चिश्ती खानक़ाहों का दरवाजा समाज के प्रत्येक सदस्य और समुदाय के लिए खुला था। **कलंदर** और जोगी अक्सर **खानक़ाहों** में टिका करते थे। **खानक़ाहों** ने अनेक तरीके से आर्थिक जीवन को भी प्रभावित किया। कुछ **खानक़ाह** बंजर भूमि पर खेती करते थे, कुछ धार्मिक और गैर धार्मिक इमारतें बनवाते थे, बाग-बगीचे लगवाते थे। **खानक़ाहों** ने शहरीकरण की प्रक्रिया में भी महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। वार्षिक **उर्स** (आध्यात्मिक गुरू की मृत्यु के **दिन** आयोजित समारोह) के आयोजन से व्यापार, वाणिज्य और स्थानीय हस्तशिल्प के उत्पादन को बल मिला।

30.8 भारतीय सूफ़ी मत पर समकालीन इस्लामी देशों के रहस्यवादी विचारों का प्रभाव

हालांकि भारत में पनप रहे सूफ़ी आंदोलन के विकास और प्रसार में मूलतः भारतीय परिवेश का प्रभाव काम कर रहा था, पर इसके साथ-साथ इस्लामी दुनिया में सूफ़ी मत में हो रहे परिवर्तन से भी यह अछूता नहीं था। विभिन्न **सिलसिलों** का प्रतिनिधित्व करने वाले सूफ़ियों की कई पीढ़ियों को अलग़ज़ाली जैसे सूफ़ी सिद्धांतों की मान्यताएं प्रभावित करती रहीं। फैदुद्दीन अत्तार (मृ.1220) और जलालुद्दीन रूमी (मृ.1273) जैसे फ़ारसी सूफ़ियों के विचारों और काव्य प्रतीकों से सल्तनत काल के भारतीय सूफ़ी प्रभावित थे। यह भी माना जाता है कि इस काल के सूफ़ियों पर स्पेन में जन्मे सूफ़ी इब्न अरबी (मृ.1240) का भी प्रभाव था। उसने **वहदत अल वजूद** (लौकिक और अलौकिक संसार की एकता) का सिद्धांत सामने रखा, जिसका **उलेमा** ने विरोध किया। पर हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि **चिश्तियों** समेत अधिकांश सूफ़ी वहदत अल-वजूद जैसे सिद्धांत को खास महत्व नहीं देते थे। उनके अनुसार सूफ़ी मत किसी सिद्धांत का नाम नहीं था बल्कि सूफ़ी मार्ग को सफलतापूर्वक पार करने का एक व्यावहारिक प्रयास था।

अलाउद्दीन (1261-1361) एक ईरानी था, उसने इब्न अरबी के सिद्धांत का विरोध किया था। उसने भी भारतीय सूफ़ियों को प्रभावित किया। गेसूदराज़ सिमानानी के कट्टरपंथी विचारों से प्रभावित था और इसने इब्न अरबी और जलालुद्दीन रूमी के विचारों का खंडन किया।

30.9 सूफ़ी और भक्ति आंदोलन और सांस्कृतिक समन्वय

इकाई 23 में हमने एकेश्वरवादी भक्ति आंदोलन पर इस्लाम और सूफ़ी मत की चर्चा की है। दोनों के बीच कुछ समानताएँ ऐसी हैं, जिनसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि उनके बीच विचारों का आदान-प्रदान हुआ था। इन समानताओं में उल्लेखनीय है, एकेश्वरवाद पर जोर, आध्यात्मिक गुरू (पीर या गुरू) की भूमिका, ईश्वर की रहस्यात्मक अनुभूति। इसके अलावा कई सूफ़ियों और भक्ति संतों ने हिंदू और इस्लाम धर्म के कट्टर और रूढ़िवाद तत्वों पर प्रहार किया। कश्मीर में स्थापित **ऋषि** सम्प्रदाय सूफ़ी मत पर भक्ति आंदोलन के प्रभाव का प्रामाणिक उदाहरण है। यहां, इस सम्प्रदाय के संस्थापक शेख नूरूद्दीन वली पर 14वीं शताब्दी की महिला भक्तन लाल देद का गहरा असर था।

सल्तनत काल के दौरान सूफ़ियों और **नाथपंथियों** के बीच भी संबंध था। 13वीं-14वीं शताब्दी के दौरान उत्तर भारत में समाज के निचले तबके के बीच **नाथपंथियों** का आंदोलन बेहद लोकप्रिय हुआ। **नाथपंथी**

योगी अक्सर **चिश्ती** शेखों के **खानक़ाहों** में पहुंच जाते थे और उनसे रहस्यवाद के स्वरूप पर बहस करते थे। सूफ़ियों के भारत आने के बहुत पहले संस्कृत में योग पर लिखे ग्रंथ **अमृतकुंड** का अनुवाद फ़ारसी में हो चुका था। इस योग का प्रभाव भी सूफ़ियों पर पड़ा और उन्होंने कई प्रकार की योग-पद्धतियां अपना लीं। आरंभिक **चिश्तियों** ने **नाथपंथी** योगियों के कुछ नैतिक मूल्यों और उनकी सामूहिक जीवन पद्धति को सराहा। **चिश्तियों** के समान **नाथपंथी** योगियों ने भी बिना किसी भेदभाव के समाज के सभी वर्गों के लिए दरवाजे खोल दिए। इन दोनों लोकप्रिय आंदोलनों के कारण मुसलमानों और गैर-मुसलमानों के बीच आपसी समझ कायम करने में सहूलियत हुई।

चिश्ती सम्प्रदाय गैर-मुस्लिम परिवेश में भी लोकप्रिय हुआ, उसने अपने आपको उस परिवेश के अनुकूल ढाल लिया। इससे भारतीय परिवेश में एक समन्वयवादी धारा प्रवाहित होने लगी और सांस्कृतिक मेलजोल को बढ़ावा मिला। कई आरंभिक **चिश्ती हिंदवी** बोलते थे और इसमें अपने पद लिखा करते थे। कई **खानक़ाहों** ने क्षेत्रीय भाषा में रहस्यवादी कविताओं को प्रोत्साहित किया। 14वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में लिखी गयी हिंदी की पुस्तक **चंदायन** में रहस्यवाद के साथ हिंदु मिथक और दर्शन भी घुला-मिला हुआ है। कालांतर में सूफ़ियों द्वारा रचित लोक साहित्य में इस्लाम के हल्के-फुल्के विचार, सूफ़ी शब्दावली, लोकप्रिय प्रतीकों और मुहावरों का प्रयोग हुआ है। इस प्रकार खासकर ग्रामीण इलाकों में लोकप्रिय धर्म का विकास हुआ। **चिश्ती** सम्प्रदाय की प्रमुख प्रथा **समा** ने समन्वयवादी संगीत परम्परा की नींव रखी, जिससे कव्वाली जैसी विधा का विकास हुआ। अमीर खुसरो से कव्वाली की शुरुआत मानी जाती है।

बोध प्रश्न 3

1) भारत में **चिश्ती** सम्प्रदाय की लोकप्रियता के क्या कारण थे?

....

....

....

....

....

2) राजकीय मामलों में सूफ़ियों ने किस प्रकार की भूमिका निभाई।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

....

....

....

....

....

3) **वहदत-अल वजूद** से आप क्या समझते हैं?

....

....

....

....

....

4) सूफ़ी मत और भक्ति आंदोलन के बीच के आदान-प्रदान पर प्रकाश डालें।

....

....

....

....

....

30.10 सारांश

दिल्ली सल्तनत की स्थापना के पूर्व ही सूफ़ियों का भारत में आगमन हो गया था। इस्लामी दुनिया के सूफ़ी मत की आधारभूत विशेषताएँ भारत के सूफ़ी मत में कायम रहीं। इस्लामी दुनिया में यह 10वीं-12वीं शताब्दी के दौरान एक संगठित आंदोलन के रूप में उभरा। 12वीं-13वीं शताब्दी में कई सूफ़ी मत या **सिलसिले** कायम हुए। इस्लामी दुनिया के समान दिल्ली सल्तनत के काल में भारत में अनेक सूफ़ी मत लोकप्रिय हुए। इनमें **सुहरावर्दी** और **चिश्ती** सम्प्रदाय सर्व प्रमुख हैं। भारत में **चिश्ती** सम्प्रदाय का नाम सबसे ऊपर रखा जाता है।

विवेच्य काल के सामाजिक जीवन में सूफ़ियों ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। सभी सूफ़ी राजकीय मामलों से नहीं जुड़े पर कई मामलों में हम देखते हैं कि सूफ़ी संतों ने राजकीय गतिविधि में हस्तक्षेप किया और राजकीय संरक्षण और दान भी कबूल किया। इस पूरे काल में सूफ़ी और **उलेमा** के बीच अविश्वास का भाव बना रहा। **उलेमा** ने सूफ़ियों की कई प्रथाओं को नामंजूर कर दिया।

खानक़ाह सूफ़ियों और उनके शिष्यों की गतिविधि का केन्द्र था। भारत का सूफ़ी आंदोलन समकालीन इस्लामी दुनिया में रहस्यवादी विचारों में हो रहे बदलाव से प्रभावित होता रहा। भारत में सूफ़ी और भक्ति आंदोलन के बीच लगातार आदान-प्रदान होता रहा। इस आदान-प्रदान का सल्तनत काल के सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन पर सकारात्मक प्रभाव पड़ा। इस आदान-प्रदान से कला, संगीत और साहित्य के क्षेत्र में सांस्कृतिक मेल मिलाप को भी बल मिला।

30.11 शब्दावली

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

बेशरो : **शरा-शरीयत** अर्थात् जो **शरीयत** (इस्लामी कानून) का कड़ाई से पालन न करे

दरगाह : सूफ़ी मज़ार/कब्र

फुतूह : सम्मानपूर्वक आमदनी

खानक़ाह : सूफ़ी संतों के रहने की जगह

मलफुजात : सूफ़ी साहित्य

कलंदर : मुसलमान भिक्षुक, जो सब कुछ त्याग कर घुमक्कड़ जीवन व्यतीत करते थे

रिबात : सीमांत पड़ाव

समा : सामूहिक संगीत गान

30.12 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) **सिलसिला** का मतलब सूफ़ी सम्प्रदाय, देखें भाग 30.2 और उपभाग 30.3.3
2) **पीर** का मतलब शिक्षक और **मुरीद** का मतलब शिष्य। देखें भाग 30.2
3) i) देखें भाग 30.2 और उपभाग 30.3.2
   ii) देखें भाग 30.2
4) देखें उपभाग 30.3.1

बोध प्रश्न 2

1) देखें उपभाग 30.5.1
2) क) देखें उपभाग 30.5.2
   ख) देखें उपभाग 30.5.3

3) शेख निज़ामुद्दीन औलिया **चिश्ती** सम्प्रदाय का एक प्रमुख सूफ़ी संत था। देखें उपभाग 30.5.2
4) गुलबर्गा में शेख बुरहानुद्दीन शरीफ, नागौर में शेख हमीदुद्दीन नागौरी आदि। देखें उपभाग 30.5.2

बोध प्रश्न 3

1) देखें भाग 30.6
2) देखें उपभाग 30.7.1
3) देखें भाग 30.8
4) देखें भाग 30.9

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

इकाई 31 दिल्ली सल्तनत की कला एवं वास्तुकला

इकाई की रूपरेखा

31.0 उद्देश्य

31.1 प्रस्तावना

31.2 वास्तुकला

- 31.2.1 नए संरचनात्मक रूप
- 31.2.2 शैलीगत विकास
- 31.2.3 सार्वजनिक भवन एवं सार्वजनिक कार्य

31.3 चित्रकला

- 31.3.1 भित्ति चित्रों के साहित्यिक प्रमाण
- 31.3.2 **कुरान** लिखने की सुलेखन कला
- 31.3.3 पांडुलिपि चित्रण

31.4 संगीत

31.5 सारांश

31.6 शब्दावली

31.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

31.0 उद्देश्य

इकाई 14 में आपने भारत में तुर्की शासन की स्थापना एवं सल्तनत के सुदृढ़ीकरण के बारे में पढ़ा। नए शासकों ने एक ऐसे शासन की स्थापना की जो महत्वपूर्ण मामलों में पुराने शासन से भिन्न था। अब भारत में एक ऐसी संस्कृति का विकास हुआ जिसमें स्वदेशी एवं इस्लामी दोनों परंपराओं के तत्वों का समावेश था। इस सम्मिलित संस्कृति के सबसे प्रभावशाली एवं महत्वपूर्ण रूप को तत्कालीन कला एवं वास्तुकला में देखा जा सकता है।

MAADHYAM IAS

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- इस्लाम से पूर्व एवं हिन्द-इस्लामी भवन निर्माण शैली में भेद कर सकेंगे,
- तत्कालीन वास्तुकला की विभिन्न शैलियों को पहचान सकेंगे,
- दिल्ली सल्तनत में प्रचलित चित्रकारी की परंपरा को जान सकेंगे, और
- तत्कालीन संगीत में हुए प्रमुख विकास को समझ सकेंगे।

31.1 प्रस्तावना

कला एवं वास्तुकला अपने समय की संस्कृति की सही अभिव्यक्ति हैं क्योंकि वे उस समाज के मनोभावों और दृष्टिकोण को प्रदर्शित करती हैं। इससे समाज के विचारों और तकनीकों को दृष्टिगत अभिव्यक्ति प्राप्त होती है। भारत में तुर्की शासन की स्थापना कई मामलों में महत्वपूर्ण है। उसने नई सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्था के विकास में योगदान दिया जिनके बारे में आपने इकाई 29 और 30 में पढ़ा। इसके साथ-साथ कला के क्षेत्र में भी नई अभिव्यक्तियों को जन्म दिया। वास्तुकला की जो शैली इस काल में विकसित हुई वह हिंद-इस्लामी **(Indo-Islamic)** शैली कहलाई।

वास्तुकला के विपरीत, दिल्ली सल्तनत में प्रचलित चित्रकारी की कला के विषय में अधिक सामग्री नहीं दी गई है। हम जानते हैं कि 12वीं शताब्दी के अन्त तक इस्लामी दुनिया में सुलेखन की कला एवं ग्रंथों की सुसज्जा अपनी चरम-सीमा पर थी। गज़नवी शासन में भी दीवारों पर अलंकारिक चित्रकारी की विकसित परम्परा मौजूद थी। संभव है कि यही परम्परा प्रारंभिक तुर्की सुल्तानों द्वारा दिल्ली लाई गयी हो, जहां यह तेरहवीं और चौदहवीं सदी में फली-फूली।

31.2 वास्तुकला

वास्तुकला के मुख्य स्रोत भवनों के विद्यमान अवशेष हैं। यद्यपि यह अपने समय की वास्तुकला की प्रचलित

तकनीकों और शैलियों को समझने में सहायता प्रदान करते हैं लेकिन वास्तुकला से संबंधित अन्य दूसरे पक्षों जैसे—वास्तुकार की भूमिका, नक्शे एवं भवनों के अनुमानित खर्च और हिसाब को समझने में कम मददगार सिद्ध हुए हैं।

31.2.1 नए संरचनात्मक रूप

i) मेहराब और गुम्बद

उत्तर भारत के पुरातात्विक स्थानों एवं अवशेषों पर जनरल एलेक्जेंडर कनिघम द्वारा तैयार की गई रिपोर्ट **(भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण की रिपोर्ट,** खण्ड-I-XXIII शिमला, कलकत्ता 1865-77) का गहन अध्ययन करने से पता चलता है कि उत्तरी भारत में तेरहवीं शताब्दी के बाद पक्की इमारतों जिसमें—नगरों में स्थित नागरिक भवन भी शामिल हैं—में तीव्र गति से वृद्धि हुई। इसका मुख्य कारण चूना-गारा का सीमेंट् के रूप में प्रयोग होना था जैसा कि आप इकाई 22 में पढ़ चुके हैं। वैज्ञानिक तरीके से मेहराबों को बनाने के लिए वक्राकार डाट-तत्थर के रूप में पत्थरों और ईंटों को लगाने की आवश्यकता पड़ती है जिन्हें एक-दूसरे से जोड़ने के लिए अच्छे सीमेंट पदार्थ की आवश्यकता होती है। यह अच्छा जोड़ने वाला पदार्थ चूना-गारा था। आरेख 1 मेहराब को दर्शाता है।

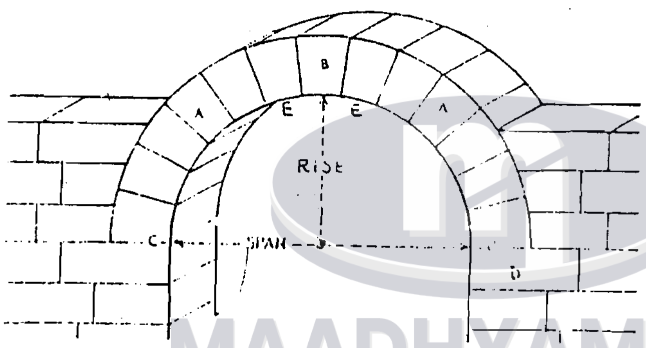

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

आरेख 1

इस नई तकनीक के परिणामस्वरूप तुर्कों से पूर्व प्रचलित शैलियां—स्तम्भ और धरनी (lintel-and-beam) और कदलिकाकृत (corbelling) का स्थान वैज्ञानिक तरीके से बनी मेहराबी छतों (arch) और शिखरों का

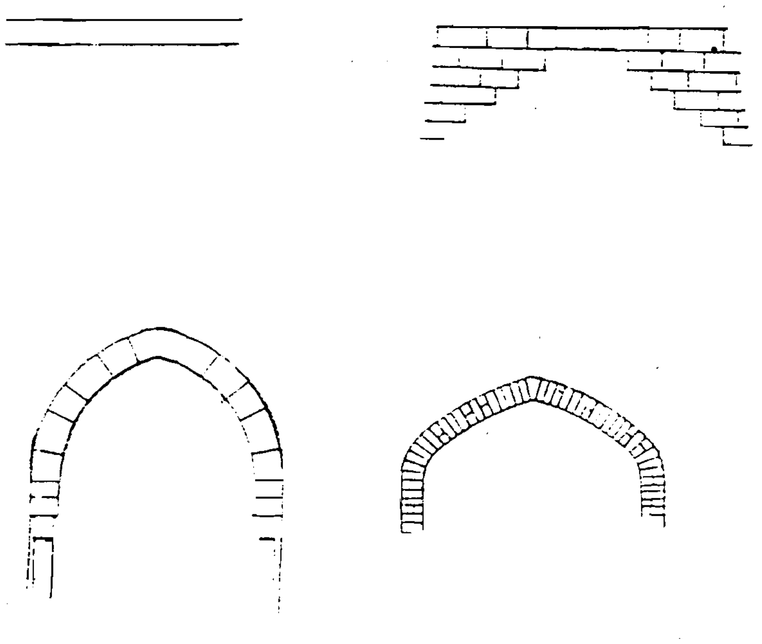

आरेख-2

स्थान गुम्बदों ने ले लिया। मेहराबों को विभिन्न आकारों में बनाया गया। लेकिन भारत में इस्लामी दुनिया में प्रचलित नुकीले रूप को प्रत्यक्षतः ग्रहण किया गया। चौदहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में नुकीले आकार के मेहराबों का दूसरा रूप चार कोनों वाला मेहराब—तुगलक सुल्तानों द्वारा अपने भवनों में प्रयुक्त किया गया। यह रूप सल्तनत के अन्त तक प्रचलित रहा। इन रूपों को आरेख 2 में दर्शाया गया है।

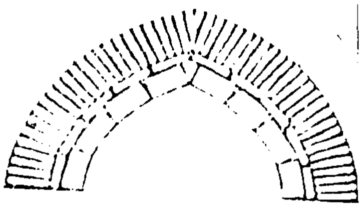

आरेख 3

इस्लामी दुनिया में नुकीली मेहराबों का प्रयोग इसके टिकाऊपन और निर्माण की आसानी की वजह से बहुत पहले ही अपनाया गया था। नुकीली मेहराब बनाने का सामान्य तरीका था केन्द्र में कम वजन और इसके ऊपर ईंट की एक परत लगाना। यह परत दूसरी चपटी ईंटों की पतली परत को आधार प्रदान करती थी जिस पर मेहराब के विकरणी डाट-पत्थरों को गारे से जमाया जाता था। ये ईंट की दोहरी परतें आवश्यकता पड़ने पर मेहराब के लिए स्थायी कवच का काम करती थीं। यहां यह बात ध्यान देने योग्य है कि लकड़ी के आधार की जगह ईंटों का प्रयोग उन क्षेत्रों की मुख्य विशेषता थी, जहां लकड़ी की कमी थी जैसे—पश्चिम एशिया और भारत।

लेकिन गुम्बदों के निर्माण के लिए विशेष तकनीक की आवश्यकता थी। समस्या एक ऐसे उपयुक्त तरीके की थी जो गोलाकार गुम्बद के निर्माण के लिए कमरे की वर्गाकार अथवा आयताकार दीवारों को गोलाकार गुम्बद के रूप में परिवर्तित कर सके। इस समस्या से मुक्ति का सबसे सही उपाय था कि एक छोर से दूसरे छोर तक वर्गाकार विन्यास को बगली डाट (squinches) की मदद से बहुभुजीय योजना में बदल दिया जाए जैसा कि आरेख 3 में दिखाया गया है। बाद में पंद्रहवीं शताब्दी में आरोही-निक्षेपों (stalactite pendentives) को इस उद्देश्य के लिए प्रयोग में लाया गया। (देखें **चित्र 1** — बड़ा गुम्बद मस्जिद, नई दिल्ली)।

आरेख 4

MAADHYAM IAS

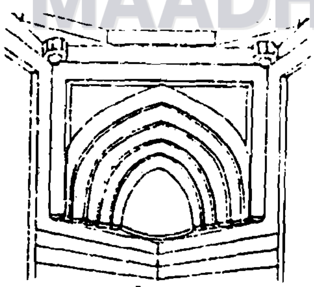

आरेख 5

चित्र 1

ii) भवन-निर्माण सामग्री (Building Material)

यह जानने योग्य तथ्य है कि भारत में तुर्की आगमन से पूर्व के भवनों में बहुत कम ऐसे उदाहरण हैं जिनमें वास्तुकारों द्वारा खान से निकाले हुए नए पदार्थों का प्रयोग किया गया हो। उस समय नक्काशीदार लाटें, स्तम्भ, मीनार (shafts), तख्तों (lintels) आदि के प्रयोग का प्रचलन था। भारत में चौदहवीं शताब्दी के प्रारंभ में जब ऐसी सामग्री की आपूर्ति में कमी हो गई तो खान से निकाले हुए अथवा बनाई हुई सामग्री के द्वारा भवन-निर्माण किया गया।

पक्की इमारतों में पत्थरों का प्रयोग बहुतायत से हुआ। नींव खुरदरे और छोटे कंकड़ों से भरी गई अथवा उपलब्धता के अनुसार नदियों के चिकने पत्थरों का प्रयोग किया गया; जबकि भवनों का ऊपरी ढांचा बनाने में अच्छे पत्थरों या ऊबड़-खाबड़ आकार वाले पत्थरों का इस्तेमाल हुआ। हालांकि दोनों ही तरीकों में समस्त भवन अच्छी तरह से प्लास्टर किया गया। पर्सी ब्राउन (**इन्डियन आर्किटेक्चर : इस्लामिक पीरियड,** बम्बई, 1968) ने लिखा है कि खलजी कालीन भवनों में पत्थरों को जोड़ने के लिए एक नए तरीके का प्रयोग किया गया। इसमें पत्थरों को दो तरह से लगाया गया—शीर्ष (headers) और फैलाव (stretchers)। इस शैली का प्रयोग आगामी भवनों में भी किया गया और यह शैली मुगलों की भवन-निर्माण तकनीक की

विशेषता बनी। भवनों को प्लास्टर करने में प्रायः खड़िया (जिप्सम) का प्रयोग किया गया। चूने के प्लास्टर का प्रयोग पानी रिसने वाली जगहों के लिए सुरक्षित रखा गया। जैसे—छतें, नील बनाने के लिए हौज (indigo-vats), नहरें, नालियाँ इत्यादि। बाद में लगभग 15वीं शताब्दी के आस-पास जब गचकारी का कार्य (stuccowork) आम प्रचलन में आ चुका था तो दीवारों और छतों के प्लास्टर के लिए खड़िया मिट्टी के गारे को वरीयता दी गयी। जैसा कि **चित्र 2** में नीचे दिखाया गया है।

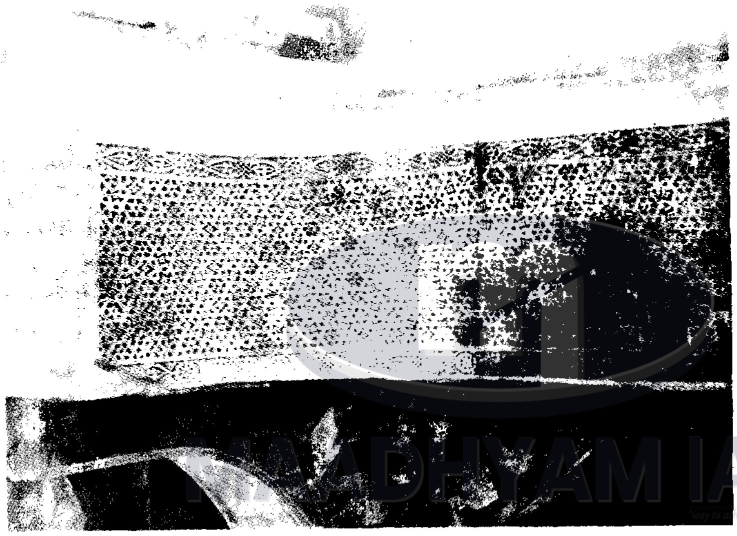

MAADHYAM IAS

चित्र 2

iii) **साज-सज्जा**

इस्लामी भवनों में साज-सज्जा की कला ने इमारत की विशेषताओं को प्रदर्शित करने के बजाय उसे छुपा दिया। चूंकि प्राणियों के चित्रण को हतोत्साहित किया जाता था, अधिकतर मामलों में सजावट के तत्व– (क) सुलेख (calligraphy), (ख) ज्यामिती, और (ग) फूल-पत्तियों या बेलबूटों तक ही सीमित थे।

फिर भी, इनके दक्षतापूर्ण प्रयोग द्वारा सल्तनतकालीन भवनों ने एक राजसी और वैभवशाली आभा प्राप्त की। लेकिन किसी भवन के लिए विशेष प्रकार की सज्जा निश्चित नहीं थी। इसके विपरीत दिल्ली सल्तनत के समस्त भवनों में इस्लामी सजावट के तरीकों का प्रयोग किया गया था।

इस समय के भवनों में साज-सज्जा की कला में सुलेखन का एक महत्वपूर्ण स्थान था। **कुरान** की **आयतें** (विषय वस्तु) भवनों पर सीधी, सौम्य, भाषा के रूप में खुदी हैं। यह लिपी **कूफ़ी** कहलाती है। ये लेखन भवनों के किसी भी भाग में जैसे—दरवाजे, छत, चौखट, ताख आदि में पाया जा सकता है और विविध प्रकार के रूपों जैसे—पत्थर, गचकारी और चित्रकला में देखा जा सकता है। (**चित्र 3-4** में पत्थरों और गचकारी के सुलेखन के नमूने देखे जा सकते हैं।)

इन भवनों में ज्यामितीय आकारों का प्रयोग बड़े ही अमूर्त रूप में विभिन्न सम्मिश्रणों में किया गया है। इनके डिजाईनों में दृष्टिगत तत्वों जैसे—पुनरावृत्ति, एक-रूपता एवं प्रचलित नमूनों की उत्पत्ति का समावेश है। डाल जोन्स (**आर्किटेक्चर ऑफ द इस्लामिक वर्ल्ड,** सं. जार्ज मिशेल, लन्दन,1978) ने सुझाव दिया है कि वृत्त इस ज्यामिति-कला की उत्पत्ति का मूल है जिसे वर्गाकार, त्रिकोण या बहुकोण के रूप में विकसित किया जा सकता है। इसको बढ़ा-घटा कर, पुनरावृत्ति और एक-रूपता के द्वारा और आगे विस्तृत किया जा सकता है (उदाहरण के लिए चित्र 2 देखें)।

चित्र 3

चित्र 4

MAADHYAM IAS

पत्रण कला द्वारा सजावट का प्रमुख तरीका **अरबेस्क** था जो सल्तनतकालीन भवनों में प्रमुख रूप से प्रयुक्त हुआ है। इसको एक अनवरत तने के रूप में जाना जाता है, जो बराबर विभाजित होते रहते हैं और जिससे अनेक दूसरे पत्ती वाले तने विकसित होते रहते हैं जो पुनः विभाजित हो सकते हैं अथवा मुख्य तने से दोबारा जुड़ जाते हैं। इस नमूने की पुनरावृत्ति त्रि-आयामी प्रभाव के साथ एक सुन्दर संतुलित नमूने को जन्म देती है। (आरेख 4 और चित्र 5 देखें)

आरेख 4

बोध प्रश्न 1

1) तेरहवीं शताब्दी के बाद पक्की इमारतों में वृद्धि के क्या कारण थे?

....

....

....

....

....

....

2) गुम्बद बनाने में किस समस्या का सामना करना पड़ता है?

....

....

....

....

....

....

....

3) सल्तनतकालीन वास्तुकला में साज-सज्जा के मुख्य तत्व कौन-से थे?

....

....

....

....

....

....

....

MAADHYAM IAS

31.2.2 शैलीगत विकास

यहा इस चर्चा का मुख्य उद्देश्य दिल्ली सुल्तानों के समय विकसित हिन्द-इस्लामी वास्तुकला के विकास की सामान्य रूपरेखा प्रस्तुत करना, और इसके प्रमुख लक्षणों पर प्रकाश डालना है, जो इसके मुख्य चरणों को दर्शाते हैं।

i) प्रारंभिक रूप

हिन्द-इस्लामी वास्तुकला का इतिहास 1192 ई. में तुर्कों द्वारा दिल्ली पर आक्रमण के साथ शुरू होता है। तोमर शासकों का किला जिसे इसके चौहानों द्वारा विस्तार के बाद राय पिथौरा का किला कहते हैं, कुतबुद्दीन ऐबक ने अपने कब्जे में कर लिया था। यहां उसने जामा मस्जिद बनाना शुरू किया जो 1198 में बनकर तैयार हुई। मस्जिद पर लगे शिलालेख के अनुसार इसे **कुवत उल इस्लाम** के नाम से जाना गया और इसका निर्माण विजेताओं द्वारा सत्ताईस हिन्दू और जैन मंदिरों को तोड़कर इसके अवशेषों से किया गया था। पुनः सन् 1199 ई. में मस्जिद के पूजन स्थान के सामने एक वृहत् आवरण एक ऊंची मेहराब के साथ बनाया गया। इन दोनों निर्माण कार्यों में स्थानीय भवन-निर्माण वास्तुकारों का प्रभाव दृष्टिगत होता है। धरती व स्तम्भ (lintels) नक्काशीदार स्तम्भों और चबूतरों का प्रयोग उनके नक्काशीदार हिस्सों को अंदर घुमाकर अथवा नीचे या ऊपर करके किया गया। आवरण की मेहराबें कदलिकाकृत शैली द्वारा बनाई गई थीं। आवरण की सजावट अवधारणा में पूर्णरूपेण हिन्दू थी। (चित्र 6 देखें)

चित्र 6

लेकिन हिन्दू वास्तुकला से लिए गए तत्वों को शीघ्र ही निकाल दिया गया और परिपक्व हिन्द-इस्लामी शैली में उसके बहुत थोड़े अवशेष बाकी रहे। इस चरण के बाद की इमारतों में, जैसे कुतुब मीनार (1199-1235), अढ़ाई दिन का झोपड़ा (लगभग 1200) और इल्तुतमिश का मकबरा (1233-34), यद्यपि कदलिकाकृत शैली को एक महत्वपूर्ण संरचनात्मक तकनीक के दर्जे से नहीं हटाया जा सका लेकिन इस समय तक साज-सज्जा पूरी तरह से इस्लामी हो गई थी। इस संबंध में इल्तुतमिश के मकबरे (1233-34) जो अब नष्ट हो गया है, की गुम्बदनुमा छत में प्रयोग किए गए सिद्धांत विशेष रुचि के हैं। यद्यपि गुम्बद को कदलिकाकृत शैली से बनाया गया था इसको चौकोर कक्ष के कोनों पर बगली डाट की मदद से स्थापित किया गया था। (जैसा **चित्र 7** में दिखाया गया है) पर्सी ब्राउन के अनुसार शायद यह भारत की संक्रमण काल की समस्याओं के समाधान की दिशा में पहला कदम है।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

चित्र 7

हमारे द्वारा वर्णित प्रारंभिक काल की वास्तुकला शैली का चरमोत्कर्ष बलबन के मकबरे में दिखाई देता है जिसका निर्माण 1287-88 ई. के लगभग किया गया था। अब यह खण्डहर की शक्ल में है लेकिन हिन्द-इस्लामी वास्तुकला के विकास में इसका महत्वपूर्ण स्थान है। यहां प्रथम बार वैज्ञानिक तरीके से बनाई गई मेहराब का प्रयोग किया गया है। (देखें पूर्वी मेहराब चित्र 8 में)

चित्र 8

ii) खलजी

खलजी वास्तुकला के साथ-साथ जैसा कि कुतुब परिसर में अलाई दरवाजा (1305) और निज़ामुद्दीन में जमात खाना मस्जिद (1325) में वास्तुकला शैली में एक विशेष परिवर्तन की झलक दिखाई देती है। हिन्द-इस्लामी वास्तुकला के विकास में इस काल का मुख्य स्थान है क्योंकि इस काल के वास्तुशिल्प पर सेल्जुक वास्तुशिल्प परम्परा का प्रभाव है। (सेल्जुक एक तुर्की जाति है जिसने मध्य एशिया और एशिया माइनर पर 11-13 शताब्दी में शासन किया) साथ ही इसमें संरचना संबंधी कुछ विशेषता भी विकसित हुई जिन्हें बाद में प्रयुक्त शैलियों में ग्रहण किया गया। इस काल की मुख्य विशेषताएं निम्नलिखित हैं:

क) वैज्ञानिक तकनीकों से बनाई गई मेहराबों का प्रयोग, आकार में नुकीली, घोड़े की नाल नुमा (चित्र 9)।

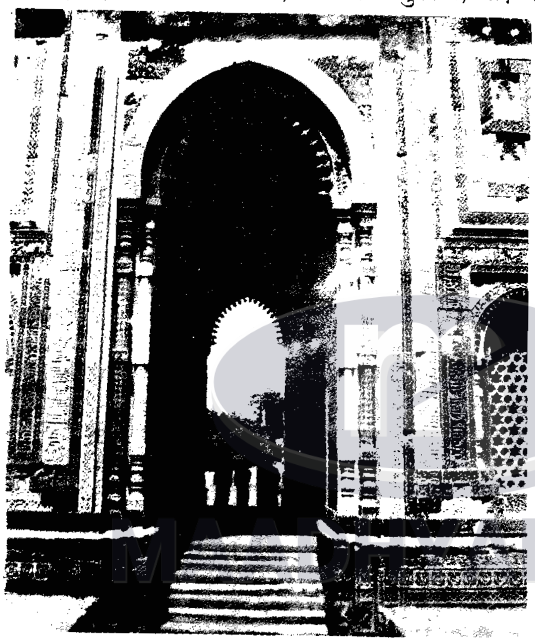

MADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

चित्र 9

ख) बगली डाट के अंतर्गत आलेदार मेहराबों के साथ वैज्ञानिक तरीके से बनाए गए गुम्बदों का उदय (चित्र 10)।

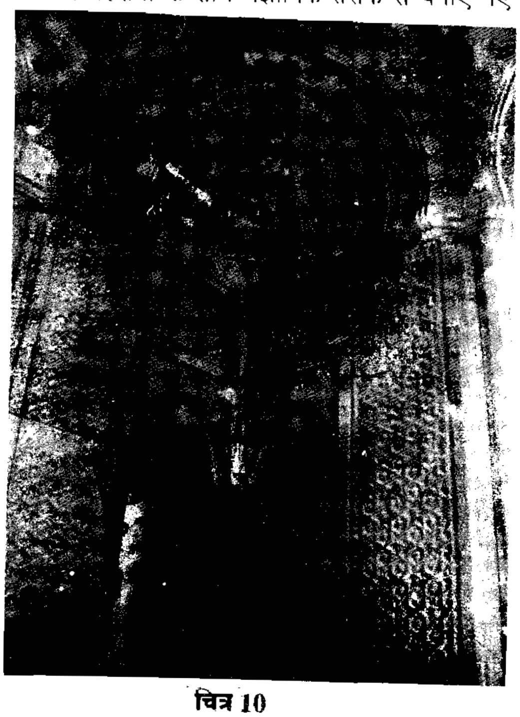

चित्र 10

ग) नई भवन निर्माण सामग्री के रूप में लाल पत्थरों और सुसज्जित नक्काशीदार संगमरमर का प्रयोग (चित्र 11)

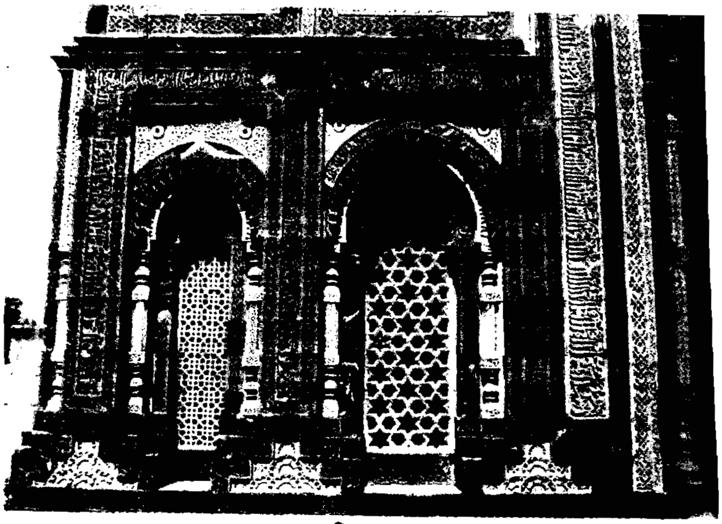

चित्र 11

घ) मेहराब की निचली सतह पर कमल कली की झालर का प्रयोग—एक सैल्जुक विशेषता (देखें चित्र 12)।

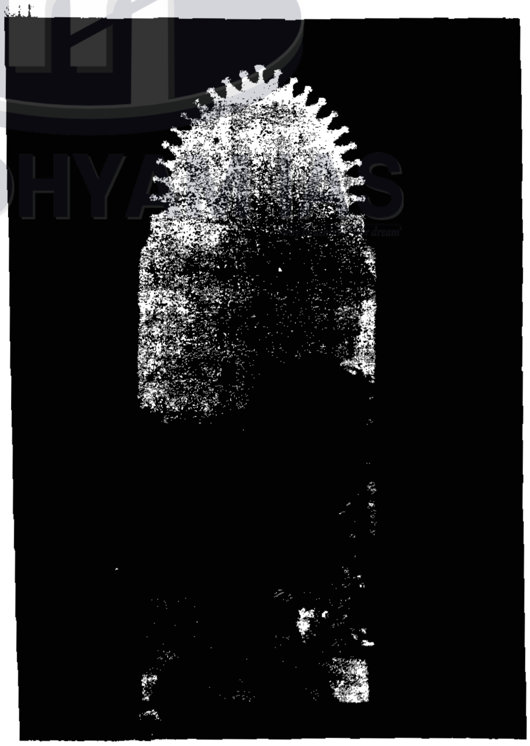

चित्र 12

च) नए पक्के अग्रभाग का उदय जिसमें संकीर्ण शीर्ष तथा दूसरी ओर विस्तार (stretchers) के लिए बहुत अधिक जगह थी (देखें इकाई का उपभाग 31.2.1)—पुनः एक सैल्जुक विशेषता। साथ ही सुसज्जा की विशेषता जैसे—सुलेखन कला, ज्यामिति एवं अरबेस्क आदि का उपयोग अधिक मात्रा में होने लगा।

iii) तुगलक

इस काल के भवनों में नई वास्तुकला शैली का प्रयोग हुआ। अवशेषों के आधार पर कहा जा सकता है कि इस वंश के सिर्फ प्रथम तीन शासकों ने ही वास्तुकला में अपनी रुचि दिखाई। इस काल की वास्तुकला को

मुख्य दो भागों में बाँट सकते हैं—पहला समूह गियासुद्दीन और मौहम्मद तुगलक की वास्तुकला से संबंधित है दूसरा फिरोज़ तुगलक से।

वास्तुकला की तुगलक शैली की मुख्य विशेषताएं निम्नलिखित हैं:

क) मुख्य भवन-निर्माण सामग्री खुरदरे पत्थर (कंकड़) थी और अधिकांश दीवारें प्लास्टर की हुई होती थीं।

ख) दीवारें एवं बुर्ज अधिकतर अंदर की तरफ झुके हुए होते थे। इसे कोनों पर प्रखर रूप से देखा जा सकता है (देखें चित्र 13)

चित्र 13

ग) चार कोनों वाली नई मेहराब के सीमित और शायद प्रयोगात्मक प्रयोग ने इसके आधार के लिए धरनी की आवश्यकता को आवश्यक बनाया (देखें चित्र-14)। इस तरह की मेहराब-धरनी शैली का सम्मिश्रण तुगलक शैली की मुख्य विशेषता थी। नुकीली घोड़े की नालनुमा मेहराब की प्रचलित शैली को इसकी संकीर्ण परिधि तथा अधिक जगह घेरने की अयोग्यता के कारण उपयोग में लाना बंद कर दिया गया।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

चित्र 14

घ) प्रचलित दबी हुई गर्दन वाले गुम्बदों की जगह नए स्पष्ट रूप से उभरी हुई गर्दन वाले नुकीले गुम्बदों का प्रयोग। (ऊपर वर्णित चित्र 13 देखें)।

च) भवनों की पट्टिकाओं की सजावट के लिए सफेद टाइल्स का उपयोग।

छ) इस काल में अष्टभुजीय मकबरों का उदय हुआ जिन्हें सोलहवीं तथा सत्रहवीं शताब्दी में मुगल शासकों ने अपनाया एवं उसे पूर्णता प्रदान की।

इसके साथ ही एक अन्य विशेषता सजावट का कम प्रयोग था। अब यह मेहराबों के नक्काशीदार किनारों और चापस्कंध (medallions) के प्लास्टर अथवा दीवारों पर गोलाकार चित्रों तक सीमित रह गई थी।

iv) अन्तिम चरण

फिरोज़शाह तुगलक की मृत्यु (1388) के बाद एक दशक के अंदर ही सल्तनत में राजनीतिक अस्थिरता व्याप्त हो गई और 1398 में सल्तनत तैमूर द्वारा छिन्न भिन्न कर दी गयी। फिर भी, सैय्यद एवं लोदी वंशों के समय केन्द्रीय शक्ति के कुछ अवशेष रह गए थे। यद्यपि उसका आकार काफी सिकुड़ गया था। उन्होंने 1414 और 1526 के बीच, दिल्ली की सल्तनत पर शासन किया। उन्होंने दिल्ली में तथा दिल्ली के आस-पास इतने मकबरे बनवाए कि दिल्ली कुछ समय के अंदर एक फैले हुए **कब्रिस्तान** की तरह लगने लगी। लेकिन वास्तुकला के दृष्टिकोण से इनकी कुछ इमारतें बड़ी ही महत्वपूर्ण हैं और एक विशेष शैली की शुरुआत मानी जा सकती हैं। इन मकबरों के निर्माण में सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि इनके दो अलग रूप हैं। इनकी महत्वपूर्ण विशेषताएं निम्नलिखित हैं:

क) मकबरे अष्टभुजीय योजना पर बनाए गए हैं जिसके मुख्य तत्व हैं :
- — मेहराबनुमा बरामदों से घिरा हुआ मुख्य समाधि-कक्ष।
- — एक मंजिला ऊंचाई।
- — बरामदे के बाहर निकली हुई ओरी (eaver) जो आलम्बन के लिए टेक पर टिकी हुई है।

ख) दूसरे प्रकार की इमारतें वर्गाकार योजना पर आधारित हैं, इसके मुख्य तत्व हैं :
- — मुख्य समाधि-कक्ष के आसपास बरामदे का न होना।
- — बाहरी भाग कभी-कभी दो या तीन मंजिला ऊंचा।
- — ओरी एवं समर्थन देने वाले टेक का अभाव।

इन भवनों की सजावट के लिए रंगीन खपरैल (tiles) का मौलिक प्रयोग किया गया। चित्रवल्लरी (frieze) पर कहीं-कहीं इनका प्रयोग किया गया है। साथ ही प्लास्टर की सतह पर गहनता से नक्काशी की गयी थी।

सन् 1526 में दिल्ली सल्तनत का पतन मुगल आक्रमणकारी बाबर के हाथों अंतिम लोदी सुल्तान की हार के साथ हुआ। इसके साथ ही वास्तुकला की सल्तनत शैली का भी अन्त हो गया जो पन्द्रहवीं शताब्दी में ही अपनी गतिहीनता का संकेत दे चुका था।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

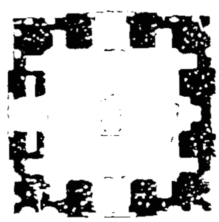

आरेख

31.2.3 सार्वजनिक भवन तथा सार्वजनिक कार्य

आपने पहले दो उपभागों, 31.2.1 और 31.2.2 में देखा कि हमने सल्तनत वास्तुकला के विकास की चर्चा में केवल शाही संरचनाओं जैसे—महल, किले, मकबरे और मस्जिद का विवरण दिया है लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं है कि दूसरे तरह के भवनों का अस्तित्व ही नहीं था या कम महत्वपूर्ण थे।

आम धारणा, कि शाही भवनों को छोड़कर अन्य संरचनाओं की संख्या कम थी, के विपरीत् हमने पाया कि ये संरचनाएं संख्या में शाही भवनों से कहीं अधिक हैं। इन भवनों में सराय, पुल, सिंचाई के तालाब, कुएं और बावली, बांध, कचहरी (प्रशांसकीय भवन), कैदखाना, कोतवाली (पुलिस स्टेशन), डाक चौकी, हम्माम (सार्वजनिक स्नानागार), और कटरा (बाजार) इत्यादि होते थे। चूंकि इस तरह के भवनों का निर्माण सार्वजनिक एवं नागरिक उद्देश्यों के लिए किया जाता है इसलिए सामूहिक रूप से हम उनको सार्वजनिक भवनों एवं सार्वजनिक कार्यों की श्रेणी के अंतर्गत रख सकते हैं। बिना किसी धार्मिक और जातीय भेदभाव के ये सामान्य जनता के प्रयोग के लिए उपलब्ध थे।

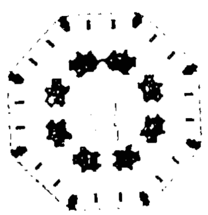

आरेख 7

सराय इन सार्वजनिक भवनों में सबसे विशिष्ट थे। इसका प्रचलन भारत में तेरहवीं शताब्दी में तुर्कों द्वारा किया गया। **सराय** का जिक्र सर्वप्रथम बलबन के समय (1266) में मिलता है। बाद के शासकों में मौहम्मद तुगलक और फ़िरोज तुगलक ने दिल्ली के आसपास और सल्तनत के स्थल-मार्गों पर अनेक **सराय** बनवाईं। इन सरायों की मुख्य विशेषताएं

— वर्गाकार और आयताकार विन्यास हैं जो पक्की दीवारों से चारों ओर से घिरे होते थे जिसमें प्रवेश के लिए एक अथवा कभी-कभी दो दरवाजे होते थे।

— कतार में बने कमरे जिनके आगे मेहराबनुमा जगह होती थी। गोदाम अहाते के कोने में था।

अहाते में एक छोटी मस्जिद और एक या दो कुएं होते थे। (यह विशेषता शेरशाह के समय की सराय-योजना में देखी जा सकती है। देखें रेखाचित्र 5)।

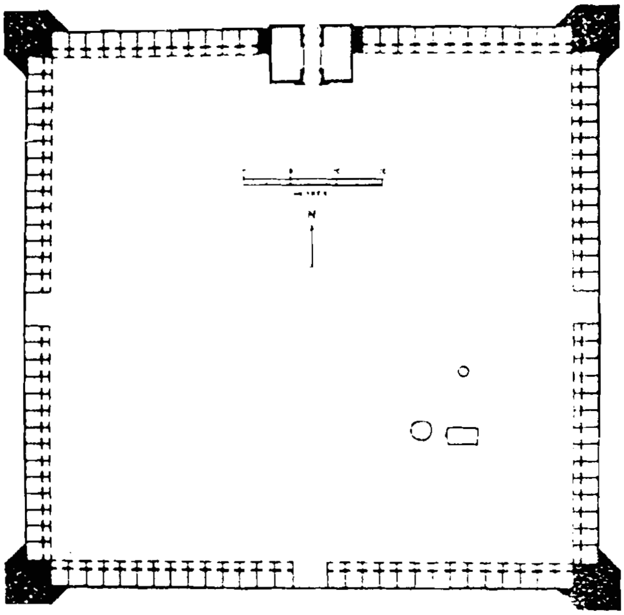

आरेख 9

पुल सार्वजनिक भवनों की अन्य महत्वपूर्ण श्रेणी थी। लेकिन छोटी और मध्य परिमाण की नदियों पर ही पक्के पुल बनाए गए थे। बड़ी नदियों, जैसे—गंगा और यमुना पर नौकाओं से बने पुल थे। हमारा सौभाग्य है कि उस समय के बने ऐसे दो पक्के पुल आज भी अस्तित्व में हैं। एक गम्भीरी नदी पर चित्तौड़गढ़ में है (देखें चित्र 15) तथा दूसरा, साहिबी (यमुना नदी की एक शाखा) नदी पर वजीराबाद, दिल्ली में स्थित है। (देखें चित्र 16)।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

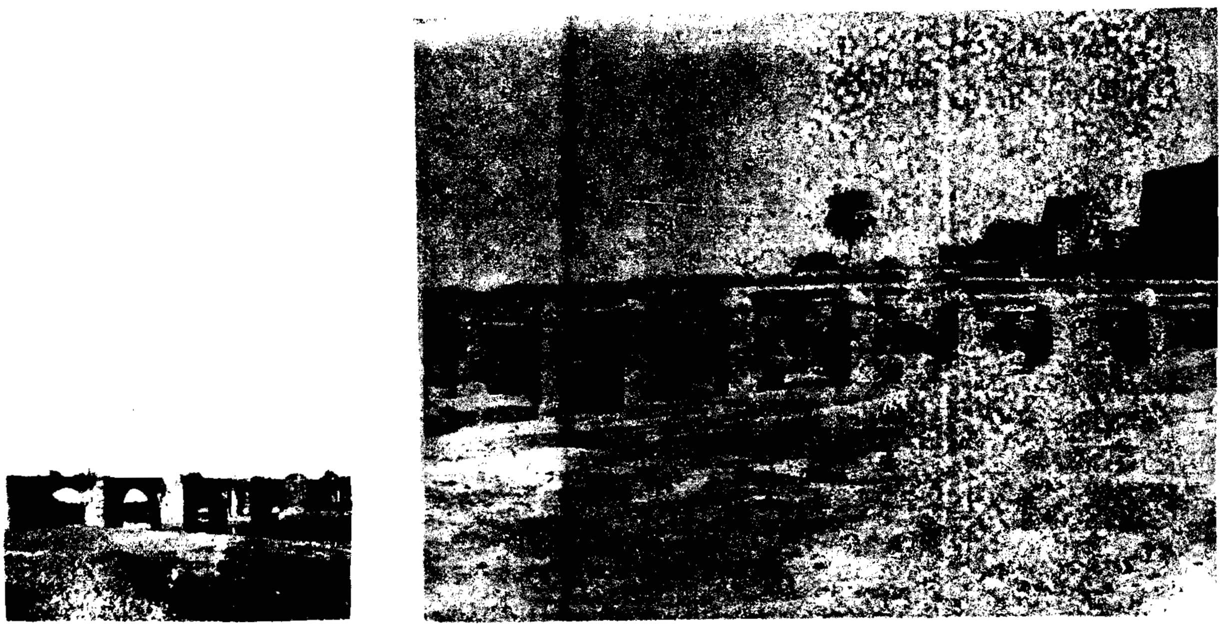

चित्र 15-16

सल्तनत काल के विभिन्न प्रकार के छोटे और बड़े भवनों में **सराय** एवं पुल सर्वाधिक प्रचलित हैं। बांध एव सीढ़ीदार कुएं भी सल्तनतकालीन वास्तुकला का एक भाग हैं। उदाहरण के लिए इल्तुतमिश द्वारा निर्मित गंधक की बावली है जो महरौली, दिल्ली में स्थित एक सीढ़ीदार कुआं है।

बोध प्रश्न 2

1) निम्न कथनों पर सही (√) या गलत (×) का निशान लगाइए
   i) **कुवअत-उल इस्लाम** मस्जिद के पर्दे (screen) में बनी मेहराब कदलिकाकृत शैली में हैं।
   ii) इल्तुतमिश के मकबरे के गुम्बद को मकबरे के कक्ष के कोने से आड़ी धरनियों द्वारा बनाया गया है।
   iii) बलबन के मकबरे का प्रवेश द्वार कदलिकाकृत शैली में है।

2) खलजी वास्तुकला की तीन प्रमुख विशेषताएं लिखें।

3) प्रत्येक का उत्तर एक पंक्तियों में दें।
   i) तुगलक काल में घोड़े की नालनुमा नुकीली मेहराब को क्यों समाप्त कर दिया गया?
   ii) तुगलक काल की दीवारें और बुर्ज अपनी पूर्ववर्ती संरचनाओं से किस तरह भिन्न हैं?
   iii) तुगलक कालीन भवनों की भवन निर्माण सामग्री में आपने किस तरह का अंतर पाया?

4) सैयूयद और लोदी मकबरों की मुख्य विशेषताओं पर एक टिप्पणी लिखें।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

5) सार्वजनिक भवनों को परिभाषित करें एवं दिल्ली सल्तनत के कुछ महत्वपूर्ण भवनों को सूचीबद्ध करें।

31.3 चित्रकला

सल्तनत काल में चित्रकला का इतिहास वास्तुकला की तुलना में अंधकारमय है। इसका मुख्य कारण दिल्ली सल्तनत के प्रथम सौ वर्षों में किसी नमूने का अवशेष न मिलना है।

सचित्र ग्रंथों की अनुपस्थिति भी इतनी ही आश्चर्यजनक बात है। यह कला इस्लामी दुनिया में 1200 तक अपने चरमोत्कर्ष पर थी। फिर भी, शोधकर्ताओं ने पिछले 20-25 वर्षों में नए तथा कुछ ऐसे महत्वपूर्ण तथ्यों को खोज निकाला है जिसने इतिहासकारों को अपने विचार पूरी तरह से बदलने पर मजबूर कर दिया है। हमें अब पता चला है कि न सिर्फ सचित्र पुस्तकें बल्कि भित्ति चित्रों की परम्परा भी सल्तनत काल में

मौजूद थी। इस तरह से चित्रकला को निम्नलिखित प्रमुख तीन भागों में बाँट सकते हैं जिन पर हम अलग-अलग चर्चा करेंगे।

31.3.1 भित्ति चित्रों के साहित्यिक प्रमाण

भित्ति चित्र सल्तनत काल में एक विकसित कला थी। इस पर गहन दृष्टि डालने के लिए इसके बहुत से साहित्यिक प्रमाण इस समय के इतिहास में मिलते हैं। इन्हें साइमन डिग्बी ने संकलित एवं विश्लेषित किया है।('द लिटरेरी एविडेन्स फॉर पेटिंग इन द दिल्ली सल्तनत', **बुलेटिन ऑफ द अमेरिकन एकेडमी ऑफ बनारस,** भाग 1, 1967, 47-58)।

सल्तनत काल में भित्ति चित्र के प्रारम्भिक प्रमाण एक **कसीदा (तबकात-ए नासिरी)** में है जो इल्तुतमिश की प्रशंसा में 1228 में ख़लीफा से उसे उपहारस्वरूप **खिल्लत** मिलने के अवसर पर लिखा गया था। इस कविता की पंक्तियों से स्पष्ट होता है कि मुख्य मेहराब के चाप-स्कंध पर चित्रित जानवर एवं मानव आकृतियाँ खलीफा के दूत के स्वागत के लिए बनाई गई थीं।

चित्रकला का सबसे महत्वपूर्ण अकेला प्रमाण अफ़ीफ की **तारीख-ए फिरोज़शाही** में फिरोज़शाह तुगलक द्वारा दिल्ली सल्नतत के पूर्ववर्ती शासकों की गैर-इस्लामी प्रवृत्तियों पर रोक लगाने से संबंधित है। इससे पता चलता है कि दिल्ली के महलों की दीवारों पर आकृति चित्रित करने की परंपरा बराबर अस्तित्व में थी जिसे फिरोज़ तुगलक ने बन्द कर दिया।

चित्रकला की यह परम्परा सिर्फ भित्ति चित्र तक ही सीमित नहीं थी। कुतबुद्दीन मुबारक खलजी (1316-20) द्वारा दी गई मनोरंजक पार्टियों से संबंधित एक प्रमाण में पूर्ण रूप से चित्रकारी किए हुए खुले तम्बुओं का वर्णन है। इससे पता चलता है कि सजावट रंगीन कपड़ों पर रही होगी (**नूह सिपहर**, अमीर खुसरो द्वारा लिखित)।

इसके विपरीत, आम लोगों के घरों में भित्ति चित्र की परम्परा थी, विशेषकर गैर-मुस्लिम घरों में। यह निम्नलिखित तथ्यों से सिद्ध होता है:

- मौलाना दाऊद द्वारा कृत 14वीं शताब्दी की हिंदी कविता **चन्दायन** (जो सन् 1379-80 में लिखी गई थी) में वर्णित एक पद में घर में रंगीन सज्जापूर्ण ऊपरी कक्षों का वर्णन है जिसमें चन्दा—कविता की नायिका—अपनी सखियो के साथ सोती है।
- इस कविता की 15वीं शताब्दी में चित्रित एक पाण्डुलिपि के एक चित्र में चन्दा के शयन कक्ष को दिखाया गया है, जिसकी दीवारों पर रामायण के दृश्य चित्रित किए गए हैं। (देखें चित्र 17)।

MAADHYAM IAS

चित्र 17

31.3.2 कुरान लिखने की सुलेखन कला

इस्लामी संसार में सुलेखन की कला को एक पवित्र कला माना जाता था जिसका प्रयोग कागजों एवं पत्थरों पर सजावट के लिए किया जाता था। हस्तशिल्पियों में सुलेखक को पाण्डुलिपियों को सजाने वाले एवं चित्रकार से ऊपर रखा गया। लेकिन **कुरान** का सुलेखन पुस्तक कला का एक महत्वपूर्ण रूप बन गया जहां **कुरान** की प्रतिलिपियां भव्य और व्यापक पैमाने पर बनाई गई।

कुरान की प्रथम प्रतिलिपि 1399 ई. की है। यह ग्वालियर में सुलेखित की गई थी। इसमें ईरानी तथा भारतीय साधनों से ग्रहण किए गए नाना प्रकार के अलंकारिक प्रतिमान हैं। (इस पांडुलिपि के दो पृष्ठ चित्र 18 में दिखाए गए हैं) इस हस्तलिपि के अग्र पृष्ठ का ज्यामितीय चित्र सल्तनत शैली का प्रतीत होता है जिससे स्पष्ट होता है कि चौदहवीं शताब्दी में दिल्ली की चित्रशालाओं की निम्नलिखित विशेषताएं थीं:

- यह ईरानी परम्परा से संबंधित है।
- शीर्षकों और पट्टिकाओं के अभिलेखों में प्रयुक्त **कुरान** की लिखावट ज्यादातर **कूफ़ी** शैली की है।
- अग्र पृष्ठ के ज्यामितीय चित्रों का चित्रण इस शैली की विशेषता थी।

MAADHYAM IAS 'way to achieve your dream'

चित्र 18

पन्द्रहवीं शताब्दी में सैय्यद और लोदी वंश में पुस्तक कला की दशा खिन्न अवस्था में थी क्योंकि यह बड़े पैमाने पर कलापूर्ण प्रयासों को संरक्षण देने में असमर्थ रहे। ऐसा प्रतीत होता है कि इन प्रयासों को प्रान्तीय शासकों द्वारा अपनाया गया।

31.3.3 पांडुलिपि चित्रण

सल्तनत काल में ग्रंथ चित्रण एक अत्यधिक विवादपूर्ण विषय रहा है। इसकी परिभाषा एवं उत्पत्ति पर विद्वानों के मध्य सहमति नहीं है। इसलिए सल्तनत काल के पांडुलिपि चित्रण की व्याख्यां की विशेषताओं को निश्चित करना बड़ा ही जटिल कार्य है। इसके विपरीत यद्यपि अत्यधिक संख्या में फारसी और अवधी में, 1400 ई. से मुगलों के आगमन तक कई ग्रंथ-चित्रण मिलते हैं। इनमें से कुछ हस्तलिपियां प्रांतीय दरबारों में प्रस्तुत की हुई प्रतीत होती हैं। फिर भी, ऐसी विशेष पाण्डुलिपियों का भी समूह है, हालांकि वे संख्या में कम हैं, जिनका किसी दरबार से कोई संबंध नहीं है। यह संरक्षकों के लिए स्वतंत्र रूप से तैयार की हुई प्रतीत होती हैं लेकिन सल्तनत काल में ही तैयार की गई होंगी। कभी-कभी इनको ''बुर्जुआ समूह'' का प्रतिनिधित्व करने वाली के रूप में परिभाषित किया जाता है और इनका काल 1450-1500 माना जाता है।

''बुर्जुआ समूह'' को प्रस्तुत करने वाली दो हस्तलिपियों का संक्षिप्त उल्लेख नीचे दिया गया है:

हमज़ानामा (बर्लिन)

यह पांडुलिपि लगभग 1450 की है। इसमें पैगम्बर के साथियों में से एक अमीर हमज़ा की शौर्यगाथाओं को दर्शायां गया है (चित्र 19 में इसका एक पृष्ठ दर्शाया गया है)।

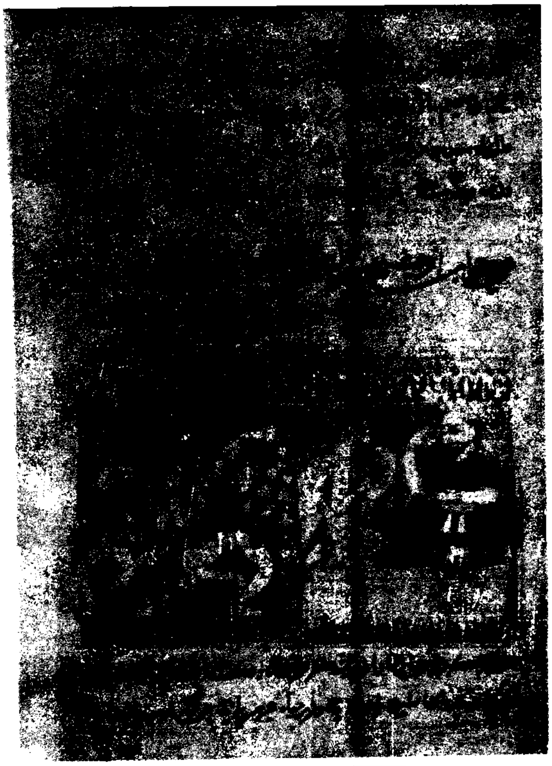

चित्र 19

चन्दायन (बर्लिन)

यह 1450-70 ई. के मध्य का है। इसमें दो प्रेमियों **लौर** और **चन्दा** के रोमांस का वर्णन है। इसकी रचना 1389 में उत्तर प्रदेश में स्थित रायबरेली के निकट दालमऊ के मौलाना दाऊद ने की थी। यह हिन्दी की अवधी बोली में हैं (चित्र 20 में इसका एक पृष्ठ दर्शाया गया है)।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

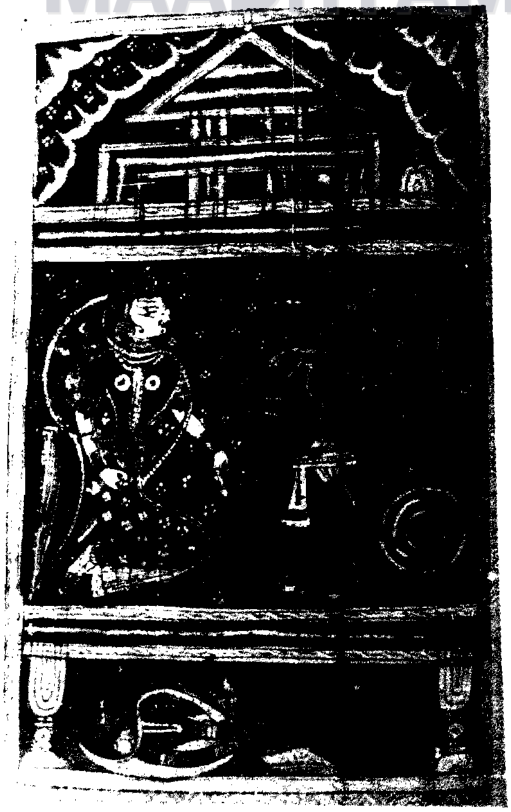

चित्र 20

31.4 संगीत

दिल्ली सल्तनत में एक कला के रूप में संगीत का विकास वास्तुकला एवं चित्रकला के विकास के मुकाबले पीछे रहा है। इसके अतिरिक्त, इस काल का संगीत एक विशेष प्रकार की असुविधा का सामना कर रहा था, वह थी—संकलन का अभाव। ऐतिहासिक तथ्य बिखरे हुए तथा कम थे। आधुनिक लेखन ज्यादातर ऐतिहासिक तथ्यों पर कम तथा अनुमान पर अधिक आधारित हैं। सल्तनत कालीन संगीत के बारे में ये काल्पनिक तथा पौराणिक कथाओं से भरे हुए हैं।

संगीत की दृष्टि से चौदहवीं शताब्दी दिल्ली सल्तनत के इतिहास में सबसे महत्वपूर्ण काल है। इसमें कोई आश्चर्य नहीं है कि यह संगीत किसी न किसी रूप में पूर्ववर्ती सुल्तानों के दरबारों में प्रचलित था। कैकुबाद ने अपने लिए कीलू-गढ़ी में एक विशाल महल का निर्माण किया था। यहाँ दरबारी आमोद-प्रमोद में नृत्य एवं गायन शामिल थे जो सुन्दर कन्याओं द्वारा हिन्दी और फारसी में गाए जाते थे। लेकिन अमीर खुसरो ने न केवल सल्तनत बल्कि पूरे हिन्दुस्तान के संगीत पर एक अमिट छाप छोड़ी। वह दिल्ली के महान सूफ़ी सन्त शेख निज़ामुद्दीन औलिया के शिष्य थे। वह अलाउद्दीन खलजी के दरबारी कवि भी थे जो स्वयं संगीत का शौकीन था। संगीत के क्षेत्र में, अमीर खुसरो ने अपनी प्रतिभा को मुख्य रूप से अपने समय में प्रचलित संगीत के विभिन्न रूपों का समीकरण करने तथा नई रचना का आविष्कार करने में किया। संगीत के क्षेत्र में उनकी प्रसिद्धि निम्नलिखित को प्रारंभ करने के लिए है:

- प्रथम बार ग्रामीण क्षेत्रों में कव्वाली का प्रयोग।
- कुछ आधुनिक रागों जैसे—**ज़िलाफ, सजगिरी** और **सरपदा** को हिन्दुस्तानी और फारसी स्वरों के सम्मिश्रण से तैयार किया गया।
- परम्परागत **ध्रुपद** गायन को समाप्त कर **ख्याल** रूप को प्रारंभ किया।
- पुरानी भारतीय वीणा और ईरानी तम्बूरा को मिलाकर एक नए वाद्य यंत्र सितार की उत्पत्ति।
- पारम्परिक तालवाद्य **मृदंग** में परिवर्तन कर इसे दो हिस्सों में बांट दिया और उसे **तबले** का नाम दिया।

अमीर खुसरो द्वारा लाए गए परिवर्तनों के दूरगामी परिणाम हुए। यह दो विभिन्न धर्मों को एकजुट करने में सहायक हुआ।

MAADHYAM IAS

बोध प्रश्न 3

1) दिल्ली सल्तनत में भित्ति चित्र के स्रोतों का वर्णन करें।

....

....

....

....

....

....

2) भारत में सबसे पहले **कुरान** की प्रतिलिपि कब और कहां बनाई गई?

....

....

....

....

....

....

3) चित्रकारी के ''बुर्जुआ समूह'' को परिभाषित कीजिए।

....

....

....

....

4) अमीर खुसरो की संगीत के क्षेत्र में उपलब्धियों की सूची दीजिए।

....

....

....

....

....

....

31.5 सारांश

ऊपर वर्णित विशेषताओं के आधार पर हम कह सकते हैं कि दिल्ली सल्तनत में कला एवं वास्तुकला का विकास असमान रूप में हुआ। जबकि वास्तुकला का विकास एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है लेकिन अन्य कलाएं जैसे—चित्रकला, संगीत आदि पर विशेष ध्यान केन्द्रित नहीं किया गया। उनके विकास में व्यक्तिगत प्रयासों, जो विकास के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण थे, का अभाव था। बहुत सी कलात्मक भावनाओं को संरचनात्मक तथा शैलीगत रूप में वास्तुकला में अभिव्यक्त किया गया है। इस काल में नागरिक भवनों—सार्वजनिक भवनों एवं सार्वजनिक कार्यों—को बढ़ावा मिला। हालाँकि इन संरचनाओं के प्रति रुचि अपेक्षाकृत नवीन है लेकिन वे किसी भी हिन्द-इस्लामी वास्तुकला के विस्तृत सर्वेक्षण में अपने स्थान का दावा कर सकती हैं।

MAADHYAM IAS

- यह वास्तुकला मुख्य रूप से बहुत मामलों में शहरी परिवेश में प्रतीत होती है। भवनों के मुख्य प्रकार हैं — मस्जिद, **मकबरा**, महल, किला। सार्वजनिक उपयोग की संरचनाओं में **सराय**, पुल, सीढ़ीनुमा कुएँ और जलाशय हैं।
- वास्तुकला संबंधी किसी विशिष्ट कार्य के लिए वास्तुकला की कोई निश्चित शैली नहीं थी। एक ही शैली का प्रयोग कई उद्देश्यों के लिए किया जाता था। इसके उदाहरण के लिए चारों तरफ से घिरे आंगन के रूप की किसी संरचना को लिया जा सकता है जो महल, मस्जिद, **सराय** और मदरसे सभी संरचनाओं के लिए उपयुक्त था।
- इस वास्तुकला की मुख्य विशेषता है चारों तरफ से घिरी जगहों, जिनका सीमांकन दीवारों, मेहराबों और मेहराबदार छतों से किया जाता था।
- इस वास्तुकला की सुसज्जा बहुधा इस प्रकार की है जिसकी सजावटी संरचना के लिए बाहर के स्थान को चुनते हैं। इसके मुख्य तत्व हैं—अरबेस्क, ज्यामिती तथा पत्रण। जीवन्त प्राणियों का चित्रण इस्लाम में मना है लेकिन **कुरान** के अंदर इस विचार के समर्थन में कुछ भी नहीं मिलता।

  भित्ति चित्रों की जीवन्त परम्परा, जिसकी प्रेरणा ग़ज़नवी शासन से ग्रहण की, दिल्ली सल्तनत में कम से कम 1350 ई. तक जीवित रही। इस परम्परा में **महाभारत** और **रामायण** की पौराणिक कथाओं से लेकर अन्य लोकप्रिय पौराणिक कथाओं तक का भंडार है। दूसरी प्रधान परम्परा जो इस काल में उभरी, वह थी सचित्र पांडुलिपि चित्रण। लेकिन यह दरबारी संरक्षण से स्वतंत्र थी इसलिए इन्हें ''बुर्जुआ'' कहा जाता है। पांडुलिपि की सचित्र व्याख्या एवं **कुरान** लेखन की कला तैमूर के आक्रमण तक ही फली-फूली। इस पर ईरानी शैली का प्रभाव पूरी तरह हावी रहा। यह परम्परा 1398 (तैमूर द्वारा दिल्ली की लूट का काल) के बाद जल्दी ही नष्ट हो गई लेकिन यह प्रांतीय दरबारों में फली-फूली और अंकुरित हुई।
- आकृति कला की परम्परा भित्ति चित्र एवं कपड़े पर चित्रकारी के रूप में तेरहवीं और चौदहवीं शताब्दी में शुरू हुई जिसकी प्रेरणा ग़ज़नवी राज्य से मिली।
- **कूफी** भाषा में **कुरान** के सुलेखन की समकालीन परम्परा भी 1398 तक जीवित रही (दिल्ली में तैमूर की लूटपाट के समय)। यह कला भारत में कागजों के प्रचलन के साथ विकसित हुई।

- दूसरी परम्परा फ़ारसी एवं अवधी पांडुलिपि की सचित्र व्याख्या की थी जो शायद पन्द्रहवीं शताब्दी के शुरू में आरम्भ हुई और शाही दरबारों से अलग स्वतंत्र रूप में विकसित हुई।

  दिल्ली सल्तनत में संगीत के इतिहास में विश्वसनीय प्रमाणों का अभाव रहा है। इस संबंध में निश्चित सूचना केवल अमीर खुसरो की संगीतीय प्रतिभा से संबंधित है एवं दूसरे इब्न बतुता द्वारा दी गई महत्वपूर्ण वाद्य यंत्रों की सूची के बारे में है।

31.6 शब्दावली

स्तम्भ और धरनी : छत अथवा खुले हुए स्थान को पाटने का एक तरीका जिसमें बल्लियों अथवा लकड़ी या पत्थर के तख्तों से छत डाली जाती है। देखें आरेख 2

कदलिकाकृत : छत अथवा खुले हुए स्थान को पाटने का एक तरीका जिसमें पत्थरों को अन्दर की तरफ रखकर छत पाटी जाती है। देखें आरेख 2

अरबेस्क : **कुरान** के सुलेखन की कला। चूँकि **कुरान** अरबी लिपि में है यह अरबेस्क कहलाई

गचकारी कार्य : दीवारों पर नक्काशी की कला।

कूफी : सुलेखन की एक लिपि।

शुंडाकार : अंदर की ओर हल्की सी झुकी हुई दीवारें।

पत्रण : बेल-बूटे बनाने की कला।

भित्तिचित्र : दीवारों पर की गई चित्रकला।

ओरी : ढलावदार छत की दीवार के बाहर निकला निचला हिस्सा।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

31.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) मेहराब और चूने-गारे की शुरुआत। देखें उपभाग 31.2.1
2) i) कोने में लगी हुई धरनी
   ii) बगली डाट
   iii) आरोही निक्षेप
3) अरबेस्क, ज्यामितीय कला, एवं पत्रकला। देखें उपभाग 31.2.1

बोध प्रश्न 2

1) i) √ ii) × iii) × ।
2) देखें उपभाग 31.2.2 ii ।
3) i) विशाल क्षेत्रों को घेरने की अयोग्यता के कारण।
   ii) वे शुण्डाकार हैं।
   iii) वे कंकड़ों और प्लास्टर का प्रयोग करते थे।
4) देखें उपभाग 31.2.2 iv ।
5) देखें उपभाग 31.2.3 ।

बोध प्रश्न 3

1) देखें उपभाग 31.3.1 ।
2) सन् 1399 में ग्वालियर में ।
3) देखें उपभाग 31.3.3 ।
4) देखें उपभाग 31.4 ।

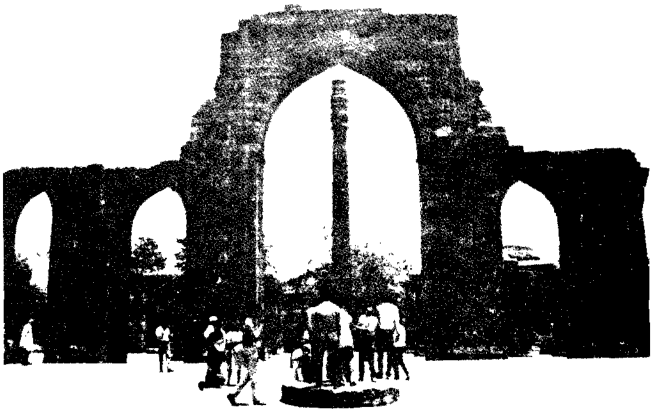

1. कुव्वत-उल इस्लाम मस्जिद, लगभग 1197 ई. नई दिल्ली

2. कुतुब मीनार, 1199 ई., नई दिल्ली

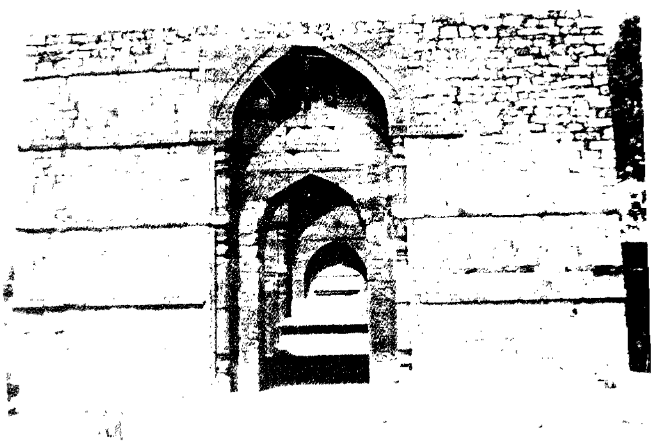

3. इल्तुतमिश का मक़बरा, लगभग 1235 ई., नई दिल्ली

4. गंधक की बावली, इल्तुतमिश का शासन काल (1210-36 ई.), नई दिल्ली

5. बलबन का मकबरा, लगभग 1280 ई., नई दिल्ली

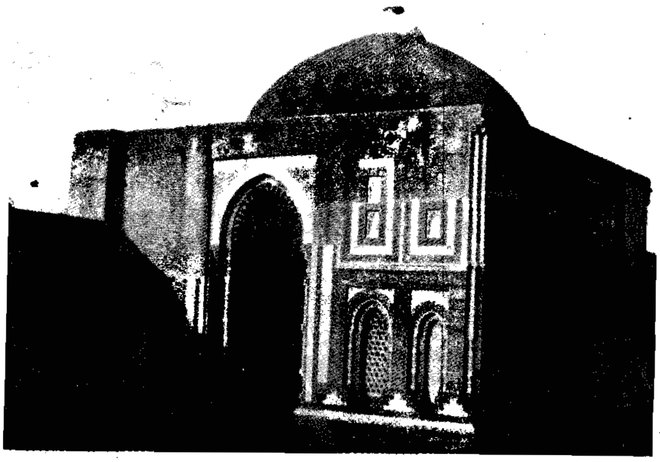

9. खिड़की मस्जिद, लगभग 1375 ई., नई दिल्ली

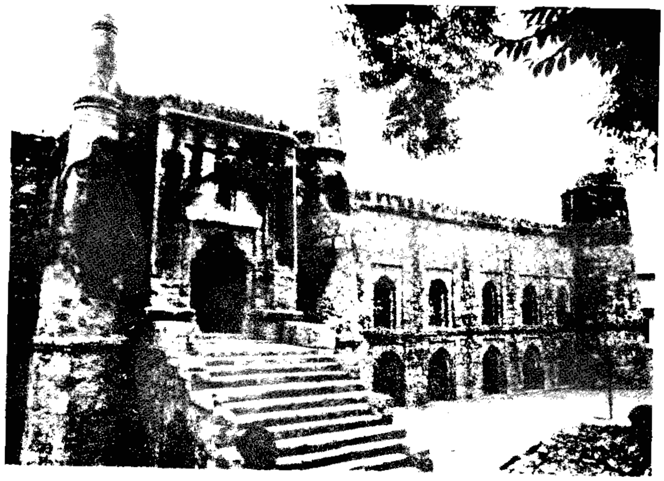

6. अलाई दरवाज़ा, 1305 ई., नई दिल्ली

MAADHYAM IAS

10. बड़े खान का गुम्बद, सिकन्दर लोदी का शासन काल (1489-1517 ई.), नई दिल्ली

7. सतपुल, मौहम्मद तुगलक का शासन काल (1325-51 ई.), नई दिल्ली

11 मोठ की मस्जिद, 1505 ई, नई दिल्ली

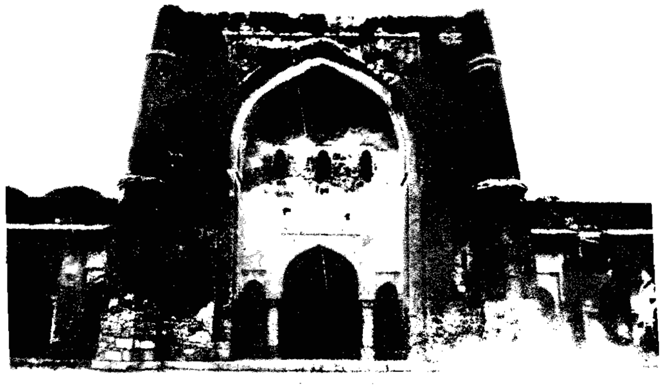

8. बेगम पुरी मस्जिद, लगभग 1370 ई., नई दिल्ली

इकाई 32 क्षेत्रीय राज्यों में कला एवं वास्तुकला

इकाई की रूपरेखा

32.0 उद्देश्य
32.1 प्रस्तावना
32.2 वास्तुकला
- 32.2.1 पूर्वी भारत
- 32.2.2 पश्चिमी भारत
- 32.2.3 मध्य भारत
- 32.2.4 दक्खन
- 32.2.5 विजयनगर

32.3 चित्रकला
- 32.3.1 पश्चिम भारतीय शैली
- 32.3.2 **चौरपंचशिका** शैली
- 32.3.3 प्रांतीय राजवंश
- 32.3.4 दक्खनी चित्रकला

32.4 संगीत
32.5 सारांश
32.6 शब्दावली
32.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

32.0 उद्देश्य

इस इकाई में दिल्ली सल्तनत की राजनीतिक सीमाओं से बाहर के क्षेत्रों में कला एवं वास्तुकला के विकास का अध्ययन किया गया है। इकाई के अध्ययन के बाद आप :

- क्षेत्रीय राज्यों में निर्मित भवनों की वास्तुकला, इसके विकास एवं चरित्र पर प्रकाश डाल सकेंगे,
- दिल्ली सल्तनत के बाहर विकसित चित्रकला के प्रकार एवं परम्पराओं (मुख्यत: पांडुलिपियों में) को स्पष्ट कर सकेंगे,
- उत्तर एवं दक्षिण भारत की संगीत शैली के विकास को समझ सकेंगे।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

32.1 प्रस्तावना

क्षेत्रीय राज्यों में कला एवं वास्तुकला के विकास के विभिन्न आयाम हैं। जहाँ वास्तुकला का विकास मुख्यत: भारतीय एवं इस्लामिक शैली के तकनीकी विकास के कारण हुआ वहीं चित्रकला, विशेषकर पांडुलिपियों पर चित्रकला, का विकास वृक्ष के पत्तों की जगह कागज के प्रयोग के कारण हुआ। संगीत समन्वयात्मक उपागम को अपनाता है। यह ध्यान देने योग्य है कि प्रकारों की विविधता भौगोलिक सीमाओं तक ही सीमित नहीं है, बल्कि जिस तरह चित्रकला क्षेत्रीयता की सीमा को पार कर चुकी है ठीक उसी प्रकार कला एवं वास्तुकला भी भौगोलिक सीमाओं से परे हैं।

इस इकाई के विभिन्न भागों में वास्तुकला, चित्रकला और संगीत के विकास को पूर्व, पश्चिम एवं मध्य भारत के साथ-साथ दक्खन तथा विजयनगर के क्षेत्रों में देखने का प्रयास किया गया है।

32.2 वास्तुकला

विभिन्न राज्यों में वास्तुकला की क्षेत्रीय शैलियों का विकास दिल्ली सल्तनत से संबंध विच्छेद करने के बाद हुआ। यह शैली दिल्ली की हिन्द-इस्लामिक शैली से न केवल भिन्न थी बल्कि इसकी अपनी मौलिक विशेषताएं थीं। वे क्षेत्र जहाँ शिल्पकला की शक्तिशाली परम्परा प्रचलित थी वहाँ इस्लामी वास्तुकला की क्षेत्रीय शैलियों में अत्यधिक आकर्षक भवनों का निर्माण हुआ। दूसरी ओर जहाँ इतनी शक्तिशाली परम्परा विकसित नहीं थी, वहाँ क्षेत्रीय भवन निर्माण कला अपेक्षाकृत निम्न कोटि की है। कई जगहों पर नये प्रकार की वास्तुकला का विकास हुआ जो स्थानीय तथा साम्राज्यवादी परम्पराओं से भिन्न है।

32.2.1 पूर्वी भारत

यह एक रोचक तथ्य है कि सबसे पहले भारतीय उपमहाद्वीप के पूर्वी भाग में वास्तुकला की क्षेत्रीय शैली का विकास हुआ। इस क्षेत्र में वास्तुकला की दो प्रमुख धाराओं का विकास मुख्यतः बंगाल एवं जौनपुर में हुआ जहां क्षेत्रीय राज्यों का भी उदय हुआ।

अ) **बंगाल :** तुर्कों द्वारा दिल्ली पर कब्ज़ा किये जाने के बाद पाँच वर्षों में ही बंगाल पर भी तुर्की शासन स्थापित हो गया। परन्तु वास्तुकला के क्षेत्र में 14वीं शताब्दी के केवल शुरू में ही भवन निर्माण की एक स्वतंत्र एवं विशिष्ट शैली का विकास हुआ जो लगभग अगले 250 वर्षों तक प्रचलित रही।

वैसे तो बंगाल शैली का विकास इस क्षेत्र के सभी भागों में हुआ किन्तु अधिकांश महत्वपूर्ण भवन माल्दा जिले के इर्द-गिर्द तक ही सीमित रहे। यह क्षेत्र सामरिक दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण है क्योंकि यह भारत की दो प्रमुख नदियों—गंगा और महानंदा—के संगम पर स्थित है। यहाँ दो प्रमुख शहरों के अवशेष भी मिलते हैं। ये शहर—गौड़ एवं पांडुआ है—जो क्षेत्रीय शक्ति की राजनैतिक सत्ता का केन्द्र भी बने। इस क्षेत्र की वस्तुकला संबंधी विशिष्टताओं को समझने के लिए हम प्रमुखतः गौड़ एवं पांडुआ भवनों का अध्ययन करेंगे साथ ही कुछ अन्य क्षेत्रीय भवनों के उदाहरण भी देखेंगे।

बंगाल की भवन निर्माण संबंधी कला को तीन चरणों में बांटा जा सकता है। इनमें से प्रथम दो को प्राथमिक स्तर तथा तीसरे को एक विशिष्ट शैली तक पहुंचाने वाला स्तर कह सकते हैं :

- प्रथम चरण 1200-1340 ई. तक है। इस दौरान गौड़ इसकी राजधानी थी। बाद के वर्षों में इसे पांडुआ स्थानांतरित कर दिया गया।
- द्वितीय चरण 1340 से 1430 ई. तक माना जाता है।
- तीसरे चरण का काल 1442 से 1576 ई. तक माना जा सकता है जबकि मुगलों ने इस पर अधिकार कर लिया। इस काल में राजधानी पुनः गौड़ वापस ले जायी गयी।

प्रथम चरण की भवन निर्माण संबंधी कला के उदाहरण बहुत ही सीमित हैं। जहाँ कहीं भी दो या तीन संरचनाएं बची हुई हैं उनके भवनावशेष भी बुरी अवस्था में हैं। लेकिन इतना तो स्पष्ट है कि इस अवधि में बनाये गये भवन प्रमुखतः प्रचलित हिंदू शैली का परिवर्तित रूप हैं।

MAADHYAM IAS

इसी प्रकार, दूसरे चरण का भी केवल एक उदाहरण मिलता है जो कि पांडुआ स्थित अदीना मस्जिद है। लेकिन आकार में पांडुआ की अदीना मस्जिद (1364) बंगाल में बनाई गई सभी इस्लामी संरचनाओं से भिन्न है। यह वास्तुकला की शैली में दो नई विशेषताओं को शामिल करती है :

- झुकी हुई मेहराब **'drop arch'** जिसकी चौड़ाई इसके मूल से अधिक है, यह केन्द्रस्थ धुरी पर अवलम्बित है, और
- मेहराबों की सहायता से छत को बनाने के तरीके जहां छोटे-छोटे गुम्बद ईंटों के सहारे एक के ऊपर एक बाहर निकालते हुए रखकर बनाये गये। इसमें ईंट को तिरछा कर सजाया गया ताकि चौकोर की जगह वृत्ताकार का आधार तैयार हो सके। (चित्र 1 एवं 2 अदीना मस्जिद को दर्शाते हैं।)

चित्र 1 और 2

तृतीय चरण सबसे अधिक महत्वपूर्ण है जिसमें अर्धस्वदेशी शैली का उदय हुआ। इसमें बंगाल के स्थानीय वातावरण एवं परिस्थितियों की विशेषताओं का भी सामंजस्य किया गया है। इसके परिणाम-स्वरूप बाँस की संरचना का स्थान ईंट की संरचना में बदला गया। समय के अन्तराल के साथ घुमावदार छत की परम्परा ने स्थायी रूप धारण कर लिया। (चित्र 3 को देखें) ज्यादातर इन भवनों में सज्जा की एक स्वदेशी शैली—मिट्टी के खपरैलों का प्रयोग किया गया है।

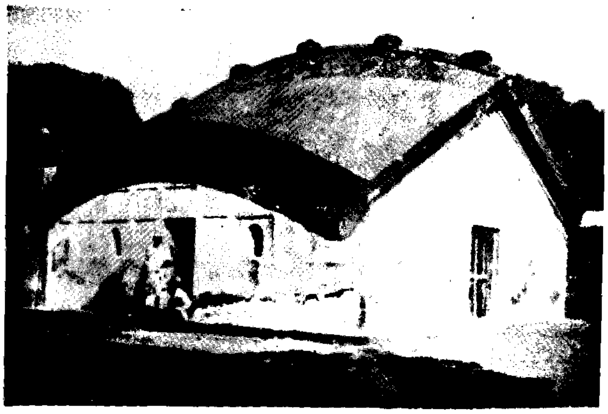

चित्र 3

यह स्पष्ट है कि किसी दूसरी जगह जलवायु, स्थानीय परिस्थितियाँ तथा स्थानीय भवन निर्माण कला ने वास्तुकला को इतना प्रभावित नहीं किया जितना बंगाल में। इसका प्रमुख गुण गतिशीलता में निहित है जिससे अनुकरण एवं समायोजन को बल मिला।

ब) **जौनपुर :** शर्की राज्य की स्थापना फिरोज़ शाह तुगलक के एक अमीर मलिक सरवर द्वारा 1394 ई. में की गई। तैमूर के आक्रमण एवं दिल्ली के पतन के बाद, जौनपुर लेखकों एवं विद्वानों का केन्द्र बन गया। जौनपुर की वास्तुकला में मस्जिद प्रमुख है। शर्की शासन काल में निर्मित सभी महत्वपूर्ण भवन राज्य की राजधानी जौनपुर में स्थित हैं।

MAADHYAM IAS

जौनपुर की शर्की वास्तुकला पर तुगलक शैली का स्पष्ट प्रभाव देखने को मिलता है, गुम्बदाकार संरचना एवं मीनारें, तथा मेहराब एवं स्तम्भ उसकी दो प्रमुख विशेषताएँ हैं। सबसे बड़ी विशेषता मस्जिद के अग्रभाग की रूपरेखा है। प्रमुख द्वार अत्यंत विशाल है जिसके दोनों ओर दीवारें हैं। उसमें प्रमुख द्वार के केन्द्र में विशाल चौड़ी मेहराब है जिसके दोनों ओर अत्यधिक मोटी और मजबूत वर्गाकार शुण्डाकार (tapering) मीनार है जो सरकन (registers) में विभाजित है। (चित्र 4 को देखें) इसका सबसे अच्छा उदाहरण अटाला मस्जिद (1408 ई.) और जामा मस्जिद है । द्वार की सजावट जौनपुर की शैली की महत्वपूर्ण विशेषता है जो किसी अन्य हिन्द-इस्लामी वास्तुकला में देखने को नहीं मिलती।

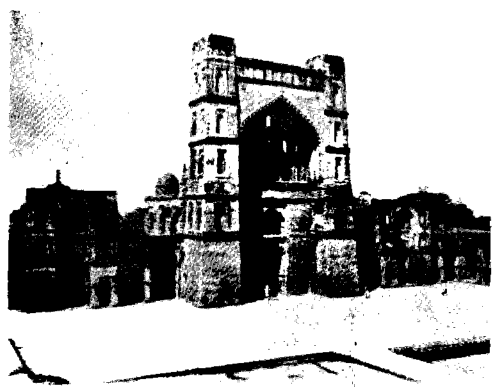

चित्र 4

32.2.2 पश्चिम भारत

14वीं सदी में पश्चिम भारत में जिस क्षेत्रीय वास्तुकला का विकास हुआ वह मुख्यत्तः गुजरात तक ही सीमित थी। यह क्षेत्रीय शैली लगभग दो सौ पचास वर्षों तक पुष्पित एवं पल्लवित होती रही। दिल्ली की खलजी सल्तनत के सूबेदारों ने गुजरात में हिन्द-इस्लामी वास्तुकला की स्थापना में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

गुजरात शैली के तीन चरण थे :

- पहले चरण में, जो 14वीं सदी के पूर्वार्द्ध तक रहा, हिन्दू मन्दिरों को तोड़कर मुस्लिम भवनों में परिवर्तित किया गया।
- द्वितीय चरण 15वीं सदी के उत्तरार्द्ध तक माना जाता है जिसमें वास्तुकला में कुछ परिपक्वता एवं विशिष्ट शैली देखने को मिलती है।
- अन्ततः, 15वीं सदी के उत्तरार्द्ध में गुजरात की विशिष्ट शैली का अभ्युदय हुआ। अपने भव्य रूप में अधिकांश विशिष्ट उदाहरण गुजरात की इसी शैली से संबंधित हैं। स्थानीय विशेषताओं की दृष्टि से गुजरात शैली की वास्तुकला में सबसे अधिक स्थानीय परिवेश का प्रभाव है। कुछ महत्वपूर्ण नमूनों में इमारतों के बड़े भाग हिन्दू अथवा जैन मन्दिरों से लिये गये हैं। गुजरात शैली का सार इस तरह समझा जा सकता है कि अगर आप एक ऐसी भवन निर्माण कला के विषय में सोचें जिसमें एक मस्जिद के बीच में एक मंदिर को मध्य के प्रमुख कक्ष के रूप में स्थापित किया जाये। द्वितीय और तृतीय चरण की लगभग सभी मस्जिदों का निर्माण उपर्युक्त तरीकों से हुआ है (देखें चित्र 5 और 6)।

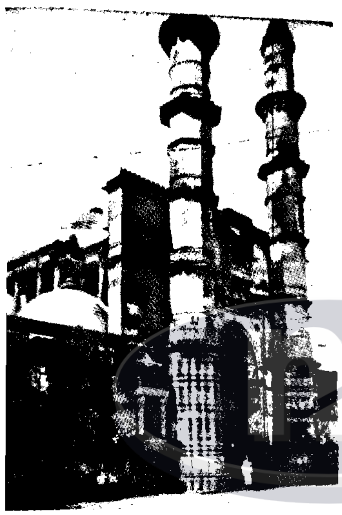

चित्र 5 और 6

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

32.2.3 मध्य भारत

मध्य भारत में जिस हिन्दू-इस्लामी वास्तुकला का विकास हुआ वह मालवा क्षेत्र तक ही सीमित थी जो कि 15वीं सदी तक एक स्वतंत्र राज्य के रूप में स्थापित हो गया था। लेकिन दूसरी अन्य शैलियों की तरह मालवा के मुस्लिम शासकों ने किसी सशक्त दर्शनीय कला की परम्परा को विरासत में प्राप्त नहीं किया। अतः निपुण एवं अनुभवी कलाकारों एवं शिल्पकारों को दिल्ली जैसे दूरस्थ स्थानों से मंगवाना पड़ा जिन्होंने दिल्ली में प्रचलित वास्तुकला की शैलियों को मालवा में स्थापित किया। बाद में मालवा की कुछ मौलिक विशेषताओं तथा सजावट के तरीकों को वास्तुकला में स्थान मिला जिसने मालवा की भवन निर्माण कला को विशिष्टता प्रदान की।

अ) **मालवा-धार और माण्डू :** मालवा के महत्वपूर्ण वास्तुकला के नमूने मुख्यतः धार और माण्डू शहरों में पाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त चन्देरी में भी कुछ भवन हैं। धार और माण्डू के सुल्तान ने वास्तुकला की एक समृद्ध विरासत को छोड़ा है जिसे मस्जिदों, मकबरों और राजमहलों के रूप में देखा जा सकता है।

धार और माण्डू के भवनों में तुगलक वास्तुकला की विशेषता देखी जा सकती है, जिसे शुण्डाकार दीवारों, कांटेदार मेहराब तथा मेहराब और धरनी व स्तम्भों के सम्मिश्रण में देखा जा सकता है। लेकिन मालवा की वास्तुकला की अपनी खासियत भी है। इसकी कुछ विशेषताएँ निम्नवत् हैं :

- मालवा वास्तुकला की सबसे नवीन तकनीक मेहराब की संरचना का सरदल या धरनी व स्तम्भ (lintel) शैली का सम्मिश्रण है (चित्र 7 को देखें)। किसी दूसरी वास्तुकला में मेहराब एवं स्तम्भ को इतने कलात्मक ढंग से नहीं प्रयुक्त किया गया है।

चित्र 7

- मालवा की इमारतों की अन्य महत्वपूर्ण विशेषता धरातल से इमारत के प्रवेश द्वार तक बनी भव्य व; चौड़ी सीढ़ियाँ हैं। अधिकांश इमारतों के एक ऊँचे चबूतरे पर बने होने के कारण इस प्रकार की सीढ़ियाँ इन इमारतों का एक आवश्यक अंग बन गई थीं (देखें चित्र 8)।

AADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

चित्र 8

- मालवा की वास्तुकला की प्रमुख विशेषता संरचनात्मक नहीं बल्कि सजावट की कलात्मकता है। इन भवनों में रंगों की भूमिका महत्वपूर्ण स्थान रखती है। रंगों के प्रयोग दो तरीके से किये गये हैं (i) रंगीन पत्थरों और संगमरमर का प्रयोग और (ii) दूधिया टाइल्स का प्रयोग।

वास्तुकला की अविरल धारा मालवा के शासक महमूद द्वितीय की पराजय के बाद मृत-प्रायः हो गई। महमूद द्वितीय गुजरात के बहादुरशाह से हार गया था। हुमायूँ (1535) ने कुछ समय के लिए मालवा को मुगल राज्य में मिला लिया। बाद में अकबर (1564) ने इस पर कब्जा कर लिया।

32.2.4 दक्खन

बहमनी शासन काल में 14वीं सदी के बाद दक्खन में हिन्दू-इस्लामी वास्तुकला का जो विकास हुआ वह शुरू से ही अपनी विशेषता के लिए विख्यात रहा है। लेकिन अन्य क्षेत्रीय शैलियों की तुलना में इसके विकास की गति थोड़ी भिन्न है। उत्तर भारत के विपरीत दक्खन की वास्तुकला में मुस्लिम काल से पहले की क्षेत्रीय कला एवं परम्पराओं को नहीं अपनाया है।

व्यावहारिक आधार पर दक्खन की वास्तुकला निम्नलिखित का एक सम्मिश्रण है:

अ) दिल्ली की और विशेषकर तुगलक शैली की वास्तुकला जो दिल्ली में प्रचलित थी, और

ब) एक बिल्कुल बाहरी स्रोत से आयोजित शैली जो ईरान से लाई गई थी।

दक्खन की वास्तुकला का विकास, जो सरकार व शासन के केन्द्र के बदलने के साथ-साथ बदलता रहा है, को तीन चरणों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम चरण की शुरुआत 1347 में राजधानी गुलबर्गा में हुई। द्वितीय चरण 1425 में शुरू हुआ जबकि सत्ता का स्थानांतरण बीदर शहर में हो चुका था। अंत में

1512 ई. में राजधानी गोलकुण्डा में पहुँचने के साथ तीसरा चरण प्रारंभ होता है जो 1687—मुगल शासन की विजय के वर्ष तक चलता है।

क) **गुलबर्गा :** 1347 ई. में अलाउद्दीन बहमन के नेतृत्व में गुलबर्गा एक स्वतंत्र राज्य बना। इसी के साथ दक्खन में वास्तुकला का विकास हुआ। शुरू की वास्तुकला में दक्खन-इस्लामी वास्तुकला की किसी विशेषता को ढूँढ पाना मुश्किल है। अधिकांश वास्तुकला की संरचना उत्तर भारत की तुगलक संरचना का अनुकरण है। गुलबर्गा किले के अंदर जो जामा मस्जिद (1367) है वह भिन्न एवं विशिष्ट है। इसका डिजाइन 14वीं सदी के महान् शिल्पकार रफी ने तैयार किया। वह उत्तरी ईरान में कज़्वीन का रहने वाला था और गुलबर्गा के बहमनी शासक के यहां कार्यरत था। इसकी मुख्य विशेषता मस्जिद के बीच के खुले स्थान के सिद्धांत को बदलना था। इस प्रकार गुलबर्गा की जामा मस्जिद के बीच का खुला स्थान छोटे गुम्बदों से भरा पड़ा है जो मेहराब पर अवलम्बित हैं और पास-पास बने हैं। (चित्र 9 एवं 10 को देखें)। लेकिन इस डिजाइन की पुनरावृत्ति नहीं हुई है। संभवतः लीक से हटकर बनायी गयी मस्जिद का यह प्रारूप रूढ़िवादियों को पसंद नहीं आया।

चित्र 9 और 10

ख) **बीदर :** बहमनी राज्य की राजधानी को बीदर में बदलने का श्रेय 1425 ई. में अहमद शाह (1422-36) को जाता है। जल्दी ही नई राजधानी में भवनों के निर्माण में बाढ़ सी आ गयी। शहर में बड़े-बड़े हॉल युक्त महल, हम्माम तथा मदरसों के साथ-साथ मकबरों का भी निर्माण हुआ। राजधानी के इस परिवर्तन से वास्तुकला पर दिल्ली का प्रभाव नगण्य हो गया। यहां के भवनों पर ईरानी प्रभाव देखने को मिलता है। लेकिन ईरानी शैली को भी स्थानीय परिस्थितियों के अनुकूल बदला गया। लेकिन हिन्द-इस्लामी परम्परा का पूर्ण परित्याग नहीं किया गया। बीदर शैली की कुछ महत्वपूर्ण विशेषताएँ इस प्रकार हैं :

- चूँकि ईरानी वास्तुकला में रंगों का महत्वपूर्ण स्थान है, अतः बीदर के भवनों में बहुरंगी टाइल्स और भित्ति चित्र देखने को मिलते हैं। इमारतों की बाहरी सतह पर लगाये गये रंगीन चमकीले टाइल्स ईरान से समुद्र मार्ग द्वारा लाये गये थे।
- बीदर के भवनों में गुम्बद के आकार में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। ये निचले भाग में कुछ संकीर्ण हैं जो मुगल परम्परा के प्रसिद्ध बल्बाकार गुम्बद के पहले का चरण माने जा सकते हैं। इन गुम्बदों के बेलन (drums) लम्बे हैं ताकि उन्हें स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है।

MAADHYAM IAS

16वीं सदी के शुरू में बहमनी सल्तनत का पतन हुआ, जिसके साथ-साथ दक्खन शैली के प्रथम चरण का भी अन्त हो गया। लेकिन आदिल शाह के नेतृत्व में बीजापुर ने इस परम्परा के क्रम को जारी रखा। लेकिन इस शैली का विकास मुगल काल की वास्तुकला के साथ हुआ अतः इसका अध्ययन पृथक् पाठ्यक्रम में किया जायेगा।

32:2.5 विजयनगर

विजयनगर का इतिहास बिल्कुल भिन्न है। इसका जन्म दक्खन और दक्षिण में दिल्ली सल्तनत के आक्रमण के फलस्वरूप हुआ। विजयनगर के प्रसिद्ध नगर जो इस साम्राज्य की राजधानी थी की स्थापना 1336 ई. में हुई। यह तुंगभद्रा के किनारे स्थित है।

विजयनगर जो नष्टप्राय हो चुका है, एक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक एवं वास्तुकला का क्षेत्र है क्योंकि यह आधुनिक काल से पूर्व का एक मात्र हिन्दू शहर है जिसके अवशेष धरातल से ऊपर मिलते हैं। विजयनगर शैली की वास्तुकला का विकास पूरे दक्षिण भारत में हुआ लेकिन इसके सर्वश्रेष्ठ एवं विशिष्ट उदाहरण विजयनगर के अवशेषों में ही देखने को मिलते हैं। यहां के भवनों में ग्रेनाइट एवं क्लोराईट के गहरे हरे रंग के पत्थरों का विस्तृत उपयोग किया गया है। यहां के मन्दिरों में इसके प्रमाण देखने को मिल सकते हैं।

विजयनगर शहर का विस्तार अपने उत्कर्ष के काल में 26 वर्ग किलोमीटर तक फैला हुआ था। इसकी चारदीवारी पत्थरों से बनी है। राजमहल और मंदिरों के अतिरिक्त विस्तृत जलाशय, धार्मिक इमारतों के अतिरिक्त अन्य भवनों का निर्माण हुआ जैसे हाथी के अस्तबल, कमल महल आदि प्रमुख हैं। विजयनगर शैली के कुछ मौलिक तत्व इस प्रकार हैं:

- भवन निर्माण तथा सजावट दोनों में स्तम्भों का प्रयोग बहुत अधिक देखने को मिलता है।
- स्तम्भों की रचना के लिए विभिन्न तरीके प्रयोग किये गये हैं परन्तु सबसे महत्वपूर्ण और आम पद्धति में स्तम्भ के दण्ड महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। इस दण्ड के शीर्ष पर एक प्रकार के अलौकिक पशु की मूर्ति बनी है जो घोड़े या हिप्पोग्रीफ से मिलता-जुलता है (चित्र 11 को देखें)।

चित्र 11

- छजली पर विशाल उल्टी घुमावदार ओरी (eaves) इसकी एक अन्य प्रमुख विशेषता है। यह विशेषता दक्खन से ली गयी है तथा इससे मण्डप भव्य रूप में दिखता है (चित्र .12 को देखें)।

MADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

चित्र 12

- जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, विजयनगर वास्तुकला में स्तम्भों का विशिष्ट स्थान है लगभग इन सभी के शीर्षों पर सजावटी कोष्ठक हैं। सामान्यतः ये कोष्ठक लम्बमान हैं जिसे स्थानीय भाषा में **बोदिगई** कहते हैं। विजयनगर शैली में यह लम्बमान घूमे हुए हैं जिसका अन्त उल्टे कमल में होता है। इस लम्बमान की उपस्थिति के आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि शैली विजयनगर की है अथवा नहीं (चित्र 13 देखें)।

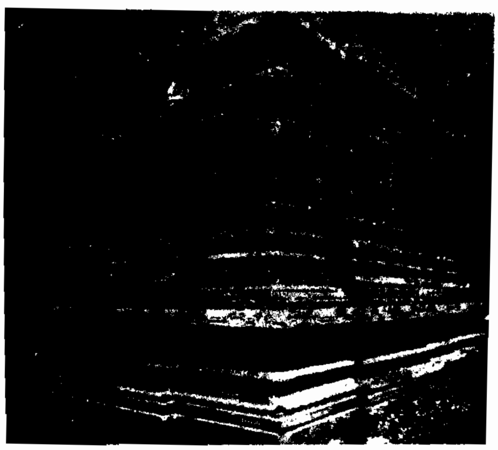

चित्र 13

विजयनगर साम्राज्य की गौरवमयी परम्परा का अन्त 1565 में तालीकोटा के युद्ध में हो गया। इस युद्ध में दक्खन के सुल्तानों की संयुक्त सेना ने विजयनगर के शासक रामराज को पराजित कर दिया।

बोध प्रश्न 1

1) दिल्ली सल्तनत के पतन के बाद वास्तुकला की किन प्रमुख शैलियों का विकास हुआ?

2) किसी क्षेत्र में क्षेत्रीय शैली की वास्तुकला के विकास तथा क्षेत्रीय राजगीरी की परम्परा के बीच क्या संबंध हैं?

3) किस क्षेत्र के भवनों पर विदेशी प्रभाव स्पष्ट रूप से देखने को मिलता है और वे प्रभाव कौन से हैं?

MAADHYAM IAS

32.3 चित्रकला

दिल्ली सल्तनत में चित्रकला के ह्रास के बावजूद भारतीय चित्रकला की पुरानी परम्परा मध्य काल में क्षेत्रीय राज्यों में फली-फूली। क्षेत्रीय राज्यों में सुंदर चित्रों के रूप में इसके प्रमाण काफी संख्या में उपलब्ध हैं। चित्रकला की यह परम्परा क्षेत्रीय वर्गीकरण से परे है इसको विभिन्न शैलियों के विकास की दृष्टि से समझा जा सकता है। शैलियों के विकास की दृष्टि से इसे विभिन्न उपभागों में बांटकर इसका निम्न प्रकार से अध्ययन किया गया है।

32.3.1 पश्चिम भारतीय शैली

क) **जैन चित्रकला :** उपलब्ध पांडुलिपियों से यह पता चलता है कि पश्चिम भारतीय शैली का उद्‌भव और विकास 12वीं सदी के प्रारंभ में हुआ। ये गुजरात एवं राजस्थान के जैन भण्डारों (ग्रन्थालयों) में पायी जाती हैं। लेकिन ध्यान देने योग्य बात तो यह है कि ये सभी पांडुलिपियाँ न तो जैनियों की हैं और न ही धार्मिक प्रवृत्ति की हैं और न ही इन्हें अलग क्षेत्रीय श्रेणी में रखा जा सकता है। इसे पश्चिम भारतीय शैली इसलिए कहा जाता है क्योंकि ये अधिकांशतया गुजरात, राजस्थान तथा मालवा से प्राप्त हुई हैं। जैन भी केवल पश्चिम भारत तक सीमित नहीं थे। हमें कुछ अत्यंत महत्वपूर्ण चित्रित पांडुलिपियाँ जौनपुर और ईदर जैसे दूरस्थ स्थानों से भी मिलती हैं।

पश्चिम भारत की शैली की प्रारंभिक जानकारी ताड़ के पत्तों पर उपलब्ध पांडुलिपियों से मिलती है। ये **पोथी** के रूप में उपलब्ध हैं जिसमें दो या तीन पंक्तियों में लिखी सामग्री मिलती है जो कि [illegible] लम्बाई एवं चौड़ाई पर निर्भर करती थी। 13वीं सदी में ताड़ के पत्तों को छोड़कर कागज का उपयोग किया गया। इससे हाशियों पर चित्र बनाने के लिए काफी स्थान मिल जाता था। प्रारंभ में कागज पर लिखी गई

पांडुलिपियों के आकार भी ताड़ के पत्तों के आकार के समान थे धीरें-धीरे पृष्ठ की लम्बाई बढ़ाई गई। किन्तु **पोथी** के रूप को बदलने का कोई प्रयास नहीं किया गया।

14वीं सदीं के अन्त तक पश्चिम भारतीय शैली का पूर्ण विकास हो गया। 14वीं सदी के मध्य में कागज की पांडुलिपि का लगातार प्रयोग किया गया लेकिन ताड़ के पत्ते को भी पूरे रूप में नहीं छोड़ा गया। इस शैली के कुछ प्रमुख लक्षण इस प्रकार हैं:

- चित्रकला का विकास पांडुलिपियों पर हुआ है जो एक ही सतह पर बनी है और कभी-कभी एक सुस्पष्ट लेकिन ज्यादातर टूटी हुई लकीर से बनाई गई हैं। चित्रों की पृष्ठभूमि अधिकांशतः लाल या नीली है।
- कागज की सतह की सजावट जवाहरात की तरह चमकीली की गई है जिसमें मूल्यवान रंगों का प्रयोग किया गया जैसे सोना, चांदी, लाजवर्दी, किरमिजी इत्यादि।
- वास्तुकला के केवल अत्यावश्यक तत्वों का प्रयोग किया गया है जिसमें छोटी धार्मिक आकृतियों, जानवर तथा घरेलू फर्नीचर आदि को ज्यामितीय स्वरूप में छोटे खानों में सजाया-संवारा गया है।
- बड़ी आंखें, उभरा हुआ धड़, बैठी हुई स्थिति में पैरों की कष्टकारक अवस्था इत्यादि इस चित्रकला की विशेषता है। देखने में पुरुष एवं औरत में भेद करना कठिन है। (चित्र 14 को देखें)

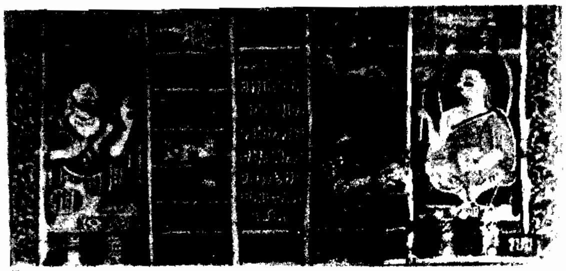

चित्र 14

पांडुलिपियों का ध्यान से अध्ययन करने के बाद पता चलता है कि यह पाटन तथा अहमदाबाद के जैन केन्द्रों पर बड़ी मात्रा में तैयार की गई हैं और केवल ऊपरी तौर पर समृद्ध दिखाई देती हैं। पेशेवर चित्रकारों द्वारा अपने विशिष्ट संरक्षकों के लिए बनाई गई पांडुलिपियाँ संख्या में बहुत कम पर बहुत सुंदर हैं। (चित्र 15)

चित्र 15

इनमें से कुछ ही पांडुलिपियों से कलाकारों के विषय में जानकारी मिलती है। अधिकांशतया पांडुलिपियों पर लिखने वाले व चित्र बनाने वाले व्यक्ति भिन्न हैं। लिखने वालों ने कई स्थानों पर चित्र बनाने वालों के लिए खाली स्थान छोड़े हैं और निर्देश लिखे हैं कि इन खाली स्थानों में क्या चित्र बनाने हैं।

ख) **हिन्दू चित्रकला:** हिन्दू चित्रकला में जैन परम्परा की महत्वपूर्ण विशेषताएँ शामिल हैं जैसे बाहर निकली हुई या उभरी हुई आँखें, शरीर के विकृत रूप, सपाट रंगों का प्रयोग आदि जो 15वीं सदी की हिन्दू पांडुलिपियों तथा बौद्ध पांडुलिपियों के दो उदाहरणों में भी देखने को मिलता है। अतः इनके लिए एक संकीर्ण नामकरण अनुचित है। विकल्प के अभाव में हम इस गलत नाम का ही प्रयोग यह सोचकर कर रहे हैं कि जैन चित्रों के बनाने वाले भी हिन्दू ही थे। उत्तर भारत में मुस्लिम शासन के प्रारंभिक काल से ताड़ के पत्तों पर किसी हिन्दू पांडुलिपि का उद्धरण नहीं मिलता, लेकिन नेपाल में इस प्रकार की पांडुलिपियों का मिलना इस बात की ओर इंगित करता है कि भारत में भी ऐसी पांडुलिपियाँ तैयार की गई होंगी।

32.3.2 चौरपंचशिका शैली

रपंचशिका वह पांडुलिपि है जो कश्मीरी कवि बिल्हण की कृति है। यह एक राजकुमारी के प्रेमी द्वारा उसे मय लिखी गई जब वह राजकुमारी से प्रेम के अपराध में मृत्यु दंड की प्रतिक्षा कर रहा था। **शिका** की चित्रकला केवल कहीं-कहीं ही मूल विषय से संबंधित है।

चौरपंचशिका की उत्पत्ति के संदर्भ में संदिग्धता बनी हुई है लेकिन यह माना जाता है कि 15वीं एवं 16वीं शताब्दी में किस्सागोई एवं सजावट के रूप में इस चित्रकला का विकास हुआ। चित्रकला की ये पांडुलिपियाँ जैन परंपरा की तरह नहीं हैं किन्तु इनकी उत्पत्ति के विषय में विवाद है। ऐसा प्रतीत होता है कि **चौरपंचशिका** पांडुलिपियों का विकास मानव सिर के परिवर्तित रूप में चित्रण एवं आंखों के उभरेपन में कमी वाले चित्रों के बनने के बाद हुआ है।

चौरपंचशिका शैली की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं:

- सभी चित्र आयताकार हैं जिसकी दूसरी ओर लिखाई की गई है। ये वस्तुतः पश्चिम भारतीय **पोथी** पद्धति की ही विरासत है।
- पश्चिम भारतीय शैली की उभरी हुई आंखों की जगह एक विशिष्ट कोण से बना चेहरा तथा एक बड़ी आंख उसका स्थान ले लेती है। (चित्र 16 में देखें)

चित्र 16

- चित्र एक ही सतह पर हैं जिनमें चमकीले प्राथमिक रंगों की पृष्ठभूमि का प्रयोग किया गया है।

चौरपंचशिका शैली में सुंदरता का अपना स्थान है जिसमें कलाकारों की ललित कल्पनाशक्ति तथा नाटकीय ढंग से रंगों का प्रयोग अत्यंत मनमोहक है। कई बार व्यक्तियों को किसी क्रिया में चित्रित किया गया है। (चित्र 17 में दिखाया गया है।) भारतीय चित्रकला में यह एक दुर्लभ उपलब्धि है। इनकी विशिष्टता की तुलना भारतीय चित्रकला में केवल कुछ ही से की जा सकती है।

MAADHYAM IAS

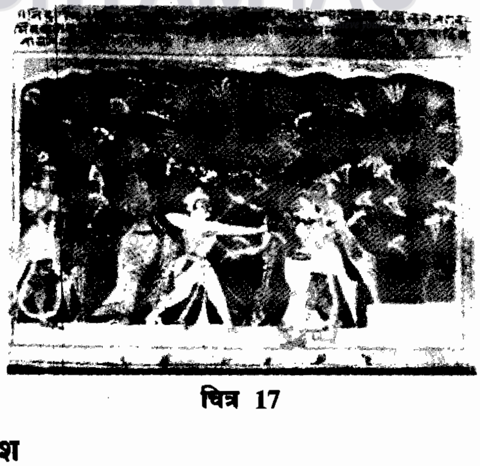

चित्र 17

32.3.3 प्रांतीय राजवंश

क) **सुलेखन**

i) **जौनपुर:** जौनपुर में सुलेख का विकास 15वीं सदी के उत्तरार्द्ध तथा 16वीं सदी की शुरुआत में हुआ। इस शैली की **कुरान** की पांडुलिपियों में निम्नलिखित विशेषताएं परिलक्षित होती हैं:

- बिहारी लिपि,
- जवाहरात के रंग जो मूल विषय के लेखन के हांसियों में प्रयोग हुए हैं,
- इसके डिजाइनों में **अरबेस्क** में बेलें और चाप स्कंध देखने को मिलता है।

ii) **अहमदाबाद शैली:** अहमदाबाद शैली का विकास महमूद बेगड़ा के समय हुआ। यह गुजरात में करीब 50 वर्षों तक प्रचलित रही (लगभग 1425-75 ई.)। इस शैली में **कुरान** की लिखावट के लिए जिस लिपि का प्रयोग किया, वह **सुलूद (Suluth)** के नाम से जानी जाती है। यह लिपि मध्य पूर्व के क्षेत्र में अध्यायों

के शीर्षक और अभिलेखों के लिए प्रयोग की जाती थी। यह टेढ़ी-मेढ़ी तथा स्थायी लिपि है। जब 15वीं सदी में भारत में इसका अनुकरण हुआ यह लम्बी सीधी तरफ उसके बाद लम्बान झुकी हुई तथा आगे को खिंची हुई तथा अर्द्धचंद्राकर गोलों के रूप में लिखी जाने लगी।

ख) **पांडुलिपि का चित्रांकन:** पांडुलिपियों में चित्रों द्वारा सजावट की कला का विकास 13वीं-15वीं शताब्दी के बीच ईरान में राजकीय संरक्षण में हुआ।

इस प्रकार के ईरानी प्रभाव की सबसे महत्वपूर्ण पांडुलिपियों का काल 1420-50 तक माना जाता है। इनकी उत्पत्ति का स्थान बंगाल है न कि दिल्ली। 1500 ई. के लगभग यह और अधिक स्पष्ट हो जाता है। मांडू की कुछ पांडुलिपियों, जिनकी अवधि 1490-1510 ई. है, पर ईरानी शैली का स्पष्ट प्रभाव देखने को मिलता है (चित्र 18 अ, ब, स को देखें)। मालवा के खलजी सुल्तान संभवतः ईरान से कलाकारों और पांडुलिपियों को मंगवाया करते थे तथा इस शैली का अनुकरण किया जाता था।

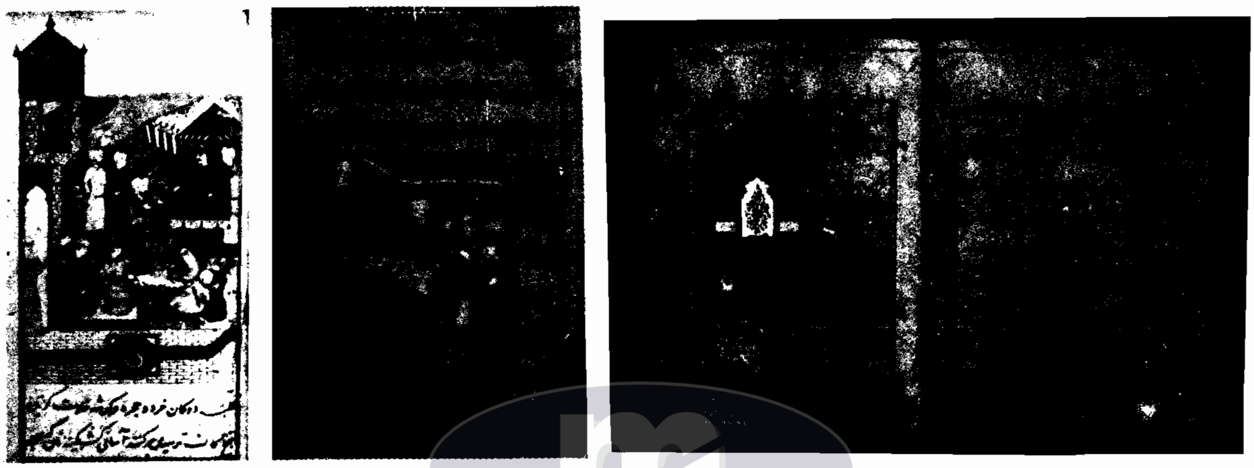

चित्र 18 अ, ब, स

इस शैली की मुख्य विशेषतायें निम्नलिखित हैं :
- पृष्ठ पर क्षैतिज आकार या वर्गाकार चित्र,
- विषय-वस्तु के कॉलम पृष्ठ के नीचे की ओर हैं
- चित्रकला की यह परम्परा चित्रकार के लिए व्यापक क्षेत्र प्रदान करती है तथा चित्रों के बीच खाली स्थान एक सामंजस्य स्थापित करते हैं।

MAADHYAM IAS 'way to achieve your dream'

32.3.4 दक्खनी चित्रकला

दक्खन में अहमदनगर, बीजापुर तथा गोलकुण्डा में 15वीं सदी के अंत में तथा 16वीं सदी के शुरू में एक विशिष्ट शैली का विकास हुआ। यह वास्तव में मुगल चित्रकला से पहले की शैली है और कहा जाता है कि प्रारंभ में इसने मुगल चित्रकला को प्रोत्साहित किया। पीले, गुलाबी, हरे, भूरे, बैंगनी तथा नीले रंगों के कलात्मक सामंजस्य का प्रयोग तथा दक्खनी वस्त्रों आदि की उपस्थिति इस शैली की उपस्थिति के द्योतक हैं।

दक्खन की चित्रकला ईरानी परम्परा सहित कई स्रोतों पर आधारित है :
- इस शैली में सामान्यतः चेहरों का तीन चौथाई भाग रंगा जाता है।
- नीचे के भाग टहनियों या फूलों की पंखुड़ियों से सजाये जाते हैं।
- एक अन्य विशेषता भवनों को सपाट, पर्देनुमा पट्टिकाओं के रूप में बनाना है (चित्र सं. 19 अ, ब को देखें)।

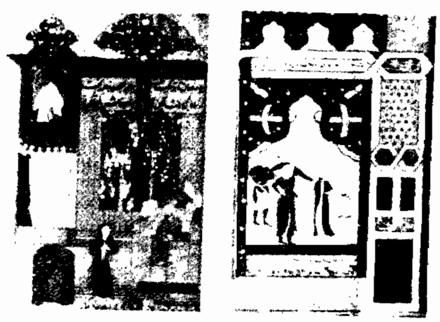

चित्र 19 अ, ब

- अन्य विशिष्ट ईरानी प्रभाव स्वर्णिम आकाश का होना है।
- कुछ चित्रों पर चीनी प्रभाव भी देखने को मिलते हैं जिनमें गुलाबी तथा हरे फूलों के पौधे, कमल तथा गुलदाउदी इत्यादि हैं।

बोध प्रश्न 2

1) पश्चिम भारतीय शैली के चित्रों के संग्रह कहां प्राप्त होते हैं?

....

....

....

....

2) पश्चिम भारतीय शैली तथा **चौरपंचशिका** शैली में प्रमुख अंतर क्या है?

....

....

....

....

3) **चौरपंचशिका** शैली के चित्रों के दो महत्वपूर्ण विदेशी तत्व बतायें।

....

....

....

....

4) प्रांतीय राजवंशों में पांडुलिपियों को चित्रित करने की तीन प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख करें।

MAADHYAM IAS

....

....

....

....

5) दक्खन से प्राप्त चित्रों के आधार पर इस शैली के इस्लामी परम्परा से पहले से मौजूद होने के विषय में तर्क दीजिए।

....

....

....

....

32.4 संगीत

मध्यकालीन भारत की ललित कलाओं में सबसे कम ऐतिहासिक स्रोत संगीत के विषय में है। दिल्ली सल्तनत के काल में संगीत की जो कुछ भी जानकारी मिलती है वह अमीर खुसरो के लेखन से मिलती है। प्रांतीय राजवंशों की स्थिति भी लगभग यही है। महत्वपूर्ण ऐतिहासिक जानकारी बहुत कम है तथा कई बार तो इतिहास तथा किंवदंतियों में अंतर करना कठिन हो जाता है। जो कुछ भी जानकारी उपलब्ध है उससे कुछ तथ्य प्रस्तुत किये जा सकते हैं। इस क्षेत्र में सबसे पुराना ग्रंथ **''संगीत रत्नाकार''** के नाम से जाना जाता है। यह मूल पुस्तक अभी भी उपलब्ध है। इसकी रचना 1210-47 के बीच देवगिरि के यादव शासक के राजदरबार में शारंगदेव द्वारा की गयी। **संगीत रत्नाकार** संगीत की विभिन्न विधाओं के साथ-साथ नृत्य के

विभिन्न रूपों की भी व्याख्या करता है। यह 264 रागों का उल्लेख करते हुए उन्हें प्रमुख या छोटी श्रेणियों में वर्गीकृत करता है। हालांकि वर्गीकरण के प्रमुख आधार अस्पष्ट हैं। सबसे बड़ी विशेषता संगीत के विभिन्न तत्वों का सुव्यवस्थित वर्णन है।

संगीत रत्नाकार पर विजयनगर के मल्लिकार्जुन (1446-65) के दरबारी कालीनाथ की टीका भी संस्कृत में उपलब्ध है। इस तरह की दो और टीकाएं—केशव और सिंहभूपाल के द्वारा—उपलब्ध हैं लेकिन इसकी जानकारी नहीं है कि कब और कहां इनकी रचना हुई।

15वीं सदी में गुजरात से दो अन्य रचनाएं मिलीं। पहली का नाम **संगीत सुधाकर** है जिसे सौराष्ट्र के शासक हरिपाल देव को समर्पित किया गया है। सर्वप्रथम इसी समय संगीत विधा का विभाजन हिन्दुस्तानी तथा कर्नाटक शैली में हुआ। दूसरा मूल ग्रंथ **घुनयात-उल-मुन्या** के नाम से जाना जाता है। इसका शाब्दिक अर्थ ''इच्छा का आनंद'' है।

किन्तु इसकी पांडुलिपि अपूर्ण है। अतः लेखक का नाम भी जानना असंभव है। लेकिन इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि इसकी रचना मल्लिक शमसुद्दीन अबू राजा के संकेत व निर्देश पर की गई जो फिरोज़ तुगलक के काल में गुजरात का राज्यपाल था। **घुनयात** जैसा कि इसका लेखक कहता है शासक वर्ग की संगीत अभिरुचि को प्रदर्शित करने तथा शासक वर्ग **(मुंओंतबीरान)** तथा विशेषज्ञों **(नारिफ)** की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए लिखी गई (फारसी की **घुनयात-उल-मुन्या** के सम्पादक शहाब सरमदी हैं जिसका प्रकाशन 1978 ई. में नई दिल्ली से हुआ)।

यह मूल ग्रंथ कई दृष्टिकोणों से महत्वपूर्ण है। यह सबसे पुराना फारसी का ग्रंथ है जिसमें संस्कृत के दुर्लभ उद्धरण भी मिलते हैं। इसके अतिरिक्त **घुनयात** में संस्कृत के कुछ ऐसे ग्रंथों के उद्धरण भी मिलते हैं जो ग्रंथ अब अप्राप्य हैं।

15वीं सदी के मूल ग्रंथों में **रागतरंगिनी** का महत्वपूर्ण स्थान है। इसे लोचन कवि को समर्पित किया गया है। इसमें जयदेव **(गीत गोविन्द)** तथा विद्यापति के उद्धरण मिलते हैं। **रागतरंगिनी** की विशेषता रागों के नये प्रकार की **थाट** पद्धति में निहित है। संगीत के सभी आधुनिक प्रचलित रूपों का व्यावहारिक उपयोग इसमें देखने को मिलता है।

15वीं सदी के उत्तरार्द्ध में जौनपुर के शर्की शासकों ने संगीत को एक नई स्फूर्ति प्रदान की। महान् पारखी तथा निपुण सुल्तान हुसैन शर्की (1458-99) ने स्वर संगीत को बढ़ावा देते हुए **ख्याल** को **कलावंती ख्याल** के रूप में प्रस्तुत किया उसने कुछ नए राग जैसे **राग-जौनपुरी तोड़ी, सिन्धु भैरवी, सिन्धुरा** तथा **रसूली तोड़ी** आदि का भी अविष्कार किया।

MAADHYAM IAS
way to achieve your dream

जैसा कि यह कहा जा चुका है, प्रख्यात शासकों के अधीन विजयनगर संगीत के केन्द्र के रूप में स्थापित हुआ। सबसे प्रसिद्ध दक्षिण भारतीय संगीत शैली का ग्रंथ रमामात्य द्वारा लिखित **स्वरमेल कलानिधि** है। यह अपनी मौलिकता के लिए प्रसिद्ध है और आज भी संगीत प्रेमियों द्वारा प्रयोग किया जाता है।

जैसा कि उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है 13वीं से 15वीं सदी तक संगीत का विकास निरंतर होता रहा, किन्तु सभी क्षेत्रीय विधाओं को समन्वित करने का प्रयास नहीं किया गया। मुगलों के आने के बाद संगीत की कला और विकसित हुई और विकास के चरमोत्कर्ष तक पहुंची।

बोध प्रश्न 3

1) कर्नाटक शैली संगीत की एक विशिष्ट शाखा के रूप में सबसे पहले कैसे स्थापित हुई।

....

....

....

....

....

....

2) **राग सिन्दूरा** और **सिन्धु भैरवी** की खोज किसने की?

....

....

3) समकालीन संगीत के लिए **घुनयात-उल-मुन्या** को संगीत प्रेमियों द्वारा एक मूल ग्रंथ क्यों माना जाता है?

....

....

....

....

32.5 सारांश

मध्यकालीन क्षेत्रीय वास्तुकला के संदर्भ में एक महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि सबसे महत्वपूर्ण इमारतें उस क्षेत्र में मिलती हैं जहाँ वास्तुकला की परम्परा मौजूद थी तथा पहले से काफी इमारतें बन रही थीं। वैसे तो वास्तुकला हिन्द-इस्लामी शैली के तहत विकसित हुई लेकिन उनमें से बहुत कम ही ने दिल्ली की इमारतों के स्वरूप का अनुकरण किया। अक्सर उनमें मौलिक गुण पाये जाते थे जिनकी संरचना में सुन्दरता का अपना स्थान था। क्षेत्रीय शैली को निर्धारित करने वाले प्रमुख कारक निम्नलिखित हैं:

- वे प्रांत जो दिल्ली से अधिक संबंधित थे वहाँ की वास्तुकला पर दिल्ली सल्तनत के प्रभाव को भी अधिक स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। जहाँ यह संबंध कम था वहाँ यह प्रभाव भी कम है।
- दिल्ली सल्तनत के विपरीत क्षेत्रीय स्तर पर चित्रकला पीछे नहीं रही दोनों लगभग साथ-साथ विकसित हुए।
- भवन निर्माण के लिए उपयोग में लाई जाने वाली वस्तुओं ने विभिन्न क्षेत्रों की इमारतों में तकनीकी भिन्नता को भी जन्म दिया।
- क्षेत्रीय वातावरण के कारण भी विभिन्न क्षेत्रों में विशिष्टता का विकास हुआ।
- दक्खन की वास्तुकला पर ईरान का प्रभाव भी देखने को मिलता है। लेकिन दूसरे क्षेत्रों में वास्तुकला ने अपने-अपने तरीकों का प्रयोग किया।
- दिल्ली सल्तनत के विपरीत क्षेत्रीय राज्यों में चित्रकला का समुचित विकास हुआ। यहाँ चित्रकला और वास्तुकला दोनों समान रूप से विकसित हुईं। चित्रकला के क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण उपलब्धि पश्चिम भारत में कागज पर लिखी जाने वाली पांडुलिपी थी जिससे पांडुलिपि का चित्रांकन सहज हो गया। इसके अतिरिक्त, हमें इस काल में क्षेत्रीय राज्यों में सुलेखन की कला का विकास—**कुरान** तथा पांडुलिपि चित्रण के रूप में देखने को मिलता है।
- जैन परम्परा में पुस्तक लिखने की कला तथा पुस्तकालयों ने चित्रकला के क्षेत्र में एक नया आयाम दिया जिससे एक विशिष्ट चित्रकला का विकास हुआ जिसे पश्चिमी शैली कहते हैं।
- **चौरपंचशिका** के रूप में एक अन्य नई शैली विकसित हुई जिसे किसी क्षेत्र विशेष में सीमित नहीं किया जा सकता।
- संगीत के क्षेत्र में दो महत्वपूर्ण योगदान हैं—उत्तर भारत में शारंग देव की रचना तथा दक्षिण भारत में रमामात्य की रचना। इसके अलावा संगीत की समृद्धि में जौनपुर के शर्की शासकों का भी महत्वपूर्ण योगदान है।

अतः कला एवं वास्तुकला के हमारे अध्ययन क्षेत्र में निम्न बिन्दु अधिक महत्वपूर्ण हैं:

- संरचनात्मक भिन्नता तथा क्षेत्रीय शैली का विकास,
- पांडुलिपियों की सजावट के नये रूप, और
- उत्तरी एवं दक्षिणी शैली का विकास।

MAADHYAM IAS

32.6 शब्दावली

इस इकाई के प्रमुख शब्द भी वही हैं जो इकाई 31 में दिए गए हैं।

32.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) देखें उपभाग 32.2.1, 32.2.2, 32.2.3, 32.2.4, 32.2.5।
2) जहां किसी क्षेत्र में राजगीरी की सशक्त परम्परा थी, उस क्षेत्र में हिन्द-इस्लामी वास्तुकला का विकास आसानी से हुआ।
3) देखें उपभाग 32.2.4।

बोध प्रश्न 2

1) प्रमुखतः गुजरात एवं राजस्थान के जैन भण्डारों में।
2) देखें उपभाग 32.3.2।
3) सतह पर बनी टहनियाँ तथा कमल और गुलदाउदी के फूल।
4) देखें उपभाग 32.3.3।
5) देखें उपभाग 32.3.4।

बोध प्रश्न 3

1) **संगीत सुधाकर** में।
2) सुल्तान हुसैन शर्की।
3) देखें भाग 32.4 ।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

इकाई 33 भाषा और साहित्य

इकाई की रूपरेखा

33.0 उद्देश्य
33.1 प्रस्तावना
33.2 संस्कृत साहित्य
33.3 अरबी साहित्य
33.4 फ़ारसी साहित्य
- 33.4.1 प्रारंभिक काल
- 33.4.2 अमीर खुसरो का योगदान
- 33.4.3 अन्य फ़ारसी कवि
- 33.4.4 फ़ारसी में ऐतिहासिक लेखन
- 33.4.5 फ़ारसी में सूफ़ी साहित्य
- 33.4.6 संस्कृत कृतियों का फ़ारसी अनुवाद

33.5 क्षेत्रीय भाषाओं में साहित्य
33.6 क्षेत्रीय भाषाओं के विकास की सामाजिक पृष्ठभूमि
33.7 उत्तर भारत की क्षेत्रीय भाषाओं में साहित्य
- 33.7.1 हिंदी साहित्य का विकास
- 33.7.2 उर्दू भाषा की उत्पत्ति और विकास
- 33.7.3 पंजाबी साहित्य
- 33.7.4 बंगाली साहित्य
- 33.7.5 असमी साहित्य
- 33.7.6 उड़िया साहित्य
- 33.7.7 मराठी साहित्य
- 33.7.8 गुजराती साहित्य

33.8 दक्षिण भारतीय भाषाओं में साहित्य
- 33.8.1 तमिल साहित्य
- 33.8.2 तेलुगु साहित्य
- 33.8.3 कन्नड़ साहित्य
- 33.8.4 मलयालम साहित्य

33.9 सारांश
33.10 शब्दावली
33.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

33.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप निम्नलिखित शीर्षकों के बारे में जानकारी प्राप्त कर पाएंगे:

- इस काल में रचित संस्कृत रचनाओं के स्तर में गिरावट के लक्षणों के बारे में,
- भारत में फ़ारसी भाषा और साहित्य के प्रचलन और विकास के बारे में,
- उर्दू भाषा की उत्पत्ति एवं विकास के बारे में,
- प्रादेशिक भाषाओं और साहित्य के विकास के लिए उत्तरदायी परिस्थितियों के बारे में, और
- इस युग में स्थापित सांस्कृतिक और साहित्यिक संश्लेषण के स्वरूप के बारे में।

33.1 प्रस्तावना

सल्तनत युग, साहित्य के समृद्ध रूप से फलने-फूलने का युग रहा है। यह वह युग था जब संस्कृति और साहित्य के क्षेत्र में असाधारण प्रगति के साथ-साथ नई भाषाओं का प्रयोग प्रारंभ हुआ। इस सांस्कृतिक और साहित्यिक संश्लेषण का प्रतिबिंबन, फ़ारसी व संस्कृत के मध्य आपसी आदान-प्रदान द्वारा तथा उर्दू जैसी संश्लेषणात्मक भाषा की उत्पत्ति और विकास में हुआ। संस्कृत और फारसी से काफी हद तक प्रभावित प्रादेशिक भाषाओं और साहित्य में इस युग की धार्मिक, सामाजिक और लोकप्रिय अभिवृत्तियों का प्रतिबिम्ब

था। अमीर खुसरो और जायसी जैसे मुस्लिम लेखकों की हिंदी रचनाएं और इसी तरह बंगाली मुस्लिम कवियों द्वारा रचित बंगाली-वैष्णव काव्य भी सांस्कृतिक संश्लेषण के इस युग की विशिष्टताएँ थीं।

33.2 संस्कृत साहित्य

सामान्य तौर पर यह कहा जा सकता है कि राजकीय संरक्षण के अभाव के कारण सल्तनत युग में संस्कृत साहित्य के स्तर में गिरावट आई। यद्यपि यह सही है कि राजभाषा के रूप में संस्कृत का स्थान फारसी ने ले लिया था, संस्कृत साहित्यिक रचनाओं के सृजन में संख्या की दृष्टि से कोई कमी नहीं आई। यह युग संस्कृत भाषा की विभिन्न शाखाओं में बड़ी संख्या में साहित्यिक रचनाओं के लिए महत्वपूर्ण है, जैसे—काव्य (कवितामय वृतान्त), धर्म और दर्शन शास्त्र, व्याकरण, नाटक, कहानियाँ, चिकित्सा विज्ञान, खगोल विज्ञान, विधि पुस्तकों पर टीका-टिप्पणियां और सार संग्रह तथा अन्य पारंपरिक संस्कृत रचनाएँ। न ही संस्कृत के लिए राजकीय संरक्षण का अभाव पूर्ण था, क्योंकि अभी भी कई राजा संस्कृत कवियों को संरक्षण देते थे — विशेष रूप से दक्षिण भारत और राजस्थान में। यद्यपि बड़ी संख्या में संस्कृत रचनाएँ लिखी गईं, इन रचनाओं के स्तर में गिरावट के स्पष्ट चिह्न मौजूद थे। गिरावट की यह प्रक्रिया सल्तनत की स्थापना से पूर्व ही प्रारंभ हो गई थी जो सल्तनत युग में अधिक स्पष्ट हो गई। इस युग की अधिकांश संस्कृत रचनाओं में मौलिकता का अभाव था। अधिकतर संस्कृत कृतियाँ नीरस, आवृतिमूलक तथा कृत्रिम थीं। धार्मिक विषयों पर लिखी संस्कृत रचनाएं अक्सर अलौकिक चिंतन युक्त होती थीं। जीवनी-संबंधी रचनाएं मुख्यतया वीरोचित गाथाओं के रूप में होती थीं जिनमें सन्तचरितात्मक विवरणों और प्रेम कहानियों की भरमार थी। संस्कृत ने नये फारसी बोलने वाले शासक वर्ग का संरक्षण खो दिया। परंतु सल्तनत ने संस्कृत साहित्यिक रचनाओं के स्वतंत्र सृजन में हस्तक्षेप नहीं किया। वास्तव में, सल्तनत युग के दौरान कागज के प्रचलन ने प्राचीन संस्कृत रचनाओं जैसे — **रामायण** और **महाभारत** के पुनर्सृजन और प्रचार जैसे कार्यों को तीव्र कर दिया।

संस्कृत साहित्यिक रचनाओं के प्रकाशन में दक्षिण भारत, बंगाल, मिथिला और पश्चिम भारत अग्रणीय रहे। विजयनगर के राजाओं ने संस्कृत कवियों को संरक्षण प्रदान किया। पश्चिम भारत के जैन विद्वानों ने भी संस्कृत साहित्य के विकास में योगदान दिया। पश्चिम भारत में सर्वाधिक महत्वपूर्ण जैन विद्वान हेमचंद्र सूरी थे, जिनका संबंध 12वीं शताब्दी से था। उत्तरी बिहार में मिथिला भी संस्कृत के केन्द्र के रूप में विकसित हुआ। बाद में, सल्तनत युग के अंत में और मुगल काल के दौरान, बंगाल और उड़ीसा में चैतन्य आंदोलन ने विभिन्न क्षेत्रों में संस्कृत रचनाओं के प्रकाशन में योगदान दिया, जैसे—नाटक, चम्पू (गद्य व पद्य का मिश्र रूप), व्याकरण इत्यादि।

MAADHYAMIAS 'way to achieve your dream'

संस्कृत कवियों को कई राजपूत राजाओं का संरक्षण प्राप्त था। इन कवियों ने संस्कृत प्रशस्ति की शास्त्रीय विधा में अपने संरक्षकों के वंशों का इतिहास लिखा। इस प्रकार के वंश या कुटुम्ब इतिहास ने एक निश्चित सूत्र का अनुकरण किया जो उस काल में एक स्थापित प्रवृत्ति का रूप धारण कर चुका था। इन संस्कृत रचनाओं में से कुछ जैसे—**पृथ्वीराज विजय** और **हम्मीरमहाकाव्य** प्रसिद्ध हैं। मुस्लिम शासकों पर कई ऐतिहासिक कविताएं जैसे—गुजरात के सुल्तान महमूद बेगड़ा की जीवनी **राजविनोद** उसके दरबारी कवि उदयराज द्वारा लिखी गई। कश्मीर के राजाओं के इतिहास से संबंधित कल्हण की **राजतरंगिनी** (12वीं शताब्दी) के बाद सल्तनत युग में जोनराज द्वारा द्वितीय **राजतरंगिनी** की रचना की गई जिसमें जयसिन्रा से सुल्तान ज़ेन-उल आबेदिन (1420-1470) तक के कश्मीर शासकों का इतिहास शामिल है। श्रीवर द्वारा तृतीय **राजतरंगिनी** की रचना की गई जिसमें 1486 ई. तक के कश्मीर के इतिहास का वर्णन है। इन सभी रचनाओं में उनके संरक्षकों का प्रशस्तियुक्त गुण-गान है परंतु उनमें उपयोगी ऐतिहासिक तथ्य भी सम्मिलित हैं। इन ऐतिहासिक काव्यों के अतिरिक्त, बड़ी संख्या में अर्द्ध ऐतिहासिक रचनाएँ, **प्रबन्ध** भी लिखी गईं। ये **प्रबंध** काल्पनिक और संतचरित लेखन से परिपूर्ण थे। परन्तु, उनमें से कुछ जैसे—मेरुतुंग द्वारा रचित **औरबंधआकाश,** चिंतामणि और राजशेखर के प्रबन्धकोष में ऐतिहासिक महत्व की जानकारी है। तथापि, कुल मिलाकर, बड़ी संख्या में प्रकाशित सल्तनतयुगीन संस्कृत साहित्य अपनी मौलिक ओजस्विता और सृजनशीलता खो चुका था और इस साहित्य का अधिकांश हिस्सा उस काल की बौद्धिक प्रगति से अछूता रहा।

33.3 अरबी साहित्य

इस्लाम के उदय के पश्चात् कुछ शताब्दियों तक अरबी इस्लामी दुनिया की मुख्य भाषा रही। यह पैगम्बर, इस्लाम धर्म और साथ ही धर्मशास्त्र की भाषा थी। यद्यपि दिल्ली सल्तनत की स्थापना के पश्चात भारत में

अरबी भाषा को प्रचलित करने की ओर ध्यान गया, तुर्क शासक फ़ारसी भाषा से अधिक प्रभावित थे जो 10वीं शताब्दी से मध्य एशिया के मुस्लिम राज्यों की प्रधान भाषा के रूप में विकसित हो चुकी थी जिसके फलस्वरूप अरबी में साहित्यिक रचना कार्य केवल मुस्लिम विद्वानों और दर्शन शास्त्रियों के एक छोटे से वर्ग तक सीमित रहा। बुखारा पर चंगेज खाँ के आक्रमण के फलस्वरूप कई अरबी विद्वानों ने इल्तुतमिश के शासनकाल में यहाँ शरण मांगी। सुल्तान फिरोज़शाह तुगलक (1351-1388 ई.) ने कई अरबी विद्वानों को संरक्षण प्रदान किया व उसी काल में मजदुद्दीन फिरोज़ाबादी द्वारा **कामूस** नामक वृहत् अरबी शब्दकोष की रचना की गई। दिल्ली सल्तनत के पतन के उपरांत कई प्रादेशिक राज्यों ने भी अरबी शिक्षा को संरक्षण दिया और इस काल में अरबी शिक्षा के केंद्रों के रूप में कई स्थान प्रसिद्ध हुए।

33.4 फ़ारसी साहित्य

यहाँ पर हम फारसी भाषा एवं साहित्य के विकास के प्रारंभिक काल, साथ ही अमीर खुसरो तथा अन्य कवियों के फारसी साहित्य में योगदान की चर्चा करेंगे। फारसी में लिखी गई ऐतिहासिक तथा सूफी कृतियों तथा संस्कृत से फारसी में अनुवादित कृतियों के विषय में भी यहाँ बताया गया है।

33.4.1 प्रारंभिक काल

भारत में गजनवी शासन के दौरान पंजाब में एक नई भाषा—फारसी का प्रचलन हुआ। 10वीं शताब्दी के बाद से ईरान और मध्य एशिया में फारसी साहित्य के क्षेत्र में अपूर्व विकास हुआ। फारसी के कुछ महान कवियों जैसे—फिरदौसी और सादी ने अपनी कृतियों की रचना इसी दौरान की। लाहौर—जो तेरहवीं शताब्दी से पूर्व भारत में तुर्कों की राजनीतिक सत्ता का केंद्र था—ने ईरान और मध्य एशिया के मुस्लिम राज्यों से कई फारसी कवियों को आकर्षित किया। बहुत कम फारसी साहित्य के प्रारंभिक लेखकों की रचनाएं सुरक्षित हैं। इनमें से एक मसूद साद सलमान (मृ. ई. 1131) थे जिनकी रचनाओं में लाहौर से भावात्मक लगाव का आभास होता है। लेकिन मोटे तौर पर सल्तनत की स्थापना से पूर्व का फारसी साहित्य अलौकिक प्रकृति का था जिसमें ईरान में प्रचलित साहित्यिक विधाओं और अलंकार विधाओं को अपनाया गया था।

दिल्ली सल्तनत की स्थापना के बाद ही भारत के फारसी साहित्य पर भारतीय प्रभाव पड़ने लगा जैसा कि अमीर खुसरो की साहित्यिक रचनाओं में स्पष्टतः प्रतीत होता है।

MAADHYAM IAS

33.4.2 अमीर ख़ुसरो का योगदान

भारत में फारसी साहित्य के विकास की दृष्टि से खलजियों का शासनकाल एक गौरवशाली युग था। प्रसिद्ध समकालीन इतिहासकार जियाउद्दीन बर्नी के शब्दों में, "दिल्ली में श्रेष्ठता और योग्यता की दृष्टि से ऐसे विद्वान थे जिन्हें बुखारा, समरकन्द, तबरीज और इस्फहान में ढूंढना मुश्किल था और अपनी बौद्धिक उपलब्धियों के लिहाज़ से वे राजी और गजाली के समतुल्य थे। प्रत्येक पत्थर के नीचे साहित्यिक श्रेष्ठता का एक बहुमूल्य हीरा छिपा था"। इस युग के फारसी विद्वानों और कवियों में से सबसे प्रभावशाली अबुल हसन थे, जो अपने उपनाम, अमीर खुसरो, से प्रसिद्ध हुए। बाद में, मुगलकाल में अकबर के समकालीन इतिहासकार बदायूनी ने अमीर खुसरो के फारसी साहित्य में योगदान की प्रशंसा की। उसने लिखा, "कवियों के राजा की शोभा-यात्रा के पश्चात् उसके पूर्ववर्तियों की कविताएं सूर्य के उदय पर तारों के समान धुंधली पड़ गई।" अमीर खुसरो (1253-1325) फारसी कविता के उन चंद भारतीय लेखकों में से एक थे जिनकी रचनाओं को विदेशों में भी पढ़ा और सराहा गया। उनकी रचनाएं भारत के फारसी साहित्य में एक नई प्रवृत्ति को इंगित करती हैं—भारतीय साहित्य के साथ बढ़ती घनिष्ठता की प्रवृत्ति और भारत के फारसी लेखन पर भारतीय साहित्य का प्रभाव।

अमीर खुसरो, एक अप्रवासी तुर्क का भारत में जन्मा पुत्र था। सुल्तान बलबन के शासनकाल में उसने एक दरबारी और कवि के रूप में अपना जीवन प्रारम्भ किया। वे चिश्ती संप्रदाय के प्रसिद्ध सूफी संत शेख निजामुद्दीन औलिया के मुरीद (शिष्य) बने। जलालुद्दीन खलजी और अलाउद्दीन खलजी के शासनकालों में वे दरबारी कवि थे। बाद में, उन्हें सुल्तान गियासुद्दीन तुगलक द्वारा भी संरक्षण प्राप्त हुआ। उन्होंने दिल्ली के छः सुल्तानों के शासनकाल को देखा तथा उनके दरबार से संबंधित रहे।

अमीर ख़ुसरो प्रचुरता से लिखने वाले और बहुमुखी प्रतिभा के लेखक थे और उन्होंने 10 लाख छंदों एवं विभिन्न विषयों पर 99 कृतियों की रचना की। उनके काव्य में विधाओं की बहुत भिन्नता थी—गीतिकाव्य,

सम्बोध-गीति, महाकाव्य और शोकगीत। उनकी काव्य रचना भावनात्मक रूप से मुख्यतः भारतीय थी लेकिन शैली की दृष्टि से वे फारसी प्रतिमानों का अनुकरण करते थे। इस प्रकार उन्होंने फारसी की एक नई शैली विकसित की जिसे **सबाकीहिंदी** अथवा भारतीय शैली से जाना जाता है। अमीर खुसरो द्वारा रचित कुछ कृतियाँ अब उपलब्ध नहीं हैं। उनकी 5 श्रेष्ठ साहित्य कृतियाँ इस प्रकार हैं—**मतला-उल अनवार** , **शिरीन खुसरो**, **लैला मजनू**, **आइना-ए सिकन्दरी** और **हश्त बिहिश्त**। इन सभी कृतियों को उसने अलाउद्दीन खलजी को समर्पित किया। उसके पाँच **दीवानों** (गजल-संग्रह) में से तुहफत-उस सिगार, **वस्त-उल हयात, धुर्रत-उल कमाल, बकिया नकिया** और **निहायत-उल कमाल** प्रमुख हैं। इन रचनाओं में उसकी प्रगीतात्मक योग्यता की झलक मिलती है। अमीर खुसरो ने ऐतिहासिक **मसनवियों** (आख्यान काव्यों) की भी रचना की, जिनकी साहित्यिक और ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत उपयोगिता है। वह सही मायनों में एक इतिहासकार नहीं था, चूंकि उसने दिल्ली के उत्तरोत्तर सुल्तानों का संरक्षण प्राप्त किया और अपनी **मसनवियों** हेतु ऐतिहासिक विषय-वस्तुओं का चयन किया, उसकी रचनाओं के ऐतिहासिक अंश उस युग के इतिहास के विद्यार्थियों के लिए बहुत महत्वपूर्ण हैं। **किरान उस सादायन** में अमीर खुसरो ने सुल्तान कैकुबाद और उसके पिता बुगरा खाँ के मध्य संघर्ष और समझौते का वर्णन किया है। **मिफ्तु-उल फुताह**, सुल्तान जलालुद्दीन खलजी की सैन्य सफलताओं से संबंधित है। **आशिक**, सुल्तान अलाउद्दीन खलजी के ज्येष्ठ पुत्र खिज्र खाँ और गुजरात के राजा राय करण की पुत्री देवल रानी के मध्य भावात्मक प्रेम की कहानी है। **नुह सिपहर** (नौ आसमान) में सुल्तान कुतबुद्दीन मुबारक खलजी के युग का काव्य-शैली में वर्णन है। इस कृति में समकालीन सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियों का भी उल्लेख है। **तुगलक नामा** में गियासुद्दीन तुगलक के एक शक्तिशाली सुल्तान के रूप में उभरने का वर्णन है। अमीर खुसरो द्वारा लिखित एक अन्य ऐतिहासिक रचना **खज़ाएन-उल फुतुह** है जिसमें वह अलाउद्दीन खलजी की दक्षिण विजयों का ब्यौरा देता है। तथापि, यह ध्यान रहे कि एक दरबारी कवि के रूप में अमीर खुसरो का घटनाओं के प्रति दृष्टिकोण सामान्यतया सरकारी होता था।

अमीर खुसरो के फारसी काव्य का एक विशिष्ट लक्षण, उनका अपने देश के प्रति प्रेम था। उनका कहना था, "मैंने दो कारणों से हिन्दुस्तान की प्रशंसा की है। पहला कारण है हिन्दुस्तान मेरी जन्मभूमि और हमारा देश है। देश को प्यार करना महत्वपूर्ण कर्तव्य है .... हिन्दुस्तान जन्नत की तरह है। इसकी आबोहवा खुरासान से भी बेहतर है .... सारा साल हरा भरा और फूलों से भरा रहता है .... यहाँ के ब्राह्मण अरस्तू की तरह विद्वान हैं और उनका कई विषयों पर अधिकार है .... ।" अमीर खुसरो ने हिन्दवी (हिन्दी या उर्दू का एक रूप) में भी छंदों की रचना की और भविष्य में उर्दू भाषा के विकास का मार्ग प्रशस्त किया।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

33.4.3 अन्य फ़ारसी कवि

आम तौर से हसन देहलवी के नाम से विख्यात शेख नजमुद्दीन हसन (मृत्यु ई. 1327), सल्तनत युग के एक अन्य प्रसिद्ध फारसी कवि थे। वे अमीर खुसरो के मित्र थे। वे सुल्तान अलाउद्दीन खलजी के दरबारी कवियों में से एक थे। अपनी गजलों की गुणवत्ता पर उन्हें हिन्दुस्तान के सादी की पदवी प्राप्त हुई। फारसी में कविता-लेखन, तुगलक और लोदी सुल्तानों के काल में जारी रहा। दिल्ली सल्तनत के विस्तार के फलस्वरूप फारसी साहित्य का प्रचार-प्रसार भारत के अन्य भागों में फैला। दिल्ली सल्तनत के पतन के पश्चात् क्षेत्रीय राज्यों की स्थापना ने भी इस प्रक्रिया में योगदान दिया। दक्खन में बहमनी राज्य की स्थापना के पश्चात् कई फारसी कवि और विद्वान गुलबर्गा जा बसे जहाँ उन्हें बहमनी सुल्तानों का संरक्षण प्राप्त हुआ।

33.4.4 फ़ारसी में ऐतिहासिक लेखन

सल्तनत युग (और बाद में मुगल काल में) में फारसी साहित्य के महत्वपूर्ण योगदान में से एक इतिहास लेखन के क्षेत्र में था। कई इतिहासकारों ने फारसी में उस युग का इतिहास लिखा। सल्तनतकालीन इतिहास के लिए हम मुख्य रूप से उस युग के दरबारी-इतिहासकारों के ब्यौरों पर निर्भर हैं। इन इतिहासकारों के इतिहास-लेखन में कई प्रणालीतंत्रीय और कालानुक्रमिक दोष हैं और उनमें से अधिकांश व्यक्तिगत और वैचारिक पूर्वाग्रहों से मुक्त नहीं हैं। फिर भी, सल्तनत युग के इतिहास के अध्ययन के लिए ये बहुत महत्वपूर्ण हैं। इन इतिहासकारों में से प्रमुख थे : मिन्हाज सिराज (**तबकात-ए नासिरी** के लेखक), शम्स सिराज अफीफ (**तारीख-ए फिरोजशाही** के रचयिता) और इसामी (**फुतुह-उस सलातीन** के रचयिता)। सुल्तानों में, फिरोज़शाह तुगलक ने **फुतुहात-ए फिरोज़शाही** की रचना की। परंतु इस युग का सबसे प्रमुख इतिहासकार जियाउद्दीन बर्नी था। उसकी कृति **तारीख-ए फिरोज़शाही** उस युग की इतिहास-कृतियों में से सर्वाधिक महत्वपूर्ण रचना है। बर्नी ने इस ग्रंथ को 74 वर्ष की उम्र में 1357 में पूर्ण किया। इस पुस्तक का शीर्षक

फिरोज़शाह तुगलक पर रखा गया है। बर्नी ने इस पुस्तक का लेखन जब प्रारंभ किया तब उसकी याददाश्त कमजोर हो चुकी थी, जिसके फलस्वरूप इसमें कई कालानुक्रमिक त्रुटियाँ रह गईं। इसके अलावा उसके व्यक्तिगत, वैचारिक, सामाजिक और सम्प्रदायी पूर्वाग्रहों का प्रभाव ऐतिहासिक घटनाओं पर उसकी व्याख्याओं पर पड़ा। इन सब के बावजूद उस युग के इतिहास लेखन में बर्नी का योगदान बेजोड़ रहा। इतिहास लेखन की लीक से हटते हुए उसने इतिहास को शासकों, दरबारों और युद्धों तक सीमित नहीं रखा। उसने प्रशासकीय विषयों और आर्थिक घटनाओं का वर्णन और विश्लेषण किया। उसने उस युग के विभिन्न सामाजिक वर्गों के मध्य संघर्षों का एक विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया। बर्नी की एक अन्य पुस्तक **फतवा-ए जहाँदारी** राजनैतिक सिद्धांतों से संबंधित है।

33.4.5 फ़ारसी में सूफ़ी साहित्य

सल्तनत युग के दौरान फारसी भाषा में बड़ी संख्या में धार्मिक और दर्शनशास्त्रीय साहित्य की रचना हुई। फारसी में लिखा गया सूफी साहित्य, धार्मिक और साहित्यिक दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है। फारसी साहित्य की एक विशिष्ट शैली मल्फुजात (उस काल के प्रमुख सूफी संतों के संवाद अथवा प्रवचन) के रूप में सामने आई। **मल्फुजात** में उपदेशात्मक कविता संग्रह एवं उपाख्यान पाए जाते हैं। प्रसिद्ध चिश्ती सूफी संत, शेख निजामुद्दीन के **मल्फुजात**, जिन्हें अमीर हसन सिज्ज़ी ने लिखा, **फवाइद-उल फुआद** के नाम से प्रसिद्ध हैं। विभिन्न सूफी संतों के जीवन, उनकी शिक्षाओं और चमत्कारों के बारे में जानने की लोगों की उत्सुकता के कारण कई काल्पनिक **मल्फुजात** भी प्रकाशित हुए। मीर खुर्द की **सियार-उल ओलिया** भारत में प्रकाशित सूफियों का जीवनी संबंधी सबसे प्रारंभिक शब्दकोश है। **खैर उल मजालिस** शेख नसिरुद्दीन महमूद (चिराग-ए दिल्ली) के **मल्फुजात** से संबंधित है। ये कृतियाँ अक्सर आध्यात्मिक विषयों के अलावा उस युग की आर्थिक और सामाजिक वास्तविक्ताओं से भी परिचय कराती हैं।

33.4.6 संस्कृत कृतियों का फ़ारसी अनुवाद

अमीर खुसरो के अभिनव प्रयासों के फलस्वरूप उस युग के भारतीय समाज में साहित्यिक और सांस्कृतिक संश्लेषण की परम्परा स्थापित हुई। फारसी और संस्कृत में आदान-प्रदान की प्रक्रिया में वृद्धि हुई। कई संस्कृत रचनाओं का अरबी व फारसी में अनुवाद प्रारंभ हुआ। जिया नक्शबी (मृत्यु 1350 ई.) प्रथम विद्वान था जिसने संस्कृत कहानियों का फारसी में अनुवाद किया। उसका **तूतीनामा**, एक संस्कृत कृति पर आधारित है। फिरोज़शाह तुगलक और सिकंदर लोदी के शासनकाल में कई संस्कृत रचनाओं का फारसी में अनुवाद किया गया। 15वीं शताब्दी में कश्मीर के प्रसिद्ध शासक जैन-उल आबेदिन ने **महाभारत** और कल्हण की **राजतरंगिनी** का संस्कृत से फारसी में अनुवाद करवाया। इससे यह प्रतीत होता है कि सल्तनत काल के अंत तक ऐसे कई विद्वान थे जिन्हें संस्कृत व फारसी दोनों का ज्ञान था और जो हिन्दू और इस्लाम धर्मों के विचारों से परिचित थे। तथापि, संस्कृत जानने वाले गैर-मुस्लिम विद्वानों द्वारा फारसी और अरबी साहित्यिक रचनाओं को संस्कृत में अनुदित करने का बहुत कम प्रयास किया गया। ब्राह्मण-विद्वानों की विचारों के इस आदान-प्रदान में नगण्य भूमिका उनकी संकीर्ण मनोवृत्ति को इंगित करती है जिसकी तरफ पहले अल-बरूनी ने 11वीं शताब्दी में ध्यान दिलाया था। अन्य संस्कृतियों और भाषाओं के विचारों के प्रति ग्रहणशीलता की उस कमी को आंशिक रूप से उस काल के संस्कृत साहित्य के स्तर में गिरावट के लिए उत्तरदायी माना जा सकता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि उस युग की भाषाओं में फारसी का महत्वपूर्ण स्थान था। यह राजभाषा और सल्तनतयुगीन कुलीन वर्ग की भाषा थी। इसके साथ कई नए और स्फूर्तिदायक सामाजिक और धार्मिक विचार हिंदुस्तान में आए। भारत में इनके प्रचलन ने यहां के कवियों, चिंतकों और समाज-सुधारकों के बौद्धिक चिंतन की सीमा को विस्तृत बना दिया। इन सबसे बढ़कर इसने साहित्य की नई विधाओं और शैलियों को प्रचलित किया।

बोध प्रश्न 1

1) फारसी साहित्य के विकास में अमीर खुसरो के योगदान की विवेचना कीजिए।

....

....

....

....

2) निम्नलिखित कथनों पर सही (√) या गलत (×) का निशान लगाएं :
   क) महान अरबी शब्दकोश (**कामूस**) फिरोज़शाह तुगलक ने तैयार किया।
   ख) कल्हण की **राजतरंगिनी** कश्मीर के राज़ाओं के इतिहास का वर्णन करती है।
   ग) बर्नी की **फतवा-ए जहाँदारी** एक जीवनी है।
   घ) जिया नक्शबी पहला विद्वान था जिसने संस्कृत कहानियों का फारसी में अनुवाद किया।

33.5 क्षेत्रीय भाषाओं में साहित्य

इस युग के इतिहास की महत्वपूर्ण विशेषताओं में से एक, भारत के विभिन्न भागों में क्षेत्रीय भाषाओं के साहित्य का विकास था। उत्तर भारत में, इस काल में शीघ्र विकसित होने वाली भाषाओं में हिंदी, पंजाबी, बंगाली, असमी, उड़िया, मराठी और गुजराती शामिल थीं।

इनमें से प्रत्येक भाषा की उत्पत्ति उसके अनुरूप की इण्डो-आर्य प्राकृत की अपभ्रंश अवस्था से हुई है। यह उत्पत्ति 7वीं-8वीं शताब्दी में देखी जा सकती है। तीन दक्षिण भारतीय भाषाओं—तमिल, कन्नड़ और तेलुगु—का साहित्यिक इतिहास, उत्तर भारतीय प्रादेशिक भाषाओं से अधिक प्राचीन है। तमिल भाषा का साहित्यिक इतिहास ईसवी युग के प्रारंभिक काल तक जाता है। कन्नड़ और तेलुगु की साहित्यिक परंपराएं भी उत्तर भारतीय प्रादेशिक भाषाओं से प्राचीन हैं। दक्षिण भारतीय भाषाओं में सबसे नवीन मलयालम है और एक स्वतंत्र साहित्यिक भाषा के रूप में इसका विकास 14वीं शताब्दी से पूर्व तक नहीं हुआ था।

33.6 क्षेत्रीय भाषाओं के विकास की सामाजिक पृष्ठभूमि

इस युग में क्षेत्रीय भाषाओं के विकास के लिए महत्वपूर्ण कारण निम्नलिखित थे :

i) उत्तर-गुप्त काल में, लगभग 7वीं-8वीं शताब्दी से, सामंतवादी समाज, अर्थव्यवस्था और राजनीति की प्रगति के फलस्वरूप क्षेत्रीय सत्ता और संस्कृति का आविर्भाव हुआ। क्षेत्रीयवाद के विकास का एक परिणाम, अपभ्रंश से क्षेत्रीय भाषाओं के प्रारम्भिक रूपों की उत्पत्ति था।

ii) जैसा कि आप पढ़ चुके हैं, संस्कृत साहित्य की गुणवत्ता में कमी दिल्ली सल्तनत की स्थापना से बहुत पहले ही प्रारंभ हो गई थी। 10वीं-11वीं शताब्दियों में प्रकाशित संस्कृत साहित्य अधिकांशतः स्वाभाविकताहीन था और अलोकप्रिय था। यह साहित्य एक छोटे से ब्राह्मणीय दायरे तक सीमित रहा। सल्तनत युग में राज भाषा के रूप में संस्कृत का प्रतिस्थापन फारसी द्वारा किए जाने से संस्कृत साहित्य के पतन की प्रक्रिया और भी तीव्र हो गई। केन्द्र में इसको प्राप्त सरकारी संरक्षण के समाप्त होते ही कई राज्यों ने क्षेत्रीय भाषाओं के प्रयोग को बढ़ावा दिया क्योंकि फारसी भारत के कई भागों में एक अपरिचित भाषा थी। कई राज्यों में, प्रशासकीय कार्यों हेतु, तुर्कों से पहले भी, संस्कृत के अतिरिक्त क्षेत्रीय भाषाओं का प्रयोग प्रचलित था। दिल्ली सुल्तानों के शासन काल में, कई प्रदेशों में, स्थानीय स्तर पर हिंदी जानने वाले राजस्व अधिकारियों का उल्लेख मिलता है।

iii) 13वीं शताब्दी में तुर्कों द्वारा उत्तर भारत की विजय से राजपूत-ब्राह्मण गठबंधन का अंत हो गया। फलस्वरूप, समाज में ब्राह्मणों का प्रभाव कम हो गया; संस्कृत-भाषा की प्रमुखता को धक्का पहुँचा। और क्षेत्रीय भाषाओं ने, जो स्थानीय स्तर पर लोकप्रिय थी; प्रमुख्ता प्राप्त की।

iv) गैर-ब्राह्मणवादी और परंपरावादी नाथपंथी आंदोलन और बाद में विभिन्न भक्ति आंदोलनों—अनुसारक और उग्र ऐकेश्वरवादी, दोनों—ने क्षेत्रीय साहित्य के तीव्र विकास में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इन आंदोलनों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का हम पहले ही भक्ति आंदोलन के अंतर्गत अध्ययन कर चुके हैं। नाथपंथी आंदोलन की उत्पत्ति से पूर्व, उनके पूर्ववर्तियों बौद्ध सिद्धों का अधिकांश साहित्य—क्षेत्रीय भाषाओं में, जिसमें हिंदी भी सम्मिलित थी, रचा गया। नाथपंथी आंदोलन, जिसने ब्राह्मणवाद के घटते प्रभाव से लाभ उठाया और जो 13वीं और 14वीं शताब्दी में अपने चरमोत्कर्ष पर पहुंचा, ने लोकप्रिय क्षेत्रीय भाषाओं के विकास के लिए महत्वपूर्ण कार्य किया। 15वीं शताब्दी के उपरांत उत्तर भारत में भक्ति आंदोलनों की प्रगति ने, क्षेत्रीय भाषाओं के विकास और इन भाषाओं में साहित्य की विविध विधाओं को विकसित करने में अत्यंत प्रभावशाली योगदान दिया। भक्ति आंदोलन के संत अपने छंदों की रचना आम बोल-चाल की भाषा में करते थे, जिससे वे लोगों में बहुत लोकप्रिय थे। वे लोकप्रिय मुहावरों, दंत-कथाओं और लोक-कथाओं का प्रयोग करते थे। भक्ति आंदोलन ने एक आम तरीके से लोकप्रिय प्रादेशिक भाषाओं के विकास में योगदान दिया। भक्ति संतों ने, विशेष रूप से जिनका संबंध भक्ति आंदोलन की पारंपरिक धारा से था, महाकाव्यों, पुराणों और **भगवद् गीता** का अनुवाद संस्कृत

MAADHYAM IAS

से क्षेत्रीय भाषाओं में किया, जिससे आम लोग उन्हें पढ़ सकें। इस तरह से, भक्ति कवियों ने संस्कृत की विभिन्न कृतियों से भक्ति प्रसंग लेकर उनको लोकप्रिय बनाया। इन कृतियों के पाठों का न केवल क्षेत्रीय भाषाओं में अनुवाद किया गया बल्कि उन्हें सरल तरीके से, लोगों के समझने हेतु, प्रस्तुत किया गया।

33.7 उत्तर भारत की क्षेत्रीय भाषाओं में साहित्य

इस भाग में हम उत्तर भारत की क्षेत्रीय भाषाओं में लिखी गई साहित्यिक कृतियों के बारे में विचार करेंगे।

33.7.1 हिंदी साहित्य का विकास

आज हम जिस हिंदी को जानते हैं, उसका विकास मध्यकालीन भारत में विविध रूपों में हुआ। हिंदी की उप-भाषाओं में, ब्रज भाषा, अवधी, राजस्थानी, मैथिली, भोजपुरी, मालवी इत्यादि सम्मिलित थीं। हमारे अध्ययन के युग में हिंदी भाषा का साहित्य इन्हीं उप-भाषाओं में विकसित हुआ। इन उप-भाषाओं के अतिरिक्त खड़ी बोली, जिसका अर्थ अपरिष्कृत बोली था, भी विकसित हो रही थी।

प्रथम अवस्था

विद्वानों ने हिंदी की उत्पत्ति का समय 7वीं और 10वीं शताब्दियों के मध्य बताया है—इस काल में ही अपभ्रंश से हिंदी विकसित हो रही थी। 7वीं-8वीं शताब्दियों और 14वीं शताब्दी (भक्ति कविता की उत्पत्ति से पूर्व) के मध्य के युग को विद्वानों द्वारा "वीर-गाथा काल" कहा जाता है। इस युग को आदि काल (प्रारंभिक-युग) भी कहा जाता है। इस काल की अधिकतर काव्य-रचना भाटों द्वारा की जाती थी, जिन्हें विभिन्न राजपूत शासकों का संरक्षण प्राप्त था। भाट अपने मालिकों के शौर्य व पराक्रम का बढ़-चढ़ कर बखान करते थे। वे अपने काव्यात्मक वृत्तान्तों में प्रेम के पहलू को भी महत्ता देते थे। संक्षेप में, यह साहित्य, राजपूत शासक-वर्ग के नैतिक मूल्यों और दृष्टिकोण का परिचायक था। इस साहित्य के रचयिता, भाटों का आम जनता की आकांक्षाओं से कोई सरोकार नहीं था। इनकी अधिकांश काव्य-रचनाएं, हिंदी की उप-भाषा राजस्थानी में रची गई थीं। इनमें से सर्वाधिक प्रसिद्ध **पृथ्वीराज रासो** है जिसकी रचना का श्रेय दिल्ली के अंतिम राजपूत नरेश पृथ्वीराज के राजमंत्री चन्दबरदाई को दिया जाता है। अन्य वीर-काव्यों में **वीसल देव-रासो**, **हम्मीर रासो**, **खुमान रासो**, इत्यादि सम्मिलित हैं। अपने वर्तमान रूपों में, अधिकांशतः **रासो** वृतान्तों की प्रामाणिकता संदेहों के घेरे में है और ऐसा प्रतीत होता है कि बाद की शताब्दियों में उनमें परिवर्तन/विस्तार किया गया। उदाहरण के लिए, इस काल में (12वीं शताब्दी) **पृथ्वीराज रासो** की केवल मुख्य कहानी लिखी गई थी, और कालांतर में इसमें क्षेपक जोड़े गए।

7वीं-8वीं शताब्दियों और 14वीं शताब्दी के मध्य का सम्पूर्ण हिंदी साहित्य भाट-काव्य शैली का नहीं था। बौद्ध सिद्धों और बाद में नाथपंथियों ने हिंदी के आद्यरूप में धार्मिक-काव्य की रचना की। पश्चिम भारत में, जैन विद्वानों ने राजस्थानी में धार्मिक काव्य की रचना की, जिसमें लोगों के धार्मिक और सामाजिक जीवन के विभिन्न पहलुओं का चित्रण था। फारसी साहित्य में अमीर खुसरो के योगदान का वर्णन किया जा चुका है परन्तु उसने हिंदी के मिश्रित रूप में काव्य-रचना की जो अंततः **खड़ी बोली** या **हिन्दुस्तानी** में विकसित हुई। उसने इसे **हिंदवी** नाम दिया। उसके कुछ हिंदी छंद उसकी कृति **खालिक बारी** में पाये जाते हैं, जिसका श्रेय उसे दिया जाता है परन्तु जो संभवतः बहुत बाद में लिखी गई थी।

भक्ति कविता का युग

हिंदी-साहित्य की उन्नति का दूसरा काल 14वीं-15वीं शताब्दियों से प्रारंभ हुआ। भक्ति आंदोलन की विभिन्न धाराओं का, उस काल के हिंदी साहित्य पर गहरा प्रभाव पड़ा। हिंदी साहित्य के इस काल को भक्ति काल कहा गया है जो मुगल काल तक जारी रहा। यह युग जो कबीर से प्रारंभ हुआ, हिंदी साहित्य के बहुत अधिक फलने-फूलने का युग था। इस काल के भक्त कवि दो प्रकार के थे: सगुण कवि (जो मानवीय रूप और लक्षणों युक्त ईश्वर में विश्वास करते थे) और निर्गुण कवि (जो अमूर्तवादी परम ईश्वर में विश्वास करते थे)। कबीर निर्गुण भक्त कवियों का अगुआ था, जिनमें से अधिकांश समाज के कमजोर वर्ग से थे एवं निर्धन और निरक्षर थे। कबीर की अपनी मातृ-भाषा भोजपुरी थी परन्तु उसने मिश्रित बोली में अपनी रचनाएं लिखी, जिसे उत्तर भारत के विभिन्न भागों के लोग समझ सकते थे। कबीर की भाषा का एक विशेष लक्षण 'सधुक्कड़ी' कहलाता है। कबीर और अन्य निर्गुण संतों के गैर-परम्परावादी और रूढ़ि-विरोधी विचारों का वर्णन भक्ति आंदोलन के अध्याय में, पहले ही किया जा चुका है। साहित्यिक दृष्टि से कबीर की भाषा-शैली की विशेषता यह है कि इसमें अक्खड़पन के साथ ज्ञान और गूढ़ तथ्यों का समावेश था। उसने अपने कठोर और तीखे छंदों का प्रयोग विभिन्न कर्मकाण्डों की भर्त्सना करने में किया। कबीर के छोटे-छोटे काव्य-

शैली के दोहों की अन्य विशेषता, उनमें **''उलटवासी''** या ''उलट-पुलट'' भाषा का प्रयोग है, जिसमें पहेलियों और विरोधाभासों की श्रृंखला होती थी। ऐसा माना गया है कि कबीर को **उलटवासी** की परम्परा, नाथपंथियों से प्राप्त हुई, जिसका उसने प्रभावशाली ढंग से अलंकारिक और शिक्षात्मक साधन के रूप में प्रयोग किया। कबीर और अन्य ''छोटी जाति'' के एकेश्वरवादी कवियों (सेन, पीपा, धन्ना, रैदास इत्यादि) ने मौखिक शैली में अपने विचार व्यक्त किए। उनका काव्य मौखिक साहित्य का हिस्सा है। उनके दोहों का संकलन बहुत बाद में हुआ—लिखित रूप से उनकी रचनाओं का सर्वप्रथम दृष्टांत हमें 1604 के **आदि ग्रंथ** से मिलता है। निरक्षर होने की वजह से उनका संस्कृत साहित्य से कोई सीधा सम्पर्क नहीं था। उन्होंने अपने भावों को स्थानीय लोगों की भाषा में व्यक्त किया। अपने अधिकांश भावों को जिस साहित्यिक शैली में उन्होंने छोटे पदों में रखा, वे **दोहे** कहलाए। संक्षेप में, कबीर और अन्य 15वीं शताब्दी के निर्गुण संतों की काव्य रचनाओं ने हिंदी जैसी देशी भाषा को एक ''साहित्यिक'' भाषा में रूपांतरित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

उत्तर भारत के परंपरागत वैष्णव भक्ति आंदोलन से संबंधित कवि अधिकतर ब्राह्मण थे और वे ब्राह्मण धर्मग्रंथों व संस्कृत-पाठों से परिचित थे। वैष्णव कवि एक वैयक्तिक ईश्वर के प्रति भक्ति की धारणा में विश्वास करते थे, और उसी के अनुसार वे राम-भक्तों और कृष्ण-भक्तों में बंट गए। हिंदी में राम भक्ति काव्य ने मुख्य रूप से मुगल काल में समृद्धि प्राप्त की। इसके सबसे प्रमुख प्रतिनिधि कवि और संभवतयः हिंदी साहित्य का सर्वश्रेष्ठ कवि तुलसीदास (1532-1623 ई.) था, जिसने हिंदी की अवधी बोली में प्रसिद्ध **रामचरितमानस** की रचना की। कृष्ण-भक्त कवियों में, विद्यापति ने मैथिली हिंदी में राधा और कृष्ण के प्रेम से संबंधित छंदों की रचना की। उसके प्रगीतात्मक काव्य का प्रभाव बंगाल पर हुआ और कुछ बंगाली कवियों ने उसके गीतों का अनुकरण किया। सल्तनत काल के अंत तक मथुरा के निकट वृन्दावन, वैष्णव भक्ति कविता के केन्द्र के रूप में उभरा। ये कवि कृष्ण-भक्त थे और इन्होंने अपने छन्दों की रचना ब्रज-भाषा में की। इनमें से सबसे प्रमुख कवि सूरदास (1483-1563) थे। वैष्णव भक्ति-काल में एक अन्य प्रमुख नाम मीरा बाई (1498-1543) का था। वह कृष्ण-भक्त थीं और अपने गीतों की रचना राजस्थानी में किया करती थीं, परन्तु इनमें से अधिकांश गीतों को कालांतर में अन्य हिंदी उप-भाषाओं और गुजराती में समाविष्ट कर दिया गया।

हिंदी साहित्य में सूफी योगदान

इस युग के सूफी संतों और विद्वानों ने हिंदी साहित्य के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। चिश्ती सूफियों ने समा (भाव-विभोर गायन और नाच) बैठकों में भक्तिमय हिंदी गीतों का प्रयोग किया। विभिन्न हिन्दी शब्दों जैसे 'गोपी' 'रासलीला' आदि की सूफी मतानुसार औरे अन्याकितपरक व्याख्या की गयी। सूफी कवियों ने इस्लामी रहस्यवाद तथा भारतीय प्रेम कथाओं, लोकप्रिय दन्त-कथाओं और कहानियों को मिलाकर रचनाएं कीं। मुल्ला दाउद की रचित **चंदायन** (ई. 1379 में लिखी गई) ऐसी काव्य-रचनाओं में से सबसे पहली है। कुतुबन की **मृगावती** (1501 में रचित), हिंदी में रहस्यवादी भावप्रवण काव्य की अन्य कृति है। 1540 में अवधी हिंदी में मलिक मौहम्मद जायसी द्वारा रचित **पद्मावत** अन्योक्तिपरक साहित्य का श्रेष्ठ नमूना है। सूफी कवियों की साहित्यिक रचनाओं के फलस्वरूप हिंदी साहित्य में कई अरबी और फारसी शब्दों का समावेश संभव हुआ और इससे सांस्कृतिक और साहित्यिक संश्लेषण का मार्ग प्रशस्त हुआ।

MAADHYAM IAS

33.7.2 उर्दू भाषा की उत्पत्ति और विकास

विद्वानों ने दिल्ली सल्तनत की स्थापना के बाद के युग में, उर्दू भाषा की उत्पत्ति के संबंध में विभिन्न मत प्रतिपदित किए हैं। हिंदी की एक उप-भाषा की पहचान के संदर्भ में कई मत हैं, इस पर फारसी तत्व के प्रभाव के फलस्वरूप एक नई भाषा का जन्म हुआ। जिन उप-भाषाओं का उल्लेख हुआ, उनमें ब्रजभाषा, हरियाणवी और दिल्ली के आसपास बोली जाने वाली अन्य बोलियाँ और पंजाबी भाषा हैं। इन सभी उप-भाषाओं का अपनी प्रारंभिक अवस्था में उर्दू भाषा पर प्रभाव पड़ा और यह कहना मुश्किल है कि किस उप-भाषा के साथ फारसी के मिलाप से उर्दू का जन्म हुआ। तथापि, यह सुस्पष्ट है कि 14वीं शताब्दी के अंत तक उर्दू एक स्वतंत्र भाषा के रूप में प्रकट हुई। हिंदी के समान, उर्दू की मूल संरचना खड़ी बोली पर आधारित थी—दिल्ली व उसके आस-पास के क्षेत्रों में बोली जाने वाली उप-भाषाओं का मिश्रण। इस युग में, एक संश्लेषणात्मक भाषा के विकास के लिए दिल्ली की एक आदर्श स्थिति थी, क्योंकि एक तरफ, यह विभिन्न उप-भाषाओं को बोलने वाले लोगों से घिरी थी, और दूसरी तरफ वहाँ फारसी-भाषी कुलीन शासक वर्ग था। इस प्रकार उर्दू ने फारसी लिपि और फारसी साहित्यिक परम्परा को अपनाते हुए हिंदी उप-भाषाओं की मूल संरचना को समाविष्ट किया और अपनी स्वयं की वैयक्तिकता विकसित की।

उर्दू शब्द की उत्पत्ति तुर्की भाषा से है और इसका शाब्दिक अर्थ सेना अथवा कैम्प है। अपनी प्रारंभिक अवस्था में, उर्दू का प्रयोग एक कामचलाऊ भाषा के रूप में, फारसी बोलने वाले तुर्क शासक वर्ग और

सैनिकों द्वारा स्थानीय लोगों, जिनमें हाल ही में इस्लाम स्वीकार करने वाले भी थे, के साथ सम्पर्क हेतु हुआ। तथापि, इसने अभी एक साहित्यिक भाषा का रूप प्राप्त नहीं किया था। इस नई आम भाषा को एक मूर्त रूप प्राप्त करने में एक शताब्दी का समय लगा और इसे अमीर खुसरो ने **''हिंदवी''** नाम दिया। खुसरो ने अपने छंदों की रचना **हिंदवी** (फारसी लिपि का प्रयोग करते हुए) में की और इस प्रकार उर्दू साहित्य की नींव रखी। तथापि, सर्वप्रथम दक्खन में उर्दू ने एक मानकीकृत साहित्यिक भाषा का दर्जा प्राप्त किया और वहाँ 15वीं शताब्दी में यह दक्खनी के नाम से जानी जाती थी। यह सर्वप्रथम बहमनी शासन काल में विकसित हुई और कालांतर में बीजापुर और गोलकुण्डा राज्यों में फली-फूली। गेसू दराज की **मिराज-उल आशिकी,** दक्खनी उर्दू की सबसे प्रारंभिक रचना है। 18वीं शताब्दी तक, उर्दू कई नामों से जानी जाती थी जैसे **''हिंदवी''**, **''दक्खनी''**, **''हिन्दुस्तानी''** या **''रेखता''** (कई भाषाओं को मिलाकर नई भाषा पैदा करना)। दक्खनी उर्दू अपने परिष्कृत रूप में उत्तर भारत पहुंची और शीघ्र ही इसने मुगल काल में लोकप्रियता प्राप्त की। 18वीं शताब्दी में मुगल साम्राज्य के पतन के समय उर्दू साहित्य अपने चरमोत्कर्ष पर था।

33.7.3 पंजाबी साहित्य

13वीं शताब्दी के प्रारंभ से 16वीं शताब्दी के प्रारंभ के मध्य में पंजाबी साहित्य के इतिहास में दो सुस्पष्ट प्रवृत्तियां सामने आईं। एक तरफ उस युग में सूफी और भक्ति काव्य और, दूसरी तरफ वीर-गाथाओं और लोक-साहित्य का जोर था। प्रसिद्ध चिश्ती सूफी बाबा फरीद (शेख फरीदुद्दीन गंज शकर, (1173-1265 ई.) द्वारा रचित सूफी काव्य रचनाओं ने पंजाबी भाषा के काव्य संसार में अग्रणीय योगदान दिया। 16वीं शताब्दी में गुरूनानक द्वारा रचित भजनों ने इस भाषा को एक उचित साहित्यिक रूप प्रदान किया। द्वितीय सिक्ख गुरू, अंगद द्वारा पंजाबी को एक स्पष्ट गुरूमुखी लिपि प्रदान की गई। गुरूनानक द्वारा रचित भजनों को बाद में 5वें सिक्ख गुरू अर्जुन द्वारा 1604 में **आदि ग्रंथ** में सम्मिलित किया गया। उनकी काव्य रचना की विशिष्टता, भावों की शुद्धता और उनकी शैली और पद-योजना में विविधताओं में निहित है।

33.7.4 बंगाली साहित्य

10वीं और 12वीं शताब्दी के मध्य रचित **चरयापद** नामक लोक गीत बंगाली भाषा के प्रारंभिक नमूने कहे जा सकते हैं। 13वीं शताब्दी के मध्य में बंगाल पर तुर्कों की विजय ने संस्कृत के महत्व को कम कर दिया और साहित्यिक माध्यम के रूप में लोक विषयों और विधाओं की महत्ता में वृद्धि हुई। 15वीं शताब्दी तक बंगाली साहित्य में तीन मुख्य प्रवृत्तियों ने जन्म लिया : (i) वैष्णव भक्ति काव्य (ii) महाकाव्यों के अनुवाद और काव्यों के रूपांतर, और (iii) मंगल काव्य। चंडीदास (15वीं शताब्दी ई.) बंगाल के प्रथम प्रमुख वैष्णव भक्ति कवि थे, जिन्होंने राधा और कृष्ण के प्रेम पर गीतात्मक काव्य की रचना की। बंगाल का प्रसिद्ध वैष्णव संत चैतन्य, चंडीदास के भक्ति गीतों की आध्यात्मिकता से प्रभावित था। संभवतः चंडीदास के समकालीन एक अन्य कवि, विद्यापति ने अपने भक्ति गीतों को मैथिली बोली में रचा परन्तु बाद में वैष्णव आंदोलन के प्रभाव से उसके कई गीतों को बंगाली में अपना लिया गया। चैतन्य और उसके आन्दोलन ने बंगाली में वैष्णव साहित्य को और प्रोत्साहन दिया। कई वैष्णव कवियों ने चैतन्य से, उसके काल में और उसकी मृत्यु के बाद भी, प्रेरणा प्राप्त की। वैष्णव कवियों में से कुछ मुस्लिम भी थे। बंगाली साहित्य की दूसरी महत्वपूर्ण प्रवृत्ति, जो 15वीं शताब्दी के प्रारंभ में शुरू हुई, महाकाव्यों और अन्य संस्कृत धर्मग्रंथों से प्रेरित थी। सुल्तान हुसैन शाह (1493-1519) और उसके उत्तराधिकारी नुसरत शाह (1519-32) ने बंगाली साहित्य को संरक्षण प्रदान किया। उनके शासन काल में दो बंगाली कवियों कवीन्द्र और श्रीकर नंदी द्वारा **महाभारत** को बंगाली पदों में रूपांतरित किया गया। 15वीं शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों में, कृतिवास ओझा ने वाल्मिकी की संस्कृत **रामायण** का बंगाली काव्य-रूपांतर प्रस्तुत किया। मालाधर बसु ने वैष्णव संस्कृत ग्रंथ **भागवत् पुराण** का रूपांतर 15वीं सदी के अंत में बंगाली में किया जो **श्रीकृष्णविजय** के नाम से प्रसिद्ध हुआ। **महाभारत** का बंगाली में दूसरा और लोकप्रिय अनुवाद कासीराम ने किया। बंगाली में अनुवादित और रूपांतरित इन रचनाओं ने मध्यकालीन बंगाली सांस्कृतिक और धार्मिक जीवन को महत्वपूर्ण ढंग से प्रभावित किया। बंगाली साहित्य की तीसरी प्रवृत्ति मंगल काव्य की उत्पत्ति से प्रारंभ होती है। ये सम्प्रदायी काव्य-वृत्तांत थे जो देवी-देवताओं के मध्य संघर्षों पर केन्द्रित होते थे। परन्तु इनमें मानवतावादी तत्व भी उपस्थित थे क्योंकि उनमें आम जनता की आकांक्षाओं और कष्टों का चित्रण होता था। मानिक दत्त और मुकुन्दराम, 15वीं और 16वीं शताब्दियों के अंतिम वर्षों में, मंगल काव्य के दो प्रमुख कवि थे।

33.7.5 असमी साहित्य

हेम सरस्वती असमी भाषा की प्रथम कवयित्री थीं। उसने 13वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में प्रह्लाद-कविता और

हर-गौरी सम्वाद की रचना की। उसके समकालीन कवि हरिहर विप्र ने अपनी कविताओं के लिए **रामायण** और **महाभारत** के प्रसंगों को आधार बनाया। 14वीं शताब्दी के बाद कमारा और चाचर असमी साहित्य की उन्नति के केन्द्र बने। माधव कुंडाली 14वीं शताब्दी का सबसे लोकप्रिय असमी कवि था जिसने **रामायण** को, असम में, वहाँ के आम लोगों की भाषा में प्रस्तुत कर लोकप्रिय बनाया। उसकी भाषा, हेम सरस्वती और हरिहर विप्र की तुलना में कम संस्कृतीय और आम लोगों की भाषा के निकट थी। 15वीं शताब्दी के दूसरे भाग में शंकरदेव के नेतृत्व में वैष्णव भक्ति आंदोलन की प्रगति ने असमी साहित्य में महत्वपूर्ण योगदान दिया। **कीर्तनघोष** को असमी भाषा की सबसे महत्वपूर्ण वैष्णव धार्मिक कृति माना जाता है। इसमें भक्ति-गीतों का संग्रह था जिनमें से अधिकांश शंकरदेव द्वारा रचित थे, परन्तु अन्य कवियों का भी इसमें योगदान रहा। शंकरदेव ने कई नाटकों **(अंकिया नाट)** की भी रचना की जो पौराणिक कथाओं पर आधारित थे। उसने एक नई शैली की भक्ति-कविता की रचना की जो **बरगीत** (ब्रगीत) कहलाई। शंकरदेव के शिष्य माधव देव (ई. 1489-1596) ने भी कई साहित्यिक कृतियों की रचना की और **बरगीत** की काव्य-शैली को समृद्ध बनाया।

33.7.6 उड़िया साहित्य

13वीं-14वीं शताब्दियों के दौरान उड़ीया भाषा को साहित्यिक स्वरूप प्राप्त हुआ। सरलादास (14वीं सदी) उड़ीसा का प्रथम सर्वश्रेष्ठ कवि था। उसने उड़िया में **महाभारत** की रचना की जिसे उड़ीसा के लोग एक महान् महाकाव्य समझते हैं। उड़िया साहित्य ने 16वीं सदी के प्रारंभ में एक नये युग में प्रवेश किया जब वहाँ चैतन्य के प्रभाव के फलस्वरूप वैष्णव भक्ति आंदोलन का प्रसार हुआ। चैतन्य के कई शिष्यों ने भक्ति संबंधी संस्कृत रचनाओं का उड़िया भाषा में अनुवाद या रूपांतरण किया। चैतन्य के निकट सहयोगियों में से एक जगन्नाथ दास था जो अपने समय के उड़िया साहित्य का प्रमुख स्तम्भ था। उसके द्वारा किया गया **भागवत् पुराण** का उड़िया अनुवाद लोगों में बहुत लोकप्रिय हुआ।

33.7.7 मराठी साहित्य

मराठी भाषा में छंद-रूप में साहित्य 13वीं शताब्दी के दूसरे भाग से प्रारंभ हुआ। प्रारंभिक मराठी साहित्य पर शैव नाथपंथियों का प्रभाव रहा। दो अति प्रारंभिक मराठी कृतियाँ—**विवेक दर्पण** और **गोरखगीता**—नाथपंथी परंपरा से संबंधित थे। इस युग का सबसे प्रमुख कवि मुकुन्दराज नाथपंथी परंपरा से संबंधित था और उसने विशुद्ध लोकप्रिय भाषा में **विवेक सिंधु** की रचना की। मराठी साहित्य की प्रारंभिक अवस्था में दूसरा महत्वपूर्ण प्रभाव महानुभाव पंथ से संबंधित कवियों का पड़ा, इसका उद्भव 13वीं शताब्दी में हुआ।

MAADHYAM IAS

महानुभाव संत-कवि प्रारंभिक मराठी भक्ति साहित्य के जनक में से थे; जिन्होंने मराठी कोश-कला, टीका, व्याकरण, छंद शास्त्र और अलंकार शास्त्र में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

महाराष्ट्र के वरकारी भक्ति संत-कवियों ने मराठी भाषा में भक्ति साहित्य को और प्रचारित किया। उनमें से प्रथम ज्ञानदेव (13वीं सदी) था। उसने **भागवत् गीता** पर एक टीका लिखी। यह **भावार्थ दीपिका** कहलाई परन्तु इसे लोकप्रिय रूप में ज्ञानेश्वरी कहा जाने लगा। यह वरकारी परंपरा से संबंधित महाराष्ट्रीय वैष्णव भक्ति संतों का आधारभूत ग्रंथ है। वरकारी परंपरा से ही एक अन्य संत-कवि नामदेव (1270-1350) था। उसने मराठी में बड़ी संख्या में **अभंगा** (छोटी गीतमय कविता) की रचना की। उसने उत्तर भारत की यात्रा की और बाद में उसके पदों को सिक्ख धर्मग्रंथ **आदि ग्रंथ** में सम्मिलित किया गया। मध्यकालीन महाराष्ट्र के दो अन्य महान् संत-कवि एकनाथ (1548-1600) और तुकाराम (1598-1649) मुगलकाल से संबंधित थे: उन्होंने भी मराठी साहित्य के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

33.7.8 गुजराती साहित्य

राजस्थानी और गुजराती दोनों ही भाषाओं की उत्पत्ति प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी से हुई। गुजराती साहित्य के विकास का प्रथम दौर 15वीं शताब्दी के मध्य तक जारी रहा। इस काल में गुजराती साहित्य में मुख्य रूप से दो साहित्यिक शैलियाँ विकसित हुईं—प्रबंध या वर्णनात्मक कविता और मुक्तक या लघु कविता। प्रथम श्रेणी में वीर-गाथाएँ, प्रेम-कथाएँ और रास अथवा लंबी कविताएँ सम्मिलित थी। उन कविताओं के विषय-वस्तु में, ऐतिहासिक विषय होते थे जो कथा-साहित्य, लोकप्रिय दंत-कथाओं और जैन मिथक साहित्य से अलंकृत होते थे। मुक्तकों या लघु कविता की दूसरी श्रेणी ने विभिन्न शैलियों जैसे **फागु**, **बारामासी** और **छापों** को अपनाया। फागु का अर्थ एक लघु गीतमय कविता से है जिसमें विरह (अलगाव) पर विशेष ध्यान दिया जाता है। गुजराती साहित्य के इतिहास का दूसरा युग 15वीं सदी के अंतिम वर्षों में वैष्णव भक्ति

कविता के प्रसार से प्रारंभ हुआ। नरसिम्ह मेहता (1414-1480) एक प्रमुख गुजराती भक्ति-कवि था। उसने अपनी कविताओं द्वारा वैष्णव भक्ति को गुजरात में लोकप्रिय किया।

33.8 दक्षिण भारतीय भाषाओं में साहित्य

इस भाग में दक्षिण भारतीय भाषाओं में लिखे गए साहित्य की विवेचना की गई है।

33.8.1 तमिल साहित्य

चोल साम्राज्य के पतन के साथ ही तमिल साहित्य का महान् युग समाप्त हुआ। फिर भी, लेखक और कवि तमिल साहित्य में अपना योगदान देते रहे। विल्लीपुत्तुरार, जिसका संबंध संभवतः 13वीं सदी से था, उस युग का एक महत्वपूर्ण साहित्यिक नाम था। उसने **महाभारत** का तमिल अनुवाद प्रस्तुत किया जो **भारतम्** कहलाया और तमिल-भाषी लोगों में लोकप्रिय हुआ। उसने तमिल कविता में संस्कृत शब्दों और साहित्यिक अभिव्यक्तियों का प्रयोग प्रारम्भ किया। दूसरा महान् कवि और विल्लीपुत्तुरार का समकालीन, अरुणागिरिनाथ था। उसने मुरुगन देवता की प्रशंसा में एक प्रगीतात्मक और भक्ति रचना—तिरुप्पगल—की रचना की। इस युग में वैष्णव विद्वानों द्वारा विस्तृत टीका भी लिखी गई। संगम युग की साहित्यिक कृतियों जैसे **तोलकाप्पियम** और **कुराल** पर भी टीका लिखी गई। ये टीकाएं मध्यकालीन तमिल-गद्य के मॉडल हैं जो अपनी स्पष्टता और संक्षिप्तता के लिए प्रसिद्ध है। एक अन्य प्रमुख लेखक, कचिअप्पा शिवाचार्य ने भगवान सुब्रमन्या की स्तुति में कन्द-पुराणम की रचना की।

33.8.2 तेलुगु साहित्य

13वीं सदी से तेलुगु साहित्य का उन्नति काल प्रारंभ हुआ। 13वीं और 14वीं शताब्दियों के दौरान संस्कृत कृतियों के तेलुगु अनुवाद और रूपांतर प्रकाशित हुए। 14वीं शताब्दी के प्रथम भाग का प्रमुख तेलुगु कवि ऐर्राप्रगदा था। उसने साहित्यिक लेखन की चम्पु शैली (गद्य और पद्य की मिश्रित शैली) को प्रचलित किया। इसी शैली में उसने **रामायण** की रचना की। उसने **महाभारत** के एक भाग और एक अन्य वैष्णव संस्कृत कृति, **हरिवंश** का तेलुगु में अनुवाद किया। श्रीनाथ (1365-1440) एक अन्य प्रमुख तेलुगु लेखक था। उसने श्रीहर्ष के **नइसधा** काव्य का तेलुगु अनुवाद किया। उसने ऐतिहासिक प्रेम विषयों पर छंदों की रचना की और इसने तेलुगु साहित्य में शास्त्रीय प्रबंधों के युग की आधारशिला रखी। उसका समकालीन, पोटाना, भी एक महान् कवि था जिसने **भागवत् पुराण** को तेलुगु में अनुदित किया। तेलुगु साहित्य ने, विजयनगर के राजा कृष्णदेव राय के शासन काल में सर्वोच्च ऊँचाईयाँ प्राप्त कीं, जो स्वयं संस्कृत और तेलुगु का कवि था उसने तेलुगु में **अमुक्तमाल्यदा** की रचना की। उसने कई तेलुगु कवियों को संरक्षण प्रदान किया जिनमें से प्रमुख पेद्दाना था। पेद्दाना ने तेलुगु में मनु-चरित की रचना की। इस काल के तेलुगु साहित्य की एक महत्वपूर्ण विशेषता तेलुगु भाषा पर संस्कृत का बढ़ता हुआ प्रभाव था।

33.8.3 कन्नड़ साहित्य

कन्नड़ साहित्य का प्रारंभिक काल (12वीं सदी तक) जैन लेखकों से प्रभावित रहा। 12वीं शताब्दी के मध्य से, वीरशैववाद—एक लोकप्रिय धार्मिक आंदोलन—ने कन्नड़ भाषी क्षेत्र के साहित्य और लोगों को प्रभावित किया। वीरशैव आंदोलन के प्रवर्तक बासव और उसके अनुयायियों की धार्मिक साहित्यिक रचनाओं **(वचन)** ने मध्यकालीन कन्नड़ साहित्य में महत्वपूर्ण योगदान दिया। चौदहवीं सदी के उत्तरार्द्ध का एक वीरशैव कवि, भीम कवि ने **बासव पुराण** की रचना की। उससे पूर्व 13वीं सदी के दो अन्य वीरशैव कवियों, हरीश्वर और राघवंका ने अपनी रचनाओं को नवीन कन्नड़ छंदों में लिखा जो बाद में लोकप्रिय हुए। परवर्ती होयसल शासकों ने कई कन्नड़ कवियों और लेखकों को संरक्षण प्रदान किया। उनमें से एक, रूद्र भट्ट ने चम्पु-शैली में **जगन्नाथ विजय** की रचना की। यह रचना, संस्कृत कृति **विष्णु पुराण** की रूपांतरित रचना थी। 14वीं और 16वीं शताब्दियों के मध्य, विजयनगर राजाओं व उनके सामंतों के संरक्षण में कन्नड़ साहित्य का और विकास हुआ। इस युग के महान् कवियों में से एक कुमार व्यास था जिसने 15वीं शताब्दी के मध्य में **महाभारत** का कन्नड़ अनुवाद प्रस्तुत किया।

33.8.4 मलयालम साहित्य

दक्षिण भारतीय भाषाओं में मलयालम का इतिहास सबसे नवीन है। यह मालाबार प्रदेश में तमिल की उप-

भाषा के रूप में विकसित हुई। धीरे-धीरे इसने स्वयं को तमिल से मुक्त कर 14वीं शताब्दी में एक स्वतंत्र दर्जा प्राप्त किया। मालाबार क्षेत्र का तमिलनाडु से राजनीतिक अलगाव और विदेशियों द्वारा नवीन भाषाई शैलियों के प्रचलन करने से मलयालम का एक स्वतंत्र भाषा के रूप में विकास संभव हुआ। अति प्रारंभिक साहित्य मौखिक शैली का था जिसमें गीत और गाथाएँ होती थीं। प्रारंभिक साहित्यिक रचना 14वीं शताब्दी की राम चरितम थी। 16वीं सदी से मलयालम पर संस्कृत के गहरे प्रभाव का सिलसिला प्रारंभ हुआ और इसने संस्कृत के कई तत्वों को ग्रहण किया।

बोध प्रश्न 2

1) क्षेत्रीय भाषाओं की उत्पत्ति की सामाजिक पृष्ठभूमि की विवेचना कीजिए।

....

....

....

....

2) उर्दू भाषा की उत्पत्ति एवं विकास की प्रक्रिया को समझाइए।

....

....

....

....

3) निम्नलिखित कथनों के सामने सही (√) या गलत (×) का निशान लगाएँ:

अ) हिंदी साहित्य के विकास के दूसरे भाग को भक्ति काल कहा जाता है।

ब) कबीर सगुण भक्ति कवि थे जो एक मानवीय रूप तथा लक्षणों से युक्त ईश्वर में विश्वास करते थे।

स) कृष्णदेवराय ने तेलुगु में **अमुक्तमाल्यदा** लिखी।

द) कन्नड़ में बासव की धार्मिक साहित्यिक कृतियां **वचन** कहलाती हैं।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

33.9 सारांश

इस इकाई में हमने सल्तनत काल में भाषा और साहित्य की प्रगति का जायजा लिया। इस काल की संस्कृत रचनाओं की गुणवत्ता में गिरावट पर यहां ध्यान दिया गया है। इस इकाई में सल्तनत काल में फारसी भाषा और साहित्य के विकास का अध्ययन किया गया है। क्षेत्रीय भाषाओं और साहित्य के विकास के लिए उत्तरदायी कारणों को रेखांकित किया गया है। इस काल के संस्कृत, फारसी और क्षेत्रीय साहित्य के स्वरूप का विश्लेषण किया गया है। यह विश्लेषण हमें यह बताता है कि संस्कृत और फारसी भाषा में आदान-प्रदान की प्रक्रिया के फलस्वरूप सांस्कृतिक संश्लेषण संभव हो सका जो इस काल में उर्दू की उत्पत्ति और विकास से स्पष्ट है।

33.10 शब्दावली

अन्योक्तिपरक : लेखन की शैली जिसमें घटनाओं तथा पात्रों द्वारा सच्चाई इत्यादि जैसे सद्गुणों का गुणगान मिलता है।

सन्तचरितात्मक : एक जीवनी जिसमें विषय-वस्तु का गुणगान मिलता है।

छंद-शास्त्र : पदों तथा काव्य रचना की एक शैली।

33.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) देखें उप-भाग 33.4.2
   क) × ख) √ ग) × घ) √

बोध प्रश्न 2

1) देखें भाग 33.6
2) देखें उप-भाग 33.7.2
3) अ) √ ब) × स) √ द) √

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

इकाई 34 जीवन शैली और संस्कृति

इकाई की रूपरेखा

34.0 उद्देश्य
34.1 प्रस्तावना
34.2 1200 ई. के पूर्व जीवन
34.3 नया शासक वर्ग
34.3.1 नए शासक वर्ग की सैद्धांतिक बनावट
34.3.2 उपभोग का राजसी तरीका
34.4 धार्मिक अभिजात वर्ग
34.5 राजनीतिक अभिजात वर्ग
34.6 जनता की जीवन शैली
34.7 महिलाओं की दशा
34.8 गुलाम और अन्य सेवक
34.9 शहरी जीवन
34.10 ग्रामीण जीवन
34.10.1 किसान
34.10.2 किसानों के घर
34.11 खेल और मनोरंजन
34.12 सारांश
34.13 शब्दावली
34.14 बोध प्रश्नों के उत्तर

34.0 उद्देश्य

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

इस इकाई को पढ़ने के उपरांत, आप निम्नलिखित के विषय में जान सकेंगे :

- सल्तनत कालीन सामाजिक वर्गीकरण,
- राजसी घराने, **उलेमा**, अभिजात वर्ग, व्यापारी, भूमिधारक अभिजात वर्ग, किसानों और गुलामों की जीवन शैली,
- हिन्दू सामाजिक-व्यवस्था,
- हिन्दू समाज में महिलाओं का दर्जा,
- गुलामों की प्रकृति और संयोजन,
- शहरी जीवन, तथा
- आमोद-प्रमोद और मनोरंजन के तरीके।

34.1 प्रस्तावना

व्यक्ति-विशेष की जीवन शैली वर्गीकृत समाज में उसकी विशेष स्थिति की ओर इशारा करती है। पूर्व मध्यकालीन भारत में, केन्द्रीकृत राज्य और किसान प्रजा के बीच अनुवर्ती द्वंद्वों पर सामाजिक बनावट आधारित थी। मुख्य रूप से कृषि अर्थव्यवस्था में, किसानों द्वारा उत्पन्न अधिशेष का बंटवारा एक छोटे शासक वर्ग द्वारा आपस में कर लिया जाता था। इससे वे अत्यधिक विलासी जीवन व्यतीत करते थे, जो कारीगरों और शहरी गरीबों की जीवन शैली से एकदम भिन्न था। तुर्कों के आने के बाद नये शासक वर्ग तथा पहले से मौजूद भूमिपति वर्ग के बीच नए अन्तर्द्वन्द्व उठ खड़े हुए।

34.2 1200 ई. के पूर्व जीवन

इस काल में, भूमि का स्वामित्व सामाजिक और राजनीतिक प्रतिष्ठा का मुख्य आधार वन गया था। किसानों

से लिए गए कृषि अधिशेष का इस्तेमाल सैन्य उप-सामंतों और धार्मिक अनुदान प्राप्तकर्ताओं के रख-रखाव में होता था, जिनकी स्थिति आम तौर पर शासकों के परिवर्तन से प्रभावित नहीं होती थी। दसवीं सदी तक, छोटे राज्यों और शासकों की शक्तियों के सुदृढ़ीकरण ने उस सामाजिक प्रक्रिया को तीव्र किया जिसे सामंती व्यवस्था (या "भारतीय सामंतवाद") कहा जाता है।

राज परिवार के लोग और दरबार के सदस्य अत्यधिक भव्य तरीके से रहते थे। महान् धार्मिक संस्थानों का धन त्योहारों और प्रतिदिन के व्यापक कर्मकांडों में दिखाई देता था। कारीगरों और किसानों के श्रम का काफी बड़ा भाग महलों और मंदिरों को बनाने तथा उनके रख-रखाव में लगता था। इस प्रकार, तुर्की आक्रमण से पूर्व शासक-वर्गों की जीवन शैली इनके उत्तराधिकारियों से सिर्फ विस्तार में भिन्न थी। जाति-ढांचा जो हिन्दू समाज को वर्गीकृत करता था उसे मुस्लिम शासकों ने बाहर से बचाए रखा। नए शासक वर्ग (हालांकि विदेशी थे) ने जल्द ही समझ लिया कि लघु उत्पाद के इस प्रभावशाली आर्थिक रूप में जाति-व्यवस्था काफी महत्वपूर्ण थी। इसके अलावा, जाति-ढांचे को बरकरार रखने वाले प्रभुत्वशाली सिद्धांत ने शासकों की सेवा करने का तौर-तरीका, भले ही वह जाति-ढांचे में आते हों या नहीं, कठोरता से निर्धारित कर रखा था।

34.3 नया शासक वर्ग

भारत के आर्थिक विकास में एक नई अवस्था की शुरुआत एक लंबे काल के राजनीतिक बिखराव के खात्मे और एक केन्द्रीयकृत शक्ति के सफलतापूर्वक सृजन के साथ हुई, जिसको एक व्यापक क्षेत्र के संसाधनों के लगातार दोहन द्वारा बनाए रखा गया।

34.3.1 नए शासक वर्ग की सैद्धांतिक बनावट

नए शासक वर्ग का प्रधान सुल्तान था। उसे राज्य का पर्याय माना जाता था। अपने शासन की शुरुआत से ही तुर्की सुल्तान खुद को राजनीतिक तौर पर स्वतंत्र परंतु सांस्कृतिक रूप से इस्लामी दुनिया का हिस्सा मानते थे।

नए शासक वर्ग की जीवन शैली की तुलना समस्त इस्लामी दुनिया के उच्चतम स्तर के राजसी रहन-सहन से की जा सकती है। इसे जान-बूझकर अपने और आम लोगों के बीच एक दूरी बनाए रखने के लिए खास तौर से अपनाया गया, जिनके अधिशेष का यह दोहन करते थे।

MAADHYAM IAS 'to achieve your dream'

34.3.2 उपभोग का राजसी तरीका

दिल्ली के सुल्तान विशाल महलों के मालिक बनना चाहते थे। लगभग सभी शासकों ने अपने लिए एक/नया महल बनवाया। बाद के शासकों जैसे फिरोज़शाह तुगलक ने ज्यादा महलों की आवश्यकता महसूस की और उनकी संख्या बढ़ा दी। इब्न बतूता नामक एक यात्री ने मौहम्मद तुगलक के शासनकाल में सुल्तान के महल की भव्यता का एक विशिष्ट विवरण दिया है। इब्न बतूता ने लिखा कि अगर कोई व्यक्ति सुल्तान से मिलना चाहता था तो उसे तीन ऊँचे दरवाज़ों से होकर गुज़रना पड़ता था, जिनपर कड़ा पहरा रहता था। तब वह "हज़ार खंभों वाले दरबार" में घुसता था जो एक बड़ा-सा हॉल था, जो पॉलिश किए हुए लकड़ी के खंभों के सहारे टिका था और जो विभिन्न प्रकार के महंगे साज-सामानों से सजा हुआ था। यही वह जगह थी जहाँ सुल्तान जनता के लिए राज दरबार लगाता था। हिन्दू शासकों द्वारा इस्तेमाल किए गए राजसी छत्र और राजदण्ड, जिन्हें क्रमशः "छत्र" और "दण्ड" के नाम से जाना जाता था, को मुस्लिम शासकों ने जारी रखा। कहा जाता है कि अब्बासिदों की देखा-देखी, मौहम्मद तुग़लक भी एक काले छत्र का इस्तेमाल करता था। शासकों को छोड़कर अन्य कोई भी इस छत्र और राजदण्ड का इस्तेमाल नहीं कर सकता था। कुछ प्रमुख अधिकारियों को राजसी इजाज़त के बाद छत्र रखने की आज्ञा थी परन्तु उनका छत्र विभिन्न रंगों का होता था और उनका इस्तेमाल कड़ाई के साथ सिर्फ राजघराने के लोगों तक ही सीमित था। हिन्दू शासकों ने राजसी अधिकार के इन प्रतीकों में "चौरी" (रोंएदार पंखा) को भी शामिल किया।

जुलूसों और अन्य सामाजिक कार्यक्रमों में सुल्तान के साथ ध्वज उठाने वाले रहते थे, जिनके पीछे संगीतज्ञों का झुंड होता था। हिन्दू राजाओं में बाजे वालों को रखने की परंपरा भी थी जो बिगुल और बांसुरी लिए चलते थे। यह संगीत बैंड हर रोज़ राजमहल में बजता था। शासकों को छोड़कर और किसी को इन संगीतज्ञों को साथ लेकर चलने की और राज दरबार को छोड़कर इन्हें शहर के किसी अन्य भाग में बजाने की इज़ाज़त नहीं थी।

वास्तव में दरबार वह जगह थी जहाँ राजा का अधिकार विभिन्न अनुष्ठानों द्वारा परिलक्षित होता था। विदेशी दूतों का स्वागत या राज्याभिषेक जैसे विशेष अवसर पर, युद्ध में विजय और धार्मिक उत्सव के मौकों पर विशेष सभाएं होती थीं। सुल्तान के बेटे और बेटियों की शादी जैसे राजसी आयोजनों पर धन का खूब प्रदर्शन होता था। राज्याभिषेक के दिन वार्षिक उत्सवों पर, अमीर और सामंत नए कपड़े पहनते थे और सुल्तान को "नज़र" (उपहार) देते थे और वफादारी की शपथ लेते थे।

हरम

लगभग हर सुल्तान का एक "हरम" था, यह एक विशेष स्थान था जहाँ महिलाओं का आवास था। सुल्तान की मां, उसकी रानियां और समस्त नौकरानियां और गुलाम यहां रहते थे। महिलाओं को उनकी हैसियत के अनुसार जगह मिलती थी। घरेलू कारखाने उनकी जरूरतों की पूर्ति करते थे।

बड़ा परिवार, साथ में उनके रख-रखाव के लिए आम खर्चा सुल्तानों की आड़म्बर-प्रिय जीवन शैली का हिस्सा था। परंतु उपभोग का यह स्पष्ट नमूना घरेलू उत्पादकों की मदद करता था और देश के भीतर रोज़गार पैदा करता था। शासक और उससे जुड़ा अभिजात वर्ग आर्थिक और सामाजिक सभी प्रकार की सुविधाओं का उपभोग करता था। यही कुलीनतंत्र शासन की धुरी था। सल्तनत काल में, वह दो भागों में विभाजित थे— प्रशासन से जुड़े अमीर और धार्मिक **उलेमा** वर्ग।

34.4 धार्मिक अभिजात वर्ग

सल्तनत प्रशासन ने **उलेमा** को विशेष दर्जा दे रखा था। इनमें से जो न्यायिक प्रशासन और धार्मिक कानून से संबंधित थे, उन्हें **"दस्तरबंदान"** के नाम से जाना जाता था क्योंकि वह एक विशेष टोपी द्वारा पहचाने जाते थे।

उलेमा शासकों की धर्म-संबंधी मामलों में मदद करते थे। उन्हें एक विशेष प्रशिक्षण लेना पड़ता था और पढ़ाई का एक निश्चित पाठ्यक्रम पूरा करना पड़ता था जिसमें इस्लामी सिद्धांत, कानून, तर्क, अरबी और धार्मिक पुस्तकें, **तफसीर, हदीस, कुरान** जैसे धार्मिक ग्रंथों को पढ़ना पड़ता था।

यह लोग, कुछ अन्य लोगों के साथ, एक बौद्धिक अभिजात वर्ग का हिस्सा थे, जिसे **अहल कलम** कहा जाता था। उनकी सामाजिक भूमिका केन्द्रीयकृत राज्य और निरंकुश राजा की ज़रूरत के अनुरूप निर्धारित होती थी। यह लोग शाही शासन को नैतिक सहारा प्रदान करते थे।

MAADHYAM IAS 'way to achieve your dream'

34.5 राजनीतिक अभिजात वर्ग

उच्चतम मान-मर्यादा उन लोगों के लिए आरक्षित थी जिन्हें **"खान"** की उपाधि दी गई थी, कुछ को लुग खाँ की पदवी भी दी जाती थी। इनके नीचे मलिक थे और तीसरे नंबर पर **अमीर** थे। चूंकि इनमें से अधिकांश उपाधियां सैन्य पदों की सूचक थी, **सिपहसलार** और **सरखेल** शासक वर्ग में सबसे छोटा पद था। **अमीर** शब्द जिसका अर्थ था कुलीन, असैन्य और सैन्य दोनों अधिकारियों पर लागू होता था।

वैभव के बाहरी प्रदर्शन के अलावा, सल्तनत का शासक वर्ग या अमीर सुल्तानों की जीवन शैली की नकल करता था। लगभग हर सामंत के पास बड़े महल, हरम, गुलाम और उनकी ज़रूरतों की पूर्ति के लिए घरेलू कारखाने थे। उनके पास अपने घराने के रख-रखाव के लिए पर्याप्त धन था।

दरबार में उपस्थित होने और युद्ध में जाने के अलावा, सामंत वर्ग शिकार करते थे, भोज में हिस्सा लेते थे और भोज आयोजित करते थे, साथ ही संगीतज्ञों और नर्तकियों द्वारा मनोरंजन में अपना समय गुज़ारते थे। ज्यादातर, वे विशाल पुस्तकालय भी रखते थे।

सल्तनत के शासक वर्ग का सुल्तानों के साथ संबंध उनके संकीर्ण निजी हित पर निर्भर था। नतीजतन प्रत्येक अमीर शाही तख्त के पास पहुंचने की कोशिश करता था। बलबन और अलाउद्दीन खलजी ने कठोरतापूर्वक अमीर वर्ग का दमन किया परंतु इनकी वैभवपूर्ण जीवन शैली, इन सुल्तानों के उत्तराधिकारियों के काल में पुनः प्रवर्तित हो गई। मौहम्मद तुगलक के शासन काल में उसके वज़ीर की आय इराक की कुल आय के बराबर थी। दूसरे मंत्रियों को सालाना 20,000 से 40,000 **तनका** मिलते थे, मुख्य सद्र को तो 60,000 **तनका** की रकम साल भर के लिए मिलती थी। तुगलक काल में कई **अमीर** अपने बेटों के लिए

काफी संपत्ति छोड़ गए। इस प्रकार, बशीर जो फिरोज़ तुग़लक के मातहत **आरिज़-ए मुमालिक** था, अपने पीछे 13 करोड़ छोड़ गया, जिसे सुल्तान ने यह कह कर ज़ब्त कर लिया कि बशीर उसका गुलाम था। परंतु ऐसा कम होता था और अधिकांश अमीरों को **इक्ता** को छोड़कर बाकी संपत्ति अपने बेटों के नाम छोड़ने की इजाज़त थी।

अभिजातों का जीवन

सामंत बड़ी-बड़ी हवेलियों में रहते थे। प्रत्येक हवेली में कई कमरे, स्नानघर, अहाता, पानी की टंकी, पुस्तकालय और हरम होते थे। भीतरी भाग कीमती परदों और चित्रकारी से सजा रहता था। घर सफाई से पुते होते थे। उनके घरों में अच्छे किस्म का फर्नीचर होता था। बिस्तरों की सजावट रेशम, सोने और चांदी से होती थी। वह रेशमी गद्दों का उपयोग करते थे। अमीर हिन्दुओं द्वारा इस्तेमाल किए जाने वाले गद्दों को **सीतल-पती** कहा जाता था।

बोध प्रश्न 1

1) निम्नलिखित पर टिप्पणी कीजिए:

   i) **दस्तरबंदान**

   ....

   ....

   ii) **सैय्यद**

   ....

   ....

   iii) **दरबार**

   ....

   ....

2) सल्तनत समाज में **उलेमा** वर्ग की शक्ति और स्थिति पर एक टिप्पणी लिखिए।

....

....

....

3) सल्तनत के सामंत वर्ग की जीवन शैली का विवेचन कीजिए।

....

....

....

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

34.6 जनता की जीवन शैली

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, हिन्दू समाज के ढाँचे में इस काल में कोई परिवर्तन नहीं हुआ।

घरेलू जीवन

परिवार भारतीय ग्रामीण समाज का "केन्द्र" था। "हिन्दू" समाज का पारिवारिक आचार-व्यवहार, जो मुसलमान लाए थे, उससे भिन्न था, फिर भी इनमें कुछ लक्षण मिलते-जुलते थे। दोनों समाज पुरुष प्रधान थे—पुत्री के बजाय पुत्र को श्रेष्ठ मानना।

कर्मकांड और धार्मिक अनुष्ठान

हिन्दू और मुस्लिम, दोनों परिवारों में बच्चे के जन्म से ही समारोह शुरू हो जाते थे। परिवार जितना ज़्यादा इज़्ज़तदार होता, कर्मकांड उतने ही विस्तृत होते। हिन्दुओं में **उपनयन** संस्कार बच्चों का विद्या के क्षेत्र में प्रवेश को सूचित करता है और मुसलमानों में 4 साल 4 महीने 4 दिनों के बाद **बिस्मिल्लाह खानी (मकतब**

में बच्चे को भेजना) समारोह का आयोजन होता था। मुसलमानों में खतना समारोह (आम तौर पर 7वें वर्ष में) खूब धूमधाम से मनाया जाता था, जबकि हिन्दुओं में **उपनयन** (द्विजा समारोह) का आयोजन होता था।

दूसरा महत्वपूर्ण समारोह था विवाह। दोनों, हिन्दू और मुसलमान न सिर्फ खूब धूमधाम से यह आयोजन करते थे, बल्कि बहुत सारे कर्मकांडों को भी मानते थे। लड़की अपने साथ बड़ा दहेज लेकर आती थी। हिन्दुओं के बीच उप-जाति में विवाह की इजाज़त थी, परंतु दूसरे वर्ण में अंतर्विवाह पर पाबंदी थी। जहां तक मुसलमानों का सवाल था, पत्नी या पति को पसंद करने की पूरी आज़ादी थी। परंतु अपने सामाजिक समूहों की "हैसियत" **(काफ़ू)** को महत्व दिया जाता था।

मृत्यु के समारोह के साथ विभिन्न अंधविश्वासपूर्ण अनुष्ठान होते थे। हिन्दुओं के बीच, अनुष्ठान एक साल तक चलते थे जो श्राद्ध के साथ समाप्त होते थे। मुसलमानों में, **सियुम** (तीसरे दिन का समारोह) होता था। जाति अभी भी सामाजिक मतभेदों को निर्धारित करने वाली प्रमुख श्रेणी थी। **स्मृति** ग्रंथ इस बात पर ज़ोर देते थे कि शैतानों को सजा और चतुर्वर्ण (चार वर्णों में विभाजित वर्ण–व्यवस्था) सामाजिक-व्यवस्था की हथियारों के बल पर रक्षा करना क्षत्रियों का कर्म था। दरअसल, पूर्व के शासक वर्ग जो **राणा, रणका** इत्यादि के पुत्र थे, अब ग्रामीण अभिजात वर्ग और प्रशासनिक शाखा में परिणत हो गए थे, जिनके बिना राज्य का काम नहीं चल सकता था। इस प्रकार, दिल्ली सल्तनत के लिए यह बहुत महत्वपूर्ण था कि हिन्दू अभिजात वर्ग और शहर-अवस्थित प्रशासक के बीच शक्ति का मौन बंटवारा रहे।

अभी भी शूद्र का कर्म था उच्च जातियों की सेवा करना। शूद्रों द्वारा **वेदों** की स्तुति पर पाबंदी अभी भी लागू थी, हालांकि अब वह **पुराणों** की स्तुति को सुन सकते थे। **स्मृति** लेखक अभी भी शूद्रों द्वारा उच्च जातियों के साथ भोजन करने और आनुष्ठानिक भोजों में शामिल होने पर पाबंदी लगाए हुए थे और चांडालों तथा अन्य अछूतों के साथ घुलने-मिलने पर भी कठोर पाबंदी लगाई गई थी।

प्रतिदिन पूजा और अनुष्ठानों की आम धार्मिक पद्धति का निर्वाह होता था। विवाह के पुराने रूप चल रहे थे। काली काल में उच्च जातियों के बीच अंतरजातीय विवाहों पर पाबंदी थी। इसने जाति-विभेद को और कठोर बनाया। फिर भी, जैसा कि **स्मृति** लेखकों ने विस्तारपूर्वक **अंतरजातीय** विवाह से उत्पन्न बच्चों की चर्चा की है, ऐसे विवाह होते होंगे। हालांकि अपनी खुद की जाति में विवाह करने की परंपरा थी, फिर भी ऐसा लगता था कि धनी और सबल किसी भी जाति या वर्ग से अपनी पत्नियां चुन सकते थे, कुछ पाबंदियों को छोड़कर।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

34.7 महिलाओं की दशा

इस काल में उच्च जाति की हिन्दू महिला की जीवन शैली में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। महिलाएं जीवन के हर क्षेत्र में पुरुषों के अधीन थीं—बेटी, पत्नी और अपने पति की मृत्यु के उपरांत भी (अपने सबसे बड़े पुत्र के अधीन)। बेटी के जन्म को नीची नज़रों से देखा जाता था, चूंकि उन्हें पिता की प्रतिष्ठा-हानि का प्रतीक समझा जाता था। उनका मुख्य कर्तव्य सन्तान पैदा करना था, खास तौर से लड़का। उन्हें कठोरतापूर्वक अन्तःपुर में रहना पड़ता था। प्राचीन कानून लड़कियों के जल्दी विवाह और पत्नी का पति और उसके कुल (वंश) के प्रति कर्तव्य पर लगातार ज़ोर देता था।

पलायन, रोग या मानसिक गड़बड़ी जैसी विशेष परिस्थितियों में ही विवाह रद्द होते थे। तब भी समस्त धर्मशास्त्री इस बात से सहमत नहीं हैं। मुस्लिम महिलाओं की स्थिति भी हिन्दू स्त्रियों जैसी ही थी। जहाँ तक महिलाओं की शिक्षा की बात है, गरीब वर्ग की महिलाओं को शिक्षा का मौका ही नहीं था, परंतु लगता है कि उच्च वर्ग की महिलाओं को शिक्षा और प्रशिक्षण मिलता था। हम देवलरानी, रूपमती, पद्मावती आदि का नाम सुनते हैं। रज़िया का उदाहरण दर्शाता है कि मुस्लिम अभिजात वर्ग भी अपनी बेटियों को शिक्षा देता था। विधवा-विवाह और सती, दोनों के विषय में काफी अंतरविरोध है। कई विदेशी यात्रियों, खास तौर से इब्न बतूता ने, संत्रास के साथ एक औरत को अपने पति की चिता पर खुद को जलाते हुए बताया है। उसने चर्चा की है कि अगर कोई सती होना चाहता था तो उसे सुल्तान से पहले आदेश लेना पड़ता था। परंतु जैसा कि उपलब्ध प्रमाणों से प्रतीत होता है, राजपूतों या अन्य हिन्दुओं ने इस आदेश का पालन शायद ही किया होगा। फिर भी, सती प्रथा समाज के उच्च वर्ग तक ही सीमित थी। विधवाओं की हीन स्थिति शायद सती को बढ़ावा देने वाला सबसे महत्वपूर्ण कारक रहा होगा। राजपूतों के बीच **जौहर** प्रथा का भी प्रचलन था। निश्चित पराजय की स्थिति में उनकी स्त्रियां आग में कूद जाती थीं।

टिप्पणीकार पुत्रहीन पति की संपत्ति पर विधवा के अधिकार का समर्थन करते हैं, बशर्ते संपत्ति पर सामूहिक अधिकार न हो। विधवा न सिर्फ इस संपत्ति की अभिभावक थी, बल्कि उसे इसे बेचने का भी पूरा अधिकार था। इन टिप्पणियों के आधार पर यह लगता है कि हिन्दू समाज में महिलाओं के संपत्ति अधिकार में सुधार हुआ, परंतु यह पूरे देश में शायद ही एकरूपता के साथ लागू हुआ होगा।

एक मजेदार गलत धारणा जो आज तक प्रचलित है, वह है "परदा व्यवस्था" के विकास के संबंध में। "परदा" की परंपरा मुसलमानों की देन नहीं है, जैसा कि आम तौर पर माना जाता है। यह परंपरा काफी पहले से प्रचलित थी। फिर भी, परदे का व्यापक और संस्थागत रूप मुस्लिम शासन की ही देन है। कुछ भी हो, परदा उच्च वर्गों का विशेषाधिकार बन गया। हिन्दू और मुसलमान, दोनों अभिजात वर्ग अन्तःपुर और हरम की चारदीवारी में अपनी स्त्रियों को छिपाकर रखते थे, जबकि गरीब (मुस्लिम) औरतें अपना शरीर ढ़कने के लिए बुर्का का इस्तेमाल करती थीं। मलिक मौहम्मद जायसी और विद्यापति भी परदा की चर्चा करते हैं। परंतु मौहम्मद तुगलक के शासन तक राज्य द्वारा इस दिशा में पाबंदी लगाने की कोशिश नहीं की गई।

34.8 गुलाम और अन्य सेवक

मालिक-गुलाम संबंध से एक ऐसे वर्ग की उत्पत्ति हुई जिसके माध्यम से सल्तनत समाज की सत्ता खुद को अभिव्यक्त करती थी। अधिकांश सामंत खुद को सुल्तान का गुलाम कहते थे।

भारत में गुलामों को दो समूहों नें विभाजित किया जा सकता है:
i) जिन्हें खुले गुलाम बाज़ार से खरीदा गया, और
ii) वे जो पहले युद्धबंदी थे और बाद में गुलाम बनाए गए।

इन विभिन्न प्रकार के गुलामों की स्थिति का वर्णन हिन्दू शास्त्रों में भी किया गया है। भारतीय और तुर्क, दोनों के यहाँ गुलाम रखने की लंबी परम्परा थी। पुरुषों और महिलाओं के लिए खुले गुलाम बाज़ार पश्चिम एशिया और भारत में भी विद्यमान थे। आम तौर पर गुलामों को घरेलू कार्यों के लिए या उनके विशेष हुनर के लिए खरीदा जाता था। फिरोज़ शाह तुग़लक, जिसे गुलामों के प्रति विशेष लगाव था ने लगभग 180,000 गुलाम जमा किए थे। इनमें से अधिकांश हस्तकलाओं में कार्यरत थे। बाकी, सुल्तान के व्यक्तिगत अंगरक्षक थे।

MAADHYAM IAS

खास किस्म के पुरुष गुलाम जिनको बचपन में ही बधिया कर दिया जाता था, उन्हें हरम की पहरेदारी का प्रशिक्षण दिया जाता था। इन्हें **ख्वाजासरा** (हिजड़ा) कहा जाता था। 13वीं सदी में, बंगाल खास तौर से हिजड़ों की खरीद और बिक्री का एक प्रमुख केन्द्र था। आम तौर पर महिला गुलामों को दो समूहों में रखा जाता था: (i) घरेलू कार्यों के लिए, और (ii) मनोरंजन और भोगविलास के लिए। पहली श्रेणी में आम तौर पर सामान्य महिलाएं थीं, जबकि दूसरे समूह में सुन्दर औरतें होती थीं, जो गा सकें, नाच सकें और वार्तालाप कर सकें।

न सिर्फ सामंत बल्कि कोई भी सम्पन्न गृहस्थ बिना गुलामों के घर चलाना असंभव पाता था। इस प्रकार गुलाम रखना सम्पन्नता का विशेष चिह्न बन गया और सामंत एक दूसरे से सुन्दर गुलाम लड़के या लड़की रखने की होड़ में लगे रहते थे।

यह एक मान्य तथ्य है कि सल्तनत कालीन के भारत में गुलामों के साथ नौकरों से ज्यादा बढ़िया सलूक किया जाता था: मालिक गुलाम को रखने का दायित्व स्वीकारने के बाद आम तौर पर उनकी भौतिक सुविधाओं का ख्याल रखते थे।

बोध प्रश्न 2

1) सल्तनत काल के दौरान हिन्दू जाति व्यवस्था में आए परिवर्तनों को 60 शब्दों में लिखिए।

....

....

....

....

....

2) सल्तनत की सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था में गुलामों की भूमिका का विवेचन कीजिए।

....

....

....

....

....

34.9 शहरी जीवन

13वीं-14वीं सदी के दौरान उत्तर भारत में कई शहर और बंदरगाह उदीयमान हुए। भड़ौच, खम्भात, लखनौती, सोनारगांव और मुल्तान प्रमुख व्यापार केन्द्रों के रूप में उभरे। इब्न बतूता दिल्ली का विस्तृत विवरण प्रदान करता है। यह इस्लामी दुनिया के सबसे बड़े शहरों में से एक था, जहाँ भारत के साथ-साथ ईरान, अफग़ानिस्तान आदि देशों के व्यापारियों की मिली-जुली आबादी थी। कहा जाता है कि पश्चिम एशिया से थल-मार्गों द्वारा व्यापार **मुल्तानियों** के हाथ में था, जो अधिकांशतः हिन्दू थे। गुजराती और मारवाड़ी व्यापारी काफी अमीर थे और इनमें से कुछ ने, खास तौर से जैन मंदिरों के निर्माण पर खूब धन खर्च किया। इनके पास बड़े आवास थे। इनके घर के चारों तरफ फलों के बगीचे और कई तालाब भी थे।

खम्भात एक अच्छा बंदरगाही शहर था, जहां अमीर व्यापारियों का समूह था। ये न सिर्फ अच्छे घरों में रहते थे, अपितु यह बढ़िया खाना खाते थे और अच्छे वस्त्र पहनते थे। पुरुष सूती और रेशमी लिबास पहनते थे, चंदन से अपने आपको सुगंधित करते थे और शॉल, कीमती पत्थरों वाले सोने के कीमती कान के बाले और सोने के कमरबंद पहनते थे। महिलाएं लंबे लहरदार कपड़े (साड़ी) और रेशमी कुर्ता पहनती थीं। महिलाओं के गहने सोने और चांदी के बने होते थे। वे कान की बाली, पाजेब और हाथ तथा पैर की उंगलियों में ढेर सारी अंगूठियां पहनती थीं।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

मुस्लिम व्यापारी जो आम तौर पर मध्य एशिया से आते थे, सोने और चांदी की नक्काशी किए गए लिबास पहनते थे। वह घुटनों तक आने वाले मोटे जूते भी पहनते थे।

इनमें से बहुत सारे शहर दस्तकारी उत्पादन के भी केन्द्र थे। बंगाल और गुजरात के शहर महीन वस्त्रों के उत्पादन के लिए मशहूर थे। खम्भात भी सोने और चांदी के कामों के लिए मशहूर था। चमड़े का काम, धातु का काम, कालीन बुनाई इत्यादि अन्य विलासितापूर्ण वस्तुओं के भी शिल्प थे। इनमें से बहुतों का आयात लाल सागर, फारस की खाड़ी और दक्षिण-पूर्वी एशियाई देशों से होता था।

जहां तक महाजनों का सवाल है, ज़ियाउद्दीन बर्नी **मुल्तानियों** और दिल्ली के **साहा** व्यापारियों की चर्चा करता है, जिन्होंने **मलिकों** और **अमीरों** के संसाधनों से काफी संपत्ति जमा कर ली थी, जो अपने कर्ज़ का भुगतान अपने **इक्ता** के आवंटन द्वारा चुकाते थे।

व्यापारियों का दूसरा समूह **दलालों** का था, जिनका आविर्भाव दिल्ली सल्तनत के व्यावसायिक इतिहास में पहली बार हुआ। वह व्यापारियों और खरीदारों के बीच मध्यस्थ का कार्य करते थे और जब भी मौका मिलता था, मूल्य-वृद्धि कर देते थे। अलाउद्दीन खलजी खास तौर से इनके प्रति कठोर था, लेकिन, चूंकि किसी भी बड़े बाज़ार में इनकी जरूरत थी, इनसे पूरी तरह छुटकारा कभी नहीं पाया जा सका। **सर्राफ** या पैसा बदलने वालों का एक अन्य व्यापारिक समूह था जो काफी संपन्न थे।

इन स्पष्ट तौर पर दिखने वाले वर्गों के अलावा, शहरों में बड़ी संख्या में छोटे कारीगर, दुकानदार और फेरी वाले रहते थे। लोक गीतों और लोक कथाओं के अलावा, इनके दैनिक जीवन के संबंध में बहुत कम ऐतिहासिक विवरण मिलता है।

34.10 ग्रामीण जीवन

शहर पोषण के लिए ग्रामीण क्षेत्र के कच्चे और तैयार माल पर निर्भर करते थे। करों की ऊंची दरों और नकदी-तंत्र के बीच का गठबंधन इस बात को इंगित करता है कि किसान को मालगुज़ारी देने के लिए अपने

उत्पाद का बड़ा हिस्सा बेचना पड़ता था। बर्नी हमें बताता है कि अलाउद्दीन खलजी के समय परिमाण की जबरदस्त वृद्धि ने कैसे दोआब के किसानों को कारवानियों के हाथों अपने खेतों में ही अनाज बेचने पर मजबूर किया, जो बाद में उसे दिल्ली बेचने ले जाते थे।

दूसरी ओर, शहरों के पास बदले में गांवों को वापस भेजने के लिए कुछ नहीं था क्योंकि कर व्यवस्था से हरदम शहरों के पक्ष में भुगतान-संतुलन बना रहता था, जो सुल्तान और शासक वर्गों के सदस्यों का मुख्यालय हुआ करते थे।

34.10.1 किसान

एक बड़ा बहुमत गांवों में रहता था। किसानों द्वारा व्यक्तिगत रूप से कृषि की जाती थी और उनके द्वारा खेती की गई भूमि के आकारों में **खोत** या ग्राम प्रधानों के बड़े भू-भाग से लेकर **बलाहारों** या गांव के निम्न श्रेणी के लोगों के छोटे टुकड़ों के बीच काफी अंतर था। किसानों के नीचे भूमिहीन निम्न जातियों का एक समूह होगा, परंतु इस काल में इनके विषय में कम जानकारी है।

किसानों के पास आम तौर पर बैलों का एक जोड़ा और हल होता था। ज़मीन काफी मात्रा में उपलब्ध थी। संभवतः कुएं कृत्रिम सिंचाई के प्रमुख स्रोत थे। मोहम्मद तुगलक ने कृषि सुधारों के लिए किसानों को ऋण प्रदान किए। किसान कुओं से विभिन्न तरीकों से पानी निकालते थे (देखिए इकाई 22)। चूंकि किसान खेती के औज़ारों के स्वयं मालिक थे और मालगुज़ारी के नकद भुगतान के लिए उन्हें अपना अनाज बेचना पड़ता था, इन सब कारणों से किसानों के बीच वर्गीकरण रहा होगा। बर्नी उच्चतम स्तरों के किसानों को **खोत** और **मुकद्दम** का नाम देता है (विस्तारपूर्वक जानने के लिए खण्ड 5 और 6 देखिए)। अलाउद्दीन खलजी द्वारा उठाए गए कदमों के पूर्व, यह विश्वास व्यक्त किया जाता है कि **खोत** तीन प्रकार के करों से मुक्त थे। इसके अतिरिक्त, गांव वालों से वे अधिशेष **(किस्मत-ए खोती)** लेते थे। जब अलाउद्दीन ने इनके अधिशेष पर पाबंदी लगा दी तो यह काफी गरीब हो गए और इनकी पत्नियां मुसलमानों के घरों में नौकरानी का काम करने लगीं। **खोत** और **मुकद्दम** किसान थे, परंतु ऐसे किसान जो ग्रामीण अभिजात वर्ग की दहलीज पर खड़े थे। जब वह संपन्न हुए, उन्होंने अपने से ऊँचे सरदारों के तौर-तरीकों की नकल की, जैसे: घुड़सवारी करना, अच्छे कपड़े पहनना और पान खाना। फिरोज़ शाह तुग़लक के शासन में, एक इतिहासकार **खोतों** की आम खुशहाली का विवरण देता है। प्रत्येक व्यक्ति के पास सोने और चांदी की भरमार थी और असंख्य सामान थे, और किसानों की कोई भी औरत बिना गहनों के नहीं थीं। प्रत्येक किसान के घर में साफ चादरें, बेहतरीन चारपाई और कई दूसरे सामान थे।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

34.10.2 किसानों के घर

साधारण किसान फूस की छप्पर वाली मिट्टी की झोंपड़ियों में रहते थे, जिन्हें बांसों या पेड़ों के तनों पर टिकाया जाता था। ज़मीन को गाय के गोबर से लीपा जाता था। इनके घर जाड़े, बरसात या गर्मी से बचने की न्यूनतम ज़रूरतों को पूरा करते थे। बहुत कम फर्नीचर का इस्तेमाल होता था, मर्द, औरत और बच्चे छोटे कमरों में सिमट कर रहते थे। वह आम तौर पर ज़मीन पर चटाइयों या रुई के गद्दों पर सोते थे। सिर्फ संपन्न किसान ही धातु के बर्तनों का इस्तेमाल करते थे, सामान्य लोग मिट्टी के बर्तनों का इस्तेमाल करते थे। स्नान के लिए कुंओं या तालाबों को छोड़कर अलग से स्थान नहीं था। गोपनीयता का अभाव था।

संपन्न किसानों के घरों की मुख्य इमारत के चारों तरफ ज़्यादा ज़मीन हुआ करती थी। बरामदे के साथ आम तौर पर एक से ज्यादा कमरे, एक प्रांगण और चबूतरा तथा कभी-कभी मकान दुमंजिला भी होता था और दीवारें गोबर से लीपी-पोती रहती थीं और चित्रकारी से सजी रहती थीं। आम तौर पर उनके रहने के स्थान के चारों तरफ छोटा-सा सब्ज़ी का बगीचा हुआ करता था।

खाने में, साधारण किसान चावल से बनी हुई रोटी खाता था। वह सोहावटी (lintel), प्याज़ और मिर्च और विलासिता में थोड़ा सा घी, का इस्तेमाल करते थे। वह दिन में दो समय भोजन करते थे।

सामान्यतः हिन्दू किसान नंगे सिर और नंगे पैर रहते थे। वह आम तौर पर केवल एक धोती/कपड़ा पहनते थे। गुजरात और राजस्थान में, वह अपने सिर पर एक लाल रूमाल लपेटते थे। औरतें आम तौर पर दो तरह के वस्त्र पहनती थीं, अपने शरीर को ढकने के लिए कपड़ा और एक ब्लाउज़। दूसरी पोशाक एक लहंगा या लंबा स्कर्ट, ब्लाउज़ और दुपट्टा थी। दोआब के इलाके में दूसरा वाला वस्त्र ज़्यादा लोकप्रिय था।

34.11 खेल और मनोरंजन

ग्रामीणों में कुश्ती काफी लोकप्रिय थी। इसके अतिरिक्त, तलवारबाज़ी, भाला फेंकना, घुड़सवारी इत्यादि अभिजात वर्ग के बीच लोकप्रिय थे। पोलो (चैगान) एक अभिजात्य-खेल था।

धार्मिक उत्सव और मेले आम लोगों के आनंद का साधन थे। इन अवसरों के अतिरिक्त, पवित्र स्थानों की तीर्थ यात्रा आम लोगों के अन्यथा एकरस जीवन का प्रमुख मनोरंजन थे।

इनके अलावा, हर क्षेत्र के अपने लोकप्रिय गीत और नृत्य थे। लोक-नाट्य और जादूगरी के करतब, जो घुमक्कड़ों द्वारा किए जाते थे, जिन्हें नट के रूप में जाना जाता है, आज भी देखे जा सकते हैं। धार्मिक ग्रंथों की मौखिक प्रस्तुति, जैसे बंगाल में **पंचालीस** या दोआब में **आल्हाखंड** की कहानियां, बहुत भीड़ इकट्ठा करती थी।

भक्ति आंदोलन और कबीर, दादू और अन्य लोकप्रिय उपदेशकों ने लोकप्रिय कवियों को प्रेरणा दी और उनके गीतों ने विभिन्न धर्मों के लोगों के बीच संबंधों को मजबूत किया। यह लोक कथाएं और गीत नैसर्गिक ढंग से सामान्य जन के अनुभवों को प्रतिबिंबित करते थे, जिनके जीवन का वर्णन सामान्यतः सरकारी उल्लेखों और शासक वर्ग के वार्तालापों में उल्लेखित नहीं था।

बोध प्रश्न 3

1) सल्तनत काल में व्यापारी वर्ग की जीवन शैली पर टिप्पणी लिखिए।

....

....

....

....

....

....

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

2) निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए:

क) ग्रामीण अभिजात वर्ग

....

....

....

....

ख) किसान

....

....

....

....

ग) खेल और मनोरंजन

....

....

....

....

34.12 सारांश

हमने देखा कि कैसे तुर्कों के आगमन के साथ एक नए शासक वर्ग का जन्म होता है, जो पुराने का स्थान लेता है। इस बदलाव ने उनकी जीवन शैली में कोई विशेष परिवर्तन नहीं किया। अपने पूर्ववर्तियों की तरह, वह भी विलासितापूर्ण जीवन बिता रहे थे। उलेमा भी इनके तौर-तरीकों को, अपने सीमित दायरे में अपनाने में पीछे नहीं थे। सामंतों की जीवन शैली भी सुल्तान जैसी ही थी, हालांकि उससे निम्न स्तर पर। वे बड़ी-बड़ी उपाधियों का इस्तेमाल करते थे, भव्य मकानों में रहते थे, रात्रि-भोजों का आयोजन करते थे, अपनी प्रतिष्ठा के प्रतीक के रूप में बड़ी संख्या में घोड़ों और हाथियों को रखते थे। हिन्दू समाज जाति के आधार पर विभाजित था। परंतु तुर्कों के आगमन के बाद, शूद्रों और अन्तेज्या की स्थिति में सुधार हुआ। हिन्दु औरतों को संपत्ति के कुछ अधिकार मिले हुए थे, परंतु इस काल में पर्दा-प्रथा का प्रचलन था। दिल्ली के सुल्तान बड़ी संख्या में गुलाम रखते थे, जो शाही कारखानों में और साथ ही अंगरक्षक के रूप में भी कार्य करते थे। व्यापारियों का भी विशेष स्थान था और वह आरामदायक जीवन व्यतीत करते थे। परंतु किसानों की स्थिति अच्छी नहीं थी।

34.13 शब्दावली

आरिज़-ए मुमालिक : देखें खंड 5

हदीस : हजरत मौहम्मद के उपदेश और कार्य

संस्कार : समारोह। मुख्य रूप से ऐसे 16 समारोह हैं, जिसे एक हिन्दू को अपने जीवन काल में करना पड़ता है।

उपनयन : हिन्दू संस्कारों में से एक। प्रारंभ में उपनयन संस्कार बच्चे का शिक्षा के क्षेत्र में प्रवेश का सूचक था। परंतु बाद में इसे ज़्यादा द्विजा (जनेऊ) समारोह से जोड़ा जाने लगा।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

34.14 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) देखें भाग 34.4
2) देखें भाग 34.4
3) देखें भाग 34.5

बोध प्रश्न 2

1) देखें भाग 34.6
2) देखें भाग 34.8

बोध प्रश्न 3

1) देखें भाग 34.9
2) क) देखें उप-भाग 34.10.1
   ख) देखें उप-भाग 34.10.1
   ग) देखें भाग 34.11

इस खंड के लिए कुछ उपयोगी पुस्तकें

के.एम. अशरफ: **हिन्दुस्तान के निवासियों का जीवन और परिस्थितियाँ**

एम. हबीब तथा के.ए. निजामी: **दिल्ली सल्तनत**

पर्सी ब्राउन: **इन्डियन आर्किटेक्चर: इस्लामिक पीरियड**

यूसुफ हुसैन खाँ: **ग्लिम्पसेज ऑफ मेडिवल इन्डियन कल्चर**

के.ए. निजामी: **रिलिजन एण्ड पॉलिटिक्स ड्यूरिंग द थरटीन्थ सेंन्चुरी**

आर. नाथ: **हिस्ट्री ऑफ सल्तनत आर्किटेक्चर**

ताराचन्द: **इन्फ्लूएन्स ऑफ इस्लाम ऑन इन्डियन कल्चर**

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'